GURUKUL SHODH BHARTI

No. 15 - 16 2011 Mar. Sep.

ISSN 0974 - 8830

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाणमासिकी शोधपत्रिका

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १५, मार्च २०११



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय



स्वामी श्रद्धानन्द जी

१८५६-१९२६

ISSN 0974 – 8830

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १५, मार्च २०११



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

एक प्रति का मूल्य — रु० ७५.०० पचहत्तर रुपये

वार्षिकमूल्य — रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये

पञ्च-वार्षिकमूल्य — रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा **कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**, के नाम धनादेश प्रेषित करें।) दूरभाषः-01334-243037

प्रकाशनीय शोधलेख — शोधलेख विषयक दिशानिर्देश अन्तिम से पूर्व पृष्ठ में दिये गये हैं।

परामर्शदात्री समिति

विषय-सूची

निरुक्तभाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी और उनका काल

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[1]

आचार्य स्कन्दस्वामी के काल के विषय में डॉ. लक्ष्मण स्वरूप का अभिमत है कि स्कन्दस्वामी का काल शतपथ-ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के कालनिर्णय पर निर्भर है। हरिस्वामी ने अपने तथा स्कन्दस्वामी के साथ सम्बन्ध के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनायें उपलब्ध करायी हैं। वह अवन्ती (मालवा) के सम्राट् विक्रमादित्य के राज्य में विधि-विभाग का प्रमुख था। वह कहता है:-

श्रीमतोऽवन्तीनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितु:।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति॥

अवन्ती के राजा विक्रमादित्य के धर्म विभाग का अध्यक्ष मैं हरिस्वामी अपनी बुद्धि के अनुसार शतपथ-ब्राह्मण की व्याख्या करने जा रहा हूँ।

य: सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरु:॥

जिसने सात सोम संस्था करके सम्राट् की पदवी प्राप्त की और ऋग्वेद पर भाष्य करके मुझे पढ़ाया, वह श्री स्कन्दस्वामी मेरा गुरु है।

हरिस्वामी अपनी तिथि के विषय में बताता हुआ कहता है:-

यदाब्दानां कलेर्जग्मु: सप्तत्रिंशत् शतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

कलियुग के ३७४० वर्ष व्यतीत होने पर मैंने शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया। कहने का आशय यह है कि कलियुग का प्रारम्भ ईसापूर्व ३१०२ को हुआ। इस प्रकार हरिस्वामी ने भाष्य ६३८ ई० में किया। हम यह नहीं जानते कि जब हरिस्वामी ने शतपथ की व्याख्या की थी तब वह कितने वर्ष का था। शतपथ ब्राह्मण की व्याख्या की गम्भीरता को देखते हुए लगता है कि यह भाष्य उसने कम से कम ४० वर्ष की आयु में लिखा होगा। यद्यपि यह प्रौढावस्था की रचना प्रतीत होती है। उसने स्कन्दस्वामी से अध्ययन किया होगा, वह आयु २० वर्ष से कम ही रही होगी। इस आधार पर स्कन्दस्वामी का काल ६१८ ई० माना जा सकता है। परन्तु डॉ. स्वरूप कहते हैं कि जो प्रमाण हरिस्वामी ने दिया है, वह समीक्षा की अपेक्षा करता है, क्योंकि विक्रमादित्य का जो समय हरिस्वामी बता रहे हैं, वस्तुत: इतिहास से उसकी पुष्टि नहीं होती।[2] उनके अनुसार जो श्लोक हरिस्वामी ने लिखा है, वह भ्रष्ट हो चुका है, उसका सम्भावित संशोधन निम्न प्रकार होना चाहिये-

यदाब्दानां कलेर्जग्मु: षट्त्रिंशच्छतकानि वै।

---

१. प्रोफेसर, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०५४-५५

चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्।।[३]

मैंने यह व्याख्या तब लिखी जब कलियुग को प्रारम्भ हुए ३६०० तथा ४० वर्ष व्यतीत हुए।

इस प्रकार डॉ. स्वरूप ३७०० के स्थान पर ३६०० करके स्कन्द की तिथि सौ वर्ष पहले निर्धारित करना चाहते हैं। उनके अनुसार हरिस्वामी ने ५३८ ई० में शतपथ का भाष्य किया। वे इस सम्बन्ध में कहते हैं कि यशोधर्मन् ने ५२८ ई० में अपने राज्य सुदृढ़ किया और उसके पश्चात् उसने हूणों पर महान् विजय प्राप्त की। वे आगे कहते हैं कि मालवा प्रदेश में यशोधर्मन् के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा राजा ऐसा दिखायी नहीं देता, जिसे विक्रमादित्य उपाधि प्राप्त की हो। ५३८ ई० में यशोधर्मन् के देहान्त के उपरान्त सम्भवतः, उसका राज्य दो भागों में बँट गया। एक था पूर्वीय मालवा जिसकी राजधानी उज्जैन थी, जबकि दूसरा था पश्चिमी मालवा जिसमें वलभी, सौराष्ट्र थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोधर्मन् का पुत्र शिलादित्य पश्चिमी मालवा प्रदेश का राजा था।[४]

आगे डॉ. लक्ष्मण स्वरूप कहते हैं कि यदि हम हरिस्वामी के वक्तव्य को स्वीकार करते हैं, जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में उद्धृत किया गया है, तब हम द्विविधा में पड़ जाते हैं। फिर हम यह मानने के लिये बाध्य हैं कि मालवा में ६३८ई० में विक्रमादित्य हुआ था, जो उपर्युक्त साक्ष्यों के परिप्रेक्ष्य में मानना सम्भव नहीं है। यह कठिनाई देखते हुए मैंने हरिस्वामी द्वारा उद्धृत श्लोक में परिवर्तन सुझाया है। ऐसा करने से हरिस्वामी यशोधर्मन् के समकालीन हैं। यदि हरिस्वामी ने अपनी व्याख्या ५३८ई० लिखी थी, तब स्कन्दस्वामी जो कि हरिस्वामी का गुरु था, का समय पाँचवी शताब्दी का उत्तरार्ध या षष्ठ शताब्दी का पूर्वार्ध निर्धारित किया जा सकता है।[५]

डॉ. लक्ष्मण स्वरूप के मत के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए पं० भगवद्दत्त कहते हैं कि 'वे ३२०२ पूर्व ईसा से कलि संवत् का आरम्भ मानते हैं। कलि संवत् का आरम्भ ३२०२ पूर्व ईसा में हुआ हो,

---

३. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०५७

४. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०५७ This will give the date of the composition of the commentary of Harisvamin as 538 A.D. Yashodarman consolidated his kingdom after his great victory over the Huns in 529 A.D. and could thus be the patron of Harisvamin in 538 A.D.

I may add that after Yashodarman, we do not come across any other Vikramaditya in Malva. Yashodarman had a long reign. Hi died 583 A.D. After his death, his kingdom fell into pieces. Malva seems to have become divided into two independent states, one of the Eastern Malva with its capital at Ujjain and the other of Western Malva, including Valabhi and Saurashtra. Siladitya, the son of Yashodharman seems to be the ruler of Western Malva only.

५. स्कन्दस्वामिमहेश्वरविरचिता निरुक्तभाष्यटीका, भाग-३, भूमिका पृ०६४-६५ If we accept the statement of Harisvamin as recorded in the verse quoted above, we are confronted with a dilemma. We are asked to believe in the existence of a Vikramaditya in Malva in 638A.D. which as detailed above, is out of question. As a solution of the difficulty I have proposed to emend the text of the verse. This will make Harisvamin a contemporary of Yashodharman, who can be the only person to be a appropriately identified with the patron of the commentator of the satapatha. If Harisvamin composed his commentary in 538 A.D., then Skandasvamin, his teacher, can be assigned with justice to the end of the 5th cen. or the beginning of the 6th cen. A.D.

ऐसा किसी अन्य विद्वान् का मत नहीं है। अतः स्कन्द के ऋग्भाष्य करने का काल ६३० सन् ईसा ठीक है।[६]

डॉ. स्वरूप के मत को स्वीकार न कर पाने के जो कारण पं०भगवद्दत्त दे रहे हैं, वस्तुतः वह कारण नहीं है। डॉ. स्वरूप इस प्रकार की कोई भूल करते दिखायी नहीं देते। वे हरिस्वामी के काल निर्धारण करने वाले श्लोक में किंचित् परिवर्तन का सुझाव देते हैं, जिससे स्कन्दस्वामी का काल सौ वर्ष पहले हो जाता है।

यदि हम डॉ. स्वरूप के उक्त वक्तव्य पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि वह मत स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसका कारण यह है कि डॉ. स्वरूप ने हूणों को निष्कासित या पराजित करने के कारण यशोधर्मन् को विक्रमादित्य माना है, लेकिन इतिहास के अवलोकन् से ज्ञात होता है कि यशोधर्मन् ने जननेन्द्र, अतिराज, राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की थीं,[७] परन्तु उसके विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने का कोई उल्लेख देखने को नहीं मिलता। हम यह कह सकते हैं कि आज उपलब्ध इतिहास के आधार पर यशोधर्मन् ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो, पुष्टि नहीं होती है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय स्कन्द के विषय में मन्तव्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'निरुक्त के अन्य टीकाकारों में आचार्य स्कन्दस्वामी की टीका लाहौर में प्रकाशित हुई है। यह टीका प्राचीन और पाण्डित्यपूर्ण है। ये स्कन्दस्वामी वही व्यक्ति हैं, जिन्होंने ऋग्वेद के ऊपर भाष्य लिखा है। ये गुजरात की प्रख्यात नगरी वलभी के रहने वाले थे। इनके पिता नाम भर्तृध्रुव था। इनका समय सप्तम शतक विक्रमी का उत्तरार्ध है। इनका ऋग्वेद का भाष्य प्रामाणिक है तथा अल्पाक्षर होने पर भी सारगर्भित है। ऐसे विशिष्ट विद्वान् के द्वारा विरचित होने से यह निरुक्त टीका भी अपनी विशिष्टता रखती है।'[८]

इस प्रकार उक्त वक्तव्य के अनुसार ऋग्वेदभाष्यकार और निरुक्तटीकाकार दोनों एक ही व्यक्ति हैं और उनका समय सप्तम शती ईसवी का पूर्वार्ध है।

पण्डित साम्बशिव शास्त्री ने भट्टिकाव्य के टीकाकार गोविन्दस्वामी सूनु हरिस्वामी की समानता का शतपथ-ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी से जो अनुमान किया है, वह सत्य नहीं है।[९] शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के पिता का नाम नागस्वामी था। इससे प्रतीत होता है कि भट्टिकाव्य के सम्बन्ध में यदि पं० साम्बशिव शास्त्री का लेख ठीक है तो क्या हरिस्वामी नाम के दो आचार्य हो चुके हैं।[१०]

परन्तु भट्टिकाव्य का जो संस्करण निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से सन् १९०० में निकला था, उसके अन्त में टीकाकार का नाम जयमंगल आदि और ग्रन्थकार का नाम श्रीस्वामिसूनु कवि भट्टि लिखा है। इसलिये पं०साम्बशिव शास्त्री के लेख के सुनिश्चित होने में अभी सन्देह है। सटीक भट्टिकाव्य के जिस हस्तलेख का प्रमाण पं० सदाशिव शास्त्री ने दिया है, उसकी तुलना अन्य अनेक ग्रन्थों से होनी चाहिये।[११]

---

६. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२३

७. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ०५०२-५०३, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद-२००१। राजबली पाण्डेय, प्राचीन भारत, पृ०२८४, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी-२०००

८. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०३६१

९. ऋक्संहिता, भूमिका, पृ०३, इति ससत्कविचूडामणिगोविन्दस्वामिसूनुहरिस्वामीविरचितमहाकाव्यटीकायां भगवच्छंकरपरमहंस-परिव्राजकनिगदितायां जयमंगलायां तिङन्तकाण्डे लुङ्विलसितं नवमःपरिच्छेदः। त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, ९६, १९२९, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२३

१०. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२३

११. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२४

प्राचीन भाष्यकार मानते हुए सायण (१३७२-१४४४) अपने ऋग्वेदभाष्य में स्कन्दस्वामी के विषय में कहता है-

१. वराहून् वरशब्दोपपदाङ्पूर्वाद्धन्तेर्वा, हरतेर्वा, ह्वयतेर्वा, जुहोतेरदनार्थाद्वा हु इत्येतस्य निष्पत्तिरिति स्कन्दस्वामी।[१२]

२. द्विनञ्पूर्वस्यासुन्प्रत्ययान्तस्य वेदेरेकस्य नञो लोपोऽन्यस्य प्रकृतिभावश्च स्कन्दस्वामिना निपातितः। पाणिनिना तु 'नभ्राणनपात्०' इति सूत्रे न वेत्तीत्येतस्मिन्नर्थे निपातितः। अस्यार्थस्यानुपपन्नत्वात् स्कन्दस्वामिपक्ष एवाश्रीयते[१३]

(ख) १४वीं शताब्दी के आरम्भ के देवराजयज्वा ने अपने-अपने निघण्टुभाष्य में अनेकशः स्कन्दस्वामी को उद्धृत किया है-

१. अस्य स्कन्दस्वामी-'दूरं गता भवति नैरन्तर्येणात्मकाशादिवत् दूरेऽप्युपलब्धेर्गमिक्रियाव्यवहारः।[१४]

२. 'छादनार्थत्वं च विशिष्टम्' इति स्कन्दस्वामी।[१५]

३. निर्ऋतिः-'निरमणात्' निरुक्तम् (२.७)। अस्य स्कन्दस्वामी-'निरमणात्-निश्चलत्वेनावस्थानात्-इत्यर्थः, 'रमन्ते वास्यां भूतानि' इति।[१६]

(ग) १३वीं शताब्दी का केशवस्वामी अपने नानार्थार्णव में संक्षेप से लिखता है-

द्वयोस्त्वश्वे तथाह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते।।[१७]

अर्थात् दोनों लिंगों में गौ शब्द का घोड़ा अर्थ है। इसी प्रकार अनेक ऋचाओं में स्कन्दस्वामी ने घोड़ा अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य ऋग्वेद में यही अर्थ करता है।[१८]

(घ) १२वीं शताब्दी अथवा इससे कुछ पूर्व का वेंकटमाधव लिखता है-

भाष्याणि वैदिकन्याहुरार्यावर्तनिवासिनः।
क्रियमाणान्यपीदानीं निरुक्तानीति माधवः।।८।।
स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगौरवम्।।९।।[१९]

---

१२. सायण, ऋग्भाष्य १.८८.५
१३. सायण, ऋग्भाष्य ५.१२.३
१४. देवराजयज्वा, निघं०१.१.१
१५. देवराजयज्वा, निघं०१.१.१०
१६. देवराजयज्वा, निघं०१.१.१६
१७. नानार्थार्णवसंक्षेप,पृ०८, त्रिवेन्द्रम संस्कृत ग्रन्थमाला २३। सन् १९२८ की ओरियेण्टल कॉन्फ्रेन्स में, जो लाहौर नगर में हुई थी, इस प्रमाण की ओर मूल लेखक ने ध्यान दिलाया था। पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२५
१८. ऋग्वेदभाष्य, १.८४.१६, पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३५
१९. ऋगर्थदीपिका, अष्टक-८, अध्याय-४ की भूमिका। पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२५

अर्थात् स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ ने मिलकर एक ऋग्वेदभाष्य रचा। स्कन्दभाष्य पहले भागों पर, नारायणभाष्य मध्य भाग पर और उद्गीथभाष्य अन्तिम भाग पर है।

प्रो. व्रजबिहारी चौबे का स्कन्दस्वामी के विषय में अभिमत है कि 'इनके द्वारा रचित व्याख्या 'स्कन्दमहेश्वरवृत्ति' के रूप में प्रसिद्ध है। दुर्गाचार्य की अपेक्षा यह कम विशद है, किन्तु सरल और स्पष्ट है। यह ज्ञात नहीं होता कि इस वृत्ति का कितना अंश स्कन्दस्वामी ने रचा था और कितना महेश्वर ने। स्कन्दस्वामी शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी के गुरु थे। इनका काल पाँचवी शती ई० माना जाता है। स्कन्दस्वामी ऋग्वेद के भी आद्य भाष्यकार हैं। महेश्वर इनकी तुलना में परवर्ती हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र के भाष्यकार कर्काचार्य को इन्होंने उद्धृत किया है। तदनुसार इनका समय १२वीं शती निर्धारित होता है।'[२०]

प्रो. चौबे ने स्कन्दस्वामी का काल ५वीं शताब्दी माना है, जबकि आचार्य बलदेव उपाध्याय इनको सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का मान रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रो. चौबे ने स्वीकार किया है कि आज जो निरुक्तवृत्ति उपलब्ध है, उसके दो लेखक हैं। जहाँ स्कन्दस्वामी पाँचवीं या सातवीं शताब्दी के हैं, वहीं महेश्वर का काल १२वीं शती है अर्थात् दोनों टीकाकारों में कम से कम पाँच सौ वर्षों का सुदीर्घ अन्तर विद्यमान है।

आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र कहते हैं कि आचार्य स्कन्दस्वामी के काल का निर्णय पर्याप्त पर्यालोचन के पश्चात् निश्चित रूप से कहा जा सकता है। परवर्ती ग्रन्थों में नाम का उल्लेख होने से इनका आविर्भाव काल सूचित होता है। शतपथ ब्राह्मण की भूमिका में स्वयं हरिस्वामी ने स्कन्दस्वामी को अपना गुरु स्वीकार करते हुए अपना परिचय दिया है-

नागस्वामी तन्नप्ता श्रीगुहस्वामीनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः॥५॥
तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद् वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात्॥६॥
यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथार्क्कश्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥७॥

हरिस्वामी ने अपने भाष्य की रचना का समय भी बताया है-

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशत् शतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

हरिस्वामी ने कलियुग के ३७४० वर्ष व्यतीत हो जाने पर शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था कलियुग का प्रारम्भ विक्रम संवत्सर से ३०४५ वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है। अर्थात् ईसवी शती से यह काल ३१०२ वर्ष है। इससे हरिस्वामी ३७४०-३०४५—६९५ विक्रम संवत्सर में अर्थात् ६३८ ई० में शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था। स्कन्दस्वामी ने इस काल से पहले ऋग्वेदभाष्य की रचना कर ली थी और हरिस्वामी को वेद भी पढ़ाया था। इसलिये स्कन्दस्वामी का काल प्रायः ६८२ वि०सं० तथा ६२५ ई० सिद्ध होता है। दूसरे भी इतिहासकारों का कथन है कि स्कन्दस्वामी ६२५ ई० के लगभग भारत को विभूषित किया था। इससे यह हर्ष और बाण के समकालिक प्रतीत होता है।

२०. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, भाग-२, पृ०४०१, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ १९९७.

पहले ही यह तथ्य प्रतिपादित कर दिया है कि स्कन्दस्वामी ने निरुक्त की टीका की है। निरुक्त के टीकाकार तथा ऋग्वेद के भाष्यकार दोनों एक ही स्कन्दस्वामी हैं। दोनों ग्रन्थकारों की अभिन्नता के विषय में देवराजयज्वन् के निम्नलिखित प्रमाण से पुष्टि होती है-

'उपप्रयोभिरागतम्' इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्नं नाम उच्यते, तथा च 'अक्षिति श्रवः' इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये 'श्रव' इत्यन्नं नाम स्पष्टमुच्यते।'

इस उद्धरण से यह पुष्ट हो जाता है कि निरुक्तटीकाकार तथा ऋग्वेदभाष्यकार दोनों के रचयिता एक ही स्कन्दस्वामी हैं। इसलिये इस विषय में नाममात्र को भी सन्देह का अवसर नहीं है।[२१]

आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक ने पं० सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे को उद्धृत करते हुए कहा है कि उन्होंने शतपथभाष्यकार हरिस्वामी को वैक्रमाब्द प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालिक सिद्ध किया है। तदनुसार आचार्य दुर्ग को विक्रमपूर्व का मानना होगा। क्योंकि हरिस्वामी के गुरु स्कन्दस्वामी ने अपनी निरुक्त टीका के प्रारम्भ में दुर्गाचार्य का आदरपूर्वक स्मरण किया है।[२२] वररुचि के कालनिर्धारण के प्रसङ्ग में युधिष्ठिर मीमांसक पुनः कहते हैं कि हरिस्वामी द्वारा अपना काल बताते हुए **'सप्तत्रिंशच्छतानि'** कहा है, इसको लेकर ऐतिहासिकों में विवाद है। प्रायः सभी पाश्चात्य मत के अनुयायी विद्वान् **'सप्तत्रिंशच्छतानि'** को एक पद मानकर ३७४०वें कलिसंवत्सर में अर्थात् ६९५ विक्रमाब्द में भाष्य रचा हुआ मानते हैं, परन्तु पण्डित सादशिवलक्ष्मीधर कात्रे ने **'सप्त'** पद को असमस्त करके ३००७—४०—३०४७ कलिसंवत्सर अर्थात् विक्रमाब्द से दो वर्ष पहले हरिस्वामी ने भाष्य रचा है, ऐसा मत प्रतिपादित किया है। ३७४०वें कलिसंवत्सर में (६९५ विक्रमाब्द) में अवन्ती कोई भी विक्रम नाम का राजा नहीं था, ऐसा सभी मानते हैं। इसलिये कात्रे महोदय का मत समीचीन है, ऐसा मैं मानता हूँ।[२३] एक अन्य स्थान पर युधिष्ठिर मीमांसक ने स्कन्दस्वामी को ६८७ विक्रम संवत् के लगभग होने वाला बताया है।[२४]

उपर्युक्त पंक्तियों में युधिष्ठिर मीमांसक स्कन्द और महेश्वर को एक मानकर उक्त वक्तव्य दे रहे हैं। दुर्ग को स्कन्द ने नहीं, महेश्वर ने उद्धृत किया है। यदि कदाचित् स्कन्द दुर्ग से परिचित होते तो देवराजयज्वन् भी अवश्य दुर्ग से परिचित होता, भले ही वह माध्यम स्कन्द होते। परन्तु देवराजयज्वन् के अध्ययन से ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता, जिससे विदित हो कि देवराजयज्वन् दुर्ग से परिचित हों।

युधिष्ठिर मीमांसक अपने मत का प्रत्याख्यान स्वयं कर देते हैं। एक बार वे स्कन्द को विक्रमाब्द प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन बतलाते हैं और थोड़ा आगे बढ़कर वे स्कन्दस्वामी को ६८७ विक्रम संवत् के लगभग होने वाला बताते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी स्कन्द की तिथि के विषय में निश्चयात्मक

---

२१. आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र, वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः, पृ०२५-२६, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८९

२२. संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ०७४

२३. द्वितीयावृत्तेर्भूमिका, निरुक्तसमुच्चयः, पृ०३ 'अत्र 'सप्तत्रिंशच्छतानि' इत्यत्र विप्रवदन्ते ऐतिहासिकाः। प्रायेण सर्वे पाश्चात्यमतानुयायिनो विद्वांसः 'सप्तत्रिंशच्छतानीत्येकं पदं मत्वा ३७४० तमे, कलिवत्सरे अर्थात् ६९५ वैक्रमाब्दे भाष्यं रचितमित्याहुः। परन्तु 'पण्डित सदाशिवलक्ष्मीधर कात्रे' नाम्ना विदुषा सप्तेति पदमसमस्तं स्वीकृत्य ३००७—४०—३०४७ कलिवत्सरेऽर्थात् वैक्रमाब्दप्रवर्त्तनाद् वर्षद्वयपूर्वं हरिस्वामिना भाष्यमिदं विरचितम् इति मतमुपन्यस्तम्। ३७४० कलिवत्सरे (६९५वैक्रमाब्दे) अवन्त्यां विक्रमनामा कश्चिदपि राजा नासीदिति सर्वसम्मतम्। तथा सति कात्रेमहोदयस्य व्याख्यानमेव युक्ततरमिति वयं पश्यामः।'

२४. संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, भाग-१, पृ०२४१

रूप से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाए थे।

स्कन्दस्वामी की तिथि के विषय में पं० भगवद्दत्त का अभिमत है कि हरिस्वामी का काल जान लिय गया है। उस काल के आधार पर आचार्य स्कन्दस्वामी का काल भी ज्ञात हो गया है। हरिस्वामी सम्बन्धं निम्नलिखित श्लोक इसे स्पष्ट करते हैं-

नागस्वामी तन्नप्ता श्रीगुहस्वामीनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यि लक्ष्म्या समेधितः॥५॥
तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद् वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात्॥६॥
यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथार्क्कश्रुतिम्।
व्याख्यां कृत्वाऽऽध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः॥७॥
ततोऽधीतमहातन्त्रो विश्वोपकृतिहेतवे।
व्याचिख्यासुः श्रुतेरर्थं हरिस्वामी नतो गुरुम्॥८॥

अर्थात् श्री गुहस्वामी का पौत्र और नागस्वामी का पुत्र याज्ञिक, प्रमाणज्ञ और लक्ष्मी से युक हरिस्वामी था। वह वेदों के व्याख्यान में प्रवीण और गुरुमुख से विद्या पढ़ा हुआ था। जिसने सात सोमसंस्थ करके सम्राट् की पदवी प्राप्त की और ऋग्वेद पर व्याख्या करने के पश्चात् मुझे पढ़ाया, वह स्कन्दस्वामी मेरा गु है।

प्रथम काण्ड के ब्राह्मणभाष्य के अनेक अध्यायों की समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं-

नागस्वामी सुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः।
श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः॥
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।
धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथीं श्रुतिम्॥

अर्थात् पराशर गोत्र वाले, नागस्वामी के पुत्र, पुष्कर निवासी, अवन्तिनाथ विक्रमार्क के धर्माध्य हरिस्वामी ने शतपथ की श्रुति का व्याख्यान किया।

कलि संवत् ३१०२ पूर्व ईसा में आरम्भ हुआ था। इसलिये हरिस्वामी ने सन् ६३८ में शतपथ के प्रथ काण्ड का भाष्य किया। भाष्य करने से कुछ वर्ष पूर्व वह अपने गुरु स्कन्दस्वामी से पढ़ता रहा। स्कन्दस्वा उसको पढ़ाने से पूर्व ही अपना ऋग्भाष्य समाप्त कर चुका था। अनुमानतः लगभग सन् ६३० में स्कन्दस्वा अपना भाष्य कर रहा होगा।[२५]

उपर्युक्त विस्तृत विवरण पर ध्यान देने पर एक ऐसा तथ्य है, जो अभी तक निर्णीत नहीं हो पाया जिसकी ओर डॉ. स्वरूप ने ध्यान आकर्षित किया है। हरिस्वामी ने अपने को विक्रमार्क भूपति के समय हो बताया है-

श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः।

---

२५. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०२२-२३

धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्याच्छातपथीं श्रुतिम्।।

यदि हम विक्रमार्क भूपति का आशय यह लेते हैं कि ऐसा कोई राजा जिसका नाम विक्रमादित्य हो अथवा जिसने हूणों और शकों को पराजित कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो, तब निस्सन्देह यह गम्भीर समस्या बन जाती है। हरिस्वामी ने केवल विक्रमार्क भूपति कहा होता, तब भी विवाद न होता, उन्होंने साथ में तिथि का भी उल्लेख कर दिया है। वे कहते हैं-

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशत् शतानि वै।

चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्।।

'हरिस्वामी ने कलियुग के ३७४० वर्ष व्यतीत हो जाने पर शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था। कलियुग का प्रारम्भ विक्रम संवत्सर से ३०४५ वर्ष पूर्व हुआ माना जाता है। अर्थात् ईसवी शती से यह काल ३१०२ वर्ष है। इससे हरिस्वामी ३७४०-३०४५—६९५ विक्रम संवत्सर में अर्थात् ६३८ ई० में शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया था।'

उक्त वक्तव्य के आधार पर हम यदि इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो उस काल में अवन्ती प्रदेश में पुलकेशिन् द्वितीय (६१०-६४२ई० तक) राज्य कर रहा था, जिसे किसी भी रूप में विक्रमार्क भूपति नहीं माना जा सकता।[२६] लेकिन इसके पुत्र का नाम अवश्य विक्रमादित्य प्रथम था, जिसका समय ६५५-६८१ ई० माना जाता है। पुत्र और पिता के शासन के बीच का काल संक्रमण काल रहा है। उस संक्रमणकाल की अवधि में वंश के अन्य लोग सत्ता पर आधिपत्य स्थापित करते देखे जाते हैं।[२७]

अतः उक्त स्थिति के परिप्रेक्ष्य में एक सम्भावना बनती दिखायी देती है कि कहीं ऐसा तो नहीं, जिस विक्रमार्क भूपति का उल्लेख हरिस्वामी कर रहे हैं, वह पुलकेशिन् द्वितीय का पुत्र विक्रमादित्य, जिसका काल ६५५-६८१ ई० माना जाता है, रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि कालनिर्धारण करते समय कालगणना के आकलन में कुछ भूल हो रही है। यह स्खलन भी कोई बहुत बड़ा नहीं है। संभवतः कलियुग का प्रारम्भ किस समय हुआ है, इसका आकलन करने में हरिस्वामी से कुछ विसंगति हो गयी है। इतने विस्तृत इतिहास में दो दशक की भूल कोई बहुत बड़ी भूल नहीं मानी जा सकती। यदि हम पुलकेशिन् द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य के समकालिक हरिस्वामी को मानते हैं, तब हरिस्वामी का काल ६६०ई० के लगभग निर्धारित होता है और सम्भवतः इसी समय हरिस्वामी ने भाष्य भी किया होगा।

जब हरिस्वामी का काल निश्चित हो जाता है, तब स्कन्दस्वामी के काल निर्धारण में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रह जाती है। हरिस्वामी ने जब शतपथ-ब्राह्मण का भाष्य किया होगा तब वे प्रौढ़ रहे होंगे और निश्चित रूप से उस समय उनकी आयु ४५-५० के लगभग होनी चाहिये। इसी प्रकार जब स्कन्दस्वामी ने ऋग्वेदभाष्य किया होगा, वे भी ५० से कम नहीं होंगे। गुरु-शिष्य की आयु में कम से कम ३० वर्ष का अन्तराल रहा होगा। इस आधार पर हम यह निष्कर्ष ग्रहण कर सकते हैं कि ६३०ई० में स्कन्दस्वामी अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ अवदान ऋग्वेदभाष्य और निरुक्तभाष्य के रूप में दे चुके थे या दे रहे थे।

डॉ. स्वरूप, पं०भगवद्दत्त तथा अन्य विद्वानों के वक्तव्य भी लगभग उक्त काल सीमा को छू रहे हैं।

---

२६. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ०६५०, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद-२००१

२७. कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति, पृ०६५०-६५१, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहाबाद-२००१

अतः निश्चयात्मक रूप से यह मान सकते हैं कि सप्तम शताब्दी के पूर्वार्ध में स्कन्दस्वामी इस धरा पर थे। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विवेचन से विना किसी सन्देह के यह भी पुष्ट होता है कि निरुक्तटीकाकार तथा ऋग्वेदभाष्यकार दोनों कृतियों के रचयिता स्कन्दस्वामी ही हैं। इस प्रकार हम विना किसी सन्देह के ऐतिहासिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह कह सकते हैं कि निरुक्तवृत्तिकार तथा ऋग्वेद के प्रथम भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी एक ही हैं और उनका काल सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध है।

स्कन्दस्वामी की जन्मभूमि एवं माता-पिता

स्कन्द के काल निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले हरिस्वामी ने स्कन्दस्वामी के जन्म तथा उनके माता-पिता के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। स्वयं स्कन्दस्वामी ऋग्वेदभाष्य के प्रथमाष्टक की समाप्ति पर लिखते हैं-

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहतिम्।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति॥

स्कन्दभाष्य के चतुर्थाष्टक के अन्त में भी यही श्लोक विद्यमान है। इससे विदित होता है कि स्कन्दस्वामी वलभी का रहने वाला था तथा उनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था। पं०भगवद्दत्त डॉ. राज को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि राज का अनुमान है कि वलभी का राजा ध्रुवसेन ही कदाचित् भर्तृध्रुव हो।[२८] इस अनुमान को मानने के लिये मुझे अभी तक कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिला है।[२९]

इस प्रकार उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर आज हम केवल इतना कह सकते हैं कि स्कन्दस्वामी की जन्मभूमि वलभी गुजरात थी तथा उनके पिता का नाम भर्तृध्रुव था।

देवराजयज्वन् की दृष्टि में आचार्य स्कन्दस्वामी

निरुक्त के द्वितीय व्याख्याकार आचार्य स्कन्दस्वामी हैं। आज जो हमें निरुक्तभाष्य मिलता है, वह स्कन्दस्वामिमहेश्वरकृत माना जाता है। निघण्टु के व्याख्याकार आचार्य देवराजयज्वन् ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ आचार्य स्कन्दस्वामी का नाम उद्धृत किया है। वे स्कन्दस्वामी के विषय में लिखते हैं-'आचार्य यास्क ने निघण्टु को समाम्नाय को नैघण्टुक, नैगम और देवताकाण्ड भेद से तीन प्रकार का विभाजन करते हुए नैगम तथा दैवत काण्ड के समस्त पदों का निर्वचन तथा उसके मन्त्रोदाहरण प्रस्तुत किये हैं, जबकि नैघण्टुक काण्ड के कुछ पदों का ही निर्वचन किया है तथा उनमें से भी कुछ के मन्त्रोदाहरण प्रस्तुत किये हैं, बहुत सारे पद विस्तारभय और बुद्धिमानों के द्वारा निर्वचनीय जानकर उनको छोड़ दिया गया है। परन्तु **स्कन्दस्वामी** ने उन सबका निर्वचन किया है।'[३०]

---

२८. Proceedings of A.I.O.C. P.258, Lahore, 1918. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३६

२९. पं०भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग-२, पृ०३६

३०. देवराजयज्वन्, निघण्टु-निर्वचनभूमिका, पृ०१-२ 'भगवता यास्केन समाम्नायं नैघण्टुक नैगमदैवताकाण्डरूपेण त्रिवि[ध] गवादिदेवपत्न्यन्तं निर्ब्रुवता नैगमदेवताकाण्डपठितानि पदानि प्रत्येकमुपादाय निरुक्तानि दर्शितनिगमानि च नैघण्टुककाण्डपरिपठितानान्तु गवाद्यपारेअन्तानामेकचत्वारिंशच्छतत्रयाधिकसहस्रं सामान्येन एतावन्त्यस्य सत्त्वस्य नामधेयानि इति व्याख्याय तत्र प्रदर्श्य कतिचिदेव निरुक्तानि, तथा कानिचिदेव दर्शितनिगमानि, अन्यानि तु ग्रन्थविस्तरभीत्या सामान्ये निर्वचनलक्षणस्योक्तत्वाद् बुद्धिमद्भिर्निर्वक्तुं सुशक्यानीत्यभिप्रायेण चोपेक्षितानि। **स्कन्दस्वामी** च तत एव निरुक्तमनुजगाम।

आगे देवराजयज्वन् कहते हैं कि 'आचार्य यास्क ने साधारण नाम, प्रपित्व आदि २६ नाम, इसी प्रकार के और बहुत सारे नामपदों का केवल प्रकरण का नाम लेकर कह दिया है, लेकिन **स्कन्दस्वामी** ने उनका व्याख्यान किया है। जो **स्कन्दस्वामी** से भी छूट गये हैं, जिनका न तो निर्वचन किया गया है और न उदाहरण ही दिया गया है, ऐसे पदों का अध्ययन से ही ज्ञान किया जा सकता है और कलियुग में वह अध्ययन भी प्राय: विच्छिन्न हो चुका है।'[३१]

आगे देवराजयज्वन् कहते हैं कि यह निघण्टु-निर्वचन मैं अपनी बुद्धि से नहीं कर रहा हूँ, किन्तु निघण्टु के तीन सौ पचास शब्द आचार्य यास्क ने निरुक्त में व्याख्यात कर दिये हैं और वहीं उनके उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिये हैं। **स्कन्दस्वामी** ने उपर्युक्त के अतिरिक्त दो सौ पदों का और व्याख्यान किया है। समाम्नाय में पठित पदों को अन्यों से पृथक् करने के लिये **स्कन्दस्वामी** ने चिह्न दे दिये हैं, उनसे मैंने पाठसंशोधन कर लिया है। अन्य शेष पदों के संशोधन के लिये मैंने अपने कुल में निघण्टुसमाम्नाय के अध्ययन की अविच्छिन्न परम्परा का आश्रय, माधव नामानुक्रमणी, आख्यातानुक्रमणी, स्वरानुक्रमणी, निपातानुक्रमणी, निर्बन्धनानुक्रमणी और उसके भाष्य के अध्ययन, अनेक स्थानों से लाकर संगृहीत किये गये कोशों के निरीक्षण से संशोधित किया है। जहाँ तक निर्वचन का प्रश्न है-१. निरुक्त, २. **स्कन्दस्वामी**कृतनिरुक्तटीका, ३. **स्कन्दस्वामी**-भवस्वामी-वराहदेव-श्रीनिवास-माधवदेव-उवटभट्ट-भास्करमिश्र-भरतस्वामी आदि के विरचित वेदभाष्य, ४. पाणिनीय व्याकरण, ५. उणादिकोष, ६. क्षीरस्वामी, अनन्ताचार्यादि के निघण्टुव्याख्यान ७. भोजराजीय व्याकरण, ८. कमलनयनीयनिखिलपदसंस्कार को देखकर निघण्टु का परिष्कार किया है।[३२]

उपर्युक्त देवराजयज्वन् के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उसकी दृष्टि में यास्क के पश्चात् किसी विद्वान् का स्थान है तो वह स्कन्दस्वामी। उसने लगभग दो पृष्ठों के अपने भूमिका सम्बन्धी वक्तव्य में छ: बार स्कन्द को नाम लेकर उद्धृत किया है। इससे यह विदित हो जाता है कि देवराजयज्वन् के काल तक स्कन्दस्वामी निरुक्त के एकमात्र अधिकृत प्रवक्ता के रूप में स्थापित हो चुके थे। इसके अतिरिक्त यह भी विदित होता है कि निश्चित रूप से उनका काल देवराजयज्वन् से पहले का है। अन्य सभी आचार्य भी ऐसा ही मानते हैं।

---

३१. देवराजयज्वन्, निघण्टु-निर्वचनभूमिका, पृ०२, 'तत्र तु 'दिवश्चादित्यस्य च साधारणनामानि स्वरादीनि षट्' इदमादीनि च उपमाभेदात् भेदनामानि द्वादश, 'प्रपित्वे, अभीके इत्यादीनि च षड्विंशतिश्च' भाष्यकारेण बहुवक्तव्यत्वात् प्रकरणश एव निरुक्तानि, **स्कन्दस्वामिना** च व्याख्यातानि। अतोऽन्येषां यथाक्रमेणानिरुक्तेर्निगमाप्रदर्शनाच्च स्वरूपमात्रमपि अध्ययनादेवावगन्तव्यम्। तच्चाध्ययनं कलियुगे प्रायेण विच्छिन्नसम्प्रदायमासीत्। '

३२. देवराजयज्वन्, निघण्टु-निर्वचनभूमिका, पृ०२, 'इदञ्च स्वमनीषिकया न क्रियते किन्तु निघण्ट्वागतेष्वेव पदेष्वध्यर्द्धशतत्रयमात्राणि पदानि भाष्यकारेणैव तत्र तत्र निगमेषु प्रसङ्गान्निरुक्तानि, **स्कन्दस्वामिना** च निगमव्याख्यानेषु अन्यानि च पदानि शतद्वयमात्राण्युपात्तानि। तेन च समाम्नायपठितानां पदानामन्येभ्यो व्यावृत्त्यर्थं किञ्चिच्चिह्नं कृतम्, अतस्तेषां पाठशुद्धिस्तत्रैव शुद्धा। अन्येषाञ्च पदानामस्मत्कुले समाम्नायाध्ययनस्याविच्छेदात्, श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्या:, आख्यातानुक्रमण्या:, स्वरानुक्रमण्या:, निपातानुक्रमण्या:, निर्बन्धनानुक्रमण्या: तदीयस्य भाष्यस्य च बहुश: पर्यालोचनात्, बहुदेशसमानीतात् बहुकोशनिरीक्षणाच्च पाठ: संशोधित:। निर्वचनञ्च-१. निरुक्तम्, २. **स्कन्दस्वामिकृतां** निरुक्तटीकाम्, ३. **स्कन्दस्वामि**भवस्वामिवराहदेवश्रीनिवासमाधवदेवउवटभट्टभास्कर- मिश्रभरतस्वामादिविरचितानि वेदभाष्याणि, ४. पाणिनीयं व्याकरणम्, ५. विशेषत: उणादिवृत्तिम्, ६. क्षीरस्वाम्यनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टुव्याख्याम्, ७. भोजराजीयं व्याकरणम्, ८. कमलनयनीयनिखिलपदसंस्कारांश्च निरीक्ष्य क्रियते। '

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०११-१४) ISSN 0974 – 8830

संस्कृते विज्ञानम्

प्रो० महावीर[१]

ऋषीणामाद्यानां गहनमननावाप्तसुयशाः। श्रुतीनां शास्त्राणां निखिलगुणतत्त्वार्थनिल्लयाः पुरातत्त्वाधारा सकलभवज्ञानब्धिविभवा। जयेद् दैवी वाणी त्रिभुवनमनोज्ञा बुधप्रिया। व्याकरणादिदोषरहिता, परिष्कृता, परिशुद्धा च संस्कृतभाषा भारतीयभाषाणां मातृरूपा प्राचीनतमा च। अस्यामेव भाषायां विलसन्ति चत्वारो वेदाः, ब्राह्मणानि, उपनिषदः, दर्शनशास्त्राणि, रामायणमहाभारतादीनि महाकाव्यानि। तथा च कविकुल गुरुः कालिदासप्रभृतयः महाकवयः संस्कृतस्यैव वैभवं वर्धयन्ति। संस्कृतस्य विपुलं वाङ्मयं विलोक्य विद्वांसः कथयन्ति किं नास्ति संस्कृते? सर्वे विषयाः संस्कृतभाषायां विलसन्ति। व्याससमासशैल्या विविधानां विषयाणां प्रतिपादनं वैदिकसाहित्ये तथा च लौकिकसाहित्ये दरीदृश्यते। बहवो जनाः संस्कृतमनधीत्यैव जल्पन्ति-संस्कृतं तु केवल कर्मकाण्डस्य भाषा। नेदं सत्यं, संस्कृते तानि वैज्ञानिकतत्त्वानि निहितानि सन्ति यानि पठित्वा विस्मयो जायते। चतुर्षु वेदेषु कृषि-रसायन-गणित-भौतिक-आयुर्वेद-सृष्ट्युत्पत्ति-वास्तु-शिल्प-काष्ठ-वस्त्र-ज्योतिषआदीनां वैज्ञानिकविषयाणां वर्णनं प्राचुर्येण संप्राप्यते। पर्यावरणविज्ञानं, मनोविज्ञानमपि तत्र द्रष्टुं शक्यते।

वेदः कृषिकर्मणः महत्त्वमित्थं समुपदिशति-

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।[२]

सुप्रसिद्धेऽस्मिन् सूक्ते प्राचीनाः ऋषयः धनोपार्जनार्थं सर्वोत्तमं साधनं कृषिमेव स्वीकुर्वन्ति। भारतीया संस्कृतिः सर्वदा सकारात्मकं शुभमथवा मंगलमेव चिन्तयति। अस्माभिर्न निर्धनैर्भाव्यम् अपितु वयं धनधान्यसम्पन्नाः स्याम। पारस्करगृहसूत्रे निगदितम्- अन्नं साम्राज्यानामधिपतिः। अनेन कृष्युत्पन्नेन अन्नेन वयं सर्वाः दिशः जयेम। यथा-**विश्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्।**[३] युजुर्वेदे परमेश्वरेण उपदिश्यते-

सुसस्याः कृषीस्कृधि,[४] **तथा च फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्।**[५]

कृषेः आधारभूतं प्रमुखं तत्त्वं वर्त्तते-भूमिः।

भूमेः महिमा संस्कृत साहित्ये सर्वत्रैव उच्यस्वरेण गीयते। **भूमिरावपनं महत्।**[६]

पृथिवीमातरं प्रार्थयन्तः भारतीयाः गायन्ति **नमोमात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्या इयं ते राड्यन्त्यैत्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।**[७]

---

१. उपकुलपति गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्

२. ऋ०वे० १०.३४.१३

३. यजु. १८.३३

४. यजु०४.१०

५. यजु०२२.२२

६. यजु. २३.४६

७. यजु.९.२२

अथर्ववेदस्य भूमिसूक्ते ऋषयः भूमहिमानं प्रतिपादयन्तो वदन्ति-

विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।

वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्र ऋषभा द्रविणे नो दधातु।।[८]

ऋग्वेदे भूमेः त्रयो भेदाः वर्ण्यन्ते अग्नस्वती, उर्वरा तथा च आर्तना। यस्यां बहु-उत्पादनं सा अग्नस्वती, मध्यमरूपा उर्वरा, या च स्वल्पमेवान्नादिकमुत्पादयति सा आर्तना।

कृषेः द्वितीयमाधार भूतं तत्त्वमस्ति-जलम्। वेदमन्त्रेषु जालानामष्टौ भेदाः प्रकीर्तिताः- हेमवतीः, उत्स्याः, सनिष्यदाः, वर्ष्याः, धन्वन्या, खनित्रिमाः, कुम्भेभिराभृताः। वेदे कृषेराधारभूतानां बीजादीनामपि विस्तरेण उल्लेखो वर्त्तते। वर्ततानसमये रासायनिकखादप्रयोगेण अनेकाः समस्याः प्रादुर्भवन्ति। वेदमन्त्रेषु हरितखादस्य, गोमयखादस्य तथा च मधु, दुग्ध, दधिखादस्य प्रशंसनं वयं पठामः। यज्ञीयभस्मप्रयोगादपि कृषिः सुसस्या भवतीति संस्कृतज्ञानां मतम्।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे नीवाराश्च मे - - - यज्ञेन कल्पन्ताम्।[९] इत्यादि मन्त्रेषु-विविधानामन्नानां वर्णनं पठित्वा प्राचीनानां कृषिवैज्ञानिकानां ज्ञानस्योत्कर्षः ज्ञायते।

तत्रैव वेदे वृक्षाणां महत्त्वप्रतिपादने अनेके मन्त्राः दृष्टिपथमायान्ति

वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्[१०] **-या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।**[११]

वर्त्तमानकाले न केवलं राजनेतारः प्रबुद्धाः चिन्तकाः, मनीषिणो वा अपितु सामान्यजनाः अपि पर्यावरण-प्रदूषणसमस्यया चिन्तिताः सन्ति। अस्याः भीषणसमस्यायाः समाधानं संस्कृतसाहित्ये प्राचुर्येण प्राप्यते। वायु-अन्न- जल-ध्वनिआदीनां प्रदूषणेन सर्वं जगत् प्रदूषितं प्रतिभाति। न केवलमिमानि पञ्चभूतानि अपितु प्राणीनां मनः, बुद्धयादीन्यपि प्रदूषितानि सन्ति। एतानि सर्वाणि प्रदूषणरहितानि स्युरिति प्रार्थयन्ते वैदिका ऋषयः-

यथा-

वात आ वातु भेषजं शंभु मयोभु यो हृदे।

प्रण आयूंषि तारिषत्।[१२]

पर्यावरणसंरक्षणे वृक्षाणां स्थानं सर्वोत्कृष्टं वर्त्तते। वेदाः उपदिशन्ति-

भूमौ विद्यमानानि जलानि प्रदूषणरहितानि, औषधिरूपाणि, कल्याणकराणि च भवेयुरिति कामयमानाः ऋषयः निगदन्ति-

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन महे रणाय चक्षसे।[१३]

---

८. अथर्व. १२.१.६

९. यजु०१८.१२

१०. ऋ०वे० १०.१०१.११

११. यजु०१२.८९

१२. ऋ०१०.१८९.१

१३. यजु०३६.१४

मानसिक पर्यावरण रक्षार्थमपि वेदमन्त्रेषु प्रोच्यते-

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।

दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।[१४]

मन बुद्ध्यादीनां परिशोधनार्थं वैदिकवाङ्मये यावन्निर्दिष्टं न तावत् कुत्रचिदपि अन्यत्र द्रष्टुं शक्यते।

गणितविद्यायाः मूलं संस्कृतसाहित्ये विद्यत एव यथा-**एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च मे सप्त च मे सप्त च मे नव च मे नव च मे एकादश च मे एकादश च मे**[१५] तथा च **चतस्रश्च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे षोडश च मे**[१६] इत्यादि मन्त्रयोः अङ्कबीजरेखा गणितं प्रकाशितमस्ति। तथैव-**इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।**[१७] इति मन्त्रे रेखागणितं प्रकाश्यते।

यजुर्वेदभाष्यं कुर्वाणाः महर्षि-दयानन्द-महाभागाः निर्दिशन्ति-मनुष्यैर्विदुषां सकाशाद् वेदानधीत्य शिल्पविद्यां प्राप्य हस्तक्रियाः साक्षात्कृत्य विमानयानादीनि कार्याणि निष्पाद्य सुखोन्नतिः कार्या।[१८]

वेदमन्त्रान् आश्रित्य विमानादियाननिर्माणकौशलं प्रदिशन्ति स्वामिवर्याः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् तत्र मन्त्रो वर्त्तते-

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।

तस्मिन्त्साकं त्रिशता च शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥[१९]

अस्यायमाशयः-तेषु यानेषु प्रधयः सर्वकलायुक्तानाम् अराणां धारणार्थां द्वादश कर्त्तव्याः। तन्मध्ये सर्वकलाभ्रमणार्थमेकं चक्रं रचनीयम्। मध्यस्थानि मध्यावयवधारणार्थानि त्रीणि यन्त्राणि रचनीयानि। तैः त्रीणि शतानि यन्त्रकला रचयित्वा स्थापनीयाः। ताः कलाः चलाः चालनार्हाः अचलाः स्थित्यर्हाः। षष्टिः संख्याकानि कलायन्त्राणि स्थापनीयानि

कविकुलगुरुः कालिदासोऽपि विश्वविश्रुते रघुवंशमहाकाव्ये तथाविधस्य विमानस्य वर्णनं करोति यत्पृथिव्यां, जले, आकाशे च समानगत्या धावति-

उदन्वदाकाश महीधरेषु गतिविजघ्ने न हितद्रयस्य। भौतिकविज्ञानमपि वेदमन्त्रेषु ज्ञातुं शक्यते। अंग्निरस्ति ऊर्जाया मूलम्। एकस्मिन् मन्त्रे अग्नेस्त्रयो भेदाः प्रकीर्तिताः-

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।

तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥[२०]

ज्योतिर्विज्ञानस्य यथा विशदं वर्णनं संस्कृतभाषायां विद्यते न तथा अन्यत्र। वेदाङ्गेषु विषयस्यास्य प्रमुखं

---

१४. यजु०३४.१

१५. यजु०१८.२४

१६. यजु०१८.२५

१७. ऋ०वे० १.१६४.३५

१८. दयानन्द, यजुर्वेदभाष्य ४.९

१९. ऋ०१.१६४.४८

२०. ऋ०वे० १०.४५.१

स्थानम्। ज्योतिर्विज्ञानप्रतिपादकाः अनेके ग्रन्थाः संस्कृते विद्यन्ते। अयन-वर्ष-युग-पर्व-नक्षत्रादीनां वर्णनं पठित्वा वयं विस्मिताः भवामः। सप्तर्षिणामुल्लेखः वेदमन्त्रेषु प्राप्यते। यथा-

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा। नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवेयुः।।[२१]

शतपथब्राह्मणे वयं पठामः-

सप्तर्षि नु ह स्म वै पुरर्क्षा इत्याचक्षते।।

चिकित्साविज्ञानस्य मूलमायुर्वेदः संस्कृतभाषायामेव इति जानन्ति सर्वे एव भारतीयाः। रामायणकालेऽपि कुशलाः चिकित्सकाः बभूवुरिति ज्ञायते रामायण अध्ययनेन।

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभि तुष्टाश्च सर्वशः।
सुखितां त्वा करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि।।[२२]

विश्वविख्याता संजीवनी तत्रैव वर्ण्यते-

मृतसंजीवनीं चैव विशल्यकरणीमपि।
सुवर्णकरणीं चैव संधानीं च महौषधीम्।।[२३]

आदिकवि विरचिते रामायणे भूगर्भविज्ञान-धातु-उद्योग-काष्ठ-उद्योग-वस्त्र-विज्ञानञ्चापि सूक्ष्मधिया वर्णितमस्ति वैदिक-लौकिक-संस्कृत-साहित्यस्याध्ययनेन सुतरां विज्ञायते यत् प्राचीनाः संस्कृतज्ञाः भारतीयाः विज्ञानस्य तां पराकाष्ठां प्राप्तवन्तः आसन् या इदानीं दुर्लभा एव।

---

२१. ऋग्वेद १.२४.१०
२२. अयो. का. १०-३०.३१
२३. युद्ध. का. ७४.३३

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१५-१९) ISSN 0974 – 8830

पर्यावरण सन्तुलन में आपस्तत्त्वीय प्रधानत्व

डॉ० रूप किशोर शास्त्री

जिस पृथिवीलोक पर प्राणीजगत् अपना-अपना कार्यव्यापार कर रहा है, वह सभी दिशाओं मे विराजमान पृथिवी-वायु-जल-सूर्य-चन्द्रमा-नक्षत्रगण और अन्तरिक्षादि देवतत्त्वों से आवृत्त है। इन समस्त देवतत्त्वों को वेद का ऋषि स्नेहवृष्टि सम्पन्ना अम्ब-माताएं मानते हुए उनसे समस्त दिशाओं में संरक्षण की याचना करता है।[2] वेद एवं ब्रह्मवेत्ता ऋषिजन भलीभाँति अवगत थे कि ये देवतत्त्व ही प्रकृति के सन्तुलनकर्त्ता एवं जीवजगत् के संरक्षक हैं, इसी हेतु से मानव इन देवतत्त्वों का स्तवन करने में सदा उद्यत रहा है, इसी श्रद्धाभाव के कारण मनुष्य ने इसको बिना किसी प्रकार की क्षति के पहुँचाये जीवन में इनका भरपूर उपयोग किया है, यह थी प्राग्पुरुषों की सजगता एवं विवेकशीलता। इन देवतत्त्वों की दिव्यशक्तियों का सतत सानिध्य एवं संरक्षण प्राप्त करना उनके जीवन का मुख्य व्यावहारिक दर्शन था। चूँकि ऋषि लोग समझते थे कि ये ही हमारे जीवन तथा समस्त पर्यावरण के अधिपति तत्त्व हैं।[3]

अथर्ववेदीय उन्नीसवें काण्ड के नवम एवं दशम सूक्त की समस्त ऋचाएँ इन देवों में शान्ति की कामना का गायन इसलिए करती हैं ताकि प्राकृतिक दारुण दु:ख एवं दुष्प्रभाव का सर्वथा अभाव रहे, चूँकि इस समस्त प्रकृति तथा प्राणी जीवन के मुख्य आधारतत्त्व ये ही तो देवतत्त्व हैं, जिसमें पृथिवी, द्यौ, अन्तरिक्ष, जल, वाक्, अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, मित्र, वरुण, विष्णु, प्रजापति, इन्द्र, बृहस्पति, धूमकेतु, राहु आदि ग्रह-नक्षत्र इत्यादि देवतत्त्व अथवा प्रतिनिधि हैं। उक्त वैदिक ऋचाओं, सूक्तों आदि में स्पष्ट संकेत हैं कि वेदों के ज्ञान से सुतराम परिचित पुराकालिक ऋषिलोग पर्यावरणवेत्ता थे तथा पर्यावरण संरक्षण में किञ्चित् न्यूनता से भी सावधान रहते थे। अत: वैदिक ऋषियों ने पर्यावरण संरक्षण एवं सन्तुलन हेतु अनेक तथ्यों पर विचार किया था। उदाहरण स्वरूप पृथिवी संरक्षण, जलसंरक्षण, अन्तरिक्ष संरक्षण, वनस्पति संरक्षण, वायु संरक्षण तथा प्राणी संरक्षण इत्यादि। आज भी वे विचार बिन्दु शाश्वत हैं। मानव उक्त दिव्यशक्तियों के मार के कारण सचेत हुआ वातावरण के संरक्षण एवं सन्तुलन पर अपने को केन्द्रित कर रहा है, यह उसकी आज की मूलभूत आवश्यकता बन गयी है।

उक्त समस्या व आवश्यकता पर संसार के चिन्तक, मनीषी, वैज्ञानिक, पर्यावरणविद् सामान्य पुरुष तथा प्राय: सभी देशों की सरकारें गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने लगे हैं। इन सभी पर चिन्तन एवं क्रियान्वयन की नितान्त अपरिहार्यता है। इनके संरक्षण की कार्यविधि के लिये पर्यावरण शब्द का प्रयोग अभीष्ट है। संसार के सभी पदार्थ, जीवजन्तु इन सभी से परि—आवरण अर्थात् चारों ओर से आवृत हैं। जगत् का मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो अपनी स्वार्थलिप्सा के फलीभूत इन देवतत्त्वों को विकृत करने के साथ-साथ इनमें असन्तुलन पैदा कर सकता है। अत: इसके इस दुष्कृत्य के कारण अन्य जीवों को भी मानव के साथ प्रकृति का कोपभाजन

---

१. अध्यक्षचर:-वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

२. प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वा दिशऽआधावन्तु। अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्।। यजु०६/३६

३. मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्। प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे।। अथर्व०६/१०८/२

होना पड़ सकता है। इसलिये मानव का ही उत्तरादायित्व है कि वह इनमें किञ्चिदपि विकृति पैदा न होने दे।

वेदों में सभी समस्याओं का समाधान होने के साथ-साथ तत्सम्बन्धी अनेकानेक पहलुओं पर सकारात्मक चिन्तन भी मिलता है। जलीय पर्यावरण के सम्बन्ध में चिन्तन की यहाँ अपेक्षा के साथ यह आवश्यक है कि जलसंरक्षण एवं तद्‌गत विशुद्ध सन्तुलित पर्यावरण विद्यमान रहे। इसकी सम्भवतः पहले इतनी आवश्यकता नहीं थी, जितनी आज है। यह सच है कि जीव एवं वानस्पतिक जगत् के लिये जलीय पर्यावरण की अहर्निश मूल आवश्यकता बनी रहेगी। इस दृष्टि से वेदों में प्रचुर मात्रा में इसका उल्लेख मिलता है। प्रकृति एवं सृष्टि के प्रधान तत्त्वों में जल प्रमुख है। समस्त प्रकृति एवं जैविक जगत् में शान्तिकर तथा जीवननिर्वाहक तत्त्व यदि किसी को माना गया है, तो वह प्रतिष्ठा मात्र जल को ही प्राप्त है, ऐसा ऋग्वेद का कहना है।[४] वेदों में जल का भैषज्यरूप में माहात्म्य वर्णित है। जल समस्त रोगों व्याधियों को समूल नष्ट करने वाला अमीवचातनी और आपः सर्वस्य भेषजीः अर्थात् प्रायः सभी रोगों की परमौषधि बताया गया है।[५] इस जल की वारि संज्ञा भी इसी कारण से है कि यह समस्त शरीरगत व भौतिक दोषों का निवारण करने वाला है। इस जल चिकित्सा का स्पष्ट उल्लेख वेदों में वर्णित है; जहाँ सोम ने कहा है कि (अप्सु अन्तः) उदकों में (विश्वानि भेषजानि) समस्त रोगों की औषधियाँ हैं तथा (आपः विश्वभेषजीः) जल सब औषधियों से सुसम्पन्न है।[६]

वैदिक वाङ्मय में जल के अनेकार्थवाची एवं पर्यायवाची पदों का प्रचुर प्रयोग प्राप्त है। स्वयं महर्षि यास्क ने संसार के प्रथम कोषग्रन्थ निघण्टु में उदक को (शतमुदकनामानि) कहकर सौ नामों का उल्लेख किया गया है, वहीं पर सौ नामों की सूची भी दी है।[७] जल के ये सौ नाम अपने-अपने गुण-कर्म-स्वभाव के कारण क्षेत्र विशेष के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप आपः-यह सामान्य जल कहा गया है, जो सामान्यतः पृथिवी पर प्रस्रवित होने वाला अथवा पृथिवी से खोदकर निकाले जाने वाला तत्त्व है। जो जल रोगों का हन्ता है, वह जल वाः कहा गया है। प्रदीप्त रश्मियों द्वारा पार्थिव जल को अन्तरिक्ष में ले जाकर स्थापित किये जाने वाले जल को उदक नाम दिया गया है। मनुष्य के जीवन में कभी भी आन्तरिक विकारों, दूषित भावों, दुरितों, द्रोहत्वभाव, अहंसों, मिथ्या वचनों एवं मिथ्याचरणों आदि का प्रकोप अथवा आक्रमण सम्भव है। इन आन्तःकरणिक झञ्झावातों अथवा मानसिक, बौद्धिक पर्यावरण को स्वस्थ तथा सन्तुलित करने की अपार शक्ति इस आपः में निहित है, ऐसा ऋग्वेद में वर्णन आया है।[८]

शरीर शास्त्रानुसार प्राणी के आन्तरिक पर्यावरण को संरक्षित एवं सन्तुलित करना यह आपः का पिण्डगत मानदण्ड है, क्योंकि संजीवनीय तथा आरोग्यत्व तत्त्वों का अक्षय भण्डार है, जिसमें हमें अहर्निश प्राण, जीवन, बल, ऊर्जस्वत्, आरोग्यत्व, रोगनिवारक तथा रोगनिरोधक शक्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है, ऐसा संकेत यजुर्वेद ने दिया है।[९] कुछ अन्तर से ऐसा भी उल्लेख ऋग्वेद १.२३.१९ में आया है। पुरुष और

---

४ शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु। शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥ ऋ०७.३५.८

५ आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपः सर्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ऋ०१०.१३७.६, अथर्व०३.७.५, ६.९१.३

६ अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजीः॥ ऋ०१.२३.२०

७ निघ०१.१२

८ इदमापः प्र वहत यत्किं च दुरितं मयि। यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वा शेप उतानृतम्॥ ऋ०१.२३.२२, १०.९.८

९ अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः। देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान् वाजसास्तेनायं वाजं सेत्॥ यजु०९.६

पुरीष ये दो पद क्रमशः शरीरगत जीवात्मा और पुरि-शरीर के शं-कल्याणकर उदकतत्त्व के लिये आये हैं। इस दृष्टि से पुरुष तथा पुरीष का घनिष्ट सम्बन्ध है। वह पुरुष-जीवात्मा ही वास्तविक सुख, शान्ति के भोगने के अधिकारी के साथ-साथ पुरिइष, पुरीष अर्थात् अन्न, ऊर्जा, शक्ति और उत्तम स्वास्थ्यसम्पन्न शरीर का अधिपति पुरुष-जीवात्मा ही सुख, शान्ति, अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का भोक्ता सम्भव है। षड्विंशब्राह्मणकार ने इस पुरुष-शरीर, जीवात्मा के लिये रेतोधा कहा है, चूँकि वह रेतस्-वीर्यतत्त्व, जो शरीर में प्राणशक्ति व जननशक्ति का प्रतिनिधि तत्त्व उदक है, को धारण करने वाला है। निघण्टु में उदक के नामों में अहि और अक्षर भी पठित हैं।[१०] अतः यह उदकतत्त्व अ-नहीं हि-त्याज्य है, अर्थात् शरीरगत पिण्ड में तथा वैसे ही संसार में यह आपःतत्त्व अहिसंज्ञक है, इसकी सर्वत्र आवश्यकता है। अ-क्षर-अविनाशक अर्थात् शरीर एवं संसार में नष्ट करने अथवा दूषित करने योग्य नहीं हो। यह सर्वथा संरक्षणीय है, इसकी कथमपि उपेक्षा विनाश के कगार पर ला खड़ा कर सकती है।

उक्त चिन्तन से स्पष्ट हो गया है कि किस तरह यह आपःतत्त्व शरीर के लिये उपादेय है। ठीक वैसे ही इस संसार के नियामक तत्त्वों में जल की अत्यन्त उपादेयता है। जैमिनीयोपनिषद्कार आपो वा इदमग्रे महत्सलिलमासीत् द्वारा यह सारगर्भित विचार दे रहा है कि इस सृष्टि का अग्रणी तत्त्व यदि कोई था या है तो वह आपः अथवा सलिल ही था। वस्तुतः जलतत्त्व सृष्टि का जीवन है, अतः यह अपनी स्थितियों, परिवर्तनों विकारों एवं विविध रूपों, विविध स्थानों में विश्व का पालन-पोषण एवं सञ्चालन कर रहा है। ऋग्वेद का कथन है कि जल की गहन एवं गम्भीर कुहक (जलसंयुक्त कोहरा) से सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है।[११]

सृष्टि-निर्माण मूलतत्त्वों में जल के अपर नामवाची पदों के सलिल, अम्भस् तथा कुहक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। जैसे मातृगर्भस्थ शिशु चारों और कलल रस रूप जल से आवृत रहता है, उसी से गर्भस्थ शिशु संरक्षित, संवर्धित, पोषित एवं प्राणित होता है, तद्वत् ही ब्रह्माण्डगत पर्यावरण कुहक रूप जल से आवृत एवं पोषित होता है।

आप्लृ व्याप्तौ धातु से आपः और षल् गतौ धातु से सलिल संज्ञक जल क्रमशः व्यापकता और गतिशीलता संवाहक तत्त्व है। जल सृष्टि का निरन्तर प्रवाहमान तत्त्व है। निश्चय ही जल वानस्पतिक जगत्, जैविक जगत् एवं वायुमण्डलीय पर्यावरण को संरक्षित, सन्तुलित करने वाला है। यह जहाँ शक्ति एवं ऊर्जा का संवाहक है, वहीं यह जीव-जन्तु, वृक्ष, फल, पुष्प, पादप, लतादि के जीवनप्रदाता और रससञ्चारी है। ऋग्वेद ने उदकतत्त्व को ऊर्जा का स्रोत माना है, ऐसा एक रोचक एवं गम्भीर प्रसङ्ग प्रस्तुत किया गया है कि अग्नि अर्थात् शक्तितत्त्व के तीन जन्मस्थान हैं-(समुद्रे एकं) समुद्र में बड़वानल के रूप में (दिवि एकं) द्युलोक में सूर्य रूप दूसरी शक्ति है तथा (अप्सु एकं) अन्तरिक्षस्थ मेघाशय में विद्युत् रूपी तृतीय उत वा शक्ति है। यह शक्ति ही ऋतुओं की व्यवस्थापिका तथा पार्थिव जगत् के व्यवस्था संज्ञान के लिये इसी के द्वारा निर्माण रूप है।[१२]

---

१० सोमो हि रेतोधा। षड्०विं०ब्रा०४.६.२

११ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥ ऋ०१०.१२९.३

१२ त्रीणि जाना परि भूषन्त्यस्य समुद्र एकं दिव्येकमप्सु। पूर्वामनु प्र दिशं पार्थिवानामृतून्प्रशासद्वि दधावनुष्ठु॥ ऋ०१.९५.३

उक्त अग्नित्रय अथवा शक्तित्रय के उदकतत्त्व की मुख्यतः अवान्तर भेद से भूमिका है, इस सम्बन्ध में स्वयं ऋग्वेद रहस्योद्घाटन करता है कि अग्नि का मेघस्थलों में अन्तर्वास है, वही अग्निर्भूत होकर औषधियों में जाकर अन्दर प्रविष्ट होता है तथा उनके गर्भ में जाकर पुनः उत्पन्न होता है और निवास करता है।[13] ऋग्वेद में प्रसङ्ग आया है कि मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों में जो अग्नितत्त्व प्रविष्ट हैं, उन्हें मूलतः दिव्य आपः संज्ञक माना गया है वह रक्षा करे।[14] इस सम्बन्ध में मातृभूत आपः तत्त्व अग्नि को उत्पन्न करने वाला बताया गया है।[15] इस रहस्य का अथर्ववेद विस्ताररूप देते हुए स्पष्ट करता है कि जलों के अन्दर अग्नियाँ हैं। वे सदा रक्षक होवें, चूँकि मनुष्य उनका उपयोग करता है समिद्ध होता है।[16] कपिष्ठल संहिता ६.३ में इसी अग्निं या गर्भ दधिरे द्वारा स्पष्ट व्याख्या कर दी है कि आपः ही अग्नि को अपने गर्भ में धारण करते हैं। वस्तुतः अग्नितत्त्व का बिना आपः तत्त्व के वानस्पतिक तथा जैविक जगत् में प्रवेश एवं निवास असम्भव है। अतः जल ही शक्ति के मूल में माना जाये तो किसी भी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। यह अग्नि तो माध्यम है जो सब धान्यों, वनस्पतियों एवं प्राणियों में चन्द्ररूप होकर रस भरता है, उन्हें रमणीय बनाता है।[17] वह जलतत्त्व अत्यन्त कल्याणकारी एवं ऊर्जावान् बन जाता है तथा प्राणीजगत् व वानस्पतिक जगत् का संरक्षक बन जाता है, जिसे सूर्य की किरणों का सान्निध्य है एवं वह जल जो सूर्य के सम्मुख है अथवा जिनके साथ सूर्य है।[18] ऐसा जल तो खुले में ही सम्भव है, जो नदियों, झीलों, झरनों, प्रपातों, कुओं, पुष्करों, तालाबों, बाँधों तथा समुद्रों में विद्यमान रहता है। ऐसे खुले जलों के निकट ही पूर्व मनीषी वैज्ञानिक पुरुषों ने अपने निवास, नगर, शहर, कस्बे, गाँव, प्रासाद, महल, आश्रम, गुरुकुल, कुटियाँ तथा तपस्थली आदि बनाये। क्योंकि सूर्य एवं चन्द्र किरणों से सच्चरित्र शक्तिमत् ऊर्जस्वत् उदक मानव के लिये सतत उपयोगी रहा है। आपः प्राणी को असाध्य व्याधियों, कष्टों से बचाकर उसका भद्र करता है। चूँकि यह आपः आध्यात्मिक दृष्टि से भी दिव्य प्रेरणाओं व आभाओं से परिपूरित रहा है।

उक्त रहस्यों से परिचित मानव ने ऐसे खुले जल को कदापि दूषित, प्रदूषित, अशुद्ध, अपेय और असेव्य नहीं होने दिया और उसका भरपूर उपयोग व उपभोग करता रहा है। परन्तु खेद है कि आज का बुद्धिजीवी होने वाले मिथ्या दम्भी मनुष्य ने पूर्वपुरुषों के विचारों कर्त्तव्यों के सर्वथा विपरीत चलकर मात्र भोगवादी अपसंस्कृति का ध्वजावाही होना स्वीकार कर लिया है। फलतः उसने सूर्यरश्मिशोधित खुले जल को या तो गन्दे नाले में परिवर्तित कर दिया है अथवा उसका स्वरूप ही विकृत करके या मिटाके रख दिया है। आज आवश्यकता है फिर से उसे दशमें मण्डल के नौवें सूक्त की-

---

१३ अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनु रुध्यसे। गर्भे सञ्जायसे पुनः॥ ऋ०८.४३.९

१४ यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवा यासूर्जं मदन्ति। वैश्वानरो यास्वग्निः प्रविष्टस्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥ ऋ०७.४९.४

१५ तमोषधीर्दधिरे गर्भमृत्वियं तमापो अग्निं जनयन्त मातरः। तमित्समानं वनिनश्च वीरुधोऽन्तर्वतीश्च सुवते च विश्वहा॥ ऋ०१०.९१.६

१६ रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते। वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह॥ अथर्व०८.१.११

१७ उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये॥ ऋ०८.४३.११

१८ अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो [illegible] प्रशस्तये। देवा भवत वाजिनः॥ ऋ०१.२३.१७-१८

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥[१९]
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥[२०]
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥[२१]
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥[२२]

इन ऋचाओं का महत्त्व समझने की, तभी कहीं जाकर जलप्रदूषण एवं जल असन्तुलन की संख्या से मुक्ति मिल सकेगी।

---

१९ ऋ०१०.९.४
२० ऋ०१०.९.१
२१ ऋ०१०.९.२
२२ ऋ०१०.९.३

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०२०-२६) ISSN 0974 – 8830

वैदिक चिकित्सा विज्ञान में औषधीय पादपों की उपादेयता

डॉ० विक्रम कुमार[1]

संस्कृत वाङ्मय में व्यक्ति के स्वास्थ्य को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। स्वस्थ स्वास्थ्य ही व्यक्ति के पुरुषार्थ चतुष्टय की साधना का परम साधन है। आयुर्वेद में स्वस्थ की परिभाषा निम्न है-**समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियार्थश्च स्वस्थ इत्यभिधीयते॥** वात पित्त कफ इन त्रिदोषों, जाठराग्नि व शरीराग्नि तथा रक्त, मांसादि सप्त धातुओं एवं मल-क्रिया आदि की समता (बैलेंस) बने रहना तथा आत्मा, इन्द्रियों व इन्द्रिय विषयों का पूर्ण सामंजस्य रूप प्रसन्ता ही स्वस्थ की परिभाषा है।

आयुर्वेद के लक्षणानुसार स्वस्थ बने रहने के लिए बाह्य वातावरणीय प्रदूषण द्वारा जनित विभिन्न रोगों का प्रतिकार करना अनिवार्य है और इनका प्रतिकार वनस्पति आदि औषधियों के माध्यम से ही किया जाता है। यह प्रक्रिया ही चिकित्सा कहलाती है। अतः चिकित्सा विज्ञान में वनस्पतियों का महत्त्व स्वतः स्पष्ट है। ऐतरेय ब्राह्मण में वनस्पतियों को प्राण कहा गया है-**प्राणो वै वनस्पतयः।**[2] क्योंकि ये प्राण शक्ति देती हैं। जड़, शाखा, पत्र, फल, पुष्प, छाल व रस आदि औषधियों व ऑक्सीजन के प्रदान के द्वारा मानव व पशु-पक्षियों के ये वनस्पतियां जीवन-रक्षक हैं। अतः प्राणस्वरूप हैं। यजुर्वेद की (१२.९६)वीं ऋचा इन औषधियों की ओर से उद्बोधन को दर्शाती है-**ओषधयः समवदन्त सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्ते राजन् पारयामसि॥** सोम नामक औषधि-राजा के साथ समस्त औषधियों ने ब्राह्मण से कहा कि हम हमारा उपयोग करने वालों को दुःख से व रोगों से दूर करती हैं। **ओषधयः शान्तिः, वनस्पतयः शान्तिः** (यजु. ३६.१७), **माध्वीर्न सन्त्वोषधिः** (यजु. १३.२७), **ओषधे त्रायस्व** (यजु. ४.१.), **वीरुधः पारयिष्णवः** (यजु. १२.७७), इत्यादि ऋचायें मुक्तकण्ठ से ओषधियों व वनस्पतियों की महत्ता का कथन करती हैं।

वेदों में विशेषतः अथर्ववेद में औषधियों व वनस्पतियों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद के अनेक सूक्त औषधियों से संबद्ध हैं। औषधियों के गुण-धर्मों का विवेचन इनमें प्राप्त होता है। वात, पित्त व कफ की विषमता के कारण रोगों के उत्पन्न होने पर वनस्पतियों के सेवन का वर्णन अथर्ववेद में दिया गया है-**'यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन् सचतां पर्वतांश्च॥'**[3] (यः) जो रोग (अभ्रजाः) कफ से उत्पन्न श्लैष्मिक रोग हैं (वातजाः) वातोत्पन्न रोग हैं (शुष्मः) पित्त से उत्पन्न रोग हैं, ऐसे रोगों से पीड़ित व्यक्ति (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (पर्वतान् च) और पर्वत में स्थित अन्य औषधियों का (सचताम्) सेवन करें।

अथर्ववेदीय अष्टम काण्ड का सप्तम सूक्त औषधियों की विशेषता व उनके गुणधर्मों का प्रतिपादन करता है। भूरी, शुभ्र, रक्त, चितकबरी, नीली, काली रंग की औषधियों का वर्णन प्रथम मन्त्र में ही पाया जाता है-**या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः। असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छा वदामसि॥** इन विविधवर्णा औषधियों से अपने प्रभाव व गुणों के द्वारा रोगियों के रोग को दूर करने का सम्बोधन प्राप्त होता है-

---

१. अध्यक्ष दयानन्द शोध-पीठ, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

२ ऐतरेय ब्राह्मण (२.४,५.२३, ७.३२)

३ अथर्ववेद १.१२.३.

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं यच्च वो बलम्। तेनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुंचतौषधीरथो कृणोमि भेषजम्॥५॥

इन भिन्न-भिन्न रंगों वाली औषधियों में से कोई औषधि मूल में से ही अलग-अलग शाखाओं में फलने वाली होती है, जैसे-अनार व मेंहदी आदि (प्रस्तृणती:) तो कोई औषधि (स्तम्बिनी:) मूल में से ही तने वाली, खम्बे के समान होती है, जैसे अशोक व देवदास आदि वृक्ष। कोई (एकशुङ्गा:) एक जड़ वाली, जैसे आक तो कोई (प्रतन्वती:) फैली हुई जड़ वाली, जैसे ब्राह्मी आदि औषधियाँ होती हैं। कोई कांटों वाली-जवासा, नागफण आदि (अंशुमती:) तो कोई काण्डों वाली-सरकण्डा, इऔख, बेंत आदि (काण्डिनी:) कोई बिना शाखाओं वाली-खजूर, ताड़, नारियल आदि (विशाखा:) तो कोई तीव्र गुणों वाली (उग्रा:) मनुष्यों को जीवन देने वाली (पुरुषजीवनी:) होती हैं-**प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गा: प्रतन्वतीरोषधीरावदामसि। अंशुमती: कण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्रा: पुरुषजीवनी:॥४॥**

इसी सूक्त के बारहवें मन्त्र में इन औषधियों को जड़, मध्य व अग्र भागों से गुणवान् तथा पत्र-पुष्प भी गुणयुक्त होने के कारण अमृत का भण्डार कहा गया है-

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।

मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधो: संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुहतां गोपुरोगवम्॥१२॥

इस सूक्त का तेरहवां मन्त्र सहस्रपर्णा वनस्पति सम्भवत: कमल की ओर संकेत करता है जिससे मृत्यु-रोग से दूर करने की प्रार्थना की गयी है-

यावती: कियतीश्चेमा: पृथिव्यामध्योषधी:।

ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वहंस:॥ १३॥

नौवें मन्त्र में जलमय, जल से उत्पन्न, तीक्ष्ण अग्रभाग वाली औषधियों का संकेत है जो रोग को दूर करती हैं-

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधय:। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्य:॥

इस सूक्त के बीसवें मन्त्र में पीपल को वृक्षों में, दाभ को तृणों में, सोम को लताओं में, जल को द्रवपदार्थों में, घृत को प्राणियों से उत्पन्न वस्तुओं में, चावल व जौ को अन्नों में तथा सूर्य व चन्द्रमा को आकाशीय दिव्य पदार्थों में महौषधियों के रूप में माना गया है-

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हवि:।

व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥२०॥

इन औषधियों के सारतत्त्व के पान से मनुष्य शववर्ष-जीवी बनता है-

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि।

अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायन:॥ २२॥

शल्य चिकित्सा

पत्थर, लोहा या लकड़ी आदि के प्रहार से या गिर जाने पर चोट आ जाने, कट जाने या हड्डी के टूट जाने पर घावों को भरने, टूटी हड्डियों को जोड़ने आदि का उपचार शल्य चिकित्सा कहलाती है। इस चिकित्सा का वर्णन अथर्ववेदीय चतुर्थ काण्ड के बारहवें सूक्त में मिलता है। इसके प्रथम मन्त्र में ही रोहणि नामक

ओषधि से घाव को भरने का संकेत प्राप्त होता है-**रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धती।।** घाव को भरकर कटी व टूटी हड्डी को भी जोड़ देने वाली ओषधि है- रोहणी।

राजनिघण्टु में रोहिणी नाम की स्वतन्त्र ओषधि भी मानी गयी है जिसे मांस-रोहिणी कहते हैं। **'रोहिणी मांसरोहिणी'**। दूसरे स्थान पर इसे सात ओषधियों का मिश्रण रूप भी बताया गया है-

मञ्जिष्ठा कटुका पथ्या काश्मरी चन्द्रवल्लभा। वन्दाको रजनी चैव रोहिण्यां सप्त च स्मृता:।।[४]

किसी अङ्ग के छिल जाने, रगड़े जाने, घाव पड़ जाने से जो रक्त का अधिक संचार होने लगता है, रक्त बहने लगता है या नीला पड़ जाता है, उसे ठीक करने के लिए 'भद्रा' नामक ओषधि की चर्चा दूसरे मन्त्र में मिलती है-**'यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि। धाता तद् भद्रया पुन: संदधत् परुषा परु:।। २।।**

तीसरे से सातवें तक पाँच मन्त्रों में मज्जा से मज्जा, जोड़ से जोड़, त्वचा से त्वचा, रोम से रोम, अस्थि से अस्थि, मांस से मांस, जूड़ जावे' व यथोचित रक्तसंचार पूर्ववत् होने लगे, ऐसी चर्चा है-**मज्जा मज्जा संधीयतां चर्मणा चर्म रोहतु। असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु।। लोम लोम्ना संकल्पया त्वचा संकल्पया त्वचम्। असृक् ते अस्थि रोहतु छिन्नं सं धेह्योषधे।।** इस प्रकार रक्त बहने, चोट आने, पीला पड़ने, पिस जाने, जल जाने, रगड़े जाने या घिस जाने पर शारीरिक अंगों की शल्य चिकित्सा में रोहणी व भद्रा नामक ओषधियों का जो योगदान है उसे ही उपर्युक्त सूक्त में दर्शाया गया है-**यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहतो जघान। ऋभू रथस्येवाङ्गानि संदधत् परुषा परु:।।**[५]

सर्पविषचिकित्सा

दर्भ, कुशा, तृण, मूंज आदि के द्वारा सर्प के विष वेग को नियन्त्रित करने की चर्चा अथर्ववेदीय दशम काण्ड के चतुर्थ सूक्त में उपलब्ध होती है। वन में, बीहड़ जंगल में सर्प द्वारा काट लेने पर इन तृणों को तोड़कर शीघ्र बांध देने से साँप का विषवेग शरीर में आगे बढ़ने से रुकता है, ऐसा वर्णन इस सूक्त में है। इन दर्भ, कुश आदि तृणों को आयुर्वेदीय निघण्टु में शीतल, दाहनाशक, रक्त विकार का नाशक भी कहा है। 'अष्टांगहृदय' ग्रन्थ में कुशा आदि तृणमय जंगलों में रहने वाले सर्पों को अल्पविष वाला कहा गया है। **'कुशौषधिकण्टकवद्ये चरन्तीव काननम्। देशं च दिव्याध्युषितं सर्पास्तेऽल्पविषा मता:।।'**[६] इससे यह सिद्ध होता है कि कुशा आदि तृण विषनाशक हैं। **'अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च। उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्।। ३।।**

हृदयरोगचिकित्सा

हृदय में जलन, कम्पन, पीड़ा आदि का होना हृदयरोग है। अथर्ववेद के काण्ड तृतीय के सप्तम सूक्त में इस रोग की चिकित्सा का वर्णन है-

हरिणस्य रघुष्यदोधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्।।

---

४ राजनिघण्टु
५ अथर्व०४.१२.४-५,७
६ अष्टांगहृदय, सर्पविष: चिकित्सा

(रघुष्यद:) लघुगति अर्थात् तीव्रगति वाले (हरिणस्य) हिरण के (शीर्षणि-अधि) शिर में (भेषजम्) औषधि है। (स:) वह हिरण (विषाणया) सींग से (विपूचीनं क्षेत्रियम्) माता-पिता से प्राप्त, जन्म में प्राप्त शूलात्मक रोग को (अनीनशत्) नष्ट कर देता है।

सूर्य चन्द्र भी अपनी किरणों से हृदय रोग को दूर करते हैं ऐसा इस सूक्त में वर्णन है (मन्त्र ४)

श्वासरोग चिकित्सा

नासिका तथा श्वासनलियों में कफ जमने पर, शोथ होने पर या सिकुड़ जाने पर श्वास-उच्छ्वास कठिनाई से आते हैं। इस श्वास रोग के अपाकरण हेतु कुष्ठ ओषधि का वर्णन अथर्ववेद के पंचम काण्ड के चतुर्थ सूक्त में प्राप्त होता है। इस ओषधि को हिमालय पर्वत पर उत्पन्न होने वाला तथा सोम नामक ओषधि का साथी कहा गया है-'**यो गिरिष्वजायथा:**'[७] '**जातं हिमवतस्परि**'[८] '**सोमस्यासि सखा**'[९]। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में पुष्करमूल कुष्ठ ओषधि को विशिष्ट कुष्ठ कहा है-**उक्तं पुष्करमूलं तु पौष्करं पुष्करं च तत्। पद्मपत्रं च काश्मीरं कुष्ठमेदमिमं जगु:।।**[१०]

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमा:।
कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नित:।।

(तक्मनाशन कुष्ठ) हे रोगनाशक कुष्ठ! (य:) जो तू (गिरिषु) पर्वतों पर (अजायथा:) उत्पन्न होता है (वीरुधां बलवत्तम:) ओषधियों में अत्यधिक गुणवान् है। (इत:) यहाँ से तू (तक्मानं नाशयन्) ज्वर आदि रोगों को नष्ट करने के लिए (इहि) हमें प्राप्त हो।

सोम नामक ओषध वैदिक साहित्य में सुप्रसिद्ध है। यह ओषध पुञ्जवान् पर्वत पर विशेष रूपेण प्राप्त होता था। '**सोमो वीरुधामधिपति:**'[११] कहकर इसे ओषधियों का राजा कहा गया है। इसे बभ्रू, अरुणय हरितवर्णा भी कहा गया है। इससे भी श्वासरोगों, हृदयरोगों आदि का नाश होता है।

अर्शरोग चिकित्सा

गुदा मार्ग में मस्से अंकुरित होकर मलत्याग में बाधा पहुंचाते हैं। उनमें से वेग डालने पर रक्त स्राव होता है तथा अन्दर खुजली होने से खुजाने पर बेचैनी भी होती है। इस रोग की चिकित्सा का वर्णन अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के पचीसवें सूक्त में देखना चाहिए-

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत।
तथाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव।।

(इयं पृश्निपर्णी) यह पृश्निपर्णी नामक ओषधि (सहमाना) रोगों को सहन कराने वाली (प्रथमा अजायत) मुख्य रूपेण उत्पन्न हुई है। (तया) उससे (अहम्) मैं (दुर्णाम्नाम्) विविध प्रकार के

---

७ अथर्व०५.४.१
८ अथर्व०५.४.१
९ अथर्व०५.४.३
१० भावप्रकाश निघण्टु
११ अथर्व. ५.२४.७.

र्शों--बवासीरों के (शिरः) शिरों को, मस्सों को (शकुनेः इव) पक्षी के शिर की तरह (वृश्चामि) काटता हूँ।

आयुर्वेद में अर्श आदि मस्सों को 'दुर्णाम' कहा गया है। अपामार्ग ओषधि के द्वारा भी अर्शरोग को दूर रने का वर्णन है-**'अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे।'**[१२] अपामार्ग के बीजों को पीस कर उसे कल्क चावलों जल के साथ पीने से रक्तस्राव युक्त बवासीर नष्ट हो जाती है-

अपामार्गस्य बीजानां कल्कं तण्डुलवारिणा।

पीतं रक्तार्शसां नाशं कुरुते नात्र संशयः।। (योगरत्नाकर, अर्शोरोग)

इसी प्रकार मूत्ररोगचिकित्सा (अ.१.३) वाजीकरण चिकित्सा (अ.४.४., ६.७२, ५.१०१, ६.१३९) ामिनीकरण चिकित्सा (अ. ७.३८-३९) वन्ध्यात्व चिकित्सा व गर्भधारण चिकित्सा (अ.६.११) आदि भी दों में प्राप्त होते हैं। प्रायः शारीरिक समस्त रोगों का अपाकरण इन विविध ओषधियों व वनस्पतियों से ही हो ाता है। अतः यजुर्वेद के मन्त्र में इन वनस्पतियों के प्रत्येक भाग का उपयोग आस्था के साथ किया जाये, ऐसी शंसा है-**मूलेभ्यः स्वाहा, शाखाभ्याः स्वाहा, वनस्पतिभ्यः स्वाहा, फलेभ्यः स्वाहा, ओषधीभ्यः स्वाहा।।**[१३]

र्क द्वारा वाजीकरण चिकित्सा

अथर्ववेदीय चतुर्थ काण्ड का चतुर्थ सूक्त एवं षष्ठ काण्ड का बहत्तरवां सूक्त वाजीकरण से म्बन्धित है। प्रजननेन्द्रिय को सुदृढ़ बनाने के लिए ऋचायें विविध उपमा देकर व्यक्ति को बलवान् होने व ष्क नामक वनस्पति-पौधे की औषधि से प्रजननाङ्ग को सन्तानोत्पत्ति में समर्थ बनाने का सन्देश देती हैं -

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।

एना ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गोनाङ्गं संसमकं कृणोतु।।[१४]

जैसे कृष्ण सर्प अपने शरीर को प्राण शक्ति से तानता है, फैलाता है ऐसे ही तेरे प्रजनन अंग को यह आक बलयुक्त करे। वानस्पतिक औषधियों के द्वारा जननेन्द्रिय मगरमच्छ, कुक्कुर, हाथी, गर्दभ, अश्व आदि ाणियों के जननेन्द्रिय के समान स्थूल व दीर्घ तथा बलवान् बनता है, यह संकेत हमें वैदिक ऋचाओं में प्राप्त ोता है-

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्।

यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः।।

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्।

यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः।।[१५]

अथर्ववेद के षष्ठ काण्ड का एक सौ एकवां सूक्त तथा एक सौ उनतालीसवां सूक्त भी वाजीकरण से ही सम्बन्धित हैं।

---

१२ अथर्व०२.२५.६

१३ यजुर्वेद २२.२८

१४ अ.६,७२.१

१५ अ.६.७२.२-३

वन्ध्यात्व व नपुंसकता का अपाकरण

वन्ध्यात्व व नपुंसकता को दूर करने के लिए अश्वत्थ व शमी नामक वनस्पतियों का योगदान अथर्ववेद के ही षष्ठ काण्ड के ग्यारहवें सूक्त में प्राप्त होता है। पुंसवन संस्कार के समय जो ऋचायें विनियुक्त हैं, उसमें निम्न ऋचा सुप्रसिद्ध है-

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि॥ १॥

(अश्वत्थ) जो पीपल का वृक्ष (शमीम् आरुढः) शमी वृक्ष पर आरुढ हुआ है-शमी के ऊपर उगा हुआ है (तत्र) ऐसे पीपल में (पुंसवनं कृतम्) पुंसवन किया गया है (वै) निश्चय से (तद् पुत्रस्य वेदनम्) वह सन्तान प्राप्ति का, पुत्रप्राप्ति का साधन है (तत्) उसको (स्त्रीषु) स्त्रियों के निर्मित (आभरामसि) आहरण करते हैं-लाते हैं।

इस सूक्त में सन्तान के जन्म के लिए अश्वत्थ—पीपल को सेवन करने का संकेत है। पीपल स्त्रियों के योनिदोष का निवारक व योनि का शोधक भी है-

अश्वत्थो मधुरः शीतः कषायो दुर्जरो गुरुः।

रूक्षो वर्ण्यस्तिक्तकश्च योनिशोधनकारकः।

योनिदोषं रक्तदोषं दाहपित्तकफाञ्जयेत्॥ (निघण्टु)

स्त्री व पुरुष दोनों पीपल का सेवन करें तो दोनों के वन्ध्यात्व व नपुंसकता का अपाकरण होता है।

ऋतुसमय के आगमन पर यदि पुरुष इसका सेवन करता है तो पुत्र व यदि स्त्री इसका सेवन करती है तो पुत्री का जन्म होता है, ऐसी सूचना इसी सूक्त के तृतीय मन्त्र से मिलती है-

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत्।

स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह॥ ३॥

अथर्ववेदीय काण्ड बीस तथा सूक्त छियानवें में गर्भपात की चिकित्सा का वर्णन है। इस सूक्त में योनिदोष, गर्भसंस्राव, जातघातक इन तीन रोगों की चिकित्सा के उपाय वर्णित हैं। स्त्री की योनि और गर्भाशय में दुर्णामा नामक कृमि को ही इस रोग का कारण माना गया है, जिसकी चिकित्सा चित्रक ब्रह्म वृक्ष, उदुम्बर के संयोग से करने का विधान है। इसके लिए चित्रक की जड़, जड़ की छाल और उदुम्बर—गूलर की छाल का सेवन योनिप्रक्षालन हेतु व भक्षण के लिए अत्युपयोगी है-

चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत् पाचनो लघुः। (भावप्रकाश निघण्टु)

उदुम्बरः शीतलः स्याद् गर्भसन्धानधारकः।

व्रणरोपकृद् रूक्षो मधुरस्तु वरो गुरुः।

योनिरोगं नाशयति वल्कं चैवास्य शीतलम्। (नि. र.)

गण्डगल चिकित्सा

शरीर का रक्त कुपथ्य के कारण दूषित होकर दूषित नाड़ियों में रुक जाने से कृष्ण रंग एवं तत्पश्चात् लाल रंग की गांठें गले, कक्ष, वक्ष आदि में स्थिर हो जाती हैं। इन गांठों की चिकित्सा मुनिदेव नामक वनस्पति

…क मूल से करने का संदेश अथर्ववेद के सप्तम काण्ड के ७४ व ७८वें सूक्त में प्राप्त होता है। मुनिद्रुम से तात्पर्य यहाँ अगस्त्य वृक्ष से है। '**अगस्त्यः शीघ्रपुष्पः स्यादगस्तिस्तु मुनिद्रुमः व्रणारिः**'[१६] अगस्त्य द्रुम गण्डमाला …लगण्ड आदि को नष्ट करता है-

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम्॥[१७]

(लोहिनीनाम्) लालरंग वाली (अपचिताम्) बुरी रीति से संचित ग्रन्थियों-गांठों की (कृष्णा माता) कृष्ण रंग वाली नाड़ी माता—उत्पन्न करने वाली है (इति शुश्रुम) ऐसा सुनते हैं। (अहम्) मैं (मुनेः देवस्य मूलेन) मुनिदेव यानी अगस्त्य वृक्ष की जड़ से (ताः सर्वाः) उन सबको (विध्यामि) नष्ट करता हूँ।

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः॥[१८]

जो ग्रीवा में होने वाली और जो भुजपक्षों के समीप काँख में होने वाली, जो गुह्य प्रदेश के समीप वक्ष में स्वयं स्रवित होने वाली गण्डग्रन्थियां गण्डमाला हैं, उन सबको अगस्त्य के द्वारा नष्ट किया जाता है। इस वृक्ष के मूल का रसपान व उससे प्रक्षालन तथा उसके चूर्ण आदि के सेवन से ये गण्डमालाएं नष्ट हो जाती हैं।

इस प्रकार वनस्पतियां मानव जीवन के प्रायः समस्त रोगों के अपाकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। अतः ऐतरेय ब्राह्मण का यह कथन यथार्थ ही है-'**प्राणो वै वनस्पतयः।**' (२४, ५.२३, ७.३२)। वनस्पतियाँ प्राणियों के लिए प्राणस्वरूप हैं।

---
१६ राजनिघटु
१७ अ.७.७४.१.
१८ अ.७.७८.२.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ० २७-३९) ISSN 0974 – 8830

वैदिक साहित्य में शिल्प

डॉ. कृष्णा आचार्य[१]

भारतीय परम्परा में वेदों को सभी प्रकार के ज्ञान का मूल स्रोत स्वीकार किया जाता है।[२] वेदों के ज्ञान का विस्तार परवर्ती ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं वेदाङ्ग साहित्य में हुआ है। इस समस्त साहित्य के तात्त्विक चिन्तन का पर्यवसान तापत्रय से मुक्त होकर परमानन्द प्राप्त करना है। भौतिक जगत् का समस्त मानवीय व्यवहार इसी उद्देश्य के चारों ओर घूम रहा है। जब मानव आवश्यकताओं के अनुरूप कल्पनाओं के रथ पर आरूढ़ होकर पुरुषार्थ करता है, तब यह भौतिक जगत् सत्य, शिव और सुन्दर हो जाता है। भौतिक जगत् की कल्याणकारक (शिवम्) मनोरम सौन्दर्य की (सुन्दरम्) यह साक्षात् अनुभूति (सत्यम्) ही तो 'शिल्प' है, और यही है आत्मसंस्कार का कारण 'आत्मसंस्कृतिर्वा शिल्पानि'।[३]

शिल्प शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ -

निघण्टु में 'शिल्प' शब्द 'कर्मनाम' एवं 'रूपनाम' इन दो अर्थों में पठित है।[४] मोनियर विलियम्स ने इस शब्द की निष्पत्ति सन्देहास्पद मानी है।[५] उणादिकोश के अनुसार यह शब्द 'शील् समाधौ' भ्वादिगणस्थ धातु[६] से 'प' प्रत्यय एवं निपातन से दीर्घ 'ई' को ह्रस्व आदेश होकर निर्मित होता है।[७] कोशकारों ने इसी मत को स्वीकार करते हुए इस शब्द को नपुंसकलिङ्ग में माना है।[८] परन्तु वैदिक साहित्य में यह शब्द पुल्लिङ्ग एवं नपुसंकलिङ्ग में मिलता है। यथा शिल्पः,[९] शिल्पाः,[१०] शिल्पम्,[११] शिल्पानि[१२] इत्यादि।

---

१. एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, म.द) विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

२. (क) यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स। मनु २.७ (ख) वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है - महर्षि दयानन्द सरस्वती, आर्य समाज के नियम

३. आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। ऐत. ब्रा. ६.२७

४. निघण्टु, यास्ककृत, २-१ तथा ३.७

५. (द्र) शिल्प शब्द - of doubtful derivation-sanskrit English dictionary, page 1073

६. पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण ३५०, परस्मैपदी-शीलसमाधौ।

७. उणादि-कोश ३.२८, पं. ईश्वर चन्द्र - शील समाधौ। शील प धातु को ह्रस्वादेश, सु।

८. (क) वैदिककोष - राजवीर शास्त्री, प्रकाशक - श्रीमद्दयानन्दवेदार्ष महाविद्यालय न्यास, ११९ गौतम नगर - नई दिल्ली ११००४९ शील समाधौ (भवा.) खपुस्पशिल्प. उण. ३.२८ सूत्रेण 'प' प्रत्ययान्तो निपात्यते निपातनादेव धातोर्ह्रस्वादेशः (ख) अमरकोश २.१०.३५ भानुजिदीक्षित कृत सुधाख्य व्याख्या। भानुजिदीक्षित ने विकल्प से गत्यर्थक 'शल्' धातु से भी शिल्प शब्द की निष्पत्ति मानी है। (ग) संस्कृतशब्दार्थ कौस्तुभ-प्रकाशक-रामनारायणलाल बेनीप्रसाद, इलाहाबाद १९७ पृ० ११५६

९. माध्यन्दिन संहिता २९.५८

१०. तदेव २४.५

११. काठकसंहिता - ३७.९ पैप्पलाद संहिता १.९२.२, कौषीतकि ब्रा. २९.५, ता. ब्रा. १६.४.८

१२. ऐतरेय ब्राहाण ६.२७, कौषीतकि ब्रा. २५.१२-१३, गोपथ ब्रा. उ. ६.७ आदि

ब्राह्मण ग्रन्थों में शिल्प शब्द प्राण,[१३] छन्द,[१४] स्तोम,[१५] नृत्य, गीत एवं वाद्य[१६] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ऐतरेय एवं गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार शिल्प मानवीय संस्कारों का उन्नायक है।[१७] मनुस्मृति में आजीविका के दस हेतु भूत साधनों में शिल्प द्वितीय स्थान पर परिगणित है।[१८] महाभाष्य में पतञ्जलि ने व्यापक अर्थों में शिल्प का प्रयोग किया है। इनके अनुसार हाथ से कार्य करने वाले चतुर नाई से लेकर वादक, नर्तक, गायक, कुलाल, तक्षा, रथकार, अयस्कार, स्वर्णकार, मूर्तिकार, कर्मार, रजक, तन्तुवाय, नगरकार, कटकार, रज्जुकार, राजशिल्पी आदि व्यवसाय करने वाले सभी शिल्पी हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन 'प्रतञ्जलिकालीन भारत' नामक पुस्तक के चतुर्थ खण्ड-आर्थिक स्थिति के अध्याय चार में किया है। महाभारत में सभी प्रकार के आजीविका दायक क्रिया कौशल एवं यान्त्रिक विज्ञान के लिए शिल्प शब्द का प्रयोग हुआ है।[१९] कोश ग्रन्थों में चौंसठ बाह्य एवं चौंसठ आभ्यन्तर कलाओं को शिल्प कहा गया है।[२०] मोनियर विलियम्स ने सभी प्रकार की हस्तकला एवं यन्त्रनिर्मित विविधता से परिपूर्ण, मनमोहक, वस्त्र, आभूषण, आदि चौंसठ बाह्य एवं चौंसठ आभ्यन्तर कलाओं को शिल्प स्वीकार किया है।[२१]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शिल्प शब्द व्यापक अर्थों को समाहित करके सभी प्रकार के कला कौशल और आजीविका से सम्बन्धित विविधता पूर्ण कार्यों का परिचायक है।

वर्तमान काल में तर्क, प्रमाण और आर्षग्रन्थों की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार वेदों के व्याख्याकार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने वेदभाष्य में शिल्प शब्द के इसी व्यापक अर्थ को ग्रहण किया है। इनके अनुसार शिल्पविद्या के अन्तर्गत अग्नि आदि पदार्थ एवं उनसे विमान आदि विविध यन्त्र बनाने की विद्या, भूगर्भविद्या, विद्युत् विद्या, रसायन विद्या आदि का ग्रहण होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वे आजीविका और समस्त सुख-ऐश्वर्य प्रदायक ज्ञान विज्ञान को शिल्प विद्या के अन्तर्गत मानते हैं, जिसका उल्लेख उनके वेदभाष्य

---

१३. प्राणाः शिल्पानि कौ. २५.१२-१३

१४. आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। ऐत. ६.२७

१५. तौ वा एताविन्द्रस्तोमौ (अभिजिदिश्वजितौ) वीर्यवन्तौ शिल्पं वा एते नाम स्तोमावास्ताम्। तां. १६.४.८

१६. त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति। कौषीतकिब्राह्मण २९.५

१७. ऐत. ब्रा. ३०.१, गोपथ) ६.७, आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि।

१८. विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः। धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दशजीवनहेतवः॥ मनुस्मृति १०.११६

१९. विश्वकर्मा महाभागो जज्ञे शिल्पप्रजापतिः। कर्ता शिल्पसहस्राणां त्रिदशानां न वर्धकिः॥ भूषणानां च सर्वेषां कर्ता शिल्पवतां वरः। यो दिव्यानि विमानानि त्रिदशानां चकार ह॥ मनुष्याश्चोपजीवन्ति यस्य शिल्पं महात्मनः। पूजयन्ति च यं नित्यं विश्वकर्माणमव्ययम्॥ महाभारत आदि पर्व ६६.२८-३०

२०. द्र) शिल्पम् शब्द, संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ

२१. Sanskrit English Dictionary -By Monier Williams, द्र) शिल्पम् (i) The art of variegating, variegated or diversified appearance, (ii) Decoration, (iii) Ornament, (iv) Artistic work, (v) Any manual art or craft, (vi) Any handicraft or mechanical or fine art, (vii) 64 such arts and crafts, sometimes called Baahya -Kalaa = "external or practical artslve are enumerated, e.g. carpentering, architecture, jewellery, ferriery, acting, dancing, music, medicine, poetry, (viii) 64 Abhyantra kala = 'secret artsuue e.g. kissing, embracing, and various kinds of coquetry, (ix) skill in any art or craft or work of art, (x) Ingenuity, (xi) Any act of work, etc.

के ६५७ मन्त्रों में उपलब्ध होता है।[२२] निदर्शनरूपेण दो उद्धरण प्रस्तुत हैं -

'ये मनुष्याः प्रथमतो विद्यां पुनर्हस्तक्रियां गृहीत्वा श्रेष्ठाचाराः सन्त आत्मीयं वाह्यं च विज्ञान सुलक्षीकृत्य शिल्पकार्याणि कुर्वन्ति, ते धीमन्तः सन्त ऐश्वर्यं प्राप्नुवन्ति' अर्थात् जो मनुष्य पहले विद्या और फिर हाथ का काम सीखकर श्रेष्ठ आचरण वाले होते हुए आत्मसम्वन्धी एवं संसार सम्बन्धी विज्ञान को लक्ष्य करके शिल्प कार्य करते हैं, वे बुद्धिमान् होते हुए ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं।[२३]

'ये मनुष्या विदुषः सुरक्ष्य तेभ्यो विद्याः प्राप्य जलादि पदार्थेभ्यः शिल्पविद्या सम्पाद्य वर्द्धन्ते, ते सर्वाणि सुखानि प्राप्नुवन्ति' अर्थात् जो मनुष्य विद्वानों की रक्षा करके उनसे विद्यायें प्राप्त करके और जलादि पदार्थों से शिल्प विद्या को सिद्ध करके वृद्धि युक्त होते हैं, वे सब सुख प्राप्त करते हैं।[२४]

शिल्प का उद्भव

शिल्प कला के उद्भव और विकास का संकेत ऐतरेय ब्राह्मण में इस प्रकार दिया गया है कि-सर्वप्रथम देवों ने शिल्प कला का विकास किया था। तदन्तर मनुष्यों ने भी देवों का अनुकरण करते हुए इस कला को अपना लिया।[२५] इस कला की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि यह उत्तरोत्तर विकास के मार्ग पर अग्रसर होने लगी और मनुष्यों के साथ इसका आत्मीय सम्बन्ध स्थापित हो गया।[२६]

वैदिक संहिताओं में शिल्प शब्द का उल्लेख -

उपलब्ध ऋग्वेद में 'शिल्प' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है, परन्तु विविध शिल्पकारों के नाम उपलब्ध होते हैं। यथा 'कारु',[२७] तष्टा,[२८] त्वष्टा,[२९] तक्षा,[३०] भिषक्,[३१] कार्मार,[३२] कर्मार[३३] इत्यादि। सामवेद में शिल्प शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता,[३४] काण्वसंहिता,[३५] कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता[३६] मैत्रायणी संहिता,[३७] काठकसंहिता,[३८] कपिष्ठल संहिता,[३९] अथर्ववेद की पैप्पलाद संहिता[४०] में ह

---

२२. महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य में उल्लिखित शिल्प विद्या से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन, महर्षि दयानन्द कृत भावार्थ सहित सत्यानन्द वेद वागीश ने 'दयानन्द वेद भाष्य भावार्थ प्रकाश' उत्तर खण्ड के त्रयोदश समुल्लास में (पृ० १६०५-१७४७ किया है।

२३. ऋग्वेद ४.३३.८ (द्र) महर्षि दयानन्द कृत भाष्य

२४. तदेव १.११२.५

२५. देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते। ऐत. ब्रा. ६.२७

२६. द्विपदा सहचराणि वै शिल्पानि भवन्ति। तदेव

२७. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। ऋ०९.११२.३

२८. रथं न तष्टेव तत्सिनाय। तदेव १.६१.४, नेमिं तष्टेव सुद्रवम्। तदेव ७.३२.२०, अहं तष्टेव बन्धुरम्। तदेव १०.११९.५

२९. त्वष्टा रूपेव तक्ष्या। तदेव ८.१०२.८

३०. तदेव ९.११२.१

३१. तदेव ९.११२.३

३२. कार्मारो अश्मभिर्द्युभिः। तदेव ९.११२.२

३३. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्। ऋग्वेद १०.७२.२

३४. माध्यन्दिन संहिता ४.९, ऋक्सामयोः शिल्पेस्थस्तेः। २४.५ शिल्पा वैश्वदैव्यो। २९.५८ शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेवः

३५. काण्व संहिता ४.४.८, २६.१.१ शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो। ३१.६.१ बार्हस्पत्यः शिल्पः।

३६. तैत्तिरीय संहिता १.२.२.१, ५.५.२२.१, ५.६.१३.१

शिल्प' शब्द का उल्लेख हुआ है।

संहितेतर वैदिक साहित्य में शिल्प शब्द का उल्लेख

संहिताओं के अनन्तर रचित, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग आदि समस्त वैदिक साहित्य में शिल्प शब्द का प्रयोग मिलता है। माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण में शिल्पः, शिल्पम्, शिल्पे, शिल्पात्,[४१] काण्व शतपथ-ब्राह्मण में शिल्पम्, शिल्पे,[४२] ऐतरेय ब्राह्मण में शिल्पम्, शिल्पानाम्, शिल्पानि, शिल्पानी, शिल्पेषु,[४३] कौषीतकि ब्राह्मण में शिल्पम्, शिल्पानि, शिल्पेभ्यः, शिल्पेषु, शिल्पवान्,[४४] ताण्ड्यि महाब्राह्मण में शिल्पम्, शिल्पत्वाय,[४५] तैत्तिरीय ब्राह्मण में शिल्पम्, शिल्पैः[४६] जैमिनीय ब्राह्मण में शिल्पम्, शिल्पानि शिल्पेन[४७] गोपथ ब्राह्मण में शिल्पम्, शिल्पानाम्[४८] शब्दों का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्य उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में शिल्प शब्द का उल्लेख नहीं मिलता। आरण्यक एवं उपनिषद् साहित्य में भी अत्यल्प रूपेण शिल्प शब्द का उल्लेख हुआ है। वेदाङ्ग साहित्य के अन्तर्गत कल्प और व्याकरण, साहित्य में शिल्प शब्द का प्रयोग अनेकत्र उपलब्ध होता है। वैदिक साहित्य के इन सन्दर्भों से विदित होता है वह समाज शिल्प कला से पूर्ण रूपेण अभिज्ञ था। प्रस्तुत शोध लेख में कतिपय शिल्पकलाओं पर विचार किया जा रहा है।

वास्तु कला

वास्तु का अर्थ है भवन बनाने योग्य भूमि। वसन्ति प्राणिनो यत्र-वसु — तुन् — णित् = वास्तु। वैदिक साहित्य में उपलब्ध प्रमाणों से यह सुनिश्चित है कि उस काल में भवन निर्माण कला का पूर्ण विकास हो चुका था। ऋग्वेद का वस्तोष्पति सूक्त[४९] और अथर्ववेद का शाला सूक्त[५०] तत्कालीन समाज की उच्चतम विचार सारणी का परिचायक है। साधारण घरों से लेकर बड़े बड़े महलों का उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है।

घर गृहपति का प्रतिष्ठा का परिचायक माना जाता था-'गृहा वै प्रतिष्ठा'।[५१] इसी कारण सुन्दर एवं विशाल भवन बनाये जाते थे। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'हर्म्य' शब्द महल का परिचायक है।[५२] बहुमंजिले[५३] अनेक

---

३७. मैत्रायणी संहिता १.२.२, ३.१३.६
३८. काठक संहिता २.३, ऋक्सामयोशिशल्पेस्थस्ते:। २३.३, ३७.९ यत् ते शिल्पं कश्यपः। ४८.१, ४९.३, ४९.१०
३९. कपिष्ठल संहिता-शिल्पे १.१५
४०. पैप्पलाद संहिता १.९२.२ इयं देवी सुमतिराविश्वरूपा शिल्पं कृण्वाना चरति। ४.३.२ येभिर्शिल्पैः पप्रथानाम्।
४१. माध्यन्दिन शत. ब्रा. १.१.४.३, ३.२.१.५, १४.९.४.३३
४२. काण्व शत. ब्रा. ४.२.१.३
४३. ऐत. ब्रा. ६.२७, ६.३०, ६.१६
४४. कौ. ब्रा. २५.१२-१३, २९.५, ३०.३
४५. ताण्ड. ब्रा. १६.४.३, १६.४.८-९, १६.६.१३, १६.१५.२
४६. तैत्ति. ब्रा. २.७.१५.२, २.७.१५.३, ३.३.१.२
४७. जैमि ब्रा. १.२६२, १.२६३, २.१८०, २.१८९, २.१९१
४८. गो. ब्रा. २.६.७, २.६.९
४९. ऋग्वेद ७.५४
५०. अथर्व ३.१२
५१. गृहा वै प्रतिष्ठा। शत. ब्रा. १.१.१.२९, १.९.३.१९, २.४.१.७, गृहा वै प्रतिष्ठा सूक्तम् ऐत. ब्रा. ३.२४
५२. यथेदं हर्म्यं तथा। ऋ०७.५५.६

कमरों से युक्त[५४] एवं सहस्रों खिड़कियों[५५] वाले भवनों का उल्लेख वैदिक संहिताओं में मिलता है। वैदिक संहिताओं में उल्लेख है कि भवन ऐसे स्थान पर नाप तोल कर[५६] सुदृढ़ स्तभों पर[५७] बनाये जायें जिनके पास में उपवन हों; जहाँ पक्षी मंगलमय गान करते हों।[५८] विशाल घरों में कमलों से युक्त तालाब एवं फूलवाली दूब हो।[५९] एक मन्त्र में उल्लेख है कि तालाब के अन्दर ऐसे भवनों का निर्माण किया जाये जहाँ जल की सुव्यवस्था हो एवं जल निकासी का प्रबन्ध हो।[६०] वरुण राजा के सुवर्णनिर्मित, जल के अन्दर स्थित विशाल भवन का उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है।[६१] ऋग्वेद में ऐसे नगरों का उल्लेख है जो अयस्लोहे से निर्मित थे।[६२] सम्भवत: भवनों में अयस्लोहे का प्रचुर मात्रा में उपयोग किये जाने के कारण ही इस संज्ञा का प्रयोग किया गया होगा।

ब्राह्मणग्रन्थों में वास्तुकला से सम्बन्धित निम्नलिखित शब्दावली का उल्लेख मिलता है- आगार[६३] आयतन[६४] ओकस[६५] क्षय[६६] गृह[६७] दुरोण[६८] दुर्या[६९] धाम[७०] वेश्मन्[७१] शाला[७२] शर्म्[७३] योनि[७४] सदन[७५] सदस्[७६]। इससे विदित होता है कि विविध प्रकार के भवनों का निर्माण किया जाता था। चारों और से दीवारों से युक्त घर 'आयतन' तथा द्वार से युक्त होने के कारण 'दुरोण' कहलाता था।

आवश्यकता के अनुसार भवन का आकार छोटा या बड़ा होता था जिनमें छ, आठ या दस कक्ष होते

---

५३. (क) यजुर्वेद ६.५५ द्र) महर्षि दयानन्द भाष्य-त्रिषु भूम्यधोऽन्तरिक्षेषु वरूथानि गृहाणि यस्य स: (देव: = विद्वज्जन:) (ख) कुलाये अधिकुलायम्। अथर्ववेद ९.३.२०

५४. अथर्व ९.३.२१

५५. विततं सहस्राक्षम्। तदेव ९.३.८

५६. शिवा मानस्य पत्नी। तदेव ९.३.७, यस्त्वा शाले प्रतिगृ। ति येन चासि मिता त्वम्। उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी॥ तदेव ९.३.९

५७. (क) मिता पृथिव्यां तिष्ठासि हस्तिनीव पद्वती। तदेव ९.३.१७ (ख) ऋतेन स्थूणामधि रोह। तदेव ३.१२.६

५८. अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमङ्गलो भद्रवादी शकुन्ते। ऋग्वेद २.४२.३

५९. आयने ते परायणे दूर्वा रोहतुपुष्पिणी:। उत्सो वा तत्र जायतां हवेवा पुण्डरीकवान्॥ अथर्व ६.१०६.१

६०. अपामिदं नयनं समुद्रस्य निवेशनम्। मध्ये हथ्च० नो गृहा: पराचीना मुखा कृधि। अथर्व ६.१०६.२

६१. अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथ:। तदेव ७.८३.१

६२. ऋग्वेद २.२०.८, पुर आयसी:। शतमश्मन्मयीनां पुराम्। तदेव ४.३०.२०

६३. कौ. ब्रा. १७.८

६४. ऐत. ब्रा. ५.४, २१.११

६५. वही, २५.३, ४०.३

६६. कौ. ब्रा. ८.१, २६.१७

६७. ऐत. ब्रा. ३.२, १२.१२

६८. वही, १०.५, १८.६

६९. वही, ३.२

७०. कौ. ब्रा. २२.४, २५.९

७१. ऐत. ब्रा. ४०.१

७२. कौ. ब्रा. १९.६, २७.५

७३. ऐत. ब्रा. २२.१०, २९.६

७४. कौ. ब्रा. ९.६

७५. ऐत. ब्रा. ५.२, ५.४

७६. वही, १०.४, २४.४

थे।[७७] कक्षों के नाम इस प्रकार थे-(१) हविर्धानम् = खाद्यपदार्थ संग्रह कक्ष। (२) अग्निशालम् = रसोई घर। (३) पीनां सदनम् = महिला कक्ष। (४) सद: = बैठक। (५) देवानां सदनम् = देव अर्थात् विद्वानों के समागम का कमरा, यज्ञशाला अथवा पूजा कक्ष।[७८]

भवनों का निर्माण अग्नि द्वारा पकायी हुई ईंटों से किया जाता था।[७९] यज्ञवेदी निर्माण के प्रसङ्ग में उल्लेख हुआ है कि ईंटों को बायें से दायें तथा दायें से बायें रखकर चिनाई की जाती थी।[८०] दीवारों की जुड़ाई में ईंटें सीधी व तिरछी कई प्रकार से रखी जाती थी। ईंटों की चिनाई में कच्ची मिट्टी का प्रयोग किया जाता था।[८१] सम्भव है विशाल भवनों के निर्माण में मिट्टी के स्थान पर चूना आदि कोई उपयुक्त पदार्थ प्रयुक्त किया जाता हो।

संगीत कला

संगीत का विकास वैदिक काल में पूर्णरूपेण हो चुका था। भारतीय परम्परा में संगीत का आदि स्रोत सामवेद को स्वीकार किया जाता है। इसी कारण साम का अर्थ गीति हो गया-'**गीतिषु सामाख्या**'।[८२] यज्ञों में सामवेद के मन्त्रों के गान के लिए उद्गाता नामक ऋत्विक् की नियुक्ति की जाती थी। वह वीणा नामक वाद्य यन्त्र के साथ सामगान करता था। वीणा के साथ मृदंग स्वर एवं ताल के साथ बजाये जाते थे। वैदिक काल में ही षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नामक सात स्वरों का विकास हो गया था।[८३] जिनका उपयोग सामगानों में किया जाता था। इस विषय में पं. रघुनन्दन शर्मा का कथन है कि 'इन सात स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से तीन ग्रामों के साथ श्रुति, मूर्च्छन और तानों को साममन्त्रों के द्वारा प्रकट किया जाता है, जिससे आलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। संगीत के आदि प्रचारक वैदिक याज्ञिक ही हैं। उनके निकाले हुए सात स्वरों के अतिरिक्त आज तक किसी ने आठवां स्वर नहीं ढूंढ़ निकाला। वीणा से उत्तम बाजा आज तक पृथिवी मण्डल में कोई नहीं बना पाया। वीणा का वर्णन वेदों में है, जिससे ज्ञात होता है कि संगीत के मूल सात स्वरों के आदि प्रचारक याज्ञिक ही हैं।'[८४]

उपयुक्त सात स्वरों को ही 'स र ग म प ध और नि के रूप में संगीत शास्त्र में जाना जाता है। इन सात स्वरों के विषय में 'वेबर' के विचार को पं. रघुनन्दन शर्मा ने अपनी पुस्तक वैदिक सम्पत्ति में इस प्रकार उद्धृत किया है-

The Hindu scale sa, ra, ga, ma, pa, dha, ni, has been borrowed also by the

---

७७. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते। अष्टपक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवा शये॥ अथर्व ९.३.२१

७८. हविर्धानमाग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले॥ अथर्व ९.३.७

७९. इमा मे अग्न इष्टका। यजुर्वेद १७.२

८०. शत. ब्रा. १०.२.१.८-१०

८१. शत. ब्रा. १०.१.३.६

८२. जैमिनी सूत्र २.१.३६

८३. सप्तधा वै वाक्। ऐत ब्रा. ७.७, लोके गानरूपा या वागस्ति सा सप्तधाऽवदत् षड्जऋषभादिस्वरोपेता प्रवृत्ता। तावदेव वैदिक वागप्यवदत्। ऐत. ब्रा. सायणभाष्य - ७.७

८४. (द्र) वैदिक सम्पत्ति, पृ० ३४८, लेखक पं. रघुनन्दन शर्मा प्रकाशक श्री घूडमल प्रहलाद कुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट, २००४

Persians, where we find it in the form do, re, me, fa, so, la, ci. It came to the west and was introduced by Guido of Arezzo in Europe in the form do, re, mi, fa, sol, lo, ti.

I have, moreover, hazarded the conjecture that even the *gamma* of Guido [*French Gramma English Gammut*], goes back on the Sanskrit *gramma* and prakrita *gama* and is thus a direct testimony of the Indian origin of our European scale of seven notes.

अर्थात् 'हिन्दुओं के सात स्वर स, र, ग, म, प, ध, नि, की नकल ईरानियों ने की और दो, रे, मि, फ, सो, ल, सि के रूप में परिवर्तित किया। फारस वालों से लेकर 'गिडो' नामक अंग्रेज ने इनको दो, रे, मि, फ, सोल, लो, टी कर दिया। इस प्रकार फ्रांसीसियों का 'ग्राम' और अंग्रेजों का 'गेमट' शब्द भी संस्कृत के ग्राम और प्राकृत के 'गम' का ही रूपान्तर है।[८५]

साम गान के अतिरिक्त गाथा, नाराशंसी और रैभी के गायन का उल्लेख मिलता है। लोक प्रसिद्ध आख्यानों को छन्दोबद्ध पद्यों में गायन की विधा 'गाथा' कहलाती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार की छन्दोबद्ध अनेक गाथायें हैं, जिनको अवसर विशेष पर गाकर सुनाया जाता था।[८६] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार दैवी रचना को ऋचा एवं मनुष्य की रचना को गाथा कहा जाता है।[८७] इसी प्रसङ्ग में 'शतगाथम्' नाम से शुनःशेप आख्यान का उल्लेख है। गाथा गाने वाले को 'गाथिन' अथवा 'गाथी' कहा जाता था।[८८] सायण के अनुसार चारों दिशाओं में गायी जाने वाली यज्ञविषयक गीति गाथा है।[८९]

गाथा का उपभेद नाराशंसी होता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार नाराशंसी, गाथा की अपेक्षा हीन होती है।[९०] अथर्ववेद में नाराशंसी को गाथा से पृथक् बताया गया है।[९१] रैभी नाराशंसी का उपभेद है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी के अनुसार 'रैभ का अर्थ गायक है। उससे संबद्ध गाये गये पद्य रैभी है। ...अथर्ववेद के २०.१२७.४-६ ये तीन पद्य रैभी कहे गये हैं। ये पद्य राजस्तुति या विवाहादि के समय गाने योग्य गीत होते थे।'[९२]

संगीत कला के तीन तत्त्वों का उल्लेख कौषीतकि ब्राह्मण में किया गया है-**'त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति'**।[९३] कौटिल्य अर्थशास्त्र में इन तीनों के साथ-साथ 'अभिनय' (नाट्य) को भी संगीत का अंग माना गया है।[९४] वैदिक साहित्य में इन चारों अंगों का उल्लेख मिलता है। गायन कला अथवा गीत का विवेचन ऊपर किया जा चुका है। शेष तीनों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है -

---

८५. तदेव
८६. ऐत. ब्रा. २५.५-६, ३२.८ आदि।
८७. ओमित्यृचः प्रतिगर एवं तथेति गाथाया ओमिति वै दैवं तथेति मानुषम्। ऐत. ७.१८
८८. गाथिनः। अथर्व. २०.३८.४
८९. एषा वक्ष्यमाणा यज्ञविषया गीति... अभितो गीयते। ऐत. ब्रा. सा. भा. ३९.७
९०. यद्ब्रह्मणः शमलमासीत् सा गाथा नाराशंस्यभवत्। तै. ब्रा. ३.२.६
९१. गाथाश्च नाराशंसीश्च। अथर्व १५.६.११-१२
९२. अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ११५ प्रकाशक विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (वाराणसी) सन् १९८८ ई.
९३. कौ. ब्रा. २९.५
९४. कौटिल्य अर्थशास्त्र २.२७

नृत्य-नृत्य के 'नृत्त' एवं 'नृत्य' ये दो भेद होते हैं-केवल आंगिक अभिनय जो भावों से शून्य हो 'नृत्त' कहलाता है; जबकि भावपूर्ण आंगिक अभिनय 'नृत्य'। वैदिक साहित्य में दोनों विधाओं का उल्लेख मिलता है।[९५] अथर्ववेद के भूमि सूक्त में उल्लेख है कि-पृथिवी पर मनुष्य खुशियों से नाचते और गाते हैं।[९६] एक अन्य स्थान पर नाचने की उपमा हिजड़ों से दी गई है।[९७] इससे विदित होता है कि हिजड़ों में नृत्य की परम्परा बहुत प्राचीन काल से है।

धार्मिक कर्मकाण्ड के अवसर पर विशेष रूप से जनसमुदाय एकत्रित होता था। उसके मनोरंजन के लिये नृत्य और संगीत को धार्मिक कर्मकाण्ड का अंग बना दिया गया था। ऐसी मान्यता थी कि नृत्य करने से राक्षस एवं पाप नष्ट हो जाते हैं। अतः यज्ञों के अवसरों पर तथा निवास स्थानों पर नृत्य का आयोजन किया जाता था।[९८] मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं को भी नृत्यकला का अभ्यास कराया जाता था। अवसर विशेष पर अश्वों के नृत्य का उल्लेख मिलता है।[९९]

वाद्ययन्त्र

वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के वाद्ययन्त्रों का उल्लेख मिलता है। वीणा शुभ अवसरों पर बजाया जाने वाला वाद्य यन्त्र था। यजुर्वेद के अनुसार आनन्दोत्सवों में वीणावादन किया जाता था।[१००] शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि-जब व्यक्ति को श्री प्राप्त होती है/महत्त्व प्राप्त होता है, तब उसके लिए वीणा बजायी जाती है।[१०१] इसी कारण वीणा को श्री का रूप बताया गया है।[१०२] ऋग्वेद में कर्करि एवं अथर्ववेद में कर्करि तथा गोधा शब्द वीणा के लिए प्रयुक्त हुए हैं।[१०३] ऐतरेय आरण्यक में भी वीणा का उल्लेख मिलता है।[१०४] यजुर्वेद में वीणावादक को 'वीणावाद' और तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'वीणागाथिन्' बताया गया है।[१०५] महाभाष्य के अनुसार वीणावादक के लिए 'परिवादक' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१०६] तैत्तिरीय ब्राह्मण ब्राह्मण में उल्लेख है कि अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर ब्राह्मण दिन में और क्षत्रिय रात्रि में वीणा बजाकर गाना गाते थे।[१०७] ऋग्वेद में उल्लेख है कि मरूत सोमपान करके 'वाण' नामक वाद्य बजाते थे।[१०८] निघण्टु में 'वाण' शब्द वाङ्नामों में

---

९५. हसो नरिष्ठा नृत्तानि। अथर्व. ११.८.२४, नृत्ताय सूतम्। यजु. ३०.६, यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्याम्। अथर्व. १२.१.४१
९६. अथर्व. १२.१.४१
९७. क्लीबा इव प्रनृत्यन्तः। अथर्व ८.६.११
९८. अथ यत्प्रथमेषु पर्यायेषु प्रथमेषु पदेषु निनर्तयन्ति प्रथमरात्रादेवसुरान्निहर्नन्त्यथ यन्मध्यमेषु पर्यायेषु मध्यमेषु पदेषुनिनर्तयन्ति। मध्यरात्रादेव तदसुरान्निहर्नन्ति अथ यदुत्तमेषु पर्यायेषूत्तमेषु पदेषु निनर्तयन्ति उत्तमरात्रादेव तदसुरान्निहर्नन्ति तद्यथा अभ्यागारमभिनिनर्तं पुनः पुनः पाप्मानं निर्हन्त्यादेवमेवैतैः स्तोत्रियानुरुपैरहोरात्राभ्यामेव तदसुरान्निर्घ्नन्ति। कौ. ब्रा. १७.८
९९. यद्यश्ववद्यदन्तवद्यत् पुनरावृत्तं यत्पुनर्निनृत्तम्। ऐत. ब्रा. २४.१
१००. महसे वीणावादम्। यजुर्वेद ३०.२०
१०१. यदा वै पुरुषः श्रियं गच्छति वीणास्मै वाद्यते। शत. ब्रा. १३.१.५.१
१०२. श्रिया वा एतदरूपं यद् वीणा। तै. ब्रा. ३.९.१४.१ श्रियै वा एतद्रूपं यद्वीणा। शत. ब्रा. १३.१.५.१
१०३. ऋ०२.४३.३, अथर्ववेद - कर्करी २०.१३२.८, अव स्वराति गर्गरो गोधा, वही २०.९२.६
१०४. आघ्नन्ति भूमिदुन्दुभि प्रत्यश्च काण्डवीणाः। ऐत. आर. ५.१.५
१०५. यजु. ३०.२०, तैत्ति. ब्रा. ३.९.१४.१
१०६. अवीवदद् वीणां परिवादकेन। १.१.५७
१०७. तैत्ति. ब्रा. ३.९.१४
१०८. धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे। ऋ०१.८५.१०, इस प्रकरण में महर्षि दयानन्द ने 'वाण' का अर्थ

पठित है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद ४.२४.९ का भाष्य करते हुए वाण का अर्थ 'वाणीम्' किया है। तैत्तिरीय संहिता एवं ताण्डव महाब्रा. में शततन्त्री 'वाण' का उल्लेख है।[१०९] ऋग्वेद १०.१३५.७ में 'नाली' नामक वाद्य का उल्लेख है-'इयमस्य धम्यते नालीरयं गीर्भिः परिष्कृतः' डॉ. प्रभु दयाल अग्निहोत्री ने नाली को वेणुवाद्य बताया है।[११०] यजुर्वेद एवं तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'शंख' बजाने का उल्लेख है।[१११] यजुर्वेद ३०.१९ में 'तूणव' वाद्ययन्त्र का उल्लेख है। डॉ. कपिलदेव द्विवेदी ने सम्भावना व्यक्त की है कि तूणव शहनाई जैसा वाद्य था जिसे फूंक मार कर बजाया जाता था।[११२] 'तलवम्' हाथ से बजायी जाने वाला तबला अथवा ढ़ोलक रही होगी।[११३] ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर दुन्दुभि का उल्लेख है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसे वाद्ययन्त्र प्रतिपादित करते हुए इसकी गम्भीर ध्वनि की चर्चा की है।[११४] युद्धों के अवसर पर दुन्दुभि की गम्भीर गर्जना सुनकर वीरों में उत्साह का संचार होता था।[११५] तैत्तितीय ब्राह्मण में दुन्दुभि की ध्वनि को वाक् का उत्कृष्ट रूप माना गया है-'परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभौ'।[११६] शतपथ ब्राह्मण में सत्रह दुन्दुभियों को एक साथ बजाने का उल्लेख है।[११७] वेदाङ्ग साहित्य में अनेक प्रकार के वाद्य यन्त्रों का उल्लेख हुआ है। यथा-कांस्य वाद्य, तन्तु वाद्य, प्रतिघात वाद्य आदि।

अभिनय

अभिनय का उल्लेख वैदिक संहिताओं में मिलता है। संहितेतर वैदिक साहित्य में इसकी चर्चा उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करती हुई परिलक्षित होती है। यजुर्वेद के तीसवें अध्याय के छटे मन्त्र में निम्नलिखित अभिनयकर्ताओं का उल्लेख मिलता है-शैलूष (नट) कारि (विदूषक) स्त्रीषखम् (भाण्ड) नर्म (मजाकिया) इनके अतिरिक्त पुंश्चली (दुश्चरित्र स्त्री) को भी अभिनय के लिए उपयोगी बताया गया है।

चित्रकला

चित्रकला की सूचना दीवारों की सजावट तथा वस्त्रों पर की गयी सजावट के माध्यम से उपलब्ध होती है। वस्त्रों पर रंगदार किनारियां बनाई जाती थी।[११८] विविध रंग-बिरंगे धागों से वस्त्रों का निर्माण किया जाता था।[११९] शतपथ ब्राह्मण के एक उद्धरण में 'तार्प्य' वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। जिसमें यज्ञ सम्बन्धी चि

शस्त्रास्त्र किया है - वाणादिशस्त्रास्त्रसमूहम्।

१०९. वाणः शततन्तुर्भवति। तैत्ति. संहिता ७.५.९.२, ता. ब्रा. ५.६.१३

११०. पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ४९३, प्रकाशक - बिहार राष्ट्र भाषा पटना, सन् १९६३ ई.

१११. शंखध्मम्। यजु. ३०.९, तैत्ति. ब्रा. ३.४.१४

११२. (द्र) अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ११३

११३. नृत्तायानन्दाय तलवम्। यजु. ३०.२०

११४. दुन्दुभिः वादित्र विशेषः। द्र) यजुर्वेद भाष्य, २९.५७, दुन्दुभिरिव गर्जकः। ऋग्वेद भाष्य ६.४७.२९, दुन्दुभिरिव गम्भी गर्जनः। यजुर्वेद भाष्य २९.५५

११५. आक्रन्दय बलमोजो न आधाः ... अथर्व. ६.१२६.२, प्रामुजया ... दुन्दुभिर्वावदीतु। ... नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु , अथर्व. ६.१२६.३

११६. तैत्ति. ब्रा. १.३.६

११७. एषा वै परमावाग्या सप्तदशानां दुन्दुभीनाम्। शत. ब्रा. ५.१.५६

११८. शत. ब्रा. ३.१.२.१८

११९. यथैव प्रवयणतः पेशः कुर्यात् - यथैव मध्यतः पेशः कुर्यात्। ऐत. ब्रा. ११.१० इस पर द्रष्टव्य सायणभाष्य-पेश

बनाये जाते थे।[१२०] वस्त्रों पर रंगायी व चित्रकारी का कार्य मुख्यरूप से स्त्रियां करती थी। रंगायी करने वाली स्त्री को 'रजयित्री' एवं कढ़ायी करने वाली को 'पेशस्कारी' कहा जाता था।[१२१] यजुर्वेद संहिता में 'पेशम्' शब्द का अर्थ कढ़ायी या सजावट है।[१२२]

दीवारों की ईंटों पर लकीर बनाकर चित्रकारी की जाती थी।[१२३] पुरों एवं महापुरों के निर्माण में स्वर्ण व चांदी का प्रयोग किया जाता था।[१२४] सम्भवतः इन धातुओं का प्रयोग सजावट के रूप में होता था।

मूर्तिकला

इस काल में खिलौनों के रूप में मूर्तियों का निर्माण किया जाता था। मूर्तिपूजा का ब्राह्मण ग्रन्थों में कोई प्रसङ्ग नहीं है। ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि देव शिल्पों के अनुकरण से मनुष्यों ने शिल्पों का निर्माण किया। जैसे-हस्ती, कंस, वास, हिरण्य, अश्वतरी, रथ।[१२५] इससे विदित होता है कि मनोरंजन के लिये विभिन्न प्रकार की मूर्तियां बनायी जाती थी।

वस्त्रकला

वैदिक साहित्य में विविध प्रकार के वस्त्रों के निर्माण का उल्लेख है। वस्त्र बुनने वाले को 'वासोवाय' कहा जाता था-वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्।[१२६] वस्त्र शरीर की सुरक्षा के साधन होने के कारण 'वर्म' कहलाते थे।[१२७] अथर्ववेद १०.०७.४२ के निम्नलिखित मन्त्र में रूपक के माध्यम से वस्त्र निर्माण करने (बुनने) का बहुत ही मनोरम वर्णन है -

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षणमयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृंजाते न गमातो अन्तम्।।

अर्थात्-उषा और रात्रि रूपी दो युवतियां संवत्सर रूपी वस्त्र को बुन रही हैं। छः ऋतुऐं छः खूटियां है। काल चक्र करघा है। दिन ताना है और रात्रि बाना। उषा सूर्य की किरणों रूप धागों को फैलाती हैं और अन्या-रात्रि उनको समेट लेती है। उनका यह कार्य निरन्तर गतिशील रहता है कभी समाप्त नहीं होता। इससे विदित होता है कि वस्त्र निर्माण कार्य जन जन तक प्रिय था। इस कार्य को स्त्री और पुरुष दोनों करते थे।[१२८] वैदिक संहिताओं में वस्त्र निर्माण से सम्बन्धित निम्नलिखित शब्दावली का उल्लेख हुआ है-तन्त्र-करघा, तन्तु-

---

अलंकाराः। वर्णान्तरोपेतैस्तन्तुभिरलंकार लोके यथा वाससां प्रवयणतः वयनारम्भे पेशः - अंलकारः कुर्यात् - वस्त्रमध्ये वर्णान्तरेण अलंकार समम् - वस्त्रस्यान्तभागः तत्र यथा वर्णान्तरेण अलंकारः।

१२०. शत. ब्रा. ५.३.५.२०

१२१. शत. ब्रा. १३.४.४.५, पेशस्करीम्। यजुर्वेद ३०.९

१२२. यजुर्वेद ३०.९

१२३. शत. ब्रा. ८.७.२.१७

१२४. कौ. ब्रा. ८.८, ऐत. ब्रा. ४.६

१२५. ऐत. ब्रा. ३०.१

१२६. ऋग्वेद १०.२६.६

१२७. वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति। अथर्व. ९.५.२६

१२८. तन्त्रमेके युवती विरूपे ... वयत। अथर्व. १०.७.४२-४३

ताना, ओतु-बाना, तसर-करघी, मयूख-सूत तानने की खुंटी आदि।[१२९] ब्राह्मण ग्रन्थों में ऊन से बने वस्त्रों को 'ऊर्णावन्तम्' तथा 'ऊर्णास्तुका' कहा जाता था।[१३०] सूत से बने वस्त्र को वास[१३१] कहा जाता था।

चमड़े के वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है। मृगचर्म से निर्मित वस्त्र 'अजिनम्'।[१३२] अथवा कृष्णाजिनम्[१३३] कहलाते थे। राजा के सिंहासन पर व्याघ्रचर्म से बना हुआ आसन बिछाया जाता था।[१३४] सोमरस निचोड़ते समय चर्म के आसन पर बैठते थे, जिसे 'आधिषवण चर्म' कहा जाता था।[१३५] चमड़े के जूते और रस्सियां भी बनायी जाती थी।[१३६]

आभूषण कला

वैदिक वाङ्मय में आभूषण निर्माण से सम्बन्धित पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। यजुर्वेद ३०.१७ में स्वर्णकार को 'हिरण्यकार' कहा गया है-वर्णाय हिरण्यकारम्। स्वर्ण निर्मित माला को 'हिरण्यस्रज्' कहा जाता था।[१३७] वैदिक काल में चान्दी के आभूषणों पर स्वर्ण का पानी भी चढ़ाया जाता था। इसका उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है-अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि।[१३८] ऋग्वेद में 'हिरण्यचक्रान्' (१.८८.५) हिरण्य जि: (६.७१.३) हिरण्यत्वक् (५.७७.३) हिरण्यदन्तम् (५.२.३) हिरण्यदा (२.३५.१०) हिरण्यनिर्णिक् (५.६२.७) हिरण्य नेमय: (१.१०५.१) हिरण्यपाणि: (६.७१.४) हिरण्यपिण्डान् (६.४७.२३) आदि शब्दों से विदित होता है कि स्वर्ण के विविध उपयोग किये जाते थे। इनके अतिरिक्त स्वर्ण निर्मित रथ का भी उल्लेख मिलता है-हिरण्यरथम् (ऋग् १.३०.१६) हिरण्यरथा: (ऋग् ५.५७.१) हिरण्यरथ: (ऋग् ४.१.८)।

शतपथ ब्राह्मण में हिरण्य को आयु वर्धक,[१३९] ऐतरेय ब्राह्मण में यश वर्धक[१४०] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में तेजस्वरूप एवं पवित्र बताया गया है।[१४१] स्वर्णाभूषण धारण करना अतीव सौभाग्यप्रद माना जाता था। इसके धारण करने से शरीर की कान्ति, ओजस्विता और तेजस्विता तो बढ़ती ही थी। अनेक प्रकार के रोग भी दूर रहते थे। इस विषय में निदर्शनरूपेण निम्नलिखित सन्दर्भ प्रस्तुत है -

आयुष्यं वर्चस्यं रायस्पौषमौद्भिदम्। इदं हिरण्यं वर्चस्वज्जैत्रायाविशतादुमाम्।।

न तद्रक्षांसि न पिशाचास्तरन्ति देवानामोज: प्रथमजं ह्येत। यो बिभ्रति दाक्षायणं हिरण्यं स देवे

---

१२९. ऋग्. १०.७१.९, १०.१३०.२, ६.९.३, अथर्व. ९.९.६, १०.७.४२, १०.७.४४, १४.२.५१
१३०. ऐत. ब्रा. ५.२
१३१. तदेव, १.३, ३३.१
१३२. तदेव ३३.१
१३३. ऐत. ब्रा. ३४.५
१३४. व्याघ्रचर्मास्तरणम्, ऐत. ब्रा. ३७.१.२
१३५. ऐत. ब्रा. ३५.६
१३६. कौ. ब्रा. ४.३, ऐत. ब्रा. २५.७
१३७. हिरण्यस्रगयं मणि:। अथर्व. १०.६.४
१३८. अथर्व. १०.२७.१०
१३९. आयुर्हि हिरण्यम्। शत. ब्रा. ४.३.४.२४
१४०. यशो वै हिरण्यम्। ऐत. ७.१८
१४१. तेजो वै हिरण्यम्। तैत्ति. ब्रा. १.८.९.१, पविम् वै हिरण्यम्। तदेव १.७.२.६

कृणोतु दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणोतु दीर्घमायुः।। यजुर्वेद ३४.५०-५१

सायण और कीथ ने 'हिरण्य' को सुवर्ण (स्वर्ण) का वाचक माना है।[१४२] शतपथ ब्राह्मण में सुवर्ण को हिरण्य का विशेषण कहा गया है।[१४३] परन्तु कौषतकि ब्राह्मण में सुवर्ण और हिरण्य को पृथक्-पृथक् बताया गया है।[१४४]

निष्क-यह निष्क नामक मुद्राओं से निर्मित कण्ठ में पहनने का आभूषण था।[१४५] पंचविंश ब्राह्मण में रजत निर्मित निष्क का उल्लेख मिलता है।[१४६] वलः-यह बाहु में पहनने का आभूषण था।[१४७] खादिः-इसको भी बाहु में धारण किया जाता था।[१४८] कान का आभूषणः-कानों में स्वर्ण के आभूषण पहने जाते थे।[१४९] रुक्मः-तैत्तिरीय ब्राह्मण में रुक्म को हार बताया गया है।[१५०] ताण्ड्यि ब्राह्मण में इसको स्वर्ण का आभूषण कहा गया है।[१५१] कुछ विद्वान् इसको चांदी का आभूषण मानते हैं।[१५२] शृङ्गः-इस आभूषण को मुकुट में धारण किया जाता था।[१५३] दांतों के आभूषणः-दांतों में स्वर्ण लगाया जाता था। स्वर्णजटित दांत को 'हिरण्यदन्त'[१५४] कहा गया है। सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में भी स्वर्ण मण्डित दांत मिला है। हार-मालायेः-हार अथवा माला को 'स्रजम्' कहा गया है।[१५५] राजा की पयिां हार पहनती थी।[१५६] यह स्वर्ण तथा रजत से बनाया जाता था।[१५७] यज्ञों के अवसरों पर विशेष रूप से हार को धारण किया जाता था।[१५८] हविर्धानमण्डप के पूर्व द्वार पर दर्भ की माला लटकायी जाती थी। इसको 'रराटी' कहा जाता था।[१५९] पशुओं के आभूषणः-पशुओं को भी आभूषणों से अलंकृत करने की परम्परा थी।[१६०] पशुओं के माथे पर टीका तथा गले में माला पहनायी जाती थी।[१६१] सींगों को भी मण्डित किया जाता था।

---

१४२. ऐत. ब्रा. सा. भा. ५.४., ३०.१ आदि / वैदिक इण्डेक्स भाग-२, पृ० ५५८
१४३. शत. ब्रा. ११.४.१.८
१४४. यावेवाध्वर्युः सुवर्ण रजतौ हिरण्यशकलौ करोति। कौ. ब्रा. ८.४
१४५. निष्क कण्ठ्यिः। ऐत. ब्रा. ३८.८
१४६. पंच ब्रा. १७.१.१४
१४७. ऐत. ब्रा. २७.४
१४८. ऐत. ब्रा. २७.४
१४९. हिरण्यमाबध्नाति कर्णे। तै. ब्रा. २.७९.३
१५०. तै. ब्रा. १.८.२.३
१५१. ता. ब्रा. १८.९.८-१०
१५२. राधामुकर्जी हिन्दु सभ्यता, पृ० ९९
१५३. ऐत. ब्रा. २९.२-३
१५४. ऐत. ब्रा. ११.६
१५५. तै. ब्रा. १.८.२.३, ऐत. ब्रा. ३९.७, ता. ब्रा. १८.९.८-१०
१५६. शत. ब्रा. १३.४.१.८
१५७. तै. ब्रा. १.८.९
१५८. तै. ब्रा. १.८.२.३
१५९. ऐत. ब्रा. ५.३
१६०. हिरण्येन परिवृतान् कृष्णांछुक्लोमृगान्। ऐत. ब्रा. ३९.९
१६१. आसन्दीवति धान्याद रुक्मिणं हरितस्रजम्। अश्वं बबन्ध सारङ्गं देवेभ्यो जनमेजय इति।। ऐत. ब्रा. ३९.७

काष्ठ कला

इस काल में काष्ठ कला का पूर्ण विकास हो चुका था। गृह उपयोगी समान का निर्माण लकड़ी से किया जाता था। कुछ वस्तुयें उपयोगी होने के साथ ही कलात्मक भी होती थी। पालकी भी कलात्मक वस्तुओं में से एक थी। पालकी का निर्माण नवविवाहिता को लाने के लिये किया जाता था। यह शाल्मली नामक वृक्ष से बनायी जाती थी।[१६२] राज्याभिषेक के समय बैठने के लिये राजसिंहासन जिसे आसन्दी कहते थे, काष्ठकला का उत्तम निदर्शन है।[१६३] विविध प्रकार की नौकाओं व रथों का निर्माण किया जाता था।[१६४]

इनके अतिरिक्त गृह उपयोगी विविध वस्तुओं का उल्लेख, सेना के विविध आयुध एवं यज्ञ से सम्बन्धित विविध वस्तुओं के निर्माण की सूचना वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती है।

---

१६२. शतपथ ब्रा. ५.४.३.१६
१६३. ऐत. ब्रा. ३७.१
१६४. शत. ब्रा. १.६.३.१७, ५.४.२.५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०४०-४८) ISSN 0974 – 8830

अथर्ववेद में पुनरुक्ति

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री[१]

पहले कही हुई बात को विशिष्ट अभिप्राय के बिना कहना पुनरुक्ति है जोकि दोषावह है। वह शब्द और अर्थ भेद से दो प्रकार की होती है। जब किन्हीं शब्दों को बार-बार कहा जाता है तब वह शब्द पुनरुक्त कहाता है। जब भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा एक ही अर्थ को बार-बार कहा जाए तो वह अर्थ पुनरुक्त कहाता है। वेदों के परिप्रेक्ष्य में पुनरुक्ति पद, पाद, अर्धर्च, मन्त्र और सूक्त भेद से पाँच प्रकार की होती हैं, जो कि साभिप्राय है। यजुर्वेद में प्रतीक पुनरुक्ति के भी दर्शन होते हैं, जो कि कर्मकाण्ड विशेष का अंग हैं।

अथर्ववेद की शौनक संहिता में पुनरुक्ति के लगभग ये सभी भेद बहुतायत में प्राप्त होते हैं। पुनरुक्तिदोष वक्ता के प्रमाद को प्रमाणित करता है। अत: अथर्ववेद पर यह आक्षेप किया जा सकता है कि इसमें पुनरुक्ति-दोष है। पुनरुक्ति दोष होने से न तो **'बुद्धिपूर्वावाक्यकृतिर्वेदे'**[२१] को स्वीकार किया जा सकता है और न उसके रचयिता को भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में वेद के प्रामाण्य का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी विप्रतिपत्ति होने पर अथर्ववेद की निर्दुष्टता को कैसे सिद्ध किया जाए यह प्रश्न मन में उठता है। ऋग्वेद को आधार बनाकर मौरिस ब्लूमफील्ड ने `Rigveda Repetition' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर ऋग्वेद के उन सभी सहस्रों स्थलों को अपने ग्रन्थ में जगह दी जिनकी एक से अधिक बार पुनरावृत्ति हुई है। हालैण्ड के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान, जे० गोण्डा (उच्चारण-खोण्डा) ने शैली विज्ञान की दृष्टि से वेदों की पुनरुक्तियों पर 'Stylistic Repetition in the Vedas' नामक ग्रन्थ में विचार किया है। 'वेदों में पुनरुक्ति दोष नहीं' ग्रन्थ का सम्पादन श्री जगदेव सिद्धान्ती और डॉ० रामनाथ वेदालंकार ने किया है जिनमें २३ वैदिक विद्वानों के वैदिक पुनरुक्तियों पर निबन्ध हैं। जिनमें पुनरुक्तियों पर तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया गया है परन्तु समग्ररूप में आथर्वणिक पुनरुक्तियों पर अभी तक कार्य नहीं हुआ है। २० काण्डोंवाली इस अथर्ववेद संहिता का कलेवर ५९७७ मन्त्रात्मक है। अत: हम केवल इस निबन्ध में प्रथम दो काण्डों, जिनमें कि ७१ सूक्त और ३६० मन्त्र हैं, में पठित पुनरुक्तियों की सभिप्रायता या सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास करेंगे।

विदित हो कि इन दो काण्डों में सूक्त पुनरुक्ति को छोड़कर शब्द पुनरुक्ति के अवशिष्ट सभी भेद मिलते हैं। मन्त्र-पुनरुक्ति भी मन्त्र के कुछ पदों के परिवर्तन के साथ जहाँ अथर्ववेद के इन काण्डों में उपलब्ध हैं वहीं दूसरे वेदों में भी पठित मन्त्र यहाँ मिलते हैं। अर्थपुनरुक्ति का यहाँ अभाव ही है। पुनरुक्त मन्त्रों का जो प्रयोग अथर्ववेद में किया गया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शब्दों, पदों, पादों, अर्धर्चों और अधिकतम साम्यवाली पूर्ण ऋचाओं की पुनरुक्ति जहाँ ज्ञान से परिपूर्ण है, वहाँ उसमें शब्दमाधुर्य भी भरा हुआ है। अथर्ववेद के प्रथम और द्वितीय काण्डों के आधार पर पुनरुक्तियों का विवेचन इस प्रकार है-

पद-पुनरुक्तियाँ-जहाँ एक ही मन्त्र में एक या अनेक पद पुन: प्रयुक्त हों वह पद-पुनरुक्ति कहाती

१. एसो. प्रोफेसर, वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
२. वै० द० ६/१/१

है। उक्त दोनों काण्डों में पद-पुनरुक्तियाँ इस प्रकार हैं-

१. रूपंरूपम् वयोवय: १.२२.३

२. धत्तधत्त २.१३.२

३. सम्सम् २.२६.३-इस सूक्त में 'सम्' पद कम से कम १० बार पुनरावृत्त हुआ है। अथर्व० १.१५.१ में चार बार पुनरुक्त है।

४. धत्तम् २.२९.५-में दो बार पुनरावृत्त।

५. यथा २.३०.१-में तीन बार पुनरुक्त।

६. यद्-तद् २.३०.४-में दो-दो बार पुनरुक्त।

७. हत: २.३२.४-५ में ६ बार पुनरावृत्त।

८. हतास: २.३२.५-में दो बार पुनरावृत्त।

९. अङ्गे-अङ्गे २.३३.७, १.२२.२

१०. लोम्निलोम्नि२.३३.७

११. पर्वणिपर्वणि २.३३.७

१२. अत्त २.२४.१ में तीन बार पुनरुक्त।

१३. अथर्व २.१७ सूक्त में कुल सात मन्त्र हैं। जिनमें प्रथम ६ मन्त्र एकपदासुरी त्रिष्टुप् और सातवां मन्त्र आसुरी उष्णिक् छन्द वाला है। सातों मन्त्रों में क्रमश: ओज:, सह:, बलम्, आयु:, श्रोत्रम्, चक्षु:, परिपाणम् पद दो-दो बार पुनरावृत्त हुए हैं।

१४. उपर्युक्त के अतिरिक्त अथर्व २.११ में 'असि' पद १३ बार प्रयुक्त हुआ है।

१५. वाचस्पति: १.३ में दो बार पुनरुक्त है।

१६. श्रुतेन १.१.४ में दो बार पुनरुक्त है।

१७. यथा १.११.६ में तीन बार पुनरुक्त है।

१८. नमस्ते १.१३.१ में तीन बार पुनरुक्त है।

१९. अथर्व० २.१९ -२३ में तप:, हर:, अर्च:, शोचि:, तेज: आदि पदों की पाँच-पाँच बार पुनरुक्ति हुई है।

२०. तिष्ठ १.१७.२ में पाँच बार पुनरुक्त है।

२१. वि १.२१.३ में चार बार पुनरुक्त है।

२२. शम् १.६.१ में दो बार और १.६.४ में चार बार तथा १.१२.४ में चार बार पुनरुक्त है।

पद पुनरुक्ति के दो भेद हैं-सुबन्त की पुनरुक्ति और तिङन्त की पुनरुक्ति। वैयाकरणों के मतानुसार सुबन्त की पुनरुक्ति से वीप्सा—व्याप्ति अर्थ-गम्यमान होता है। जैसे-ग्रामो ग्रामो रमणीय:—प्रत्येक ग्राम रमणीय है। यहाँ रमणीयता की व्याप्ति ग्राम-ग्राम में है यह अर्थ प्रतीत होता है। तिङन्त की पुनरुक्ति से नित्य—आभीक्ष्ण्य पुन: पुन: क्रिया का होना विदित होता है। जैसे-देवदत्त: पचति पचति—देवदत्त पकाता ही

रहता है। इनके लिए पाणिनीय सूत्र है-**'नित्य वीप्सयो:'**।[३]

इस नियम के अनुसार सुबन्त की पुनरुक्ति में 'अङ्गे-अङ्गे' लोम्नि लोम्नि', 'पर्वणि पर्वणि' का अर्थ होगा अंग-अंग में व्याप्त, रोम-रोम में व्याप्त, शरीर के जोड़ों में व्याप्त यक्ष्मा को नष्ट करता हूँ। इसी प्रकार उपर्युक्त तिङन्त पदों जैसे धत्त धत्त, अत्त, असि आदि की पुनरुक्ति में उस उसका अर्थ 'उस क्रिया का पुन: पुन:' होना होगा।

सुबन्त पद की पुनरुक्ति के समान ही जहाँ उपसर्ग और निपात की पुनरुक्ति हो वहाँ भी 'वीप्सा' अर्थ होगा, परन्तु पाणिनि ने **'प्रसमुपोद: पादपूरणे'**[४] सूत्र द्वारा प्र, सम्, उप का ऋक् (पादबद्ध. मन्त्रों में 'पादपूर्ति' प्रयोजन भी दर्शाया है। यद्यपि इनकी पुनरुक्ति अर्थ की दृष्टि से निष्प्रयोजन है, परन्तु छन्द:शास्त्र की दृष्टि से सप्रयोजन है। सूत्रकार पाणिनि और वार्तिककार कात्यायन ने इस प्रकरण (८.१.४-१५.) के सूत्रों और वार्तिकों में पुनरुक्ति द्वारा अन्य कई विशेष अर्थों की प्रतीति होने का भी निर्देश किया है। वेदार्थ करते समय इनका ध्यान रखना आवश्यक है। पुनरुक्त पद समुदायों के सामान्य अर्थ में पुनरुक्ति से उनका वैशिष्ट्य प्रतीत है। इस विषय में आचार्य यास्क और वेंकटमाधव प्रमाण हैं। इनके अनुसार अभ्यास अर्थात् पुनरुक्ति से भूयान्—विशेष अर्थ प्रतीत होता है[२]।[५] अर्थात् जहाँ समान पदों की पुनरुक्ति हो और अर्थ भी समान ही हो वहाँ अभ्यास—पुनरुच्चारण से अर्थ की विशेषता द्योतित होती है। जैसे लोक में किसी पुरुष को देखकर प्रयुक्त किये गये 'अहो दर्शनीय:, अहो दर्शनीय:' पदों के पुनरुच्चारण से उस पुरुष के दर्शनीयत्व गुण के वैशिष्ट्य का बोध होता है, उसी प्रकार वेद के प्रयुक्त पदों के पुनरुच्चारण से उन पदों से प्रतीयमान अर्थ का वैशिष्ट्य जानना चाहिए।

हत:, हतास:-उपर्युक्त पद-पुनरुक्तियों के अन्तर्गत कुछ ऐसी पुनरुक्तियां हैं जो कई मन्त्रों में एक-दो पद के रूप में बार-बार आयी हैं। इनमें हत: और हतास: (२.३२. ४-५.) प्रमुख हैं। ये क्रमश: ०६ और ०२ बार प्रयुक्त हुई हैं। यह हृदय के भावोद्रेक को प्रकट करने की एक शैली है। इसे पुनरुक्ति दोष नहीं माना जा सकता। अथर्ववेद के प्रस्तुत विवेच्य प्रसङ्ग में ऐसे पुनरुक्तियुक्त मन्त्र इस प्रकार हैं-

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हत:। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥

हतासो अस्य वेशसो हतास: परिवेशस:। अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हता:॥[६]

उपर्युक्त मन्त्रों में 'हत:' और 'हतास:' पदों की बार-बार आवृत्ति हृदय के भावोद्रेक को प्रकट कर रही है। अत: यहाँ पुनरुक्तिदोष नहीं माना जा सकता।

काव्यमाधुर्य भी पद पुनरुक्तियों में देखने को मिलता है। अथर्ववेद के प्रस्तुत विवेच्य काण्डों में जहाँ अक्षर, शब्द एवं पदों का पुनरुक्तियों से माधुर्य देखने को मिलता है वहीं द्विपद काव्य माधुर्य भी दिखाई देता है। ऐसे कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं -

३. अष्टा०८.१.४

४. अष्टा०८.१.६.

५. अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथा अहोदर्शनीयोऽहोदर्शनीय. (नि) १०/४०)

६. अथर्व०२/३२/४-५

अक्षर, शब्द एवं पद का माधुर्य -

१. स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसिप्रत्यभिचरणोऽसि (२.११.२)

२. सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि (२.११.४)

३. शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि (२.११.५)

४. अशीतिभिस्तिसृभि: सामगेभिरादित्येर्भिवसुभिरंगिरोभि: (२.१२.४)

५. .... घृतप्रतीको घृतपृष्ठोअग्ने। घृतं पीत्वा मधुचारु गव्यं० (२.१३.१)

६. परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायु: (२.१३.२)

७. यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिता:। यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेत: सदान्वा: (२.१४.५)

८. यस्य स्थ तमत्त यो व: प्राहैत तमत्त स्वा मांसान्यत्त (२.२४.१-८)

९. अङ्गकान् समङ्गकान् हविषा विधेम (१.१२.२)

द्विपद काव्य माधुर्य -

१. दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि (२.११.१)

२. भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं सपक्षयणमसि सपचातनं अरायक्षयणमस्यरायचात[नं] पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं) (२.१८. १-५)

३. प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे (२.२७. १-६)

४. अश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनी: (०१.४.४)

५. अस्मिन् वसु वसवो धारयन्तु (१.९.१)

अथर्ववेद छन्दोबद्ध होने के कारण काव्य है। लौकिक काव्य में अर्धावृत्ति, पदावृत्ति, महायमक आ[दि] भेद होते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद के पहले दो काण्डों में भी यदि इनका अवतार हुआ तो कुछ अलौकिक न[हीं] है। पदावृत्ति अर्धावृत्ति यह सब यमकालंकार के भेद हैं। वैसे भी वैदिक भापा में नाम, सर्वनाम, विशेष[ण] अव्यय तथा संख्यावाचक शब्दों (पदों के द्विरुक्त उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद के प्रथम और द्वितीय काण्डों [में] भी यह द्विरुक्तता मिलती है। आख्यात के द्विरुक्त-उदाहरण भी हैं, परन्तु वे 'रूपं रूपं' आदि की तरह अ[ति] विरल हैं। अत: पदावृत्ति या पदपुनरुक्तता जहाँ यमकालंकार का विषय है, वहीं द्विरुक्त समास का विषय [भी] बनती है, जो कि किसी भी प्रकार पुनरुक्ततादोषभाक् नहीं बन सकती।

पाद-पुनरुक्तियाँ-जहाँ पूरा पाद (चरण) पुन: पुन: प्रयुक्त हो वह पाद-पुनरुक्ति कहाती है[।] अथर्ववेद के प्रथम और द्वितीय काण्डों में निम्नलिखित पाद-पुनरुक्तियां प्रयुक्त हुई हैं-

१. मय्येवास्तु मयि श्रुतम् (१.१.२-३)

२. अवजरायु पद्यताम् (१.११.४-६)

३. ता न आप: शं स्योना भवन्तु (१.३३.४)

४. ....गन्धर्वो भुवनस्य यस्पति रेक एव नमस्य: (२.२.१-२)

५. ....वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु (२.८.५)

६. आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम (२.११.१-५)

७. एवा मे प्राण मा बिभेः (२.१५.१-६)

८. मा पातं स्वाहा (२.१६.१-२)

९. पाहि स्वाहा (२.१६.३-५)

१०. मे दाः स्वाहा (२.१७.१-७, २.१८.१-५)

११. योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः (२.१९, २०, २१, २२, २३ सूक्तों के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में प्रयुक्त हुआ है। यह मन्त्रांश ३.२७ में भी पुनरुक्त है।

१२. क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि (२.३१.२, ४)

१३. वि वृहामि ते (२.३३. १-७. केवल मं० सं० ३ और ७ में 'वृहामि' के स्थान पर 'वृहामसि' आख्यात पद पठित है।

विद्वानों के अनुसार[७३] समस्यापूर्तियाँ वेदों में दो प्रकार की हैं-एक तो ऐसी हैं जिनमें सूक्त के या सूक्तांश के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में समान मन्त्रखण्ड आता है। ऐसी समस्यापूर्तियां जहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में बिखरी हुई हैं वहीं अथर्ववेद में भी उपर्युक्त पाद-पुनरुक्तियां प्रकीर्ण रूप में समस्यापूर्ति के रूप में मिलती हैं। इन समस्यापूर्तियों की सूक्तियों से भावना का समा बंध जाता है और काव्यशोभा अतिशय बढ़ जाती है। प्रत्येक मन्त्र के अन्त में वह भावना बार-बार आती है। इसे टेक भी कहते हैं। अतः वेंकटमाधव ने लिखा है-**आवर्तयन्ति सूक्तींश्च यथाऽर्चन्ननु स्वराज्यम्,** अर्थात् अनके स्थानों पर गीतिकाव्य के सिद्धान्तानुसार सूक्तियों की वेद में आवृत्ति होती है। जैसे **अर्चन्ननु स्वराज्यम्**। दूसरी समस्यापूर्ति पूरे मन्त्र की होती है। कुछ वर्गे, अनुवाकों, सूक्तों आदि के अन्त में पूरा मन्त्र बार-बार आता है। जिसमें मन्त्र एक होता हुआ भी सर्वत्र नवीन रूप में भासित होता है। इसमें समस्यापूर्ति का चमत्कार भी झलकता है और काव्यशोभा भी बढ़ती है। अथर्ववेद के प्रथम दो काण्डों में यह दूसरे प्रकार की समस्यापूर्ति नहीं हैं।

गीतिकाव्यों में और वीररस प्रधान उद्बोधनपरक कविता में जैसे भक्त और वीरपुरुष अपनी टेक (या टेर) पुनः-पुनः दोहराता है वैसे ही अथर्ववेद में भी सार्थक पाद-पुनरुक्ति मिलती है। उपर्युक्त में '**मयि एवास्तु मयि श्रुतम्**—हे वाचस्पति! पढ़ा हुआ ज्ञान मुझमें स्थिर रहे', '**अवजरायु पद्यताम्**—जीर्ण हुआ गर्भावरण (जेली) नीचे गिर जाये; '**एवा मे प्राण मा बिभेः**—हे मेरे प्राण! तू भय न कर', '**मां पातं स्वाहा**—मेरी रक्षा करो; '**मे दाः स्वाहा**—मुझे ओज, बल, आयु आदि प्रदान करो', **योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः**—जो हमारे साथ द्वेष करता है और जिसके साथ हम अप्रीति करते हैं हे परमात्मा उसे तू तपा, नष्ट कर', आदि गीतिपरक काव्यात्मकता भक्तिप्रधान है। भक्तिप्रधान काव्यों में इस प्रकार की पुनरुक्ति देखी जाती है, जो कि पुनरुक्ति दोषभाक् नहीं होती। इस प्रकार के उदाहरण संस्कृत के भक्तिस्तोत्रों और भाषा के भक्ति प्रधान गीतों में देखे जा सकते हैं। जैसे संस्कृत में लिखी चर्पट मञ्जरी स्तोत्र में '**भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते**' और हिन्दी में श्रद्धाराम फिल्लौरी द्वारा रचित सर्वत्र गेय आरती-'**ओम् जय जगदीश हरे, स्वामी जय जगदीश हरे**' ये टेर प्रत्येक छन्दान्त में प्रयुक्त होती हैं। इस प्रकार की पादपुनरुक्ति गीतों काव्यों में सार्थक मानी जाती है और इससे उनके सौन्दर्य की अभिवृद्धि होती है। जब लोक में यह स्थिति है तो वैदिक काव्य में इस प्रकार की पुनरुक्ति को निरर्थक कैसे कहा जा सकता है।

७३. वेदों में पुनरुक्ति दोष नहीं, सम्पा० पं० जगदेवसिंह सिद्धान्ती एवं डॉ० रामनाथ वेदालंकार, पृ०१८

जिस प्रकार लोक में वीरोचित उद्बोधन में पुनरुक्ति वाक्यों में दोष नहीं देखा जाता उसी प्रकार क स्थिति वेद-कविता में भी है। हिन्दी में बहुत प्रसिद्ध उद्बोधन गीत है-

वीर तुम बढ़े चलो, धीर तुम बढ़े चलो।

बढ़े चलो, बढ़े चलो, बढ़े चलो, बढ़े चलो।।

यहाँ बढ़े चलो वाक्य की पुनरुक्ति दोषावह नहीं है, अपितु वीररस और चारुता का आस्वादन कर वाली है। इसकी तुलना में उपर्युक्त पादपुनरुक्तियों में उद्धृत **'आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम'** टेक वाल पुनरुक्ति को लिया जा सकता है। इसके कतिपय मन्त्र इस प्रकार हैं-

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।

आप्नुहि श्रयांसमति समं क्राम।।

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानो असि।

आप्नुहि श्रयांसमति समं क्रामं।।

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्यातिरसि।

आप्नुहि श्रयांसमति समं क्रामं।। (२.११.१, ४-५)

यहाँ उपर्युक्त मन्त्रों में भी **'असि'** तथा **'आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम'** की पुनरुक्ति में दोष व उद्भावना न कर इसमें जो रस और चारुता है उसका आस्वादन करना उचित है।

विवृहामि ते-यह पाद अथर्व० २/३३ (यक्ष्मविबर्हणम्) में पुनरुक्त है। भिषक् यक्ष्मापीड़ित व्यक्ति मनोबल को बढ़ाने के लिए प्रत्येक मन्त्र में अनेक शरीरावयवों का निर्देश करके कहता है कि यदि यक्ष्मा तेरे इ अवयवों में प्रविष्ट है तो मैं इन अवयवों से इसे पृथक् करता हूँ—नष्ट करता हूँ। रोगी को विश्वास दिलाने लिए तेरे चाहे किसे भी अंग में यक्ष्मा क्यों न प्रविष्ट हो गया हो मैं उसे अवश्य दूर कर दूँगा, तुझे मरने न दूँगा। इसी सुदृढ़भाव को और रोगी के मनोबल को बढ़ाने के लिए इन मन्त्रों में बार-बार 'विवृहामि ते' प (चरण) की पुनरुक्ति है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त पादपुनरुक्तियों में मन्त्रों के अन्तिम चरण का अग्रिम मन्त्र के प्रारम्भ में प्रयो गिरधर कविराय की कुण्डलियों की तरह भी देखने को मिलता है। अथर्ववेद प्रथम काण्ड में एक उदाहरण इ तरह का मिलता है-

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् (१.२३.१)

किलासं च पलितं च निरितो नाशया वृषत् (१.२३.२)

अथर्व. १.२३.२ में केवल 'च' पद अधिक है। इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता है। अथर्ववेद अनुलोम-विलोम उक्ति माधुर्य भी देखने को मिलता है, जैसे-यदन्तरं तद् बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम् (२.३०.४ काव्य माधुर्य वैदिक भाषा में किन-किन रूपों में है यह पुनरुक्तियों से व्यक्त हो रहा है।

अर्धर्च पुनरुक्तियां-जहाँ आधी ऋचा (आधा-मन्त्र) पुनः-पुनः प्रयुक्त हो वह अर्धर्च-पुनरुवि कहाती है। अथर्ववेद के प्रथम और द्वितीय काण्डों में अधोलिखित अर्धर्च मिलते हैं-

१. एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् (१.३. ६-९)

२. सपास्मदध्वरे भवन्तुभ्यं नाकमधिरोहयमम् (२.१.२, ४)

३. तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं संस्रावयामसि (१.१५. ३-४)

४. या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु (१.३३. १-३)

५. तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् (२.३. ३-५.-मन्त्र सं ४ में 'अनीनशत्' पद के स्थान पर अशीशमत्' पद का प्रयोग हुआ है।

६. वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यय क्षेत्रियमुच्छतु (२.८. २-५.-मन्त्र सं) ५ में इस अर्धर्च से पहले 'नमः क्षेत्रस्य पतये' पाद का भी प्रयोग हुआ है।

७. प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे (२.२७. १-६)

पादपुनरुक्ति के समाधान में जो तर्क पूर्व में दिये गये हैं वे तर्क और युक्तियां यहाँ अर्धर्च पुनरुक्तियों में भी सटीक बैठती हैं। यहाँ इतना लिखना विशेष है कि निरुक्त १०.४० में आचार्य यास्क ने पुनरुक्ति के समाधान में लिखा है कि **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'** अर्थात् जहाँ समान पदों की पुनरुक्ति हो और अर्थ भी समान ही हो वहाँ अभ्यास—(पुनरुच्चारण) से अर्थ की विशेषता द्योतित होती है। यही स्थिति यहाँ अर्धर्च पुनरुक्तियों की है। इनकी बार-बार पुनरावृत्ति अर्थभूयस्त्व को प्रकट करती है। वेंकटमाधव ने शब्दावृत्यणुक्रमणी के अन्तिम भाग में एक अर्धर्च और एक पाद का उल्लेख करते हुए इंगित किया है कि पुनः-पुनः पठित अर्धर्च और पाद सार्थक होते हैं। अर्धर्च द्वारा और पाद द्वारा देवसमुदाय में से एक-एक देव से उस उस पदार्थ की याचना करते हुए उसका अन्य देवों के साथ सहयोगीभाव सूचित किया जाता है, अर्थात् प्रतिसूक्त स्तुत देव अकेला ही अभिलषित कामना को पूर्ण नहीं कर सकता, अपितु अन्य देवों के जिनका अर्धर्च में उल्लेख है, साथ मिलकर ही कामना को पूर्ण कर सकता है। अतः अर्धर्च अथवा पाद मन्त्रपूर्तिमात्र के लिए नहीं है, अर्थात् निरर्थक नहीं है-

अथार्धर्चस्तन्नो मित्रः सन्त्यप्यन्ये च तादृशाः।
प्रातर्मक्ष्विति पादः स्यात् सन्त्यन्येऽपि च तादृशाः॥
स्तुत्वान्यमन्यदेवानां तत्तदाशासते पुनः।
ऋषयो यद्यदिच्छन्ति तदर्थास्ते न पूरणाः॥ (४.८. ३-४)

मन्त्र-पुनरुक्ति-जहाँ पूरा मन्त्र ही पुनः उपलब्ध होता है वह मन्त्र-पुनरुक्ति कहाती है। अथर्ववेद के प्रथक् और द्वितीय काण्डों में दो प्रकार से मन्त्र पुनरुक्तियाँ मिलती हैं। एक तो उन मन्त्रों की जो ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में पठित होने के साथ-साथ अथर्ववेद में भी पठित हैं। दूसरे प्रकार की मन्त्र पुनरुक्तियां वे हो सकती हैं जिन मन्त्रों में थोड़ा-सा (किंचित् मात्र) परिवर्तन होने के साथ वे मन्त्र पुनरुक्ति को प्राप्त हुए हैं। प्रथम प्रकार की मन्त्रपुनरुक्तियाँ इस प्रकार हैं-

१. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥

२. यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥

३. तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥

४. ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम्। अपो याचामि भेषजम्॥ (१.५. १-४)

उपर्युक्त मन्त्र ऋग्वेद (१०.९. १-४), सामवेद (१८३७-१८३९, ईशाना० को छोड़कर) और यजुर्वेद (११.५०-५२, ईशाना० को छोड़कर) में भी मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अथर्ववेद १.६. १-३ मन्त्र

भी ऋग्वेद आदि में पठित हैं।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने वेदों में पूरे मन्त्र की पुनरुक्ति के दो भेद माने हैं।[८] "एक प्रकरणान्तर में समान पदात्मक मन्त्र की पुनरुक्ति और दूसरी एक ही प्रकरण में अर्थात् एक ही देवता के प्रकरण में मन्त्र की पुनरुक्ति। जहाँ तक प्रकरणान्तर में पुनरुक्ति का सम्बन्ध है वह समानाक्षर होते हुए भी प्रकरण भेद से अर्थभेद के लिए हैं। अत: उसका उस-उस प्रकरण भेद से अर्थ दर्शाना भाष्यकार के लिए आवश्यक है। यदि कोई भाष्यकार '**पूर्वमयं मन्त्रो व्याख्यात:**' लिख देता है तो वह अपनी अज्ञता को ही दर्शाता है। उपर्युक्त चारों मन्त्रों में से '**आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता०**' को आधार बनाकर हम प्रकरणभेद से इतर अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं- उक्त सभी स्थानों में प्रसङ्ग भेद से यह मन्त्र उपयुक्त बैठ जाता है। प्रथम ऋग्वेद का प्रसङ्ग लीजिए। ऋग्वेद के दशम मण्डल में पहले सात सूक्त अग्निविषयक हैं। आठवें सूक्त में भी पहले ६ मन्त्र अग्नि के हैं तथा मन्त्र ७ से ९ तक इन्द्र के हैं। फिर नवम सूक्त 'आप:' विषयक है, जिसका प्रस्तुत 'आपो हि ष्ठा' आदि प्रथम मन्त्र है। यहाँ 'अग्नि-इन्द्र-आप:' यह क्रम है। भौतिक दृष्टि से देखें तो प्रथम अग्नि में यज्ञ करने से जलवाष्प ऊपर जाकर बादल बनते हैं, जिनकी वेद में वृत्र संज्ञा है। फिर इन वृत्रों तथा इन्द्र (विद्युत् या सूर्य. का युद्ध होता है तथा इन्द्र वृत्रों का वध कर उन्हें नीचे गिरा देता है। तब 'आप:' अर्थात् वर्षाजल हमें प्राप्त होते हैं। इस वर्षाजलों का समुचित उपयोग कर हमें स्वास्थ्य, बल एवं तेज की प्राप्ति होती है।

यजुर्वेद में उक्त मन्त्र दो बार आता है। प्रथम ११ वे अध्याय का ५०वां मन्त्र है। ४९वें मन्त्र में अग्नि को सम्बोधन कर कहा है कि अपने विस्तीर्ण बल के साथ देदीप्यमान होता हुआ तू व्याधियों को दूर कर। उसके साथ ही प्रस्तुत ५०वें मन्त्र में इसी कार्य के लिए जलों को स्मरण करते हुए कहा है कि तुम हमें बल, प्राण और स्मरणीय दृष्टि शक्ति प्रदान करो। ३६वें अध्याय में फिर यही मन्त्र आया है। यह सुख शान्ति की प्रार्थना का अध्याय है, जिसमें विभिन्न वस्तुओं से सुखशान्ति की याचना की गयी है। यहाँ भी यह मन्त्र संगत हो जाता है, क्योंकि इसमें जलों से सुख, शान्ति की प्रार्थना है। सामवेद में जहाँ यह मन्त्र आया है वहाँ क्रमश: इन्द्र, आप: तथा वात के त्रिक (तीन-तीन) मन्त्र हैं। यहाँ प्रसङ्गभेद के साथ-साथ अर्थभेद भी है, क्योंकि सामवेद के भक्तिपरक होने से यहाँ 'आप:' का अर्थ आनन्द रसमयी जगन्माता होता है।

अथर्ववेद १.५.१ में यह मन्त्र चिकित्सा के प्रकरण में है। इससे पूर्व के मन्त्रों में शर, मुञ्ज आदि ओषधियों द्वारा चिकित्सा का वर्णन है। इस मन्त्र से सूचित किया है कि हम स्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए जल चिकित्सा भी करें। इस प्रकार एक ही मन्त्र प्रसङ्ग भेद से अनेक स्थानों पर आता है तो यह पुनरुक्ति-दोष नहीं है। इसी विधि से एक से अधिक मन्त्र या सम्पूर्ण सूक्त भी अनेक स्थानों पर पठित हो सकते हैं। वस्तुत: अभी हमने '**आपो हि ष्ठा मयोभुव:**' का जो उदाहरण दिया है वह भी अकेला मन्त्र नहीं, अपितु संकेतित सभी स्थलों में इकट्ठे तीन-तीन मन्त्र पुनरुक्त हुए हैं-'आपो हि ष्ठा', 'यो व: शिवतमो रस:' और 'तस्मा अरं गमाम वो'।

अधिकांश पुनरुक्तियों का समाधान इस प्रसङ्ग भेद से हो जाता है। विस्तार भय से सभी मन्त्रपुनरुक्तियों की सार्थकता या साभिप्रायता दिखाना असंभव है।

पाठभेद से अथर्व २.३३ सूक्त ऋग्वेद १०.१६३ में पठित है। ऋग्वेद में यह सूक्त ०६ मन्त्रों वाला है

८. वही, पृ० ६८

जबकि यहाँ अथर्ववेद में ०७ मन्त्र हैं। मध्य में भी मन्त्रक्रम में अन्तर आया हुआ है। कुछ पाठभेद भी हैं। अत: इसको सूक्त पुनरुक्ति के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते।

इस प्रकार अथर्ववेद (काण्ड प्रथम, द्वितीय) के पुनरुक्त स्थलों पर विचार करते हुए हम निम्न परिणामों पर पहुँचते हैं। जिनका समर्थन सामवेदभाष्यकार आचार्य रामनाथ वेदालंकार के लेख से भी होता है[९]-

१. अथर्ववेद में शब्द पुनरुक्ति पर्याप्त होते हुए भी पुनरुक्ति दोष कहीं नहीं है। ऐसा ही यास्क आदि प्राचीन वेदज्ञों और अर्वाचीन भाष्यकारों ने भी स्वीकार किया है[६]। [१०]

२. विभिन्न प्रसङ्गों में जहाँ सम्पूर्ण सूक्त, कुछ मन्त्र या अकेले-अकेले मन्त्र पुनरुक्त हुए हैं, वहाँ प्रसङ्ग भेद के कारण पुनरुक्त दोष नहीं है, क्योंकि उन सभी प्रसङ्गों में वे मन्त्र अपना सौन्दर्य रखते हैं।

३. कई स्थलों में मन्त्र-साम्य होते हुए भी प्रकरणानुसार अर्थ भिन्न हो जाता है। इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं है।

४. समस्यापूर्ति, जहाँ प्रत्येक पद्य के अन्त में एक ही वाक्य आता है, दोष नहीं मानी जाती। प्रत्युत यह एक चित्ताकर्षक काव्यशैली है। अत: वेद के भी ऐसे प्रसङ्ग पुनरुक्ति दोष से युक्त नहीं ठहरते।

५. उपदेश में एक बात को प्रकारान्तर से पुन:-पुन: कहना दोष नहीं होता। वेद मन्त्र भी परमेश्वर के उपदेश हैं। अत: वेदों में भी यदि यह शैली रखी गई है तो वह पुनरुक्ति दोष नहीं है। इससे पाठक के मन में वह विचार बद्धमूल हो जाता है। ऐसे स्थलों में पुनरुक्ति का प्रयोजन दार्ढ्य (बल देना) होता है।

६. पद-पुनरुक्ति द्विरुक्त समास का विषय होती है। अत: वह दोषावह नहीं है।

७. भय, शोक, असूया, हर्ष, विस्मय, अनुकम्पा, त्वरा, उत्साह आदि के प्रदर्शनार्थ पुनरुक्ति शास्त्रसम्मत है। उसे दोष नहीं माना जाता। आचार्य भामह (काव्यालंकार ४.१४. एवं दण्डी (काव्यादर्श ३.१३७) ने भी इसका प्रतिपादन किया है।

८. अथर्ववेद के कई मन्त्रों में एक-दो पद बार-बार आये हैं। यह हृदय के भावोद्रेक को प्रकट करने की एक शैली है। इसे पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जा सकता। वैदिक काव्य में भक्ति प्रधानता वाले मन्त्रों और वीरोचित उद्बोधनों में पुन:-पुन: प्रयुक्त पद, पाद आदि पुनरुक्तिदोषभाक् नहीं होते। इनसे वैदिक मन्त्रों का अनेक प्रकार से काव्यमाधुर्य प्रकट होता है। अक्षर, शब्द एवं पदमाधुर्य, द्विपद काव्यमाधुर्य, गिरधर कविराय की कुण्डलियों की तरह का माधुर्य एवं अनुलोम-विलोम उक्तिमाधुर्य भी इन पुनरुक्तियों से प्रकाश में आता है।

इस पद्धति से यदि हम आथर्वणिक पुनरुक्तियों पर विचार करते हैं तो हमें आचार्य यास्क की **'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते'**[११] यह उक्ति सर्वत्र चरितार्थ हुई प्रतीत होने लगती है तथा 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै.द. ६.१.१) की सत्यता भी सिद्ध हो जाती है।

---

९. वही, पृ० ३८

१०. ऋग्वेद संहिता २.११.५, ७.१०.१, ७.६६.१६, ८.६६.१५, १०.२२.१२, १०.२२.१५, १०.३०.५ और १०.१०५.११ पर सायणभाष्य तथा यजुर्वेद ४०.१६ पर-'व्याख्यातायाः पुनर्वचनं विशेषार्थम्' यह उव्वट-महीधर का वचन।

११ निरु०१०.४०.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०४९-५२) ISSN 0974 – 8830

तैत्तिरीय आरण्यक में वर्णित विद्याएँ

डॉ. राजिन्द्रा शर्मा[१]

आरण्यक शब्द अरण्य से भव अर्थ में वुञ् प्रत्यय लगाकर बनता है। आचार्य सायण तथा शंकराचार्य के अनुसार अरण्य में पढ़े जाने के कारण 'आरण्यक' कहा जाता है।[२] श्री वामन शिवराम आप्टे के अनुसार भी आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा समूह है जिनकी रचना या तो वनों में हुई या फिर जंगलों में उनका पठन पाठन हुआ।[३]

तैत्तिरीयारण्यक कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। इसके दस अध्यायों को प्रपाठक कहा जाता है। इस आरण्यक में सभी देवताओं को ज्येष्ठ विज्ञान ब्रह्म के उपासक स्वीकार किया गया है।[४] सभी देवता मनुष्यों की भाँति प्राण क्रिया करते हैं।[५] अग्नि की अष्टपुरुषात्मक मूर्ति की कल्पना की गई है। भिन्न दिशाओं में वर्णित मूर्तियों से तेज प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[६] पृथ्वी को अग्नि की पत्नी माना गया है।[७]

तैत्तिरीयारण्यक में युगल देवताओं का वर्णन भी मिलता है। पृथ्वी हजारों का उपकार करती है। पृथ्वी को पत्नी व्योम को पति माना गया है। बृहस्पति पुत्र है। रुद्र और अग्नि भी अन्य पुत्र हैं। वेदि दुहिता है। द्यावा और पृथ्वी के बीच सूर्य शुक्ल वर्ण तथा रात्रि कृष्ण वर्ण है। द्यावा और पृथ्वी मित्रों की भांति हैं। अश्विद्वय इन दोनों का उपकार करते हैं। द्यावा का पुत्र रात्रि को तथा पृथिवी का पुत्र दिन को माना गया है। रात्रि के द्वारा सूर्य को गर्भ में रखा गया है। आदित्य पुत्र के साथ सोती है इसलिए रात्रि को सूर्य के दर्शन नहीं होते।[८]

पृथ्वी को मुक्ति का हेतु स्वीकार किया गया है। समस्त प्रणियों और वनस्पतियों का आधार पृथ्वी ही है। यह माता की भांति प्रणियों का पालन पोषण करती है। अत: पृथ्वी स्वर्ग से भी बढ़कर है। तैत्तिरीयारण्यक में पृथ्वी को अदिति, देव, गन्धर्व, असुर, सर्वभूतों की माता, मेदिनी, धैर्ययुक्त, पूज्या, सावित्री, उपासकों की रक्षा करने वाली, जगत् की आश्रयभूता, अनेक प्रकार की फसलों को देने वाली, विस्तृत, सर्वात्मिका, सभी प्राणियों की देह से परिणत, व्यवहारदशा में बाधारहित और अमृता कहा गया है।[९]

इन्द्र देवता से शत्रुरहित करने तथा अन्दर और बाहर के शत्रुओं को मारने की प्रार्थना भी की गई है।[१०] वायु के ग्यारह पुरुष मूर्ति तथा स्त्रीमूर्ति रूप में वर्णित हैं-प्रभ्राजमाना, व्यवदाता, वासुकि वैदयुता, रजता,

---

१ एसोशियेट प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल शिमला १७१००५ (हिमाचल प्रदेश)

२ अरण्याध्यनादेतदारण्यकमितीर्यते। अरण्ये तदधीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्ष्यते॥ तैत्तिरीयारण्यक सायणभाष्य भूमिका, पृष्ठ २।

३ संस्कृत-हिन्दी कोष, पृष्ठ १५७।

४ विज्ञानं यज्ञं तनुते। विज्ञानं देवा: सर्वे ब्रह्मज्येष्ठमुपासते। तैत्तिरीयारण्यक, पृ० ६०८।

५ प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। वही, पृ० ५९८।

६ वही, पृ० ७४।

७ पृथिव्यतने:। वही, पृ० १७७।

८ तैत्तिरीयारण्यक, पृ० ४८-५०।

९ वही, पृ० ८४७।

१० यत इन्द्र भयामहेततोनो अभयं कृधि। मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतये विदिवषो विमधो जहि, इति॥ वही, पृ० ८०।

परुषा, श्यामा, कपिला, अतिलोहिता, ऊर्ध्वा, अवपतन्ता तथा वैधुत।[११] वायु के द्वारा साम प्रकार के मेघों के बरसाने का उल्लेख है।[१२] रुद्र को हिरण्यबाहु, हिरण्यवर्ण, हिरण्यरूप, हिरण्यपति, अम्बिकापति, उमापति, पशुपति आदि अनेक नामों से प्रणाम किया गया है।[१३] रुद्रों की पत्नी त्रिष्टुक है।[१४]

पर्जन्य को दिव का पुत्र माना गया है। पर्जन्य देवता, व्रीही, यव आदि औषधियों, गायों, अश्वों तथा पुरुष की स्त्रियों में गर्भ धारण करवाता है।[१५] आप: का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी आदि लोक जलों में ही विद्यमान हैं। उन्हीं से उत्पन्न होते हैं और उन्हीं पर निर्भर हैं। पृथ्वी आदि भी उन्हीं से उत्पन्न हुए हैं।[१६] इसी प्रकार आदित्य को पूर्व दिशा का स्वामी स्वीकार किया गया है। आदित्य को द्युतिकर्ता भास्कर मानते हुए उसका ध्यान करने तथा उससे सन्मार्ग की ओर प्रेरणा देने के लिए प्रार्थना की गई है।[१७] तैत्तिरीयारण्यक में ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने वाले सात सूर्य गिनाए गए हैं-आरोग, भ्राज, पटर, पतङ्ग, स्वर्णर, ज्योतिषीमान, विभास।[१८] कुछ आचार्यों के अनुसार यज्ञ में होतृ आदि सात ऋत्विज ही सात सूर्य हैं क्योंकि आठ दिशाओं के बीच जो पूर्व दिशा है वह सूर्य से युक्त है और आग्नेय आदि अन्य सात दिशाएं हैं वे नाना प्रकार के सूर्यों से युक्त हैं।[१९] वत्स मर्हषि के अनुसार विष्णु द्यावा और पृथिवी को धारण करते हैं।[२०] तैत्तिरीयारण्यक में द्यौ, अन्तरिक्ष, माता, पिता, पुत्र सभी देवों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, निषाद, पूर्व उत्पन्न हो रहे समस्त व्यापार को अदिति कहा गया है।[२१] अदिति के ये आठ पुत्र हैं-मित्र, वरुण, धाता, आर्यमा, अंश, भग, इन्द्र और विवस्वान्।[२२] प्रजापति द्यावा और पृथिवी के बीच में विचरण करने वाला स्वयं उत्पन्न न होते हुए भी चराचर रूप में विद्यमान है।[२३] इसे ही ब्रह्म तथा हिरण्यगर्भ भी कहा गया है। इसकी पत्नी अनुमति है।[२४]

गरुड़ को पुरुष, सुवर्ण के पंखों वाला स्वीकार किया गया है। इसका ध्यान करने तथा गरुड़ से अच्छे मार्ग पर चलने के लिए प्रार्थना की गई है।[२५] गणेश की स्तुति तथा ध्यान करने से मांगलिक कार्यों में प्रेरित करने के लिए प्रार्थना की गई है।[२६] देवियों में दुर्गा का पिता कात्यायन को माना गया है। इनका ध्यान करते हुए

---

११ प्रभ्राजमाना व्यवदाता: याश्च वासुकिवैद्युता: रजता: पुरुषा: श्यामा:। कपिला अतिलोहिता उर्ध्वा अवपतन्ताश्च।
१२ नैनं वैद्युतो हिनस्ति। य एवं वेद। वही, पृ० ३९।
१३ नमो हिरण्यबाहवे हिरण्यवर्णाय हिरण्यरूपाय हिरण्यपतये अम्बिकापतये उमापतये पशुपतये नमो नम:। वही, पृ० ८४२।
१४ रुद्राणां त्रिष्टुक्। वही, पृ० १७७।
१५ यो गर्भमोषधीनाम्। गवां कृणौत्यर्वताम् पर्जन्य: पुरुषीणाम् इति। वही, पृ० १०९।
१६ योऽप्सु नावं प्रतिष्ठिता वेद। प्रत्येव तिष्ठति। इमे वै लोका अप्सु प्रतिष्ठिता:। वही, पृ० ८१।
१७ भास्कराय विद्महे महद्युतिकराय धीमहि। तन्नो आदित्य: प्रचोदयात् इति। वही, पृ० ७९८।
१८ आरोगो भ्राज: पटर: पतंग:। स्वर्णरो ज्योतिषीमिन्वभास:। तै अस्मै सर्वे दिवमातपन्ति। वही, पृ० २४-२५।
१९ सप्तर्त्विज: सूर्या इत्याचार्या: इति। तेषामेषा भवन्ति। सप्त दिशो नाना सूर्या:। वही, पृ० २८।
२० विष्णुना विधृते भूमौ। इति वत्सस्य वेदना। वही, पृ० ३२।
२१ अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षम् अदितिर्माता से पिता स पुत्र:। विश्वे देवा अदिति पञ्चजना:। अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्। वही, पृ० ६५।
२२ मित्रवरुणश्च। धाता चार्यमा च। अंशश्चभगश्च। इन्द्रश्चविवस्वांश्चेत्येते च। वही, पृ० ६६।
२३ प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्त:। अजायमानो बहुधा विजायते। वही, पृ० ७९०।
२४ प्रजापतेरनुमति:। वही, पृ० १७७।
२५ तत्पुरुषाय विद्महे सुवर्णपक्षाय धीमहि। तन्नो गरुड: प्रचोदयात्। पृ० ७९७।
२६ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ति प्रचोदयात् इति। पृ० ७९७।

इनसे अच्छे मार्ग पर चलने के लिए प्रार्थना की गई है।[२७] मेधा देवी से प्रार्थना की गई है कि आज हमें सात्विक शक्ति प्रदान करें।[२८]

तैत्तिरीयारण्यक में ब्रह्म की अनेक प्रकार की शक्तियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह ब्रह्म वाणी में आशीर्वाद के रूप में, प्राण तथा अपान वायु में जीवन से सम्बन्धित वस्तुओं को आकृष्ट करने की शक्ति के रूप में, हाथों, पैरों, गुदा, उपस्थ में कार्य करने की शक्ति के रूप में विद्यमान है। नक्षत्रों में प्रकाश के रूप में विद्यमान है। वह ब्रह्म सर्वव्यापक शक्ति के रूप में भी विद्यमान है।[२९]

ब्रह्म अभय स्वरूप है। इसी कारण से वायु नियम के अनुसार चलती है। इसी के कारण से सूर्य ठीक समय पर उदय को प्राप्त होता है तथा उचित समय पर ही अस्त होता है। ब्रह्म के ही कारण से अग्नि, इन्द्र तथा पांचवाँ मृत्यु ये सभी अपना-अपना काम नियम के अनुसार करते हैं।[३०]

आत्मा अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है। तैत्तिरीयारण्यक में जीवन को अमृत माना गया है।[३१] जीवात्मा को पुरुष तथा इन्द्र नाम से कहा गया है। इसका निवास स्थान हृदय माना गया है। शरीर के भीतर जो हृदय आकाश है उसमें यह पुरुष ज्ञानमय, अमृतस्वरूप और प्रकाशमय होकर रह रहा है। आभ्यन्तर तालु जो अंश स्तन की तरह लटक रहा है वह जीवात्मा का निवास स्थान है।[३२]

तैत्तिरीयारण्यक में प्रकृति के अर्थ में अजा शब्द का प्रयोग हुआ है। एक अजा है जो त्रिगुणात्मक तथा अपने रूप वाली प्रजा को उत्पन्न करती है। इसमें एक अज 'प्रीति अथवा परितृप्ति के साथ शयन करता तथा अन्य अज भोगों के भोग के बाद इसे छोड़ देता है।'[३३] इस प्रकार अज शब्द यह स्पष्ट कर देता है कि प्रकृति त्रिगुणात्मक शरीर वाले जगत् को पैदा करती है। तैत्तिरीयारण्यक में असत् शब्द प्रकृति के अर्थ में तथा सत् शब्द कार्य प्रकृति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसमें वर्णन आता है कि असत् ही पहले था उससे सत् उत्पन्न हुआ।[३४] यहाँ पर आप शब्द मूल प्रकृति के अर्थ में वर्णित है। ग्रन्थ में प्रश्न करते हुए कहा गया है कि बादल, दिन, रात, मास, पक्ष, मुहूर्त, द्वयपक्ष और जल किसमें स्थित हैं उत्तर दिया गया है कि ये सब आप: में विद्यमान हैं।[३५]

---

२७ कात्यायनाय विद्महे। कन्यकुमारि धीमहि। तन्नो दुर्गिः प्रचोदयात्। वही, पृ० ७९९।

२८ मेधादेवी जुषमाणा न आगादिवश्वाची भद्रा समुनस्यमाना। वही, पृ० ८६१।

२९ क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञा- अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्दः इत्युपस्थे सर्वमित्याकाशे।

३० भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चिन्द्रश्च। मृत्युर्धावतिपञ्चम इति। वही, ८.८।

३१ अमृतो जीवः। वही, १०.४.१०।

३२ स य एषोऽन्तर्हदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्यमयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। वही, ७.६।

३३ अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। वही, १०.१०।

३४ असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। वही, ३.७.७.।

३५ क्वेदमभ्रंनिविशते। क्वायं सम्वत्सरो मिथः। क्वाहः केयं देवरात्री। क्वमासा ऋतवः श्रिताः। अर्धमासा मुहर्ताः। निमेषास्त्रुतिभिः सह। क्वेमा आपो निविशन्ते यदीतो यान्ति सम्प्रति इति। काला अप्सु निविशन्ते। वही, १.८।

ब्रह्म को प्रकृति का उत्पादक माना गया है तथा विश्वात्मा कहा गया है।[३६] तैत्तिरीयारण्यक में वर्णन ाया है कि ब्रह्म ने विचार किया कि मैं अनेक हो जाऊँ। ऐसा सोचने पर ब्रह्म ने संकल्प किया तथा संकल्प रके कुछ भी देखने सुनने में समझने में आया उससे सम्पूर्ण जगत् की रचना की।[३७] ब्रह्म शब्द का अर्थ रण्यगर्भ भी उचित है क्योंकि तैत्तिरीयारण्यक में वर्णन आता है कि परमात्मा ने दोनों में से सर्वप्रथम को त्पन्न होते देखा था।[३८] ईश्वर द्वारा विरचित सर्वहुत यज्ञरूपी पुरुष से ऋक्, यजु, साम तथा अथर्ववेद की सृष्टि ानी गई है।[३९]

तैत्तिरीयारण्यक में पुरुषार्थ साधनों में सत्य को ही उत्कृष्ट माना गया है। इनके अनुसार सत्य से परम ह्म की अवाप्ति होती है। इसी से स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है। मुक्ति, परब्रह्म तथा स्वर्ग प्राप्ति के लिए सज्जन त्य का ही आचरण करते हैं। सत्तामिदम् इति इस व्युत्पत्ति के आधार पर सत्य शब्द प्रतिष्ठित हुआ है।[४०] त्तिरीयारण्यक में **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** के द्वारा ब्रह्म का स्वरूप निर्धारित किया गया है।[४१] तपश्चर्या को सर्वश्रेष्ठ ाना गया है।[४२] वाक् और नेत्र आदि इन्द्रियों को बाह्य वस्तु से हटाना दम कहलाता है।[४३] मोक्ष के साधनों में म अनिवार्य है। शम को तप माना गया है।[४४] प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्म का वर्णन करते हुए कहा गया है कि तालाब र्माण रूप धर्म सबके द्वारा मान्य है क्योंकि समस्त प्राणी तालाब के जल से अपनी प्यास बुझाते हैं। अत: ऐसे क्ष के उत्तम साधन में विद्वान् लोग रमण करते हैं।[४५]

अग्नि को भी मोक्ष का उत्तम साधन माना गया है।[४६] ऐसा माना गया है कि यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति ती है। इन्द्रादि देवता यज्ञ से प्रसन्न होकर प्रजा को आनन्दित करते हैं।[४७] मानसोपासना भी मुक्ति का उत्तम ाधन हैं। सगुण ब्रह्म को मानने वाले वाले वेद विद्वान् मानसोपासना में ही रमण करते हैं।[४८]

नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मनं परायणम्। तैत्तिरीयारण्यक, पृ० ८३२।

सोऽकामयत बहु स्याम प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच। तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत् वही, पृ० ६२०।

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानम्। वही, पृ० ८२७।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत: । ऋच: सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत। वही, पृ० १९८।

सत्यं परं ऊँ सत्येनन सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते। कदाचन सतां हि सत्यं तस्मात्सत्ये रमन्ते- इति। वही, पृ० ८९०।

वही, पृ० ५५३

तपो नित्यं पौरुशिष्टि: । वही, पृ०५२९।

दम इति नियतं ब्रह्मचारिणस्तस्मादृते रमन्ते। वही, पृ० ८११।

रामस्तपो......... । वही, पृ० ८२०।

धर्म इति धर्मेण सर्वमिदं परिगृहीतं धर्मान्नाति दुष्करं तस्माद्धर्मे रमन्ते इति। वही, पृ० ८९२।

अग्नय इत्याह तस्तादग्नय: आधातव्या इति। वही, पृ० ८९२।

यज्ञ इति यज्ञो हि देवास्तस्मादयज्ञे रमन्ते......... इति, वही, पृ० ८९२।

मानसमिति विद्वान ऊँ संस्तस्माद्विद्वान् ऊँ स एव मानसे रमन्ते। वही, पृ० ८९५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०५३-५७) ISSN 0974 – 8830

सार्वभौमिक वैदिक आचार

डॉ. कुलदीप सिंह आर्य[1]

वेद सृष्टि के आदि संविधान हैं अत: वेदोक्त भाषा, संस्कृति, धर्म, दर्शन एवं समस्त ज्ञान-विज्ञान स्वत: प्राचीनतम सिद्ध हो जाते हैं। विश्व की कोई भाषा संस्कृत की तरह समृद्ध नहीं। संस्कृत की अलौकिकता वैज्ञानिकता, महानता, श्रेष्ठता, ज्येष्ठता, प्रेष्ठता एवं विशालता सर्वत्र अद्भुत है। संस्कृत के व्याकरण का विश्व भर में लोहा माना जाता है, वेद समस्त ज्ञान विज्ञान के स्रोत हैं, विश्व में अनेक तथाकथित धर्म एवं सम्प्रदाय हैं उन धर्मों के विभिन्न नियम एवं सिद्धान्त हैं जो एक दूसरे धर्म सम्प्रदाय को मान्य नहीं होते, परन्तु वैदिक आचार सिद्धान्त इतने व्यापक एवं सार्वभौमिक, वैज्ञानिक हैं कि समस्त धर्मों, सम्प्रदायों में कहीं न कहीं दृष्टिगोचर हो जाते हैं, वैदिक आचारशास्त्र आज भी इतना प्रासंगिक है कि यदि उसका पालन किया जाए तो धर्मार्थकाममोक्ष (पुरुषार्थ चतुष्टय) की सहजप्राप्ति हो जाएगी। वस्तुतः समस्त ज्ञान-विज्ञान का उद्देश्य जीवन में ज्ञान को उतारना है। यदि कोई जानकार है परन्तु फिर भी उसे अपने जीवन में नहीं अपनता तो उस जैसा मूढ़ कोई नहीं इतने कष्टों से धन एवं समय लगाकर ज्ञान प्राप्त भी किया, परन्तु उसका प्रयोग ही नहीं करता **'शास्त्राण्यधित्यापि भवन्ति मूर्खाः'** ऐसे लोगों के लिए ही कहा जाता है। इसके विपरीत क्रियावान् होते हैं।**'यः क्रियावान् सःएव विद्वान्'**। सूक्ति को ऐसे महापुरुष ही सार्थक करते हैं।

वैदिक साहित्य में ऐसे तत्त्व जिनको यदि मनुष्य मात्र जीवन में धारण करे तो उसके जीवन का कल्याण हो सकता है। अर्थात् वैदिक साहित्योक्त ऐसे (आचरण करने योग्य नियम) जो सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक होने के साथ साथ मानवमात्र के लिए हितकारी हो सकते हैं और जिनके विषय में संसार का प्रबुद्ध वर्ग एकमत है यहाँ पर दिए जा रहे हैं-ये ऐसे आचरणीय तथ्य हैं जो किसी भी व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को उन्नत बनाने में समर्थ हैं।

१.आस्तिकता-अस्ति ईश्वर: इति सः आस्तिक: जो ईश्वर को स्वीकार करने के भाव से युक्त विचारधारा है वह आस्तिकता है। संसार में जितने भी धर्म, दर्शन, सम्प्रदाय मतमतान्तर बनते हैं उनके मूल में ईश्वर के स्वरूप को स्वीकार करने की अवधारणा ही होती है, उसी के कारण विभिन्न तथाकथित धर्म बने और यह भी सत्य है कि विश्व में जितने युद्ध विवाद एवं मतविरोध ईश्वर को स्वीकार करने के तरीके, उसकी प्रार्थना की शैली, उसकी प्रामाणिकता आदि के कारण हुए उसने किसी और कारण से नहीं, ये कारण ही नया धर्म मत आदि पैदा कर देते हैं, परन्तु इन सब के मूल में एक बात तो निश्चित है कि ईश्वर है स्वीकार करने वाले आस्तिकों की संख्या नास्तिकों से कई गुणा अधिक है।

वैदिक साहित्य में ईश्वर : एक विचारणीय पक्ष

ऋग्वेद में हजारों मन्त्र ईश्वर विषयक हैं जो सर्वमान्य एवं सर्वहिताय हैं-**एक इद् राजा जगतो बभूव**

---

१. अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी ए वी कॉलेज, अमृतसर

२. ऋग्वेद – १०.१२१.३

...वह एक ईश्वर ही संसार का एक मात्र राजा है। और उसी सत्य ईश्वर का विद्वान् नाना रूपों में वर्णन करते हैं।[३] ...वह केवल और केवल एक है और भुवन का ईश है।[४] उसी को विद्वान् लोग अग्नि, यम और वायु आदि विभिन्न ...नामों से जानते हैं।[५] वह विश्व का कर्त्ता धर्त्ता, हर्त्ता, अज्ञेय और स्वयं प्रकट होने वाला है।[६] वही पापमोचक एवं ...शत्रुनाशक है।[७] जगत् में जो कुछ भी स्थावर एवं जंगम आदि है वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है।[८] ...जिसके ब्रह्म परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षण युक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं। जो ...सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, ...हर्त्ता सब जीवों को कर्मनुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षण युक्त है, उसी को ईश्वर मानता हूँ।[९] महर्षि ...। आर्य समाज का दूसरा नियम भी शुद्ध ईश्वर के गुणों से भरा है।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है और ईश्वर को ही विश्व का सर्जक, ...पालक और विनाशक स्वीकारता है। अब यदि विश्व के तथाकथित धर्मों एवं सम्प्रदायों की बात की जाए तो ...प्रायः सभी ईश्वर के स्वरूप को मानते हैं, और समाज एवं राष्ट्र का हित भी इसी में है कि प्रत्येक व्यक्ति ...आस्तिक हो तथा ईश्वरचिन्तन अवश्य करे। जो कुछेक नास्तिक जन हैं और ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, वे ...समाज एवं राष्ट्र उन्नति में उतने सहायक सिद्ध नहीं होते, जितने आस्तिक लोग। अतः ईश्वर को स्वीकार करने में ...ही व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र की भलाई है।

ईश्वर के किस स्वरूप को मानना उचित है? इसमें विचार वैभिद्य बहुत अधिक है, यद्यपि कोई ...निराकार, कोई साकार, कोई किसी गुरु को, कोई महापुरुष श्री रामचन्द्र जी, श्रीकृष्ण जी, शिव, गणेश, चण्डी, ...दुर्गा आदि को ईश्वर मानते हैं, परन्तु विश्व का प्रबुद्ध वर्ग निराकार ईश्वर को मानने के पक्ष में अधिक हैं और ...ईश्वर को निराकार मानने वालों की संख्या भी सर्वाधिक है और उपनिषद् का भी यही कथन है-**साक्षी चेता ...केवलो निगुर्णश्च।**[१०] तथा उस आत्मस्थ ईश्वर का जो जन चिन्तन करते हैं, उनका सुख ही शाश्वत है, दूसरों का ...नहीं।[११] ईश्वर कभी साकार तो हो भी नहीं सकता क्योंकि उसे जन्मादि लेने का लाभ क्या है? ब्रह्मसूत्र में ईश्वर ...को **जन्माद्यस्य यतः** कहकर जन्मादि का कारण कहा है, न कि जन्मादि लेने वाला, और यदि ईश्वर को जन्मादि ...लेने वाला स्वीकार भी कर लिया जाए तो कि एक आम व्यक्ति और ईश्वर में अन्तर क्या रहेगा? अतः उसकी ...महानता जन्मादि से दूर सच्चिदानन्द स्वरूप में ही है।

---

३. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति - वही १.१६४.४६
४. एको विश्वस्य भुवनस्य राजा - वही ६.३६.४
५. अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। वही - १.१६४.४६
६. अयं कृत्नुरगृभीतो विश्वजित् उद्भिदित् सोमः। वही ८.७९.१
७. अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि। वही ८.९९.५
८. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। यजुर्वेद - ४०.१
९. सत्यार्थ प्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्य - १ ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।
१०. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निगुणश्च॥ श्वेताश्वतरोपनिषद् - ६.११
११. वही - ६.१२

२.**सत्य**-संसार में ऐसा कोई मत, सम्प्रदाय या धर्म नहीं जो सत्य का विरोध करता हो, सभी प्रवुद्ध जन सत्य बोलने पर बल देते हैं और यह कोई भ्रम नहीं, अपितु प्रयोग द्वारा सिद्ध है कि सत्य सबसे बड़ा तप है और इससे बहुत लाभ हैं केवल एक सप्ताह सत्य बोलकर देख लें और फिर विचारें कितना लाभ, सुख शान्ति के रूप में मिला, यदि आपको लाभ मिले तो जीवन में सत्य को अपनाएं। जो तीनों कालों में एक जैसा रहे वह सत्य है।[१२]

उपनिषद् का वचन है- **'सत्यमेव जयते'** जीवन में यदि सच्ची विजय प्राप्त करनी है तो केवल सत्य से सम्भव है, अत: वैदिक साहित्य में सत्य की महिमा अनन्त बताई गई है-महान् सौभाग्य के लिए सत्य बोलें।[१३] सत्य के द्वारा पृथिवी लोक पवित्र हो सकता है।[१४] सत्य बहुत बड़े शत्रुओं को भी जीत लेता है।[१५] सत्य ही बोलना चाहिए।[१६] सत्य के रक्षक एवं सत्कर्मी को कोई नहीं दबा सकता है।[१७] सत्य से ही मधुरता एवं प्रेम उत्पन्न होता है।[१८] सत्य का तन्तु सभी के हृदय में फैल जाता है।[१९] सत्यनिष्ठ बुद्धि पाप के विचारों को नष्ट कर देती है।[२०] सत्य का केन्द्र अमृत हो जाता है।[२१] सत्याचरण से ही बुद्धि ने ज्ञान को पाया।[२२] विशाल द्युलोक सत्य का ही विस्तार है।[२३] महात्मा गाँधी ने मेरे प्रयोग सच्चाई के साथ नामक पुस्तक में सत्यों एवं उससे प्राप्त लाभों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जब भी मानव सत्य बोलता है, उसके मन को अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। समाज में सत्य वक्ता विशेष आदरणीय होता है। सत्य ही विजय को प्राप्त होता है, असत्य नहीं। सत्य से देवयान मार्ग का विस्तार होता है, जिसके द्वारा आप्तकाम ऋषि लोग उस पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ वह सत्य का परम निधान रहता है।[२४] ईश्वर वाचक शब्दों में सत्य सर्वप्रथम है ईश्वर के गुणों की प्रसिद्ध उक्ति **'सच्चिदानन्द स्वरूप'** है अत: सत्य ईश्वर के समान रक्षक है ब्रह्मलोक में सत्य ही रक्षक होता है न वहाँ कोई छल, प्रपंच, झूठ आदि काम आते हैं और न ही काम क्रोध लोभ मोहादि दुर्गुण। अत: सत्य जीवन यापन करने से इहलौक और परलोक दोनों सुधरते हैं। अष्टांग योग द्वारा समाधि तक पहुंचने का जो सरलतम मार्ग बताया है उसमें यमों के अन्तर्गत सत्य द्वितीय स्थान पर है।[२५] अत: सत्य से बढ़कर निर्विरोध तथ्य कोई नहीं, इसे तो नास्तिक भी स्वीकारते हैं- **'सत्यस्य महिमा अनन्ता'**।

---

१२. उपनिषद् वाक्य
१३. अवोचाम महते सौभगाय सत्यम्। ऋग्वेद - ८.५९.५
१४. उभे पुनामि रोदसी ऋतेन। वही १.१३३.१
१५. ऋतं सासाह महिचित्। वही - ८.८६.५
१६. ऋतं वोचे, ऋतमिद् वदेम। वही ४.५.११, ३.५५.३
१७. ऋतस्य गोप्ता न दभाय सुक्रतुः - वही ९.७५.२
१८. ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियम्। वही ९.७५.२
१९. ऋतस्य तन्तुर्विततः पवित्र आ। वही ९.७३.९
२०. ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति। वही ४.२३.८
२१. ऋतस्य नाभिरमृतं विजायते। वही ९.७४.४
२२. ऋतस्य पथा सरमा विदद् गाः। वही ५.४५.८
२३. ऋतस्य हि प्रसितिर्द्यौरुरु व्यचः। वही १०.९२.४
२४. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ मुण्डकोपनिषद ३.१.६
२५. अहिंसासत्यब्रह्मचर्यपरिग्रहाः यमाः - योगदर्शन - २.२९

३.अहिंसा-अहिंसा ऐसा गुण है जो व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र को व्यवस्थित करने के लिए महत्त्वपूर्ण है, मनसा वाचा कर्मणा किसी को कष्ट न पहुँचना अहिंसा है, यद्यपि अहिंसा का अर्थ अति व्यापक है और इसके अनेक अर्थ बताए गए हैं, तथापि समाज में जीवन निर्वाह हेतु मनसा वाचा कर्मणा प्रमुख है। यदि किसी को मुक्त होना हो तो सर्वथा अहिंसा भाव अनिवार्य है। महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन में कहते हैं कि अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाने पर वैरभावों से सर्वथा मुक्ति हो जाती है।[२६] गाय और मनुष्यों की हिंसा करने वालों से दूर रहना चाहिए।[२७] हे रुद्र! तुम हमारे युवकों एवं वयस्कों की हिंसा मत करो।[२८] हे रुद्र! हमारे पुत्र-पौत्र और पारिवारिक जनों की हिंसा मत करो, हमारे घोड़े, गायों पर क्रोध मत करो।[२९] महर्षि मनु कहते हैं कि अहिंसा सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने हेतु चारों वर्णों को धारण करनी चाहिए।[३०] योगदर्शन में अहिंसा को सभी यमों में पहले रखते हुए कहा है कि अन्य गुणों को धारण करने से पहले अहिंसा अनिवार्य है, अहिंसा के साथ ही अन्य गुणों की भी सिद्धि हो जाती है। सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का आधार भी अहिंसा ही है। अहिंसा की सिद्धि होने पर सभी के प्रति वैर त्याग हो जाता है अर्थात् अहिंसक व्यक्ति से कोई भी वैरभाव नहीं रखता। अतः योगियों एवं प्रबुद्ध वर्ग के द्वारा उच्चारित **'अहिंसा परमो धर्मः'** सर्वथा उचित ही है, सबसे बड़ा धर्म अहिंसा ही है। गीता मे श्रीकृष्ण कहते हैं-**'अहिंसा सत्यमक्रोधः त्यागः शान्तिरपैशुनम्'**।[३१] महर्षि मनु ने - **अहिंसार्येन्द्रियासंगैः वैदिकैश्चैव कर्मभिः। तपश्चरणैश्चोगैः साधयन्तीह तत्पदम्।।** के द्वारा अहिंसा की महिमा का बखान करते हैं।[३२] यजुर्वेद का ऋषि कहता है कि मित्र की दृष्टि से मुझे सब प्राणी देखें, मैं मित्र की दृष्टि से सब प्राणियों को देखूं, हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से व्यवहार करें।[३३] अपने को सभी भूतों में देखने वाला तथा सभी भूतों को अपने में समझने वाला किससे घृणा कर सकता है।[३४] वैदिक ऋषियों के चिन्तन की ऊँचाई देखें, कितना महान् विचार है, ऐसे विचार ही वैदिक साहित्य को अलौकिक एवं सार्वदेशिक बनाते हैं। अतः वेदोक्त अहिंसा प्रायः सभी प्रबुद्ध धर्मों सम्प्रदायों द्वारा आचरित होती है।

३.पुरुषार्थ-बिना कर्म के कुछ भी संभव नहीं। मनुष्य को कर्म के विकल्प में किसी दूसरे गुण का सहारा नहीं लेना चाहिए। **चरैवेति चरैवेति** का उपनिषद् उद्घोष सर्वथा सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों में प्रचलित है।

यजुर्वेद निर्देश देता है-इस संसार में कर्म करते हुए ही १०० वर्षों तक जीने की इच्छा कर, मनुष्यत्व का अभिमान रखने वाले तेरे लिए इसके सिवा कोई मार्ग नहीं।[३५] कर्म ही मनुष्य की गति बदलते हैं, यही उनके आर्थिक विकास के मूल हैं, भाग्य भी कर्मों से ही बनते हैं, अतः मनुष्य को सत् कार्य करते हुए ही जीने की

---

२६. अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः - वही
२७. आरे ते गोहनमुतपूरुषघ्नम्। ऋग्वेद - १.११४.१०
२८. मा न प्रियास्त्वो रुद्र रीरिषः। वही १.११४.७
२९. मा नस्तोके तनये मा न आयौ, मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वही १.११४.८
३०. एतं सामाजिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः। मनुस्मृति १०.६२
३१. गीता - १६.२
३२. मनुस्मृति ६.७५
३३. मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजुर्वेद - ३६.१८
३४. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। यजुर्वेद - ४०.६
३५. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। वही - ४०.२

इच्छा करनी चाहिए। अथक परिश्रमी ही सुख पाते हैं।[३६] ईश्वर केवल पराक्रमी को चाहते हैं।[३७] आलस्यविहीन, अकुटिल और घोर परिश्रमी जन ही संसार में सफल होते हैं।[३८] पुरुषार्थी विद्वान् ही समृद्धशाली होते हैं।[३९] यदि कर्म मेरे दायें हाथ में है तो फल बायें हाथ में ईश्वर कर्मठ व्यक्ति को ही मित्र बनाते हैं। कर्म करने वाले को अभीष्ट की प्राप्ति होती है।[४०] पुरुषार्थी ही संसार का आभूषण है, वही समाज में आदर योग्य है। संसार पत्थरों वाली नदी है, इसे कर्म से ही पार किया जा सकता है।[४१] सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में कर्म की महिमा गाई गई है और किसी भी बुद्धिमान् व्यक्ति द्वारा सत्कर्म की निन्दा नहीं की जाती। सभी धर्म, सम्प्रदाय कर्म को जीवन का आधार मानते हैं। अत: हे ईश! सही समय पर सही कर्म करने की समझ प्रदान करो।

४.सौमनस्य- लिंग, जाति, तथाकथित धर्म, मत, सम्प्रदाय, ऊँच-नीच वर्ण, रंग, क्षेत्र, भाषा, संस्कृति आदि विविधताओं से सर्वथा ऊपर उठकर 'हम पंछी एक नीड के हैं' का अनुभव करना सौमनस्य है। विश्वों में यह विचार कितनी अलौकिता उत्पन्न करता है कि हम सब एक पिता के पुत्र हैं और सभी समान हैं। इसका कोई प्रबुद्ध विरोध नहीं करता। वैदिक साहित्य में सामाजिक माधुर्य, सौमनस्य के विचार कितने महान् हैं -

अयं निज: परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥
सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्॥
विश्वं पुष्टं ग्रामेऽस्मिन् अनातुरम्।[४२] यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्॥

विश्व के किस साहित्य में सौमनस्य की इतनी उदात्त भावनाएं हैं? मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन एक प्रकार के विचार करें। सभी की मन्त्रणा एक प्रकार की हो, मन, चित्त, चिन्तन समान हो।[४३] सभी के संकल्प समान हों, हृदय समान हों।[४४] मुँह से मधुर वचन बोलें।[४५] जिह्वा मधुर और ज्ञानयुक्त हो।[४६] भूगोल हमारे लिए मधुमय हो।[४७] चारों दिशाएं हमारे लिए शुभ हों।[४८] इस प्रकार अनन्त विचार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के हैं, जिनका कोई बुद्धिजीवी विरोध नहीं कर सकता। यद्यपि दान, परोपकार आदि अनेक गुण निर्विरोध हैं, तथापि विस्तार भय के कारण केवल चार ही सार्वभौमिक वैदिक आचारों का इस पत्र में वर्णन है।

---

३६. अतृष्यन्तीरपसो यन्त्यच्छा। ऋग्वेद - १.७१.३
३७. अग्निर्वव्रे सुवीर्यम्। वही - १.३६.१७
३८. अतन्द्रासोऽवृका अश्रमिष्ठा। वही - ४.४.१२
३९. अधा ह यन्तो अश्विना पृक्ष: सचन्त सूरय:। वही ७.७४.५
४०. अयन् अर्थानि कृणवन् अपांसि। वही ७.६३.४
४१. यजुर्वेद १.११४.१
४२. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनासि जानताम्। ऋग्वेद - १०.१९१.२
४३. समानं मन: सह चित्तमेषाम्। वही १०.१९१.३
४४. समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:। वही १०.१९१.४
४५. ओष्ठाविव मध्वासने वदन्ता। वही - २.३९.६
४६. जिह्वा मधुमती सुमेधा। वही - ३.५७.५
४७. मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रज:। वही १.९.७
४८. चतस्त्र: प्रदिशो भवन्तु। वही ७.३५.८

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०५८-६४) ISSN 0974 – 8830

वैदिक साहित्य में स्त्रियों की समानता का अधिकार

डा० कमला मिड्ढा[१]

वैदिक साहित्य स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक भेद को स्वीकार करते हुये दोनों को एक-दूसरे का संपूरक, सहयोगी प्रतिपादित करता है तथा दोनों के सर्वांगीण विकास के लिए समान अवसर देता है। जिस प्रकार प्रकृति के बिना पुरुष का कार्य अपूर्ण रहता है, उसी प्रकार स्त्री के बिना पुरुष का जीवन अधूरा रहता है। क्योंकि स्त्री-पुरुष दोनों मानव-जीवन रूपी गाड़ी के दो पहिए हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नारीरहित पुरुष अधूरा माना गया है, क्योंकि पत्नी के बिना वह सन्तान प्राप्त नहीं कर सकता और सन्तानहीन पुरुष अपूर्ण माना जाता है।[२] नारी के बिना पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं माना जाता।[३] स्वर्ग प्राप्ति के लिए भी पत्नी का साथ होना आवश्यक माना गया है।[४] अत: नारी पति के साथ गृहं के याज्ञिक कार्य सम्पंन्न करती थी।[५] तैत्तिरीय संहिता में स्त्री और पुरुष रथ में जुड़े हुए दो बैल माने गये हैं।[६] ऐसी स्थिति में स्त्रियों की समानता का अधिकार 'या' नारी स्वातन्त्र्य जैसे शब्दों की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है। वैदिक साहित्य में वर्णित स्त्रियों के अधिकार या नारी स्वातन्त्र्य सम्बन्धी विचारों को हम यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेद स्त्री को समानता का ही नहीं अपितु परिवार के सर्वोच्च साम्राज्ञी पद पर प्रतिष्ठित कर, परिवार के साथ-साथ ग्राम, नगर एवं राष्ट्र की भी साम्राज्ञी होने का अधिकार प्रदान करते हैं। अथर्ववेद में भी कहा गया है कि वह सास, ससुर आदि की साम्राज्ञी अर्थात् स्वामिनी है-

सम्राज्ञ् येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञयुत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥[७]

वेदों में जहाँ ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि की स्तुति की गई है। वहीं नारी रूप में सरस्वती, श्री तथा शक्ति की महिमा का भी वर्णन है।[८] भगवान् को जहाँ पिता के रूप में पुकारा गया है, वहीं उसे माता पद से भी सम्बोधित किया है।[९] नारी के लिए ज्ञान, ऐश्वर्य एवं शक्ति अर्जन के समस्त द्वार अनावृत हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि स्त्री के लिए सभी क्षेत्रों में समानता का अधिकार है।

१. <u>स्त्रियों की समानता की भावना</u> -ऋग्वेद में अनेकत्र पुत्र-प्राप्ति की प्रार्थना की गई है तथा पुत्र

---

१. रीडर- संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला महाविद्यालय, हाथरस।
२. शतपथ ब्राह्मण-५.२.१.१० अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति।
३. शत० ब्रा०-५.१.६.१० अयज्ञियो वैष योऽपत्नीकः।
४. ऐतरेय आरण्यक- १.२.५
५. ऋग्वेद- १.७.२.५ संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्।
६. तैतिरीय संहिता- ३.७५
७. साम्राज्ञी श्वशुरं भव। ऋग्वेद१०.८५.२५
८. अथर्ववेद- १४/१/४४
९. त्वं हिनः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। सामवेद उत्तरार्चिक- ४-२.१३.२

जन्म पर हर्षोल्लास का वर्णन मिलता है। पुत्री के सम्बन्ध इस प्रकार के वर्णन अत्यल्प है। परन्तु कन्याओं की हीनता को द्योतित करने वाला भी कोई वर्णन नहीं है। वेद पुत्र के अभाव में पुत्री को ही पुत्र सदृश मानता है।[१०] एक मन्त्रमें 'मेरी पुत्री विराट् है'[११] कह कर पुत्री के प्रति गौरव की भावना व्यक्त की है। अथर्ववेद में सन्तान प्राप्ति की सर्वाधिक प्रार्थनाएँ 'प्रजा' शब्द से की गई हैं और 'प्रजा' शब्द में पुत्र-पुत्री दोनों परिगणित हो स्वतः स्पष्ट है।[१२] अथर्ववेद के विवाह सूत्र १४.१-२ में सर्वत्र नवपरिणीता वधू के लिए की शुभकामनाअ जैसे-पति के लिए प्रजा उत्पन्न करने[१३] प्रजा से वृद्धि प्राप्त करने[१४] प्रजा से कष्ट न पाने[१५] सूर्या की भांति प्रज प्राप्त करने[१६] प्रजा के साथ पूर्ण आयु का उपभोग करने[१७] आदि में प्रजा शब्द का ही व्यवहार किया गया है, पु का नहीं। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर स्पष्टतः कन्या अथवा पुत्री की कामना की गई है तथा उसके स्वास्थ की चिन्ता भी की गई है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कन्या जैसा यश प्राप्त करने की कामना की गई है।[१८] अन्य उल्लेख है कि परिश्रमी कन्या सबको प्रिय होती है।[१९] अथर्ववेद के एक मन्त्र में पत्नी की इच्छा करने वा व्यक्ति के द्वारा इन्द्र से पत्नी प्रदान करने की प्रार्थना की है।[२०] यदि वेद में कन्या का जन्म अवांछित माना जा तो पत्नी प्राप्त करने की प्रार्थना कैसे संगत हो सकती है। जहाँ पति शब्द स्वामी का वाचक है, वहीं पत्नी शब् स्वामिनी अर्थ का द्योतक है। उसी प्रकार दम्पती शब्द अर्थात् घर के स्वामी-दोनों पति-पत्नी का समान भाव अधिकार प्रदान करता है। यथार्थ दृष्टि से विचार करें तो परिवार में पुरुष की अपेक्षा स्त्री का महत्त्वपूर्ण स्था है। परिवार की केन्द्र बिन्दु नारी है। कहा भी है कि घर को घर नहीं कहा जाता अपितु गृहिणी ही घर होती है गृहिणी के बिना घर वन के समान होता है-

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं कान्तारादतिरिच्यते।।[२१]

नारी के बिना लोकयात्रा निष्फल है। माँ, पत्नी, बहिन अथवा पुत्री किसी भी रूप में नारी अनुपम है पुरुष के किसी भी सोपान पर आरूढ़ होने में नारी बल का योगदान अवश्यंभावी है। कहा भी है 'किसी सफल व्यक्ति के पीछे किसी न किसी महिला का हाथ अवश्य होता है।' वेदों में भावनात्मक दृष्टि से नारी समान रूप से आदर का भाव दृष्टिगोचर होता है। परिवार में पुरुष की प्रधानता का कारण उसक पराक्रमशीलता तथा बाह्य समस्याओं से जूझने का सामर्थ्य प्रतीत होता है।

---

१०. ऋग्वेद- ३.३१.१
११. ऋग्वेद- १०, १५९, ३ 'अथो मे दुहिता विराट्'।
१२. निघण्टु २.२
१३. इह प्रजां जनयपत्यै अस्मै- अथर्ववेद १४, २, ३१
१४. इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु- अथर्ववेद १४, १, ५४
१५. मा व्यधिष्ठामया सह प्रजया च धनेन च। अथर्ववेद- १४,१.४८
१६. सूर्यामिव परिधत्तां प्रजया। अथर्ववेद- १४.१.५३
१७. प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्। अथर्ववेद-१४.२.६४
१८. यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे। अथर्ववेद- १०, ३, २०
१९. अथर्ववेद- ६.६०.२
२०. अथर्ववेद- ६.८२.३
२१. पञ्चतंत्र- ३.१४५

२.पर्दा प्रथा का अभाव-वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वेदों में पर्दा प्रथा का विधान नहीं है। अथर्ववेद में नववविवाहिता वधू के लिए कहा गया है 'कि आओ इसे सब लोग मिलकर देखो और आशीर्वाद प्रदान करो'।[२२] वधू जैसे ही ग्राम में प्रवेश करती है पितर लोग उसके रथ के पास जाकर उसका स्वागत करें, आशीर्वाद प्रदान करें।[२३] ऋग्वेद में ऐसे भी कई मन्त्र हैं जिनसे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ अपनी इच्छानुसार रथ का चयन कर[२४] उस पर आरूढ़ होकर[२५] घर से बाहर भ्रमणादि के लिए जाती थीं[२६] स्त्रियाँ सभा आदि में श्रोत्री-वक्त्री रूप में जाने में स्वतन्त्र थी।[२७] सभाओं में स्त्रियाँ पुरुषों के साथ बैठकर भाषण करती थीं।[२८] बौद्धायन तथा आपस्तम्ब ने गार्गी आदि अनेक आचार्याओं का उल्लेख किया है जो प्रसिद्ध विद्वानों से शास्त्र-चर्चा करती थीं।[२९] ऋग्वेद में युवतियों के अलंकृत होकर उत्सवों में जाने के वर्णन भी मिलते हैं।[३०] इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों की सभा, समिति तथा पाठशालाओं में भाषण तथा अध्यापन की स्वतंत्रता थी अथवा कहा जा सकता है कि उन्हें भी पुरुषों के समान समस्त अधिकार प्राप्त थे।

३.शिक्षा का अधिकार-वेदों में अन्य अनेक क्षेत्रों में नारी के उत्कर्ष के साथ-साथ विद्वत्ता के क्षेत्र में भी उसका महत्त्व प्रतिबिम्बित हुआ है। अथर्ववेद में कन्याओं के लिए ब्रह्मचर्य द्वारा विद्याध्ययन का उपदेश दिया गया है, जिससे उन्हें युवा पति प्राप्त हो-**'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'**[३१] ऋग्वेद के एक मन्त्र में विद्या के प्रकाश से प्रकाशित कमनीय विदुषी स्त्री को सम्बोधित करके कहा गया है कि वह हमें प्रेरणा देने के लिए जगाये और महान् सौभाग्य के लिए प्रयत्नशील हो। वह हमें अद्भुत यशस्वी और प्रख्यात बनाने वाले धन को प्राप्त कराये-

महे नो अथ सुविताय बोध्युषो महे सौभगाय प्रयन्धि ।
चित्रं रयिं यशसं धेह्यस्मे देवि मर्तेषु मानुषि श्रवस्युम्।।[३२]

विदुषी स्त्री परिवार और समाज के उत्कर्ष का बहुत बड़ा आधार है, उसे सरस्वती इसलिए कहा गया है कि उसके अन्दर प्रशस्त विद्या-सलिल तरंगित होता रहता है।[३३] वह अपने विद्या जलों से सबके जीवनों को पवित्र करती है और सबको सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। विदुषी कन्या ही सत्पति की प्राप्ति तथा धर्म प्राप्ति के साथ-साथ प्रतिष्ठा प्राप्त करती है। शिक्षिका का रूप वेदों में माता, गुरूपत्नी या स्वतन्त्र अध्यापिका के रूप में दृष्टिगोचर होता है। माता ही प्रथम शिक्षिका होती है, विदुषी माता ही कन्या को सर्वविध सामान्य शिक्षा

---

२२. सुमंगलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। अथर्ववेद- १४.२.२८
२३. ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्। ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु।। अथर्ववेद- १४.२.७३
२४. ऋग्वेद- ४.४३.२
२५. ऋग्वेद- १.१२४.७
२६. ऋग्वेद- १.५३.२
२७. ऋग्वेद- १.१२४.८
२८. गुहा चरन्ती मनुषो न योषा समावती विदथ्येव संवाक्। ऋग्वेद- १.१६७.३
२९. बौद्धायन धर्मसूत्र- २.१.२.२१ आपस्तम्ब धर्मसूत्र- १.७.१३.९
३०. ऋग्वेद- ४.५८.८, १.४८.६, १.२४.८, ७.२.५
३१. अथर्ववेद- ११.५.१८
३२. ऋग्वेद- ७.७.७२
३३. रामनाथ वेदालंकार, वैदिक नारी प्र० ८४

देती है। घर से बाहर की शिक्षा में गुरु-पत्नियाँ ही विशेष रूप से शिक्षा का साधन रही हैं। गुरुपत्नी विविध शिक्षाओं से शिष्या के वाणी, नेत्र, चरित्र आदि को सद्धर्मानुकूल बनाती थी। पातिव्रत्य धर्म एवं यज्ञ का महत्त्व बताकर उनकी रक्षा में तत्पर रहती थी।[३४] स्त्रियों में जो उत्तम स्त्रियाँ व विदुषी स्त्रियाँ हैं, उन्हें भी कन्याओं को शिक्षित करना चाहिए।[३५] वैदिक संहिताओं के अनेक सूक्तों की द्रष्टी स्त्री ऋषि है। बृहद्देवता[३६] में स्त्री ऋषिकाओं की संख्या सत्ताईस है- जैसे घोषा, विश्ववारा, अदिति, इन्द्राणी, रोमशा, लोपामुद्रा, यमी, वाक, मेधा, श्रद्धा आदि। ब्राह्मण तथा उपनिषद्-साहित्य में भी स्त्रीशिक्षा सम्बन्धी स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, जिससे स्पष्ट है कि वेद स्त्रियों की शिक्षा को समान अवसर प्रदान करते हैं। वेदों में विभिन्न स्थलों में नारी को अभिलक्ष्य करके प्रार्थनाएं हैं। हे पत्नी! तुम हमारे लिए ज्ञान का उपदेश दो। '**त्वं विदथमावदासि**'[३७] पति को धनोपार्जन का मार्ग बताओ '**पतिं देविराधसे चोदयस्व।**'[३८] तुम हमारे घर की प्रत्येक दिशा में ज्ञान का प्रयोग करो' '**ब्रह्मापरं' युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वत:**'[३९] इन वेद वचनों से स्पष्ट है कि वेदोक्ता नारी सुशिक्षित थी। शिक्षा के क्षेत्र में उसकी स्थिति पुरुषों के समान थी।

४.स्वयंवर विवाह-वेदों में स्त्रियों का विवाहित जीवन सर्वथा अभिनन्दनीय है। वैदिक युग में विवाह एक पवित्र बन्धन का नाम था, जो अग्नि को साक्षी करके पिता और भाइयों की उपस्थिति में सम्पन्न होता था। उस समय बाल विवाह नहीं होता था। यद्यपि सामान्यरूपेण विवाह माता-पिता की आज्ञा से होता था, तथापि कन्या स्वयं भी अपना पति चुन सकती थी।[४०] उनकी इस इच्छा का माता-पिता भी समर्थन करते थे। अन्यत्र कहा गया है कि संकल्प, तपस्या, शक्ति, तप, ज्ञान आदि गुणयुक्त पुरुष को देखकर कन्याऐं उसे अपने साथ विवाह के लिए आमन्त्रित करती हैं तथा उससे सन्तान प्राप्ति की इच्छा करती हैं।[४१] ऋग्वेद में कहा गया है कि जैसे नदियाँ स्वयं समुद्र को प्राप्त होती हैं, वैसे कन्याऐं भी युवकों का वरण करती हैं।[४२] इससे स्पष्ट होता है कि कन्याओं को अपने अनुरूप पतिवरण का पूरा अधिकार था। उनकी बिना इच्छा के किसी अनुपयुक्त पात्र के साथ विवाह नहीं कराया जा सकता था। वेदों में कहा है कि स्वयंवर विधि से परस्पर विवाह करो और अपनी विद्या एवं सद्गुणों से गृहस्थाश्रम को ऊँचा बनाओ-उत्तम सन्तान उत्पन्न करो।[४३]

५.धार्मिक समानता -विवाहोपरान्त नारी की भूमिका पत्नी के रूप में आरम्भ हो जाती है। वेदों के अनुसार पत्नी गृह की स्वामिनी होती है। यज्ञादि सम्पूर्ण धार्मिक कृत्यों में वह पति की सहधर्मचारिणी होती है। वेद का यह वाक्य-पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहस्पतिस्तव' स्त्रियों के धर्माधिकार को स्पष्ट करता है। ऋग्वेद

---

३४. यजुर्वेद दयानन्द भाष्य ६.१४.१५.२५
३५. यजुर्वेद दयानन्द भाष्य भावार्थ २०.८५
३६. बृहद् देवता- २.८२.८४
३७. अथर्ववेद- १४.१.२०
३८. अथर्ववेद- ७.४६.३
३९. अथर्ववेद- १४.१.६४
४०. भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्। ऋग्वेद- १०.२७.१२
४१. ऋग्वेद- १०.१८.३.१-२
४२. युवतयो युवानं परिसन्त्यापः। ऋग्वेद- २.३५.४
४३. यजुर्वेद - ३.४१

स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार तथा यज्ञादि का सम्पादन स्पष्ट है।[४४] स्त्री को यज्ञ के सर्वोच्च ब्रह्मा पद पर प्रतिष्ठित किया है।[४५] अथर्ववेद में स्त्रियों को यज्ञीय कहकर यज्ञाधिकार प्रदान किया है।[४६] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार पत्नी के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यह तो आत्मा का अर्ध भाग होता है।[४७] ब्राह्मण तथा सूत्र साहित्य में पत्नियों के धार्मिक कृत्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि धार्मिक कृत्यों में भी स्त्री पुरुषों की सहभागिनी होती थी। कुछ धर्मान्ध कहते हैं कि स्त्रियों का यज्ञ कर्म में वेद मन्त्रोच्चारण का अधिकार नहीं है, किन्तु वेद नारी को सारे अधिकार देता है-'**यथेमा वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।**'

६.राजनैतिक अधिकार-स्त्रियों को राजनीति में भाग लेना चाहिए या नहीं उनका उसमें कितना प्रभुत्व हो तथा किस रूप में हो, इस विचारणीय विषय में वेदों का क्या आदेश है-उस पर विचार प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि स्त्रियाँ राज्यसभाओं में अपने मन्तव्यों को व्यक्त करती हैं।[४८] यजुर्वेद के एक मन्त्र में भी स्त्रियों के शासन में भाग लेने का संकेत मिलता है।[४९] ऋग्वेद के सरमा-पणि संवाद में सरमा-स्त्री जाति को इन्द्र अर्थात् राजा की दूती के रूप में व्याख्यात किया है।

मनु ने शासन के प्रसङ्ग में कहा है-राज्य शासन में योग्यता के अनुसार स्त्री-पुरुषों को बलि-वेतन देकर राजकर्म पर नियुक्त करें।[५०] वेद-संहिताओं में राज्य सञ्चालन के लिए दो संस्थाओं-सभा और समिति का वर्णन है। अथर्ववेद में सभा और समिति में क्रमशः नारी की सहभागिता का वर्णन है-'**अहं वदानि नेत् त्वं सभायां महत्वं वद।**'[५१] **यदक्षेषु वदा यत्ससमित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्याम्**[५२] यदि नारी सभा या समिति में निर्वाचित होकर सभा या समिति में जा सकती है तो वह सर्वोच्च पद को भी प्राप्त कर सकती है। उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद ने स्त्रियों को शासनाधिकार प्रदान किया है, जो तदनुसार योग्यता रखती हो, वाग्मिनी हो, शत्रुसंहार की क्षमता से युक्त हो, अपने को राष्ट्री कहने का गर्व रखती हो। इससे विपरीत स्थिति की दुर्दशा तो हम अपने देश तथा बाहर देख रहे हैं।

७.संग्राम आदि में भाग ग्रहण-वेदों में ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ युद्ध में भाग लेती थीं। जब शत्रुभय चारों ओर से मृत्यु के रूप में दिखाई देने लगता है, साहसियों का साहस, धैर्य टूटने लगता है तो एक वीर स्त्री गर्जना कर उठती है कि तुच्छ शत्रु मुझे कायर और दुर्बल समझता है। इसे नहीं मालूम कि मैं वीर की पत्नी हूँ, स्वयं भी वीरिणी हूँ। ये मरने-मारने वाले सैनिक मेरे सखा हैं-**अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते। उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा।**[५३] नारी को आत्मरक्षा में स्वयं समर्थ होना चाहिए। इसके लिए उसे युद्ध के मैदान में जाने में भी कोई भय नहीं है-'**संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव**

---

४४. ऋग्वेद- १०.१०८.४, १.३.११
४५. ऋग्वेद- ८.३३.१९ स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।
४६. अथर्ववेद- ११.१.१७.२७
४७. तैत्तिरीय संहिता- ६.१.८५
४८. (अ) अहं वदामि नेत् त्वं सभायामहं त्वं वेद। अथर्ववेद- ७.३८.४ (ब) अथर्ववेद- १२.३.५२
४९. यजुर्वेद- २०.१.१०
५०. मनुस्मृति- ७.१२५
५१. अथर्ववेद- ७.३८.४
५२. अथर्ववेद- १२.३.५२
५३. अथर्ववेद- २०.१२६.९

गच्छति।[५४] यज्ञादि कार्यों से निवृत्त होकर यह नारी युद्ध के मैदान में जाती है। वैदिक नारी कहती है- **'अहमस्मि सहमाना'**-मैं शत्रु का पराभव करने में समर्थ हूँ। यह इन्द्राणी युद्ध में हमारे आगे चलने वाली हो। तैत्तिरीय संहिता में तो यहाँ तक कह दिया है-**इन्द्राणी वै सैनायै देवता।**[५५] एक स्थान पर स्त्रियों की सेना का भी उल्लेख है-'स्त्रियो हृदास आयुधानि चक्रे किं मा करन्न बला अस्य सेनाः।'[५६] वैदिक स्त्री वीरता युक्ता है, घोरा है, अजेया है,[५७] उसका उद्घोष है कि मैं शत्रु रहित हूँ, शत्रु संहारिका हूँ, विजयनी हूँ।[५८] योद्धाओं ने स्त्रियों से अर्थात् अपनी पत्नियों से निवेदन किया है कि बड़े-बड़े युद्धों में वे उन्हें शक्ति प्रदान करें व साथ रहें।[५९] स्त्री को असंख्यात पराक्रम युक्त बताया है।[६०]

८.**स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार**-वेद स्पष्ट कहते हैं कि पति की सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार होता है। विवाह के समय पति प्रतिज्ञा करता है कि हे पत्नी! मैं तुमसे छिपाकर कुछ नहीं खाऊँगा।[६१] तुम्हारे अधिकारों की अवहेलना कर स्वार्थ सिद्ध नहीं करूंगा। अपनी सम्पत्ति का वैसे प्रयोग करूंगा, जिससे तुम किसी प्रकार के कष्ट को प्राप्त न करो। मेरी मृत्यु के बाद भी तुम दुःख को प्राप्त न करो-ऐसी व्यवस्था करूंगा।-

यद्यज्ञाया पचति त्वत्परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः।
सं तत्सृजेथां सह वां तदस्तु सम्पादयन्तौ सह लोकमेकम्।।[६२]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा है-**'परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्।'**[६३] यह विवेचन पति की सम्पत्ति में पत्नी के अधिकार को सिद्ध करता है। उसी प्रकार पिता की सम्पत्ति में भी पुत्री के अधिकार को वेदों में बतया गया है। यास्क ने निरुक्त के तृतीय अध्याय में इस विषय में प्रचुर विचार किया है। उसकी पुष्टि करते हुए मनुस्मृति में भी कहा है-

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः ।
मिथुनानां विसर्गादौ मनः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।।

जिस घर में पुत्र है ही नहीं वहाँ तो कन्या का अधिकार स्पष्ट ही है, जहाँ पुत्र-पुत्री दोनों हैं, वहाँ पर भी दोनों का अधिकार वेदों को अभिमत है।[६४] ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के एक मन्त्र में उपमा अलंकार के माध्यम से दोनों के समानाधिकार को प्रतिपादित किया है-

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।

---

५४. अथर्ववेद- २०.१२६.१०
५५. तैत्तिरीय संहिता- १२.२८
५६. ऋग्वेद- ५.१०.९
५७. ऋग्वेद- १.१६७.४
५८. ऋग्वेद- १०.१५९.५
५९. यजुर्वेद दयानन्द भाष्य- ११.५०
६०. यजुर्वेद दयानन्द भाष्य- १३.२६
६१. न स्तेयमद्मि- अथर्ववेद- १४.१.५७
६२. अथर्ववेद- १२.३.३९
६३. ऋग्वेद- १०.१०२.११
६४. ऋग्वेद- १.१२४.७ अथर्ववेद- १.१७.१

वङ्क्धि प्रकेतमुप मास्या भर दुद्धि भागं तन्वो३ येन मामहः॥७॥[६५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक युग में जो स्थान पुरुष का था वही स्थान स्त्री का भी था। वर्तमान में जब स्त्रियाँ पुरुषों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चल रहीं हैं, नित-नवीन क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं। कहीं वे पर्वतों के शिखरों को पद-दलित कर रही हैं तो कहीं अगाध समुद्रों में गोते लगा रही हैं। कहीं विमान उड़ा रही हैं तो कहीं बम-वर्षकों से शत्रुओं के हौंसले पस्त कर रही हैं। कहीं झांसी की रानी बनकर शत्रु विनाश में संलग्न है। लक्ष्मीबाई, सुभाषचन्द्र बोस ने महिलाओं की सेना तैयार की। कैकेयी जैसी स्त्रियाँ रामायण काल में भी अपने पतियों के साथ युद्ध में जाती रही हैं। उन्हें यह परम्परा वैदिक नारियों से विरासत से मिली थी, जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करती रही है।

स्त्री स्वातन्त्र्य या समानता अधिकार के नाम से पाश्चात्य देशों का अन्धानुकरण करते हुए भारत में जो उच्छृंखलता चल रही है और उसके जो दुष्परिणाम स्त्रियों को भोगने पड़ते हैं, उससे सब परिचित हैं। वेद ने नारी को शालीनता, ज्ञान, त्याग, ममता की मूर्ति कहा है, उसे परिवार और समाज में साम्राज्ञी पद पर प्रतिष्ठित किया है। जो हाथ हिण्डोले हिला सकते हैं, वे राष्ट्र की बागडोर भी सम्भाल सकते हैं- वेद इसका पक्षधर प्रतीत होता है। सर्वविध ज्ञान-विज्ञान तथा अधिकारों से सम्पन्न नारी समाज एवं राष्ट्र के नवनिर्माण का आधार है। उसका यथोचित सम्मान करें- यह वेद का शाश्वत एवं सार्वभौम सन्देश है। मनु ने भी कहा है-**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**

---

६५. ऋग्वेद- २.१७.७

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०६५-७७) ISSN 0974 – 8830

वेदोपवर्णित यम योगाङ्गविषयक-सिद्धान्तों की उपनिषद्वाङ्मय में विस्तृति

डॉ०नरेश कुमार[१]

यम योगाङ्ग की परिभाषा, प्रकार एवं लक्षण

योग के अष्टविध अङ्गों में यम को प्रथम स्थान पर रखा गया है। यम योगाङ्ग योगसाधकों के लिए ही नहीं वरन् मानवमात्र के लिए भी अनुकरणीय है। अष्टाध्यायी में यम उपरमे धातु से अप् प्रत्यय करके यम शब्द की निष्पत्ति मानी गयी है।[२] जबकि पातञ्जल योगप्रदीपिकाकारानुसार यम शब्द की उत्पत्ति यम उपरमे धातु से घञ् प्रत्यय करने से होती है। यम का अर्थ है उपरमण का साधन अर्थात् वे तत्त्व जो मनुष्य को हिंसादि कर्मों अथवा विषयों से निवृत्त करें वे यम कहलाते हैं। **उपरमन्ते निवर्त्यन्ते विषयेभ्यो मनसेन्द्रियाणीति यमास्ते चाहिंसादयः पञ्चेति।**[३] उपरमे का अर्थ है-निवृत्ति। यम के द्वारा इन्द्रियों को विषयों से पृथक् किया जाता है। इस प्रकार यम निषेधात्मक/निवृत्तिपरक योगाङ्ग है अर्थात् बाह्यविषयों की ओर से मन को संयमित करना अर्थात् अपने मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखना ही यम है। यम धातु का एक अन्य अर्थ नियमन भी है, जिसके अनुसार **यम्यते, नियम्यते चित्तम् अनेन इति यमाः** ऐसा निर्वचन होगा अर्थात् जिससे चित्त पर नियन्त्रण किया जाये उसे यम कहते हैं।[४] यम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है-**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।**[५] अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। परन्तु यमों की संख्या के विषय में विभिन्न आचार्यों में मतवैभिन्य दृष्टिगोचर होता है। भागवतपुराण में यमों की संख्या बारह,[६] पाराशर संहिता में दस[७] मानी गयी है। विष्णुपुराण तथा मनुस्मृति में यमों की संख्या योगदर्शन के समान ही मानी गयी है।[८] बौद्धदर्शन में यमों को पञ्चशील नाम से अभिहित किया गया है।[९] इस प्रकार द्रष्टव्य है कि सभी आचार्यों ने महर्षि पतञ्जलि द्वारा व्याख्यापित एवं निर्दिष्ट यमों (अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह) को आवश्यक रूप से ग्रहण किया है। यमविषयकनिरूपण से पूर्व वेदों एवं उपनिषदों में प्राप्त यमविषयकावधारणा पर विचार करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

वेदों में यम शब्द का प्रयोग-

वैदिकवाङ्मय में सभी यमों का एक मन्त्र अथवा सूक्त में एक साथ निरूपण नहीं किया गया है।

---

१ प्रोजेक्ट फैलो, वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)।
२ अष्टा०३/३/६३
३ पा० रह०पृ०-२४७
४ वेदों में यम का स्वरूप (शोधपत्र)-डॉ० देवेन्द्र सिंह सोलङ्की, पत्रिका पावमानी, वर्ष-२००६, पृ०१२३
५ योग०द०-२/३०
६ अहिंसा सत्यमस्तेयसङ्गो....॥ भागवत सं०३३ अ०२० श्लोक २३
७ अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यक्षमा धृतिः। दयाऽर्जवं मिताहारः शौच च एव यमाः दशः॥ पा०सं०
८ मनु०४/११, वि०पु०६/७/३६
९ बौद्धदर्शन मीमांसा परिच्छेद पृष्ठ-५६ (आचार्य बलदेव उपाध्याय)

अपितु प्रकरणानुसार इनके स्वरूप का ज्ञान होता है। यजुर्वेद के अधोलिखित मन्त्र में कहा गया है कि हे परमात्मा! आप यम-नियमों द्वारा ग्रहण करने योग्य हो-

उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमऽएष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि। अथा नऽइन्द्रऽइद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत्।।[१०]

वेदों में अनेक स्थलों पर यम शब्द का प्रयोग किया गया है उनमें से कुछ स्थल यहाँ द्रष्टव्य हैं-

शकेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि श्रवो देवभक्तं दधानाः।[११] **आ गा आजदुशाना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे।**[१२] **यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।**[१३] **यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः।**[१४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में अनेक स्थलों पर यम का प्रयोग प्राप्त होता है।

उपनिषद्वाङ्मय में यमनिरूपण-

उपनिषद्-वाङ्मय में यमादि की चर्चा योगदर्शन से कुछ भिन्न रूप में प्राप्त होती है। कुछ उपनिषदों में पाँच-पाँच के स्थान पर दस-दस यम-नियम माने गये हैं तथा योगदर्शनान्तर्गत परिगणित नियमों को भी यमों में समाविष्ट कर दिया गया है। यथा शाण्डिल्योपनिषद्, जाबालोपनिषद् तथा त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में समानरूप से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताक्षर तथा शौच इनकी गणना यमों के अन्तर्गत की है।[१५] इन तीनों उपनिषदों में नियमों के अन्तर्गत तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा व्रत इन दस की गणना की गयी है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में देह तथा इन्द्रियों में वैराग्यभावना को यम[१६] तथा परतत्त्व परमेश्वर में अनुरक्ति नियम[१७] कहा गया है। नारदपरिव्राजकोपनिषद् ४.१०-१२ में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनौद्धत्य, अदीनत्व, प्रसाद, स्थैर्य, आर्जव, अस्नेह, गुरुशुश्रूषा, श्रद्धा, क्षान्ति, दम, शम, उपेक्षा, धैर्य, माधुर्य, तितिक्षा, करुणा, ह्री, ज्ञान, विज्ञान, योग, लघु आहार तथा धृति इनकी गणना स्वधर्म कहकर की है। यहाँ पर इन्हें यम-नियमादि नाम से नहीं पुकारा गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में यम-नियम के पृथक्-पृथक् भेद परिगणित न करके यम के विषय में कहा है कि ज्ञानेन्द्रियों का संयम करते हुए **सर्वं वै ब्रह्म** की भावना करना यम है।[१८] तथा नियम से किये जाने वाले परानन्द को नियम कहते हैं।[१९]

---

१० यजु०७/२५

११ ऋ०१.७३.१०

१२ ऋ०१.८३.५

१३ ऋ०१.१६३.२, यजु०२९.१३

१४ ऋ०१०.१३५.१

१५ अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृतिमिताहारशौचं चैव यमा दशः।। शां०उप०१.१, जा०उप०१.१ तथा त्रिशिखि०उप०३३

१६ देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम उच्यते बुधैः। त्रिशिखि०उप०२८

१७ अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः। त्रिशिखि०उप०२९

१८ सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः। यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः।। तेजो०उप०१.१७

१९ नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः। तेजो०उप०१.१८

१. अहिंसा-

अहिंसा को सभी यमों का आधार माना गया है। अहिंसा के विषय में विस्तृत चर्चा से पूर्व हिंसा एवं अहिंसा के अन्तर को जान लेना अत्यावश्यक है। हिसि धातु से **इदितो नुम धातो:**[२०] इस सूत्र से नुम प्रत्यय करने पर तथा **अजाद्यतष्टाप्**[२१] इस सूत्र से टाप् प्रत्यय करने से हिंसा शब्द की व्युत्पत्ति होती है। हिंसा का सामान्य अर्थ है-प्राणी को हानि पहुँचाना या उसको शरीर से वियुक्त कर देना। हिंसा शब्द से नञ् समास करने पर अहिंसा शब्द की निष्पत्ति होती है। जिसका अर्थ है-हिंसा का सर्वथा अभाव। महर्षि व्यास ने अहिंसा को मनुष्य का सर्वोपरि धर्म माना है।[२२] अहिंसा के परिपालन हेतु आवश्यक है कि व्यक्ति अहिंसा के स्वरूप से भलीभाँति परिचित हो ताकि वह स्वविवेकानुसार दोनों (हिंसा एवं अहिंसा) के सम्यक् भेद को जान सके। महर्षि पतञ्जलि के मतानुसार अहिंसा साधना, वैराग्य साधना का एक प्रकार है। अहिंसा को सब यमाङ्गों में प्रमुख मानने का मुख्य कारण यह है कि अहिंसा के आगे जितने भी यम, नियमादि हैं वे सब अहिंसामूलक हैं। जैसे-जैसे सत्यादि यमों/शौचादि नियमों का पालन किया जाता है वैसे-वैसे अहिंसा पुष्टता को प्राप्त होती जाती है। अत: अहिंसा का ज्ञान परमावश्यक है।[२३] यदि अहिंसा का ज्ञान नहीं होगा तो यम-नियमादि विषयक ज्ञान भी एक निष्फल व्यापार मात्र है। अहिंसा को परिभाषित करते हुए व्यास जी ने लिखा है कि सभी प्राणियों से सर्वदा तथा सर्वथा द्रोहभावना न करना ही अहिंसा है। जैसा कि अधोलिखित श्लोक में स्पष्ट है-

अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानां अनभिद्रोह:। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूला:। तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते।।[२४]

हिंसा को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। यथा-१. किसी भी जीव के प्राण हनन करना या अन्य किसी भी प्रकार से शारीरिक पीड़ा पहुँचाना, शारीरिक हिंसा की श्रेणी में आता है, २. किसी भी प्राणी को मन-वचन-कर्म से मानसिक कष्ट देना मानसिक हिंसा की श्रेणी में आता है एवं ३. आध्यात्मिक हिंसा-स्वयं को अथवा किसी अन्य जीव के अन्त:करण को मलिन करना आध्यात्मिक हिंसा कहलाता है। इसी प्रसङ्ग में ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो भी आत्मघाती जीव हैं, अन्त:करण को मलिन करने वाले हैं, वे मरकर उन लोकों में जाते हैं, जो असुरों के लोक हैं तथा जो गहन अन्धकार से ढके हुए हैं-**असुर्या नाम ते लोका...जना:।।**[२५]

वेदों में अहिंसाविषयक चिन्तन-

अहिंसा के विषय में वेदों में अनेक स्थलों पर अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ मन्त्रों का उल्लेख किया जा रहा है। यथा-

---

२० अष्टा०७/१/५८
२१ अष्टा०४/१/४
२२ अहिंसा परमो धर्म:-महा० (अनु०पर्व) ११५/१
२३ योगविज्ञान प्रदीपिका-पृ०१३२, डॉ० विजयपाल शास्त्री
२४ व्यास भाष्य-२/३०
२५ ईश०उप०-३

मा स्रेधत सोमिनः[२६] (हे सोमस्वरूप परमेश्वर को चाहनेवाले साधको! तुम किसी की हिंसा मत करो), **न स्रेधन्तं रयिर्नशत्**[२७], (हिंसक वृत्तिवाला व्यक्ति मोक्षरूपी अनुपम सम्पदा को कदापि पा नहीं सकता। इसके विपरीत जो अन्याय-अनीति से स्वार्थवश किसी की हिंसा नहीं करते, वही धर्मात्मा, शक्तिशाली होकर निर्भयता से विजय पाते हैं), **तरणिरिज्जयति क्षेति पुण्यति न देवासः कववे॥**[२८] **विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्**[२९]-(हे प्रभो! आप सम्पूर्ण द्वेषयुक्त कर्मों को हम से पृथक् कर दीजिए)। **अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः। आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरु णः शर्म यच्छता स्वस्तये॥**[३०] (हे विद्वान्! अत्याचार करनेवाले, दान न देने वाले तथा दुःख देने वाले द्वेषभावों को हम से दूर करके कल्याण का मार्गप्रशस्त करो), **मा हिंसी पुरुषं जगत्**[३१]-(इस जगत् में मनुष्यों को मत मारो, उनकी हिंसा मत करो), **अग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्।**[३२]-(इस परम व्योम में हिंसा मत करो।), **गां मा हिंसीर्दिपादं विराजम्।**[३३]-(विराट् अखण्ड पृथिवी, वाणी और गाय को मत मारो), **इमं मा हिंसीरदितिं पशुम्।**[३४]-(इस दो पैर वाले पशु को मत मारो), **यदि नो गां हंसियद्यश्वं यदि पुरुषम्। त्वं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसोऽअवीरहा॥**[३५]-(यदि तुम हमारे गौ, अश्व और पुरुष को मारोगे तो तुम्हें हम पीटेगें), पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।[३६]-(मनुष्य-मनुष्य की सब ओर से रक्षा करे), **स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।**[३७]-(हमारे माता-पिता, गाय आदि पशु और संसार भर के मनुष्य सुखी रहें अर्थात् तुम्हें कोई कष्ट न पहुँचाये), **मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वम्।**[३८]-(मुझे मित्रवत् स्नेह की दृष्टि से देखो), **दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याऽहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥**[३९]-(हे प्रभो! कृपा करो, मुझे सभी प्राणी मित्र की दृष्टि से देखें। मैं भी उन्हें मित्र की दृष्टि से देखूँ-अर्थात् हमारा आपस में वैर कभी न हो), **सहृदयं साम्मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।**[४०] अर्थात् हे मनुष्यो! मैं (ईश्वर) तुमको समान हृदय वाला, एक सा सौहार्दयुक्त, प्रसन्न मन वाला और घृणा-द्वेष से रहित बनाता हूँ। ऐसे अनेक मन्त्र वेदों में यत्र-तत्र विद्यमान हैं, जिसमें अहिंसा अथवा प्राणियों के प्रति मैत्री का पुनीतभाव उपदिष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में अहिंसा-सम्बन्धित पर्याप्त चिन्तन हुआ है।

---

२६ ऋ०७.३२.९
२७ साम०८६८, ऋ०७.३२.२१
२८ ऋ०७.३२.९
२९ ऋ०४.१.४
३० ऋ०१०.६३.१२
३१ यजु०१६.३
३२ यजु०१३.४२
३३ यजु०१३.४३
३४ यजु०१३.४७
३५ अथर्व०१.१६.४
३६ यजु०२९.५१
३७ अथर्व०१.३१.४
३८ यजु०५.३४
३९ यजु०३६.१८
४० अथर्व०३.३०.१

उपनिषदों में अहिंसा विषयक चिन्तन-

ईशादि उपनिषदों में अहिंसा का पृथक् रूप में अधिक वर्णन प्राप्त नहीं होता है तथापि बृहदारण्यकोपनिषद् में एक कथा प्राप्त होती है कि प्रजापति ने द अक्षर के द्वारा ही देवों, मनुष्यों तथा असुरों को क्रमशः इन्द्रियदमन, दान एवं दया का उपदेश दिया। असुर ही हिंसारत रहते थे। प्रजापति के उपदेश से उन्होंने भी हिंसा का परित्याग कर दिया।[४१] ईशादि से भिन्न अन्य उपनिषदों में योगदर्शन के समान ही अहिंसा शेष यमों से महत्त्वपूर्ण बतलाया गया है।[४२] इनमें कहीं-कहीं पर अहिंसा की परिभाषा भी दी गयी है जो कि योगदर्शन के अनुकूल नहीं है। यथा जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि वेदोपवर्णित हिंसा को छोड़कर कायिक, वाचिक तथा मानसिक इन तीन प्रकार की हिंसा एवं अहिंसा होती है।[४३] इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में भी वेदों के समान अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है।

२. सत्य-

वस्तु के यथार्थ ज्ञान को ही सत्य कहा जाता है। मन-वचन-कर्म से समस्त जीवों के प्रति असत्याचरण कदापि नहीं करना चाहिए। महर्षि व्यास ने सत्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि जैसा देखा, अनुमान किया तथा सुना हो, उसे वैसा ही वाणी से कथन करना एवं मन से धारण करना ही सत्य है। परन्तु यह मानव कल्याणार्थ होना चाहिए।[४४] जीवन की निर्मलता तथा मानसिक सन्तुलन की उपलब्धता सत्य का ही प्रतिफल है। पूर्णरूपेण सत्य की ही सिद्धि हो जाने पर क्रिया एवं फल साधक के आश्रित हो जाते हैं।[४५] भाष्यकार व्यासानुसार जो जीवन में सत्य को प्रतिष्ठित करते हैं, उन साधकों की वाणी कभी भी निष्फल नहीं होती।[४६] महर्षि मनु ने अप्रिय सत्य बोलने का निषेध किया है-

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥[४७]

इसी कारण से प्रत्येक मनुष्य द्वारा अन्य मनुष्यों के हितार्थ भद्र व्यवहार करने का आदेश दिया गया है।[४८] महाभारत में भी सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्[४९]-कहकर हितकारी सत्य के सम्भाषण पर बल दिया गया है। महर्षि दयानन्द ने भी आर्यसमाज के चतुर्थ नियम में लिखा है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि वाणी वही सत्य कही जा सकती है जो वञ्चना अथवा भ्रान्ति को उत्पन्न न करे तथा जो सम्पूर्ण भूतों के उपकार हेतु उच्चारित की गयी हो।

---

४१ द इति-दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति॥ बृ०उप०५.४.२
४२ अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या भवति नापरे। दत्तात्रेय योगशास्त्र, श्लो०६५
४३ वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधनः। कायेन मनसा वाचा हिंसाऽहिंसां च नान्यथा॥ जा०द०उप०१.७
४४ सत्यं यथार्थे वाङ्मनसी, यथादृष्टं यथाऽनुमानितं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसङ्क्रान्तये वागुक्ता, सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यो०द०२/३० पर व्या०भा०
४५ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। यो०द०२.३६
४६ अमोघाऽस्या वाग्भवति॥ व्यास भा० २२५
४७ मनुस्मृति ४.१३८
४८ भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद् भद्रमित्येव वा वदेत्। मनुस्मृति ४.१३९
४९ महा०शां०प०३२६.१३

वैदिकवाङ्मय में सत्यविषयकावधारणा-

वैदिकवाङ्मय में सत्य का क्षेत्र अति गहन व विस्तृत है। सत्य का आचरण मन, वचन तथा कर्म तीनों प्रकार से ही पालन करने योग्य है। जैसा ज्ञान आत्मा में है, तदनुसार ही मन तथा जैसा मन में है, वैसा ही वाणी से कहना सत्य कहलाता है।[५०] सत्य और ऋत दोनों ही पृथिवी को धारण किये हुए हैं।[५१] यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र में योगी साधक प्रतिज्ञा करता है कि हे व्रतों के पालक परमेश्वर! मैं सभी पुरुषार्थों के लिए सत्य का पालन करूँगा तथा साथ ही साथ मिथ्याचरण से बचूँगा। यथा-

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।।[५२]

मानसिक, वाचिक तथा कायिक ये सत्य के भी तीन भेद होते हैं। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर आदि से रहित शुद्ध मन से वाणी में अथवा व्यवहार में लाना मानसिक सत्य कहलाता है। जो साधक मन के अनुसार वाणी का व्यवहार करता है वही यज्ञ के महत्त्व को जानता है।[५३] जो मनुष्य सत्य ज्ञान एवं कर्म की प्रशंसा करता हुआ सरल मार्ग में ध्यान करता है, वही मेधावी के पद को धारण करता है।[५४] क्रोध, आवेश एवं अहंकार में बोले गये वचनों को त्यागकर सत्य एवं मधुर वचन बोलना वाचिक सत्य कहलाता है। ऋग्वेद में एक अन्य स्थल पर स्पष्ट निर्देश है कि सामान्य मनुष्य विद्वानों का अनुसरण कर सदा सत्य ही बोलें।[५५] पुनः आगे कहा गया है कि सौभाग्योदय के लिए सत्य का वरण करना श्रेयस्कर है।[५६] जो व्यक्ति सत्य-पवित्र वाणी के आश्रय स्थल सत्य का प्रचार करता है वही सत्कार्य है।[५७]

उपनिषद्वाङ्मय में सत्यविषयकावधारणा-

उपनिषद्वाङ्मय में सत्य पर अत्यधिक बल दिया गया है। मुण्डकोपनिषद् २.१.४ तथा ३.१.५ में सत्य को ब्रह्मप्राप्ति के साधनों में प्रमुख माना गया है। इस उपनिषद् में अन्यत्र यहाँ तक कह दिया गया है कि सत्य की सर्वदा विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य के द्वारा ही देवयान पथ विस्तृत होता है तथा ऋषियों की समस्त साधना का अवलम्बन सत्य ही है। जैसा कि अधोलिखित मन्त्र में कहा गया है। यथा-

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयोह्याप्तकामाः यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।[५८]

छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्म का नाम सत्य बताया गया है।[५९] तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य समावर्त्तन संस्कार के समय स्नातक को किसी भी समय किसी भी अवस्था में सत्य की उपेक्षा न करके सर्वदा सत्य-

---

५० यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते सं छायया दधिरे सिध्रयाप्स्वा। ऋ०५.४४.६
५१ सत्यं बृहदृत्तमुग्रं दीक्षातपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।। अथर्व०१२.१.१
५२ यजु०१.५
५३ नि गव्यता मनसा। ऋ०३.३१.९
५४ ऋतं शसन्त ऋजु दीध्याना। ऋ०१०.६७.२, अथर्व०२०.९१.२
५५ सत्यमूचुर्नर एवाहि चक्रू रनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम्। ऋ०४.३३.६
५६ अवोचाम महते सौभगाय सत्यम्। ऋ०७.५९.५
५७ ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति.....शुचमानं आयो। ऋ०४.२३.८
५८ मुण्ड०उप०३.१.६
५९ तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति। छां०उप०८.१.४

सम्भाषण का उपदेश देता है।[६०] इसी प्रकार छात्र तथा आचार्य के लिए विद्याध्ययन काल के प्रारम्भ में बोला जाने वाला उपदेश है-**ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि**-छान्दोग्योपनिषद् में उपलब्ध कथा के अनुसार सत्य बोलने के कारण ही सत्यकाम को ऋषि ने यह नाम दिया था। बृहदारण्यकोपनिषद् में सत्य को ही धर्म माना गया है।[६१] इस प्रकार स्पष्ट है कि उपनिषद्वाङ्मय में भी वैदिकवाङ्मय के सदृश सत्य सम्भाषण पर विशेष बल दिया गया है।

३. अस्तेय-

अस्तेय को यमाङ्गों में तृतीय स्थान प्रदान किया गया है। अस्तेय का सामान्यत: अर्थ होता है-स्तेय या चोरी का त्याग। शास्त्रोक्तविधि के विरुद्ध दूसरों के द्रव्य (धन) को ग्रहण करना स्तेय कहलाता है। इसके विपरीत मनसा-वचसा-कर्मणा किसी अन्य के धन के ग्रहण करने की इच्छा का सर्वथा अभाव अस्तेय कहलाता है। भाष्यकार ने अस्तेय का लक्षण किया है-

स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परत: स्वीकरणम्। तत्प्रतिषेध:, पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति।।[६२]

अस्तेय की प्रतिष्ठा होने पर उस व्यक्ति को जगत् का कोई भी पदार्थ अप्राप्य नहीं रहता। उसे सब पदार्थ अपने पास उपस्थित से प्रतीत होने लगते हैं।[६३]

वैदिकवाङ्मय में अस्तेयविषयकचिन्तन-

वैदिकवाङ्मय में अस्तेय शब्द का प्रयोग देखने में नहीं आया है, परन्तु स्तेन, स्तेय, दस्यु तथा तस्कर जैसे शब्दों का प्रयोग देखा जा सकता है। ये शब्द वहाँ चोर, चोरी, चोरी करनेवाला, डाकू, लुटेरा, हिंसक जैसे निन्द्य अर्थों में प्रयुक्त हैं। साथ ही साथ वहाँ पर कुत्सित कर्मों के करने वालों को अपने से दूर करने, दण्डित करने तथा यहाँ तक कि उनका वध करने का विधान है। इसी से अर्थापत्ति द्वारा विदित होता है कि चोरी, लूटपाट जैसे दुष्कर्मों को न करने अर्थात् अस्तेय की वहाँ शिक्षा दी गयी है। इस प्रसङ्ग में कुछ मन्त्रों का यहाँ पर उल्लेख किया जा रहा है-

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्।
रिपुः स्तेन: स्तेयकृद् दभ्रमेतु निषा हीयतां तन्वा तना च।।[६४]

हे अग्निदेव! जो हमारे अन्न के रस को नष्ट करना चाहता है, जो घोड़ों, गायों और शरीरों अर्थात् सम्बन्धी जनों को हानि पहुँचाना चाहता है, वह दुष्ट शत्रु है और चोरी करनेवाला चोर है। उसे और उसकी सन्तान को ऐसा करने से रोका जाये अथवा शारीरिक दण्ड दिया जाये, जिससे वह चोरी इत्यादि अपराध करना सदा के लिए छोड़ देवे।

यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह।

---

६० सत्यं वद। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। तैत्ति०उप०१.१०.१
६१ यो वै स धर्म: सत्यं वै तत्। तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति। बृहद्०उप०१.४.१.४
६२ यो०सू०२/३० पर व्यासभाष्य
६३ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। यो०द०२.३७
६४ ऋ०७.१०४.१०

स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद् वरुण वाह्यस्मान्॥[६५]

हे राजन्! जो मुझे साथी अथवा मित्र बनकर स्वप्न में डराता है, वह चाहे चोर या भेड़िये के समान हिंसक हो, उससे हे वरुण! आप मेरी रक्षा करो।

मा नः स्तेन ईशत माघशंसः।[६६] **मा वः स्तेन ईशत माघशंसः। परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः॥**[६७]

हमारे ऊपर कोई चोर या पापी व्यक्ति शासन न करने पावे।

ऋग्वेद में, स्तेन शब्द का रिपु शब्द के साथ अनेक बार प्रयोग हुआ है और ये चोर तथा शत्रु दोनों ताड़ने, तापन और मारण तथा वर्जन के योग्य कहे गये हैं। यथा-

नेत्त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति। (ऋग्०५.७९.९), **अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम्।** (ऋग्०६.५१.१३), **स्तेना अदृशन् रिपवो जनासोऽज्ञातकेता वृजिना अभूवन्।** (ऋग्०५.३.११), **मा नः स्तेनेभ्यो ये अभिद्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधः।** (ऋग्०२.२३.१६)।

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में **मा वः स्तेन ईशत माघशंसः**, सोलहवें अध्याय के बीसवें मन्त्र में **स्तेनानां पतये नमः** तथा तीसवें अध्याय के तेरहवें मन्त्र में **ऋतये स्तेनहृदयं वैरहत्याय पिशुनम्** इत्यादि रूपों में तीन स्थानों पर स्तेन शब्द का श्रवण होता है और सर्वत्र चाहे वह चोर हो, चोरों का मुखिया हो अथवा चोरी की प्रवृत्तिवाला हो, छली, कपटी, वैर रखकर हत्या करने वाला ही क्यों न हो, सबको शक्तिहीन करने और दण्डित करने की बात मन्त्र में कही गयी है।

इसी प्रकार सामवेद तथा अथर्ववेद में भी एतद्विषयक मन्त्र प्राप्य हैं। पूर्वोक्त मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है कि अस्तेय की भावना का मूल वेदों से ही धर्मशास्त्रों एवं योगशास्त्र में आया है।

उपनिषद्वाङ्मय में अस्तेयविषयकचिन्तन-

उपनिषद्वाङ्मय में भी अस्तेय के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि मनसा, वचसा और कर्मणा चोरी न करना ही अस्तेय है। यहाँ केवल द्रव्य से तात्पर्य धन नहीं है अपितु बलहीन को दबाना, अधिकार छीनना, कर्त्तव्य पूर्ण न करना, रिश्वत लेना, मिलावट इत्यादि भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। इस कारण तृण व काञ्चन किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिए।[६८]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार वैदिकवाङ्मय में स्तेय का निषेध करते हुए अस्तेय का महत्त्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार उपनिषद्वाङ्मय में भी अस्तेय की महत्ता को स्वीकार करते हुए इसे योगीसाधक का एक आवश्यक गुण स्वीकार किया गया है।

४. ब्रह्मचर्य-

उपयोगिता की दृष्टि से ब्रह्मचर्य योगीसाधक का एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण गुण है। यमों में इसे चतुर्थ स्थान पर रखा गया है। ब्रह्मचर्य के विषय में विस्तृत चर्चा से पूर्व उसकी उत्पत्ति एवं अर्थ को जानना

६५ ऋ०२.२८.१०

६६ ऋ०२.४२.३

६७ ऋ०६.२८.७

६८ अन्यदीपे तृणे काञ्चने मौक्तिकेऽपि वा। मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः॥ जाबाल०उप०

आवश्यक है। भ्वादिगण की **बृहि वृद्धौ** धातु से निष्पन्न[६९] ब्रह्म शब्द का अर्थ है-जो बढ़ा हुआ है वह ब्रह्म, ईश्वर, वेद, तत्त्व या तप। इसके अतिरिक्त ब्रह्म शब्द का प्रयोग ओ३म्[७०], ब्राह्मण, मोक्ष, ब्रह्मचर्य, अध्यात्मविद्या, ब्राह्मणग्रन्थ, सम्पत्ति, भोजन, सत्य इत्यादि अर्थों में हुआ है। चर धातु जिससे चर्य शब्द बना है वह गति एवं भक्षण अर्थवाली है। अत: ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ हुआ ब्रह्म-परमात्मा तथा वेद में विचरण करना और वीर्य का रक्षण अर्थात् उसे अपने अन्दर धारण करना। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की पूर्ण परिभाषा हुई-ब्रह्मप्राप्ति हेतु, वेदाध्ययन करते हुए अष्टविध मैथुन त्यागपूर्वक व्रत धारण करना-उपस्थेन्द्रिय का संयम, स्त्री-संभोग न करना।

व्यासभाष्य में ब्रह्मचर्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि जितेन्द्रिय रहते हुए उपस्थेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य कहलाता है।[७१] मनुष्य की उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य सर्वोत्कृष्ट तप है। ऊर्ध्वरेता मनुष्य देवतुल्य होता है।[७२] अब्रह्मचारी का जीवन भी मरण के समान होता है।[७३] क्योंकि वह हमेशा अशक्त और असमर्थ ही रहता है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही शासन करने में समर्थ होता है।[७४] रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र क्रमश: शरीर में वृद्धि पाते हैं।[७५] योगदर्शनकारानुसार **ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभ:**[७६] अर्थात् ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है। हठयोगप्रदीपिकार कहते हैं कि शुक्र सम्पूर्ण शरीर में उस प्रकार व्याप्त है, जैसे दूध में मक्खन और ईख में गुड़।[७७] इसी कारण ब्रह्मचारी के सम्पूर्ण शरीर और बुद्धि में विलक्षणता आती है। विषयी व्यक्ति के शरीर व बुद्धि दोनों का नाश हो जाता है।[७८]

४. वेदोपवर्णित ब्रह्मचर्यविषयकचिन्तन एवं उसका स्वरूप-

वेदों में ब्रह्मचर्य के विषय में अनेक स्थानों पर कथन किया गया है। वहाँ ब्रह्मचर्यपालन के तीन प्रकार बताये गये हैं। जो विद्याध्ययन के साथ चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है, उनको वसु संज्ञा प्रदान की गयी है।[७९] जो ब्रह्मचारी चवालीस वर्षपर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, उनको रुद्र ब्रह्मचारी कहा गया है।[८०] तथा जो ब्रह्मचारी अड़तालीस वर्ष का होने तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करता है, उसे आदित्य ब्रह्मचारी की संज्ञा प्रदान की गयी है।[८१] चौबीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य के लिए प्रतिदिन हवन करना[८२] प्राणायाम,

---

६९ बृंहर्नोऽच्च, बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म ईश्वरो वेदस्तत्त्वं तपो वा। उणादि०४.१४६
७० द्रष्टव्य-ब्रह्म शब्दस्य अर्था: (सं०हि०कोष, पृ०४७८)
७१ ब्रह्मचर्यगुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयम:। यो०द० (व्यास भाष्य) २.३०
७२ न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्। ऊर्ध्वरेता भवेद्यस्तु स देवो न तु मानुष:॥ पा०यो०प्र०पृ०३६६
७३ मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्। हठ०प्र०३.८८
७४ जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापितुं प्रजा:। मनु०स्मृ०७.४४
७५ रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेद: प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जाया शुक्रसंम्भव:॥ सुश्रुत संहिता
७६ योग०द०२.३८
७७ यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्च इक्षुरसे यथा। एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम्॥ हठ०यो०प्र०
७८ राजयोग-स्वामी विवेकानन्द, भूमिका।
७९ ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विष: स देवानां भवत्येकमङ्गम्। ऋ०१०.१०९.५
८० (क) सोमं रुद्रस्त्वावर्त्तयतु॥यजु०४.२०, (ख) इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवत:। यजु०६.३२
८१ (क) आदित्या पञ्चदशाक्षरेण। यजु०९.३४, (ख) आदित्यासि। यजु०४.२१
८२ आदङ्गिरा प्रथमं दधिरे.....ये सुकृत्यया। ऋ०१.८३.४

व्यायाम आदि द्वारा अंगों को सुदृढ़ बनाना व जितेन्द्रिय होना[८३] दुर्बुद्धि दुष्टों व दुर्गुणों को छोड़कर यथायोग्य जल व दूध का सेवन करना[८४] ब्रह्मचारी का नित्य-नैमित्तिक कर्त्तव्य है। त्रिदोषनाशक तथा वीर्यवर्धक सोमलता आदि औषधियों का सेवन करे। अल्पायु में वीर्य का क्षय न करें। शरीर को बलिष्ठ, पुष्ट एवं शक्तियुक्त बनाने के लिए सोमलता इत्यादि औषधियों का सेवन अत्यावश्यक है।[८५]

एक अन्य स्थल पर सामवेद में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्रह्मचारी के चेहरे पर ओज, कान्ति—ब्राह्म तेज प्राप्त होता है।[८६] वीर्यरक्षण से आध्यात्मिक सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है। विषयवासनारहित ब्रह्मचारी ही धैर्य एवं सहनशीलता प्राप्त कर सकता है।[८७] अथर्ववेद का ग्यारहवें काण्ड का पाँचवाँ सूक्त पूर्णतया ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी के गुणों, महत्त्व तथा ब्रह्मचर्य के लाभों के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करता है। वेद का कथन है कि ब्रह्मचारी ही सच्चा आचार्य हो सकता है, वही प्रजा की रक्षा करते हुए उसे अपने वश में रखता है। आचार्य भी चरित्रवान् ब्रह्मचारी को चाहता है, वही सबको प्रिय होता है।[८८] कन्या को सुयोग्य पति की प्राप्ति होना तथा रथवाहक अश्व का घास को पचाना तथा वीर्यसेचन में समर्थ होना ब्रह्मचर्य के कारण ही सम्भव है।[८९] योगी ब्रह्मचारी इन्द्रियों का दमन करके मृत्यु के कारणों को दूर कर देता है। इन्द्र ब्रह्मचर्यव्रती विद्वानों को ही अमरतारूपी परमसुख प्रदान करता है।[९०] इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं में में ब्रह्मचर्य एवं उसके महत्त्व का विस्तृत विवेचन किया गया है।

उपनिषद्वाङ्मय में ब्रह्मचर्यविषयकावधारणा-

उपनिषदों में भी ब्रह्मचर्यविषयक वर्णन प्राप्य है। उपनिषदों में ब्रह्मचर्य को आत्मदर्शन हेतु परमावश्यक माना गया है। इनमें अनेक स्थानों पर तप, सत्य, श्रद्धा तथा ब्रह्मचर्य का उल्लेख एक साथ किया गया है। मुण्डकोपनिषद्[९१] तथा प्रश्नोपनिषद्[९२] के अनेक स्थानों पर ऐसा वर्णन प्राप्त होता है। प्रश्नोपनिषद् में पैप्पलाद ऋषि ने प्रश्न पूछने के लिये उपस्थित भारद्वाज आदि छह ऋषियों को एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने तथा तपस्यापूर्वक जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया।[९३] कठोपनिषद् में ब्रह्मचर्य से ब्रह्मलोक की प्राप्ति बतायी गयी है।[९४] छान्दोग्योपनिषद् में दहरविद्या के प्रसङ्ग में कहा गया है कि **तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकः। तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥**- अर्थात् योगीसाधक

---

८३ सम्पश्यमाना अमदन्निभि स्वं पयः प्रत्नस्य...सुकृत्यया॥ ऋ०१.८३.४
८४ पर्यसा शुक्रमृमृतं जुनित्रं॑ सुर॑या मूत्राज्जनयन्त रेत॑ः। अपामतिं दुर्मतिं बाध॑मानाऽऊवध्यं वातं॑ सब्वं तदारात्॥ यजु०१९/८४
८५ मनुष्वदिन्द्र सवनं जुषाणः पिबा सोमं शाश्वते वीर्याय। ऋ०३.३२.५
८६ तुचे तुनाय तत्सु नो द्राघीय आयुर्जीवसे। साम०३९५
८७ उभे सुशिप्र पप्राः-साम०५९३, विदा राये सुवीर्यं भुवो। साम०६४४
८८ आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ अथर्व०११.५.१६-१७
८९ ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति॥ अथर्व०११.५.१८
९० ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ अथर्व०११.५.१९
९१ तपश्च श्रद्धां सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च। मुण्ड०उप०३.१.७
९२ तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति। प्रश्न०उप०५.३
९३ तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। प्रश्न०उप०१.१
९४ सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति.....यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति॥ कठ०उप०२.१५

ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य, यज्ञकर्म, तप, संयम तथा जितेन्द्रियता से प्राप्त करते हैं उनका ही वह धाम है।[९५] ब्रह्मचर्यपालन ही यज्ञ है। ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मप्राप्ति सम्भव है।[९६] बृहदारण्यक तथा शतपथब्राह्मण में कहा गया है कि विष्णुयज्ञ को तीन भागों में बाँटा गया-वसु ब्रह्मचारी उसके प्रातः सवन हैं, रुद्र ब्रह्मचारी माध्यन्दिन सवन तथा आदित्य ब्रह्मचारी तृतीय सवन हैं।[९७] छान्दोग्योपनिषद् में पुरुषयज्ञ को तीन भागों में विभाजित किया गया है।[९८] इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद्वाङ्मय में भी ब्रह्मचर्यविषयक पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है।

इस बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचर्य का पालन स्त्री-पुरुष सभी के लिए उपयोगी है। वे सन्तानें धन्य हैं जिनके माता-पिता छोटी अवस्था में अपने पुत्र-पुत्रियों को ब्रह्मचर्यपालन के लाभ तथा ब्रह्मचर्य-विनष्ट करने के दोषों को भलीभाँति समझा देते हैं। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन तीनों आश्रमों में ब्रह्मचर्य का पालन योगसाधना के लिए परमावश्यक है। गृहस्थ में ऋतुगामी होकर सद्गृहस्थ बनना एवं यथासमय ईश्वरोपासना करना तथा बालविवाह से सन्तानों को बचाना; यह समाज एवं राष्ट्र की उन्नति में सबसे बड़ा सुधार है।

५. अपरिग्रह-

ग्रह उपादाने धातु से परि उपसर्गपूर्वक परिग्रह शब्द की सिद्धि होती है। जिसका अर्थ है-**परितः सर्वतो ग्रहः**। चारों ओर से भोगसाधनों का ग्रहण करना। **न परिग्रहः अपरिग्रहः** परिग्रह के विपरीत अपरिग्रह है अर्थात् भोगसाधनों का ग्रहण न करना। भोगसामग्री को अपनी आवश्यकता से अधिक निजी स्वार्थ हेतु सञ्चित न करना अपरिग्रह कहलाता है। भागवतपुराण में आवश्यकता से अधिक संचय करने वाले को स्तेन कह कहा गया है और उसे दण्ड का भागी माना गया है।[९९] महर्षि व्यास ने अपरिग्रह को परिभाषित करते हुए लिखा है-

विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः॥[१००]

अर्थात् विषयों के अर्जन, रक्षण, क्षय व सङ्ग में हिंसादि दोषों के होने के कारण उन समस्त पदार्थों को ग्रहण न करने की भावना अपरिग्रह है। भोजवृत्तिकार के अनुसार भोग साधनों को ग्रहण न करना अपरिग्रह कहलाता है।[१०१] साधक योगीजन को सर्वदा पञ्चक्लेशों तथा परिग्रह से सर्वदा दूर रहना चाहिये। तभी लक्ष्यप्राप्ति सम्भव है। अपरिग्रह की सिद्धि होने के पश्चात् साधक योगीजन को अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।[१०२] यदि प्रत्येक मनुष्य में अपरिग्रह की भावना दृढ़ हो जाये तो संसार में व्याप्त भूखमरी पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।

---

९५ छां०उप०८.४.३

९६ अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते। अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते॥ छां०उप०८.५.१ तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति। छां०उप०८.३.३

९७ अथेमं विष्णुयज्ञं त्रेधा व्यभजन्त। वसवः प्रातःसवनं रुद्रा माध्यन्दिनं सवनमादित्यास्तृतीयसवनम्॥ शत०ब्रा०१४.१.१.१४, बृ०उप०१.१.१४

९८ वसवो वै रुद्रा आदित्याः संश्रावभागाः॥ छां०उप०३.१६.१-५

९९ यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ भा०पु०७.१४.८

१०० योग०द०२/३० पर व्यास भाष्य।

१०१ अपरिग्रहो भोगसाधनानामनङ्गीकारः। भो०वृ०२.३०

१०२ अपरिग्रहस्थैर्य जन्मकथन्ता सम्बोधः। योग०द०२.३९

वेदोपवर्णित अपरिग्रहविषयकावधारणा-

वेद में उपासक द्वारा इन्द्रियों के विषयों में न जाने की जो प्रार्थना की गयी है वह अपरिग्रह का प्रमुख पहलू है। उपासक कहता है कि हे प्रभो! विषयों का आहरण करनेवाली मेरी इन्द्रियाँ विषयरूप शत्रुओं की विनाशक हों।[१०३] वैदिकसंहिताओं में पारिवारिक पालन-पोषण तथा सामाजिक व्यवहार के लिये पुष्कल धन-ऐश्वर्य की याचना की गयी है।[१०४] एवं प्रजापति परमात्मा से धनों का स्वामी बनने की प्रार्थना की गयी है।[१०५] परन्तु वेद में संगृहीत धन को अपने स्वार्थ के लिए प्रयोग करने का प्रबल विरोध किया गया है तथा त्यागपूर्वक उपभोग करने का निर्देश दिया गया है।[१०६] धनी व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह दान दे, क्योंकि धन तो रथचक्र के समान अस्थिर है। धन का एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास आना जाना लगा रहता है।[१०७] वेद कहता है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता: सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।[१०८]

अर्थात् परमेश्वर का आदेश है कि मूर्ख अदाता अन्न-धन का व्यर्थ में ही संचय करता है। यह सत्य है कि जो अपने अन्न एवं धन से विद्वानों का पोषण तथा मित्र की सहायता नहीं करता, उसकी तो वह मृत्यु समझो, क्योंकि अकेला खानेवाला केवल पाप खाता है। आगे कहा गया है कि दानी पुरुष अपने दान-यश से अदानी पुरुष को अतिक्रान्त कर बड़ा हो जाता है।[१०९] इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदों में अपरिग्रह के विषय में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है।

उपनिषद्वाङ्‌मयोपवर्णित अपरिग्रहविषयकावधारणा-

अपरिग्रह के विषय में साक्षात् कुछ नहीं कहा गया है अपितु उपनिषदों द्वारा प्रदत्त शिक्षा अपरिग्रहवृत्ति को दृढ़ करती है। उदाहरण के लिये कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता के समक्ष संसार के सभी प्रकार के प्रलोभन उपस्थित करते हैं, परन्तु नचिकेता यह कहकर इनका तिरस्कार कर देता है-तवैव वाहास्तवनृत्यगीते। हे यम! मुझे इन विषयों में से कुछ भी नहीं चाहिए। इनके त्याग में नचिकेता जो हेतु प्रस्तुत करता है वे योगसाधना से ही अनुप्रमाणित हैं। वह कहता है[११०]-१. ये सभी प्रकार के भोग अनित्य हैं, नष्ट हो जायेंगे। यह

---

१०३ ता मे अश्व्यानां हरीणां नितोशना। उतो नु कृत्व्यानां नृवाहसा।। ऋ०८.२५.२३

१०४ (क) धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन यच्छतु।। अथर्व०७.१७.१ (ख) धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्। वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः।। अथर्व०७.१७.२

१०५ प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।। ऋ०१०.१२१.१०

१०६ तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। यजु०४०.१, ईश०उप०१

१०७ पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्त्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्ति रायः।। ऋ०१०.११७.५

१०८ ऋ०१०.११७.६

१०९ कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमपवृङ्क्ते चरित्रैः। वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्।। ऋ०१०.११७.७

११० श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।। कठ०उप०१.१.२६

क्षय दोष है। २. ये भोग इन्द्रियों के तेज को नष्ट कर देते हैं। यह सङ्गदोष है। ३. मनुष्य धन से तृप्त नहीं हो सकता।

अत: योगीसाधक को पांचों यमों का पालन करना चाहिए। मन्त्र-यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिपभर्त्तवा उ। यत्रा न: पूर्वे पितर: परेयुरेना जज्ञाना: पथ्या अनु स्वा:॥ [111] से स्पष्ट है कि शुभ तथा अशुभ निमित्त का ज्ञान यमों से ही सम्भव है। यमों के पालन करने से मनुष्य सुख-दु:ख के बन्धन से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त कर सकता है। साथ ही साथ यहाँ पर द्रष्टव्य है कि यदि वैदिकवाङ्मय में वर्णित यम-योगाङ्गविषयक सिद्धान्तों का विस्तार परवर्ती वाङ्मय विशेषत: उपनिषदों में पर्याप्त रूप में उपलब्ध होता है।

---

१११ ऋ०१०.१४.२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०७८-९१) ISSN 0974 – 8830

वैदिक साहित्य में वर्णित सिंचाई व्यवस्था

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता[१]

कृषि के दो आधारभूत अंगों में भूमि के साथ-साथ जल की भी गणना होती है। जिस प्रकार हम भूमि के बिना कृषि की कल्पना नहीं कर सकते, उसी प्रकार जल के बिना भी कृषि की कल्पना नहीं की जा सकती है। वास्तव में यदि खेत में उचित समय पर जल उपलब्ध न हो तो कृषि के निमित्त किया गया सारा परिश्रम निरर्थक हो जाता है। खेत में खड़ी फसल की वृद्धि के लिए जल पहुँचाना ही सिंचाई कहलाता है। इस प्रकार सिंचाई कृषि का प्राण है। इस बात को भारतीय कृषक भी भली-भांति जानते थे। यही कारण है कि हम भारतीय कृषकों को प्रारम्भ से ही कृषि के लिए सिंचाई के विभिन्न साधनों की व्यवस्थाएँ करते हुए पाते हैं। नवपाषाण कालीन कृषक सिंचाई के लिए वर्षा के जल पर ही निर्भर रहते थे। जबकि सिन्धु घाटी सभ्यता के काल में सिंचाई मुख्यतः वर्षा के साथ-साथ नदियों के जल से भी की जाती थी। इसी के साथ नदियों में प्रतिवर्ष आने वाली बाढ़ के पानी से भी खेतों को सींचने में पर्याप्त सहायता मिलती रही होगी। इस संस्कृति के विभिन्न स्थलों से प्राप्त कुओं के साक्ष्य भी इस बात के प्रमाण है कि इस काल में इन कुओं का प्रयोग सिंचाई के लिए किया जाता रहा होगा। वैदिक काल में भी हम भारतीय कृषकों को सिंचाई के विभिन्न साधनों का प्रयोग करते हुए पाते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद और तैत्तिरीय संहिता में सिंचाई के काम में आने वाले जल के अनेक प्रकारों का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद[२] में सिंचाई के काम में आने वाले चार प्रकार के जलों का वर्णन मिलता है। ये हैं-

१.दिव्या: आप:-आकाश से वृष्टि द्वारा प्राप्त होने वाला जल।

२.खनित्रिमा आप:-खोदकर बनाये हुए कुएं एवं बावली आदि से प्राप्त होने वाला जल।

३.स्वयंजा आप:-झरनों आदि से प्राप्त होने वाला जल।

४.समुद्रार्था आप:-समुद्र में मिलने वाली नदियों का जल।

अथर्ववेद[३] के तीन सूक्तों में भी सिंचाई के काम में आने वाले जल के अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। ये हैं-

१.धन्वन्या: आप:-मरुदेश में प्राप्त होने वाला जल।

२.अनूप्या: आप:-तालाब आर्दि से प्राप्त होने वाला जल।

३.खनित्रिमा: आप:-खोदकर बनाये हुए कुएं एवं बावली आदि से प्राप्त होने वाला जल।

४.कुंभे आभृता:-घड़े में भरकर लाया जाने वाला जल।

---

१. एसोशियेट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

२. ऋग्वेद, ७/४९/२, 'या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः। समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु॥

३. अथर्ववेद, १/४-५, १९/२/१-२, १/६/४, 'श न आपो धन्वन्यां शमु सन्त्वनूप्या। श न खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥ '

५.वार्षिकी: आप:-वर्षा से प्राप्त होने वाला जल।

६.सिन्धुभ्य:-नदियों का जल।

७.हैमवती: आप:-हिमवान पर्वत से प्राप्त होने वाला जल।

८.उत्स्या: ते शं उ सन्तु-स्रोतों से प्राप्त होने वाला जल।

९.सनिष्यदा आप:-वेग से बहने वाला जल।

यजुर्वेद[४] में भी सिंचाई के अनेक साधनों का उल्लेख मिलता है। ये हैं-स्रुत्त्य (नाला), पत्थ्य (पतली नालियों द्वारा पानी), काट्यी (पोखरों, तालाबों और नदियों से क्रमिक उत्तोलन द्वारा ऊँचे क्षेत्रों के लिए उठाया जाने वाला पानी), नीप्य (झरनों के या नीचे की ओर बहते हुए पानी), कुल्या (नहर), नादे (नदी), वैशन्त (तालाब), सर (ताल), कूप्य (कुएं का जल), आवट्यी (गड्ढ़ों, पोखरों का जल), मेघ्य (मेघ जल) वर्ष्य (वर्षा का जल) तथा अवर्ष्य (बिना वर्षा जल) आदि।

तैत्तिरीय संहिता[५] में भी सिंचाई के विभिन्न साधनों का वर्णन मिलता है। ये साधन है-नाला, पतली नालियों द्वारा पानी, नहर, स्रोतों (झरनों) का जल, पोखर, तालाब, कूप, अवत, नदी और जलाशय आदि। इनमें छोटे-बड़े सभी साधनों का उल्लेख है।

रामनाथ वेदालंकार ने आर्ष ज्योतिष नामक ग्रन्थ में वेदों के आधार पर जलों के निम्न प्रकार बताये हैं-

१.हिमालय के जल (हैमवती: आप:)-ये हिमालय पर बर्फ रूप में रहते हैं अथवा चट्टानों के बीच में बने कुण्डों में भरे रहते हैं अथवा पहाड़ी झरनों के रूप में झरते रहते हैं। इनमें पर्वतों के खनिज द्रव्य तथा ओषधियों के रस मिश्रित रहते हैं।

२.स्रोतों के जल (उत्स्या: आप:)-ये पहाड़ी या मैदानी भूमि को फोड़कर चश्मों के रूप में निकलते हैं। इनमें भूमि के अन्दर विद्यमान खनिज पदार्थ मिले रहते हैं।

३.सदा बहते रहने वाले जल (सनिष्यदा: आप:)-ये सदा बहते रहने के कारण अधिक प्रदूषित नहीं हो पाते हैं।

४.वर्षा जल (वर्ष्या: आप:)-वर्षा से मिलने वाले जल शुद्ध तथा ओषधि-वनस्पतियों एवं प्राणियों को जीवन देने वाले होते हैं।

५.मरुस्थलों का जल (धन्वन्या: आप:)-मरुस्थलों की रेती में अभ्रक, लोहा आदि पाये जाते हैं, उनके सम्पर्क से वहाँ के जलों में भी ये पदार्थ विद्यमान होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक काल में सिंचाई के मुख्यत: दो साधन थे-(१) प्राकृतिक साधन और (२) कृत्रिम साधन।[६] प्राकृतिक साधनों के अन्तर्गत वर्षा, नदी, झील

---

४. यजुर्वेद, १६/३७-३८, 'नमः सुत्याय च पथ्याय च नमः काट्याय च नीप्याय च नमः कुल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च। नमः कुप्याय चाऽवट्याय च नमो वीध्याय चातप्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चा वर्ष्याय च। '

५. तैत्तिरीय संहिता, ४/५/७/१-२, ७/४/१३

६. वी०एम० आप्टे, सोशल एण्ड रिलिजियस लाइफ ऑफ दि गृह्यसूत्राज, पृ० १०३

और झरना जैसे स्वाभाविक जल स्रोतों की गणना होती थी जबकि कृत्रिम साधनों में नहर, कूप, अवत, तालाब एवं जलाशय आदि जल स्रोतों की गणना होती थी।

१.प्राकृतिक साधन

(क) वर्षा-वैदिक काल में कृषक कृषि कर्म की सफलता के लिए अधिकांशत: वर्षा के जल पर ही निर्भर थे। वेदों में अनेक स्थानों पर वर्षा के जल से सिंचाई करने के उल्लेख मिलते हैं।[७] ऋग्वेद तथा परवर्ती वैदिक संहिताओं में इन्द्र और वर्षा के सम्बन्ध तथा वर्षा हेतु इन्द्र की प्रार्थनाएँ इस बात की द्योतक है कि वर्षा और खेती के पारस्परिक महत्त्व का ज्ञान तत्कालीन लोगों को पूरी तरह था। ऋग्वेद में अनेकश: वर्षा के लिए देवताओं का आह्वान किया गया है।[८] साथ ही वर्षा को अन्न का स्रोत तथा जीवन का आधार कहा गया हैं।[९] ऋग्वेद[१०] में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ग्रीष्म काल में असंतृप्त हुई पृथ्वी माता को पानी की आवश्यकता होती है तब सूर्य जल बरसाता है। इस जल के माध्यम से पृथ्वी रूपी माता तथा पिता रूपी सूर्य का संयोग होता है। तब पिता रूपी सूर्य वर्षा और वीर्य को माता रूपी पृथिवी में स्थापित करता है। पृथिवी वर्षा रूपी जल से संचित होकर गर्भ धारण कर गर्भरूपी अन्नादि को प्रसूत करने में समर्थ होती है अर्थात् अन्नादि की उत्पत्ति का मूल वर्षा जल ही है। अन्यत्र ऋग्वेद में इन्द्र के लिए कहा गया है कि वह ही वृष्टि को रोकने वाले दैत्य वृत्र को मारकर वर्षा कराता है और नदियों को प्रगतिशील बनाता है।[११] वैदिक देवता मण्डल में इन्द्र को सभी देवताओं में प्रमुख स्थान देना आर्यों के कृषिजीवी होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

प्राकृतिक कारणों से जो वर्षा होती है उसमें सूर्य एवं वायु की क्रियाशीलता से पृथिनीस्थ जल अन्तरिक्ष में वाष्प रूप में पहुँचता है और इन्ही की क्रियाशीलता से वर्षा होती है। परन्तु मानवीय प्रयत्नों से सूर्य एवं वायु को विशेष क्रियाशील बनाकर भी वर्षा कराई जा सकती है। मनुष्य जिन प्रयों से सूर्य एवं वायु को क्रियाशील विशेष बनाता है उस प्रक्रिया को यज्ञ कहते हैं। इसलिए यजुर्वेद[१२] में यज्ञ को 'वृषणम्' अर्थात् वर्षा का हेतु कहा गया है। चूँकि यज्ञ की समस्त क्रियाएँ अग्नि के माध्यम से होती है इसलिए यजुर्वेद[१३] में इस अग्नि को 'वृषासि' अर्थात वर्षा कराने वाला कहा गया है। ऋग्वेद में भी यज्ञ द्वारा कृत्रिम वर्षा कराने की बात कही गई है।[१४] वर्षा के निमित्त बड़े-बड़े वर्षेष्टि यज्ञ भी किये जाते थे। इससे सम्बन्धित एक कथानक निरुक्त में मिलता है। जिसके अनुसार देवापि और शन्तनु दो सगे भाई थे जिसमें देवापि बड़ा था। नियमानुसार पिता की मृत्यु के बाद देवापि को राज्य मिलना चाहिए था, किन्तु शन्तनु छोटा होते हुए भी स्वयं राजा बन बैठा। यह

---

७. ऋग्वेद, ७/१०१/१,२,५,६, १०/५०/३, १०/९८/६, १०/१०५/३, यजु०, १६/३८, अथर्व० ४/१५/१, ६/५४/१, ११/४/१७

८. ऋग्वेद, ९/४९/१, ४/५७/२, ५/६३/२,६,७, ५/८३/६-७, ६/७०/५, ७/६४/२, ६/६५/४, ७/१०२/१, ८/७/१६, ८/२५/६, ९/८/८, ९/३९/२

९. वही, ७/१०२/१, ९/३९/२, ९/४९/१, ९/९७/१७, ९/१०६/९

१०. वही, १/१६४/८, 'मातापितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे। सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥

११. वही, १/५२/५-६, ३/३३/६, १०/५०/३, १०/१०५/३

१२. यजुर्वेद ३४/१४

१३. वही, २२/१९

१४. ऋग्वेद, ७/१०१/१-६, ८/१४/५, १०/९८/१-२

देख देवापि तप करने जंगल में चला गया। तब बारह वर्ष तक शन्तनु ने राज्य में वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणों ने उससे कहा कि तुने अधर्म किया है कि बड़े भाई के होते हुए स्वयं राजा बन गया है। इस कारण तेरे राज्य में वर्षा नहीं हो रही है। यह सुनकर शन्तनु बड़े भाई देवापि के पास पहुँचा और उससे राजा बनने की प्रार्थना की। पर देवापि ने राजा बनना स्वीकार नहीं किया और कहा कि राजा तो तुम ही रहो। मैं तुम्हारा पुरोहित बन जाता हूँ और वृष्टियज्ञ कराता हूँ, तब वर्षा अवश्य होगी। देवापि ने वृहस्पति को ब्रह्मा बनाकर वृष्टि यज्ञ कराया जिससे प्रचुर वर्षा हुई।[१५] यह कथानक ऋग्वेद के एक सूक्त[१६] के आधार पर रचा गया है जिसे निरुक्तकार ने वर्षाकाम सूक्त नाम दिया है।

यजुर्वेद में भी अनेक स्थानों पर यज्ञ द्वारा वर्षा कराने के उल्लेख मिलते हैं। ऐसा माना जाता था कि यज्ञों द्वारा होने वाली वर्षा का जल सुसंस्कारित होता है। यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है कि इस पृथिवी को यज्ञ के जल से अच्छी प्रकार चारों ओर से आवृत्त कर दो।[१७] हमारी वृष्टि मेघों की वर्षण क्रिया यज्ञ के द्वारा सुसम्पन्न एवं समर्थ हो।[१८] एक स्थान पर यज्ञ को 'वर्षावृद्धमसि'[१९] अर्थात् वर्षा की वृद्धि कराने वाला कहा गया है। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि जिस यज्ञ का हम अनुष्ठान करते हैं वह मेघमण्डल में जाकर पृथ्वी के स्थान विशेष पर वर्षा कराता है।[२०] अन्यत्र यजुर्वेद[२१] में कहा गया है कि जिस प्रकार से पक्षीगण अपने-अपने सुनिश्चित स्थानों को जाते हैं उसी प्रकार गायत्री आदि छन्दों से यज्ञ का अनुष्ठान करके हम लोग अपनी जो इच्छित आहुति अग्नि में डालते हैं वह वायु मार्ग से होकर अन्तरिक्ष में विचरण करती हुई द्युलोक में पहुँचती है। वहाँ से वह आहुति वृष्टि को अच्छी प्रकार लाती है। कहने का तात्पर्य है कि वर्षा कराने वाले द्रव्यों की गायत्री छन्दादि के द्वारा यज्ञ में आहुति से वायु, अन्तरिक्ष और द्युलोक के सम्बन्ध से वर्षा होती है। यजुर्वेद के इन दोनों मन्त्रों में पहले मन्त्र में यज्ञ का मेघमण्डल से सम्पर्क होकर वर्षा कराना तथा दूसरे मन्त्र में मेघ न होने पर यज्ञ की आहुति का द्युलोक तक पहुँचकर वहाँ से वृष्टि का हेतु बनना बताया गया है। इन मन्त्र वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ की आहुति का वर्षा करने से पूर्ण सम्बन्ध है। महर्षि दयानन्द ने अपने वेद भाष्य में अनेक मन्त्रों की व्याख्याओं में यज्ञ द्वारा वर्षा का स्पष्ट उल्लेख किया है-वर्षा का हेतु जो यज्ञ है उसका अनुष्ठान करके नाना प्रकार के सुख उत्पन्न करना चाहिए।[२२] मनुष्यों को अपने विज्ञान से अच्छी प्रकार पदार्थों को इकट्ठा करके उनसे यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए, जो कि वृष्टि और बुद्धि को बढ़ाने वाला है।[२३]

वेदों में यज्ञ के द्वारा केवल वृष्टि कराये जाने का ही उल्लेख नहीं मिलता अपितु स्वाभाविक वृष्टि होने की स्थिति में भी यज्ञ की उपयोगिता पर बल दिया गया है, क्योंकि यज्ञ के द्वारा वृष्टि जल की भी शुद्धि होती है

---

१५. निरुक्त, २/३
१६. ऋग्वेद, १०/९८
१७. वही, १२/१०३, 'अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह।'
१८. वही, १८/९, 'वृष्टिश्च में यज्ञेन कल्पन्ताम्।'
१९. वही, १/१६
२०. वही, १/२५, 'व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु।'
२१. वही, २/१६, 'वसुभ्यस्त्वा ......। व्यन्तु वयोक्तं रिहाणा मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गच्छ ततो नो वृष्टिमावह ....॥'
२२. यजुर्वेद, १/१४ पर भाष्य
२३. वही, १/१९ पर भाष्य

और उस जल में यज्ञ से गुणों की भी वृद्धि होती है। यज्ञ द्वारा वृष्टि जलों में यथेष्ट गुणों को भी स्थापित किया जा सकता है। अत: वृष्टि कराने तथा वृष्टि को उत्तम गुण युक्त बनाने के लिए यज्ञ की अत्यन्त उपयोगिता है। कहने का तात्पर्य है कि जब यज्ञीय अग्नि में उत्तम सुगन्धित, पुष्टिकारक एवं रोगनाशक ओषधियों के रस, घृत एवं मधु आदि पदार्थ पड़ेंगे तो उनसे उत्पन्न वाष्प अन्तरिक्ष में प्रसारित होगी। सूर्य की उष्मा से जो जल अन्तरिक्ष में पहुँचता है, उसके साथ इस यज्ञ की वाष्प का भी संयोग होगा जिससे पुष्टिकारक, रोगनाशक तथा जीवनीय तत्त्वों की जल में प्रधानता होगी। इसलिए यजुर्वेद[२४] में कहा गया है कि-

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२ऽआविवासति।
हविष्मान् देवोऽअध्वरो हविष्माँ२ऽअस्तु सूर्य:।।

अर्थात हे यज्ञविज्ञान के जानने वाले विद्वानो! तुम उन यज्ञों की क्रियाओं को किया करो जिनसे ये पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक जल अच्छे प्रकार यज्ञ की हवि से युक्त होकर नाना प्रकार के सुख एवं उपकार करने वाले बने। इस प्रकार यज्ञ की पवित्र कारक क्रियाशीलता की व्याप्ति का क्षेत्र पृथिवी से द्युलोक तक विस्तृत होती है।

अथर्ववेद में जल प्रकारों के प्रसङ्ग में वर्षा जल को अत्युत्तम और शतवृष्ण्य अर्थात् सौ गुनी शक्ति वाला बताया गया है।[२५] अथर्ववेद के ही दो सूक्तों में वर्षा के महत्त्व का वर्णन करते हुए वर्षा को सिंचाई का प्रमुख साधन माना गया है। अथर्ववेद के वृष्टि सूक्त[२६] में वर्षा के महत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चारों दिशाओं में बादल जाएँ, वायु जोर से बहे, उस वायु से मेघ आकाश में आ जाएँ और बड़ी गर्जना होकर वृष्टि होवे। मेघ से आने वाला जल वनस्पतियों को मिले और सब वनस्पतियाँ उत्तम परिपुष्ट हो जावे। गर्जना करने वाले मेघों से जोर की वृष्टि हो जावे और उस वृष्टि से ओषधियाँ उत्तम रसवाली होवें। वायु जोर से मेघों को लावे और प्रचंड धाराओं से अच्छी वृष्टि हो जावे। सूर्य की उष्णता से समुद्र का पानी भाप बनकर वायु से ऊपर जावे, वहाँ वह इकट्ठी होकर मेघ बने, वहाँ बिजली की गर्जना होकर पृथ्वी की तृप्ति करने वाली वृष्टि होवे। मेघ गर्जना करे, बिजली कड़के, समुद्र उछल पड़े, भूमि पर ऐसी वृष्टि हो जावे कि किसान अपने घर जाकर आश्रय लेवे। जल देने वाले मेघ सब की रक्षा करे, उनसे भूमि पर उत्तम वृष्टि होवे। हर एक दिशा में बिजलियाँ चमकें, वायु जोर से चले, उनसे चलाये मेघ खूब वृष्टि करें। मेघ, विद्युत, वृष्टि, जल, जलस्थान ये सब मनुष्यों की रक्षा करें। वायु से चलाये मेघ पृथ्वी पर उत्तम वर्षा करें। मेघों में विद्युद्रूप अग्नि है वही वृष्टि करता है इसलिए वह ओषधियों का अधिपति है। वह ऊपर से वृष्टि करे और हमें अमृत जल देवें, उससे प्राणियों को जीवन मिले, इस प्रकार हम सबकी रक्षा हो। यह प्रजापालक समुद्र के जल को प्रेरित करता है जिससे मेघ होते हैं। इससे भूमि के ऊपर पर्याप्त जल प्राप्त होवे। यह मेघ बिजली के साथ हमारी भूमि के पास आ जावे। मेघ की वृष्टि से पृथ्वी पर बड़े स्रोत बहें। जल में मेढ़क उत्तम शब्द करें। मेंढ़क मेघों को बुलावें और वे जल से तालाब भरने के बाद उसमें खूब लौटें। वृष्टि ऐसी हो कि जिससे मेढ़क आनन्दित हो जाएँ। मेघ आ जाएँ, खूब वृष्टि हो, बिजली कड़के, वायु बहे, ओषधियाँ पुष्ट हो, खूब अन्न उत्पन्न हो और यज्ञ बढ़ते जाए।

---

२४. वही, ६/२३
२५. अथर्ववेद, १/४/३, १/६/४, १९/२/१
२६. वही, ४/१५

अथर्ववेद के प्राणसूक्त[२७] में भी वर्षा को प्राण स्वरूप बताते हुए वर्षा के लाभों का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार वर्षा भूमि को जल से आप्लावित कर देती है और सभी ओषधियों, वनस्पतियों और अन्नादि में नवीन चेतना का संचार हो जाता है। वर्षा से पृथिवी के तृप्त होने से सभी प्रकार के अन्न और वनस्पतियाँ उत्पन्न होती है। वर्षा केवल जल ही नहीं है अपितु वृक्ष-वनस्पतियों और कृषि के लिए प्राण स्वरूप है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में जल-चक्र (Water Cycle) का सुन्दर वर्णन मिलता है जहाँ कहा गया है कि जल को सूर्य की किरणें समुद्र आदि से खिंचती है वह जल फिर बरसकर हमारे लिए अन्नादि पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है और गाय आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सबको सुखी करते हैं।[२८] अन्यत्र अथर्ववेद में अन्न के लिए उत्तम भूमि के साथ वर्षा की परिगणना की गई है। वर्षा से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। यह अन्न ही सारी प्रजा के जीवन का आधार है।[२९] इस मन्त्र में भूमि को पर्जन्य की पत्नी अर्थात वर्षा द्वारा पालित और 'वर्षमेदस' अर्थात वर्षा से उर्वराशक्ति की वृद्धि का उल्लेख है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि हे मरुद्गण! जिस देश में तुम वृष्टि करते हो, वहाँ तुम बलदायक अन्न एवं प्रजा का पोषण करते हो।[३०] दूसरे मन्त्र में जूते खेत को भारी वर्षा सहन करने योग्य भी बताया गया है।[३१] अन्यत्र भारी वर्षा होने पर ब्रीहि, यव, चना तथा वनस्पतियाँ उत्पन्न होने और धन एवं धान्यादि की वृद्धि होने का उल्लेख है।[३२] इस वेद में भी यज्ञ के द्वारा वर्षा कराने का उल्लेख मिलता है। इसमें एक स्थान पर कहा गया है कि जब वर्षा कराने की आवश्यकता हो तब बहुत से यज्ञ विविध प्रकार से करने चाहिए।[३३]

इस प्रकार वैदिक साहित्य में उल्लिखित दो या तीन फसलों के आधार पर हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वर्षा भी उन दिनों में दो या तीन बार तथा पर्याप्त मात्रा में होती रही होगी। वर्ष में दो या तीन बार वर्षा का उल्लेख बाद के कालों में भी मिलता है।[३४]

वैदिक वृष्टि विज्ञान में जहाँ अवर्षा के समय यज्ञों द्वारा वर्षा कराने का विधान है वहाँ अतिवृष्टि को रोकने के सार्थक उपाय भी है। ऋग्वेद में एक स्थान पर अतिवृष्टि को रोकने के लिए देवताओं से प्रार्थना करने का उल्लेख मिलता है।[३५] अथर्ववेद के एक मन्त्र[३६] में कहा गया है कि मित्र और वरुण वृष्टि के स्वामी है क्योंकि मित्र और वरुण के मिलने से जल बनकर वर्षा होती है। अत: ये दोनों हमारी रक्षा करें अर्थात् वर्षा कराकर भी हमारी रक्षा करे और अतिवृष्टि से भी हमारी रक्षा करें। यजुर्वेद में भी अतिवृष्टि से बचने के अनेक

२७. वही ११/४
२८. वही १/४/३, 'अपो देवीरुप ह्वये यत्र गाव: पिबन्ति न:। सिन्धुभ्य: कर्त्वं हवि:॥'
२९. वही, १२/१/४२, 'यस्मामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमा: पंच कृष्टय:। भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥'
३०. वही, ६/२२/१-२
३१. वही, ७/१८/१
३२. वही, ६/५४/१, ११/४/१७
३३. वही, ४/१५/१६, 'तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा।'
३४. तैत्तिरीय संहिता, ५/१/७/३, 'तस्माद् द्वि: संवत्सरस्य सस्यं पच्यते।'
३५. ऋग्वेद, ५/८३/१०, 'अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभाया ऽकर्धन्वान्यत्येतवा उ। अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषां॥'
३६. अथर्ववेद, ५/२४/५, 'मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम्।'

मन्त्र मिलते हैं। यजुर्वेद[३७] में एक स्थान पर मित्र और वरुण से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि तुम दोनों वृष्टि से हमारी रक्षा करो अर्थात् वर्षा कराके हमारी रक्षा करो और अतिवृष्टि से भी हमारी रक्षा करो। दूसरे स्थान[३८] पर कहा गया है कि वृष्टि की विष्टम्भन विद्या से वृष्टि को प्राप्त करो अर्थात् स्ववश करो। अत: वेद वर्षा कराने और रोकने इन दोनों प्रकार की विद्याओं के बारे में स्पष्ट संकेत कर रहा है। यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र[३९] में वर्षा कराने और रोकने का वर्णन मिलता है जहाँ कहा गया है कि हे अग्नि! तुम वृष्टि से हमारी रक्षा करो अर्थात् वृष्टि कर हमारा पालन करो और अतिवृष्टि को रोककर भी वृष्टि से हमारी रक्षा करो। यजुर्वेद के अन्य मन्त्रों में भी अतिवृष्टि से बचाने के लिए प्रार्थना करने का उल्लेख मिलता है।[४०]

पण्डित वीरसेन[४१] के अनुसार वेद में मित्र और वरुण दोनों को ही **'प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ'** प्राण एवं उदान कहा गया है। मित्र और प्राण नाम से जिस एक तत्त्व को कहा गया है वर्तमान विज्ञान की परिभाषा में उसे ऑक्सीजन (Oxygen) कहते हैं और वरुण या उदान नाम से जिस तत्त्व को वेद में कहा गया है उसे हाइड्रोजन (Hydrogen) कहते हैं। इन दोनों से जल तत्त्व का निर्माण होता है इसलिए यजुर्वेद में मित्र और वरुण के गुणों को 'तुम दोनों वृष्टि के द्वारा हमारी रक्षा करो' कहा गया है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि वर्षा कराने में मित्र और वरुण तत्त्वों की भी आवश्यकता है और यज्ञ की आहुति से इन दोनों तत्त्वों का आकर्षण, निर्माण या वृद्धि आदि होती है जिससे वृष्टि होती है। आगे उनका कथन है कि किस तत्त्व से मित्र प्राप्त किया जा सकता है और किससे वरुण तत्त्व प्राप्त किया जा सकता है। यह ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वर्षा कराने और रोकने के कार्य में सहायता प्राप्त हो सकती है।

नदी-वैदिक साहित्य में लगभग ३१ नदियों के उल्लेख मिलते हैं जिनमें २५ नदियाँ ऋग्वेद में उल्लिखित है।[४२] ऋग्वेद में नदियों का पर्वतों के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध होने का उल्लेख मिलता है।[४३] नदियों से ही नहरें (कुल्या) निकाली जाती थी। वर्षा में नदियों के प्रवाह का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ये नदियाँ इस प्रकार सिन्धु (समुद्र) की ओर बहती हैं जैसे रंभाती गायें अपने बछड़ें की ओर दौड़ती हैं।[४४] शतपथ ब्राह्मण में नदी-पति[४५] उपाधि का प्रयोग समुद्र अथवा समुद्रजल को व्यक्त करने के लिए किया गया है। अन्यत्र शतपथ ब्राह्मण में प्रतीची दिशा में प्रवाहित नदियों से भी सिंचाई सुविधा प्राप्त होने का प्रमाण मिलता है।[४६] इसलिए इन ग्रन्थों में उन नदियों के तटीय क्षेत्रों में उन्नत कृषि के संकेत मिलते हैं।[४७] नदियों के तटवर्ती

---

३७. यजुर्वेद, २/१६, 'मित्रावरुणौ त्वा वृष्ठ्यावताम्।'
३८. वही, १५/६, 'विष्टम्भेन वृष्ठ्या वृष्टिं जिन्व।'
३९. वही, १८/५५, 'विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रित: समुद्रे ते हृदयमप्स्वायु रपो दत्तोदधिं भिन्त। दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्ठ्याव॥
४०. वही, १३/५३
४१. वीरसेन, वैदिक सम्पदा, पृ० ३९४
४२. ऋग्वेद, १०/७५/५-८
४३. वही, ५/५५/७, १०/६४/८
४४. वही, १०/७५/४, 'अभि त्वा सिन्धो शिशुमित्र मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेव धेनव:। राजेव युध्वा नयसि त्वामित् सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि॥
४५. शतपथ ब्राह्मण, ५/३/४/१०, 'अपां वाऽएष पतिर्यन्नदीपति:।'
४६. वही, ९/३/१/२४
४७. वही, १२/२/१/३

क्षेत्रों में उन्नत कृषि का दूसरा कारण नदियों में प्रतिवर्ष आने वाली बाढ़ थी जो अपने साथ मिट्टी बहाकर लाती थी। यह मिट्टी अत्यन्त ही उपजाऊ होती थी जिसकी सहायता से कम परिश्रम से ही अधिकाधिक अन्न उत्पन्न हाता था। नदियों के किनारे बसने का यह भी एक प्रमुख कारण था। विश्व की प्राचीनतम् सभी सभ्यताओं का नदी के तटवर्ती स्थानों पर बसना यह स्पष्ट करता है कि अति प्राचीन काल से ही नदियाँ सिंचाई का एक प्रमुख साधन रही हैं।

झरने-अथर्ववेद में हिम पर्वतों के पिघले हुए जल का तात्पर्य सम्भवत: झरनों के जल से ही है।[४८]

२.कृत्रिम साधन

प्रारम्भ से ही मानव प्रकृति प्रदत्त साधनों के अतिरिक्त कृत्रिम साधनों के विकास के लिए भी प्रयासरत रहा है यही बात कृषि पर भी लागू होती है। भारतीय कृषि के सम्बन्ध में एक कथन प्राय: आज तक सुनने में मिलता है कि यहाँ वर्षा पासे के जुएँ का एक दाँव है। अत: देश के अधिकांश भू-भागों में वर्षा के अनियमित एवं असन्तुलित होने के कारण प्रारम्भ से हम भारतीय कृषकों को वर्षा के पूरक स्वरूप नहर, कुएं, तालाब एवं जलाशय आदि कृत्रिम सिंचाई के साधनों का प्रयोग करते हुए पाते हैं। सूत्र साहित्य में भी कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई करने का उल्लेख मिलता है।[४९] रामायण में कोशल राज्य की अदेवमातृका भूमि (वह भूमि जो केवल वर्षा के जल पर निर्भर न होकर कृत्रिम सिंचाई साधनों से युक्त हो) की प्रशंसा की गई है।[५०] इसी प्रकार महाभारत में भी बड़ी-बड़ी झीलों, तालाबों और कुँओं के निर्माण राज्य के लिए इस हेतु आवश्यक बताये गये हैं कि उनके होते हुए वर्षा मात्र के जल पर निर्भरता समाप्त की जा सके।[५१] क्लासिकल लेखकों के अनुसार भी भूमि का एक बड़ा भाग इन कृत्रिम साधनों की परिधि में था।[५२]

दामोदर सातवलेकर के अनुसार वेदों में सिंचाई से सम्बन्धित यत्र-तत्र जो उल्लेख मिलते हैं उनसे भी परोक्षत: यही संकेत मिलता है कि जिस भूमि में वृष्टि से पर्याप्त धन (धान्य) हो जाए, वहाँ वृष्टि से ही उत्पादन करना चाहिए, परन्तु जहाँ वृष्टि पर्याप्त नहीं हो, वहाँ अन्य स्थानों से नहरों द्वारा जल लाकर कृषि करनी चाहिए। केवल वृष्टि पर ही अवलम्बन करने वाले देश में उत्तम कृषि नहीं हो सकती, इसलिए नहर, कूप, तालाब तथा जलाशय आदि प्रबन्ध द्वारा जल का योग्य संग्रह करके उत्तम कृषि बनाकर धान्यादि की उत्तम पैदाइस करने का उपदेश वेद भी देता है।[५३]

नहर-सिंचाई के कृत्रिम साधनों में नहरों का प्रमुख स्थान था। नदियों का जल नहरों द्वारा कृषि के उपयोग में लाया जाता था। दामोदर सातवलेकर[५४] के अनुसार वेदों में प्रयुक्त **'खनित्रिमा आप:'** शब्द नि:सन्देह नहरों का ही द्योतक है।[५५] नहरों की कई किसमों में से नदी से निकली हुई नहरों का वर्णन ही हमें

---

४८. अथर्ववेद, १/६/४
४९. रामगोपाल, पूर्वोक्त, पृ० १३३
५०. रामायण, २/१००/४५
५१. महाभारत, १२/५/७७, १२/४३/७, १२/८६/१५
५२. डायोडोरस, २/३५
५३. दामोदर सातवलेकर, वेद में कृषि विद्या, पृ० १८
५४. वही, पृ० १८
५५. ऋग्वेद, ७/४९/२

वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में प्रार्थना की गई है कि हे नदियो! उत्तम अन्न को पैदा करके ऐश्वर्य बढ़ाने वाली तुम नहरों को पानी से भरपूर कर दो, अच्छी तरह से पूर्ण कर दो और वेग से बहो।[५६] इस मन्त्र में नहर के लिए 'वक्षणा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अथर्ववेद[५७] में एक ऐसी नहर का वर्णन है जिसे क्रमशः गाय और बछड़े रूप में व्यक्त किया गया है। यहाँ सम्भवतः नहर को बछड़ा और उसके उद्गम स्थल को गाय कहा गया है।[५८] अथर्ववेद में नहरों की खुदाई तथा उसमें सिंचाई का ज्ञान मिलता है।[५९] यहाँ नदी के पानी को काटकर नहर बनाने एवं नहर से पानी के पहली बार बहने के समय धार्मिक अनुष्ठान किये जाने का भी विवरण है।[६०] कौशिक सूत्र में भी नहरों से पानी छोड़ने से पहली धार्मिक क्रिया सम्पन्न करने का उल्लेख मिलता है।[६१]

खेतों की सिंचाई करने के लिए नहरें बनाना और कुओं से जल निकालकर उसे नालियों द्वारा खेतों तक पहुँचाने की प्रक्रिया सिन्धु सभ्यता के युग से ही प्रारम्भ हो गयी थी। इस समय सिन्धु नदी से नहरें निकालकर खेतों की सिंचाई की जाती थी।[६२] नहरों का अस्तित्व प्राचीन स्थलों की अनेक खुदाइयों तथा यूनानी यात्रियों के विवरणों से भी सिद्ध होता है। नहरों को खोदने एवं उनके द्वारा सिंचाई की व्यवस्था के अनेक विवरण संहिताओं में विद्यमान हैं। लेकिन चूंकि नहरों का निर्माण बिना राजकीय सहायता के सम्भव नहीं था इसलिए वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें राजा को आदेश दिया गया है कि वह राष्ट्र में नहरों का निर्माण करवाए।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥[६३]

अर्थात् जिन प्रकृष्ट कर्मों को यह इन्द्र करता है उन पराक्रमयुक्त कर्मों का मैं वर्णन करता हूँ, यह शिला, भूमि आदि जल के गति-रोधक पदार्थों को काटकर नष्ट कर देता है और फिर जलों को उनके लिए मार्ग खोदकर बहा देता हे, यह पर्वतों में से नदियों को खोदकर निकालता है।

इन्द्रो या वज्री वृषभो-रराद ता आपो देवीरिह मामवन्तु।[६४]

अर्थात् वज्रधारी सुखों का वर्षक इन्द्र (सम्राट्) जिन्हें खोदकर बहाता है, वे कृष्यादि व्यवहारोपयोगी जल मेरी अर्थात् राष्ट्र की रक्षा करे।

त्वं सिंधूरव सृजस्तस्तभानान् त्वमपो अजयो दासपत्नीः।[६५]

अर्थात् हे इन्द्र! तू जलाशयों में चुपचाप पड़े हुए जलों को नहरों में बहने वाला बना देता है और इस

---

५६. वही, ३/३३/१२, 'प्र पिन्वध्वमिषयन्तीः सुराधा आ वक्षणाः पृणध्वं यात शीभम्।'
५७. अथर्ववेद, ३/१३
५८. रामगोपाल, पूर्वोक्त, पृ० १३३
५९. अथर्ववेद, ६/१२८/१-४
६०. वही, ३/१३/१, १९/२/२, २०/३/६
६१. कौशिक सूत्र, ४०/१-१०
६२. पिगट, प्री-हिस्टारिक इण्डिया, पृ० ७०
६३. ऋग्वेद, १/३२/१
६४. वही, ७/४९/१
६५. वही, ८/९६/१८

प्रकार जल न मिलने से क्षीण हो रही कृषि आदि के पालक जलों को जीतकर लाता है।

घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु।[६६]

अर्थात् हे राजन्! अपने राष्ट्र में जल की नहरों का प्रसार कर और सत्य मार्गों का अनुसरण कर। मन्त्र में प्रयुक्त घृत शब्द जल का द्योतक है। निरुक्त में घृत का अर्थ जल किया गया है।[६७]

इसी प्रकार अथर्ववेद का ३/१३ सूक्त भी महत्त्वपूर्ण है। इस सूक्त में नदियों और नहरों में प्रवा होने वाले जलों से प्रार्थनाएँ की गई हैं। ये प्रार्थनाएँ स्पष्ट संकेत करती है कि वैदिक काल में नहरों से सिंचाई की व्यापक व्यवस्था की जाती थी।

यददः संप्रयतीरहावनदता हते।
तस्मादा नद्यो नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥[६८]

अर्थात् हे सिन्धुओ! (जलों) तब तुम अहि के भर जाने पर बहती हो और बहती हुई नाद करती हो तो तुम्हारा नाम नदियाँ हो जाता है, तुम्हारे और नाम भी वैसे ही अर्थात् नदी की तरह अन्वर्थक हैं।

अहि शिला, भूमि आदि रुकावट डालने वाली वस्तुओं को कहते हैं। रुकावटों को काटकर पानी किसी दिशा विशेष में प्रवाहित कर दिया जाता है और वह नाद अर्थात् शब्द करता है तब ऐसी कृत्रिम नहरे नाम नदी हो जाता है।

यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तसमादापो अनु ष्ठन॥[६९]

अर्थात् सूर्य द्वारा (वरुणेन)[७०] प्रेरित किए हुए हे जलो! जब तुम शीघ्र ही चारों ओर से एकत्रित ह नाचते हुए दौड़ने लगते हो, तब तुम चलते हुओं को इन्द्र प्राप्त कर लेता है, तब तुम्हारा नाम 'आपः' हो है। इस मन्त्र में वर्षा जल को रोककर निकाली हुई नहरों को 'आपः' कहा गया है।

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम्॥[७१]

अर्थात् हे जलो! बिना किसी कामना के (अपकामं) सदा बहते हुए तुमकों जब सम्राट् (इन्द्र) अ शक्तियों से रोक लेता है तो तुम्हारा नाम (वार) हो जाता है। इस मन्त्र में नदियों को रोककर निकाली नहरों का नाम 'वार' बताया गया है।

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् स्यन्दमाना यथावशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥[७२]

---

६६. यजुर्वेद, ६/१२
६७. निरुक्त, 'घृतमित्युदकनामसु पठितम्।'
६८. अथर्ववेद, ३/१३/१
६९. वही, ३/१३/२
७०. 'आदित्येन वेति सायणः। वरुण शब्दः सूर्यार्थे बहुत्र वैदिकसाहित्ये प्रयुज्यते।'
७१. अथर्ववेद, ३/१३/३
७२. वही, ३/१३/४

अर्थात् अपनी इच्छा से बहते हुए हे जलो! जब तुमको वह एक देव (इन्द्र) अपने शासन में ले आता है (अप्यतिष्ठत्) तो तब तुम यह जो ऊपर की सांस निकालते हो (उदानिषु:) अर्थात् धरती में से बाहर आते हो और महिमा वाले (मही:) बन जाते हो, इससे तुम्हारा नाम 'उदक' हो जाता है।

इस प्रकार वेद में नदी, आप:, वार और उदक नामक चार प्रकार की नहरों के जलों का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

कूप-लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि सिंचाई के लिए नदियों से निकाली गई नहरों की उपयोगिता अत्यन्त छोटे क्षेत्रों तक ही सीमित थी। अत: कृषि क्षेत्रों में आने वाले बड़े-बड़े भू-भागों को सींचने के लिए यह आवश्यक समझा गया होगा कि नहरों के साथ-साथ छोटे-छोटे कुएं, तालाब और जलाशय आदि का निर्माण कराया जाए ताकि देश का एक विशाल भू-भाग अत्यन्त आसानी से सींचा जा सके। दूसरा नहरों की अपेक्षा कुओं, तालाबों तथा जलाशयों आदि का निर्माण कम श्रम साध्य तथा व्यय साध्य था। इनका निर्माण बिना राजकीय सहायता के व्यक्तिगत प्रयासो से भी सम्भव था। तीसरा कुओं की एक विशेषता यह थी कि गर्मियों में अथवा अधिक वर्षा के अभाव में जब छोटे-छोटे तालाब और पोखरियाँ भी सूख जाती रही होगी तब भी गहरे कुओं के नीचे का जल प्राप्य था। साथ ही वे आवश्यकतानुसार चाहे जहाँ भी हो, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर बनवाए जा सकते थे। अत: सिंचाई में इनकी उपयोगिता को देखकर कालान्तर में इनके निर्माण के लिए लोगों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से इसे धार्मिक उद्देश्य से जोड़ दिया गया। इनका निर्माण और दान महान पुण्य कार्य माना जाने लगा। साहित्य तथा अभिलेखों में इनके निर्माण तथा दान से सम्बन्धित उद्धरण भरे पड़े हैं। पुरातात्विक उत्खननों के दौरान भी ईटों के बने छल्लेदार कुएं (Ringwalls) तथा तालाबों के साक्ष्य प्रकाश में आये हैं। लेकिन वैदिक साहित्य में इनके धार्मिक महत्त्व के उद्धरण नहीं मिलते।

नहरों की भाँति कुएं भी वैदिक काल में सिंचाई का प्रमुख माध्यम थे। भगवान सिंह[७३] के अनुसार ऋग्वेद में अकेले कुएं के तेरह पर्याय मिलते हैं। ये हैं-कूप[७४], कर्त[७५], वव्र[७६], काट[७७], खात[७८], अवत[७९], क्रिवि[८०], सूद[८१], उत्स[८२], कारोतर[८३], ऋश्यदात[८४] और केवट[८५] आदि। निघण्टुकार ने एक अन्य वैदिक प्रयोग

---

७३. भगवान सिंह, पूर्वोक्त, पृ० ९९
७४. ऋग्वेद, १/१०५/१७, वाज०सं०, २२/२५, तैत्ति०सं० ४/५/७/२, ७/४/१३/१, तैत्ति०ब्रा० ३/८/१७/५, आप०श्रौ०सू० २०/११/१७
७५. वही, २/३४/६
७६. वही, ५/३२/८
७७. वही, १/१०६/६
७८. वही, ४/५०/३
७९. वही, १/५५/८, १/८५/१०,११, १/११६/९,२२, १/१३०/२, ४/१७/१६, ४/५०/३, ८/४९/६, ८/६२/६, ८/७२/१०,१२, १०/२५/४, १०/१०१/५,७, वाज०सं० १३/७, तैत्ति० सं० ४/२/८/३, मैत्रा०सं० २/७/१५, शत०ब्रा० ७/४/१/२९
८०. वही, ५/४४/४
८१. वही, १०/६१/२
८२. वही, २/१६/७
८३. वही, १/११६/७
८४. वही, १०/३९/८
८५. वही, ६/५४/७

कातु का भी उल्लेख किया है। लेकिन यह कहना कठिन है कि इन विभिन्न शब्दों का प्रयोग किस तरह के कुँओं के लिए होता था। सम्भव है कि इनमें कुछ कुएं न होकर मामूली गड्ढे ही रहे हों जैसा कि काट, खात, अवत और ऋश्यदात से प्रकट होता है।

ऋग्वेद के अनुसार मानव नहरों के समान कूप खोदकर खेत बगीचा आदि की सिंचाई कर उससे उत्पन्न अन्नादि से प्राणियों को तृप्त करके सुखी करते हैं।[८६] ऋग्वेद में ऐसे कुओं का भी उल्लेख मिलता है जिनका जल कभी समाप्त नहीं होता था। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि उत्तम जल पीने के स्थान से युक्त, उत्तम रस्सियों से युक्त, सुखपूर्वक सेचन करने वाले, अक्षय जल वाले कूप से हम सिंचाई कार्य करते हैं।[८७] वहीं दूसरे स्थान पर कहा गया है कि गौ आदि पशुओं के जल पीने के लिए पर्याप्त स्थलों का निर्माण करो, रस्सी बटकर श्रेष्ठ जलस्रोतों से युक्त, उत्तम रीति से खेतों को सींचने में सक्षम, अजस्र स्रोत वाले कुएँ से जल लेकर सिंचाई करो।[८८] अन्यत्र ऋग्वेद में रस्सी, बाल्टी (कोश) तथा चक्र द्वारा कुँओं से पानी निकालने का उल्लेख मिलता है।[८९] ऋग्वेद में ऐसे कूपों का भी वर्णन है जो अस्थायी होते थे अर्थात् खोदे गये गड्ढे।[९०]

ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के अतिरिक्त बाद के साहित्य[९१] में भी सिंचाई के लिए कूप का वर्णन आया है जो पृथ्वी के एक कृत्रिम छिद्र या गर्त का द्योतक है। कुछ दशाओं में ये गहरे रहे होंगे, क्योंकि पौराणिक कथा में त्रत के एक ऐसे ही गड्ढे में गिर जाने की बात कही गई है, जिसमें से वे बिना सहायता के स्वयं नहीं निकल सके थे।[९२] गहरे जल से तथा सदैव परिपूर्ण रहने वाले (आक्षित) कूप से चर्म-रज्जु की सहायता से जल खींचने का ऋग्वेद का वर्णन भी सम्भवत: इसी आशय का द्योतक है।[९३] शतपथ ब्राह्मण में भस्त्र (आधुनिक चड़स) नामक यत्र द्वारा सिंचाई के लिए कुएं से जल निकालने का उल्लेख मिलता है।[९४] इसी ग्रन्थ में सूद नामक किसी जलागार का उल्लेख है जिसका अभिप्राय सेन्ट पीटर्सबर्ग कोश में 'कूप' मिलता है।[९५]

इन उद्धरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि इस काल में कूपों का उपयोग मुख्य रूप से मनुष्य तथा पशुओं के पीने के पानी के लिए ही उपयोग में आता था। लेकिन वेदों में कुल्या तथा सुषिरा के जो उल्लेख मिलते हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में कुल्याओं के माध्यम से नदियों का पानी जलाशय में एकत्र किया जाता था। इसी प्रकार कुओं का पानी भी चौड़ी नालियों द्वारा जलाशय में एकत्र किया जाता था। इसके अतिरिक्त वर्षा का पानी भी इन जलाशयों में एकत्र हो जाता होगा। जिनका उपयोग अन्य कार्यों के अतिरिक्त वर्षा ऋतु के विपरीत समय में जलाशयों से नालियों (सूषिरा) द्वारा जल खेतों तक पहुँचाकर सिंचाई के लिए भी किया जाता होगा। यह पद्धति वर्तमान समय में भी प्रचलित है। जब वर्षा के

---

८६. वही, १/८५/११, 'जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिंचन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे। '
८७. वही, १०/१०१/६, 'इष्टकृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्। उद्रिणं सिंचे अक्षितम्। '
८८. वही, १०/१०१/५, 'निराहावान् कृणोतन स वरत्रा दधातन। सिंजामहा अवतमुद्रिण वयं सुषेकमनुपक्षितम्॥
८९. वही, १०/१०१/७, 'द्रोणाहावमवतमश्मचक्रम सत्र कोशं सिंचता नृपाणाम्। '
९०. वही, १/१०५/१७, 'त्रित: कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये। '
९१. अथर्ववेद ५/३१/८, शत० ब्रा० ३/५/४/१, ४/४/५/३, ६/३/३/२६, जैमि० ब्रा० १/१८४
९२. ऋग्वेद, १/१०५/१७, १/११६/९,२२,४/५०/३, मैकडॉनल, वैदिक माइथालॉजी, पृ० ६७
९३. वही, १०/१०१/६
९४. शतपथ ब्राह्मण, १/१/२/७
९५. वही, ८/७/३/२१, 'सेंट पीटर्सवर्ग कोश' (सूद शब्द)

कत्र हुए जल को या कुएं के जल को छोटी-छोटी नालियों के माध्यम से खेत में पहुँचाया जाता है।

तालाब-नहरों एवं कूपों के समान तालाबों एवं जलाशयों को भी सिंचाई का मुख्य साधन माना जाता । वैदिक साहित्य में तालाब अथवा जलाशय को वेशन्ता,[९६] वेशन्त्या,[९७] वेशन्ती[९८] तथा वेशान्ता[९९] आदि नामों सम्बोधित किया गया है तथा इसके बांध को वर्त्र कहा गया है।[१००] सूखे हुए तालाब के कीचड़ को सूद नाम जाना जाता था।[१०१] मैकडॉनल एवं कीथ[१०२] के अनुसार वेदो में तालाब एवं जलाशयों के लिए 'ह्रद' शब्द मिलता है।[१०३] साथ ही उन्होंने ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में प्रयुक्त खनित्रिमा शब्द को भी कृत्रिम जलाशयों का तक माना है।[१०४] विपरीत ऋतुओं के लिए वर्षा जल को संग्रहित करने के लिए वैदिक कृषक जलाशयों एवं लाबों का निर्माण करते थे। भारत अति प्राचीन काल से ही कृत्रिम जलाशय के निर्माण की सिद्धहस्तता के ए प्रसिद्ध रहा है। राजबली पाण्डेय ने मोहनजोदड़ों के स्नानागार का हवाला देते हुए इसका समर्थन किया ।[१०५] लेकिन वैदिक साहित्य में जिस प्रकार राष्ट्रहित में सिंचाई के लिए राजा को नहरों के निर्माण का आदेश या गया है उसी प्रकार कुओं तथा तालाबों के निर्माण का उल्लेख नहीं मिलता है। इससे यह सहज ही नुमान लगाया जा सकता है कि परवर्ती काल की भांति इस काल में भी सिंचाई हेतु कुओं और तालाबों जैसी टी सुविधाओं का निर्माण प्राय: व्यक्तिगत अथवा सामुदायिक प्रयास से ही होता होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण इस तथ्य के परिचायक है कि कृषि की सफलता के लिए वैदिक काल में भारतीय कृषकों ने सिंचाई के कृत्रिम साधनों की पर्याप्त व्यवस्था कर ली थी। लेकिन इन जल स्रोत्रों के र्माण पर राज्य द्वारा किसी प्रकार का प्रोत्साहन तथा हानि पहुँचाने पर किसी प्रकार का दण्ड दिया जाता था थवा नही? इस सन्दर्भ में वैदिक साहित्य से तो कोई जानकारी नहीं मिलती, लेकिन परवर्ती ग्रन्थों में इस कार के कार्यों को न केवल पाप बताया गया है अपितु ऐसे कार्यो को दण्डनीय अपराध भी माना गया है।

कृषि की सिंचाई के साथ-साथ इस बात पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था कि कृषि के पयोग में आने वाला जल दूषित न हो। वैदिक ऋषि जल-शोधन के उपायों से अच्छी प्रकार परिचित थे। जुर्वेद में प्रार्थना की गई है कि हे जलो! अशुद्ध वस्तुओं ने यदि तुम्हें अपवित्र कर दिया है तो मैं तुम्हें शुद्ध र देता हूँ।[१०६] ऋग्वेद में कहा गया है कि यदि नदियों का जल विषैला हो गया है तो सब विद्वान् जन मिलकर

---

६. अथर्ववेद, ११/६/१०, २०/१२८/८-९, तैत्ति०सं० ४/५/७/१, तैत्ति०बा० ३/४/१२/१

७. वही, १/३/७

८. तैत्तिरीय संहिता, ७/४/१३

९. बृहदारण्यक उपनिषद, ४/३/१०

००. अथर्ववेद, १/३/७

०१. ऋग्वेद, १०/६१/२, तैत्ति०ब्रा० १/१/३/५, १/२/१/३, शत०ब्रा० ८/७/३/२१

०२. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ५६३

०३. ऋग्वेद १/५२/७, ३/३६/८, ३/४५/३, १०/४३/७, १०/७१/७, १०/९५/६, १०/१०२/४, १०/१४२/८; अथर्व० ४/१५/१४, ६/३७/२, २०/१७/७, पंच०ब्रा०, २५/१०/१८, शत०ब्रा० ४/१/५/१२, ११/५/५/८, वाज०सं० २५/८, मैत्रा०सं० ३/१५/७, निरुक्त, १/९

०४. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २३८

०५. भारती, १९५९-६०, नं० ३, पृ० १४७

०६. यजुर्वेद, १/१३, 'यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि।'

उसे दूर कर ले।[१०७] इस प्रकार सब नदियाँ प्रदूषण रहित हो जाए।[१०८]

इस प्रकार वर्तमान काल के कृषकों की भाँति वैदिक कृषक जहाँ एक ओर प्राकृतिक रूप से प्राप्त होने वाले वर्षा और नदियों के जल से सिंचाई करते थे वही दूसरी ओर कृत्रिम साधनों नहर, कुएं, तालाब एवं जलाशय आदि के द्वारा भी सिंचाई करके अपनी फसल को हरा-भरा रखते थे। नहरों (कुल्या) का निर्माण तत्कालीन कृषकों की कुशलता एवं परिश्रम का परिचायक है। स्पष्टतः वैदिक साहित्य से उच्च कोटि की विकसित सिंचाई व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है।

---

१०७. ऋग्वेद, ७/५०/३, 'यच्छल्मलौ भवति यत् नदीषु यदोषधीभ्यः परि जायते विपम्। विश्वे देवा निरितस्तत् सुवन्तु मा मां पद्येन रपसा विदत् त्सरुः॥ '

१०८. वही, ७/५०/४, 'शिवा देवीरशिपदा भवन्तु, सर्वा नद्यो अशिमिदा भवन्तु। '

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०९२-९८) ISSN 0974 – 8830

पर्यावरण-संरक्षण में वैदिक यज्ञों की भूमिका

डॉ. गीतादेवी गुप्ता[१]

परिदृश्यमान इस जगत् के कण-कण में ब्रह्मात्मक सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराने वाली ब्रह्मवाणी 'वेद' में पर्यावरण-संरक्षण के वे सभी जीवन-सूत्र निहित हैं, जो सदा से मानव जीवन को संरक्षण प्रदान करते आये हैं! अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से ब्रह्मवाणी का साक्षात्कार करने वाले वैदिक ऋषिगण सुखद एवं शान्तिपूर्ण जीवन के लिये पर्यावरण के प्रति सदैव सतर्क एवं संवेदनशील रहे हैं यही कारण है कि प्रत्येक यज्ञीय विधान की समाप्ति पर पर्यावरणीय घटकों में शान्ति एवं सन्तुलन की प्रार्थना उनके यज्ञों का अभिन्न अंग रही है।

'द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।'[२]

मानव जीवन को संरक्षण प्रदान करने वाले इस रक्षा-कवच की अपरिहार्यता को दृष्टिगत रखकर ही वैदिक ऋषि मुनियों ने पर्यावरण-पूजन को अपनी संस्कृति का अविभाज्य अंग बना रखा था, जैसा कि अथर्ववेद में कहा गया है कि भूमि जिसकी पादस्थानीय और अन्तरिक्ष उदर के समान है; द्युलोक जिसका मस्तक है उस परम ब्रह्म को नमस्कार है।

'यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'[३]

वैदिक विचारधारा के अनुसार ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण विश्व का एकमात्र मूल कारण है जैसा कि **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'**[४] **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्, स सर्वं भवति**[५] इत्यादि श्रुतिवाक्यों से स्पष्ट होता है। उक्त वैदिक ज्ञान को विज्ञान की श्रेणी में लाने वाली मानव मेधा ने जागतिक पदार्थों को जड़ तथा चेतन इन दो वर्गों में विभाजित किया; जिन्हें ABIOTIC तथा BIOTIC के नाम से जाना गया इस प्रकार अपने चारों तरफ विद्यमान वायुमण्डल, स्थलमण्डल तथा जलमण्डल के सभी घटकों, भूखण्डों, नदियों जल-प्रपातों तथा पञ्चतत्वों आदि को ABIOTIC (जड़) के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जबकि पेड़ पौधों, मानव तथा श्वासधारी प्रत्येक जीव BIOTIC (चेतन) को श्रेणी में संकलित किया गया जड़ और चेतन दोनों पदार्थ परस्पर सापेक्ष तथा अन्योन्याश्रित कहे गए हैं। चेतन मानव तथा पशु पक्षियों को अपने जीवन को धारण करने के लिए जड़ पदार्थों की आवश्यकता होती है और जड़ पदार्थों को चेतन के संरक्षण की अपेक्षा है। इस प्रकार मानव और पर्यावरण दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उक्त पर्यावरणिक घटकों की मानव जीवन में अपरिहार्यता दर्शाने के लिए ही अथर्वा ऋषि पृथ्वी के सुसमृद्ध बने रहने की प्रार्थना इस प्रकार करता है।

---

१ वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, एस.एन.सेन बा०वि० पी०जी०कालेज, कानपुर (उ०प्र०) मो०९४५०१२६७३० ०५१२-२५८३७६२

२ यजुर्वेद ३६/१७

३ अथर्ववेद १०/७/३२

४ ईशावास्योपनिशद्-१

५ ऋग्वेद १०/९०/२

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु।।[६]

अब प्रश्न यह है कि पर्यावरण जैसे महत्त्वपूर्ण सुरक्षा-कवच में प्रदूषणरूपी कलुष आखिर आया कहाँ से? औद्योगीकरण के इस युग में पर्यावरणीय संसाधनों के अधिकाधिक दोहन से पर्यावरणीय घटकों में भयंकर असन्तुलन उत्पन्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप मानव अस्तित्व पर ही खतरे के बादल मँडराने लगे हैं। मानव-जीवन को खतरे में डालने के लिये मानव ही स्वयं जिम्मेदार भी है; क्योंकि हमने पर्यावरण और मानव-जीवन की परस्पर सापेक्षता की सर्वथा उपेक्षा की है मानव-जीवन को आधार प्रदान करने वाली भूमि से लेकर प्राणवायु का संवाहक वायुमण्डल तक सभी प्रदूषित होकर विश्व-समाज के समक्ष विकराल समस्या के रूप में उपस्थित है।

हमारे वेदकालीन ऋषि मुनियों की पर्यावरण संरक्षण के प्रति सदा से जो जागरूकता थी उसी के परिणाम स्वरूप वे अपनी आयुष्य का सम्पूर्ण जीवन नीरोगता में व्यतीत करते थे यथा-**जीवेम शरदः शतम्** तथा **जिजीविषेच्छतं समाः** (ईशावास्योपनिषद्) मनुस्मृतिकार **'सर्वज्ञानमयो हि वेदः'** तथा **'देवपितृमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्'** द्वारा मानव जाति को सतत दिशानिर्देश देते आए है; पर भौतिकतावाद की प्रतिस्पर्धा में हमने ही अपने हितैषी वैदिक ऋषियों के आप्त वचनों की उपेक्षा की; और परिणाम हमारे सम्मुख है।

यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाए तो संसार का किञ्चित्मात्र भी पदार्थ (सूक्ष्मतम-अणु) अनुपयोगी नहीं है क्योंकि सृष्टिकार ने सृष्टि संचालन के लिए जो जीवन चक्र रचा है उसकी विशिष्टता ही कुछ ऐसी है। इस संसार में उपलब्ध प्रत्येक पदार्थ अन्योन्याश्रित भाव से किसी दूसरे को आधार प्रदान करके स्वयं के अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम होता है। उदाहरण के लिये पेड़-पौधे और वनस्पतियाँ; ये सूर्य के प्रकाश तथा चन्द्रमा की किरणों से मानव को प्राणवायु और स्वास्थ्य प्रदान करती है, वृक्ष मानव द्वारा उत्सर्जित कार्बनडाइऑक्साइड को अपने भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं इस प्रकार एक का उत्सर्जित पदार्थ दूसरे का प्राणाधार बनकर सृष्टि-प्रक्रिया को सातत्य प्रदान करता है उक्त सापेक्षता पर ही सृष्टि-चक्र आश्रित रहता है।

श्रुतिभगवती श्रीमद्भगवद्गीता में सृष्टि-चक्र के सिद्धान्त को इस प्रकार निरूपित किया है।[७]

'सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'।।

वेदों में यज्ञ की जो अनन्त महिमा गाई गई है वह मानव जीवन के संरक्षण के उद्देश्य से ही कही गई है- **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'**[८] **पुरुषो यज्ञः पुरुषसंमितो यज्ञः**[९] **यज्ञाः पृथ्वीं धारयन्ति तथा यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः**[१०] आदि श्रुतिवाक्य यज्ञ-महिमा का निरूपण करते हैं। शतपथ ब्राह्मण में तो समस्त कर्मों मे

---

६ अथर्ववेद पृथ्वी सूक्त ६
७ श्रीमद्भगवद्गीता-अध्याय ३ का १० एवं ११ श्लोक
८. शुक्ल यजु० २३/११
९ शतपथ ब्रा० ३/१४
१० अथर्ववेद ९,१०,१४

श्रेष्ठ कर्म यज्ञ को कहा गया है, इसी कारण यज्ञ को ईश्वरीय यज्ञ भी कहा गया है- **'प्रजापतिर्वे यज्ञः।** श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं की यज्ञरूपता इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं[११] तथा यज्ञ को देहधारियों का कर्तव्य तथा पावन करने वाला बताया है।

'अहं केतुरहं यज्ञः स्वधामहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।' (गीता ९,१६)

यज्ञ महिमा को शुक्ल यजुर्वेद में इस प्रकार बताया गया है-[१२]

'तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।' (३१/९)

वैदिक संस्कृति में यज्ञ विधान द्वारा परस्पर भावन की जो दिव्य सुर-सरिता प्रवाहित की गई है, उसमें अवगाहन से शुद्ध-पूत हो, हम भारतीय आर्यत्व के पद पर समासीन हो, विश्व को आलोक प्रदान करने में सक्षम हुए थे; पर यज्ञीय सुर सरिता का प्रबल प्रवाह आज अवरुद्ध सा हो गया है- यही कारण है कि सूखा, अनावृष्टि, सुनामी तथा भूस्खलन जैसे प्राकृतिक प्रकोपों का भाजन होना पड़ रहा है।

वस्तुतः सृष्टिचक्र ही एक यज्ञ है, जीवन भी एक यज्ञ है, वैज्ञानिक दृष्टि जिसे जीवन-चक्र, जलीय-चक्र तथा उर्जा-चक्र आदि के रूप में प्रतिपादित करती है वेद में उसी को 'यज्ञ' कहा गया है। यही कारण है कि पृथिवी को धारण करने में यज्ञों की महिमा इस प्रकार गाई गई है **'यज्ञाः पृथिवीं धारयन्ति'** तथा **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।'**[१३]

सभी देहधारियो द्वारा शरीर निर्वहन के लिए ग्राह्य भोज्य पदार्थ प्राणरूप देवता के लिए यज्ञीय समिधा कही गई है। छान्दोग्योपनिषद् में तो सन्तति उत्पत्ति की प्रक्रिया को भी यज्ञीय विधान बताया गया है। पुरुष के रेतरूप शक्तिपुंज का स्त्रीरूपी अग्नि में हवन के परिणाम स्वरूप ही सृष्टि प्रक्रिया के प्रवहन की बात इस प्रकार कही गई है।[१४]

यज्ञ निष्पादन से सर्जित होने वाला कास्मिक परिमण्डंल ही वर्षा के मूल रूप बादलों का निर्माण करता है यही कारण है कि श्रुति भगवती श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ को कर्म समुद्भव तथा ब्रह्म प्रतिष्ठित कहा गया है।

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञ कर्मसमुद्भवः।।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।'
'समानमेतदुदकम् उच्चैत्यव चाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः।।

---

११ तदैव अध्याय ९/१६
१२ यजुर्वेद ३१/९
१३ अथर्ववेद ९/१०/१४
१४ छान्दाग्योपनिशषद् ५/७-८

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टि वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥[१५]

उक्त यज्ञीय महत्त्व पर्जन्य-वृष्टि तक ही सीमित नहीं रहता अपितु पर्यावरण प्रदूषण से उत्पन्न होने वाली अनावृष्टि की समस्या के निवारणार्थ भी हमें मार्ग बताता है।

पर्यावरण संरक्षण में वैदिक चिन्तन-धारा का कोई जोड़ नही। पर्वतों, पर्वतखण्डों में देवभाव, नदियों में मातृभाव, वृक्षों में पूज्यता ये सभी वैदिक चिन्तन की पर्यावरण के प्रति सतर्कता को ही प्रकट करते हैं। प्राकृतिक उपादानों का मानव सदुपयोग करते हुए उनका संरक्षण और संवर्धन करें इसी भाव से उनमें दैवत्व तथा पूज्यता की संकल्पना की गई है।[१६] **माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः** (अथर्ववेद पृथ्वीसूक्त) का उद्घोष भी धरती माता के रक्षणार्थ ही दिया गया है।

मानव जीवन का आधार है अन्न **'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते अन्नेन जातानि जीवन्ति'**[१७] इस प्राणाधार अन्न का आधार है वर्षा; और वर्षाऋतु के प्राकृतिक सौन्दर्य को उत्सव मानकर ऋग्वेद इस प्रकार आह्लादित होता है।

'ब्रह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परिष्ठः यन्मूण्डूका प्रावृषीण बभव'॥[१८]

वैज्ञानिक दृष्टि से मानव को प्राणधारण के लिए जितने अन्न की आवश्यकता होती है उससे पन्द्रह गुनी आवश्यकता प्राणवायु की होती है और प्राणवायु के शुद्धीकरण में यज्ञों की महती भूमिका किसी से छिपी नहीं सन् १९८४ की भोपाल गैस त्रासदी के शिकार हजारों लोग हुए। ०३ दिसम्बर सोमवार मध्य प्रदेश के भोपाल में गैस फैक्ट्री से निकली असंयमित जहरीली गैसों के उत्सर्जन से जब वहाँ का वायुमण्डल प्रभावित होकर लोगो को प्राणहीन कर रहा था, उसी विध्वसंक घड़ी में प्राध्यापक श्री एस.एल. कुशवाहा ने अपना नित्य अग्निहोत्र आरम्भ कर दिया और अग्निहोत्र (यज्ञ) के आरम्भ के ठीक बीस मिनटों में उनके निवास का वायुमण्डल प्रदूषित गैसों से रहित हो गया। अग्निहोत्र तो यज्ञ का सूक्ष्म प्रकार है और यज्ञ के इस सूक्ष्म प्रकार से जब वायुमण्डल शुद्ध होता है तो यज्ञीय विधि-विधानों से वायुमण्डल के साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण होता है इस बात की महिमा से कोई मुख नहीं मोड़ सकता।[१९] **'एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। इदं सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञः॥'**

भौतिक विज्ञान की दृष्टि से इस संसार में ऊष्मा तथा ध्वनि इन दो शक्ति स्रोतों को अति महत्त्वपूर्ण माना गया है। यज्ञ करने से उत्पन्न अग्नि की ऊष्मा तथा मन्त्रोच्चार से उद्भूत ध्वनि शक्ति ये दोनों मिलकर हमारे लिए अपेक्षित लाभ प्रदान करते हैं। यज्ञाग्नि में हुत विशिष्ट पदार्थ शक्ति स्रोत में परिवर्तित होकर पर्यावरण में सकारात्मक प्रभाव छोड़ते हैं। यज्ञ द्वारा उत्पन्न इलेक्ट्रोमेग्नेटिक तरंगें; मन्त्रोच्चार द्वारा उत्पन्न ध्वनि शक्ति को वायुमण्डल में प्रसारित करने में सहायक होती हैं। मन्त्रोच्चारण से उत्पन्न तरंगें मानव मस्तिष्क, वृक्ष तथा

---

१५ श्रीमद्भगवद्गीता १३/१४-१५ तथा ऋग्वेद १,१६४,५१ मनुस्मृति ३,७६
१६ शतपथ ब्रा० ६,१,३,१२ यजु० १६,१७-१९
१७ तैत्तिरीयोपनिषद् ३/२
१८ ऋग्वेद ७/१०३/७१
१९ छान्दोग्योपनिषद् ४,१६,१

जीवधारियों पर सकारात्मक प्रभाव डालती हैं। अमेरिकन वैज्ञानिक डॉ० हॉवर्ड स्टेनगल के अनुसार गायत्री मन्त्र के उच्चारण से प्रति सेकेण्ड एक लाख दस हजार ध्वनि तरंगें उत्पन्न होकर जीवनदायक शक्ति वर्धन में सहायक होती हैं।[२०]

यज्ञ में हुत पदार्थ इन तीन श्रेणियों से होकर गुजरता है-'फोटो केमिकल डिकम्पोजीशन' 'आक्सीडेशन' तथा 'रिडक्शन' जिससे CO_2 भी एक सीमा तक आक्सीजन में परिवर्तित हो जाता है।

यज्ञ में प्रयुक्त अग्नि कुण्डों का पिरामिड आकार भी ऊर्जा क्षेत्र तथा ऊर्जा केन्द्र के रूप में होता है। वस्तुत: हवन कुण्ड-शक्ति स्रोत का एक ऐसा केन्द्र होता है जहाँ से शक्ति का प्रसारण सभी दिशाओं में होता है। यज्ञ-कुण्डों की पिरामिड आकृति का सम्बन्ध कॉस्मिक-ऊर्जा क्षेत्र से होता है।

यज्ञ, प्रकृति की BIORHYTHMS पर आधृत है। जीवन के लिये शुद्ध वायु की अपरिहार्यता का दिग्दर्शन वेदों में उपलब्ध होता है-[२१] इतना ही नहीं शुद्ध वायु को वेदों में रोगों की औषधि बताया गया है। अग्रिम ऋचा (१०/१८६/१) में शुद्ध वायु को आयुष्य-वर्धक कहा गया है।[२२]

आयुष्यवर्धक वायु के शुद्धिकरण में यज्ञ की भूमिका सर्वोपरि है। ऋतुसंक्रमण काल में नवरात्र के नौ दिनों में घर-घर में हवन की सूक्ष्म प्रक्रिया इस बात का द्योतक है कि हमारी आर्य परम्परा में यज्ञ को वायु-शुद्धिकरण का प्रमुख हेतु माना गया है।

मानव जाति के प्राणधारण में वायु के पश्चात् जल को महत्त्वपूर्ण घटक माना गया है 'जल ही जीवन है' का घण्टानाद इस तथ्य को उजागर करता है। हमारे शरीर में लगभग बहत्तर प्रतिशत भाग जलीय होता है और इस जल तत्त्व के अपरिहार्यता की ओर वेद इस प्रकार निर्देश करता है। **तस्मा अरं गमाम, वो यस्य क्षयाय जिन्वथ आपो जनयथा च न।**[२३] (ऋग्वेद १०/९/३) जल को अन्नार्थ उपयोगी कहा गया है-साथ ही जल पर जीवन और नाना प्रकार की औषधियों-वनस्पतियों के आश्रित होने की बात भी कही गयी है।[२४] सम्भवत: इसी सिद्धान्त को गीता में इस प्रकार कहा गया है।[२५]

शुद्ध जल ही मनुष्य को दीर्घायु के साथ नीरोगता प्रदान करता है इस सिद्धान्त को वेदों में कितनी दृढ़ता के साथ निरूपित किया गया है-**शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु न:।।** [२६]

जीवन धारण में जल की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए ही वैदिक ऋषि जल के साधनभूत 'मेघ' को विविध उपाधियों से समलंकृत कर उनकी कृपा याचना करता है।

विश्व साहित्य अथवा यूँ कहिए कि विश्व ज्ञान-गंगा के गोमुख स्वरूप 'ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही यज्ञ के देवता अग्नि देव की स्तुति से आरम्भ होता है जिससे मानव जीवन तथा मानव संस्कृति में यज्ञ की अग्रता स्वत: सिद्ध हो जाती है।

---

२० पत्रिका अखण्ड ज्योति
२१ ऋग्वेद १०/१३७/४
२२ तदैव १०/१८६/१
२३ ऋग्वेद १०/९/३
२४ अथर्ववेद ३/७,५
२५ श्रीमद्भगवद्गीता ३/१४-१५
२६ ऋग्वेद १०/९/४

'ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।।'[२७]

मानव ज्ञान और मनु-संस्कृति का यह प्रथम सोपान देव और यज्ञ के अटूट सम्बन्ध को निरूपित करता है। वस्तुतः यज्ञ का उद्देश्य ही देवाराधना है और देवाराधन ही गीतोक्त परस्पर भावन (श्रीमद्भगवद्गीता ३/१०-११) की प्रक्रिया है।

आदान-प्रदान प्रकृति का स्वभाव है। सूर्य अपनी किरणों से जल खींचकर सहस्रगुना प्रदान करता है, पृथ्वी से धारण शक्ति को, आकृष्ट कर वृक्ष फल और फूल देते हैं। पर आज का मानव है कि आदान (ग्रहण) तो करता है पर यज्ञ द्वारा प्रदान नहीं करता। यहीं से परस्पर-भावन के स्वाभाविक चक्र में अवरोध उत्पन्न होता है और अनावृष्टि, अल्प वृष्टि सुनामी तथा भूस्खलन जैसे दैवीय प्रकोपों का सामना करना पड़ता है।

यज्ञों की उक्त महत्ता को ध्यान में रखकर ही श्रुति-स्मृतिकारों ने यज्ञ को मानवजाति का प्रधान कर्म कहा है। जो लोग यज्ञ के वास्तविक रहस्य को नहीं समझते वे पत्रहीन वृक्षों की भाँति नष्ट हो जाते हैं क्योंकि यज्ञ ही पर्यावरण को सन्तुलित आधार प्रदान करते हैं।[२८]

तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार मानव के जन्म के साथ ही वह तीन प्रकार के ऋणों से बद्ध हो जाता है वे हैं-देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण। यज्ञ-विधान द्वारा मानव उक्त तीनों ऋणों से मुक्त होकर सृष्टि-संचालन में सहायक बनता है।[२९]

यज्ञ एक विज्ञान है; वस्तुतः यज्ञ एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें सजातीय और विजातीय पदार्थों के सम्मिश्रण से एक नवीन पदार्थ उत्पन्न होकर सृष्टि-संचालन में सहायक होता है। पंचभूतों का वांछित समन्वय बनाए रखने में यज्ञ की भूमिका सर्वोपरि है। यज्ञ का प्रयोजन मात्र वायुमण्डल की शुद्धि ही नहीं, अपितु देवतृप्ति भी है। यदि यज्ञ का प्रयोजन मात्र वायु शुद्धि ही होता तो उसमें हवि रूप में बहुमूल्य घृत, तैल, तिल आदि पदार्थों का व्यर्थ ही उपयोग न किया जाता; क्योंकि वायु शुद्धि तो सस्ते पदार्थों से भी सम्भव है। शुद्ध-भूमि तथा सुविज्ञ ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रोच्चार की अपरिहार्यता इस बात का प्रबल प्रमाण है कि याज्ञिक विधि-विधान द्वारा ब्रह्म के विविध अंश रूप देवता प्रसन्न होते हैं। अग्नि को देवताओं का मुख माना गया है। अतः जब यज्ञ में समिधा अर्पित की जाती है, तो उन पदार्थों को अग्नि देव सभी देवताओं पक पहुँचाकर उन्हें संतृप्ति प्रदान करते हैं। फलतः देवताओं की प्रसन्नता ही वृष्टिरूप में पृथ्वी पर पहुँचती है और वृष्टि से उत्पन्न अन्न और वनस्पतियाँ ही प्राणी के प्राणाधार है। इस प्रकार वृष्टि से परिपूर्ण धरती धन-धान्य से युक्त होकर पुनः याज्ञिक चक्र में संलग्न हो जाती है।

वैदिक युग का पारस्परिक सौहार्द्र तथा परार्थ त्याग, यज्ञ-संस्कृति की ही देन थी यज्ञ-संस्कृति की उपेक्षा का परिणाम हमारे सामने हैं-आज के मानव के जीवन की प्रथम किलकारी अस्पताल में सुनाई देती है और जीवन का अन्तिम पड़ाव भी विविध नलिकाओं और कृत्रिम गैस सिलिण्डरो के संजाल के मध्य ही होता है।

प्राचीन काल में गृहस्थ के लिए पञ्च महायज्ञ अनिवार्य होते थे। दैव यज्ञ, ऋषियज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्य-

---

२७ ऋग्वेद १/१/१

२८ मनुस्मृति

२९ तैत्तिरीय संहिता ३/१०/५ ; 'अग्ने वह हविराधाय देवान् (ऋग्वेद ७/११/५)

यज्ञ और भूत-यज्ञ; इन पञ्च यज्ञों के सम्पादन से छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा प्राणी भी संतृप्त हो जाता था यही गीतोक्त परस्परभावन का भाव था।

यज्ञों की उपेक्षा का परिणाम हमारे सामने हैं सुख-शान्ति तो गूलर के फूल के समान दिखाई ही नहीं देती। आज हमारे चिन्तन की धारा आत्मकेन्द्रित होकर रह गई है। **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'** का आदर्श मूढ़ प्रलाप बन गया है, मानव से मानव को तथा समाज को राष्ट्र से जोड़ने वाली कड़ी मात्र धर्माचरण में निहित है और ये धर्माचरण ही यज्ञ है, क्योंकि यज्ञ को परस्पर भावन की प्रक्रिया कहा गया है।

एक वैदिक आख्यान में पञ्चाग्नि विद्या के निरूपण में इस पृथ्वी लोक को प्रथम आहुति कहा गया है, उसमें सूर्य-प्रकाश की किरणें दिन चन्द्रमा, नक्षत्र आदि सभी को यज्ञीय उपकरण स्वीकार किया गया है जिससे पर्यावरण संरक्षण में इन घटकों की महत्ता सिद्ध होती है। (साधनांक पृष्ठ ६०८)

भौतिक तथा आध्यात्मिक द्विविध शक्तियों का सन्तुलित एवं सर्वोत्कृष्ट उपयोग है- यज्ञ। वैदिक ज्ञान-विज्ञान पर आधृत पत्रिका 'अखण्ड ज्योति'[३०] में यज्ञशाला को ऋषियों की प्रयोगशाला कहा गया है। यज्ञशालाओं में प्रयुक्त होने वाली विविध श्रेणी की काष्ठ समिधाओं (आम्र, अश्वस्थ, बिल्व उदुम्बर आदि) से उत्पन्न तापक्रम अलग-अलग होता है। हवन सामग्री के रूप में विविध गुणयुक्त नाना प्रकार की औषधीय पदार्थों का प्रयोग होता है। साथ ही नाना आकार-प्रकार के यज्ञकुण्डों का प्रयोग होता है, ये सभी घटक मिलकर यज्ञ-ऊर्जा की अभिवृद्धि करते हैं। यह यज्ञ ऊर्जा ही पर्यावरण के परिशोधन में सहायक होती है। यज्ञ विधान में विविध देवताओं को उद्देश्य करके मन्त्रों का उच्चारण होता है। मन्त्रोच्चारण में आरोह-अवरोह, यज्ञकर्ता तथा ऋत्विक्, होता, उद्गाता आदि की आध्यात्मिक ऊर्जा ये सभी यज्ञ के वैज्ञानिक प्रयोग में कुशल सन्तुलन उत्पन्न करते हैं। साथ ही विशिष्ट मुहुर्त तथा तिथियों में किए गए यज्ञ; वातावरण में प्रवाहित होने वाली ऊर्जा-तरंगों को ग्रहण करके उनकी गुणवत्ता को बढ़ाते हैं तथा पर्यावरणीय घटकों में सामञ्जस्य स्थापित करते हैं। इस प्रकार पर्जन्य-पर्यावरण-परिशोधन का रहस्य इन्हीं यज्ञों में समाविष्ट है। यज्ञवेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य ने तो मानव अस्तित्व को ही एक विशिष्ट यज्ञकुण्ड कहा है तथा मन प्राण और देहवाली तीन मेखलाओं के अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश को बताया है।

उक्त समस्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पर्यावरण-संरक्षण के क्षेत्र वैदिक यज्ञों की जो भूमिका है वह सर्वथा प्रशस्य तथा अनुकरणीय है। यज्ञानुष्ठान से लैकिक सुख समृद्धि के साथ-साथ पारलौकिक विश्रान्ति की भी प्राप्ति होती है।

---

३० अखण्ड ज्योति पत्रिका-शान्तिकुंज से प्रकाशित

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०९९-१०६) ISSN 0974 – 8830

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में पर्यावरण-संरक्षण

नीति गौतम[१]

सृष्टि में विधाता की वैज्ञानिक दृष्टि सर्वत्र द्रष्टव्य है। यहाँ अगणित विविधताएं हैं, किन्तु कुछ भी निरर्थक नहीं है। ऐसी विविधता भरी सृष्टि में मानव और प्रकृति का सहचरी भाव भी है और अनुचरी भाव भी। ये दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, यथा-मनुष्य वृक्ष-वनस्पतियों का पौधारोपण करके, उन्हें खाद-पानी देकर उनका पालन-पोषण करता है, तो वे वृक्ष वनस्पति अपने बीज, फल आदि भोज्य-पदार्थ प्रदान करके मानव के जीवन का आधार बनते हैं। अत: मानव एवं पर्यावरण के मध्य अटूट सम्बन्ध पुरातन काल से है। मानव में प्रकृति के प्रति अनुराग इतना अधिक है कि उससे अलग अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती, इसी भावात्मक जुड़ाव का वर्णन वेदों में है।

सनातन विचारधारा के प्रवर्तक हमारे पूर्वज (ऋषि-मुनि) अद्वितीय वैज्ञानिक, शोधकर्ता, मानव-कल्याण के प्रति समर्पित, दूरदृष्टि रखने वाले पथ प्रदर्शक थे। वे अपने स्वाध्याय के माध्यम से ज्ञात कर चुके थे कि प्रकृतिद्वारा स्थापित विधान के अन्तर्गत सभी कुछ भी निरर्थक नहीं है। सूर्य, वायु, जल, मिट्टी, वनस्पति, जीव-जन्तु आदि सभी एक-दूसरे के हित में सदा सहयोगी बने रहते हैं। ये मानव के हितैषी हैं, अत: मानव को भी चाहिए कि वे इन पर्यावरणीय पदार्थों का यथाचित उपयोग करें और सदा ही इन संरक्षण में निरत रहें।

हमारे दूरदर्शी पूर्वजों ने अपनी प्रतिभा से यह देखा की वनस्पतियाँ पृथ्वी का यकृत् हैं। क्योंकि वे सभी जीवनस्वरूपों के लिए स्वच्छ हवा, पानी, भोजन एवं आवास का प्रबन्ध करती हैं, इसलिए इनका संरक्षण होना अति आवश्यक है। लोक में यह मान्यता है कि यदि हम दिव्य शक्तियों के निवास-स्थल इन वृक्षादि को नष्ट कर देंगे तो सम्बद्ध देवताओं के कोप-भाजन भी बन सकते हैं। इस भय ने बड़ी सीमा तक पेड़ों को काटने और उन्हें काटने के कारण बढ़ने वाले प्रदूषण से संसार को बचाया रखा। वृक्षों पर अध्ययन और प्रयोग करके उनके गुणों को पहचाना गया। तदनुसार ही उनके उपयोग तथा स्थान को निर्धारित किया गया। यथा तुलसी का पौधा घर के आँगन में और नीम तथा पीपल का पेड़ घर के बाहर लगाया जाता है। पीपल का पेड़ सर्वाधिक ऑक्सीजन निःसृत करता है, यह वृक्ष एक घंटे में १७१३ लीटर प्राणवायु (ऑक्सीजन) का उत्सर्जन करता है और २२५२ लीटर कार्बनडाइऑक्साईड (Co_2) का प्रभक्षण करता है। पीपल वृक्ष को भगवान् विष्णु और वटवृक्ष को भगवान् शंकर का स्वरूप प्रदान करने पर इन वृक्षों की स्थायी संरक्षण की व्यवस्था कितनी सफल सिद्ध हुई है, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आज भी भारतीय जनमानस में अधर्म के भय से इन वृक्षों को न काटने की भावना भरी है। **वटमूले स्थितो ब्रह्मा वटमध्ये जनार्दनः। वटाग्रे तु शिवो देवः सावित्री वटसंक्षिता।** वनस्पतियों में प्राकृतिक रूप से विद्यमान गुण-धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए आयुर्वेद के प्रवर्तक आचार्य चरक ने कहा है कि प्राकृतिक रूप में उगने वाली सभी वनस्पतियाँ किसी-न-किसी रूप में उपयोगी होती है।

---

१. नीति गौतम पत्नी श्री रमाकान्त कालिया, म.न.३८७, वार्ड नं०१२, नजदीक सोढी मन्दिर, कुराली, जि०मोहाली पंजाब मो००९७७९००५११३

ऋग्वेद और पर्यावरण

भारतीय संस्कृति की सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद है जिसमें वृक्षों के बारे में वर्णन मिलता है। वेद-पुराणों में पर्यावरण सम्बंधी विभिन्न दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं जो पर्यावरण संरक्षण में सहायक सिद्ध होते हैं। वृक्ष जीव मात्र के उपकारी हैं और सर्वपूज्य भी हैं। वेद में पीपील, वटवृक्ष, सोमलता, इत्यादि को पूजनीय बताया गया है। सभी वृक्षों में सोम का उल्लेख वन के राजा के रूप में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के पूरे नवम मण्डल तथा अन्य मण्डलों में भी सोम की स्तुतियां हैं। सोम को विकरण का आश्रयभूत और गुरुत्वाकर्षण का कारण कहा गया है। ऐसी मान्यता है कि उससे आकाश में नक्षत्रादि सन्तुलित रहते हैं। वैदिक सूक्तों में सोमलता को भगवान् का रूप कहा गया है-

त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥[२]

अर्थात् हे सोम! आपने ये सब औषधियां, जल, फल और गायें उत्पन्न की हैं। आपने यह विशाल अन्तरिक्ष फैलाया है और अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर किया है।

सोम के अतिरिक्त ऋग्वेद में शाल्मली, खदिर, सिन्सोपा, विभीदक, शमी और प्लक्ष आदि वृक्षों के नाम भी मिलते हैं। इक्षु (गन्ने) का भी उत्पादन होता था। फूलों वाले वृक्षों में पलाश, कमल, कुमुद का उल्लेख ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में होता है। इसके साथ ही फलदार वृक्षों में उर्वारुक, कर्कन्धु, कुवलय, उदुम्बर, खजूर और बिल्व आदि का उल्लेख भी संहिताओं में प्राप्त होता है। वेद में विभिन्न औषधियों की स्तुतियां भरी पड़ी है, एक प्रार्थना में कहा गया है-

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपा मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥[३]

अर्थात् औषधियाँ-वनस्पतियाँ हमारे लिए मधुमती हों। द्यु, जल और अन्तरिक्ष हमारे लिए मधुर हों। भूमि भी हमारे लिए मधुरता से युक्त हो। वृक्षों के विकास के लिए मंगलकामना की जाती थी और उनहें सुखी जीवन के लिए अपहार्य माना जाता था-

वनस्पते शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभाग्याय॥[४]

ऋग्वेद में ही पीपल वृक्ष की महिमा इस प्रकार गाई गई है-

अश्वत्थे वो निषदंन पर्णे वो वसतिष्कृता।[५]

यजुर्वेद और पर्यावरण

यजुर्वेद में किसी भी मंगल-कृत्य के समय वृक्षों के कोमल पत्तों का स्मरण किया गया है-

---

२. ऋग्वेद १/९१/२२
३. वही ४/५७/३
४. वही ३/८/११
५. वही १०/९७/५

'काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती परुष: परुषस्परि।'[६]

वेदों के वर्णन इस बात की ओर इंगित करते हैं कि हमारे मनीषियों ने समूची प्रकृति को देवतुल्य मानकर उसकी रक्षा हेतु विभिन्न विधान रचे। ऋषियों ने प्राकृतिक सन्तुलन को बनाये रखने को जनसामान्य की धार्मिक आवश्यकता बताया। वस्तुत: धर्म से जोड़ने के पीछे कितने ही सूक्ष्म रहस्य, सूक्ष्म तत्त्व छिपे हैं, जिनका वैज्ञानिक महत्त्व यजुर्वेद के मन्त्रों से स्पष्ट है। यजुर्वेद में तो यत्र-तत्र पर्यावरण रक्षा के भाव दर्शनीय हैं।

हमारे मनीषियों ने पर्यावरण शुद्धिकरण के लिए शान्ति-मन्त्रों द्वारा इस सद्भाव को बनाए रखने की प्रेरणा दी है जिसमें द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि में सर्वत्र परम शान्ति बने रहने के उदात्त भाव अनुस्यूत हैं, क्योंकि शान्ति में ही परम आनन्द है। ऋषि की आर्षवाणी है-

'द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्ति पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति। वनस्पतय: शान्तिर्विश्वे देवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति: सर्वꣳ शान्ति: शान्तिरेव शान्ति सा मा शान्तिरेधि।।'[७]

इस शान्तिपाठ में पर्यावरण संतुलन को बनाये रखने हेतु ऋषियों द्वारा प्रार्थना की गई है, जिससे स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषि पर्यावरण के प्रत्येक रूप की रक्षा एवं संतुलन के प्रति कितने सजग थे। उन्होंने जनसामान्य में श्रद्धाभाव जाग्रत कर प्रकृति के सभी रूपों को अशान्त, आज के परिप्रेक्ष्य में प्रदूषित न करने की प्रेरणा दी। साथ ही जीवन के प्रति संकट बन रहे प्रदूषण से सजग रहने की प्रेरणा भी दी। इसी के साथ यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है-**'शं नो वात: पर्वतान्।।'**[८]

ऋषि ने वायुदेव से प्रार्थना की है कि हे पवनदेव! वायु हमारे लिए शुद्ध (प्रदूषण रहित) होकर बहे। यजुर्वेद में अन्तरिक्ष के पवित्र रहने की भी कामना की गई है तथा पृथ्वी की पवित्राता के सम्बन्ध में मृदा संरक्षण की एक प्रार्थना में कहा गया है-

'पृथिवी यच्छ पृथिवी' दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसी:।'[९]

अर्थात् मृदा को उर्वर बनाएं तथा उसके प्रति हिंसा अर्थात् प्रदूषण न करें। एक मन्त्र में ऋषियों ने मेघों से कामना की है कि वे हमारे लिए सुखकारी हों-

'शं योरभि स्रवन्तु न:'[१०]

यजुर्वेद मे पेड़-पौधों और पशुओं की रक्षा करने की शिक्षा दी गई है तथा उनको हानि न पहुँचाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वृक्षों के संरक्षण के तात्पर्य से कहा गया है -

'स्वाधिते मैनꣳ हिꣳसी:'[११]

अर्थात् वृक्ष को कुल्हाड़ी से मत काटो।

---

६. यजुर्वेद १३/२०
७ यजुर्वेद ३६/१७
८. वही ३६/१०
९. वही १३/१८
१०. यजुर्वेद ३६/१२
११. वही ४/१

यजुर्वेद में औषधियों को अच्छा मित्र बताकर उनके फलने-फूलने की कामना की गई है, ताकि वातावरण शुद्ध रहे तथा प्राणी निरोग हों।

'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः'[१२]

अर्थात् वनस्पतियां मधुमय (रसयुक्त) हों। यजुर्वेद में प्रजा के कल्याण के लिए वनस्पति की स्तुति की गई है-

'शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमंगिरः।'[१३]

यही नहीं यजुर्वेद में वनस्पतियों की रक्षा के साथ पर्यावरण का संतुलन सही बनाए रखने के लिए पशुओं की रक्षा का उल्लेख भी मिलता है-

'अभयं नः पशुभ्यः'[१४] **द्विपादव चतुष्पाद पाहि**[१५]

यजुर्वेद में मानव को निर्देश दिया गया है कि वे पशुओं को निर्भय होकर रहने दें। उनके साथ हिंसक का व्यवहार न करें।

अथर्ववेद और पर्यावरण

वैदिक संहिता अथर्ववेद में भी पर्यावरण के संरक्षण हेतु जल को दूषित न करने के लिए कहा गया है कि जल एक विश्वसनीय औषध है। जल रोगनाशक है। जल विश्वेभेषज (ओषधि) है-

आप इदं वाऽभेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्॥[१६]

अथर्ववेद में वृक्षों को वन का स्वामी कहा गया हैं, जो मनुष्य को पाप से बचा सकते हैं -

अग्निर्ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः ।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥[१७]

ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनषदों में पर्यावरण

सूत्र ग्रन्थों में वृक्ष लगाने से मिलने वाले फल को बता कर मानव को अधिकाधिक पेड़ लगाने के लिए प्रेरित किया गया है। जीवन में लगाये गये वृक्ष अगले जन्म में संतान के रूप में प्राप्त होते हैं-

'वृक्षारोपयितुर्वृक्षाः परलोके पुत्रा भवन्ति।'[१८]

ब्राह्मण ग्रन्थों में वृक्षों को कल्याणकारी बताते हुए शमी वृक्ष को समस्त अमंगलों का नाशक तथा दुःस्वप्न नाशक माना गया है-

---

१२. वही १३/२७
१३. वही ११/४५
१४. वही ३६/२२
१५. वही १४/८
१६. अथर्ववेद ३/७/५
१७. वही ११/६/१
१८. विष्णु धर्म सूत्र १९/४

अमंगलानां शमनी...........दु:स्वप्ननाशिनी[१९]

ऋषियों ने वृक्षादि सम्बन्धी ऐसी विधियां भी खोज लीं थी कि जिनसे वृक्ष पुनर्जीवित हो सके। बृहदारण्यकोपनिषद् में उद्यालक ऋषि ने एक स्थान पर कहा है कि गायत्री मन्त्र से विधिपूर्वक सींचने से सूखे वृक्ष पर शाखाएँ फूट निकलती हैं और पत्र निकल आते हैं।

उपनिषद् ग्रन्थों में भी यही दृष्टिकोण यथावत् विद्यमान है, याज्ञवल्क्य ऋषि ने बृहदारण्यकोपनिषद् में वृक्षों की तुलना मानव शरीर से की है-

यथा वृक्षो वनपतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहि:।।
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्ति त्वच उत्पट:।
तस्मात् तदा तृण्णात् प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्।
मांसान्यस्य शकराणि कीटाःस्नाव तत् स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जोपमा कृता।।[२०]

अर्थात् जैसे वन का बड़ा वृक्ष है, ऐसा ही मानव-शरीर है। मानव देह में रोम हैं, वृक्ष में पत्ते हैं। मानव की त्वचा है, वृक्ष की बाहरी छाल। जैसे मनुष्य की त्वचा से रक्त बहता है, वैसे ही वृक्ष की छाल से उत्पट रस निकलता है, मानवीय मांस और मांसपेशियों की तरह वृक्ष की छाल के भीतर का भाग निकलता है। पुरुष में जैसे नाड़ी-जाल है, वैसे ही वृक्ष का कीनाट (लकड़ी से लगा हुआ कोमल भाग है) उसकी अन्दर की लकड़ियां मानो हड्डियाँ है। उसकी मज्जा पुरुष की मज्जा के समान है। यों तो ऋषियों ने उक्त कथन पुनर्जन्म-सम्बन्धी चर्चा के मध्य किया है और बताया है कि जब कटा हुआ वृक्ष अपनी जड़ के कारण फिर से नवीन रूप में फूट निकलता है तो मृत्यु से कटा अर्थात् मरा हुआ मनुष्य किस मूल से पुनर्जन्म लेता है। इस विश्लेषण में दार्शनिक समाधान तो है ही, साथ ही वृक्ष-वनस्पतियों में जीवन देखने की दृष्टि भी सुस्पष्ट है, अत: यह मानना कि आधुनिक वैज्ञानिकों ने ही वृक्षों में जीवन की खोज की, पूर्णत: सत्य नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् के ऋषि ने भी वृक्षादि में जीवन के प्रमाण कुछ इस रूप में देखे हैं कि किसी वृक्ष के किसी एक भाग पर प्रहार करने से वह भाग तो सूख जाता है, किन्तु वृक्ष फिर भी जिन्दा रहता है-

'अस्य यदेकाःशाखां जीवो जहात्यथ सा शुषयति द्वितीया जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्व: शुष्यति।'[२१]

अन्यत्र छान्दोग्योपनिषद् में ही सारे जगत् की उपमा अश्वत्थ अर्थात् पीपल के पेड़ से की गई है-

'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूले ऽभ्यहन्याज्जीवन् स्त्रवेद्यो...... स एष जीवेनात्मनानुप्रभूत: पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति।।'[२२]

---

१९. गोपर्थ-ब्राह्मण
२०. बृहदारण्यकोपनिषद ३/९/२८
२१. छान्दोग्योपनिषद् ६/११/२
२२. छान्दोग्योपनिषद् ६/११/१

स्मृति ग्रन्थ और पर्यावरण

वेदों में वृक्षों की महिमा एवं उनके स्पर्श का माहात्म्य भी वर्णित है, परन्तु स्मृतियों में न केवल वृक्ष लगाने का माहात्म्य है, अपितु वृक्ष नष्ट करने वाले के लिए दण्ड-विधान भी लिखा है। वृक्षों को समूह रूप से रक्षित कर बगीचों का रूप देने का पहला वर्णन स्मृतियों में ही मिलता है। नदियों, तालाबों आदि में मल-मूत्र, थूक अथवा अन्य दूषित पदार्थ का विसर्जन याज्ञवल्क्य स्मृति में अशुभ कार्य कहा गया है।[२३] धर्मशास्त्रों तथा पुराणों में इष्टापूत धर्म की बड़ी महिमा आयी है। यज्ञ-यागादि के सम्पादन को इष्ट कहते हैं, और निःस्वार्थ भाव से कुआँ, बावली, तालाब, देवालय, धर्मशाला, मन्दिर, पौसला बनवाला, छायादार एवं फलदार वृक्ष लगाना इत्यादि को पूर्त कहते हैं। यमस्मृति में बताया गया है कि इष्टकर्मो से स्वर्ग तथा पूर्तकर्मों से मोक्ष प्राप्त होता है-

'इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्ते मोक्षं समश्नुते।'[२४]

पुराण और पर्यावरण

वृक्षों को जीव मानकर मानवसृष्टि द्वारा उनकी उत्पत्ति का वर्णन पुराणों की प्रथम गवेषणा है। पुराणों में वृक्षों को कश्यप ऋषि की संतान कहा है। यह कथानक इनकी रक्षा एवं इनके परमोपकृत शरीर के माहात्म्य का द्योतक है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा गया है कि पीपल वृक्ष लगाने वाला हजारों वर्षों तक तपोलोक में निवास करता है-

अश्वत्थवृक्षमारोप्य प्रतिष्ठां च करोति यः।
स याति तपसो लोकं वर्षाणामयुतं परम्।।[२५]

एवं बृहन्नारदीय पुराण में -

वृक्षाश्च रोपितास्तत्र सर्वलोकोपकारिणः।[२६]

भविष्य पुराण के अनुसार जो व्यक्ति पीपल, नीम अथवा बरगद का एक चिंचिड़ी (इमली) के दस, कपित्थ एवं बिल्व अथवा आँवलें के तीन और आम के पाँच पेड़ लगाता है, वह कभी नरक में नहीं जाता।

अश्वत्थमेकं पिचुमर्दमेकं न्यग्रोधमेकं दश चिंचिणीमकम्।
कपित्थबिल्वामलकत्रयं च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत्।।[२७]

भागवत पुराण के अनुसार दक्ष प्रजापति की साठ में से तेरह कन्याएं कश्यप जी की पत्नी बनीं। उनमें अदिति से देवगण, दिति से दैत्य, दनु से दानव, सुरसा से सर्प तथा इला से भूरूह (वृक्ष) पैदा हुए-

'इलाया भूरूहाः सर्वे।'[२८]

इसलिए एक वृक्ष एक संतान के समान माना जाता है। मत्स्य पुराण में लिखा है कि एक वृक्ष दस

---

२३. याज्ञवल्क्य स्मृति १/१३७
२४. यमस्मृति ६८
२५. ब्रह्मवैवर्तपुराण
२६. बृहन्नारदीय पुराण अ. १२
२७. भविष्यपुराण
२८. श्रीमद्भागवत पुराण ६/६/२८

उत्पन्न करने के बराबर है।

'दशकूपसमा वापी दशवापीसमां ह्रदः।

दशह्रदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः।।'[२९]

मत्स्यपुराण एवं पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में वृक्षारोपण की विधि बताकर वृक्षारोपण उत्सव मनाने का फल बताते हुए कहा गया है कि उस व्यक्ति की सर्व मनोकामनाएं पूर्ण हो जाती हैं और वह अक्षय फल का भागी होता है -

'सर्वान् कामानवाप्नोति फलं चानन्त्यमश्नुते।।'[३०]

स्कन्द पुराण में सात प्रकार की सन्तानों का उल्लेख है, जिससे पितरों की तृप्ति एवं मानव-जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है-

कूपस्तडागमुद्यानं मण्डपं च प्रपा तथा।

जलदानमन्नदानमश्वत्थारोपणं तथा।।

पुत्रश्चेति च संतानं सप्त वेदविदो विदुः।।[३१]

कुआँ, तलाब, बगीचा, आराम-भवन, प्याऊ, जल, और अन्नदान तथा पीपल के वृक्ष लगाना-ये सात संतानें कहलाती है।

श्रीमद्भगवद् गीता और पर्यावरण

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने पीपल वृक्ष की श्रेष्ठता बताते हुए कहा है कि सब वृक्षों में पीपल श्रेष्ठ है-**'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'।**[३२]

गीता में ही पुनः मानव की उपमा उल्टे अश्वत्थ से की गयी है-

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।[३३]

अतः वृक्षारोपण करना किसी भी तीर्थ, व्रत, उपवास से कम नहीं। भारतीय संस्कृति के इस आवश्यक अंग वृक्षों की वृद्धि के लिए अपने हाथों किसी भी स्थान पर एक वृक्ष लगाना धार्मिक कर्तव्य है।

यज्ञ और पर्यावरण

यजुर्वेद में ऋषियों ने पर्यावरण के सभी घटकों की रक्षा के साथ ही यज्ञ की महत्ता को भी प्रतिपादित किया है तथा प्राकृतिक संतुलन बनाए रखने के लिए मानव को प्रेरित किया है। वे चाहते थे कि पर्यावरण के किसी भी घटक में असन्तुलन न रहे। पारिस्थितिकीय सन्तुलन बना रहे। प्रकृति पूर्ण सौम्यावस्था में रहे।

यजुर्वेद के प्रथम अध्याय में प्राकृतिक संतुलन को बनाए रखने में यज्ञा की महत्ता को बताते हुए कहा गया है कि हे यज्ञ! तुम सुखकारक तथा आश्रय के योग्य हो। तुमसे रोग नष्ट होते हैं तथा उनके कीटाणु भी

२९. मत्यपुराण १५४/५१२
३०. मत्यपुराण ५९/१६
३१. स्कन्दपुराण
३२. गीता विभूति योग
३३. वही गीता १५/१

ध्वस्त होते हैं। तुम पृथिवी के लिए त्वचा की तरह रक्षक हो। हमारे ऋषियों ने अपनी प्रखर एवं पैनी दृष्टि से पर्यावरण-परिष्करण के लिए यज्ञ जैसी उत्तम प्रक्रिया का अन्वेषण कर लिया था। शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम अध्याय में बताया गया है कि अग्नि को आहुतियाँ अर्पित करने का नाम ही यज्ञ नहीं है, अपितु यज्ञ एक भावना है जो समस्त पर्यावरण को सुवासित करती है। शुक्ल यजुर्वेद में वायु एवं जल की शुद्धि के मन्त्र दिये गये हैं तथा बताया गया है कि जिस वेद-वाणी का यज्ञ में उच्चारण किया जाता है वह भी यज्ञ का रूप है, क्योंकि इनसे ध्वनि प्रदूषण नहीं होता।

उपसंहार

इस तरह वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में कई उल्लेख मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि प्राचीन ऋषि-मुनियों की दूरदृष्टि तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने न केवल पर्यावरण-रक्षा की शिक्षा दी, अपितु सम्पूर्ण पर्यावरण को संतुलित रखा। आज यज्ञविषयक वैज्ञानिक अनुसन्धानों से स्पष्ट हो गया है कि यज्ञ केवल आस्था नहीं, बल्कि पर्यावरण संरक्षण का सरल एवं श्रेष्ठ उपाय है। यह वायु प्रदूषण, ध्वनिप्रदूषण का नियन्त्रक होने के साथ-साथ विभिन्न रोगों के निदान में भी महत्त्वपूर्ण साधन है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आज जबकि प्रदूषण सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हो रहा है, तब वेद पुराणों की शिक्षाओं को अपनाना परम आवश्यक है, ताकि इस धरा को पुनः हरी-भरी एवं उज्ज्वल बनाया जा सके।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१०७-११२) ISSN 0974 – 8830

विवाह संस्कार का माहत्म्य

इन्दू सोनी

संस्कार का महत्त्व -

वैदिक संस्कृति की धारा में संस्कारों का मानव जीवन की उन्नति हेतु विशिष्ट स्थान है, जो समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं तथा मानव को आदर्श जीवन के योग्य अथवा वास्तविक मनुष्य बनाते हैं। किसी वस्तु के रूप में बदलाव कर उसे नया रूप प्रदान करना ही संस्कार है। मानव जीवन में सोलह संस्कारों का विधान है। इसका मतलब है कि जीवन में सोलह बार मानव को बदलने का उसे नवनिर्माण करने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे स्वर्णकार अशुद्ध सोने को अग्नि में डालकर उसका संस्कार करता है, उसी प्रकार बालक के उत्पन्न होते ही उसे संस्कारों की भट्टी में डालकर उसके दुर्गुणों को निकालकर उसमें सद्गुण डालने के प्रयत्न को वैदिक विचारधारा में संस्कार कहा गया है। संस्कार मानव जीवन का नवनिर्माण योजना, परिष्कार और शुद्धि कर व्यक्तित्व विकास को सुविधाजनक कर मनुष्य की देह व आत्मा को ब्रह्मप्राप्ति योग्य बनाते हैं और मनुष्य की सांसारिक जटिलताओं और समस्याओं को दूर कर आनन्द प्रदान करते हैं।

मानव नवनिर्माण का आधार संस्कार पद्धति है संस्कार से मानव को द्विज बनने का अधिकार मिलता है। महर्षि मनु ने कहा है-

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मानाम्।
कार्यः शरीर संस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च।।[२]

अर्थात् द्विज के गर्भाधानादि संस्कार वैदिक पुण्य कर्मों के द्वारा सम्पन्न होने चाहिएं, क्योंकि संस्कार दोनों लोंको (इस लोक तथा परलोक) को पवित्र करने वाले हैं।

जीवात्मा अमर तथा नित्य है, यही सूक्ष्मशरीर कहलाता है। भौतिक शरीर के नष्ट होने पर भी सुक्ष्मशरीर नहीं मरता है। यह संस्कारों के निचोड़ को जन्म-जन्मान्तरों में अपने साथ लिए फिरता है, जैसे वृक्ष बीज में समा जाता है। वृक्ष बीज का ही विस्तार है, ठीक वैसे ही अन्त कर्म सिमट कर संस्कार में आ जाते हैं। इस प्रकार बुरे प्रभावें को अभिभूत करने तथा शुभ प्रभावों को उन्नत करने के लिए संस्कारों तथा स्वच्छ वातावरण की परमावश्यकता है। बालक के पूर्वजन्म के अशुभ संस्कार पवित्र वातावरण को पाकर वैसे ही ओझल हो जाते हैं, जैसे-पुदीने या धनिये के पौधे वर्षा की प्रतिकूल परिस्थिति को पाकर मुर्झा जाते हैं, और वर्षा की अनुकूल परिस्थिति पाकर फिर से प्रस्फुरित हो जाते हैं।[३]

इस प्रकार संस्कारों से मानव जीवन सम्पूर्ण विकास के साथ पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति कर जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।[४] जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त भिन्न-भि

---

१. शोधछात्रा संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. मनुस्मृति, २.२६
३. सत्यार्थ प्रकाश, द्वितीय समुल्लास
४. संस्कार विधि, भूमिका

समय पर सोलह संस्कारों की व्यवस्था प्राचीन ऋषि मुनियों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से की है। १६ संस्कार निम्न प्रकार हैं-[५]

१. गर्भाधान संस्कार, २. पुंसवन संस्कार, ३. सीमन्तोन्नयन संस्कार, ४. जातकर्म संस्कार, ५. नामकरण संस्कार, ६. निष्क्रमण संस्कार, ७. अन्नप्राशन संस्कार, ८. चूडाकर्म संस्कार,९. कर्णवेधन संस्कार, १०. उपनयन संस्कार, ११. वेदारम्भ संस्कार, १२. समावर्तन संस्कार, १३. विवाह संस्कार, १४. वानप्रस्थाश्रम संस्कार १५.संन्यासाश्रम संस्कार, १६. अन्त्येष्टि संस्कार ।

यहाँ पर विवाह संस्कार विधि का वर्णन किया जा रहा है, जो हिन्दू संस्कारों में सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कार है-

विवाह संस्कार -

ब्रह्मचर्यव्रत, विद्या, बल को प्राप्त कर तथा सब प्रकार के शुभ गुण कर्म स्वभावों में तुल्य, परस्पर प्रीतियुक्त होकर सन्तानोत्पति और अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुकूल उत्तम कर्म करने के लिए स्त्री पुरुष का पवित्र सम्बन्ध 'विवाह' कहलाता है।[६] विवाह को यज्ञ की संज्ञा दी जाती है। जो व्यक्ति विवाह कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश नहीं करता उसे अयज्ञीय या यज्ञहीन कहा गया है। जो वैदिक आर्यों की दृष्टि से अत्यंत निन्दनीय माना जाता है। बिना पत्नी पुरुष यज्ञहीन है, अधूरा है, क्योंकि उसकी पत्नी उसका अर्धभाग मानी जाती है।[७]

विवाह संस्कार में सर्वप्रथम आयु का प्रश्न उपस्थित होता है। विवाह की आयु को क्रमशः तीन भागों में बांटा गया है-बालविवाह, किशोरविवाह, युवाविवाह। युवावस्था में शरीर परिपकक्व होता है और मानसिक तथा शारीरिक विकास होता है। यह अवस्था विवाह दृष्टि से सबसे उपयुक्त अवस्था है। वैदिक युग में युवा और युवति शब्दों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि वैदिक युग में बालविवाह तथा किशोरविवाह न होकर युवाविवाह होते थे।

महर्षि दयानन्द संस्कारविधि में कहते हैं कि बाल्यावस्था में जो अपनी सन्तानों का विवाह कर उनको नष्ट, भ्रष्ट, रोगी तथा अल्पायु करते हैं, वे कुल का मानो सर्वनाश करते हैं। इसलिए शीघ्र विवाह करें तो वेदारम्भ में लिखे हुए १६ वर्ष से न्यून कन्या तथा २५ वर्ष से न्यून पुरुष का विवाह कभी नहीं करना चाहिए। इससे अधिक जितना ब्रह्मचर्य रखा जा सके उतना ही श्रेष्ठ है।[८]

विवाह प्रसङ्ग में एक मन्त्र पारस्कर गृह्यसूत्रगत प्राप्त होता है जिसके अनुसार कन्या का सर्वप्रथम पति सोम, द्वितीय गन्धर्व, तृतीय अग्नि तथा चौथा मनुष्य रूप होता है। यहाँ पति से अभिप्राय पालक या रक्षक है। सोम से अभिप्राय वनस्पतियों का राजा अर्थात् कन्या सर्वप्रथम पांच वर्ष सोम के पास रहती है। जिस अवस्था में कन्या का शरीर पुष्ट होता है। तदन्तर कन्या गन्धर्व को दी जाती है। गर्न्धव का अर्थ है **-सौन्दर्य का स्वामी।** इसके बाद तीसरी अवस्था में अग्नि पति रूप में होता है, जिस अवस्था में मासिक धर्म तथा गर्भ स्थान का विकास होता है। इसे अग्निकाल भी कहा जाता है। इस प्रकार तीनों देवताओं का काल १५ वर्ष होता है तथा

५. संस्कार विधि, पृ०-७६
६. तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.२.२.६ अयज्ञियो वा एष यो अपत्नीकः।
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण, २.९.४.७
८. संस्कारविधि, पृ०-१०१

१६ वर्ष के पश्चात् कन्या पुरुष को दी जाती है ।[९]

वर्तमान में २५ अगस्त १९७९ में केन्द्रीय मन्त्री श्री गोखले द्वारा लोकसभा में बिल पेश करने के पश्चात विवाह आयु लड़के की २१ वर्ष तथा लड़की की १८ वर्ष कर दी गई है, जो कि एक शिक्षित देश की पहचान है ।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गन्धर्वे राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।[१०]

ये विवाह की आठ विधियाँ ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस, पैशाच बताई गई हैं। जिनमें प्रथम चार उत्तम तथा अन्तिम चार अधम या निकृष्ट माने जाते हैं ।

ब्राह्म विवाह- कन्या पिता द्वारा योग्य, सुशील, विद्वान् युवक का सत्कार करके, कन्या को वस्त्रादि आभूषणादि से अलंकृत कर, अनावश्यक दहेज न देकर कन्या दान करना ब्राह्म विवाह है ।

आर्ष विवाह- कन्या पिता द्वारा वर से एक गाय या बैल का जोड़ा अथवा दो जोड़े लेकर पाणिग्रहण करना, बिना कुछ लेन-देन के भी यह विवाह सम्पन्न होता है ।

दैव विवाह-विस्तृत यज्ञ में बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा विवाह सम्पन्न कराया जाना दैव विवाह कहलाता है।

प्राजापत्य विवाह- प्रसन्नतापूर्वक सामान्य रूप से विवाह-विधि द्वारा वर-वधू को उपदेश देकर पाणिग्रहण करवाना प्राजापत्य विवाह कहलाता है।

आसुरविवाहः- कन्या के पिता द्वारा वर से बहुत धनराशि लेकर अपनी कन्या वर को प्रदान करना आसुर विवाह कहलाता है।

गान्धर्व विवाह-वर कन्या का काम भाव से संयोग होना गान्धर्व विवाह है ।

राक्षस विवाह- कन्या को जबरदस्ती पकड़ लाना, रोती, बिलखती, चिल्लाती, भयभीत हुई कन्या को बलात् हरण करके विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता है।

पैशाच विवाहः-सोती हुई, पागल, नशे में उन्मत्त कन्या को एकान्त में पाकर दुषित करना, यह सब विवाहों से नीच, दुष्ट, अति दुष्ट पैशाच विवाह कहलाता है ।

इस प्रकार निन्दित विवाहों से नीच प्रजा उत्पन्न होती है, उनका त्याग तथा जिन उत्तम विवाहों से उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है उसी का पालन करना चाहिए ।

विवाह हेतु कन्या पिता द्वारा वर की पाँच अवस्थाएँ-रूप, धन, कुटुम्ब, विद्या, बुद्धि देखने का विधान मिलता है। इनमें सबसे श्रेष्ठतम बुद्धि है। बुद्धिमान् व्यक्ति रूपवान्, धनवान्, कुटुम्बी और निर्बुद्धि पण्डित से श्रेष्ठ है अर्थात् अन्य चारों अवस्थाएं छोड़ी जा सकती हैं। परन्तु बुद्धिमता न हो तो अन्य गुण व्यर्थ है। स्वामी दयाननन्द सरस्वती मनु को उद्धृत करते हुए कहते हैं-

काममामरणात् तिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्।।[११]

---

९. पारस्करगृह्यसूत्र, १.४.१७
१०. मनुस्मृति, ३.२१ याज्ञवल्क्यस्मृति, १.५८
११. संस्कार विधि, पृ०-१००

अर्थात् कन्या चाहे मरण पर्यन्त पिता के घर में बैठी भी रहे, परन्तु बुद्धिहीन पुरुष के साथ विवाह नहीं करना चाहिए। वैवाहिक संस्कार में कुल परीक्षा में सावधानी का कारण श्रेष्ठतम सन्तति अभीष्ट है। इस विषय में मनु की धारणा है कि -

पितुर्वा भजते शीलं मातुर्वा भयमेव वा ।

न कथञ्चन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति।।[१२]

अर्थात् सन्तान या तो माता-पिता के शील को प्राप्त होती है अथवा दुर्योनि से उत्पन्न सन्तति अपनी प्रकृति को कभी नहीं छोड़ती। उत्तम कृति, विद्या, चरित्र व नैतिकता के लिए प्रसिद्ध कुल से ही सम्बन्ध किया जाता है, विवाह वय के विषय में वैदिक काल से ही प्रौढ़ता को ही वर-वधू के लिए उत्तम अवस्था माना गया है ।[१३] मनु के अनुसार -

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः।।[१४]

अर्थात् द्विजातियों में विवाह के लिए समान वर्ण की कन्या प्रशस्त है, परन्तु कामुकता की ओर प्रवृत्त निम्नत्तर वर्ण की कन्या से भी विवाह किया जा सकता है। परन्तु श्रेष्ठतम विवाह समान वर्ण को ही माना गया है। इसके पीछे कारण संस्कारों की तरफ अग्रसर रहना है ।

जहाँ बात वर्णों की होती है, तो वैदिक साहित्यानुसार कहा गया है कि-पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी, जितेन्द्रिय, मिथ्याभाषणादि दोषरहित, विद्या और धर्म प्रचार में तत्पर रहे इत्यादि उत्तम गुण जिसमें हो वह ब्राह्मण-ब्राह्मणी हैं। जो विद्या, बल, शौर्य, न्यायकारित्वादि गुण जिनमें हो वह क्षत्रिय-क्षत्रिया हैं। विद्वान् होकर कृषि, पशुपालन, व्यापार, देश भाषाओं में चतुरादि गुण जिनमें हो वह वैश्य-वैश्या हैं तथा जो विद्याहीन मूर्ख हैं, वह शूद्र-शूद्रा कहलाते हैं।

विवाह की प्रत्येक विधि वर-वधू में प्रेम का समावेश करती है। सर्वप्रथम वधू पक्ष द्वारा वर पक्ष के मान्य जनों एवं वर को आदर सत्कार सहित स्वागत कर आसन दिया जाता है। वर को दही, घृत, मुध मिश्रित मधुपर्क दिया जाता है।[१५] 'वस्त्र परिधान विधि' में वर वधू को वस्त्र प्रदान करता है। वर्तमान में ये उपहार विवाह से पूर्व ही भेज दिये जाते हैं।[१६] 'समञ्जन विधि' में वर-वधू को एक दूसरे के सम्मुख लाया जाता है तथा मन्त्रोचारण होता है, जिसका अभिप्राय है कि हम दोनों एक-दूसरे के दृढ प्रेम को धारण करें। यह स्नेह और प्रेम का प्रतीक माना गया है।

'कन्यादान विधि' में कन्या के पिता द्वारा कन्या को वर के हाथ सौंप दिया जाता है।[१७] परन्तु याज्ञवल्क्य अनुसार पिता, पितामह, भाई, सजातीय व्यक्ति तथा माता ये यथाक्रम कन्यादान अधिकारी माने गए

---

१२. मनुस्मृति, ३.२५
१३. ऋग्वेद, १०.८५ अथर्ववेद, १४.१.२
१४. मनुस्मृति, १.१२
१५. पारस्करगृह्यसूत्र, १.३.१-३२
१६. पारस्करगृह्यसूत्र, १.४.१४
१७. पारस्करगृह्यसूत्र,. १.४.१६

हैं।[१८]

'पाणिग्रहण विधि' में वर कन्या का दाहिना हाथ पकड़कर मन्त्रोच्चारण पूर्वक कहता है-हे प्रिये! ऐश्वर्ययुक्त मैं तेरा हाथ ग्रहण कर चुका हूँ, तू धर्म से मेरी पत्नी और मैं धर्म से तेरा गृहपति हूँ।[१९] हम दोनों के साथ मिलने से घर के समस्त कार्यों की सिद्धि होगी! और हम दोनों अप्रियाचरण व्यभिचार है उसको कभी नहीं करेंगें।

'अग्निप्रदक्षिणा विधि' में अग्निपरिक्रमा की जाती है। कहीं चार तो कहीं सात बार अग्निपरिक्रमा की जाती है। परन्तु वैदिक संस्कृति में मुख्यत: चार फेरे ही पाए जाते हैं जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के द्योतक हैं।

'अश्मारोहण विधि' में दोनों पैरों को एक पत्थर शिला पर मन्त्रसहित स्पर्श करवाया जाता है जिसका अभिप्राय दोनों का पाषाण भाँति दृढ़ बनने का संकल्प तथा शत्रुओं और बड़ी-बड़ी बाधाओं का सामना करते हुए दु:खों को सहन करने वाला होने की प्रार्थना करना है।[२०]

'लाजाहोम विधि' में कन्या का भाई या ब्रह्मचारी विद्यार्थी कन्या तथा वर दोनों की मिली अञ्जलि में चावल या जौ डालता है तथा यह आहुति अग्नि में दी जाती है। इसका अभिप्राय पति की दीर्घायु की कामना करना है।[२१] यहाँ लाजा को चाँद-तारों का प्रतीक माना जाता है।

'सप्तपदी विधि' इसके पश्चात् सम्पन्न की जाती है जिसमें वधू पूर्व दिशा की तरफ सात कदम चलती है-पहला कदम अन्न के लिए, दूसरा कदम ऊर्जा के लिए, तीसरा कदम प्रजा कल्याण, चौथा कदम धन पुष्ट, पांचवा कदम पशु सम्पति की वृद्धि हेतु, षष्ठ कदम छ: ऋतुओं के लिए, सातवाँ कदम मित्रता के लिए माना जाता है।[२२] सप्तपदी के बाद ही विवाह पूर्ण माना जाता है।

'सूर्योवलोकन विधि' में सूर्य को भगवान् का चक्षु मानकर प्रार्थना की जाती है कि हमें जीवन पर्यन्त भगवान की यह आँख देखती रहे। सूर्योवलोकन के पश्चात् वर-वधू के हृदय को छूता हुआ कहता है कि मैं तुम्हारे हृदय की बात पूरी करने मे मैं अपना व्रत समझूँगा। मेरा चित्त तेरे चित्त के अनुकूल हो।[२३]

'गृह्य प्रवेश विधि' में वर के गृह में वधू का गृहप्रवेश करवाया जाता है। वधू का जल भरा पात्र लेकर या धान पात्र लेकर गृहप्रवेश करवाने के पीछे का कारण कन्या के सौभाग्यशाली होने तथा घर को धन धान्य से परिपूर्ण रखने का विधान है।[२४]

'गोदभराई विधि' में वर के छोटे भाई या ब्रह्मचारी को वधू की गोद में बैठाया जाता है।[२५] वधू फल मिले तिल, चावल से ब्रह्मचारी की अञ्जलि को भरती है। इस परम्परा को निभाने के पीछे कारण वधू के लिए ब्रह्मचारी के समान पुत्र प्राप्ति तथा वधू का नए परिवार के बच्चों से स्नेह उत्पन्न कराना है।

---

१८ याज्ञवल्क्य स्मृति, १.६३
१९. संस्कार विधि, पृ०-११८ ओम् गृभ्णामि ते सौभागत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथास:।
२०. शांखायनगृह्यसूत्र, १.१३.१० पारस्करगृह्यसूत्र, १.७.१
२१. शांखायनगृह्यसूत्र, १.१४.१
२२. पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.१
२३. पारस्करगृह्यसूत्र, १.८.८
२४. मानवगृह्यसूत्र, १.१४.३ मंगलानि प्रादुर्भवन्ति।
२५. मानवगृह्यसूत्र, १.१४.८ अथास्यै ब्रह्मचारिणमुपस्थ आवेशयति।

'ध्रुवदर्शन विधि' में वधू को ध्रुव, अरुन्धती, जीवन्ती और सप्तऋषि नक्षत्रों को दिखाने का विधान मिलता है। ध्रुव का पर्याय है अटल रहना, अपना स्थान नहीं बदलना, अरुन्धती तारा विशिष्ट तारे के साथ ही रहता है। अत: तुम भी पति के साथ ही रहना। जैसे ध्रुव स्थिर है वैसे ही वर-वधू दोनों एक-दूसरे के प्रियचरणों में स्थिर रहने का यह निर्देश किया गया है।[२६] जैसे सप्तऋषियों में विशिष्ट श्रेष्ठ है। अपने सप्तर्षि परिवार में बना रहता है। उसके साथ अरुन्धती बनी रहती है। वैसे ही वर अपने परिवार में बना रहे और वधू पति के साथ अरुन्धती की तरह बनी रहे, यही इसका अभिप्राय है ।

निष्कर्ष -

दो परिवारों के मधुर मिलन को विवाह का रूप दिया गया है। विवाह केवल मनुष्यों का शारीरिक मिलन ही नहीं बल्कि दो आत्माओं का सम्बन्ध है। इस संस्कार का प्रथम प्रयोजन समाज को आगे बढ़ाना, सन्तति उत्पन्न कर जाति की अक्षुण्णता को बनाये रखना है। वैदिक विवाह की सारी विधियाँ इसी तरफ संकेत करती है। ऋग्वेदानुसार विवाह गृहस्थ होकर देवों के लिए यज्ञ तथा सन्तानोत्पति करना है।[२७] इस प्रकार विवाह समाज के सम्बन्धों की आधारशिला है। विवाह से ही परिवार की उत्पत्ति होती है। परिवारों से राष्ट्र निर्मित होते हैं। ऋग्वेद में एक मन्त्र मिलता है-

'समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥[२८]'

इसमें वर-वधू के संकल्प, हृदय, विचार समान होने की प्रार्थना की गई है, जिससे दृढ़ होकर एक हो सके। इस प्रकार विवाह संस्कार का उद्देश्य मनुष्य के वैवाहिक जीवन को सुखमय बनाना है। हिन्दू धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों के लोग भी इन संस्कारों को किसी न किसी रूप में सम्पन्न करते हैं। इस प्रकार ये मनुष्य के जीवन को आदर्श योग्य बनाते हैं। समय के साथ-साथ कुछ विधियों में परिवर्तन अवश्य मिलता है, परन्तु महत्त्व में कोई कमी नहीं आयी। आज भी विवाह संस्कार की विधि सम्पूर्ण भारत में सम्पन्न की जाती है। संसार में एकता देखने में जीवन है, भिन्नता देखने में मृत्यु है। गृहस्थ मनुष्यता की ओर से खींचकर एकता की ओर, जीवन की ओर तथा अमरता की ओर ले जाता है, यही विवाह का वैदिक एवं भारतीय आदर्श है ।

२६. संस्कार विधि, पृ०-१२६
२७. ऋग्वेद, १०.८५.३६ ; ५.३.२ ; ५.२८.३
२८. ऋग्वेद, १०.१९१.४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ० ११३-११८) ISSN 0974 – 8830

धर्म की शाश्वतता

डॉ. अमित कुमार[1]

धर्म का एक लक्षण **चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**[2] किया गया है। इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि ईश्वर ने वेदों में मनुष्यों के लिए जो करने की आज्ञा दी है वही धर्म और जिसके करने की प्रेरणा नहीं दी वह अधर्म कहलाता है।[3] अर्थात् ईश्वर सम्पूर्ण ज्ञान का मूल कारण है। पश्चिम के प्रथम तत्त्वदर्शी Descartas ने ईश्वरीय ज्ञान के लिए कहा कि जितना ही अधिक मैं सोचता हूँ उतना ही मेरा यह विश्वास कि यह विचार मेरे मन में उत्पन्न नहीं हुआ अधिकतर गम्भीर हो जाता है। परमेश्वर अनन्त है और मेरी आत्मा सान्त है, परमेश्वर स्वतन्त्र है और मेरी आत्मा परतन्त्र इत्यादि। अत एव स्पष्ट है कि मैं ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इस ज्ञान की छाप स्वयं परमेश्वर ने मनुष्य की आत्मा पर लगाई है।[4] यही ज्ञान का बीज मानव जाति के ग्रन्थ-भण्डार की सर्वसम्मत प्राचीनतम पुस्तक वेद में पाया जाता है।[5] मनु महाराज ने भी सहस्राब्दियों पूर्व **वेदोऽखिलो धर्ममूलम्** व **सर्वज्ञानमयो वेदो हि सः** के रूप में अपनी सम्मति दी।[6]

अतः धर्म के मुख्य सिद्धान्त जिन्हें उसका सार कहना चाहिए उतने ही पुराने हैं, जितनी कि मानव जाति। यह इस बात से भी उजागर होता है कि धर्म की सीमा के अन्तर्गत किसी प्रकार का नया आविष्कार कभी नहीं हुआ। हमें इस बात का ज्ञान है कि ईश्वर न्यायकारी, श्रेष्ठ, दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अनन्त और सर्वव्यापक है। परन्तु ऐसा कोई समय न था, जब इन गुणों में से किसी का भी ज्ञान मनुष्य को न रहा हो। प्राचीन ऋषिगण ईश्वर की उपासना उसे इन गुणों से युक्त जानकर करते थे। क्या अर्वाचीन विज्ञानवेत्ता या धर्मोपदेष्टा इससे अधिक और किन गुणों के ज्ञान का अभिमान कर सकते हैं? अन्य विषयों में हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि करता भले ही दिखाई दे, परन्तु ईश्वर विषयक हमारी अभिज्ञता एक ही स्थान पर स्थित है। अत एव यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कालचक्र कितना ही क्यों न चले। पदार्थ विज्ञान अब से भी अधिक शीघ्रता के साथ उन्नति पर चाहे चौकड़ी भरे, भौतिक पदार्थों के विषय में हमें कितने ही आश्चर्यपूर्ण नूतन अविष्कार कर लें, परन्तु वह समय आना सम्भव नहीं जब मनुष्य ईश्वर के सम्बन्ध में कोई नवीन बात जानने योग्य होगा। यह सम्भव है कि हम लोग ईश्वरीय गुणों के सम्बन्ध में अब से अधिक उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लें अथवा उसको पूर्णतया अनुभव करने में समर्थ हों, परन्तु ईश्वर का कोई नवीन गुण खोजने व जानने के योग्य हम कदापि नहीं हो सकते। कारण यही है कि ईश्वरीय सम्बन्धी ज्ञान मनुष्यों के मस्तिष्क में उत्पन्न नहीं हुआ। ऐसा ही समस्त धर्मज्ञान के सम्बन्ध में भी है। धर्मज्ञान की सीमा में न तो कभी कोई वास्तविक नवीन अन्वेषणा

---

१ अंशकालिक प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ पूर्व मीमांसा- १/१/२
३ धर्म का स्वरूप- प्रशान्त वेदालंकार, पृ०- ११४
४ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद चीफ जस्टिस, पृ.-१, २
५ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद चीफ जस्टिस, पृ.-१, २
६ मनुस्मृति- २/६

की गई और न की जा सकेगी।[७]

थियोसोफिकल सोसाइटी की प्रवर्तक मैडम ब्लैटवस्की ने ईश्वर व धर्म सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञान की इस प्राचीनता, यथार्थता की पुष्टि में कहा है कि-आर्य, सामी या तूरानियों में ऐसे किसी धर्म संस्थापक का प्रादुर्भाव नहीं हुआ जिसने किसी नवीन धर्मतत्त्व को निकाला हो अथवा कोई नूतन ज्ञान प्रकाशित किया हो। इन समस्त आचार्यों ने धर्मज्ञान को पाकर केवल उसका प्रचार किया है। वे कोई आदि गुरु नहीं थे।[८]

डॉ. लेंग ने कन्फूशियस को धर्मनिर्माता न कहकर प्रचारक बताया है। कन्फूशियस का कहना था कि 'मैं केवल प्रचार करता हूँ। कोई नवीन बात उत्पन्न नहीं करता, प्राचीन पुरुषों पर मेरा विश्वास है, अत एव मैं उनसे प्रेम करता हूँ।'[९] प्रो. मैक्समूलर ने भी इसका निर्णय यही दिया कि 'सृष्टि उत्पत्ति के आरम्भकाल से कोई भी ऐसा धर्म नहीं हुआ जो सर्वथा नूतन हो।'[१०] स्वामी दयानन्द ने अपने कालजयी ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में धर्म को त्रिकाल बाधरहित और शाश्वत बताया है। उनका कहना है कि सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म जिसको सदा से सब मानते आए, मानते हैं और मानेंगे भी। इसलिए इसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। फिर एक अन्य स्थान पर लिखते हैं कि मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में एक सा सब के सामने मानने योग्य है।[११]

समय-समय पर धर्माचरण से विमुख समाज को पुनः धर्मोन्मुख करके उन्हें सद्गति की प्राप्ति कराने के लिए जन्मे प्रत्येक मत के प्रवर्तक ने पूर्ण निश्छलता से यह बात स्वीकार करने में अंशमात्र भी संकोच नहीं किया कि 'वे पूर्व धर्म को ही निर्मल करके उपदेश कर रहे हैं और वे अपनी स्वयं की कोई नवीन खोज मानव के समक्ष नहीं रख रहे हैं।'

वेद सम्मत धर्म में जब ईश्वर के स्थान पर बहुदेवतावाद का प्रवेश हो रहा था, उस समय स्पितामा जरथुस्त्र का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने लिखा कि 'और हम दुनिया के उस पहले धर्म को मानते व पूजते हैं, जो नेकी सिखाता है।'[१२] एक अन्य स्थान पर कहा कि असभ्य दस्यु कौमों में भी उन लोगों को सच्चा धर्म सिखाने के लिए पैगम्बर होते रहे हैं।[१३] जन्द अवेस्ता में सृष्टि के आरम्भ में ही ईश्वरीय ज्ञान का प्रमाण मिलता है[१४], थियोसोफिकल सोसाइटी के सैकेट्री श्री खुर्शीद जी ने अपनी पुस्तक 'जोराष्ट्यूनिज्म इन द लाईट ऑफ थियोसोफी' में उल्लेख किया है कि वेद और जरथुस्त्र का मत एक ही है, जरथुस्त्र मत उन बुराइयों और अन्धविश्वासों के विरुद्ध सुधार सम्बन्धी विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ, जिन्होंने वैदिक सच्चाइयों पर पर्दा डाल दिया था।[१५] इसी प्रकार जब पीछे इसी वैदिक धर्म की अवनति के कारणरूप ऐसे कर्म 'यज्ञ' के नाम से किए

७ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद एम.ए. चीफ जस्टिस, पृ.-१, २
८ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद एम.ए. चीफ जस्टिस, पृ. २ पर प्रो० मैक्समूलर द्वारा लिखित ग्रन्थ साइंस ऑफ रिलीजन का उद्धरण
९ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद एम.ए. चीफ जस्टिस, पृ.- ३
१० धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद एम.ए. चीफ जस्टिस, पृ.-३
११ सत्यार्थ प्रकाश- स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश - स्वामी दयानन्द सरस्वती पृ.- ५४२
१२ यस्न- १६/३
१३ सब धर्मों की बुनीयादी एकता- डॉ० भगवानदास- पृ.-५२
१४ धर्म का आदि स्रोत- पं० गंगा प्रसाद, पृ०-५
१५ मत मतान्तरों का मूल स्रोत वेद- प० लक्ष्मणजी आर्योपदेशक, पृष्ठ-३९

जाने लगे। जिनमें निरपराध पशुओं का अन्धाधुन्ध संहार होता था। ऐसे हिंसाग्रस्त समय में गौतम बुद्ध व महावीर स्वामी का आविर्भाव हुआ। बुद्ध ने भी कोई नया तत्त्व नहीं जाना और न ही कोई नया ज्ञान प्राप्त किया।[१६] उनका स्वयं का कहना था कि बहुत से बुद्ध मुझसे पहले आये हैं और बहुत से मेरे बाद आयेंगे। मैं प्राचीन प्रकाश को ही फिर से फैला रहा हूँ।[१७] बुद्ध ने कहा कि-हे भिक्षुओ! अब तुम जाओ बहुतों के लाभ के लिए, बहुतों की भलाई के लिए भ्रमण करो और तुम इस सिद्धान्त का प्रचार करो जो प्रारम्भ में उत्तम था, मध्यम में उत्तम है और अन्त में भी उत्तम होगा।[१८] पं. लक्ष्मण जी ने 'प्राचीन भारत की सभ्यता' नामक पुस्तक का उद्धरण दिया है जिसमें लेखक कहता है कि ऐसा सोचना गलत होगा कि गौतम बुद्ध ने जानबूझकर अपने आपको किसी नये मत का संस्थापक घोषित किया था, वरन् इसके विपरीत अन्त तक उनका यह विश्वास था कि वे धर्म का वही प्राचीन और विशुद्ध रूप प्रचारित कर रहे हैं, जो हिन्दुओं और ब्राह्मणों में प्रचलित था परन्तु बाद में बिगड़ गया था। उन्होंने कोई नया आविष्कार नहीं किया और न ही कोई नूतन ज्ञान प्राप्त किया।[१९]

महावीर स्वामी ने अपने से पहले और बाद के तीर्थंकरों के लिए कहा है कि अगले पिछले तीर्थंकर बार-बार उसी एक आधरभूत सच्चाइयों का उपदेश देते रहे हैं, जब यह सच्चाइयां लोगों के मन-मस्तिष्क पर धुंधली पड़ जाती हैं। तब यह तीर्थंकर अपने सम्यक् जीवन से उनमें नया जीवन डालते हैं और डालते रहेंगे।[२०] इसलिए 'जैन' कोई मत या सम्प्रदाय नहीं वह तो तात्त्विक कसौटी पर कसा हुआ, जांचा हुआ, तोला हुआ प्रमाणित किया हुआ एक परम तत्त्व है। जिसे कोई भी पाले व कोई भी अनुकरण करे, यह तो शाश्वत नित्य धर्म है।[२१]

जिस प्रकार बुद्ध और महावीर ने अपने समय में वैदिक धर्म का सुधार करने का उद्योग किया उसी प्रकार यूरोप में मूसा ने अपने समय के प्रचलित मत में उत्पन्न कुरीतियों का निवारण किया। मूसा के कुछ समय के पश्चात् फिर से 'धर्म' में जब आडम्बर फैलने लगा। तब यीशू धर्म के पुनः संस्कार के लिए यत्नवान् हुए, इनका मत आज 'ईसाई' नाम से प्रचलित है। इस मत की सर्वमान्य पुस्तक बाइबिल में लिखा है कि-आदि में शब्द था और परमेश्वर के साथ था और शब्द ही परमेश्वर था। यही आदि में परमेश्वर के साथ था। सब कुछ इसी के द्वारा उत्पन्न हुआ। यह आयत सृष्टि के प्रारम्भ में ही ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाश का समर्थन करती है। इसके 'इब्रानियों की पत्री' नामक अध्याय में उल्लेख है कि अब इस बात की आवश्यकता है कि कोई व्यक्ति ईश्वरीय ज्ञान के आरम्भिक सिद्धान्त तुम्हें फिर बताए।[२२] युहन्ना कहता है ऐ बीबी! मैं तुझे कोई नई आज्ञा नहीं देता, अपितु वही जो आदि से हममें है, लिखता हूँ और तुझसे अनुनय-विनय करके कहता हूँ-यह वही आज्ञा है-जो तुमने आरम्भ में सुनी है।[२३] एक अन्य स्थान पर लिखा है कि क्या कोई ऐसी बात है जिसके लिए यह कहा जा सके कि यह नवीन बात है। हर बात पहले से चली आ रही है। हर बात सनातन है, सूर्य के नीचे कोई बात

---

१६ बुद्ध और गीता धर्म- आचार्य चतुरसेन, पृ.-१६
१७ गीता और कुरान- सुन्दरलाल, पृ.-१२
१८ बुद्ध और बौद्ध धर्म- आचार्य चतुरसेन, पृ.-१८
१९ मतमतान्तरों का मूलस्रोत वेद- प.- लक्ष्मण जी, पृ.-४०
२० सब धर्मों की बुनियादी एकता- डॉ० भगवानदास, पृ०-५३
२१ Jain Religion and philosophy, Dr. S.C. Jain. P.45
२२ बाइबिल- इब्रानियों की पत्राा, ५/१२
२३ युहन्ना की पहली पत्री, २/७

नवीन नहीं है। ऐसा ही वक्तव्य यीशू ने दिया कि मैं पुराने धर्म और पहले के नबियों के कार्य नष्ट करने के लिए नहीं आया अपितु उसे पूर्ण करने आया हूँ।[२४]

यीशू का यह ईसाई मत कुछ शताब्दियों तक मूल धर्म की आंशिक सुरक्षा करता रहा। लेकिन शीघ्र ही यह भी पतित होकर मिथ्या विश्वास व मूर्तिपूजा के ढकोसलों में फंस गया। उस समय मुहम्मद साहब अपने प्रबल ऐकेश्वरवाद के प्रचारार्थ उद्यत हुए। इनका मत 'इस्लाम' नाम से प्रसिद्ध है। इस्लाम की पवित्र पुस्तक कुरआन मजीद नें सनातन धर्म को 'दीन-ए-कायम'[२५] बताया है, इसी को अरबी भाषा में 'इस्लाम' कहा गया है।[२६] यह नित्य धर्म ही वह है जिसका प्रचार मुहम्मद सहाब ने किया। जो उन्होंने 'लोहे महफूज' नामक मूल धर्म ग्रन्थ से लिया था। कुरान में लिखा है कि प्रारम्भ में सभी एक ही धर्म को मानते थे, फिर परस्पर मतभेद रखने लगे तो परमेश्वर ने अपने दूत भेजे।[२७] अन्य स्थान पर कहा गया है कि उसने तुम्हारे लिए वही धर्म नियुक्त किया जो उसने नूह पर अवतीर्ण किया था और जो हमने तुम पर अवतीर्ण किया और वही जो हमने इब्राहीम व मूसा व ईसा पर यह कहते हुए उतारा था कि धर्म को स्थापित करना तथा इसमें परस्पर टुकड़े-टुकड़े न हो जाना।[२८] सूरत अज्जुखरुफ की आयत दो से चार में कहा कि 'अलकिताब' रोशन करने वाली है। हमने इस कुरान को अरबी में इसलिए बना दिया है कि तुम्हारी समझ में आ जावे। वस्तुतः यह उस उम्मुल (माँ) किताब-लोहे महफूज में से लिखा है जो कि हमारे पास है और जिसमें बड़ी हिकमत की चीज है।[२९] यही वह सच्चाई है जो अपने से पहले की मजहबी किताबों की तसदीक (शिक्षाओं को सच बताता है) करता है।[३०] तुमसे ऐसी कोई बात नहीं कही गई जो सचमुच तुमसे पहले के रसूलों ने न कही गई हो।[३१] अल्लाह ने जितने रसूल इससे पहले भेजे हैं, सब ने यही उपदेश किया है।[३२] ईश्वर द्वारा प्राचीन काल में प्रदत्त धर्म का ही मुहम्मद साहब ने प्रचार किया, उनका अपना बनाया कोई 'धर्म' न था, इसके प्रमाण कुरआन में अनेक हैं।[३३]

ऐसा ही अन्य मत प्रवर्तकों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। गुरुनानक का भी यही कहना था कि ईश्वर और उसकी ओर से एक ही धर्म है।[३४]

गावनि पंडित पड़नि रखीसर जुगु-जुगु वेदा नाले

अर्थात् युगयुगान्तरों से वेदों के अध्ययन से ऋषिगण धर्म की महिमा कहते आए हैं। इस प्रकार ये समस्त धर्माचार्य वास्तव में धर्म के संशोधक थे। इन सभी ने अपनी शैली में परमेश्वर और उस समय के

---

२४ सब धर्मों की बुनीयादी एकता- डॉ० भगवान् दास, पृ.-५३ व गीता और कुरान- सुन्दरलाल, पृ.-१२, १३
२५ कुरान- ३०/४३ और ९८/५
२६ वेद और कुरान फैसला करते हैं- कितने दूर कितने पास-एस अब्दुल्लाह तारिक, पृ.-१५
२७ मत मतान्तरों का मूल स्रोत- प० लक्ष्मण जी पृ.- ४२ एवं कुरआन- १३/३८, १०/४७
२८ कुरआन- ४२/१३, ४/१६३
२९ कुरआन- ४३/२ व ४
३० कुरआन- २/९१, ३५/३१
३१ कुरआन- ४१/४३
३२ कुरआन- १६/३६
३३ कुरआन- २३/५१-५४, ४/१५०-१५१,५/४८, ५/५९, ३५/३१, ४२/७ आदि।
३४ मत मतान्तरों का मूल स्रोत वेद- प० लक्ष्मणजी, पृ.-१२, जपुजी साहिब- १६

वर्तमान मत को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया।[३५] अतः धर्म का चोगा पहने ये मतविशेष देशकाल, जाति, अपने प्रवर्तक के नाम से प्रचलित मतों के नाम भी इसी भाव को दर्शाते हुए बताते हैं कि ये सभी एकमात्र 'धर्म' का ही प्रचार कर रहे हैं। यथा-

वैदिक-यथार्थ ज्ञान का धर्म

सनातन-अनादि काल से चला आनेवाला प्राचीन धर्म

बौद्ध-बुद्धत्व प्राप्ति; निर्वाण प्राप्तिद्ध का बौद्धिक धर्म

आर्य-श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण वाला

क्रिश्चियनिटी-क्रिस्टास अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान में ओत प्रोत

इस्लाम-[३६] सल्म या शान्ति का मार्ग कुछ लोग इसे 'सलम' शबर से व्युत्पन्न मानते हैं जिसका अर्थ है गर्दन झुकाना या अपने को किसी की इच्छा पर छोड़ना—श्रद्धापूर्वक समर्पण। इस प्रकार 'इस्लाम' का अर्थ स्वयं को ईश्वर के अर्पण कर देना देना अर्थात् 'ईश्वरप्रणिधान'। मुसलमान का अर्थ हुआ जिसने मुकम्मल—निश्चित रूप से स्वयं को ईश्वर की इच्छा पर छोड़ दिया।

शिन्तो-आत्माओं का रास्ता

ताओ-[३७] रास्ता (ईश्वर प्राप्ति के लिए)

सिख-अर्थात सद्गुरु ईश्वर के सद्शिष्यों का मार्ग।

इसी प्रकार इन मतों की पुस्तकों के नाम भी मौलिक एकता का बोध कराते हैं।

वेद-ईश्वर प्रदत्त ज्ञान जिससे विचारपूर्वक ईश्वर, जीव, प्रकृति की सत्ता जानकर उचित लाभ लिया जा सके। (विद् धातु से घञ् प्रत्यय करने से वेद शब्द सिद्ध होता जिसका अर्थ सत्ता, ज्ञान, लाभ, विचार है।)

धम्मपद-[३८] धर्म का मार्ग। धम्म—धर्म, पद—मार्ग। त्रिपिटक-अर्थात् त्रि—पिटक—तीन पिटारी या पेटी, (दें) जिसमें सुत्त, अभिधम्म और विनय हैं। जो ज्ञान, कर्म, उपासना की बोधक पिटारियां हैं।

जन्द अवेस्ता-[३९] जन्द अर्थात् छन्द। जो छन्दस् का अपभ्रंश है। वेदों की भाषा शैली छन्दमय है, इसलिए इन्हें छन्दस् भी कहते हैं। ईश्वरीय ज्ञान की पवित्र पुस्तक के लिए यह शब्द पारसी में रूढ़ होकर जन्द बन गया है।

कुरआन-[४०] यह शब्द 'केरा' से बना। जिसका अर्थ है ऐलान करना या पढ़ना। संस्कृत क्रन्द अंग्रेजी के क्राइ और अरबी का केरा तीनों शब्दों के अर्थ समान है और कुरआन शब्द इन्हीं से बना है। इसलिए कुरआन का शाब्दिक अर्थ हुआ जो पुकार कर, ऐलान कर प्रचारित किया जाए अर्थात् ईश्वर की वाणी। इस्लाम से पहले यहूदी अपनी धर्म पुस्तक को कराह कहते थे। जो शाब्दिक अर्थ में कुरआन के समान है। स्वयं कुरआन में

---

३५ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद एम.ए., चीफ जस्टिस, पृ.- ४, ५
३६ गीता व कुरआन- सुंदर लाल पृ.- १९४.१९५
३७ सब धर्मों की बुनियादी एकता- डॉ० भगवानदास, पृ.- ६७, ६८, ६९
३८ सब धर्मों की बुनियादी एकता- डॉ० भगवानदास, पृ.- ७०
३९ धर्म का आदि स्रोत- पं० गंगा प्रसाद, पृ.- ९६ पर Chips from a German workshop P. ८४.८५ से उद्धृत
४० गीता और कुरआन- सुन्दरलाल पृ.- १७२

अपने से पूर्व की धर्मिक पुस्तकों[४१] को कुरआन ही कहा गया है। इससे महर्षि दयानन्द का कथन कि सब मनुष्यों के लिए धर्म और अधर्म एक ही हैं, दो नहीं। जो कोई इनमें भेद करे तो उसको अज्ञानी और मिथ्यावादी ही समझना चाहिए।[४२] अतः जो दीन धर्म पहले से ही चला आ रहा था, उसी को महापुरुषों ने आगे बढ़ाने अर्थात् सुचारु रूप से चलाने का बीड़ा उठाया। उसमें किसी ने कोई नई बात नहीं गढ़ी।[४३] इन विचारों से यह स्थिर होता है कि धार्मिक ज्ञान की उत्पत्ति मनुष्य द्वारा नहीं हुई। यह नित्य व शाश्वत है। अन्वेषण करने पर धर्म की उत्पत्ति ईश्वरीय ज्ञान में हुई यह ईश्वरीय ज्ञान संसार की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' हैं, अतः धर्म की उत्पत्ति वेद ज्ञान से सिद्ध है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध धर्म और ईश्वराज्ञा भंग वेदों के विरुद्ध अधर्म है।[४४] अतः वेद ही वह स्रोत है जिससे धर्मिक ज्ञान की धारा पारसी, यहूदी, बौद्ध, ईसाई व इस्लाम मतों की नदियों में होकर बही है।[४५] अर्थात् सभी मत-सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने इसी वेद सम्मत धर्म को उन्नत करने का प्रयास किया था। इस विवेचन से निम्न तीन सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं-(१) धर्म सम्बन्धी किसी नई खोज का असंभव होना (२) धर्म ईश्वरीय ज्ञान वेद के सम्मत होना (३) सभी सम्प्रदायों के प्रवर्तकों द्वारा उसी वेद आधरित व एकमात्र उपलब्ध ज्ञान का उद्धार करना। इन तीनों सिद्धान्तों को मनुष्यों द्वारा आत्मसात् कर लेने पर वह समझ जाएगा कि विभिन्न धर्म प्रवर्तकों ने उसी एक सनातन एवं वेद सम्मत धर्म का प्रचार-प्रसार किया है। उनका सम्मान करते हुए हमें केवल वेद आधारित धर्म का पालन ही करना चाहिए क्योंकि वही ईश्वर प्रदत्त और पक्षपातरहित है। ऐसा मानने और करने से साम्प्रदायिक एकता का अंकुर प्रस्फुटित होकर मानव एकता के विशाल वृक्ष में दृष्टिगोचर होगा जिसकी छाया में सम्पूर्ण पृथ्वी ग्रह सुखानुभव करेगा।

---

४१ कुरआन- १५/८०-९१
४२ ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका- वेदोक्त धर्म विषय-, महर्षि दयानन्द, पृ.-३५७
४३ सब धर्मों की बुनीयादी एकता- डॉ० भगवानदास- कांगफूजे का उद्धरण, पृ.-५२
४४ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद एम.ए. चीफ जस्टिस, पृ.-५४४
४५ धर्म का आदि स्रोत- प० गंगा प्रसाद एम.ए. पृ.-४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०११९-१२६) ISSN 0974 – 8830

महर्षिदयानन्दस्येश्वरमीमांसा

डॉ० सुधीरकुमारः[१]

पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाशरूपा सूर्य-चद्र-तारकात्मिका चेयममानवीया सृष्टिः प्रत्यक्षा वर्तते। अस्याः सृष्टेः कर्त्ता कश्चिन्मानवो न भवितुं शक्नोति, तस्मादेषाऽमानवीया सृष्टिरिति कथ्यते। अस्यां प्रत्यक्षसृष्टौ वर्तमाना मनुष्य-पशु-पक्षि-सरीसृपप्रभृतिका ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादिका सृष्टिरपि अमानवीया वर्तते। मानव इतोऽमानवीयसृष्टित एव स्वाभीष्टमृत्तिकादिपदार्थान् समादाय घटदीनां पदार्थानां रचनामातनुते। एषा घटपटादिरूपा सृष्टिर्मानवीया सृष्टिरस्ति।

यथा-घट-पटादिमानवीयसृष्टेः कुम्भकारस्तन्तुवायश्चावश्यकोऽस्ति, यतोहि तं कर्त्तारं विना घट-पटादिका सृष्टिः स्वयं न भवितुं शक्नोति, तथा-अस्याः प्रत्यक्षभूतायाः पृथिव्याद्यमानवीयसृष्टेः कर्त्ताऽपि परमावश्यकोऽस्ति, इत्यनुमानप्रमाणेन सिध्यति।

१-त्रीणि कारणानिः-कार्यपदार्थस्य निमित्त-उपादान-साधारणनामकानि त्रीणि कारणानि भवन्ति। एतेषां व्याख्याऽधो लिख्यते-

(१) निमित्तकारणम्-यस्य निर्माणेन किमपि निर्मितं भवति, न निर्माणेन च निर्मितं न भवति, स्वयं च निर्मितो न भवति, द्वितीयं च प्रकारान्तरेण निर्माति स निमित्तकारणमिति कथ्यते। यथा-घटस्य निमित्तकारणं कुम्भकारोऽस्ति पटस्य च निमित्तकारणं तन्तुवायो वर्तते।

इदं निमित्तकारणं मुख्य-साधारणभेदेन द्विविधं भवति। अस्याः पृथिव्यादेः सृष्टेः कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता व्यवस्थापकश्च मुख्यं निमित्तकारणं परमेश्वरोऽस्ति। द्वितीय ईश्वरस्य सृष्टिमध्यात् पदार्थानादाय घट-पटादीनां नानाविधकार्यपदार्थानां कर्त्ता साधारणं निमित्तकारणं जीवो वर्तते।

(२) उपादानकारणम्-यथा घटस्योपादानकारणं मृत्तिकाऽस्ति, पटस्य चोपादानकारणं तन्तवः सन्ति, तथाऽस्याः सृष्टेरुपादानकारणं प्रकृतिर्वर्तते, यां समस्तसंसारस्य निर्माणसामग्रीं कथयन्ति। प्रकृतिर्जडत्वात् स्वयं किमपि न निर्मातुं न च स्वयं विकृता भवितुं शक्नोति। किञ्च-साऽन्यस्य निर्माणेन किमपि निर्मितं भवति, विकारेण च विकृतं भवति। तस्मादस्याः प्रत्यक्षायाः पृथिव्यादिकायाः सृष्टेरुपादानकारणं प्रकृतिर्वर्तते। नैयायिका वैशेषिकाश्चाऽऽचार्या इमां प्रकृतिं परमाणुमिति वदन्ति।

(३)साधारणकारणम्-यदा कोऽपि घट-पटादिपदार्थो निर्मीयते तदा स यै साधनैर्निर्मीयते ते साधारणकारणमिति कथ्यन्ते। यथा-ज्ञानम्, दर्शनम्, बलम्, हस्तः, दण्डचक्रादीनि नानाविधयन्त्राणि, दिशा, काल, आकाशादयश्च कार्यपदार्थस्य साधारणकारणं सन्ति।

यथा च-घटस्य कर्त्ता कुम्भकारो निमित्तकारणम्, मृत्तिकोपादानकारणम्, दण्डः, चक्रम्, दिशा, कालः, आकाशः, चक्षु, हस्तः, ज्ञानम्, क्रिया चेत्यादयो घटस्य साधारणकारणं सन्ति।

(४)मुख्यनिमित्तकारणम्-अस्याः सृष्टेर्मुख्यं निमित्तकारणं परमेश्वरोऽस्ति। यतोहि-ईश्वरकृतायाः सृष्टित

---

१. असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वेद-विभागः, गुरुकुलकांगडी वि०वि० हरिद्वारम्।

एव मृत्तिकादिकं समादाय जीवः स्वाभीष्टानां घट-पटादिपदार्थानां सृष्टिं करोति। अतोऽस्याः सृष्टेर्मुख्यं निमित्तकारणं परमेश्वरोऽस्ति।

२-ईश्वरसत्तानिर्णयः-वेदाः साङ्ख्यदिर्शनादीनि च शास्त्राणि परमेश्वरस्य सत्तां तस्य सृष्टिकतृत्वं च प्रतिपादयन्ति। अस्मिन् विषये कानिचिच्छब्दप्रमाणानि प्रस्तूयन्ते-

(१) वेदमतम्

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इद् विदुस्त इमे समासते।।[२]

अर्थात्-यस्मिन् सर्वव्यापकेऽविनाशिनि सर्वोत्कृष्टे च परमेश्वरे सर्वे विद्वांसः पृथिवीसूर्यादयश्च समस्तलोका अवस्थिताः सन्ति, यस्मिन् विषये च वेदानां मुख्यं तात्पर्यं वर्तते, तद् ब्रह्म यो नैव विजानाति, स ऋग्वेदादिभ्यः शास्त्रेभ्यः किं सुखं प्राप्तुं शक्नोति? किञ्च यो वेदानधीत्य धर्मात्मा योगी च भूत्वा तद् ब्रह्म विजानाति, स एव परमेश्वरेऽवस्थितो भूत्वा, मुक्तिरूपं परमानन्दं लभते।

ईशावस्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।[३]

अर्थात्-हे मनुष्य! अस्मिन् संसारे यत् किमपि जगद् दरीदृश्यते, तस्य सर्वस्य व्यापको भूत्वा नियन्ता परमेश्वरोऽस्ति। तस्मद् भीत्वा त्वमन्यायेन कस्यचिद् धनस्य वाञ्छां मा कुरु। तस्याऽन्यायस्य परित्यागेन न्यायाचरणात्मकेन धर्माचरणेन निजात्मनि परमानन्दमुपभुङ्क्ष्व।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[४]

अर्थात्-हे मनुष्याः! यः सृष्टेः प्राक् सर्वेषां सूर्यादीनां तेजस्विलोकानामुत्पत्तिस्थानमाधारश्चाऽऽसीत्, यत्किञ्च समुत्पन्नं जातम्, अस्ति, भविष्यति च, स तस्य पतिरासीत्, अस्ति, भविष्यति च। स एव पृथिवीमारभ्य सूर्यपर्यन्तां सृष्टिं रचयित्वा धारयन्नास्ते। युष्माभिस्तस्य सुखस्वरूपस्य परमेश्वरस्य भक्तिः कर्त्तव्या।

(२) साङ्ख्यदिर्शनम्-नास्तिकः-साङ्ख्यदिर्शने लिखितम्-ईश्वरासिद्धेः[५] इति, अर्थात्-ईश्वरस्य सिद्धिर्न भवितुं शक्नोति। तस्मात्-साङ्ख्यदिर्शनस्य कर्त्ता कपिलमुनिरनीश्वरवादी वर्तते, न तु परमेश्वरवादी।

आस्तिकः-ईश्वरासिद्धेः[६] इदं सूत्रं प्रत्यक्षप्रमाणप्रकरणस्थं विद्यते। अस्य सूत्रस्य योऽर्थो भवता कृतः सोऽशुद्धो विद्यते। तत् प्रकरणमित्थं वर्तते यत्सम्बद्धं सत् तदाकारो`खि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्।[७] अर्थात्-यदिन्द्रियस्याऽर्थस्य च सम्बन्धेनार्थाकारं विज्ञानं जायते, तत्प्रत्यक्षप्रमाणमस्ति।

नास्तिकः-योगिजनानामिन्द्रियस्यार्थस्य च सम्बन्धं विनाऽपि ज्ञानं भवति, तस्मात् प्रत्यक्षप्रमाणस्य

---

२. ऋ० १।१६४।३९
३. यजु० ४०।१
४. यजु० १३।४
५. सां०द० १/९२
६. पूर्ववत्।
७. सां०द० १/८९

पूर्वोक्तं लक्षणं दोषोपेतं वर्तते।

आस्तिकः-योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः[८] अर्थात्-योगिजनानाम् आन्तरिकं प्रत्यक्षमपि भवति। तस्मात्-प्रत्यक्षं बाह्य-आन्तरिकभेदाद् द्विविधं भवति। पूर्वोक्तं प्रत्यक्षलक्षणं बाह्यप्रत्यक्षस्य विद्यते, न चाऽऽन्तरिकप्रत्यक्षस्य। तस्मा क्षणेऽव्याप्तिदोषो न भवति।

नास्तिकः-यदा बाह्यप्रत्यक्षेण सर्वाणि कार्याणि सिध्यन्ति, तदाऽऽन्तरिकप्रत्यक्षस्य काऽऽवश्यकताऽस्ति?

आस्तिकः-ईश्वरासिद्धेः[९] अर्थात्-बाह्यप्रत्यक्षेण परमेश्वरस्य सिद्धिर्न भवितुं शक्नोति। ईश्वरस्य दर्शनमान्तरिकप्रत्यक्षेणैव भवति। ईश्वरोऽपीन्द्रियस्यार्थस्य च सम्बन्धं विना सर्वं जगत् पश्यति। तस्मात्-आन्तरिकप्रत्यक्षस्याऽऽवश्यकता वर्तते, तस्मात् आन्तरिकप्रत्यक्षमाऽऽवश्यकं वर्तते।

नास्तिकः-यदि परमेश्वरस्य सत्ताऽऽन्तरिकप्रत्यक्षं च न स्वीक्रियेत चेत् का हानिरस्ति।

आस्तिकः-(१) मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः[१०] अर्थात्-मुक्तो बद्धो वा जीवः कोऽपि सृष्टिरचनां कर्तुं नार्हति, तस्मात्-ईश्वरस्य सत्तायाः स्वीकरणमनिवार्यमस्ति।

(२)वेदव्यासमुनिर्वेदान्तदर्शने लिखति-जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहित्वाच्च[११] अर्थात्-मुक्तात्मानः सृष्टे रचनाम्, पालनम्, प्रलयं व्यवस्थां च न कर्तुं शक्नुवन्ति। यतोहि-यत्र सृष्ट्युत्पत्तिप्रकरणमस्ति, तत्र परमेश्वर एव सृष्टिकर्त्ता प्रतिपादितोऽस्ति, न तु जीवः।

(३) उभयथाप्यसत्करत्वम्[१२] अर्थात्-बद्धमुक्तरूपायामुभयविधावस्थायां जीवः सृष्टिरचनां कर्तुं न शक्नोति।

(४) मुक्तात्मनः प्रशंसोपासासिद्धस्य वा[१३] अर्थात्-वेदेषु यत्र मुक्तात्मनः प्रशंसा उपलभ्यते तत्र तस्मिन् सृष्टिरचनायाः सामर्थ्यस्य वर्णनं न प्राप्यते। किञ्च-वेदेषु जीवनमुक्तस्य परमेश्वरोपासनाया वर्णनन्तु प्राप्यते। यदि मुक्तात्मनि सृष्टिरचनादिकस्य सामर्थ्यं भवेच्चेत् तस्मै परमेश्वरोपासनायाः काऽऽवश्यकता वर्तते।?

नास्तिकः-यदि परमेश्वरः सृष्टिकर्त्ता स्वीक्रियते चेत् तदपि न सत्यम्। यतोहि सृष्टिरचनां स एव कर्तुं शक्नोति यः सक्रियः स्यात्, परमेश्वरस्तु निष्क्रियोऽस्ति क्रियारहितो वर्तते। तस्मात्-ईश्वरः सृष्टिरचनां न कर्तुं शक्नोति।

आस्तिकः-(१) तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्[१४] अर्थात्-परमेश्वरः स्वसन्निधिमात्रेण सृष्टिरचनां करोति, यथा मणिः (चुम्बक) सन्निधिमात्रेण लोहं कर्षति, तस्मै क्रियायाः काऽप्यावश्यकता न वर्तते।

(२) विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्[१५] अर्थात्-वेदेषु जीवानां विशेषकार्यस्य कर्मफललाभादौ परमेश्वरस्य

---

८. सां०द० १/९०
९. सां०द० १/९२
१०. सां०द० १/९३
११. वे०द० ४/४/१७
१२. सां०द० १/९४
१३. सां०द० १/९५
१४. सां०द० १/९६
१५. सां०द० १/९७

वर्णनमुपलभ्यते। जीवेभ्यः कर्मफलप्रदाता परमेश्वर एव वर्तते।

(३) सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः[१६] अर्थात्-ईश्वरः सिद्धरूपो बोद्धा (सर्वज्ञः) च वर्तते। तस्मात् स जीवेभ्यो वेदानां वाक्यार्थमुपदिशति।

(४) अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वा ोहवदधिष्ठातृत्वम्[१७] अर्थात्-यथा लोहे दाहशक्तिर्जायते, तथाऽन्तःकरणे स्वयं चैतन्यं कार्यशक्तिश्च न भवति, आत्मनः संयोगेन तत्र चैतन्यं कार्यशक्तिश्च संजायते। यथा च केनोपनिषदि सम्यगुपदिष्टम् यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[१८]

अर्थ-यद् ब्रह्म मनसा मननं न कुरुते, किञ्च-तस्य ब्रह्मणः शक्त्यैव मम मनो मननं चिन्तनं करोति, तद् ब्रह्म त्वं विजानीहि। यस्य मन-आदिकस्य जना उपासनां कुर्वन्ति तद् ब्रह्म नास्ति।

भावोऽयम्-तस्य ब्रह्मणः सामर्थ्येनैव मन-आदीनीन्द्रियाणि क्रियाशीलानि भवन्ति, स्व-स्वकार्याणि कुर्वन्ति, न तु स्वयम्। तस्मात्-ईश्वरो निष्क्रियः क्रियारहितः (गतिरहितः) सन्नपि स्वानन्तसामर्थ्येन स्वसृष्ट्युत्पत्त्यादिकानि कार्याणि करोति।

नास्तिकः-(१) प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः[१९] अर्थात्-ईश्वरे प्रत्यक्षप्रमाणं नास्ति। तस्मात्-ईश्वरस्य सिद्धिर्न भवितुं शक्नोति।

(२) सम्बन्धाभावान्नानुमानम्[२०] अर्थात्-ईश्वरे कश्चिद् व्याप्तिसम्बन्धो न विद्यतेऽतोऽनुमान-प्रमाणमपि न घटते। अस्मिन् साङ्ख्यदर्शनस्य प्रकरणे परमेश्वरस्य स्पष्टं निषेधः कृतोऽस्ति।

आस्तिकः-भवान् पूर्वोक्तसाङ्ख्यसूत्राणां यमर्थं कृतवान् स यथार्थो नास्ति। इमानि साङ्ख्यदर्शनसूत्राणि यस्मात् प्रकरणाद् उद्धृतानि सन्ति, तत्प्रकरणमिदमस्ति।

तत्र कश्चिच्छङ्कां करोति-यदि परमेश्वरं सृष्टेर्मुख्यनिमित्तकारणं न मत्वा, स उपादानकरणं स्वीक्रियेत चेत् का हानिः ? अस्योत्तरमिदं विद्यते-

(१) प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः[२१] अर्थात्-ईश्वरे यदि प्रधानशक्तेः प्रकृतेर्योगो मन्यते-स सृष्टेरुपादानकारणं स्वीक्रियेत चेत् तत्र प्रकृतिगुणानां सङ्गापत्तिरपि मन्तव्या भविष्यति, अर्थात्-कार्यजगतो जडता-मूर्खता-परिणामित्व-दुःखप्रभृतयः सर्वे दोषा ईश्वरे स्वीकार्या भविष्यन्ति। यतोहि-ये गुणाः कारणे भवन्ति, ते तस्य कार्येऽपि समागच्छन्ति। यथा कणादमुनिः प्राह-कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः[२२] इति।

(२) सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम्[२३] अर्थात्-यदि परमेश्वरस्य सत्तामात्रात् सृष्ट्युत्पत्तिर्मन्ये चेदिदं सम्पूर्णं जगदैश्वर्यमयम् आनन्दमयं भविष्यति, यतोहि-अस्य जगत् उपादानकरणं परमेश्वर आनन्दमयोऽस्ति।

---

१६. सां०द० १/९८
१७. सां०द० १/९९
१८. के०उ० १/५
१९. सां०द० ५/१०
२०. सां०द० ५/११
२१. सां०द० ५/८
२२. वै०द० २/१/२४
२३. सां०द० ५/९

(३) प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः[२४] अर्थात्-प्रमाणस्याऽभावात् परमेश्वरः सृष्टेरुपादानकारणं नैव सिध्यति।

(४) सम्बन्धाभावान्नानुमानम्[२५] अर्थात्-व्याप्तिसम्बन्धाभावादत्रानुमानप्रमाणमपि नास्ति, यद् अस्या सृष्टेरुपादानकारणं परमेश्वरो वर्तते। संसारे एतादृशं किमप्युदाहरणं नैवोपलभ्यते येनेदं सिद्धं भवेद्, यदस्या सृष्टेरभिन्ननिमित्तमुपादानकारणं परमेश्वरोऽस्तीति।

(५) श्रुतिरपि प्रधानकार्यस्य[२६] अर्थात्-श्रुतिः वेदोऽपीमां सृष्टिं प्रधानस्य प्रकृतेः कार्यमुपदिशति, न तु परमेश्वरम्। यथा-स भूमिं जनयन् देव एकः[२७] अर्थात्-स एक ईश्वरदेव इमां भूमिमाजनयत्। तथा-स्वधया तदेकं,...........तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास[२८] अर्थात्-स ईश्वरः स्वधया प्रकृत्या इमां सृष्टिं रचयामास। तस्मा भिन्नोऽन्यः कश्चिदस्याः सृष्टे रचयिता न वर्तते।

(६) नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य[२९] अर्थात्-ईश्वरो निःसङ्गोऽस्ति, स प्रकृतिसङ्गाद् रहितो वर्तते तस्मात्-तेन साकमविद्याया योगो न सम्भवति। ईश्वरोऽविद्यादिभ्यः पञ्चक्लेशेभ्यः पृथगास्ते।

(७) विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः[३०] अर्थात्-यदि परमेश्वरो विद्यातोऽन्योऽविद्येति मन्येत चेत्-यथ विद्यातोऽविद्याया निवृत्तिर्भवति, तथा ब्रह्मणि बाधायाः प्रसङ्गो भविष्यति, अयं भावः-विद्यातोऽविद्यारूपस ब्रह्मणो निवृत्तिर्भवति, तथा ब्रह्मणि बाधायाः प्रसङ्गो भविष्यति, अयं भावः-विद्यातोऽविद्यारूपस्य ब्रह्मण निवृत्तिर्भविष्यति, ब्रह्मणः सत्ता समाप्ता भविष्यति, तस्माद् ब्रह्म विद्यास्वरूपम्-ज्ञानस्वरूपमस्ति विद्यातोऽन्यदविद्यास्वरूपं न विद्यते।

(८) स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता[३१] अर्थात्-स ईश्वरः सर्वज्ञाता सर्वज्ञोऽस्याः सर्वस्याः सृष्टेः कर्त्ता वर्तते।

(९) ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा[३२] अर्थात्-ईदृशस्य सर्वज्ञस्य सर्वसृष्टिकर्तृकस्य च परमेश्वरस्य सिद्धः सिद्ध वर्तते।

(१०) न नित्यमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्वद्योगादृते[३३] अर्थात्-ईश्वरो नित्यमुक्तस्वभावो वर्तते तस्याविवेकेन सह योगं विना प्रकृत्या साकं संयोगो न भवितुमर्हति।

(११) समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता[३४] अर्थात्-जीवः समाधौ, सुषुप्तौ, मोक्षे च ब्रह्मरूपतां लभते।

(१२) व्यावृत्तोभयरूपः[३५] अर्थात्-ईश्वरो जीवप्रकृतिभ्यामुभयस्वरूपाभ्यां व्यावृत्तः भिन्नस्वरूप आनन्दस्वरूपो वर्तते।

---

२४. सां०द० ५/१०
२५. सां०द० ५/११
२६. सां०द० ५/१२
२७. यजु० १७/१९
२८. ऋ० १०/१२९
२९. सां०द० ५/१३
३०. सां०द० ५/१६
३१. सां०द० ३/५६
३२. सां०द० ३/५७
३३. सां०द० ३/५७
३४. सां०द० ५/११६
३५. सां०द० १/१६१

(१३) साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम् अर्थात्-ईश्वरस्य जीवप्रकृतिभ्यां साक्षात्सम्बन्धभावेन स उभयो साक्षी चास्ति, द्रष्टा वर्तते। यथा च वेदवाणी वदति-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।[३६]

द्वे सुन्दरे, सहवासिनी, ईश्वर-जीवनामके मित्रे एकस्मिन् प्रकृतिरूपे वृक्षे निवसत:। तयोरेकतरो जीवस्तस्य प्रकृतिवृक्षस्य स्वादूनि फलानि भुङ्क्ते, द्वितीयश्च परमेश्वरस्तस्य फलानि न खादन् जीवं केवलं पश्यन्नास्ते, ईश्वरो जीव-कार्यस्य निरीक्षक: साक्षी वर्तते।

(१४) नित्यमुक्तत्वम्[३७] अर्थात्-ईश्वरोऽस्या: सृष्टे: साक्षी सन्नपि नित्यमुक्तोऽस्ति। सोऽस्या: सृष्टे: प्रलोभने निपत्यास्यां कदापि बद्धो न भवति, नास्यां प्रसक्तो भवति।

(१५) उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्[३८] अर्थात्-चेतनस्य परमेश्वरस्य सान्निध्यात् उपरागात् सम्बन्धविशेषात् प्रकृतौ कर्तृत्वं जायते। प्रकृतिर्जडा वर्तते, तस्मात्-तस्यां कर्तृत्वं न सम्भवति।

प्रतिज्ञा

एतेषां साङ्ख्यशास्त्रस्य प्रमाणानां प्रकाशे को वक्तुं साहसं कर्त्तुं शक्नोति यत् साङ्ख्यदर्शनस्य कर्त्ता कपिलमुनिरनीश्वरवादी वर्तते। कपिलमुनि: परमेश्वरमेवास्या: सृष्टे कर्त्तारम्, धर्त्तारम्, संहर्त्तारं व्यवस्थापकञ्च मन्यते। मानवस्य च तमीश्वरमेवोपास्यमुपदिशति।

(३) योगदर्शनमतम्-

योगदर्शनस्य रचयिता पतञ्जलिमुनिरीश्वरवादी विद्यते। स च परमेश्वरं सृष्टिकर्त्तारं मानवस्य चोपास्यदेवं मन्यते। स चित्तवृत्तिनिरोधस्योपायानां व्याख्यायामाख्याति-

(१) ईश्वरप्रणिधानाद् वा[३९] अर्थात्-ईश्वरस्य विशेषभक्त्याऽऽवर्जित: अनन्यभावेनाऽभिध्यात ईश्वर ध्यातारं पुरुषमनुगृह्णाति। तेन परमेश्वरस्याभिधानमात्रेण योगिनश्चित्तिर्निरुद्धा जायते। स शीघ्रं समाधिलाभमधिगच्छति, तस्य फलं सुखं शान्तिं च प्राप्नोति।

(२) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट ईश्वर:[४०] अर्थात्-अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशा: पञ्चक्लेशा: सन्ति, कुशल-अकुशलनि कर्माणि वर्तन्ते, तेषां सुख-दु:खरूपं यत् फलं तद् विपाक इति कथ्यते, तद्विपाकानुसारिणी या वासना साऽऽशय इत्यभिधीयते। एते क्लेशादयो वस्तुतो मनसि वर्त्तमाना भवन्ति, किञ्च-गौणभावात् पुरुषे कथ्यन्ते। यतोहि-तेषां फलस्य भोक्ता पुरुष एव वर्तते। यथा च-जय: पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानो भवति किन्तु-गौणभावात् स्वामिनि व्यपदिश्यते। योऽस्मात् पूर्वोक्ताद् योगाद् अपरामृष्ट: असम्बद्धोऽस्ति स पुरुषविशेष ईश्वरो वर्तते।

---

३६. ऋ० १/१६४/२०
३७. सां०द० १/१६२
३८. सां०द० १/१६४
३९. यो०द० १/२३
४०. यो०द० १/२४

(३) तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्[४१] अर्थात्-तस्मिन् परमेश्वरे सर्वज्ञभावस्य बीजम् निरतिशयं तुल्यतारहितमस्ति, तेन तुल्यः कोऽपि सर्वज्ञो नास्ति। यदा कोऽपि तुल्य एव नास्ति, तदा कोऽपि तस्मादधिकः कथं भवितुं शक्नोति।

(४) स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्[४२] अर्थात्-स एष पुरुषविशेषः परमेश्वरः प्राचीनानामृषिमुनिजनानामपि गुरुर्वर्तते। यतोहि-स कालेन कदाचिदवच्छिन्नो न भवति। सैका नित्या चेतनसत्ता वर्तते। यथा सोऽस्याः सृष्टेः प्रारम्भे प्रकृष्टज्ञानादिभिर्गुणैः सिद्धं आसीत् तथा सोऽतिक्रान्तेषु सर्गेष्वपि विद्यमानो बभूव, आगामिन्यां सृष्ट्यामपि वर्तमानः स्थास्यति।

(५) तस्य वाचकः प्रणवः[४३] अर्थात्-तस्य परमेश्वरस्य वाचकः शब्दः प्रणवो वर्तते। सामवेदिन आचार्याः प्रणव-नाम्नाऽऽह्वयन्ति, अन्ये च तम् ओम्-नाम्ना स्मरन्ति। ओमिति नामधेयं परमेश्वरस्य सर्वेषां नाम्नां वाचकं ग्राहकं चास्ति।

(६) तज्जपस्तदर्थभावनम्[४४] अर्थात्-ईश्वरस्योपासकः प्रणवस्य ओम् इत्येतस्य पदं जपं कुर्यात् प्रणववाचकेन परमेश्वरेण चित्तं भावयेत्-प्रभावितं कुर्यात्। प्रणवस्य जापे च प्रणवस्य भावयितुर्योगिनश्चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। यथा चोक्तम्-स्वाध्यायाद् योगमासीत् योगात्स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥[४५]

(७) ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च अर्थात्-अस्मात् पूर्वोक्त-ईश्वर-प्रणिधानाद् योगिनो व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-भान्तिदर्शन-अलब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वनात्मानोऽन्तराया न भवन्ति, स च प्रत्यक्-चेतनस्य अन्तरात्मनः प्राप्तिमधिगच्छति स्वरूपदर्शनं संजायते। यथा-ईश्वरः शुद्धः, प्रसन्नः, निर्मलः केवलोऽनुपसर्गप्रकृति-सम्पर्कशून्योऽस्ति, तथाऽयं ज्ञानस्यानुभविता पुरुषोऽपि पुरुषविशेषम् परमेश्वरमुपलभते।

(४) न्यायदर्शनमतम्

(१) अपवर्ग-न्यायदर्शनस्य रचयिता गोतममुनिरपि परमेश्वरवादी विद्यते। अत्र निम्नलिखितानि प्रमाणानि सन्ति-

(१) न्यायदर्शने प्रमाणादीनां षोडशपदार्थानां तत्त्वज्ञानेन मानवस्य निःश्रेयसप्राप्तिः प्रतिपादिताऽस्ति।[४६] निःश्रेयसस्य मोक्षलोकस्य स्वामी परमेश्वरोऽस्ति।

(२) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः[४७] अर्थात्-दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानेषु उत्तर-उत्तरपदार्थानां निवृत्या मानवोऽस्यां सृष्टावपवर्गम् मोक्षमधिगच्छति।

अयं भावः-तत्त्वज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तिर्भवति, मिथ्याज्ञानस्य नाशेन दोषाणां नाशो भवति, दोषाणां

---

४१. यो०द० १/१५
४२. यो०द० १/१६
४३. यो०द० १/२७
४४. यो०द० १/२८
४५. यो०द०
४६. न्या०द० १/१
४७. न्या०द० १/२/२

नाशेन प्रवृत्तिर्विनश्यति, प्रवृत्तिविनाशेन जन्म निवर्तते, सृष्टौ गमनागमनं न भवति, जन्मनो विनाशेन दुःखानां निवृत्तिर्भवति। सर्वेषां दुःखानां निवृत्तेरेव नामधेयमपावर्गोऽस्ति, मोक्षोऽस्ति।

(२) वेदप्रामाण्यम्-

(३) मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्[४८] अर्थात्-मन्त्रप्रामाण्यवद् आयुर्वेदप्रामाण्यवच्च वेदानामपि प्रामण्यमस्ति, यतोहि ते परमाप्तेन परमेश्वरेण समुपदिष्टाः सन्ति।

---

४८. वै०द० १/२/६९

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (१२७-१३१) ISSN 0974 – 8830

वास्तु-विज्ञान की प्राच्य अवधारणा

डा० अनिता सेनगुप्ता[१]

वेद ज्ञान का पर्याय है। वेद से उद्भूत सभी शास्त्र ऋषियों तथा मुनियों एवं शास्त्रज्ञ मनीषियों के कर कमलों से पालित एवं संस्कृतयुक्त होकर शैशव से यौवन को प्राप्त करते हैं तथा कालान्तर में स्वतन्त्र शास्त्र के सघन, उन्नत एवं दृढ़ वृक्ष बनते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में अग्नि पुराण, मत्स्य पुराण, भविष्य, स्कन्द, गरुड़, नारद, ब्रह्माण्ड, लिंग तथा वायु पुराणादि का उल्लेख किया जा सकता है जिसमें वास्तु शास्त्र का पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। वराह मिहिर की बृहत्संहिता, कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, शुक्रनीतिसार, राजा भोजदेव कृत समरांगण सूत्रधर, मानसार, मयमतम्, बृहत्शिल्प शास्त्र तथा विश्वकर्माकृत वास्तु शास्त्रादि ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ हैं। वैदिक साहित्य में गृह एवं वास्तु सम्बन्धी अनेक सन्दर्भ प्राप्त होते हैं।[२]

वास्तु शब्द वस्तु से अण् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है और वस्तु शब्द वस् धातु से तुन् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ। 'वसन्त्यस्मिन्निति' वास्तु इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसमें निवास किया जाए वह वास्तु है। जब अनियोजित भूखण्ड को रहने के उद्देश्य से सुनियोजित स्वरूप प्रदान किया जाता है, तब वह वास्तु कहलाता है। अत: भवन, दुर्ग, प्रासाद, महल, मठ, मन्दिर, नगरादि सभी, जिसमें मनुष्य रहते हैं, वह वास्तु है। आचार्य चाणक्य ने भी अर्थशास्त्र में 'वास्तु' शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। उनके अनुसार गृह, क्षेत्र, वाटिका, बाँध, सेतु प्रत्येक का भवन तथा तटागादि सभी वास्तु का विषय है।

वैदिक युग में भवन निर्माण से पहले वास्तु-देवता की आराधना की जाती थी। यह प्रथा आज भी प्रचलित है। ऋग्वेद के ७वें मण्डल के ५४ तथा ५५ सूक्तों में 'वास्तोष्पति' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। वास्तु का अर्थ है-घर तथा पति का अर्थ है-स्वामी। सायणाचार्य ने इसका अर्थ किया है-घर के पालक देव-गृहस्थपालयितर्देव:। उपासक गृह देवता से सुख, धन, निरोगता, रक्षादि की कामना करता है। इन सूक्तों के देवता 'वास्तोष्पति' को माना गया है। शौनकीय बृहद्देवता के अनुसार गृहदेवता संसार को आवास प्रदान करते हुए उसकी रक्षा करता है। ये मध्यम स्थान में स्थित है। अत: उर्वशी पुत्र वसिष्ठ ने इन्हें वास्तोष्पति कहा है –

वास्तु प्रयच्छंल्लोकस्य मध्यम: स तु पाति यत्।
तेन वास्तुष्पति प्राह चतुर्भिरिममौर्वश:।[३]

वेदों में वास्तोष्पति के साथ त्वष्टा का भी उल्लेख प्राप्त होता है-वास्तोष्पति त्वष्टारम्[४]। त्वष्टा सम्राट् के द्वारा नियुक्त वह राज्याधिकारी होते थे जिनके अधिकार में गृह निर्माण, उद्योग तथा शिल्प कलाएं रहती थीं।[५]

---

१. एसो० प्रोफेसर, संस्कृत, ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
२. शरण – २.३.८, वास्तु १.१५४.६, सदन १०.११.९
३. बृहद्देवता – २.४४
४. ऋग्वेद – ५.४१.८
५. वेदों में राजनीतिक विज्ञान पृ० १९०–१९२

वेदों में कहीं-कहीं इन्द्र को भी वास्तोष्पति कहा गया है।[६]

ऋग्वेद के कई मन्त्रों में विशाल भवनों का उल्लेख प्राप्त होता है। राजा मित्र तथा वरुण के राजद्वार में हजार खंभे थे-राजानौ .... ध्रुवे सदस्युत्तमे सहस्त्रस्थूण आसाते[७] ऋग्वेद में राजा वरुण के १००० द्वार वाले बड़े महल का उल्लेख प्राप्त होता है।[८]

ऋग्वेद में भवनों की बनावट के भी संकेत प्राप्त होते हैं। गृह निर्माण में स्तम्भों का प्रयोग आवश्यक था। घर की छत को टिकाने के लिए स्तम्भों का वर्णन दशम मण्डल में मिलता है। अन्यत्र मजबूत स्तम्भों स्कम्भास: पर तिकोनी छत को टिकाने की बात कही गई है-त्रय: स्कम्भास: स्कभितास आरभंत्रिर्नक्तं यथास्त्रर्वश्विना दिवा।[९]

ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग में भी लोग मिट्टी के घरों में रहना पसन्द नहीं करते थे संभवत: ऐसे घरों में रहना प्रतिष्ठा का प्रतीक न हो। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में एक ऋचा में ऋषि वरुण देवता से कहते हैं कि मैं मिट्टी के घर में जाना नहीं चाहता।[१०]

वैदिक साहित्य में लौह निर्मित नगर या किले का उल्लेख भी प्राप्त होता है-पुर: कृणुध्वम् आयसीरधृष्टा:।[११]

वैदिक युग में पत्थर के बड़े नगर बनाए जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इन्द्र ने ऐसे १०० पत्थरों के नगर भक्त दिवोदास को को दिए-शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।[१२]

उस समय छोटे तथा बड़े अनेक प्रकार के भवनों को बनाने का प्रचलन था। छोटे घरों को 'शाला' कहा जाता था।[१३] बड़े घरों को 'बृहत्मान' कहते थे।[१४]

अथर्ववेद में वास्तु शास्त्रीय निर्माण विधि का सैद्धान्तिक उल्लेख पर्याप्त रूपेण प्राप्त होता है। इस सूक्त में मकान के बनाने, कमरों की व्यवस्था, आँगन आदि का उल्लेख है। अथर्ववेद में इस बात पर बल दिया गया है कि मकान-'उपमित' नक्शे के अनुसार हो, 'प्रतिमित' अर्थात् नक्शे में नाप तौल यानि लंबाई-चौड़ाई, ऊँचाई आदि का पूरा ध्यान रखा जाए। और भवन 'परिमित' हो अर्थात् इसके खंभे, द्वार, खिड़कियाँ आदि यथास्थान लगाए गए हो। उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत।[१५]

उस समय भी यह ध्यान रखा जाता था कि भवन का नक्शा किसी ब्रह्मा विद्वान् या इन्जीनीयर से बनवाया जाए तथा कुशल कारीगर के द्वारा ठीक नाप से भवन का निर्माण किया जाए -

---

६. ऋग्वेद ८.१७.१४, ७.५२.१-२
७. ऋग्वेद २.४१.५
८. बृहन्तं मानं वरुण स्वधाव: सहस्त्रद्वारं जगमा गृहं ते।
९. ऋग्वेद १.३४.२
१०. मोषु वरुण मृण्मयं गृहं राजान्नहं गमम्। ऋग्वेद ७/८९/१
११. अथर्ववेद १९.५८.४
१२. ऋग्वेद ४.३०.२०
१३. अथर्व० ऋ० ८.६.१०
१४. वही ७.८८.५
१५. अथर्ववेद ९.३.१

ब्रह्मणा शालां निर्मितां कविभिर्निमितां मिताम्।[१६]

मकान उद्धिता अर्थात् ऊँचाई पर हो-शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव।[१७] ऐसे मकान को शरीर तथा स्वास्थ्य के लिए शुभ कहा गया है। दरवाजे और खिड़कियाँ बड़े एवं अनेक हों। इनका लिंटर समान रेखा पर हो -

अक्षुमोपशं विततं सहस्त्राक्षं विषूवति[१८]

मन्त्र में प्रयुक्त ओपश शब्द सजावट का वाचक है एवं विषूवति शब्द समरेखा के लिए प्रस्तुत हुआ है।

हविर्धानमग्नि शालं पीनां सदनंसदः। सदो देवानमसि देवि शाले।[१९]

मन्त्र में हविर्धान राशन का कमरा अग्निशाला यज्ञशाला और रसोई, पत्नी सदन पत्नी कक्ष, सदस ड्राइंग रूम, देवसदन अतिथि कक्ष जैसे महत्त्वपूर्ण कमरों का उल्लेख किया गया है।

वज्रलेप बनाने की विधि का भी उल्लेख संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होता है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में वज्रलेप बनाने की चार विधियाँ बताई है औ कहा है कि ये प्लास्टर एक करोड़ वर्ष तक भी नहीं छूटता।[२०]

१. (क) वज्रलेप-धातु निर्मित प्लास्टर में आठ भाग सीसा, दो भाग काँसा, एक भाग पीतल इन सबको एक जगह गलावें। इससे वज्र संघात नामक लेप तैयार हो जाता है।

अष्टौ सीसकभागाः कांसस्य द्वौ तु रीतिका भागः।
मयकथितो योगोऽयं विज्ञेयो वज्रसंघातः॥[२१]

२. (ख) वज्रलेप-तेन्दु के कच्चे फल, कैथे के कच्चे फल, सेमर के फूल, शल्ल की वृक्ष के बीच, धन्वन् वृक्ष की छाल, इन सबको एक द्रोण १० सेर जल में डालकर काढ़ा बनावें। जब यह अष्टमांश रह जाए तब उसको उतार लें। बाद में उसमें श्रीवासक चीड़ वृक्ष का गोंद, गूगल, कुन्दुरु देवदान वृक्ष का गोंद अलसी, बेल की गिरि, इन सबको पीस कर डालें। गर्म किया हुआ यह वज्रलेप एक करोड़ वर्ष तक भी नहीं छूटता -

आमं तिन्दुकामामं कपित्थं पुष्पमपि शाल्मल्याः।
अतसी बिल्वैश्च युतः कल्कोऽयं वज्रलेपाख्यः॥
प्रासादहर्म्यवलभीलिंग प्रतिमासु कुड्यकूपेषु।
संतप्तो दातव्यो वर्षसहस्त्रायुत स्थायी॥[२२]

३. (ग) वज्रलेप का दूसरा प्रकार-पहले बनाए हुए वज्रलेप में इन वस्तुओं को और डालने से दूसरे प्रकार का वज्रलेप तैयार हो जाएगा-लाख, कुन्दुरु गूगल, घर के धुँए का जाला, कैथ का फल, बेल की गिरि,

---

१६. वही ९.३.१०
१७. वही ९.३.६
१८. वही ९.३.८
१९. अथर्व० ९/३/७
२०. बृहत्संहिता वज्रलेप श्लोक - ८
२१. बृहत्संहिता वज्रलेप श्लोक - ८
२२. बृहत्संहिता वज्रलेप १-४

नाग बला का फल, महुए का फल, मंजीठ, राल, बोल, आँवला इन सबको पीसकर डालें -

लाक्षा-कुन्दुरुगुग्गुलू-गृहधूम कपित्थबिल्वमध्यानि।
वज्राख्या: प्रथमगुणैरयमपि तेष्वेव कार्येषु।।[२३]

४. (घ) वज्रलेप का तीसरा प्रकार-पहले बनाए हुए वज्रलेप में इन वस्तुओं को और डालने से तीसरे प्रकार का वज्रतल नामक लेप तैयार हो जाएगा-गाय, भैंस और बकरे के सींग, गधे के बाल, भैंस का चमड़ा, गोबर, नीम का फल, कैथ का फल इन सबको पीसकर मिलाए।[२४]

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में 'वास्तुविधाध्याय' १२५ श्लोक में राजा, मन्त्री, सेनापति, ज्योतिषी, वैद्य, पुरोहित, ब्राह्मण, क्षत्राय, वैश्य और शूद्रादि के मकानों का विवरण दिया है। इसमें प्रत्येक मकान की लम्बाई, चौड़ाई का नाप भी दिया है। राजा के भवन की लम्बाई २२४ फीट और चोड़ाई १६२ फीट दी है। मन्त्री आदि के भवनों की नाप कम होती गई।[२५] इसी प्रकार ब्राह्मण के भवन की लंबाई ५४ फीट तथा चौड़ाई ४८ फीट दी है। क्षत्रियादि के भवन की नाप कम होती गयी। शूद्र के भवन की लंबाई ४८ फीट और चौड़ाई ३० फीट दी है।

भवन की ऊंचाई के विषय में उल्लेख है कि चार मंजिले मकान तक की ऊंचाई १५० फीट से अधिक नहीं होनी चाहिए।[२६]

कौन सा कमरा किस दिशा में रखा जाए इसका भी निर्देश है। ईशान कोण में पूजागृह, आग्नेय कोण में रसोई, नैऋत्य कोण में राशन सामग्री, वायव्य कोण में अन्न का स्टोर होना चाहिए।[२७] समरांगण सूत्रधार अध्याय १०.५२ के अनुसार जल-निकासी के लिए नगर में नालियों की व्यवस्था होनी चाहिए। ये नालियां ३ फीट या डेढ़ फीट चौड़ी हों। इनको सदा ढककर रखा जाए।

समरांगण सूत्रधार अध्याय १०.५२ के अनुसार जल निकासी के लिए नगर में नालियों की व्यवस्था होनी चाहिए। ये नालियाँ ३ फीट या डेढ़ फीट चौड़ी हो। इनको सदा ढककर रखा जाए।

राजमार्ग की चौड़ाई नगर के अनुसार २४, २० या १६ हस्त अर्थात् ३६, ३० या २४ फीट होनी चाहिए। नगर में कम से कम २ महारथ्याएं जितनी बड़ी सड़क होनी चाहिए। इनकी चौड़ाई नगर के अनुसार १८, १५, १२ फीट होनी चाहिए। प्रत्येक यानमार्ग के दोनों ओर जंघापथ फुटपाथ अवश्य होने चाहिए। इनकी चौड़ाई ५ फीट हो।

समरांगण सूत्रधार ग्रन्थ मे व्यवसाय के अनुसार ४१ प्रकार के भवनों के निर्माण की विधि बताई गई है-राजा सेनापति से लेकर नाई, दर्ज़ी, माली आदि के विभिन्न डिजाइन के मकानों का वर्णन है।

प्रासाद लक्षणाध्याय[२८] में २० प्रकार के प्रासादों देव मन्दिरों के निर्माण की विधि दी है। इन सबके डिजाइन पृथक्-पृथक् हैं।

वस्तुत: भारतीय शैली के भवनों में ये सभी स्थान निर्मित करने की परम्परा का प्रारंभ वैदिक युग से

---

२३. वही श्लोक ५-६
२४. वही श्लोक ७
२५. श्लोक ४-९
२६. बृहत्संहिता श्लोक - १६
२७. वही श्लोक - ११८
२८. वही श्लोक - ३१

ही माना जाता है। जिसका विकास आगे चलकर वेद और वास्तु के अन्य ग्रन्थों के रूप में परिलक्षित होता है।

यज्ञशाला का निर्माण भारतीय वैदिक स्थापत्य शास्त्र के प्रायोगिक निदर्शन हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में वर्णित याज्ञीय-वास्तु का शास्त्रीय पक्ष उठकर उसे सुस्पष्ट, सुनियोजित एवं क्रमवद्ध रूप से प्रस्तुत करने का श्रेय शुल्ब सूत्रों को प्राप्त है। यज्ञस्थल में निर्माणगत मापन कार्य में प्रयुक्त रज्जु या सूत्र की संज्ञा शुल्ब है। भूमि-मापन, भूमि पर यज्ञ वेदी की आकृति का प्रमाण पूर्वक निर्माण, आकृति के प्रत्येक भाग का माप ज्ञात करना, चिति की आकृति एवं माप के अनुरुप ईंटों की आकृति, ईंटों की संख्या निर्धारित करना-ये सभी कार्य शुल्ब के माध्यम से किए जाते थे।

यज्ञभूमि-यज्ञशाला के निर्माण से पूर्व भूमि पर हल चलाकर शल्यादि निकालकर भूशोधन किया जाता है। भूमि को सममतल बना कर शंकु द्वारा दिशा का निर्धारण किया जाता है।

यज्ञवेदि-यजमान वेदि[२९] शिखंडिनी वेदि[३०] सौत्रामणि वेदि[३१] मरुत्वेदि[३२] आदि वेदियों की भी निर्माण विधि का विस्तार से शुल्ब सूत्रों[३३] में वर्णन किया गया है।

चिति की आकृति-श्येन, कंक और अलजचिति नामक अग्निचिति इन नाम वाले पक्षियों के आकार की बनाई जाती थी। इसके अतिरिक्त द्रोण चिति रथ तथा कूर्म के आकार की भी बनाई जाती थी। श्येनचिति उड़ते हुए पक्षी की छाया जैसी बनाई जाती थी।[३४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तु-विज्ञान का प्राच्य सिद्धान्त अत्यन्त ही समृद्ध था। उस समय भी बड़े-बड़े भवनों का उल्लेख तो मिलता, किन्तु भूकम्पादि से उनके गिरने का उदाहरण नहीं प्राप्त होता जो कि वर्तमान युग की एक ज्वलन्त समस्या है।

---

२९. मानव शुल्ब सूत्र - १५-१, २१/८
३०. वही १०/१/३/८
३१. बौधायन शुल्ब सूत्र - १-८५-८६
३२. वही १०, १०२.५
३३. आश्वालायन शुल्ब सूत्र - १३/६-९
३४. आपस्तम्ब शुल्ब सूत्र - १५-१, २१-८

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१३२-१३८) ISSN 0974 – 8830

पातंजल उपसंख्यानों की प्रकारमीमांसा

(प्रत्ययविधि के विशेष परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. कर्मवीर आर्य[1]

संस्कृत व्याकरण में पाणिनीय व्याकरण सर्वातिशायी एवं प्रतिष्ठिततम व्याकरण माना जाता है। यह व्याकरण पाणिनि द्वारा सूत्रों में निबद्ध है। कालान्तर में इन सूत्रों की पूर्णता के लिये दो आचार्यों कात्यायन एवं पतञ्जलि की समीक्षापूर्ण लेखनी चली। इस प्रकार तीन आचार्यों द्वारा इस व्याकरण को पूर्णाकार दिये जाने के कारण परवर्ती चिन्तकों द्वारा इसे त्रिमुनि-व्याकरण कहा गया। कात्यायन ने पाणिनि द्वारा अननुशासित कुछ अभीप्सित शब्दों की सिद्धि के लिये पाणिनि के सूत्रों पर कुछ वार्तिकों की रचना की, जिन्हें उपसंख्यान भी कहा जाता है। तत्पश्चात् पतञ्जलि ने महाभाष्य में पाणिनीय सूत्रों एवं कात्यायनकृत वार्तिकों की समीक्षा की। महाभाष्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि जहाँ पतञ्जलि ने कात्यायनकृत कुछ वार्तिकों को उपादेय माना, वहीं कुछ को अनुपादेय। जिन वार्तिकों को उन्होंने उपयोगी पाया उन्हें भाष्य में सिद्धान्त पक्ष के रूप मे दर्शाया है। चूँकि पतञ्जलि पाणिनीय व्याकरण—त्रिमुनि व्याकरण के सर्वान्तिम आचार्य हैं। अत: व्याकरण शास्त्र में उन्हें सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। अत एव लोक में त्रिमुनियों में यथोत्तर प्रामाण्य प्रथित हुआ। प्रत्ययविधि के परिप्रेक्ष्य में जिन उपसंख्यानों को पतञ्जलि ने उपादेय माना एवं मान्यता प्रदान की उन पातंजल उपसंख्यानों के प्रकारों को जानना, उनकी मीमांसा एवं समीक्षा करना इस शोधलेख का प्रमुख ध्येय है।

प्रत्ययविधिप्रकरणस्थ भाष्य का आलोडन करते हुए यह देखने में आया कि सूत्र के लक्षणात्मक स्वरूप की समीक्षा के संदर्भ में पठित उपसंख्यानों के अतिरिक्त कात्यायन और पतञ्जलि ने पाणिनि सूत्रों पर जो उपसंख्यान किये हैं उनकी मुख्यत: निम्न दिशायें हैं-

१. छन्दविषयक कुछ शब्दों के अनुशासन के लिये किये गये उपसंख्यान।
२. ऐसे शब्दों के लिये किये गये उपसंख्यान जो संभवत: पाणिनि की दृष्टि से फिसल गये थे।
३. ऐसे शब्द जो पाणिनि की दृष्टि में रूढ़ थे अथवा जिनका व्युत्पादन दु:साध्य और क्लिष्ट ज्ञेय था, के लिये किये गये उपसंख्यान।
४. ऐसे उपसंख्यान जिनके द्वारा ऐसे अर्थों का नियमन किया गया जो या तो पाणिनि द्वारा छूट गये थे अथवा शब्दानुशासनैकनिष्ठ पाणिनि द्वारा सकारण छोड़ दिये गये थे।

प्रथम कोटि के उपसंख्यान

यथाक्रम चलते हुए सबसे पहिले प्रथम कोटि के ऐसे उपसंख्यानों पर विचार किया जाये जो छन्द—वेद विषयक हैं। यद्यपि व्याकरण का ध्येय लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों की साधुत्वसिद्धि करना है[2] तथापि, पाणिनीय व्याकरण में मुख्य रूप से लौकिक शब्दों के अनुशासन के लिये ही उपक्रम किया

---

१ सहायक प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद उ. प्र.

२ अथ शब्दानुशासनम्। केषां शब्दानाम्? लौकिकानां, वैदिकानां च। महा. पस्पशा। क

गया है। साथ ही जितना संभव हुआ वैदिक शब्दों का भी स्पर्श किया गया। पाणिनि ने कुछ छन्दविषयक शब्दों के साधुत्व के लिये सूत्रों का निर्माण किया किन्तु प्रायः **'बहुलं छन्दसि'** कहकर प्रकारान्तर से वे वैदिक शब्दों को अननुशास्य बताकर हाथ खड़े करते दिखाई दिये। महाभाष्य में पतञ्जलि ने अपेक्षाकृत अधिक गहनता में जाकर छन्दविषयक कुछ अन्य शब्दों का भी अनुशासन (लक्षण द्वारा) किया अर्थात् कुछ वैदिक शब्दों को अनुशासित शब्दों की परिधि में लाये। **'ण्यप्रकरणे वाङ्गतिपितृमतां छन्दस्युपसंख्यानम्'**,[३] **'अयवसमरुद्भ्यां छन्दसि'**[४], **'मित्राच्छन्दसि'**[५] आदि दशाधिक उपसंख्यानों को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिये।

द्वितीय कोटि के उपसंख्यान-

द्वितीय प्रकार के उपसंख्यान वे हैं जिनके द्वारा ऐसे प्रसिद्ध, प्रचलित शब्दों की सिद्धि की गयी है जिन्हें देखने में संभवतः पाणिनि चूक गये। जैसे-बाह्यः,[६] बाहीकः,[७] अश्वत्थामः[८], उडुलोमाः[९], चञ्चत्कः,[१०] (अचञ्चन्नपि यश्चञ्चन्निव लक्ष्यते) राजवर्चसम्,[११] नव्यः[१२], सूर्यः, मर्त्यः आदि।

तृतीय प्रकार के उपसंख्यान-

इस कोटि में भाष्यस्थ उन उपसंख्यानों को माना जा सकता है जिनके द्वारा ऐसे शब्दों की सिद्धि की गयी है जो पाणिनि की दृष्टि में अननुशास्य थे। प्रत्ययविधि के परिप्रेक्ष्य में पाणिनि की एक प्रवृत्ति प्रायः दृष्टिगत होती है वह यह कि किसी भी शब्द की सिद्धि के लिये वे जिस प्रत्यय का कथन करते हैं वह प्रकृति अर्थात् प्रातिपदिक अथवा धातु से छोटा होता है। शब्द का प्रातिपदिक/धातु भाग स्पष्ट और बृहत् होता है तथा प्रत्यय बहुत छोटा। जैसे-औपगवः, देवदत्तकः, दाक्षिः। यहाँ क्रमशः उपगु, देवदत्त और दक्ष शब्द से अण्, कन्, इञ् प्रत्यय किया गया है। ये अणादि प्रत्यय अपनी प्रकृतियों से सापेक्ष रूप से बहुत छोटे हैं। ऐसा नहीं है कि पाणिनि ने इस नियम को कभी नहीं तोड़ा किन्तु अपेक्षाकृत बृहत् प्रत्यय—तव्यत्, ईयसुन् आदि, का कथन उन्होंने केवल तभी किया जब ऐसा करने से तद्वत् असंख्य शब्दों की सिद्धि हो रही हो और वे शब्द असंदिग्ध रूप से प्रचलित और शिष्ट हों। ण्वुल् जैसे प्रत्ययों की बृहत्ता इत्करणसंज्ञक प्रयोजनों से है, अन्यथा प्रकृति में संयुक्त होने वाला अंश तो छोटा ही है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पाणिनि ने शब्दों की साधुत्वसिद्धि करते समय प्रत्ययों के छोटे होने पर विशेष ध्यान दिया। भले ही कुछ शब्द अननुशास्य ही बने रहे। जबकि कात्यायन और पतञ्जलि ने केवल साधुत्वसिद्धि पर जोर दिया भले ही, प्रत्यय कितना भी बड़ा हो। बहुत स्थलों पर तो उन्होंने पूरे के पूरे शब्द को

---

३ महा.- ४.१.८५ पर वार्तिक
४ महा.- ५.४.३६ पर वार्तिक
५ वही
६ बहिषष्टिलोपश्च यञ् च वक्तव्यः। महा- ४.१.८५
७ ईकक् च। महा. ४.१.८५
८ स्थाम्नोऽकारः। महा. ४.१.८५
९ लोम्नोऽपत्येषु बहुषु। महा ४.१.८५
१० कन्प्रकरणे चञ्चदबृहतोरुपसंख्यानम्। महा. ५.४.३
११ पल्यराजभ्यां चेति वक्तव्यम्। महा. ५.४.७८
१२ नवसूरमर्तयविषेभ्यो यत्। महा. ५.४.३६

ही प्रत्यय का रूप दे दिया। जैसे-सर्षपतैलम्, इक्षुशाकिनम्। यहाँ क्रमशः तैल[१३] और शाकिन[१४] शब्दों को प्रत्यय के रूप में पढ़ा। वस्तुतः तैल शब्द स्नेह के अर्थ में जब रूढ़ हो गया तो 'इङ्गुदीतैलम्' जैसे शब्दों की सिद्धि के लिये उपक्रम किया जाना आवश्यक हो गया। पाणिनि द्वारा ऐसे शब्दों की सिद्धि के लिये कोई उपक्रम न किये जाने के पीछे दो कारण हो सकते हैं-

१. तैल शब्द पाणिनि के समय के बाद स्नेह अर्थ में रूढ़ हो गया हो अथवा,

२. रूढ़ होने के कारण पाणिनि इसे अननुशास्य मानते हों।

अब इसी तरह के कुछ अन्य शब्द द्रष्टव्य हैं जो पाणिनि द्वारा अननुशासित थे और पतञ्जलि ने उन्हें यौगिकता प्रदान की। जैसे-तूष्णीकाम्[१५], तूष्णीकः[१६], देवकः[१७], भानुलः[१८], नूत्नम्, नूतनम्, नवीनम्[१९], प्रणम्[२०], चिल्लः, पिल्लः, चुल्लः[२१], हिमेलुः[२२], बलूलः[२३] आदि।

चतुर्थ प्रकार के उपसंख्यान-

कुछ उपसंख्यानों के द्वारा भाष्यकार ने अर्थ का नियमन किया है। अर्थ-नियमन से संबन्धित उपसंख्यानों में भी कुछ उपसंख्यान तो ऐसे हैं जिनके द्वारा पाणिनि सूत्र में ही अर्थ का विधान किया गया है। जैसे-'**बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्**'[२४] सूत्र में पाणिनि ने '**बहुशो ददाति**' आदि शब्दों की सिद्धि के लिये 'शस्' प्रत्यय का विधान किया है। इस सूत्र में पाणिनि ने अर्थ का कथन नहीं किया। पाणिनि ने केवल 'बहुशः' शब्द की सिद्धि के लिये ही उपक्रम किया। जबकि भाष्यकार ने एक उपसंख्यान के द्वारा यहाँ अर्थ का भी नियमन किया है। वे कहते हैं कि सूत्रस्थ बहु और अल्प शब्दों से उक्त 'शस्' प्रत्यय क्रमशः 'मंगल' और 'अमंगल' अर्थ में ही हो।[२५] जब मंगलकारी कार्य हो तो 'बहुशो ददाति' और जब अमंगलकारी कार्य हो तो 'अल्पशः' ददाति रूप बने। यदि अर्थ का वचन नहीं किया गया तो अनिष्ट—अमंगल श्राद्धादि दान के विषय में 'बहूनि श्राद्धादि दानानि देहि' के स्थान पर 'बहुशः देहि' यह अनिष्ट प्रयोग बनेगा। जबकि 'बहुशः' प्रयोग मंगलकारी कार्यों में दान देने में ही इष्ट है।

यह अर्थ नियमन पाणिनि के सूत्र के विषय में किया गया है। अब कुछ ऐसे उदाहरण देखें जिसमें अर्थानुशासन तो किया गया, किन्तु पाणिनि के सूत्र के संदर्भ में नहीं। यहाँ स्वतन्त्र रूप से शब्दविशेष से, अर्थ

---

१३ तैलशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः। महा. ५.२.२९
१४ शाकिनशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्यः। महा. ५.२.२९
१५ अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम्। महा. ५.३.७२
१६ शीले को मलोपश्च। '' ''
१७ अनजादौ च। '' ''
१८ उवर्णाल्ल इलस्य च। महा. ५.३.८३
१९ नवस्य नू त्नप्तनखाश्च। महा. ५.४.३०
२० नश्च० '' ''
२१ क्लिन्नस्य चिल्लपिल्लश्चास्य चक्षुषी। महा. ५.२.३३
२२ हिमाच्चेलुः। महा. ५.२.१२२
२३ बलाच्चोलः। वही
२४ अ ५.४.४२
२५ बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गलवचनम्। महा. ५.४.४२

विशेष में प्रत्ययविधि की गयी है। जैसे-

१. मा आदि शब्दों से 'तत् आह—वह कहा' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।[26] माशब्दमाह—माशब्दिकः। नैत्यशब्दिकः। पाणिनि द्वारा सम्पूर्ण तद्धित प्रकरण में 'तत् आह' यह अ॰ कथित नहीं है।

२. प्रभूत आदि शब्दों से 'आह' अर्थ में ठक् का वचन करना चाहिये।[27] प्रभूतमाह—प्राभूतिकः।

३. सुस्नात आदि शब्दों से 'पृच्छति'—पूछता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है।[28] सुस्ना॰ पृच्छति—सौस्नातिकः (स्नान ठीक से हो गया, ऐसा पूछने वाला) सौखरात्रिकः (आप सुखपूर्व॰ सोये ऐसा पूछने वाला)

४. परदारा आदि शब्दों से 'गच्छति'—मैथुन करता है, इस अर्थ में ठक् होता है।[29] परदारा॰ गच्छति—पारदारिकः (परस्त्रियों के साथ गमन करने वाला) गुरुतल्पं गच्छति—गौरुतल्पिकः।

इस प्रकार भाष्यकार ने कुछ ऐसे अर्थों में प्रत्ययविधान किया जो अर्थ पाणिनि द्वारा अनुक्त थे। ऐस॰ नहीं मानना चाहिये कि भाष्यकार ने सभी अर्थों का अनुशासन कर दिया और अब अन्य अर्थों का अनुशास॰ नहीं किया जा सकता। वस्तुतः अर्थसम्बन्धी लोचकता के दायरे में रहकर ही भाष्यकार ने कुछ अनुक्त अ॰ का कथन किया और भविष्य के लिये भी अर्थानुशासन की संभावनायें बनी हुई हैं। किन्तु सभी अर्थानुशासन ॰ इस तथ्य के आलोक में ही देखा जाना चाहिये कि 'अर्थों का सर्वथा लाक्षणिक अनुशासन नहीं किया ॰ सकता'।

उपर्युक्त चार प्रकारों के अतिरिक्त भी उपसंख्यानों की एक अन्य दिशा भी दिखलाई देती है। ॰ कालभेद और देशभेद के रूप में है। भाषा एक प्रवाह है और संस्कृत भी इसका अपवाद नहीं। पतञ्जलि आ॰ प्राचीन आचार्य लक्ष्यैकचक्षुष्क (लक्ष्य—शब्द ही एक चक्षु है जिसका) थे। पाणिनि और पतञ्जलि में परस्॰ देश (स्थान) भेद भी था और कालभेद भी। जहाँ पाणिनि सिंध प्रान्त के थे वहीं पतञ्जलि गोनर्द के। यद्य॰ गोनर्द स्थान के बारे में संदेह है तथापि इतना निश्चित है कि गोनर्द चाहे पूर्वी उत्तर प्रदेश का वर्तमान गोण्डा ह॰ दक्षिणी भारत का कोई स्थानविशेष अथवा उज्जैन से विदिशा के सीधे मार्ग पर पड़ने वाला वर्तमान गोंदरम॰ गांव हो। तीनों ही स्थान लाहौर से बहुत दूर हैं। पाणिनि और पतञ्जलि के बीच लगभग ३०० वर्ष का अन्तरा॰ है। यदि भाषा एक प्रवाह है तो क्या यह मानना भूल होगी कि कुछ शब्द पाणिनि और पतञ्जलि के बीच ॰ ३०० वर्षों में अस्तित्व में आये और उनकी सिद्धि के लिये पतञ्जलि को महाभाष्य में उपसंख्यान करना पड़ा॰ इसी प्रकार क्या यह संभव नहीं कि कुछ शब्द गोनर्द में बोले जाते हों और पाणिनि के देश—वासस्थान ॰ नहीं। कुछ संज्ञायें पतञ्जलि के देश—स्थान में प्रचलित हों पाणिनि के देश में नहीं। इन्हीं बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य ॰ जब तद्धित प्रकरण की पड़ताल की गयी तो कुछ ऐसे शब्द पहिचान में आये जिन पर देश-काल की छाया है॰

---

२६ ठक्प्रकरणे तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्। महा. ४.४.१

२७ आहौ प्रभूतादिभ्यः। महा. ४.४.१

२८ पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः। महा. ४.४.१

२९ गच्छतौ परदारादिभ्यः। महा. ४.४.१

ञ्चम प्रकार के उपसंख्यान

अब पंचम प्रकार के उपसंख्यानों को देखें जिनके द्वारा ऐसे शब्दों की सिद्धि की गयी है जो देशभेद थवा कालभेद से अस्तित्व में आये प्रतीत होते हैं। इस प्रकार के शब्दों की पड़ताल महाभाष्यकार के इस थन के आलोक में की गयी है कि **सर्वे ....देशान्तरेषु लभ्यन्ते** अर्थात् कुछ शब्द देश भेद से बोले जाते । किसी देश—स्थान में 'दात्र' बोला जाता है और कहीं 'दातिः'। तो जो आचार्य 'दातिः' बोलने वाले स्थान वासी होंगे वे 'दातिः' शब्द के व्युत्पादन के लिये उपक्रम करेंगे 'दात्र' के लिये नहीं। निश्चित रूप से कुछ से शब्द अवश्य रहे होंगे जो पाणिनि के देश में न बोले जाते हों, किन्तु पतञ्जलि के देश में बोले जाते हों। लतः पतञ्जलि ने महाभाष्य में उन शब्दों के साधुत्व के लिये उपसंख्यान रूपी यत्न किया हो। ऐसे कुछ शब्द ष्टव्य हैं-

१. भाष्यकार नीली शब्द से 'रक्तम्'—रंगा हुआ, इस अर्थ में अन् प्रत्यय का विधान करते हैं[३०] जससे नील्या रक्तम्—नीलम्, यह रूप सिद्ध हो सके। 'नीलम्' शब्द का तात्पर्य है-नीली से रंगा हुआ। नीली क औषधिविशेष है जिसका प्रयोग रंगने में भी किया जाता था। यह संभव है कि पाणिनि के देश में नीली मक औषधि न होती हो। अथवा नीली औषधि से रंगने का प्रचलन न हो।

२. भाष्यकार तृतीयान्त हरिद्रा और महारजना शब्द से 'रक्त'—रंगा हुआ, अर्थ में अञ् प्रत्यय का पसंख्यान करते हैं।[३१] जबकि '**तेन रक्तं रागात्**[३२]' सूत्र से यहाँ अण् सिद्ध ही है। (यद्यपि पाणिनि ने उक्त नों शब्दों से प्रतिपद अण् का विधान नहीं किया है) चाहे अण् हो या अञ् रूप समान ही रहता है। केवल वर का भेद होता है। उपर्युक्त के संदर्भ में यह माना जा सकता है कि पाणिनि के पश्चात् के वर्षों में हारिद्रम् ादि शब्दों में संभवतः स्वरविपर्यय हो गया हो।

३. अष्टाध्यायी में एक सूत्र है-छ च[३३]। जिसमें पूर्व सूत्र से 'अपोनप्तृ', 'अपांनप्तृ' शब्दों एवं 'देवता' र्थ की अनुवृत्ति आ रही है। फलतः सूत्र का अर्थ होता है-अपोनप्तृ, अपांनप्तृ शब्दों से '**साऽस्य देवता**' अर्थ में प्रत्यय होता है। जैसे-अपोनप्त्रियं हविः (ऐसी हवि—आहुति जिसका देवता अपोनपात् हो)। महाभाष्यकार इस सूत्र पर एक उपसंख्यान किया है-'पैङ्गाक्षीपुत्र' आदि देवतावाची शब्दों से छ प्रत्यय का विधान करना ाहिये।[३४]' देवता श्रद्धा के विषय हैं। ये देशभेद अथवा व्यक्तिभेद से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इस उपसंख्यान यह अनुमान लगाया जा सकता है कि या तो पाणिनि पैङ्गाक्षीपुत्र' आदि को देवता नहीं मानते होंगे अथवा स देश में लोग पैङ्गाक्षीपुत्र' के देवतारूप से परिचित नहीं रहे होंगे। शतरुद्र, अपोनपात्, अपांनपात् आदि की रह पैङ्गाक्षीपुत्र' उतने ख्यात देवता नहीं हैं। हर ग्राम, नगर के कुछ स्थानीय देवता होते हैं। आवश्यक नहीं कि ाणिनि उन सभी से परिचित ही रहे हों। अपोनपात्, अपांनपात्, शतरुद्र इन तीन का देवतात्व क्रमशः ापस्तम्ब गृह्यसूत्र, काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता के उद्धरणों से प्रमाणित होता है।[३५] पैङ्गाक्षीपुत्र' का स्रोत

---

३० नील्या अन्। महा. ४.२.१
३१ हरिद्रामहारजनादञ्। "
३२ अ. ४.२.१
३३ अ. ४.२.२८
३४ छप्रकरणे पैङ्गाक्षिपुत्रादिभ्य उपसंख्यानम्। महा. ४.२.२८
३५ आपस्तम्ब श्रौतसूत्र- २२.२२.२, काठक संहिता- १२.६, तैत्तिरीय संहिता- ५.४.३.१

अन्वेषणीय है।

४. **'अज्नासिकाया संज्ञायां नसं चास्थूलात्'**[३६]-यह सूत्र संज्ञा अर्थ में नासिकाशब्दान्त बहुव्रीहि शब से समासान्त अच् प्रत्यय करता है। संज्ञायें देशापेक्ष--नितान्त स्थानीय होती हैं, व्यापक नहीं। एक ही अर्थ वे लिये स्थान स्थान पर भिन्न-भिन्न संज्ञायें होती हैं। इस सूत्र के उदाहरण **'दुणसः'**, **'वध्रीणसः'** का अर्थ है 'वृक्ष की तरह ऊंची नाक वाला', 'वध्री—चर्म के बने पात्र विशेष की तरह नाक वाला'। ये शब्द पाणिनि वे समय नाक की आकृति के आधार पर संबोधन अथवा चिढ़ाने के लिये प्रयोग किये जाते थे। ये सभ संज्ञावाचक शब्द थे। भाष्यकार ने इसी सूत्र पर एक उपसंख्यान किया है कि खर और खुर शब्दों से उत्त नासिका शब्द को 'नस्' आदेश कहना चाहिये[३७] जिससे प्रथमान्त एकवचन में 'खरणाः', 'खुरणाः' रूप सि हो सकें। यदि पतञ्जलि यह उपसंख्यान नहीं करते तो खरणसः, खुरणसः रूप बनता। संभव है कि पाणिनि वे समय में खरणसः, खुरणसः रूप ही बोले जाते हों और पतञ्जलि के समय के आते आते खरणाः, खुरणाः वे रूप में परिवर्तित हो गये हों। अथवा यह भी संभव है कि पाणिनि के देश में खर की तरह नाक वाले क खरणसः ही कहा जाता हो। निस्संदेह इस उपसंख्यान पर देश/काल की छाया अवश्य है।

५. पाणिनि ने 'खल' शब्द से 'इनि' प्रत्यय का विधान किया है।[३८] जिससे खलिनी शब्द की सिद्धि ह सके। भाष्यकार चाहते हैं कि खलिनी के साथ साथ डाकिनी, डूकिनी, कुन्दुमिनी आदि शब्दों की सिद्धि के लि सूत्र में खल के स्थान पर 'खलादि' का कथन करना चाहिये।[३९] प्रतीत होता है कि डाकिनी आदि शब्द पाणि के पश्चात् अस्तित्व में आये अथवा पाणिनि ने इन्हें अपभ्रंश मानते हुए इनका अनुशासन न किया हो, जबकि पतञ्जलि ने इन्हें यौगिकता प्रदान की।

६. पाणिनि ने 'विवध' शब्द से 'हरति' अर्थ में विकल्प से 'ष्ठन्' प्रत्यय का विधान किया है।[४०] पतञ्जलि कहते हैं कि 'विवध' के साथ 'वीवध' शब्द का भी पाठ करना चाहिये[४१] जिससे 'विवधिकः' के सा साथ 'वीवधिकः' शब्द की भी सिद्धि हो सके। ध्यातव्य है कि 'विवध' और 'वीवध' दोनों शब्द समानार्थव हैं। ये पथ और पर्याहार अर्थ के वाचक हैं।[४२] पर्याहार वहनकार्य में प्रयोग होने वाले काष्ठ विशेष को कहते है समानार्थक 'विवध' और 'वीवध' शब्दों में इकार का भेद है। संभव है कि पाणिनि के देश में इस काष्ठ क 'विवध' कहते हों और पतञ्जलि के देश में 'वीवध'। चूंकि शब्द शास्त्र में पाणिनि परम प्रमाण हैं अतः पतञ्जलि द्वारा 'विवध' शब्द को असाधु कहना तो संभव ही नहीं था। भले ही उनके देश में 'विवध' का प्रयोग नहीं भ होता रहा हो। पाणिनि के वचन सामर्थ्य से 'विवध' शब्द का साधुत्व तो अशंक्य है। अतः भाष्यकार 'वीवध' शब्द के साधुत्व के लिये ही उपक्रम किया।

७. कंसाट्टिठन्[४३] सूत्र पर भाष्यकार कहते हैं कि 'अर्ध' शब्द से भी टिठन् प्रत्यय का विधान करन

---

३६ अ. ५.४.११८
३७ खरखुराभ्यां च नस् वक्तव्यः। महा. ५.४.११८
३८ इनित्रकट्यचिश्च। अ. ४.२.५१
३९ खलादिभ्य इनिः।
४० विभाषा विवधात्। अ. ४.४.१७
४१ वीवधाच्चेति वक्तव्यम्। महा. ४.४.१७
४२ विवधवीवधशब्दौ समानार्थौ पथि पर्याहारे च वर्तेते। काशिका
४३ अ. ५.१.२५

ाहिये।[४४] जिससे 'अर्धक:'—आधे कार्षापण से खरीदा गया, रूप सिद्ध हो सके। यहाँ अर्ध शब्द 'आधा ार्षापण' अर्थ में रूढ़ है। आवश्यक नहीं कि अर्ध शब्द पाणिनि के देश, समय में भी 'आधा कार्षापण' अर्थ रूढ़ रहा हो।

८. पाणिनि अध्यर्धपूर्व 'खारी' शब्द से आर्हीय अर्थों में 'ईकन्' प्रत्यय का विधान करते हैं।[४५] ाष्यकार इस विधि पर कहते हैं कि 'खारी के साथ 'काकिणी' शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिये।[४६] ाकिणी शब्द एक प्राचीन मुद्रा और मापविशेष का वाचक है।[४७] यही शब्द संभवत: बाद में 'कौड़ी' के रूप में रिवर्तित हो गया। पाणिनि के समय में हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक का भूभाग जनपदों में विभक्त था था सर्वत्र भिन्न-भिन्न मुद्राएँ थीं। वस्तुविशेष को नापने के लिये भी अलग-अलग चीजों का प्रयोग होता था। ास देश में जिन पात्रों (वध्री, खारी आदि) का प्रचलन होता था वे ही पात्र नाप के रूप में व्यवहृत होते थे। ंभव है कि पाणिनि के देश में काकिणी मुद्रा का प्रचलन न रहा हो अथवा यह मुद्रा उत्तरकाल में अस्तित्व में ायी हो। खारी शब्द के समानार्थक[४८] 'खार' शब्द के साधुत्व के लिये भी कात्यायन ने उपक्रम किया।[४९] जिस र प्रदीपकार कहते हैं कि '**खारशब्दोऽकारान्तो वार्तिककारवचनात्साधु:**। संभवत:, जिसे पाणिनि खारी कह रहे , वही शब्द वर्णभेद से खार के रूप में व्यवहृत हो गया होगा।

९. अष्टाध्यायी में एक सूत्र है-**तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्**।[५०] जिसका अर्थ है प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक ा संज्ञा अर्थ में कन् प्रत्यय होता है यदि वह प्रथमासमर्थ 'प्राय: करके' संज्ञा विषय में अन्नविषयक हो। जैसे- गुडापूपिका' पूर्णिमा (जिस पूर्णिमा में गुडप्राय—प्रधान अपूप का भक्षण किया जाता हो। भाष्यकार ने इस सूत्र र एक उपसंख्यान किया है कि '**प्राये संज्ञायाम्**' अर्थ में 'वटक' शब्द से 'इनि' प्रत्यय का विधान करना ाहिये।[५१] जिससे 'वटकिनी' पौर्णमासी शब्द की सिद्धि हो सके। 'वटकिनी' पूर्णिमा एक पर्वविशेष प्रतीत होता जिसमें वटक—खाद्यविशेष खाया जाता रहा होगा। कुछ पर्व नितान्त स्थानीय होते हैं और उन पर्वो पर खाये ाने वाले पदार्थ पर वैयक्तिक अभिरुचि, पदार्थविशेष की उपलब्धता आदि का प्रभाव होता है। संभव है कि ाणिनि इस पर्व से परिचित न रहे हों। इस शब्द पर भी देश/काल का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि समय की धारा के साथ जब शब्द परिवर्तन, परिवर्धन की ्रक्रिया से गुजरे तो मात्रा आदि स्वरूप भेद से नये शब्दों का जन्म हुआ। फलत:, उन शब्दान्तरों के साधुत्व के ल्ये आचार्यों को उपसंख्यानरूप उपक्रम करना पड़ा। शब्दों की इस शाश्वत धारा में नये शब्दों का प्रवाह ्व्याहत गति से चलता रहेगा। पतञ्जलि आदि के द्वारा किये गये उपसंख्यानों को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना ाहिये।

---

४ टिठन्नर्धाच्च। महा. ५.१.२५
५ खार्या ईकन्। अ. ५.१.३३
६ काकिण्याश्चोपसंख्यानम्। महा. ५.१.३३
७ संस्कृत हिन्दी कोष, आप्टेकृत
८ खारी शब्दपर्याय इत्यर्थ:। उद्योत. ५.१.५७/५८
९ अन्येभ्योऽपि दृश्यते खारशताद्यर्थम्। महा. ५.१.५७/५८
० अ. ५.२.८२
१ प्राये संज्ञायां वटकेभ्य इनि:। महा. ५.२.८२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१३९-१४४) ISSN 0974 – 8830

अर्जुनविषाद और क्षात्रधर्म

डॉ० ब्रह्मदेव[1]

किसी भी युग अथवा काल में लिखित रचना का आध्यात्मिक, भक्ति, कर्म, योग, कृषि, वाणिज्य आदि में से कोई एक मुख्य उद्देश्य हो सकता है, परन्तु उस विशिष्ट विधा के साथ समाज को किसी न किसी प्रकार प्रभावित करने के कारण उसके सामाजिक निहितार्थ भी होंगे ही, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इसी आधार पर श्रीमद्भगवद्गीता को किसी भी रूप में कोई व्याख्यायित करे, परन्तु व्याख्याकर्ता व्यष्टिरूप मानव को प्रेरणा देता हुआ भी समष्टिरूप में समाज को ही प्रेरित करता है, चाहे वह करे किसी भी रूप में। वेद जैसे किसी जाति, सम्प्रदाय, देश आदि का प्रतिनिधित्व नहीं करते मानवमात्र के लिए हैं, वैसे ही गीता भी है। इसे हिन्दू, मुस्लिम, सिख, इसाई आदि कोई भी पढ़े, प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को अर्जुन के स्थान पर रख कर देखे, वह अर्जुन का प्रतिरूप ही अपने आप को पायेगा। गीताप्रेस के महाभारत संस्करण के अनुसार भीष्मपर्व के पच्चीसवें अध्याय से गीता का आरम्भ होता है। गीता का प्रथम अध्याय अर्जुन-विषाद योग के नाम से जाना जाता है, जो योगेश्वर कृष्ण के उपदेश के लिए उर्वरा भूमि का कार्य करता है, परन्तु इस से पूर्व भीष्मपर्व के इक्कीसवें अध्याय के वर्ण्य का उल्लेख भी यहाँ श्रेयस्कर होगा, जहाँ कौरवों के पाण्डवों से संख्या में चार अधिक कुल ग्यारह अक्षौहिणी[2] वाले विशाल सैन्यबल को तथा भीष्म की अभेद्य व्यूहरचना को सामने खड़ा देख युधिष्ठिर कान्तिहीन हो जाते हैं।[3] पराजय अथवा किसी अन्य भय के कारण मानसिक सन्तुलन खो देना, चिन्तातुर हो विषण्णावस्था को प्राप्त होना, चिन्ता से सम्बन्धित अनेक प्रश्न खड़े करना इत्यादि सब ऐसी अवस्था में होता है, जिसे आजकल अंगेजी में डिप्रेशन शब्द से सभी जानते हैं। गीता के अध्यायों में भगवान् श्रीकृष्ण हतप्रभ अर्जुन के आत्मबल को बढ़ाते हुए जिस संजीवनी का कार्य करते हैं वही यहाँ युधिष्ठिर के लिए अर्जुन के शब्दों ने संक्षेप में किया है। वास्तव में अर्जुन के मुख से संकेतरूप में कहे गये दो श्लोक लोक की सारी व्यवस्था को सुचारु चलाने और अन्तिम लक्ष्यप्राप्ति के लिए रामबाण का कार्य कर सकते हैं। **कोई भी व्यक्ति अपने आप पर या संसार पर विजय पाना चाहता है तो वहाँ बल और वीर्य उतना सम्बल नहीं देते जितना सत्य, सज्जनता, धर्म और उद्यम देते हैं।** अत: अधर्म, लोभ, मोह, अहंकार को त्याग कर किसी भी प्रकार के रणक्षेत्र में उतरिये, उद्यम से कार्य कीजिये, जहाँ धर्म होगा वहाँ विजय सुनिश्चित है।[4] सूत्ररूप इन शब्दों का संज्ञान लेकर आचरण करने वाले के लिए अन्य कुछ कथ्य शेष नहीं रहता। इसी अध्याय

---

१. संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. वामन शिवराम आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश पर अक्षौहिणी शब्द, जिसके अनुसार परिमाण है- पूरी चतुरंगिणी सेना जिसमें २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोड़े तथा १०९३५० पदाति हों।

३. भीष्मपर्व २१.२-५, व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं कल्पितं प्रेक्ष्य पाण्डव:। अक्षोभ्यमिव सम्प्रेक्ष्य विवर्णोऽर्जुनमब्रवीत्॥ धनंजय कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे। धार्तराष्ट्रैर्महाबाहो येषां योद्धा पितामह:॥ अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च भीष्मेणामित्रकर्षिणा। कल्पित: शास्त्रदृष्टेन विधिना भूरिवर्चसा॥ ते वयं संशयं प्राप्ता: ससैन्या: शत्रुकर्षण। कथमस्मान्महाव्यूहादुत्थानं नो भविष्यति॥

४. वही २१. १०-११, न तथा बलवीर्याभ्यां जयन्ति विजिगीषव:। यथा सत्यानृशंस्याभ्यां धर्मेणैवोद्यमेन च॥ त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च मोहं चोद्यममास्थिता:। युद्ध्यध्वमनहंकारा यतो धर्मस्ततो जय:॥

के अग्रिम छः श्लोकों में कहे गये **यतः कृष्णस्ततो जयः** शब्दों को कोई स्वीकार भी न करे तो भी कोई हानि नहीं, क्योंकि गीता में भी श्रीकृष्ण सम्बल देने वाले हैं, लड़ने वाले नहीं हैं और सम्बल देना ही प्रमुख हुआ करता है। लड़ तो कोई भी सकता है, लेकिन सहारा देने वाला, लोक हितकारी निस्स्वार्थभाव से मनोबल बढ़ाने वाला कोई विरला सत्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ श्रीकृष्ण जैसा ही होता है। अर्जुन के उक्त वचन द्वापर युग के युधिष्ठिर को भी समझ में आये थे और आज का कलीयुगी युधिष्ठिर भी इसे समझे तो अपने आप से, परिवार से, समाज से अथवा देश से विषादग्रस्त नहीं हो सकता।

गीता में वर्णित अर्जुनविषाद के सामाजिक निहितार्थ को हम दो रूपों में समझ सकते हैं- प्रथम स्वयं की दृष्टि से और दूसरी समाज में चल रही विसंगतियों अथवा समाज के विध्वंसकों क़ी दृष्टि से। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक मानव अपने अन्तः और बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं से भयाक्रान्त रहता है। आज के सन्दर्भ में गीता अर्जुन को युद्ध करने के लिए उकसाने अथवा क्षात्रधर्म की परिपालना के लिए उद्बोधित करने का ही केवल माध्यम नहीं है, अपितु प्रत्येक मानव को उपदेश देती है कि सुखी रहना चाहते हो तो अपने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं से सावधान होने के लिए क्षात्रधर्म की परिपालना करो। अपने लिए और समाज को सुचारु चलाने के लिए कठोरता से निर्णय लो, क्योंकि वीर वही है जो शत्रुओं का निर्दयता से विध्वंस करता है और अपने को बचाता है। वीर पुरुष जब यह पढ़ता है कि **क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप**[५] तो यह पंक्ति उसे निश्चयेन उठाने का कार्य करती है। वह समस्त हृदय की दुर्बलताओं को छोड़ खड़ा हो जाता है। **क्षदति रक्षति जनान् इति क्षत्रः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार अथवा **क्षतात् त्रायते** के अनुसार क्षत्रिय[६] वही है जो शत्रुओं से रक्षा करता है या कष्टों से, विनाश से बचाता है। अतः स्वयं बचने और दूसरों को बचाने के लिए **क्षात्रधर्म** अनिवार्य है।

स्वयं की दृष्टि से अभिप्राय है, मानव अपने आप में न जाने कैसे-कैसे कुसंस्कारों, कुप्रवृत्तियों, कदाचारों का मोहवश ऐसा आदी हो गया होता है कि वह समझते हुए भी कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह मेरे लिए अच्छा नहीं है, न मेरे परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए, फिर भी अनुचित पथ का पथिक होकर क्षण भर के लिए प्रिय लगने से उसी मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। समझ में आता है तो बहुत विलम्ब हो गया होता है या पूर्व भी कदाचित् छोड़ना चाहता हुआ किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुआ वह स्वभाव में आने से कुछ नहीं कर पाता। दुर्योधन के लिए श्रुत उक्ति **जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः** ऐसे लोगों में चरितार्थ हुई दिखाई देती है।

मानव के केवल बाह्य शत्रु ही नहीं हैं, अपितु बहुत से काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य इत्यादि मानव के आन्तरिक शत्रु हैं। इन का हनन करना मानव का अपना धर्म है। अनेक बार मानव के मन पर इन शत्रुओं का बलात् आक्रमण होता है। इनके दलन के लिए एक शत्रुहन्ता क्षत्रियरूपी आत्मा की तरह आचरण करने का स्पष्ट निर्देश भगवान् श्रीकृष्ण देते हैं-

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

---

५. गीता २.३

६. उणादिकोष ४.१६८, गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः सूत्र से क्षद् सौत्र धातु पूर्वक त्र प्रत्यय से क्षत्र शब्द की निष्पत्ति होती है अथवा क्षण् हिंसायाम् — क्विप्—क्षद्, ततः त्रायते, त्रै—कः। क्षत्रे राष्ट्रे साधुः अथवा क्षत्रस्यापत्यं वा इस अर्थ में घ प्रत्यय से क्षत्रिय शब्द बनता है।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।[७]

जितेन्द्रिय होने के लिए ज्ञानविज्ञान के नाशक पापी काम का बलपूर्वक विनाश करना अपेक्षित है-

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।[८]

कामरूप शत्रु को दुर्जय कहा जाता है फिर भी निश्चिरूपेण येन केन प्रकारेण वह संहार करने योग्य है-

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।[९]

यह भी सुनिश्चित है कि विषयों के सेवन से इच्छाओं का दमन नहीं होता अपितु वे वृद्धि को ही प्राप्त करती हैं। मनु महाराज की यह उक्ति सटीक है-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।[१०]

परन्तु इन और बहुत से अन्य अनालोचित आन्तरिक शत्रुओं का विघात आसानी से नहीं हो सकता। प्रबल इच्छाशक्ति यहाँ कार्य कर सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण जैसे गीता में अर्जुन को इन शत्रुओं को मारने के लिए उद्बोधित करते हैं वैसे ही समय-समय पर कुपथगामी पुरुष को हृदयस्थ परमात्मशक्ति प्रेरित करती है, उस आवाज को सुनकर पुरुष को इन शत्रुओं का दमन करना चाहिए, तभी जीवन में यथार्थ उन्नतियाँ सम्भव हैं। क्योंकि मानव अपने आप ही अपना बन्धु वा शत्रु होता है, जब तक वह अपने आप को सम्बल नहीं प्रदान करता तब तक अन्य कोई उसके रक्षण का उपाय नहीं हो सकता-

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्मात्मना न चेत्त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः।।[११]

गीता में भी कहा है-

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।[१२]

भगवद्गीता मानव को आत्मोद्धार हेतु कभी निष्काम कर्म,[१३] कभी विषयों का ध्यान करने से आसक्ति, आसक्ति से उन विषयों के उपभोग की निरन्तर इच्छा फिर कभी किसी कारण से बाधा होने पर क्रोध की उत्पत्ति, क्रोध से मूढ़ता प्राप्त होती है, उससे स्मृति में भ्रम होता है, स्मृति-भ्रम होने से बुद्धिनाश और ज्ञाननाश

---

७. गीता ३.३७
८. वही ३.४१
९. वही ३.४३
१०. मनुस्मृति २.९५
११. योग वासिष्ठ ६.१६२.१८
१२. गीता ६.५
१३. वही २.४७, कर्मण्येवाधिकारस्ते...

से एकप्रकार से मानव नष्ट ही हो जाता है।[१४] कभी द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ होने का प्रतिपादन,[१५] इत्यादि पदे पदे उपयुक्त सन्देश देती है, जिनके माध्यम से जीवन के रणक्षेत्र में निःशंक, निर्भय, निर्द्वन्द्व होकर अविचलभाव से प्रत्येक व्यक्ति उतर सकता है।

अर्जुनविषाद के **द्वितीय** निहितार्थ को हम समाज की दृष्टि से क्षात्रधर्म की प्रेरणा के रूप में देख सकते हैं। जिसमें राजा को कर्त्तव्यों से च्युत होने पर दिशानिर्देश देना, उनकी परिपालना करवाना गीताकार को अभीष्ट प्रतीत होता है। अर्जुन विमोह में पड़कर युद्ध से हतोत्साहित हो जाते हैं। उन्हें कुछ सूझता नहीं कि मैं क्या करूँ, क्या नहीं। धृतराष्ट्र के पुत्रों को आततायी कहते हुए भी उनको मारने से पाप का भागी होने की आशंका।[१६] जब कि मनुस्मृतिकार ने विना विचारे ही आततायी को मारने का आदेश दिया है, चाहे वह गुरु हो, चाहे बालक हो, चाहे पिता आदि वृद्ध हो अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण हो। आततायी को मारने में किसी प्रकार का दोष भी नहीं कहा गया है।[१७] उक्तप्रकार से कष्टों के अम्बार लगा देने वालों को बन्धु कहना[१८], कुलक्षय से सनातन कुलधर्मों के नष्ट होने का सन्देह[१९] करना क्षत्रिय अर्जुन के लिए अस्वाभाविक है। कुल शब्द को इस सन्दर्भ में दो प्रकार से समझा जा सकता है। प्रथम वंशपरम्परा का परिवर्धन करने वाले उत्तम परिवार को कुल नाम से अभिहित किया जाता है तो दूसरे श्रेष्ठ आचार्यो के सान्निध्य में शिक्षा ग्रहण कर रही छात्रपरम्परा भी कुल कही जा सकती है। निःसन्देह इन दोनों का युद्ध में विनाश होना अवश्यम्भावी है, जिसकी आशंका अर्जुन कर रहे हैं। हजारों लाखों श्रेष्ठ योद्धाओं का भी हनन होता है लेकिन उस हानि से समाज की आततायियों द्वारा होने वाली हानि कहीं अधिक और विनाशकारी होती है। समस्त श्रेष्ठ परम्पराओं का विध्वंस हो गया होता है तब युद्ध अवश्यम्भावी हो जाता है। यही महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय कोई कुलधर्म शेष ही नहीं रहा था। ऐसे में विषण्ण हो गुरुओं को मारने से अच्छा भिक्षावृत्ति से निर्वाह करने की पलायनवादी प्रवृत्ति[२०] आदि में आसक्त हो, उठाये गये अर्जुन के प्रश्नों को गीता के उपदेशों के पूर्वपक्ष के रूप में देखा जा सकता है।

उक्त बहु आयामी सामाजिक हानि से समाज को बचाने के लिए श्रीकृष्ण सचेष्ट हैं। अतः अर्जुन की आशंकाओं का सीधा उत्तर न दे भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा की अजरता, अमरता के माध्यम से युद्ध के लिए उद्यत होने की प्रेरणा अर्जुन को दी है और समझाने की कोशिश की है कि यदि तुम अपना कर्म नहीं करोगे तो भी ये इन शरीरों के साथ सर्वदा रहने वाले नहीं। इन शरीरों के लिए शोक करना तुम जैसे बुद्धिमान् के लिए उचित नहीं।[२१] स्वधर्म को देखते हुए भी युद्ध की उपेक्षा करना तुम्हारे लिए योग्य नहीं, क्योंकि धर्मयुद्ध से

---

१४. वही २.६२, ६३, ध्यायतो विषयान्पुंसः.....॥ क्रोधाद्भवति सम्मोहः ....॥
१५. वही ४.३३, श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
१६ . वही १.३६, निहत्य नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन। पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥
१७ . मनुस्मृति ८.३५०,५१, गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
१८. वही १.३७, तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
१९. वही १.४०
२०. वही २.५, गुरूनहत्वा हि महानुभावांछ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
२१. द्र० वही २.११-३०

उत्कृष्ट क्षत्रिय के लिए कुछ नहीं।[२२] युद्ध से हटने पर महारथी होते हुए तुम्हें अकीर्ति का भागी होना होगा तथा तुम्हें भय से रणक्षेत्र छोड़ देने के कलंक का दंश भी झेलना होगा।[२३] तुम वीर हो अतः यह तुम्हारे योग्य नहीं। अतः उठो, युद्ध के लिए निश्चय कर मैदान में उतरो, मरने पर स्वर्गगामी होवोगे और जीतने पर पृथिवी का उपभोग मिलेगा।[२४] अतः हे अर्जुन! सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय को समान दृष्टि से देखते हुए युद्ध करने वाला पाप का भी भागी नहीं होता।[२५] वास्तव में देश की रक्षा के लिए सन्नद्ध हुए एक सेनानी के लिए ये विचार आज भी ऊर्जा का काम करने वाले हैं।

राजा प्रकृति-रंजनात्[२६] के अनुसार राजा का कार्य प्रजा का अनुरंजन करना, रक्षण करना होता है। पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड के २६ वें अध्याय के अनुसार क्षात्रधर्म को ऐसा जानना चाहिए-

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि पार्थिव!
दद्याद्राजा न याचेत यजेत न च याजयेत्।।
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत्।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम्।।
प्रजाः स्वेषु च धर्मेषु स्थापयेत महीपतिः।
धर्म्याण्येव हि कर्माणि कारयेत् सततं प्रजाः।।

गीता में क्षात्रकर्म इसप्रकार बताये हैं-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।[२७]

शुक्रनीतिसार में भी नृप का परम धर्म प्रजा का परिपालन और दुष्टों का निग्रहण अर्थात् शत्रुविध्वंस करना, चाहे वे देश के अन्तः शत्रु हों अथवा बाह्य उनसे सामान्य जनता को बचाना।[२८] अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के तृतीय और चतुर्थ सूक्तों में क्रमशः दुष्टों के दमन और शत्रुसंहार का बड़ा ही उत्कृष्ट वर्णन है। इस वर्णन से प्रतीत होता है पूर्वकाल में राजनीति का कार्य आजकल की तरह कुनीति पर नहीं चलता था। आज नीतिनिर्माता अशिक्षित और बाहुबली हैं। जिन्हें न समाज से कुछ लेना है, न देश से, न अपनी संस्कृति से। उन्हीं का अनुगामी हुआ सम्पूर्ण समाज भ्रष्ट हो चुका है नित नये अनैतिक पतन, भ्रष्टाचार, अशिक्षा, आतंकवाद आदि का नग्न ताण्डव प्रत्येक शहर, गाँव में देखने को मिल रहा है। ऐसे में गीता आदि संस्कृत के ग्रन्थ हमारी विधायिका और न्यायपालिका को नवीन दृष्टि दे सकते हैं और अराजकता को कम किया जा सकता है।

संक्षेप में कथ्य है कि अद्यतनीय विकट परिस्थिति में अर्जुन के स्थान पर नेता और प्रशासकगण व

---

२२. वही २.३१, स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
२३. वही २.३४-३५
२४. वही २.३७
२५. वही २.३८
२६. रघुवंश ४.१२ तथा शान्तिपर्व ५९.१२५, रंजिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते।
२७. गीता १८.४३
२८. शुक्रनीतिसार १.१४, नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्। दुष्टनिग्रहणं नित्यं...।।

या अपने आप को रख कर देखा जा सकता है, जो विमोह में पड़कर अपना-अपना स्वार्थसिद्ध कर रहे हैं, अपने को संरक्षित करने की कोशिश करते हैं और अपने समस्त कर्त्तव्यों को विस्मृत कर बैठे हैं। गीता आदि उत्कृष्ट ग्रन्थ सम्पूर्ण समाज को कर्त्तव्यबोध की प्रेरणा देते हुए श्रीकृष्ण स्थानी हो सकते हैं, जो प्रत्येक जन के लिए दायित्वों का उद्बोधन करने का कार्य अहर्निश पाठक के लिए करते रहते हैं। अत: आइये अर्जुन के विषाद को त्यागें और कर्त्तव्यकर्म को पहचान कर भगवान् श्रीकृष्ण निर्दिष्ट कर्म को करें तभी समाज की उन्नति होना सम्भव है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ० १४५-१५१) ISSN 0974 – 8830

योगसाधना एवं प्राणविज्ञान

डॉ० मनुदेव बन्धु[१]

अपने जीवन को स्वस्थ और सुनियन्त्रित रखने के लिये योगसाधना अनिवार्य है। महर्षि पतञ्जलि द्वार प्रतिपादित यम-नियमादि अष्टाङ्ग योग की निरन्तर साधना करने से साधक प्राणवान, बलवान्, आयुष्मान्, तथ परमात्मा का प्यारा बन जाता है। योगसाधनों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए हमारे पूर्वजों ने लिखा है-

हर जगह मौजूद है पर नजर आता नहीं।
योग साधन के बिना कोई उसे पाता नहीं।।

प्राणसाधना से साधक प्रचुर बल का स्वामी बन जाता है। प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से शरीर वे आन्तरिक मल दूर होकर साधक शुभ्रज्योत्स्ना का स्वामी बन जाता है।

'प्राण' और 'अयाम'-इन दो शब्दों के योग से बना है-प्राणायाम। प्राण जीवनी शक्ति है, ऊर्जा है जिसके बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती।[२] आयाम है उसका ठहराव या विस्तार। अर्थात् स्वेच्छा से प्राणों का संचालन करना प्राणायाम है। प्राण के चलने से ही मन भी चञ्चल होता है।[३] अतः प्राणायाम वे अभ्यास से चित्त की चञ्चलता नष्ट होती है। प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं।[४]

दह्यन्ते ध्मायमानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।।[५]

जैसे धातु को अग्नि में तपाकर शुद्ध कर लिया जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को प्राणायाम से शुद्ध किया जाता है। विवेक ज्ञान से अज्ञान का अवकाश (पर्दा) उठाकर[६] साधक का मन धारणा के योग्य बनत है।[७] प्राण के दस भेद बताये गये हैं-प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त औ धनञ्जय। इनमें से पाँच मुख्य और पाँच गौण है।[८] इनमें से भी प्राण और अपान का ही बहुत महत्त्व है प्राणायाम के चार भेद योगदर्शन तथा व्यास भाष्य में बताये गये हैं बाह्यवृत्ति, आभ्यान्तर वृत्ति, स्तम्भ वृत्ति औ

---

१ प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते। मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत्।।- हठयोग प्रदीपिका २/४० स्वात्माराम योगी

३ चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्।। हठयोग प्रदीपिका २/४१

४ तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्। -अमृतनादोपनिषद् ७

५ मनुस्मृति ६/७१

६ ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योगदर्शन २।५२

७ धारणासु च योग्यतामनसः। योगदर्शन २।५३

८ निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्तिताः। अपानवायोः कर्मैतत् विण्मूलादिविसर्जनम्।। हानोपादानचेष्टादिः व्यानकर्मेति चेष्टते। दानं कर्मतत् प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत्।। पोषणादिःसमानस्य शरीरे कर्म कीर्त्तितम्। उद् गारादिगुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते।। निमीलनादिः कूर्मस्य क्षुतं वै कृकलस्य च। देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्री कर्मेति कीर्त्तितम्।। योगी याज्ञवल्क्य ४।६६-६९

बाह्याभ्यन्तर-विषयापेक्षी।[९] हठयोग के ग्रन्थों में आठभेदों का वर्णन मिलता है-सूर्यभेदन, उज्जायी, शीताकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी।[१०] इनके अतिरिक्त एक नाड़ी शोधन प्राणायाम नाड़ियों की शुद्धि के लिये इन सबसे पूर्व करणीय है।[११]

दस प्राणों के स्थान तथा कार्य-प्राण का स्थान हृदय से नासिका तक है। सामने गमन करने वाली नाक के अग्रभाग में वर्त्तमान रहने वाली वायु प्राण है। अपान का स्थान नाभि से पादतल तक है। निम्न गमन वाला पायु (गुदादि) स्थानों में रहने वाला अपान है। व्यान सब ओर गमन करने वाला सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान रहता है। ऊपर की ओर चलने वाला कण्ठ स्थानीय उदान है। समान देह के मध्यभाग में नाभि से हृदय तक रहता है। शरीर में खाये-पीये अन्नादि का अच्छी प्रकार परिपाक (समीकरण) करने वाला समान है। रस, रक्त और शरीर के अन्य पदार्थों में परिवर्त्तन करना और भोजन का पाचन करना समीकरण है। नाग से छींकना, कूर्म से पलकों को खोलना तथा बन्द करना, कृकल से भूख-प्यास लगना, देवदत्त से जम्भाई तथा धनञ्जय से सम्पूर्ण शरीर का पोषण होता है तथा मृत्यु के उपरान्त शरीर को फुला देता है।[१२]

उपनिषदों में प्राणतत्त्व-छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि सभी भूत प्राण से ही उत्पन्न होते हैं तथा प्राणों में लीन होते हैं।[१३] तैत्तिरीयोपनिषद् में भी इसी प्राण से भूतों की उत्पत्ति बतलाकर प्राण को साक्षात् ब्रह्म ही कह दिया गया।[१४] प्रश्नोपनिषद् में प्राण की उत्पत्ति आत्मा से बतलाते हुए उल्लेख किया गया है। इस उपनिषद् के अनुसार चक्षु, श्रोत्र, मुख, नासिका, पायु तथा उपस्थ में स्वयं प्राण तथा शरीर के मध्य भाग में समान नामक प्राण रहता है। शरीर में फैली हुई सहस्रों नाड़ियों में व्यान नामक प्राण विचरण करता है।[१५] मनुष्य के पाप-पुण्य के अनुसार उदान नामक प्राण उसको पापलोक अथवा पुण्यलोकको प्राप्त कराता है। पाप तथा पुण्य के मिश्रण से मनुष्य लोक को प्राप्त करता है। इतना ही नहीं, इसी उपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि तेज संयुक्त होकर प्राण आत्मा को उसके संकल्पित लोक को प्राप्त करा देता है। प्राणवेत्ता विद्वान् अमर हो जाता है।[१६] कठोपनिषद् में कुछ स्पष्ट रूप में प्राणायाम की एक प्रक्रिया दिखलाई है कि प्रथम प्राणायाम करते समय हृदय देशस्थ प्राणवायु को ऊपर अर्थात् ब्रह्माण्ड में ले जाकर स्थिर करता है तथा दूसरा प्राणायाम करते समय अपान वायु को नीचे की ओर धकेलता है। नाभि तथा कण्ठ देश के मध्य हृदय स्थित जीवात्मा की

---

९ बाह्याभ्यान्तरस्तम्भ वृत्ति देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। बाह्याभ्यान्तर विषयापेक्षी चतुर्थः। -योगदर्शन २। ५०-५१

१० सूर्यभेदनमुज्जायी शीत्कारी शीतली तथा/भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनी चाष्टकुम्भकाः॥ -हठयोगदीपिका २। ४४

११ उपनिषद्वाङ्मय में योगविद्या-प्रो० मनुदेवबन्धु तृतीय अध्याय

१२ प्राणो नाम प्राग्गमनवान्नासाग्रवर्त्ती। अपानोनामार्वाग्गमनवान्पाय्वादिस्थानवर्त्ती। व्यानो नाम विष्वग्गमनवानखिलशरीरवर्त्ती। उदानो नाम कण्ठ स्थानीय ऊर्ध्वगमनवानुत्क्रमणवायुः। समानो नाम शरीरमध्यगताशितपीतान्नादिसमीकरण करः। समीकरणन्तु परिपाककरणं रसरुधिरशुक्रपुरीषादिकरणमिति यावत्। केचितु नागकूर्मकृकल देवदत्त धनञ्जयाख्याः पञ्चान्ये वायवः सन्तीति वदन्ति। तत्र नाग उद्गिरणकरः। कूर्म उन्मीलनकरः। कृकलः क्षुत्करः। देवदत्तो जृम्भणकरः। धनञ्जयः पोषणकरः॥ -वेदान्तसार, सदानन्दयोगी ७७-८५

१३ सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति। -छान्दोग्योपनिषद् १। ११। ५

१४ प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। -तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली अनुवाक ३

१५ प्रश्नोपनिषद्-द्वितीय और तृतीय प्रश्न

१६ प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकंनयति। य एवं विद्वान् प्राणं न वेद न ह्यस्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति। प्रश्नोपनिषद् २। १०-११

समस्त इन्द्रियाँ उपासना करती हैं।[१७] स्वामी लक्ष्मणानन्द के अनुसार कठोपनिषद् के इस श्लोक में योगदर्शन में निर्दिष्ट प्रथम तथा द्वितीय प्राणायाम की ही विधि बतलायी गयी है।[१८] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी संक्षेप में प्राणायाम की विधि बतलायी गयी है जिसमें प्राणों को सूक्ष्म क्षीण करना बतलाया गया है। यहाँ पर वर्णित प्राण की क्षीणता का संकेत कदाचित् योगदर्शन में वर्णित प्राणायाम की दीर्घता-सूक्ष्मता की ओर ही है। इसी प्रसङ्ग: में श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्राणायाम को मन के एकाग्र करने का साधन बतलाया गया है।[१९]

महर्षि दयानन्द और प्राणायाम-जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न-जल बाहर निकल जाता है; वैसे प्राण को बल से बाहर को यथाशक्ति रोक देवे। जब बाहर निकालना चाहे तब मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच रखे तब तक प्राण बाहर रहता है। इस प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को लेकर फिर भी वैसे ही करता जाय, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो और मन में 'ओ३म्' का जाप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता और स्थिरता होती है। एक 'बाह्यविषय' अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा 'आभ्यान्तर' अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोके। तीसरा 'स्तम्भवृत्ति' अर्थात् एक ही बार जहाँ का जहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना। चौथा 'बाह्याभ्यान्तरापेक्षी' अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उसके विरुद्ध न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाय। ऐसे एक-दूसरे के विरुद्ध क्रिया करे तो दोनों की गति एक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भी स्वाधीन होते हैं। बल-पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है कि जो बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है। मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता, सब शास्त्र को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेगा। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें।[२०]

रुद्र और प्राण-शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार दस प्राण और आत्मा को रुद्र कहते हैं। जब ये प्राण शरीर से निकलते हैं तब अपने सम्बन्धियों को रुलाते हैं। अतः ये रुद्र कहलाते हैं।[२१] दुष्टों को रुलाने के कारण ईश्वर भी रुद्र कहलाता है। मृत्युकाल में रोने के कारण जीव भी रुद्र है।

ऋग्वेदीय ऋचा में प्रयुक्त 'रुद्रा'[२२] पद द्वारा एकादश प्राणों का ग्रहण किया है; यहाँ बताया गया है कि ये एकादश प्राण प्रीतिपूर्वक सदा सेवा करते हुए योग यज्ञ की वृद्धि करते हैं।

प्राणविज्ञान और उसकी उपयोगिता-प्राणों के नियमित व्यापार करते रहने से ही स्थूल शरीर स्वस्थ रह सकता है। इसके लिये साधक निवेदन करता है-'हे प्रभो! जिस अपान तथा प्राणवायु के संयम से आपको जाना है, वे प्राणापान वायु प्रकुपित न हों; सदैव हम साधकों के लिए हितकारी रहें, हम में शक्ति का संचार करें और

---

१७ ध्यानयोगप्रकाश, स्वामी लक्ष्मणानन्द, पृ० १४४

१८ ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वा मौनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥-कठोपनिषद् ५।३

१९ प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीतः। दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥-श्वेताश्वतरोपनिषद् २।९

२० क-सत्यार्थप्रकाश, महर्षिदयानन्द, तृतीय समुल्लास ख-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, महर्षिदयानन्द सरस्वती, उपासना विषय

२१ कतमे रुद्रा इति? दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्या च्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति। तद्यद्रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति। -शतपथ ब्राह्मण १४.६.९.४-६

२२ आदित्या रुद्र वसवः सुनीथा द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम्। सजोषसो यज्ञमवन्तु देवा ऊर्ध्वं कृण्वन्त्वध्वरस्य केतुम्॥-ऋग्वेद ३.८.८

प्यारी इन्द्रियों को अपनी स्निग्धता से सिञ्चित करे। प्राणायाम सदैव युवा रहते हुए हमारी प्राणापानरूप योगयज्ञ की आहुतियों को सदैव प्रवाहित करें।[२३] पाचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात, विषय को प्राप्त करने वाले स्थूल शरीर में प्रीतिपूर्वक स्थित हैं और प्रमादरहित होकर शरीर की रक्षा करते हैं। ये सातों प्राण दिव्यरूप को धारण किये हुए सोते तथा जागते हुए मनुष्य की निरन्तर रक्षा करते हैं।[२४]

योगाभिलाषी सर्वोत्तम धर्माचरण योगरूप में अपने मुख्य प्राण तथा उपप्राण को संयुक्त किये बिना बल, पराक्रम तता साधना की ऊर्ध्वगति प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए एक मन्त्र में साधक विनयावनत होकर कहता है कि-'हे प्रभो मेरे प्राण-अपान-उदान-समान-व्यान-नाग-कूर्म-कृकल-देवदत्त धनञ्जय सभी प्राण-उपप्राण मेरे द्वारा बुद्धिपूर्वक संयमित योगयज्ञ को सम्पन्न करने के लिये समर्थ हों।[२५] प्राणों को बलिष्ठ बनाने के लिये वेद आदेश देता है कि प्राण विद्या का साधक फलों का रसपान तथा स्निग्ध-पदार्थों का सेवन करके शक्ति बढ़ाये।

प्राणायाम न करने से हानि-अथर्ववेद में कहा गया है कि 'जो तत्त्व (ब्रह्मज्ञान) के जानने वाले का शिष्य होता है वह प्राण का निरोध (प्राणायाम) करता है। यदि प्राण निरोधक प्राणायाम नहीं करता है, तो सारी आयु की हानि उठाता है। यदि आयु की हानि नहीं उठाता, तो प्राण इसे बुढ़ापे से पूर्व छोड़ देता है।[२६] इस सन्दर्भ में यह सिद्ध हुआ कि-प्राणायाम न करने से मनुष्य की हानि होती है। प्राणायाम के बिना शरीर में वीर्यरक्षा सम्भव नहीं है। वीर्य जीवन का सार है, जीवन का आधार है। इस जीवनाधार का आधार प्राणायाम है। अत: सिद्ध हुआ कि प्राणायाम का अभ्यास दीर्घ जीवन के लिये करना आवश्यक है।

प्राणायाम से मनोनिग्रह जितेन्द्रियता एवं प्रज्ञा लोक की प्राप्ति-प्राणायाम के अभ्यासी को वेदमन्त्र में प्राणायाम के लाभों का ज्ञान कराते हुए प्रेरणा दी गयी है कि-'हे योगिन्! कोष्ठगत वायुरूप प्राण को सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के लिए प्रेरित कर एवं प्राण और अपान दोनों को पालन करता हुआ, उत्तम रूप से गति देता हुआ उनको भी प्रेरित कर। इस देहरूपी रथ पर सारथि बनकर स्थित ध्यान, संकल्पमात्र के वेग से जाने वाले इन्द्रियगणों के नेता मन को उत्तम रीति से प्रेरित कर। इस प्रकार प्राणायाम द्वारा जितेन्द्रिय और जितचित्त होकर हे सोम विद्वान्! अज्ञान के नाश करने वाला ज्ञान रूप वज्र को हाथ में लेकर ऋतम्भरा अवस्था में प्रज्ञालोक के उदित हो जाने पर सुखों के वर्षक उस आत्मा का साक्षात्कार कर।[२७]

प्राणायाम से रोगनाश-अथर्ववेद काण्ड एकादश सूक्त चतुर्थ में प्राण की बहुश: महिमा बतायी गयी है। यह सब ब्रह्माण्ड और पिण्ड उस प्राण के वश में है।

---

२३ द्यावाभूमी अदिते त्रासीथां नो ये वां जज्ञु सजनिमान ऋष्वे। मा हेडे भूमी वरुणस्य वायोर्मा मित्रस्य प्रियतमस्य नृणाम्॥-ऋग्वेद ७.६२.४ ख-प्रवाहवा सिसृतं जीवसे न आ नो गव्यूति मुक्षितं घृतेन। आ नो जने श्रवयतं युवा श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा॥-ऋग्वेद ७.६२.५

२४ सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरे सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतौ अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥-यजुर्वेद ३४.५५

२५ प्राणश्च मे उपानश्चमे व्यानश्च में सुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥-यजुर्वेद १८.२

२६ क-स य एवं विदुष उपद्रष्टाभवतिप्राणं रुणद्धि। ख-न च प्राणं रुणद्धि सर्वाज्यानिं जीयते। ग-न च सर्वाज्यानिं जीयते पुरैनं जरसा प्राणो जहाति। -अथर्ववेद ११.३.५४-५६

२७ अभिवायु वीत्यर्षा गृणानोऽभि मित्रावरुणा पूयमानः। अभी नरं धीजवनं रथेष्ठामभीन्द्रं वृषण वज्रबाहुम्॥ -ऋग्वेद ९.९७.४९ सामवेद १४२६

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतस्य सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ [२८]

इस सूक्त में प्राण का शाश्वत यशोगान है। इस प्रकार अन्यत्र[२९] प्राणायम को देवताओं का वैद्य कहा है, ये ही अश्वनी कुमार हैं। वहाँ प्रार्थना है कि-'हे अश्वनी कुमारो! मृत्यु को हम से दूर करो, तुम देवों के भिषक् हो, शरीर को मत छोड़ो। यही बसो, जिससे यह शरीर नीरोग होकर शतायु हो।' ऋग्वेद में कहा गया है कि संयमित वायु (प्राणायाम) ओषधिरूप है। प्राण हमारे शरीर का पिता के समान पालन-पोषण करता है और मित्र के समान सुखकारी है। प्राणवायु के घर (अन्तरिक्ष) में जो अमरत्व है वह प्राण के स्थायित्व से शरीर में स्थापित होता है।[३०] प्राणायाम का अभ्यास विधिपूर्वक करने से अनेक लाभ होते हैं, परन्तु विना सीखे अयुक्त विधियों से किया गया प्राणायाम अनेक रोगों का जनक, वीर्यनाशक और शरीतन्त्र का अनिष्ट कर साधना में बाधक है। अत: वेद साधकों को हितकारी परामर्श प्रदान करता है कि-'योग सिद्ध साधकों से प्राणायाम की विधि को सीखकर अभ्यास करना चाहिये।[३१]

प्राणायाम से योगानुकूल चिन्तभूमि बनाना-अथर्ववेद में कथन है-'जिस प्रकार उत्तम लता के बीज वपन करने के लिये क्षेत्र को सुधारने वाला हल आवश्यक है, उसी प्रकार चित्तभूमि को गोड़ने के लिये और उसमें विज्ञान रूप ब्रह्मज्ञानमय बीजवपन करने के लिए अपेक्षित जो योग के प्राणायाम आदि अङ्ग हल रूप हैं, उनका आदर पूर्वक हम उपयोग करते हैं।[३२] हल के 'ईषा' नामक दण्ड के समान प्राणापान दो प्राणों के द्वारा बुद्धि-आत्मा को जुआ एवं बैलों का स्थायी समझ कर संयुक्त करते हैं। साथ ही मानस प्रेरणारूप चितिशक्ति द्वारा योग करने वाले योगिजनों को नमस्कार है, जिस के देहबन्धन को काट डालने वाली ब्रह्मानन्द बल्ली आत्मा को बन्धन से मुक्त करे।

उक्त रूपक द्वारा आत्मा को क्षेत्र, प्राणों को लेखा (फाल) माना है, जो नाना वृत्तियों द्वारा उसमें पृथक-पृथक् रूप से वर्त्तमान हैं, प्राण-अपान, उदान-व्यान बैलों के जोड़ें हैं। इन सब देवों के सुख के संचार रूप आत्मा में ही ध्यानी पुरुष अपनी समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध अर्थात् योग करते हैं। इसकी पुष्टि यजुर्वेद का एक मन्त्र इसी रूप से करता है-

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया॥ [३३]

विद्वान् पुरुषों में सुख से प्राप्त करने वाले आत्मरूप क्षेत्र में विद्वान् दूरदर्शी लोग प्राणरूप हलों को

---

२८ प्राणस्य नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतस्य सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥-अथर्ववेद ११.४.१

२९ अमूत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः। प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्नेभिषजा शचीभिः॥- अथर्ववेद ७.२३.१

३० क वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभुनो हृदे। प्राण आयूंषि तारिषत्॥ ख उत वा पितासि न उतभ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥ ग यदुदो वात ते गृहे मृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥- ऋग्वेद १०.१८६.१-३

३१ युव हि स्मा पुरु भुजेममेधतुं विष्णाप्वे ददभुर्वस्य इष्टये। ता वां विश्वको हवते तनूकृथे मा नो वियोष्टं सख्या मुमोचतम्। ऋग्वेद ८.८६.३

३२ नमस्ते लाङ्गलेभ्यो न ईषायुगेभ्यः। वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥-अथर्ववेद २.८.४

३३ सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नया॥ -यजुर्वेद १२.६२

युक्त करते हैं और ध्यानी पुरुष योग के अङ्गरूप जुओं को पृथक्-पृथक् प्राणरूप बैलों के कन्धों पर रखते हैं अर्थात् उनका पृथक्-पृथक् अभ्यास करते हैं। अभ्यास के द्वारा प्राणमार्ग से चलने वाले मन को प्राणायाम विधि से समृद्ध और बलवान् करना चाहिए।

प्राणायाम से आयुष्यवर्धन-अथर्ववेदीय ऋचा के द्वारा साधक प्रार्थना करता है-'हे प्राण और अपान! तुम दोनों मिलकर चलो। मेरे शरीर को मत छोड़ो। मेरे शरीर में ही निवास करो। सौ वर्ष तक मुझे बढ़ाते हुए जीवन प्रदान करो। प्राणस्वरूप सर्वव्यापक परमेश्वर हमारा पालक और रक्षक है।[३४] मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर प्राण, अपान और जठराग्नि को सम रखकर सब प्रकार बलवान् होकर पूर्ण आयु भोगें। मनुष्य शारीरिक इन्द्रियों को प्राणायाम, व्यायाम आदि द्वारा शरीर-बल में हानि हो जाती है तो मनुष्य वैद्यों की सम्मति से जठराग्नि की समता से स्वस्थ रहे। मनुष्य प्राणायाम द्वारा शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर व्यायाम और प्राणायाम करते रहना चाहिए।[३५]

प्राणायाम से प्रभुप्राप्ति-प्राणायाम के आन्तरिक लाभों में अन्तिम लाभ प्रभु प्राप्ति है। प्राणायाम के माध्यम से मन की चंचलता दूर होती है। आध्यात्मिक विकास हेतु प्राणायाम अवश्य करना चाहिए। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि-'जो आत्मा प्राण में, जीवन सहित श्वास में रहता हुआ प्राण जो बाहर भी है, जिसका शरीर प्राण है। जो भीतर स्थित प्राण को नियम में रखता है, यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।[३६] एक अन्य प्रसङ्ग में शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा-'हे याज्ञवल्क्य! तू (शरीर) और आत्मा किसमें प्रतिष्ठित हैं? प्राण में प्रतिष्ठित हैं। प्राण अपान में प्रतिष्ठित है। अपान व्यान में प्रतिष्ठित है। व्यान उदान में प्रतिष्ठित है। उदान समान में प्रतिष्ठित है। यह देह में रहने वाला आत्मा 'नेति-नेति' शब्द से बताया जाता है। वास्तव में आत्मा अगृह्य, अशीर्य और असङ्ग है।[३७] तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के लिए क्रमशः अन्नमयकोश मनोमयकोश, प्राणमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनन्दमय कोश का उल्लेख मिलता है। 'आनन्द आत्मा' कहकर बह्म का निरूपण किया है। प्राणायाम से बुद्धि शुद्ध और परिप होती है। फिर साधक अलौकिक आनन्दप्राप्ति का प्रयास करता है। साधक के आनन्दमय की स्थिति ब्रह्म में ही होती है।[३८]

---

३४ सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्। शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥ - अथर्ववेद ७.२३.२

३५ क-आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनराताविताम्। अग्निष्टदाहानिर्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरावेशयामि ते॥ ख-मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्। सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु॥ ग-प्र विशतं प्राणापानावन डवाहाविव व्रजम्। अहं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इव वर्धताम्॥ च-आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निवरेण्यः॥ -अथर्ववेद ७.५३.३-६

३६ य प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद, यस्य प्राणः शरीरं य प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः॥ - बृहदाराण्यकोपनिषद् ३.७.१६

३७ कस्मिन्नु त्वहं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति? प्राण इति। कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति? व्यान इति। कस्मिन्नु व्यान प्रतिष्ठित इति? समान इति। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यते ऽसङ्गो न हि सज्यते न व्यथते न रिष्यति॥ - बृहदारण्यकोपनिषद् ३.९.२६

३८ तस्माद् वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुष विधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा तदप्येष श्लोको भवति। प्राणं देवा अनुप्राणन्ति। मनुष्या पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ते प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। आनन्द आत्मा। ब्रह्म आत्मा, ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा॥ -तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मवल्ली

प्राणायाम के अन्यप्रकार-कुछ उपनिषदों में प्राणायाम के उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद भी किये हैं। इसका लक्षण करते हुए इन उपनिषदों में प्रायः समानरूप में कहा गया हैकि जिस प्राणायाम के द्वारा पसीना उत्पन्न हो वह अधम कहलाता है। जिसमें कम्पन हो वह मध्यम है तथा जिसके द्वारा शरीर पृथिवी से ऊपर उठ जाये वह उत्तम प्राणायाम है।[३९] आजकल कपालभाति और अनुलोम-विलोम प्राणायाम भी किये जाते हैं। इन प्राणायामों को करने से शरीर स्वस्थ और बलवान् बनता है। इनसे ओज-तेज की प्राप्ति होती है।

उपसंहार-अष्टाङ्ग योग को राजयोग कहा जाता है। इस भागमभाग जिन्दगी में तथा तनाव प्रधान जीवन में शरीर को स्वस्थ रखने के लिए योग ही एकमात्र सहारा है। इसमें भी आसन-प्राणायाम अत्यन्त सरल होने से सबके द्वारा किये जाने योग्य हैं। अतः प्राणायाम को निरन्तर प्रातःसायम् करते रहना चाहिए। प्राणायाम करने से सभी प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं। हमें बल की प्राप्ति होती है। प्राणायाम से शारीरिक और मानसिक विकास होता है। 'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्ति का सर्वप्रथम साधन आरोग्य (स्वस्थशरीर) ही है। अतः हमें जीवन पर्यन्त योग एवं प्राणसाधना करते रहने चाहिए।

---

३९ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् श्लोक १०३-१०४ योगचूड़ामणि-श्लोक १०५ जाबालदर्शनोपनिषद् ६.१४

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ० १५२-१५८) ISSN 0974 – 8830

स्वस्थ मन की प्राप्ति में योगसूत्र की भूमिका

डॉ० सुरेन्द्र कुमार[१]

जीवात्मा को कर्मानुसार सुख-दु:ख के भोग के लिए शरीररूपी साधन की आवश्यकता है। शरीर के अभाव में उसे किसी भी प्रकार की अनुभूति का होना असम्भव है। इसीलिए चरक ने कहा है कि **'धर्म और अधर्म दोनों का साधन यह शरीर ही है।'**[२] इसके अभाव में किसी भी कार्य को किया जाना सम्भव नहीं है। इस शरीर रूपी साधन में भी दो प्रकार के साधन हैं, जिन्हें दार्शनिक भाषा में बाह्यकरण और अन्त:करण के नाम से जाना जाता है। बाह्यकरण के अन्तर्गत हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां आती है। तथा अन्त:करण के अन्तर्गत मन, बुद्धि तथा अहंकार आते हैं। इनकी एकता को योगदर्शन में चित्त का नाम दिया गया है। प्राय: व्यवहार में मन, बुद्धि तथा चित्त को पर्याय रूप में प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ कहा जाता है आज मेरा मन ठीक नहीं है, मेरा चित्त ठीक नहीं है। यह मन या चित्त ही सांसारिक बन्धन या मोक्ष का कारण है, इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है **'मन एव मनुष्याणां कारणम् बन्ध मोक्षयो:'**। इस मन का स्वस्थ होना नितान्त अनिवार्य है। क्योंकि सफलता या असफलता मन पर ही निर्भर है।

मन के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में जानने से पूर्व मन की सूक्ष्म प्रकृति तथा इसके यथार्थ स्वरूप को जानना आवश्यक है। भारतीय चिंतन की धारा में प्रारम्भकाल से ही मन के विषय में चिंतन किया जाता रहा है। वेदों के मन्त्रदृष्टा ऋषि मानव मन के मर्मज्ञ थे। मन की सूक्ष्म प्रकृति व स्वरूप को प्रकाशित करने वाले उनके विचार गहन अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हैं। इनके अन्तर्गत मन के गुण, धर्मो तथा स्वरूप पर समुचित प्रकाश डाला गया है। ऋग्वेद में मन को दक्ष और क्रतु कहा गया है।[३] यहाँ दक्ष का अर्थ ज्ञानयुक्त तथा क्रतु का अर्थ क्रियाशीलता से लिया गया है अर्थात् मन ज्ञान और कर्म का साधन है। वाजसनेयि संहिता में मन को बुद्धि, भाव एवं तर्क से युक्त माना गया है।[४] यजुर्वेद मन की व्यापक विवेचना करता है। यहाँ मन को मानव हृदय में रहने वाला आदरणीय तत्त्व बताया है।[५] एक स्थान पर कहा गया है कि 'मन ही प्रेरणा का स्रोत है। इसी की प्रेरणा से समस्त धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के कार्य सम्पादित होते हैं।[६] एक अन्य मन्त्र में मन को चेतना का आधार बताया गया है।[७] यजुर्वेद में ही मन के गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रज्ञान, चेतस् तथा धृति मन के महत्त्वपूर्ण गुण हैं।[८]

---

१ प्रवक्ता मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविधालय, हरिद्वार

२ शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। चरक संहिता १/१५

३ ऋग्वेद - २२

४ वाजसनेय संहिता ३०/४/१-६

५ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु।। यजुर्वेद ३४/३

६ वही ३४/३

७ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो मज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा:। यदपूर्वं यक्षमन्त: प्रजानां तन्मे मन: शिव संकल्पमस्तु।। यजुर्वेद ३४/२

८ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम। येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन: शिव संकल्पमस्तु।। यजुर्वेद ३४/४

यह मन वर्तमान, भूत तथा भविष्य तीनों कालों में व्याप्त है।[९] इन्द्रियरूपी घोड़ों को नियन्त्रित करने वाला योग्य सारथि मन ही है।[१०] वेदों में मन को वायु के समान तीव्रतम गति वाला माना गया है।[११] वहीं कहा गया है कि मन की गति केवल पृथ्वी तक ही सीमित नहीं है, अपितु यह अंतरिक्ष एवं द्युलोक तक जाता है।[१२] मन बहुत ही चंचल है, अत: विशेष कार्यों को सम्पादित करने के लिए उसको नियन्त्रित करना आवश्यक है।[१३] एक अन्य मन्त्र में चिन्तन, संकल्प-विकल्प तथा कल्पनाएँ मन के विषय बताये गये हैं।[१४]

ब्राह्मण ग्रन्थों में मन को नाम रूप से जानने वाला तथा शरीर को धारण करने वाला माना गया है।[१५] अरण्यक ग्रन्थों में मनुष्य को मन के कारण ही पशुओं से विशिष्ट माना गया है, क्योंकि मन के द्वारा ही उसे भूत और भविष्य का ज्ञान होता है।[१६]

उपनिषद् ग्रन्थ भारतीय चिन्तन धारा के गूढ़तम ग्रन्थ हैं। वहाँ पर मन के विषय में अत्यधिक वैज्ञानिक तथा व्यवहारिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। उपनिषदों में मन को एक सूक्ष्म पदार्थ के रूप में वर्णित किया गया है।[१७] उपनिषदों में मन को जानने का उपदेश किया गया है।[१८] वहाँ पर मन की सक्रियता का कारण आत्मा को माना गया है। तथा उसको जानने का निर्देश दिया गया है।[१९] आत्मा मन में ही प्रतिबिम्बित होता है।[२०] ऐसा उपनिषदों में कहा गया है। उपनिषदों में मन का स्थान हृदय माना गया है।[२१] छान्दोग्य उपनिषद् में मन के निर्माण का कारण अन्न को बताते हुए कहा गया है कि अन्न का सूक्ष्मतम अंश ही मन का निर्माण करता है।[२२] कठोपनिषद् में मन को उभयन्द्रिय के रूप में वर्णित किया गया है तथा कहा है कि वह अन्य सभी इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है।[२३] मन के अनुरूप ही मनुष्य का स्वभाव ओर व्यक्तित्व होता है इसीलिए मनुष्य को मनोमयी कहा गया है।[२४] बृहदारण्यक उपनिषद् में मन को समस्त इन्द्रियों का अधिपति कहा गया है। जब यह

---

९ यस्मिन्नृच: साम यजूषिं यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथना भाविवारा:। यस्मिश्चित्तँ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मन: शिव संकल्पमस्तु॥ यजुर्वेद ३४/५

१० पितुं नु स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्। यस्य त्रितो व्योजसा वृत्रं विपर्वमर्दयत्॥ यजु० ३४/७

११ सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजा देवि दिदिड्ढि न:। यजुर्वेद ३४/१०

१२ त्वमग्ने प्रथमोऽअंगिरा ऋषिर्देवो देवानामभव: शिव: सखा। तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टय:॥ यजुर्वेद ३४/१२

१३ उत्तानायामव भरा चिकित्वान्त्सद्य: प्रवीता वृषणं जजान। अरूषस्तपो रूशदस्य पाज ऽइडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट॥ यजु०३४/१४

१४ न ते दुरे परमा चिद्रजांऽस्या तु प्रयाहि हरिवो हरिभ्याम्। स्थिरा वृष्णे सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाण: समिधानेऽअग्नौ॥ यजु०३४/१९

१५ शतपथ ब्राह्मण १०/७,३

१६ ऐतरेय आरण्यक २/६

१७ Concept of mind in Indian Philosophy P.3.

१८ कौषितकी उपनिषद् ३/६

१९ केन उपनिषद् १/५

२० कौषितकी उपनिषद ३/६

२१ ऐतरेय उपनिषद् ३/५२

२२ छान्दोग्य उपनिषद् ६/६/५

२३ कठोपनिषद् ३/३/४-५

२४ अयं पुरुषो मनोमय:। तैत्तिरीय उपनिषद् १/६/१

मन इन्द्रियों के साथ संयुक्त होता है, तब ही विषयों का ज्ञान होता है।[२५] इसी उपनिषद् में कहा गया है कि मन ही परमात्मा की प्राप्ति का साधन है।[२६]

भारतीय दार्शनिक विचारधारा में मन को आत्मा से भिन्न स्वीकार किया गया है। यहाँ इसको अन्त:करण के रूप में वर्णित किया गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार मन अन्तिम द्रव्य है जिसके द्वारा आत्मा को सुख-दु:ख की अनुभूति होती है।[२७] दर्शनों की मान्यता है कि मन अन्तरिन्द्रिय है। जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर अनुमान के द्वारा होता है।[२८] यहाँ मन को अन्त:करण का एक अंग माना है, जो आत्मा के लिए ज्ञान के एक यन्त्र के समान है।[२९] न्यायदर्शन में मन को परमाणु रूप व अचेतन माना है तथा कहा है कि यह चेतना का एक उपकरण मात्र है।[३०] मन एक और अविभाज्य है इसीलिए वह एक समय में एक ही अनुभूति कर पाता है।[३१] सांख्य मन को प्रधान इन्द्रिय मानता है तथा कहता है कि बाकी इन्द्रियाँ इसकी शक्तियाँ है।[३२] यह ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों के कार्य करने में समर्थ है।[३३] क्योंकि इन्द्रियों के साथ मन के संयुक्त होने पर ही वे अपने कार्यों को सम्पादित कर पाती हैं।[३४] इसको अहंकार के अंश के रूप में वर्णित किया गया है।[३५] यह मन प्राकृत होने के कारण प्रतिक्षण परिणामी है।[३६] प्रकृति के त्रिगुण सत्, रज और तम के कारण यह विविध रूपों में कार्य करता है। सत्व प्रधान चित्त ज्ञान, आनन्द, तथा शान्ति को उत्पन्न करने वाला होता है। रजस् प्रधान चित्त सक्रिय, अस्थिर एवं चंचल बना रहता है। तथा तमस् प्रधान चित्त जड़ता, अज्ञान, निद्रा, तन्द्रा का कारण बनता है।[३७] योगदर्शन में मन को क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध पाँच स्थितियों वाला बताया गया है। इनमें प्रथम तीन योगाभ्यास के लिए अनुपयुक्त तथा अन्तिम दो योग के लिए उपयुक्त बतायी गयी हैं।[३८] मन की पाँच वृत्तियों का वर्णन योगसूत्र में किया गया है।[३९] वास्तव में जो ज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। योग के अनुसार इन चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है।[४०] वेदान्त दर्शन में मन और अन्त:करण को समानार्थी माना है। विविध कर्म करने के कारण इसको मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त के नाम से अन्त:करण चतुष्टय के

---

२५ बृहदारण्यक उपनिषद् १/५/३
२६ मनसैवेदमाप्तव्यम्। कठोपनिषद् २/१/११
२७ भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय पृ० २३०
२८ भारतीय दर्शन की रूपरेखा - हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा पृ० २४५
२९ न्यायभाष्य - १/१/४
३० न्याससूत्र ३/२/२८, ३९
३१ भारतीय दर्शन की रूपरेखा - हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा पृ० २४०
३२ सांख्य प्रवचन भाष्य २/२५
३३ सांख्यसूत्र २/१८
३४ सांख्यसूत्र २/१८
३५ सांख्यकारिका २७, ४०
३६ भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० २६३
३७ S. Budhananda, Mind and its Control P.25
३८ भारतीय दर्शन-बलदेव उपाध्याय पृ० २९६
३९ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय:। पातंजल योगसूत्र १/६
४० योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:। योगसूत्र १/२

रूप में जाना जाता है।[४१] वेदान्त दर्शन में मन के पाँच कार्य सही ज्ञान, विवेक, कल्पना, निद्रा तथा स्मृति बताये गये हैं।[४२]

इस प्रकार भारतीय विचारधारा में मन का बहुत ही स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। यह शरीर तथा आत्मा दोनों से भिन्न है। यह अपने मूल रूप में भौतिक एवं जड़ है। किन्तु आत्मा के सम्पर्क के कारण चेतन और सक्रिय दिखायी देता है। यह अन्तरिन्द्रिय और अन्य सभी इन्द्रियों का अधिपति है। तथा आत्मा के ज्ञान के एक साधन के रूप में कार्य करता है। संकल्प-विकल्प करना, निश्चय करना तथा यथार्थ ज्ञान की अनुभूति कराना इसके मुख्य कार्य हैं।

स्वस्थ मन ही विषयों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ है। योग की दृष्टि से यदि देखा जाये तो वृत्ति निरोध ही स्वस्थ मन का लक्षण है। क्योंकि वृत्तिनिरोध के पश्चात् ही दृष्टा अर्थात् आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है।[४३] और स्वस्थ शब्द का शाब्दिक अर्थ भी यही है कि जो स्व में स्थित है वही वास्तव में स्वस्थ है। पूर्ण स्वस्थ के लक्षणों का वर्णन करते हुए हजारों वर्ष पूर्व आचार्य सुश्रुत ने कहा था कि **'जिसके त्रिदोष (वात, कफ, पित्त) सम अवस्था में हो, जिसकी शरीरस्थ तेरह प्रकार की अग्नियां सम हों, सप्त धातुएँ समान हों, जिसकी मल, मूत्र और स्वेद निःसरण क्रियायें सम हों तथा जिसकी आत्मा, पंच ज्ञानेन्द्रियां, पंच कर्मेन्द्रियाँ, एवं मन प्रसन्न अवस्था में हों वही वास्तव में स्वस्थ पुरुष है।'** यहाँ पर आत्मा, इन्द्रियों और मन की प्रसन्नता की जो बात कही गयी है वह योग के द्वारा ही सम्भव है। क्योंकि मन की निर्मलता ही वास्तविक प्रसन्नता का कारण है।

आधुनिक चिकित्सा में मानसिक रोगों के रूप में मानसिक दबाव, तनाव, चिंता, विभ्रम, अनिद्रा, अवसाद आदि को मुख्य माना गया है। योगसूत्र में अन्तरायों तथा चित्तविक्षेपों को ही मानसिक विकार या रोग माना गया है। इन चित्त विक्षेपों व अन्तरायों का वर्णन करते हुए योगसूत्र में कहा गया है कि व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व ये चित्त को विक्षिप्त बनाने वाले अन्तराय अर्थात् विघ्न हैं।[४४] तथा इनके साथ ही दुःख, दौर्मनस्य, अंगो का कम्पन, तथा श्वास-प्रश्वास की अनियन्त्रित अवस्था उपस्थित हो जाते हैं।[४५] यहाँ पर प्रयुक्त व्याधि शब्द के अन्तर्गत शारीरिक व मानसिक रुग्णता ही आती है। आगे वर्णित स्त्यान (अकर्मण्यता), संशय अर्थात् अनिश्चय की स्थिति, प्रमाद अर्थात् साधन होते हुए भी कर्म में प्रवृत्त न होना, शारीरिक या मानसिक आलस्य, वैराग्य का अभाव, भ्रममूलक ज्ञान, किसी स्थिति को प्राप्त न कर पाना या स्थिति को प्राप्त कर लेने पर उस पर स्थिर न रह पाना ये सब भी मन को विकारग्रस्त करने वाले ही हैं। यही मन की अस्वस्थता के लक्षण हैं।

योगदर्शन में मन की स्वस्थ अवस्था को भंग करने वाले मानसिक विकारों के मूलकारण के रूप में पंचक्लेशों का वर्णन किया गया है। ये पंच क्लेश हैं-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।[४६] अनित्य में

---

४१ शांकरभाष्य २/४, ६
४२ शांकरभाष्य २/४/१२
४३ तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। योगसूत्र १/३
४४ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरितिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। योगसूत्र १/३०
४५ दुःखदौर्मनस्यांगमेजयत्वश्वासप्रश्वासः विक्षेपसहभुवः। योगसूत्र १/१३१
४६ अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगसूत्र २/३

नित्य की भावना करना, अपवित्र में पवित्र की भावना, दुःखरूपी विषयों में सुख की कामना तथा अनात्म शरीर में आत्मवत् व्यवहार करना अविद्या कहलाता है।[४७] पुरुष तथा चित्त दोनों की अभिन्नता का ज्ञान अस्मिता कहलाता है,[४८] जिन विषयों से सुख की प्राप्ति होती है, उनको बार-बार करने की इच्छा को राग कहते हैं।[४९] प्रतिकूल विषयों के प्रति घृणारूपी वासना को द्वेष कहा जाता हैं।[५०] सभी प्राणियों में जो एक समान रूप से मृत्युरूपी भय बह रहा है, वही अभिनिवेश रूपी क्लेश कहा जाता है।[५१] वास्तव में ये क्लेश ही मानव मन को कुण्ठित करते हैं। यदि चिंतन किया जाये तो प्रतीत होता है कि ये क्लेश ही मन की रुग्णता के मूल कारण हैं।

मानसिक विकारों के निवारण की दृष्टि से हम जब चिकित्सा जगत् की ओर देखते हैं तो वहाँ कोई भी चिकित्सा पद्धति चाहे वह प्राचीन हो या अर्वाचीन ऐसी दिखायी नहीं देती,

जिसमें मानसिक विकारों का पूर्ण रूपेण निवारण सम्भव हो। केवल योगसाधना ही मन को पूर्ण स्वस्थ करने में समर्थ है। योगसूत्र में इन सभी व्याधियों व अन्य मानसिक विकारों के निवारण के उपाय का वर्णन करते हुए पतञ्जलि कहते हैं-कि इन सभी को दूर करने हेतु एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करना चाहिए।[५२] एक तत्त्व का अभ्यास दो प्रकार से किया जा सकता है, प्रथम सभी भूतों व प्राणियों में एक ही परमपिता परमात्मा की अनुभूति का अभ्यास किया जाये या सभी प्राणियों में आत्मवत् व्यवहार करे। यदि यह सम्भव नहीं है तो व्यक्ति को किसी एक विषय के उपर ठहराने का प्रयास करना चाहिए। इससे व्यक्ति के मन से राग, द्वेष आदि क्लेश नष्ट हो जाते हैं और व्यक्ति का मन विकाररहित जाता है।

पतञ्जलि सिद्ध योगी थे। योगी के मन में करुणा और प्रेम कूट-कूट कर भरा होता है। मन के स्वास्थ्य प्राप्ति के साधनों का वर्णन करते समय भी उनकी दया प्रदर्शित होती है। यदि व्यक्ति उपर्युक्त एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास करने में असमर्थ है तो पतञ्जलि दूसरा उपाय बताते हुए कहते हैं कि-सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता का भाव, दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का भाव, पुण्यशाली व्यक्तियों के प्रति प्रसन्नता का भाव तथा पापियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखना चित्त के लिए प्रसाद रूप है।[५३] अर्थात् इन भावनाओं का अभ्यास करने से मन से हिंसा, राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि कालुष्य समाप्त हो जाते हैं। फलस्वरूप मन अपनी स्वभाविक स्थिति में बना रहता है तथा मानसिक विकारों का शमन हो जाता है।

तीसरे साधन के रूप में पतञ्जलि कहते हैं-कि श्वास को बाहर निकालकर बाहर रोकना चाहिए,[५४] यह प्राणायाम की क्रिया है। इस क्रिया के अभ्यास से हमारी उर्जा का उर्ध्वगमन होना प्रारम्भ हो जाता है, सामान्य स्थिति में हमारी उर्जा की गति सहस्रार चक्र से नीचे के चक्रों की ओर होती है। जब हमारी उर्जा मूलाधार तथा स्वाधिष्ठान चक्र पर क्रियाशील होती तो हमारा मन सांसारिक विषयों में रमण कर रहा होता है। जो मानसिक विकारों का कारण होता है। जब हम श्वास को बाहर निकालकर बाहर ठहराते हैं तो मूलबन्ध एवं उड्डीन बन्ध

---

४७ अनित्याऽशुचिदुःखऽनात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्यातिरविद्या। योगसूत्र २/५
४८ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। योगसूत्र २/६
४९ सुखानुशयी रागः। योगसूत्र २/७
५० दुःखानुशयी द्वेषः। योगसूत्र २/८
५१ स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः। योगसूत्र २/९
५२ तत्प्रतिषेधार्थमेकत्वाभ्यासः। योगसूत्र १/३२
५३ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। योगसूत्र १/३३
५४ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणास्य। योगसूत्र १/३४

पूर्ण रूप से लग जाता है। फलस्वरूप मूलाधार प्रदेश में संकुचन होने के कारण उर्जा का प्रवाह उपर की ओर होने लगता है। और जैसे ही हमारी शारीरिक उर्जा मणिपूर या ऊपर के चक्रों पर सक्रिय होती है तो हमारा मन स्वस्थ होता चला जाता है।

चौथे उपाय के रूप में पतञ्जलि कहते हैं-कि विषयवाली प्रवृत्ति भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।[५५] मन का स्वभाव विषयों की ओर जाना है। इस साधन के अन्तर्गत जब साधक नासिकाग्र, जिह्वा के अग्रभाग, तालु, जिह्वा के मध्यभाग आदि शरीरस्थ स्थानों पर ध्यान का अभ्यास करता है तो उसे दिव्य विषयों की अनुभूति होती है। इनमें मन आसानी से एकाग्र होता हुआ शान्त और निर्मल हो जाता है।

पाँचवे साधन के वर्णन में पतञ्जलि कहते हैं कि शोक रहित ज्योति के ध्यान से भी मन निर्मल हो जाता है।[५६] ज्योति या प्रकाश ज्ञान के प्रतीक है, परमपिता परमात्मा को भी ज्ञानरूप बताया गया है। इसलिए व्यक्ति जब बार-बार ज्योति का ध्यान करता है तो उसके चित्त से अज्ञान रूपी अन्धकार नष्ट होकर ज्ञानरूपी प्रकाश उदित हो जाता है। जो व्यक्ति को विषयों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने में समर्थ हो जाता है, विषयों का यथार्थ ज्ञान होने से क्लेश नष्ट हो जाते हैं तथा मन स्वस्थ हो जाता है।

छठे साधन में पतञ्जलि कहतें हैं कि वीतराग पुरुषों के चित्त का ध्यान करने से भी मन विकार रहित हो जाता है।[५७] जिस प्रकार जल के पास बैठने पर शीतलता तथा अग्नि के पास बैठने पर उष्णता प्राप्त होती है उसी प्रकार वैरागी पुरुषों के चित्त का ध्यान करने पर उन्हीं के समान करुणा, प्रेम, वैराग्य आदि के भाव साधक के चित्त में उदित होते हैं। उसका चित्त शान्त बना रहता है। फिर मन विकार रहित हो जाता है।

सातवें साधन के रूप में योगसूत्र में कहा गया है-कि स्वप्न व निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन भी चित्त को निर्मल करता है।[५८] स्वप्न व निद्रा की स्थिति में पदार्थो का अभाव होता है तथा चित्त एकाग्र होता है। वैसे ही अभाव की भावना सांसारिक विषय्रों में करने से चित्त शान्त होता है। जिससे मनोविकार दूर जाते हैं।

आठवें साधन के अन्तर्गत योगसूत्र में सबसे सरल और सुगम उपाय का वर्णन किया गया है। वह कहा गया है कि जो भी आपका अभीष्ट है उसी का ध्यान करने से चित्त के विकार दूर होते हैं।[५९] किन्तु शर्त यह है कि इस ध्यान में पूर्ण एकाग्रता होनी चाहिए। क्योंकि एकाग्र और स्थिर हुआ मन विषय का साक्षात्कार कराते हुए यथार्थ ज्ञान प्राप्त कराने वाला होता है। जिससे विषयों का तात्त्विक ज्ञान होने पर मन में उनके प्रति आसक्ति का भाव समाप्त हो जाता है। आसाक्ति के समाप्त होने पर राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, आदि दुर्गुण भी समाप्त हो जाते हैं। फलस्वरूप मन के विकार भी समाप्त हो जाते हैं।

उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त योगसूत्र में अभ्यास और वैराग्य को चित्तवृत्ति निरोध का मुख्य साधन माना है।[६०] चित्तवृत्तियाँ ही मन की अस्वाभाविक अवस्था का कारण हैं और इनका निरोध हो जाने पर मन स्वस्थ हो जाता है। जिस प्रकार आयुर्वेद में मानस चिकित्सा प्रकरण में ईश्वर के नाम का जप करना बताया है

---

५५ विषयवती वा प्रवृत्तरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी। योगसूत्र १/३५
५६ विशोका वा ज्योतिष्मती। योगसूत्र १/३६
५७ वीतरागविषयं वा चित्तम्। योगसूत्र १/३७
५८ स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। योगसूत्र १/३८
५९ यथाभिमतध्यानाद्वा। योगसूत्र १/३९
६० अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। योगसूत्र १/१२

वैसे ही योगसूत्र में मन को विकाररहित करने के उपायों में ईश्वर प्रणिधान की मुख्य उपाय के रूप में चर्चा की गयी है।[६१] ईश्वर प्रणिधान के अन्तर्गत ईश्वर के नाम का जप तथा उसके अर्थ की भावना करना बताया है।[६२] योगसूत्र में वर्णित यम[६३] व नियम[६४] भी मन को स्वस्थ बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। योगसूत्र में वर्णित अष्टांग योग के अन्य अंगों की भी मानसिक स्वास्थ में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। योगसूत्र में आसन के अभ्यास से द्वन्द्वों का नाश होना बताया गया हैं।[६५] हठयोगी भी कहते हैं कि आसनों से शारीरिक व मानसिक दृढता[६६] स्थिरता तथा आरोग्यता प्राप्त होती है।[६७] प्राणायाम का शरीर व मन दोनों पर समान रूप से प्रभाव पड़ता है। पतञ्जलि प्राणायाम का लाभ बताते हुए कहते हैं कि प्राणायाम के अभ्यास से चंचल मन में एक जगह स्थिर होने की योग्यता उत्पन्न होती है।[६८] हठयोगी भी कहते हैं कि प्राणवायु के चलायमान होने से मन भी चलायमान होता है, और प्राणवायु के स्थिर होने पर मन भी स्थिर हो जाता है।[६९] चित्त में ज्ञान रूपी प्रकाश के उपर पड़ा हुआ अज्ञानरूपी अन्धकार का आवरण नष्ट हो जाता है।[७०] जिससे मन के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं।

इसी प्रकार योगसूत्र में वर्णित प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि भी मन को निर्मल करने में विशेष भूमिका अदा करते हैं। आधुनिक चिकित्सा पद्धतियाँ या औषधियाँ मन की पूर्ण चिकित्सा करने में समर्थ नहीं हैं। उनसे यदि कुछ लाभ होता भी है तो वे अन्य विघ्नों को उपस्थित कर देती हैं, किन्तु योगसूत्र में वर्णित उपाय सभी विघ्नों को दूर कर मन की स्वास्थ्य प्राप्ति के एकमात्र साधन हैं।

---

६१ ईश्वरप्रणिधानाद्वा। योगसूत्र १/२३
६२ तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगसूत्र १/२८
६३ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योगसूत्र २/३०
६४ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगसूत्र २/३२
६५ ततो द्वन्द्वानभिघातः। योगसूत्र २/४८
६६ आसनेन भवेद् दृढम्। घेरण्ड संहिता १/१०
६७ कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम्। हठयोगप्रदीपिका १/१७
६८ धारणासु च योग्यता मनसः। योगसूत्र २/५३
६९ चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्। हठयोग प्रदीपिका २/२
७० ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। योगसूत्र २/५२

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ० १५९-१६८) ISSN 0974 – 8830

योगविद्या के आलोक में विश्वशान्ति की समस्या

डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य[१]

'विश्वशान्ति' समकालीन युग की एक ऐसी जटिल एवं बहु आयामी समस्या है, जिसने समग्र मानव जाति को अत्यधिक चिन्तन एवं आन्दोलित किया हुआ है। इसका सामान्य अर्थ है-संसार में हिंसा, युद्ध और युद्ध की आकांक्षा का अभाव। जैसा कि दिल्ली-१९८६ की संयुक्त घोषणा में कहा गया है कि **'नाभिकीय युग में....... लोग अधिक सुरक्षित तथा अधिक न्यायपूर्ण समाज में रहना चाहते हैं। ..... यह आवश्यक है कि मौजूदा परिस्थिति को बदला जाये तथा एक मुक्त संसार का हिंसा और भय के संदेह से मुक्त विश्व का निर्माण किया जाये।'**[२] परन्तु यह विश्वशान्ति का नकारात्मक पक्ष है। जिसका दूसरा पक्ष सकारात्मक है, जिसके अन्तर्गत न्याय और विकास जैसे महत्त्वपूर्ण विषय भी सम्मिलित हैं, जैसा कि मार्टिन लूथर किंग का यह कहना है कि 'True peace is not merely the absence of tension, it is the persence of justice'[३] अत एव समग्र दृष्टि से विश्वशान्ति से तात्पर्य है- हिंसा, युद्ध, युद्धजनित तनाव से मानवजाति को बचाना। न्याय और विकास में जनसामान्य की भागीदारी करना।

किन्तु विश्वशान्ति की वर्तमान भयावह समस्या का समाधान 'योगविद्या' के आलोक में खोजने के लिये यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि योग के अर्थ व स्वरूप के ऊपर भी क्रमशः विचार किया जाये। तदानुसार 'योगविद्या' के अन्तर्गत पठित योग शब्द के तीन धातुज अर्थ प्राप्त होते हैं-रुधादिगणीय 'युज' धातु का अर्थ है-संयोग। दिवादिगणीय 'युज' धातु का अर्थ है-समाधि तथा चुरागिदगणीय 'युज' धातु का अर्थ होता है- संयमन।[४] प्रथम व्युत्पत्तिमूलक अर्थ पर योगविद्या के आलोक में विचार करने से पता चलता है कि आत्मा का परमात्मा से मिलना समाधि की अवस्था को योगसूत्रकार ने सिक्के के दो पहलुओं की भाँति निरूपित किया है-१. चित्तवृत्तियों के निरोध की अवस्था।[५] २. दृष्टा का आत्मस्वरूप में अवस्थित हो जाना।[६] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आत्मस्वरूप और परमात्मा बोध के स्वरूप की अवस्था बतलाया है।

समाधि-सम्यक् समाधान की अवस्था है। जिसमें कोई प्रश्न जिज्ञासा या शंका शेष नहीं नहीं रह जाती। वह गूंगे के गुड़ की भाँति आत्मानुभूति की दिव्य स्थिति मानी जाती है। योग के तीसरे अर्थ 'संयमन' को योगसूत्रकार ने **त्रयमेकत्र संयमः**[७] कहकर परिभाषित किया है। जिसमें धारणा, ध्यान और समाधि की एकरूपता प्रदर्शित होती है। वस्तुतः संयमन की उच्च अवस्था में योग अभ्यासी का अपने बाह्य करण-शरीर-ज्ञानेन्द्रिय,

---

१. एसो. प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, गु.का.वि.वि., हरिद्वार ई-मेल- sohanpalarya@yahoo.com
२ गोर्वाचेव मि.: पैरेस्त्रोइका- १९८८, पी.पी.एच., नई दिल्ली, पृ. १५१
३ Wiki Pedia Encyclopedia, Peace.
४ पाण्डेय- रेवती रमण: समग्र योग- प्रथम सं. १९८५, सुरेशोन्मेष प्रकाशन वाराणसी, पृ. २
५ महर्षि पतञ्जलि : योगसूत्र १/२
६ उपर्युक्त १/३
७ उपर्युक्त ३/४

कर्मेन्द्रिय के साथ-साथ अपने अन्तःकरण प्राण, मन, बुद्धि और चित्त की वृत्तियों पर पूर्ण संयम अथवा अनुशासन स्थापित हो जाता है।

परन्तु योग विषयक उपर्युक्त परिभाषाओं पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि ये सभी व्यक्तिगत जीवन पर केन्द्रित है, किन्तु मानव जीवन का दूसरा महत्त्वपूर्ण पहलू समष्टि, समाज से ही सम्बन्धित है। अतः यहाँ योगविद्या के इस पक्ष को दृष्टिगत रखते हुए भी विचार करना आवश्यक है। प्रस्तुत सन्दर्भ में भगवद्गीताकार द्वारा प्रस्तुत निम्न परिभाषायें उपयोगी प्रतीत होती हैं-

१. समत्वं योग उच्यते।[८]

२. योगः कर्मसु कौशलम्।[९]

३. तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।[१०]

प्रथम परिभाषा के आलोक में भगवद्गीताकार का कहना है कि सर्वथा आसक्ति रहित सिद्धि-असिद्धि मे समभाव युक्त होकर कर्तव्य पथ पर आरूढ़ व्यक्ति की अवस्था 'योग' है। एक अन्य श्लोक से समत्व भाव की स्थिति और अधिक स्पष्ट होती है-

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।[११]

अर्थात् सुख-दुःख, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर केवल कर्तव्य भाव से जो कर्म किया जाता है वह 'योग' कहलाता है। जर्मन दार्शनिक ई० कान्ट ने इसी परम अवस्था को 'Duty for duty' बतलाया है। वस्तुतः यह नैतिक जीवन का एक उच्चतम मापदण्ड है। पगे-पगे जिसकी परीक्षा समाजिक जीवन यापन करते हुए ही हो सकती है।

भगवद्गीता की दूसरी परिभाषा से अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति द्वन्द्वों से मुक्त होकर कर्तव्य पथ पर आरूढ़ रहता है। उसको संसार से बांधने वाला हेतु/ आधार ही समाप्त हो जाता है, ऐसी अवस्था में प्रत्येक कर्म अपनी समग्रता पूर्णता में होने लगता है और यही समग्रता कुशलता उसे संसारजनित कर्मबन्धन से मुक्त कर देती है।

तीसरी परिभाषा के अनुसार, जो व्यक्ति दुःखों के आने पर भी उन दुःखों से स्वयं को सर्वथा विमुक्त अथवा अलग रख सकने की योग्यता अर्जित कर लेता है, उस उस अवस्था का नाम योग है। वस्तुतः 'योग' दुःखों से मुक्ति का विज्ञान है। त्रिविध तापों, क्लेशों, भव-बन्धनों से मुक्त होने की कला है। परन्तु यह योगविद्या का आध्यात्मिक आयाम है, जिसका प्रयोग मुख्यतः सनातन, भारतीय परम्परा में होता आया है। इसी कारण योग को 'गुह्य विद्या' 'आत्मविद्या' परमात्म साक्षात्कार मार्ग, मुक्तिशास्त्र एवं परा विद्या[१२] के रूप में होता रहा है। परन्तु योगविद्या का दूसरा आयाम है-इस विद्या का लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिये प्रयोग। जैसा कि वर्तमान काल में यह आयाम विभिन्न क्षेत्रों के माध्यम से प्रमुखता से दिनों-दिन तीव्रता से उभर कर

---

८ श्रीमद्भगवद्गीता २/४८

९ उपर्युक्त २/५०

१० उपर्युक्त ६/२३

११ उपर्युक्त २/३८

१२ उपनिषद् अंक (कल्याण) पांचवाँ सं. २०५७, गीताप्रेस गोरखपुर, मुण्डको. १/४

सामने आ रहा है। उदाहरणतः शरीर-सरंक्षण, स्वास्थ्य संवर्धन, शरीर सौष्ठव, रोग-निवारण,[१३] सौन्दर्य संवर्धन मनोरोग चिकित्सा आदि।

परन्तु इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि यह आयाम सर्वथा आधुनिक हो और योग के प्राचीन एवं मध्य युगीन आचार्य इससे सर्वथा अनभिज्ञ रहे हों। वास्तविकता तो यह है कि महर्षि पतञ्जलि योग के लौकिक प्रयोग को न केवल विस्तार से जानते थे, अपितु उन्होंने लोकजनित सिद्धियों, विभूतियों के माध्यम से इस पक्ष की ओर यथेष्ट ध्यान भी दिया है।[१४] परन्तु योगजनित लौकिक सिद्धियाँ व्यक्ति के लौकिक आकर्षण का एक बड़ा कारण बन सकती हैं। मनुष्य की सांसारिक रागात्मकता उसे लौकिक सिद्धियों के मार्ग पर केन्द्रित कर सकती है। इस आंशका के दृष्टिगत उन्होंने सिद्धियों को आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बाधक मानते हुए हेय दृष्टि से देखना श्रेयकर समझा है। इसीलिये लौकिक सिद्धियों की बजाय योग के मुक्तिमूलक आयाम को ही पूर्ण महत्ता प्रदान की है। योगसूत्र का समापन सम्बन्धी सूत्र भी इस तथ्य की पुष्टि करता है।[१५]

परन्तु जहाँ तक विश्वशान्ति का प्रश्न है जिससे आज मानव जाति का अस्तित्व, स्थायित्व एंव उज्ज्वल भविष्य का प्रश्न अनिवार्यतः जुड़ चुका है। उसे दृष्टिगत रखते हुए विश्वशान्ति के संरक्षण का मुद्दा आज मानव जाति की प्राथमिकता की सूची में आ चुका है। इसी परिप्रेक्ष्य में, योगविद्या के आलोक में यहाँ सूत्र रूप में विचार हेतु चिन्तन-मनन प्रस्तुत है।

उल्लेखनीय है कि विश्वशान्ति बहु आयामी समस्या है, जिन्हें दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है-१. व्यक्तिगत, २. व्यवस्थागत। 'व्यक्तिगत' आयाम के अन्तर्गत मनुष्य के संस्कार जीवन शैली, दृष्टिकोण एवं उनका निर्माण करने वाली शिक्षा आदि को रखा जा सकता है। विश्वशान्ति की दृष्टि से मनुष्य का विवेकशील, संवेदनशील सहिष्णु एवं परहित चिन्तन होना अनिवार्य है, अन्यथा, इनके अभाव में मनुष्य विश्वशान्ति के लिये तब अधिक खतरा साबित हो सकता है, जब वह किसी राष्ट्र-राज्य के महत्त्वपूर्ण पद पर विराजमान भी हो। यह सर्वविदित सच्चाई है कि युद्धप्रियता सत्ता विस्तारवाद पर आधारित दर्शन विश्वशान्ति के लिये सबसे बड़ा खतरा है। विगत दो विश्व युद्धों के मूल में निहित नाजीवाद, फाँसीवाद की भूमिका आज किसी से छिपी नहीं रह गयी है। अतः विश्वशान्ति की दृष्टि से मैत्री भाव एवं सहिष्णुता पर आधारित जीवन दर्शन की नितान्त आवश्यकता है।[१६]

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा[१७] आदि सिद्धान्तों पर आधारित जीवन प्रस्तुत संदर्भ में कारगर समाधान सिद्ध हो सकता है। क्योंकि आसक्ति, क्रोध, लोभ एवं अहंकार आदि मनोभाव जब समाज में निर्णायक भूमिका प्राप्त कर लेते हैं। तब शान्ति, मानवता एवं समष्टि हितों का खतरे में पड़ना स्वाभाविक है। योग इस मनोविज्ञान को पूर्णतः बदल देता है। योग चित्तवृत्तियों की एकाग्रता एवं

---

१३ (प्रो.) सिंह रामहर्ष : योग एवं यौगिक चिकित्सा- १९९९, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नामक ग्रन्थ उदाहरणतः प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।

१४ पतञ्जलि- योगसूत्र 'विभूतिपाद' दृष्टव्य।

१५ उपर्युक्त ४/३४

१६ यदि यूनानी दार्शनिक प्लेटो द्वार प्रस्तुत 'दार्शनिक शासक' का विचार विश्व शान्ति के सन्दर्भ में उपयोगी सिद्ध हो सकता है तो शासक को दार्शनिक बनाने योग विद्या क्या भूमिका हो सकती है यह प्रश्न अलग से अध्ययन मनन की अपेक्षा रखता है- डॉ. सोहन पाल सिंह आर्य

१७ महर्षि पतञ्जलि, उप. १/३३

निरोधावस्था का लक्ष्य सामने प्रस्तुत करता है।

जैसा कि योगसूत्रकार ने प्रतिपादित किया है। इसके साथ-साथ द्वन्द्वों में फंसे सामान्य जन, नेता, राष्ट्राध्यक्ष के सम्मुख यह दर्शन समत्व भाव का लक्ष्य प्रस्तुत करता है। इसी के साथ-साथ योग ईश्वर सत्ता की स्वीकृति पर आधारित जीवन दर्शन एवं शैली भी अनुकरण हेतु सामने रखता है। जिसे जीवन में धारण करने से घृणा, मोह एवं शोक[१८] आदि मनोविकार किसी को भी विचलित नहीं कर पाते। यदि जन सामान्य के साथ-साथ शासक भी योगमूलक जीवन यापन करेंगे तो विश्वशान्ति के संरक्षण में यह निर्णायक आधार सिद्ध हो सकता है।

इस दृष्टि से देखने पर हम यह कह सकते हैं कि योग के माध्यम से रचनात्मक चिन्तन एवं दृष्टिकोण का निर्माण सम्भव है। जन-जन को योग शिक्षा से जोड़कर विश्वशान्ति के संरक्षण हेतु विश्व जनमत का निर्माण किया जा सकता है, जो इस समस्या के समाज सापेक्ष पहलू से सम्बन्धित है और इस समस्या के समाधान का स्थायी साधन सिद्ध हो सकता है।

विश्वशान्ति की दिशा में दो प्रमुख सिद्धान्त प्रस्तुत किये जा रहे हैं-१. शक्ति संतुलन का सिद्धान्त, २. व्यवस्था परिवर्तन का सिद्धान्त। इन दोनों सिद्धान्तों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर इनकी सीमा एवं गुण दोषों पर भलीभांति विचार किया जा सकता है। तत्पश्चात् योगमूलक सिद्धान्त की उपयोगिता भलीभांति स्पष्ट की जाती है।

१. शक्ति संतुलन का सिद्धान्त-यह सिद्धान्त शीत युद्ध के दौरान पूंजीवादी राष्ट्रों के द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह सिद्धान्त विश्वशान्ति की समस्या को पूर्णतः सामरिक दृष्टि से देखने पर आधारित है। इसके अनुसार विश्व-शक्तियों अथवा क्षेत्रीय शक्तियों में युद्ध सम्बन्धी क्षमताओं में संतुलन आवश्यक है, अन्यथा संतुलन भंग होने की स्थिति में सबल राष्ट्र या राष्ट्रसमूह अपेक्षाकृत दुर्बल के अस्तित्व, सुरक्षा एंव विकास के लिये खतरा बन सकता है। इस सिद्धान्त की उपयोगिता यह है कि दूसरे महायुद्ध के पश्चात् कोई भी विश्वशक्ति या क्षेत्रीय शक्ति टकराव, युद्ध के निर्णायक बिन्दु तक पहुंचने से बचती रही है।[१९]

वस्तुतः शक्तिसंतुलन का सिद्धान्त विश्व में परमाणु शस्त्रास्त्रों के विशाल भंडारण की वास्तविकता एवं स्वीकृति पर आधारित है। परन्तु इस सिद्धान्त का सबसे विनाशक उल्लेखनीय पहलू यह है कि शक्ति संतुलन को अपने पक्ष में झुकाने हेतु विश्व के विभिन्न राष्ट्र/ शक्तियाँ सामरिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा की नीति अपनाने को प्रेरित हो रहे हैं और उसी का यह दुष्परिणाम है कि विश्व के विभिन्न देशों के पास परमाणविक शास्त्रास्त्रों का इतना विशाल भंडारण हो गया है कि अनेक बार समूची मानव सभ्यता उनसे भी नष्ट की जा सकती है। अतः विश्वशान्ति की स्थापना के स्थान पर शक्ति संतुलन का सिद्धान्त विश्वशान्ति के लिये और अधिक खतरनाक, सर्वनाशकारी चुनौती बन कर सामने आया है। वर्तमान विभाजित विश्व को और अधिक विभाजन से रोकने के लिये समूची मानव जाति को एक जुट करने वाले वैकल्पिक सिद्धान्त की नितान्त आवश्यकता है और ऐसा

---

१८ उपनिषद् अंक (कल्याण) उप) ईशोपनिषद्- मंत्र सं. ६ एवं ७

१९ शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त ने विश्व के विभिन्न देशों के मध्य एटमिक शस्त्रास्त्रों को कितनी तीव्र गति से बढ़ावा दिया है, यह उनके एटमिक भण्डारण पर दृष्टिपात करके भली प्रकार समझा जा सकता है। उदारहरणतः रूस / यू.एस.एस.आर. ४५०० अमेरिका ३२००, फ्रांस २५०, इंग्लैंड २०० और चीन १६०। अब भारत पाकिस्तान उ. कोरिया और ईरान भी इसी दिशा में अग्रसर हैं। (लेखक)

सिद्धान्त जो सबके साँझे हित, सुरक्षा एवं अस्तित्व का दार्शनिक आधार भी बन सके।[२०]

इस दिशा में शोध मूलक दृष्टि से विचार करने पर योग की उपयोगिता सामने आती है। कारण यह है कि योग का तत्वदर्शन सार्वभौमिकता पर आधारित है। किसी सम्प्रदाय, क्षेत्र की सीमा से सर्वथा मुक्त है। पुरुष विशेष-सर्वज्ञ ईश्वर, चेतन, पुरुष एवं जड़ त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका तात्विक आधार है। इसके अतिरिक्त योग की पद्धति भी किसी मत सम्प्रदाय से प्रभावित न होकर योगसाधना की सर्वाङ्गीण वैज्ञानिक पद्धति है। पतञ्जलि प्रणीत अष्टांग योग, क्रिया-योग, अभ्यास-वैराग्य और ईश्वर प्रणिधान-ये सभी साधना पद्धतियाँ स्तर एवं पात्र भेद के अनुसार अपनायी जा सकती हैं[२१] और शान्ति के प्राप्तव्य लक्ष्य को सिद्ध किया जा सकता है। जन-जन में शान्ति के संचार-प्रसार का योग महत्त्वपूर्ण साधन बन सकता है।

परन्तु विभिन्न देशों एवं शक्तियों का नेतृत्व वर्ग भी शान्त हो, यह भी विश्व-शान्ति की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण आधार माना जा सकता है। अन्यथा अशान्त मस्तिष्क, अशान्तिकारक निर्णय, नीति, कार्यक्रम की ओर प्रवृत्त होता रहेगा। अतः विश्वशान्ति के लिये शक्ति संतुलन सिद्धान्त की अपेक्षा योग एक स्थायी सर्वस्वीकार्य सिद्धान्त बन सकता है।

२. व्यवस्था परिवर्तन का सिद्धान्त-यह सिद्धान्त साम्यवादी दर्शन की देन है। इस सिद्धान्त की आधारभूत मान्यता है कि कोई भी युद्ध या संघर्ष पूंजीवादी व्यवस्था के आन्तरिक टकराव का परिणाम होता है इसीलिये युद्ध, महायुद्ध और हथियारों की होड़ से बचने का एकमात्र उपाय है-पूंजीवादी व्यवस्था में आमूल परितर्वन करना और वर्गविहीन समतामूलक समाज की स्थापना करना। इसीलिये साम्यवाद के समर्थक विश्वशान्ति के लिये व्यवस्था परिवर्तन को अनिवार्य मानते हैं। परन्तु इस तथ्य को अनदेखा कर जाते हैं कि वर्तमान विश्व में सशस्त्र संघर्ष के जरिये शान्ति स्थापना का लक्ष्य पाना असम्भव है, क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया का होना सार्वभौम नियम है, युद्ध से युद्ध उत्पन्न होगा, युद्ध भय से भयमुक्ति के उपाय होंगे। क्रोध या आक्रोश युद्ध के आधार बनेंगे।[२२]

इसके अलावा-इस सिद्धान्त के प्रतिपालक इस वास्तवकिता को अनदेखा कर जाते हैं कि विश्वशान्ति मात्र व्यवस्थागत समस्या नहीं है। यदि यह समस्या व्यवस्थागत मात्र होती तो पूर्व सोवियत संघ और कम्युनिस्ट चीन में परस्पर तनातनी नहीं होती और चीन पूंजीवादी खेमे की ओर सहयोग का कदम न उठाता। प्रस्तुत सन्दर्भ में जहाँ तक योग की उपयोगिता का प्रश्न है, शोधपरक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि योग के आधार पर सम्पूर्ण विश्व में एक ऐसी मानवतावादी योगमूलक व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। जो मूलतः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह जैसे सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित हो। सत्य पर आधारित नीति, कार्यक्रम एवं व्यवस्था पारदर्शिता को अपनाती है। पारदर्शिता से पर-विश्वास बनता है, उससे अविश्वास शंकाजनित धारणा व आकलन ध्वस्त होते हैं। फलतः सत्य स्थायी शान्ति का आधार बनता है। आ

---

२० जबकि समूचा विश्व सर्वनाश के ढेर पर खड़ा हो, हिंसा, सशस्त्र वर्गसंघर्ष की बात ही अर्थहीन होने लगी है। (डॉ.) आर्य सोहनपाल सिंह: कार्लमार्क्स और ऋषि दयानन्द - तुलनात्मक अध्ययन २००२-०३ अम्बिका पुस्तक सदन (प्रकाशन) ज्वालापुर, हरिद्वार पृ. ३२१

२१ महर्षि पतञ्जलि: उप. २/३०

२२ राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन कालीन इराक में जैविक हथियारों की मौजूदगी के खतरे ने वर्षों तक अमेरिका समेत गठबन्धन राष्ट्रों को युद्ध में उलझाये रखा।

दुनिया में बहुत सारे युद्ध/संघर्ष अविश्वास के कारण भी हैं।

इसी तरह अहिंसा की घोषित नीति 'अहिंसा' को प्रोत्साहित करती है। विगत में अशोक महान् और महात्मा गाँधी की 'शान्ति नीति' इसके प्रमाण हैं। इसी क्रम में यदि संयम एवं असंग्रह की नीति का अनुसरण किया जाये तो इससे न केवल विश्वशान्ति के स्थायित्व का मार्ग प्रशस्त होगा, अपितु पर्यावरण संकट के समाधान की दिशा में मानव जाति तेजी से अग्रसर होगी। पर-पदार्थ के हरण की कामना बहुत सारे सामाजिक अनर्थों की जड़ है। यदि अस्तेय पर आधारित नीति एवं व्यवस्था अपनाने में मानव जाति सफल हो जाती है और जिसकी वर्तमान सन्दर्भ में नितान्त आवश्यकता भी है तो व्यवस्था मूलक परिवर्तन में योग के इन आधारभूत मार्गदर्शक सिद्धान्तों की कारगर भूमिका हो सकेगी।

व्यक्ति परितर्वन एवं योग-व्यवस्था परिवर्तन के अलावा विश्वशान्ति के लिये व्यक्ति में योग मूलक परिवर्तन भी अनिवार्य हैं, अन्यथा विश्वशान्ति का लक्ष्य अप्राप्तव्य रहेगा। युद्ध, हिंसा, हिंसाजनित तनाव किसी भी युद्ध के प्रत्यक्ष कारण हो सकते हैं, परन्तु अन्तर्निहित कारण के रूप में कारण लोभ, अहंकार इत्यादि मनोभाव भी अनिवार्यतः उपस्थित रहते हैं। भगवद्गीताकार ने क्रोध का मनोविश्लेषण करते हुए कहा है कि क्रोध का मूल कामना है, क्योंकि उसकी पूर्ति में विघ्न पड़ जाने से क्रोध की उत्पत्ति होती है। क्रोध के कारण विवेक भी नष्ट हो जाता है। विवेक के विनाश से सर्वनाश की पृष्ठभूमि बन जाती है। समय-समय पर विभिन्न देशों अथवा राष्ट्र समूहों के मध्य होने वाले युद्धों और उससे जनित खतरों का इसके अलावा अन्य कोई प्रमुख कारण नहीं हो सकता है।

दूसरे विश्व युद्ध की पृष्ठभूमि को सामने रखकर इस विशेषण की सत्यता का महत्त्व समझा जा सकता है। जहाँ तक योग के आलोक में क्रोध एवं कामना के संयमन का प्रश्न है। योग के अनुसार इसका सम्यक् समाधान यह है कि इनकी उत्पत्ति रजोगुण से होती है। रजोगुण-त्रिगुणात्मक प्रकृति का एक अंग है और मनुष्य की संसार में राजसी परिवर्तनों का मूल कारण है।

योगसाधना के माध्यम से प्रकृति के तीनों गुणों का साक्षात्कार किया जा सकता है, तब रजोगुण मनुष्य के विवेक को बाधित नहीं कर पाता और योगी पूर्ण संयम शान्ति, निर्भयता के जीवन धरातल पर प्रतिष्ठित हो जाता है तथा जन समाज में भी इन गुणों के प्रसार का संवाहक बन जाता है।[२३]

वस्तुतः विश्वशान्ति के लिये हिंसापूजक मनोवृति, भोगवाद, सत्ता-विस्तारवाद श्रेष्ठता मूलक अहंवाद और असत्य, षड़यन्त्र पर आधारित सोच, जीवन-शैली, एवं व्यवस्था सबसे बड़ा खतरा है। योग के माध्यम से न केवल उपर्युक्त विकृतियों, दोषों एवं सर्वनाशक कारणों से मानव जाति की रक्षा की जा सकती है, अपितु विश्व भातृभाव पर आधारित सच्चे अहिंसक, संवेदनशील, विवेकवान्, आत्मोन्मुख, परमात्मसमर्पित मानव समाज का निर्माण भी सम्भव है।

---

२३ उपनिषद् अंक (कल्याण) उप) ईशोपनिषद्- मंत्र सं. ६ एवं ७

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१६५-१७२) ISSN 0974 – 8830

सृष्टिप्रक्रिया : शास्त्रीय सन्दर्भ

डॉ० ईश्वर भारद्वाज[1] मलिक राजेद्र प्रताप[2]

वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से लेकर आधुनिकतम वैज्ञानिकों के गूढ़तम प्रयास सृष्टि के विषय मे जानकारी जुटाने में प्रयत्नशील हैं। किन्तु जगन्नियन्ता परमात्मा की इस सृष्टि का पार पाना असम्भव नहीं ते दुस्तर अवश्य है। वेदों में सृष्टि प्रक्रिया के विषय में अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं।

परमात्मा के गर्भ से ही इस सृष्टि का उद्भव हुआ है, ऐसा हिरण्यगर्भ सूक्त से प्रतीत होता है। वह सब सूर्यादि पदार्थो का आधार इस जगत् का एक अद्वितीय पति परमेश्वर है।[3] पुरुष सूक्त में तो उस परमात्म की एक विराट् पुरुष के रूप में कल्पना, सृष्टि के समस्त तत्त्वों की व्याख्या ही है। वही इस भूत, भविष्यत् औ वर्तमानस्थ जगत् को बनाने वाला है। यह समस्त जगत् पुरुषमय ही है। उस विराट् पुरुष का रूप ही है यह जगत्।[4] अथर्ववेद में तो संसार की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि इस संसार की उत्पत्ति जल से हुई। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन ईश्वर, जीव व प्रकृति-निमित्त, साधारण व उपादान कारण र माना है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इस तथ्य को बड़ी ही तात्विक दृष्टि से दिया गया है। यहाँ सृष्टि विवेच बड़ी ही सूक्ष्मता से हुआ है। सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व प्रलय काल में न तो शश शृंगवत् सृष्टि का सर्वथा अभाव थ न ही वर्तमान काल की तरह जगत् की सत्ता थी। न कोई लोक था, न वह आकाश था जो सबसे अधिक सूक्ष है। उस समय कहा क्या आच्छादित था? किसके आश्रय से था? उस समय तो यह भोक्ता जीव भी न थ यह गहन प्रदेश तथा अगाध समुद्र किस देश में था अथवा क्या उस समय यह दुष्प्रवेश्य तथा अगाध, गम्भी था।[5]

उस समय प्रलयकाल में न मृत्यु थी न अमरण अर्थात् जीवन था। रात्रि या दिन का भी भेद ज्ञान नह था। वह अद्वितीय प्रसिद्ध ब्रह्म ही अपनी कारण रूप (स्वधा) प्रकृति के साथ बिना वायु के ही सांस ले रहा थ अर्थात् जीवित था। उससे अलग दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं था।[6]

उस समय अन्धकार से व्याप्त अव्यक्त प्रकृति थी और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समा एकाकार था। जो तुच्छ था। (ब्रह्म के सम्मुख प्रकृति तुच्छ है)। वह प्रकृति परमात्मा के तप से एक अर्था

---

१. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.

२. शोधछात्र, मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.

३. ऋग्- १०/१२१

४. यजु० १-२२

५. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ऋ०१०/२९/१

६. न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः। आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं च नास ऋ०१०/१२९/२

व्यक्त सी होने लगी।[७]

क्योंकि पूर्व जन्म का किया हुआ, जगत् उत्पत्ति का बीजरूप जीवों का कर्म विद्यमान था। इसलिए सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ में परमात्मा के मन में जगत् को बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई अर्थात् जीवों के पूर्व के जन्मों के कृतकर्मों को जो वस्तुत: इस जगतोत्पत्ति के कारण हैं, को देखकर परमात्मा के मन में इस संसार को उत्पन्न करने की इच्छा हुई।[८] तात्पर्य यह है कि यह जगत् परमात्मा ने जीवों के कर्म के फलस्वरूप बनाया है। इस प्रकार ज्ञानी लोगों ने मननशील बुद्धि से मन में विचार करके सत् रूप में विद्यमान अर्थात् इस विद्यमान कार्य रूप में दिखाई देनेवाले जगत् के कारण को सत् से विलक्षण कारण रूप मूल प्रकृति में जाना।

इस प्रकार सृष्टि प्रक्रिया का यह गूढ़तम ज्ञान अविज्ञेय है। इसको जानकर ही मनुष्य विज्ञानी हो जाता है। जीवन और मृत्यु का प्रवाह अनादि है। प्रलय और सृष्टि का प्रवाह भी चक्रवत् है। उपनिषदों में भी सृष्टि के गूढभावों को उद्घाटित करते हुए ऋषियों ने अप्रतिम अनुसन्धान की दृष्टि से इसका मूल्यांकन किया है। उपनिषदों में जो सृष्टि सम्बन्धी विचार प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं-

तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन इस प्रकार हुआ है कि उस ब्रह्म रूप निमित्त कारण से आकाश उत्पन्न हुआ। पृथिवी, जल, तेज, वायु के परमाणु प्रलयावस्था में सर्वत्र व्याप्त थे। सृष्टि उत्पत्ति करने हेतु ब्रह्म ने उन परमाणुओं को गति दी। गति से वे परमाणु संकुचित हुए। उससे आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश उत्पन्न होने के अनन्तर संकुचित परमाणुओं से बनी गैसें आकाश में पैंल गई अर्थात् वायु उत्पन्न हो गया। वे वायवें व गैसें ज्वलनशील होने से जल उठी, इससे अग्नि उत्पन्न हो गयी। आग्नेय द्रव्य को जब ठण्ड मिलती है तब वह द्रव्य रूप पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। अग्नि पैदा होने के पश्चात् 'आप:' जल या द्रव पदार्थ उत्पन्न हुआ। द्रव पदार्थ ठण्ड पाने पर ठोस आकार धारण कर लेता है। इस प्रकार जलों की उत्पत्ति के अनन्तर पृथिवी उत्पन्न हुई। पृथिवी में से औषधियाँ निकली। औषधियों से अन्न की उत्पत्ति हुई। अन्न को मनुष्यों ने खाया उससे स्त्री और पुरुषों के शरीर में 'रेतस्' (रज व वीर्य) की उत्पत्ति हुई। रज और वीर्य के सम्पर्क से माता के गर्भ से (पुरुष) उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह पुरुष अन्नरसमय है अर्थात् अन्न के रस से बना है।[९]

ऐतरेयोपनिषद् के अनुसार सृष्टि उत्पन्न होने से पहले एक परमात्मा ही विद्यमान था। परमात्मा ने सोचा कि लोकों की रचना करूँ।[१०] उसमें 'अम्भ', मरीचि, मर और आप: लोक की रचना की।[११] लोकों के बाद लोक पालों को रचा। उसीने प्रकृति में से (आप: में से) विराट् पुरुष को निकाल कर मूर्त रूप दिया।[१२] उसने उसे तपाया तो मुख से वाणी, वाणी से अग्नि, नासिका से प्राण तथा प्राण से वायु, चक्षु से आदित्य। उसके कर्ण छिद्र फूटे, इससे श्रोत्र इन्द्रिय श्रोत्र से दिशाएँ। उसकी त्वचा फूटी, त्वचा से लोम निकले, लोमों से औषधि

---

७. तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्।। ऋ० १०/१२९/३

८. कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्। सतो बधुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।। ऋ०१०/१२९/४

९. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: सम्भूत:। आकाशाद् वायु। वायोरग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या औषधय:! औपधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद् रेत:। रेतस: पुरुष:। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:।। तै०उप० ब्रह्मानन्द वल्ली-१

१०. ओम्। आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।।१।। ऐत०उप०१.१

११. स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीमरिमाप:। अदोऽम्भ: परेण दिवं द्यौ: प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचय: पृथिवी मरो, या अधस्तात् ता आप:।। ऐत०उप० १/१/२

१२. स ईक्षतेमे नु लोका:। लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्यो एव पुरुषं समुद्धृत्या मूर्च्छयत्।। १/१/३

वनस्पति। उसका हृदय फूटा, हृदय से मन निकला, मन से चद्रमा। उसकी नाभि फूटी- नाभि से अपान निकला, अपान से मृत्यु। उसका शिश्न फूटा, शिश्न से वीर्य निकला और जलरूप में परिणत हो गया।[१३]

बृहदारण्यक उपनिषद्

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋग्वेद के नासदीय सूक्त की परिकल्पना का पूर्ण समर्थन किया गया है। अथर्ववेद में भी असत् का वर्णन सत् के साथ हुआ है।[१४] उपनिषदों में असत् से सत् को उत्पन्न माना है। इस सत् ने ही अपने को रचा, इसलिए यह सुकृत है।[१५] सत् जब अंकुरित तथा अण्डा होकर फूटा तब उसके दो खण्ड हुए और वे ही रजत और स्वर्ण रूप हो गए।[१६] रजत खण्ड ही पृथ्वी और स्वर्ण द्युलोक है।[१७] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी 'नैवेह किञ्चित्' के रूप में प्राप्त असद्वादी विचारधारा में आप: की सृष्टि मानी है, इसका स्थूल भाग ही पृथिवी है।[१८] बृहदारण्यक उपनिषद् आत्मा से भी सृष्टि उत्पत्ति का उल्लेख करती है। सब से प्रथम आत्मा ही पुरुषाकार था।[१९] उसने सर्वत्र दृष्टि दौड़ाई, अपने को एकाकी पाया, अत: दूसरे की चाहना की। उसी आत्मा ने अपने को स्त्री और पुरुष दो रूपों में विभक्त किया! इसी युगल से मनुष्य हुए।[२०] ह्रीयुता स्त्री ने अपने को गौ, गर्दभ आदि रूपों में छिपाया। पिपिलिका से लेकर स्त्री-पुरुष पर्यन्त जो भी सृष्टि है, वह इसी के द्वारा हुई है।[२१] ऐतरेय उपनिषद् में भी आत्मा से जगदुत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है।[२२] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् जगदुत्पत्ति में ब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता को भी स्वीकारती है। ब्रह्म से ही भूत उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा जीते हैं, जिसमें चले जाते हैं तथा प्रविष्ट हो जाते हैं वही ब्रह्म है।[२३] ब्रह्म से ही सृजन, पोषण और विलयन होता है।[२४] सृष्ट्युत्पत्ति में पंच महाभूतों का अपना अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। प्राय: सभी उपनिषदों में इन भूतों से पृथक्-पृथक् सृष्टि विषयक अवधारणा प्राप्त होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार प्रारम्भ में केवल अप् (जल) था। उसी से सत्य, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म से प्रजापति और प्रजापति से सम्पूर्ण देवों का उद्भव हुआ।[२५]

---

१३. तमभ्यतपत् तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत, यथाण्डं, मुखाद् वाग्, वाचोऽग्नि:। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राण:, प्राणाद् वायु। अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षीभ्यां चक्षु:, चक्षुप आदित्य:। कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद् दिश:। त्वङ् निरभिद्यत, त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतय:॥ ऐत०उप० १/१/४

१४. असच्च यत्र सच्चान्त: स्कम्भं तं ब्रूहि कतम: स्विदेव स:॥ अथर्व० १०/७/१०

१५. तै०उप० २/७/१

१६. छा०उप० ३/१९/१

१७. छा०उप० ३/१९/२-३

१८. नैवेह किञ्चनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमा कृतमासीत्॥ शांकरभाष्य वृ०उ० १/२/१

१९. आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविध:॥ बृह०उप० १/४/१

२०. बृ०उप० १/४/३

२१. बृ०उप० १/४/४

२२. ऐत०उप० १/२/१-४

२३. तैत्ति०उ० ३/१०

२४. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जालानिति॥ छां०उप० ३/१४/१

२५. आप एवेदमग्र आस। ता आप: सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान्। ते देवा: सत्यमेवोपासते॥ बृह०उप० ५/५/१

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में सर्वर्ग विद्या प्रकरण में वायु में ही अग्नि, सूर्य जल का समाहरण और इसीसे सभी तत्त्वों के प्रादुर्भूत होने का कथन है।[२६]

गीता में सृष्टि रचना

गीता में जगत् रचना के विषय में इस प्रकार उल्लेख प्राप्त होता है। महाराज कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मेरा आश्रय करके ही प्रकृति चराचर सहित सब जगत् को रचती है, इसी कारण जगत् परिवर्तित हो रहा है।[२७] क्योंकि चेतन तत्त्व से ही इस मूल प्रकृति में एक प्रकार का क्षोभ होकर सत्व में क्रिया मात्र रज का और उस क्रिया को रोकने मात्र तम का प्रथम विषम परिणाम हो रहा है, जो महत्तत्त्व समष्टि रूप में एक विशुद्ध सत्वमय चित्त और व्यष्टि रूप में अनन्त सत्व चित्त है। जिसमें कर्तापन का अहंकार बीज रूप में छिपा है।[२८]

कृष्ण कहते हैं कि मेरी योनि (गर्भ रखने का स्थान) महत्तत्त्व है। उसी में मैं गर्भ रखता हूँ। (अपने ज्ञान का प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड़ चेतन) के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। हे अर्जुन सब योनियों में जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीज को डालने वाला मैं (चेतन तत्त्व) पिता हूँ।[२९]

ऊपर की पंक्तियों में जिस मूल प्रकृति का उल्लेख हुआ है उसके विकारों की चर्चा करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि- हे अर्जुन! प्रकृति और जीवात्मा इन दोनों को ही तू अनादि जान और राग द्वेष आदि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जान[३०] अर्थात् प्रकृति के इन तीन गुणों के द्वारा उत्पन्न विकार प्रकृति की ही उपज हैं तथा जीवों के सारे विकार तथा शरीर के कारण हैं। यथा- कार्य और करण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति ही कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखों के भोक्तापन में अर्थात् भोगाने में हेतु कहा जाता है।[३१]

यहाँ 'कार्य' और 'करण' शब्द से- आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाँचों महाभूत, सूक्ष्म महाभूतों के तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध - ये पाँचों इन्द्रियों के विषय इन दसों का वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है। बुद्धि, अहंकार और मन- ये तीनों अन्तःकरण, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण- ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा- ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ इन तेरह का वाचक यहाँ 'करण' शब्द है। इस प्रकार उपरोक्त तत्त्व प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृति ही इनका उपादान कारण है; इसलिए प्रकृति को इनके उत्पन्न करने में हेतु बतलाया गया है।

इनमें एक से दूसरे की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार है- प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार और अहंकार से पाँच सूक्ष्म महाभूत, मन और दस इन्द्रियाँ तथा पाँच सूक्ष्म महाभूतों से पाँचों इन्द्रियों के शब्दादि पाँचों स्थूल विषयों की उत्पत्ति मानी जाती है।

---

२६. छां० उपनिषद् ४/३/१-२

२७. मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ गीता० ९/१०

२८. मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ गीता १४/३

२९. सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ गीता १४/४

३०. प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ गीता १३/१९

३१. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुप्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ गीता १३/२०

श्रीमद्भागवत पुराण

श्रीमद्भागवत पुराण के अनुसार प्रकृति में लीन हुए गुण जब क्षुब्ध होते हैं, तब महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व से राजस, तामस वैकारिक वृत अहंकार की उत्पत्ति होती है, और त्रिवृत अहंकार से पंचतन्मात्राओं इन्द्रियों और विषयों की उत्पत्ति होती है। इसी उत्पत्ति क्रम को सर्ग (सृष्टि) कहते हैं।[३२]

आयुर्वेद

आयुर्वेद शास्त्र में भी सृष्टि प्रक्रिया का कुछ सीमा तक सांख्य शास्त्र से साम्य है। आयुर्वेद शास्त्र में सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण सांख्य की भांति अव्यक्त माना गया है। उस अव्यक्त तत्त्व से अन्य सभी तत्त्वों की उत्पत्ति एवं सृष्टि के विकास का विवेचन महर्षि चरक ने अत्यन्त सुन्दर रूप में किया है। आयुर्वेद के मत में सृष्ट्युत्पत्ति क्रम में चौबीस तत्त्वों का संयोग होता है। यथा- ख आदि अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पाँच महाभूतों के अंश तन्मात्राएँ, बुद्धि (महान्) अव्यक्त (मूल प्रकृति) और अहंकार ये आठ तत्त्व मूल प्रकृति कहलाते हैं। विकार सोलह होते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ मन और उसके साथ पाँच अर्थ ये विकार कहलाते हैं।[३३]

सुश्रुत में भी चरक संहिता के सदृश चौबीस तत्त्वों को ही माना है। सुश्रुत संहिता शरीर स्थान में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन निम्न प्रकार मिलता है। यथा मूल प्रकृति (सगुण आत्मा), महत्तत्त्व, अहंकार, पंचतन्मात्राएँ, पंच महाभूत ग्यारह इन्द्रियाँ।

नन्दीपुराण

नन्दीपुराण की मान्यता है कि यह सारा चराचर ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। उस एक तत्त्व से सत्, रज, तम ये तीन गुण उत्पन्न हुए। सबसे पहले भगवान् ने आकाश को उत्पन्न किया। वायु के विकार से यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। इन सारे भूतों और गुणों से ही इस पृथ्वी का उद्भव हुआ, उन पाँच तन्मात्राओं का मिश्रण रूप ही यह संसार है। दस विकार इन्द्रियाँ हैं और ग्यारहवां विकार मन है। इनमें कान, त्वचा, जिह्वा, नासिका और आँख ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ है। इन सबमें सत्-रज-तम तीन गुण हैं। सृष्टि के लिए इन सबका संघात आवश्यक है। यह तत्त्व विशेष से प्रकृति विशेष होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का आश्रय खोजते हैं। वे महत् आदि तत्त्व को मिलाकर अण्ड का उत्पादन करते हैं। फिर धीरे-धीरे पानी के बुलबुले के समान बड़े होते हैं। इन अण्डों में पाँच महाभूत विद्यमान हैं। उन अण्डों के अन्दर ही सभी देव, राक्षस और मनुष्य विद्यमान रहते हैं। रजोगुण से युक्त देव ही विष्णु है। ये ही ब्रह्मा का रूप धारण करके इस संसार की सृष्टि करते हैं।[३४]

---

३२. श्रीमद्भागवत पुराण १२/७/११

३३. खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाऽष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकारश्चैव षोडशः॥ बुद्धिन्द्रियाणि पंचैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पंचार्था विकारा इति संज्ञिता॥ च०स०शरी० १/१७

३४. नन्दीपुराण

महर्षि दयानन्द की दृष्टि में सृष्टि प्रक्रिया

स्वामी जी की दृष्टि में जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई, जो धारण और प्रलय करता है जो इस जगत् का स्वामी है तथा जिस व्यापक में यह सत्व जगत् उत्पत्ति, स्थिति आगे प्रलय को प्राप्त होता है वह परमात्मा है, उसी को सृष्टिकर्ता मानना चाहिए।[३५] वह सृष्टिकर्ता परमात्मा जिससे यह जगत् उत्पन्न हुआ, इसका निमित्त कारण है तथा प्रकृति इसका उपादान कारण है। यह प्रकृति अनादि है। जीव भी अनादि है। इस प्रकार प्रकृति, जीव और परमात्मा अनादि हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा कि- प्रकृति जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है।[३६]

सत्व (शुद्ध), रजस् (मध्य), तमस् (जाड्य) तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है, उसका नाम प्रकृति है। उससे महत्तत्त्व, उससे अहंकार उससे पांच तन्मात्रा और दश इन्द्रियाँ तथा ग्याहरवां मन। पांच तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पाँच महाभूत, ये चौबीस तत्त्व और पच्चीसवाँ पुरुष अर्थात् जीव और परमेश्वर है। उसमें से प्रकृति अविकारिणी और महत्तत्त्व, अहंकार तथा पाँच सूक्ष्म भूत प्रकृति का कार्य, जबकि ये इन्द्रियाँ, मन तथा स्थूल भूतों का कारण हैं। पुरुष न किसी का कारण और न किसी का कार्य है।[३७]

जब सृष्टि का समय आता है तब परमात्मा उन परम सूक्ष्म पदार्थों को इकट्ठा करता है। उसकी प्रथम अवस्था में जो परम सूक्ष्म प्रकृति रूप कारण से कुछ स्थूल होता है, उसका नाम महत्तत्त्व और जो उससे कुछ स्थूल होता है उसका नाम अहंकार और अहंकार से भिन्न-भिन्न पाँच सूक्ष्म भूत, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ; वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और ग्यारहवाँ मन कुछ स्थूल उत्पन्न होता है और उन पाँचों तन्मात्राओं से अनेक स्थूल अवस्थाओं को प्राप्त होते हुए क्रम से पाँच स्थूल भूत जिनको हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं उत्पन्न होते हैं। उनसे नाना प्रकार की औषधियाँ, वृक्ष आदि उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है।[३८]

इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् में इस प्रकार कहा कि उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश, आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी और पृथिवी से औषधि, औषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।[३९] यहाँ आकाशादि क्रम से सृष्टि

---

३५. (क) इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङग वेद यदि वा न वेद॥ (ख) हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ऋ०१०/१२१/१

३६. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ श्वेताश्वता उप० अ ४/मं० ५

३७. सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था, प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पञ्चतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिः॥ सांख्यसू० अ० १/सू० ६१

३८. सत्यार्थ-प्रकाश। पृ० १३८

३९. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद् रेतः। रेतसः पुरुषः स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ तैत्तिरीय उप० ब्रह्मानन्द वल्ली - प्रथम अनु०।

प्रक्रिया का वर्णन हुआ है। महर्षि का मानना है कि क्योंकि परमेश्वर निमित्त और प्रकृति जगत् का उपादान कारण है इसलिए जब महाप्रलय होता है उसके पश्चात् आकाशादि क्रम अर्थात् जब आकाश और वायु का प्रलय नहीं होता और अग्न्यादि का होता है अग्न्यादि क्रम से और जब विद्युत् अग्नि का भी नाश नहीं होता तब जल क्रम से सृष्टि होती है अर्थात् जिस-जिस प्रलय में जहाँ-जहाँ तक प्रलय होता है, वहाँ-वहाँ से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।[४०]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में सृष्टि क्रम

त्रिशिखिब्राह्मण में भगवान् आदित्य कहते हैं कि यह सब कुछ शिव रूप ही जानो।[४१] इस प्रकार समस्त सृष्टि में शिव तत्त्व ही विद्यमान है, ऐसा समझना चाहिए। वही नित्य, शुद्ध, निरञ्जन, विभु, अद्वैत एवं आनन्द स्वरूप शिव अपने एक ही दिव्यालोक से सभी को देखने के पश्चात् तप्त (लाल) लौह पिण्ड के समान एक को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है।[४२] इसी बात को उपनिषद् भी कहती है कि **एकोऽहं बहु स्याम** मैं एक हूँ बहुत हो जाऊँ। अर्थात् अनेक रूपों में हो जाऊँ। इस प्रकार वह एक शिव ही अनेक रूपों में व्याप्त हो रहा है। ऐसा समझना चाहिए।

इस अखिल जगत् की उत्पत्ति का प्रकार बताते हुए त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा कि- सर्वप्रथम ब्रह्म से अहंकार और अहंकार से पंच तन्मात्राएँ, पञ्च तन्मात्राओं से पंच महाभूत (पञ्चभूत-पञ्च तत्त्व) और पञ्च महाभूतों से यह अखिल विश्व उत्पन्न हुआ।[४३]

इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि पञ्च तत्त्वों अथवा पञ्च महाभूतों से निर्मित मानी जाती है। यह शरीर भी पंच तत्त्वों का ही है। ये पाँच तत्त्व है- पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु। सृष्टि में विद्यमान जिन पंच तत्त्वों का वर्णन है वे पृथ्वी आदि उपरोक्त पाँच तत्त्व हैं।

सांख्य के अनुसार भी प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्च तन्मात्र और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च महाभूतों (पंचतत्त्वों) का अविर्भाव हुआ, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् बना। पञ्चतन्मात्राएँ पंचभूतों के ही सूक्ष्म रूप हैं। पंचतत्त्वों के विषय- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पञ्च तन्मात्राएं हैं।[४४] ऊपरी दृष्टि से यदि देखें तो आकाश का विषय शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप, जल का रस और पृथिवी का गन्ध है, किन्तु यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करें तो प्रत्येक तत्त्व में अन्य तत्त्व और उनकी तन्मात्राएँ समाहित होती हैं। यथा आकाश की तन्मात्रा शब्द है, इसमें शब्द तन्मात्रा का आधिक्य है। अतः इसका गुण भी शब्द है। वायु में शब्द और स्पर्श तन्मात्रा का आधिक्य होने से उसके गुण शब्द, स्पर्श है। तेज (अग्नि) में शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं की अधिकता है, इसलिए इसके गुण भी ये ही हैं। जल (अप्

---

४०. सत्यार्थ-प्रकाश, पृ० १३७

४१. त्रिशिखिब्राह्मण आदित्य लोकं जगाम तं गत्वोवाच। भगवन् किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मेति।। स होवाच सर्वम्। शिव एव विजानीहि।। त्रिशि०उप० १

४२. नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायःपिण्डवदेकं भिन्नवदवभासते। त्रिशि० १

४३. ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्।। त्रिशि०उप० १

४४. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि।। सांख्यकारिका- १२

तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तन्मात्राएँ अधिक हैं, अत: वे ही इसके गुण हैं तथा पृथ्वी तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध तन्मात्राओं की अधिकता होने से ये सभी पृथ्वी के गुण हैं। इसी प्रकार सभी तत्त्व मिलने पर यह स्थूल शरीर या जगत् निर्मित होता है।

इसके अतिरिक्त त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में कहा कि समस्त भूत इसी प्रकार एक दूसरे का आश्रय प्राप्त करके आपस में मिले हुए हैं। यह भूमि भी पंच तत्त्वों से युक्त चेतनामय है।[८५]

इसीलिए इस पृथ्वी से औषधि, अन्न चारों प्रकार के पिण्ड (स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज, जरायुज), रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य आदि सप्त धातुओं की उत्पत्ति होती है।[८६] और धातुओं के योग से ही कई भूत पिण्डों की उत्पत्ति सम्भव हो जाती है।[८७]

८५. तस्मादन्योन्यमाश्रित्य ह्योतं प्रोतमनुक्रमात्। पंचभूतमयी भूमिः सा चेतनसमन्विता।। त्रिशि०उप० ४
८६. तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्चतुर्विधाः रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः।। त्रिशि०उप० ५
८७. केचित्तद्योगतः पिण्डा भूतेभ्यः सम्भवाः क्वचित्।। त्रिशि० २/६

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१७३-१८१) ISSN 0974 – 8830

संस्कृत आलोचना और बिम्ब

डॉ. मौहर सिंह

संस्कृत आलोचनाशास्त्र अत्यन्त समृद्ध एवं विस्तृत है। इसका एक सुदीर्घ इतिहास रहा है, जिसमें अभिव्यक्ति के रूपात्मक प्रयोगों से लेकर भाव जगत् के सूक्ष्म-पर्यवेक्षण तक की प्रक्रिया का पूर्ण विवेचन हुआ है। अलंकार-सिद्धान्त से लेकर औचित्य-विचार पर्यन्त आलोचक काव्य के रहस्य की व्याख्या विभिन्न प्रकार से करते हुये काव्य के आत्मभूत तत्त्व के अन्वेषण में रत रहे हैं। कुछ मनीषी काव्य में सौन्दर्य को प्रधानता देते हैं, तो कुछ रस-भाव को और अन्य अभिव्यक्ति को प्रमुख मानते हैं। पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में काव्य-बिम्ब (पोइटिक इमेज) को आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु जिस प्रकार जीवन के कुछ तत्त्व शाश्वत और सार्वभौमिक होते हैं, उसी प्रकार काव्य के भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो चिरन्तन एवं सार्वभौम हैं। विभिन्न देशों की चिन्तन पद्धति में उसके नाम व रूप भिन्न हो सकते हैं किन्तु तत्त्व की दृष्टि से उनमें मौलिक भेद नहीं होता। **'बिम्ब'** या **'इमेज'** भी किसी देश-विशेष की विशेषता नहीं हैं, वरन् यह प्रत्येक देश व युग की कविता का शाश्वत तत्त्व है। संस्कृत साहित्य भी बिम्ब पूर्ण है, किन्तु संस्कृत आलोचनाशास्त्र में बिम्ब या तत्समान कोई सिद्धान्त विकसित नहीं हुआ।

संस्कृत के प्राचीन आलोचक व कवि काव्य में बिम्बात्मकता के महत्त्व से अपरिचित नहीं थे। यद्यपि 'रस' व 'ध्वनि' जैसे सिद्धान्तों की व्यापक स्थापना हो जाने के कारण बिम्ब जैसा कोई सिद्धान्त यहाँ पल्लवित व पुष्पित नहीं हो सका। किन्तु कला के उन्मीलन तथा काव्य-सर्जन के लिए अग्रसर कवि सन्ध्याकाल में रक्ताभ वारिदमाला से आवृत तथा मंजुल स्वरों की ध्वनि करने वाले हरे, लाल आदि रंगों के उड़ते हुये पक्षियों के समूह से गुंजारित आकाश-मण्डल की छवि अथवा ऊँची अट्टालिका पर चढ़ झरोखे से झाँकने वाली शरदिन्दुविनिन्दक आनन से अन्धकार का तिरस्कार करने वाली सुन्दरी की भव्य-कान्ति की छवि को तूलिका से बिम्बित करने के बिम्बात्मकता के तत्त्व की चर्चा अवश्यमेव रही है या कम से कम उसके संकेत अवश्य मिलते हैं।

काव्य समुद्र मंथन से निकला अनमोल रत्न भले न हो, किन्तु ऐसा रत्न अवश्य है, जिसकी दीप्ति के समक्ष समस्त रत्न द्युतिहीन और निष्प्रभ हो जाते हैं। कारण उसमें कवि की भावोर्मियाँ प्रज्ञा के संयोग से जिस रूप में निसृत होती हैं, वह अनुपमेय अनुभव-क्षण का परिणाम है। प्रज्ञा अनुभूति की परिणति है, अनुभूति सत्य का तत्त्वदर्शन है अर्थात् अनुभूत सत्य विकसित अर्थ-बोध की संज्ञा है। अनुभूति की चरमोपलब्धि प्रज्ञा है और यही प्रज्ञा यथार्थ से पुष्ट और कल्पना से अनुरंजित होकर जब कलाकार की अनुभूतियों को अभिव्यक्ति के पथ पर लाती है, तो काव्य बिम्बों की सृष्टि होती है। इस सर्जना और काव्योपलब्धि में परिवेश ग्रहण के साथ-साथ रचनाकार की क्रिया-प्रतिक्रिया का योग भी रहता है। यह योग जितना अधिक ग्रहण होता है, काव्य का रंग उतना ही गाढ़ा हो जाता है। रंगों की यह सघनता अनुभूतियों की यह अर्थवत्ता और कलाकार के मानसगत सत्य की यह अभिव्यञ्जना ही प्रज्ञा का प्रशस्त पथ है। अनुभूति, अभिव्यक्ति और प्रज्ञा की त्रिकोणात्मक मैत्री ही

१. असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, वि०वि० हरिद्वार

काव्य-बिम्बों का परिणाम है। जिस सर्जक का मनस् जितने घनीभूत केन्द्रण के साथ अभिव्यक्ति के धरातल पर उतरता है, उतनी ही उसमें अर्थगरिमा भी आ जाती है, ऐसी अर्थ गरिमा जिसके लिए संस्कृत काव्यशास्त्र में **'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'** जैसी उक्तियाँ अनुस्यूत हुईं। **'शब्दार्थौ'** की मैत्री और उसका सम्प्रेषण ही काव्य बिम्बों का आधार है।

काव्य बिम्ब का अर्थ

'बिम्ब' अंग्रेजी शब्द **'इमेज'** का पर्याय है। अतः बिम्ब का अर्थ समझने के लिए **'इमेज'** को समझना आवश्यक है। कोश के अनुसार **'इमेज'** का अर्थ है-'किसी वस्तु का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति'[२] और कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति।[३]

मनोविज्ञान में **'बिम्ब'** शब्द से 'मानसिक पुनर्निर्माण' (मेन्टल रीक्रियेशन) का अर्थ लिया जाता है। मनोवैज्ञानिक **'बिम्ब'** को स्पष्ट करते हुये विश्वकोश में लिखा है-'बिम्ब वे सजग स्मृतियाँ हैं, जो मूल प्रेरक अवधारणा की अनुपस्थिति में किसी पूर्व अवधारणा की समग्र अथवा आँशिक रूप में पुनः प्रस्तुत करती हैं, पुनश्च बिम्ब निर्माण पूर्णतः मानसिक व्यापार है और बिम्ब मस्तिष्क की आँखों से देखी जाने वाली वस्तु है।[४]

संस्कृत कोशों में **'बिम्ब'** शब्द का अर्थ-छाया, प्रतिच्छाया, चन्द्रमा या सूर्य का मण्डल, अक्स आदि है।[५] इस प्रकार **'इमेज'** के अर्थ में बिम्ब का प्रयोग सर्वथा उपयुक्त है और **'इमेज'** का समीचीन भाव बिम्ब में निहित है।

काव्य-बिम्ब की परिभाषाग

काव्य में बिम्ब-विधान का अर्थ है-सम्मूर्तन व्यापार। इसीलिए इसे रूपयोजना, चित्र विधान आदि शब्दों से उल्लिखित किया जाता है। अंग्रेजी समालोचना में श्री सिसिल डे लेविस की रचना 'दी पोइटिक इमेज' काव्य-बिम्ब के सम्बन्ध में प्रामाणिक रचना माना जाती है, उनकी परिभाषा के अनुसार 'काव्य-बिम्ब' अन्ततोंगत्वा शब्दों में आबद्ध एक ऐसा ऐन्द्रिय-चित्र है, जो कुछ अंशों तक रूपकात्मक होता है, और जिसके सम्बन्ध में कोई मानवीय भाव अनुस्यूत रहता है। किन्तु साथ ही, जो किसी विशिष्ट काव्यात्मक संवेदना से सम्प्रेरित हो पाठक तक उसी भाव को संप्रेषित करता है।[६]

हिन्दी समालोचना के प्रख्यात आलोचक डॉ. नगेन्द्र ने काव्य-बिम्ब को स्पष्ट करते हुये कहा है कि काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।[७]

---

२ शार्टर ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी

३ चैम्बर्स ट्वेन्टिएथ सेन्चुरी डिक्शनरी

४ Image are coscious memoreis which reproduce a Prtious perception, in whole or in part, in the absence of the original to the perception and ' The term image is –for purely mental idea, being observed by the eye of mind-Every Brittanica (Vol.1) Page 1-3

५ संस्कृत-हिन्दी कोश (वामन शिवराम आटे) पृ०-७१७

६ The Poetic image P. 19

७ काव्य-बिम्ब, पृ.-५

काव्य-बिम्ब के सर्जक तत्त्व

काव्य-बिम्ब के आवश्यक सर्जक तत्त्व या उपकरण हैं-चित्रात्मकता, भावात्मकता, शब्द-अर्थ, रूपकात्मकता, ऐन्द्रियता, कल्पना आदि। काव्य का प्रेरक तत्त्व भाव है। भाव संस्पर्श के बिना काव्य-बिम्ब का आवश्यक तत्त्व है, क्योंकि अनेक आलोचकों ने बिम्ब को चित्र ही कहा है। ऐन्द्रिय अनुभव के आधार पर ही बिम्ब का निर्माण होता है, अत: ऐन्द्रियता बिम्ब का आधार है। बिम्ब का निर्माण सक्रिय कल्पना से होता है। अत: कल्पना बिम्ब का कारण है। कवि की अनुभूति को पाठक तक उसी रूप में वहन करने में शब्दार्थ-किंवा सार्थक शब्द ही माध्यम हैं, अत: समुचित भाषा ही बिम्ब की उपकरण सामग्री है।

बिम्ब और चित्रात्मकता

कवि के हृदय में स्थित अमूर्त-अरूप अनुभूतियाँ चित्रगुण से युक्त होकर ही बिम्ब की संज्ञा ग्रहण करती हैं। चित्रांकन में भोक्ता की भावना एवं आकांक्षा का स्पर्श होना आवश्यक है। अन्यथा कविता एक निर्जीव चित्राकृति मात्र रह जायेगी। बाह्य प्रकृति के दृश्य-चित्र एवं विभिन्न मुद्राओं का सजीव अंकन, चाक्षुष प्रतिभा के रूप में उत्कीर्ण होकर बिम्ब विधायक स्वरूप धारण करते हैं। यथा-

ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टि:,
पश्चार्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढै: श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि: कीर्णवर्त्मा,
पश्योदग्रत्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।।[८]

यहाँ रथ के आगे दौड़ते हिरण का बड़ा सूक्ष्म व सचित्र वर्णन हुआ है। बाण लगने के भय से भागते मृग की भयभीत भंगिमा का यथातथ्य रूप में चित्रण है, ये पूरा दृश्य आँखों के समक्ष सजीव हो उठता है। यदि कोई चित्रकार चाहे तो इन शब्दों के आधार पर ही पूरा चित्र बना सकता है। यहाँ हरिण की गतिभंगी का बाह्यक्रिया-व्यापार का अन्त: प्रक्रिया के साथ सामञ्जस्य घटित हो रहा है। भावव्यञ्जकता एवं दृश्य-चित्रण ने बिम्ब को अतीव सजीव बना दिया है।

बिम्ब और अनुभूति

बिम्ब के स्वरूप गठन में अनुभूति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। काव्य के लिए अनुभूति आधार है, कवि का अनुभूति क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही विविधतापूर्ण उसका बिम्बविधान होगा। श्रीकृष्ण चैतन्य 'मेरिन' के कथन को उद्धृत करते हुये कहते हैं कि 'एक सच्चे कलाकार को अनिवार्यत: समय-समय पर प्राकृतिक विभूतियों, आकाश, समुद्र, पर्वत, मैदान एवं तत्सम्बन्धित वस्तुओं को देखने जाना चाहिये, जिससे वह अपने निरीक्षण को सच्चा बना सके व शक्ति को पुनरुज्जीवित कर सके।'[९]

अनुभूतियाँ हमारी स्मृति में एकत्रित होती रहती हैं और स्मृति बिम्ब को जन्म देती है। इसीलिए

---

८ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/७

९ "Marin wrote- The true artist must perforce go from time to time to the elemental big froms sky, sea, mountains, plains and those things pertaining there to, to sort of reture himself up. to recharge the bettery" Quoted in, Sanskrit Poetics P.34

'व्हैली' ने बिम्ब की निर्माण-प्रक्रिया को स्मृतियों के सन्दर्भ में अनुभूतियों की व्याख्या करना कहा है।[१०] काव्यशात्रियों ने अनावृत अनुभूतियों के अनेक उदाहरण सहृदयों के सम्मुख प्रस्तुत किये हैं- आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण दृष्टव्य है-

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।।[११]

यहाँ कवि की मूल अनुभूति एक ऐसी अपरितृप्त भावना या उत्कण्ठा है, जो सुख-सामग्री के बीच उत्कण्ठा उपशमित हो जानी चाहिये थी, किन्तु ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। यहाँ अनुभूति की तीव्रता स्वयं सहृदय आस्वाद मधुरकाव्य में परिणित हो गयी है।

बिम्ब और भाव

भाव के स्पर्श के बिना काव्य-बिम्ब का अस्तित्व नहीं हैं। बिम्ब के मूल में कवि की भावात्मकता प्रतिक्रिया का योग ही पाठक को भाव विशेष में मग्न करके रससृष्टि करा सकता है। भाव कवि हृदय में संस्कार रूप में स्थित रहते हैं और बिम्ब-योजना द्वारा पाठक तक पहुँचते हैं। इस रूप में काव्य का अथ और इति भाव की अनुभूति से ही प्रारम्भ होता है, भाव की अनुभूति श्रोता या पाठक में जाग्रत कर देना कवि का अन्तिम लक्ष्य है।[१२]

बिम्ब के लिए भाव की आवश्यकता सभी आलोचकों ने स्वीकार की है। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार 'काव्य बिम्ब' का प्रेरक तत्त्व है- भाव, भाव के संस्पर्श के बिना काव्य बिम्ब का अस्तित्व सम्भव नहीं है।[१३] काव्य बिम्ब में भाव की महत्ता निम्न उद्धरण से स्पष्ट की जा सकती है-

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचः प्रवृत्तीन्।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान् वहन्तो धन्यास्तरंगरजसा मलिनीभवन्ति।।[१४]

इस उदाहरण में सन्तान हीन-दुष्यन्त का भरत के प्रति वात्सल्य-भाव वर्णित है। यह भाव, आलम्बन भरत के स्वाभाविक सचित्र वर्णन पर आधृत है। यहाँ पर मानव हृदय की भावना पूर्ण वेग के साथ प्रकट हुई है। यह पद्य किसी भी मानव हृदय को रस सिक्त करने की सामर्थ्य रखता है। बालक के कली-जैसे दाँत, तोतले बोल एवं धूल-धूसरित शरीर के बिम्ब सम्पूर्ण चित्र को अलौकिक सौन्दर्य प्रदान कर रहे हैं।

---

१० Poetic Process. P.76

११ काव्य प्रकाश, उदा. सं.-१

१२ "Emotion is the beginning and the end of the Poetry in a sense unknown to prose" R.H. Fogle in 'Imagary of Keats & Shelly' P. 17

१३ डॉ. नगेद्र-काव्य-बिम्ब, पृ. ६

१४ अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ७/१७

ऐन्द्रियता और बिम्ब

इन्द्रियगम्यता के कारण ही बिम्ब काव्य में सामान्य वर्णन से विशिष्ट होकर आता है। इस सम्बन्ध में लेविस का अभिमत है कि प्रत्येक काव्य-बिम्ब चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यों न हो, ऐन्द्रिक गुणों से संवलित रहता है।[१५]

बिम्ब और कल्पना

बिम्ब का निर्माण सक्रिय या सर्जनात्मक कल्पना से होता है, अत: कल्पना ही अभिनव रूप-विधान करती है। इसीलिए इसे चित्र विधायिनी शक्ति कहा जाता है। कल्पना एक ऐसी मानसिक प्रक्रिया मानी जा सकती है, जिसमें कवि मूर्तियों अथवा रूपों की सृष्टि करता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'प्रतिभा' शब्द का प्रयोग किया है। प्रतिभा का लक्षण करते हुये उसे नवनिर्माण कराने वाली प्रज्ञा कहा गया है-**'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा'**[१६] प्रतिभा ही वह शक्ति है जिससे कवि नूतन सर्जन तथा नवीन रूप विधान का सामर्थ्य प्राप्त करता है। काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने इसे पूर्व जन्म के संस्कारों से प्राप्त शक्ति कहा है, जो कवित्व का बीज है। इसके अभाव में काव्यसृष्टि असम्भव है, कदाचित् हो भी जाये तो उपहास्यापद बन जायेगी।[१७]

इस सम्बन्ध में डॉ. नगेन्द्र का मानना है कि सर्जना के क्षणों में अनुभूति के नाना रूप कवि की कल्पना पर आरूढ़ होकर जब शब्द-अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने का उपक्रम करते हैं, तो इस सक्रियता के फलस्वरूप अनेक मानस छवियाँ आकार ग्रहण करने लगती हैं, उन्हे ही काव्य बिम्ब कहते हैं।[१८]

बिम्ब और भाषा

कवि की अनुभूति भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है। बिम्ब कवि की अनुभूति से अभिन्न वस्तु है। अत: काव्य में बिम्बात्मकता के लिए आवश्यक है कि भाषा अनुभूति को ज्यों की त्यों प्रकाशित करने वाली हो। भाषा में प्रकट होने वाला बिम्ब भाव दृश्य स्वरूप है। इस रूप में विम्ब के अन्तर्गत भाव और भाषा दो पृथक् सताएँ नहीं है, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

अत: चित्रात्मकता, अनुभूति, भाव, ऐन्द्रियता, कल्पना और भाषा ये सभी बिम्ब के सर्जक तत्त्व हैं तथा बिम्ब विधान में सहायक होते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्रीय समीक्षा में काव्य बिम्ब

भारतीय काव्यशास्त्र के रस, ध्वनि, रीति, वक्रोति, औचित्य, अलंकार, लक्षणा, व्यञ्जना आदि सभी विभिन्न सिद्धान्तों के साथ बिम्ब सम्बन्ध पर विचार करना अपेक्षित है-

---

१५ The Poetic image P. 19
१६ ध्वन्यालोक, १.६
१७ शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। -काव्यप्रकाश, १/३-वृत्ति
१८ काव्य बिम्ब, पृ०, ६१

अलंकार सिद्धान्त और बिम्ब

कल्पना की सृष्टि होने के कारण बिम्ब के साथ अलंकारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अलंकारों का मूल उद्देश्य है- समानता या असमानता दिखाकर वस्तु के गुण, रूप, धर्म आदि का बोध कराना। बिम्ब का लक्ष्य है इन्द्रियगम्यता द्वारा मानस साक्षात्कार, जो बहुधा आरोप व सादृश्य द्वारा होता है। इस प्रकार मूल रूप में अलंकार की मान्यता बिम्ब के बहुत निकट है। **'इमेज'** को पहले अर्थालंकार के रूप में ही समझा जाता था।[१९] डॉ. नगेन्द्र के अनुसार अलंकारविधान व बिम्ब-विधान दोनों प्राय: अप्रस्तुत विधान के वाचक व समानार्थक बन जाते हैं।[२०]

बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव पर आश्रित अलंकारों से सुन्दर बिम्बों की सृष्टि होती है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, दृष्टान्त, निदर्शना, समासोक्ति आदि अलंकारों में सादृश्य द्वारा सुन्दर चित्र-विधान किया जा सकता है। बिम्ब-विधान करने वाले अलंकारों में रूपक का महत्त्व सर्वाधिक है। समस्त अवयवों सहित उपमान के आरोह द्वारा एक सम्पूर्ण चित्र का आस्वादन क़िया जा सकता है-

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभती ताराकास्थी-
न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले,
न्यस्तं सिद्धाजनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन।।[२१]

यहाँ पर चाँदनी रात पर भस्म लपेटे कापालिकी के अभेदारोप द्वारा एक संश्लिष्ट बिम्ब की योजना की गयी है।

बिम्ब निर्माण में उपमा का विशेष महत्त्व है। कवि अपने चारों ओर बिखरी हुई वस्तुओं, दृश्यों व क्रिया-रूपों में समानता देखता है। गुण, रूप और क्रिया की यह समानता ही उपमा का आधार बनाती है। कवि इस समता का अनुभव करता है और बिम्ब निर्माण में उसका उपयोग करता है। उपमा बिम्ब निर्माण में किस प्रकार सहायक है, इसके लिए हम महाकवि कालिदास की दीपशिखा की उपमा की समीक्षा करेंगेग

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ, यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गट्ट इव प्रपदे, विवर्णभावं स स भूमिपाल:।।[२२]

वरमाला लिए इन्दुमती जिस राजा के समीप पहुँचती है, उस राजा का चेहरा आशा से जगमगा उठता है और जैसे ही वह उस राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती है, उसका चेहरा निराशा से बुझ जाता है, उस पर गहन कालिमा पुत जाती है। आशा एक अमूर्त भाव है। आशान्वित राजाओं के प्रसन्न व दमकते हुये तथा निराश राजाओं के बुझे हुये चेहरों को साकार करने के लिए कालिदास ने राजमार्ग पर संचरण करने वाली दीपशिखा की उपमा का आश्रय लिया है।

दृष्टान्त[२३] और निदर्शना[२४] अलंकारों के लक्षणों में संयोग से बिम्ब शब्द का ही प्रयोग हुआ है। इन

---

१९ The Poetic image P. 18
२०, काव्य-बिम्ब, पृ. ८
२१ काव्यप्रकाश, श्लोक संख्या, ४२२
२२ रघुवंश, ६/६७

दोनों अलंकारों में **'बिम्ब'** का सौन्दर्य ही शोभा का कारण बनता है।

वक्रोति और बिम्ब

काव्य का उद्देश्य श्रोताओं के हृदय में अलौकिक आह्लाद का उन्मीलन है, यह उन्मीलन तभी सिद्ध हो सकता है, जब शब्द का प्रयोग शास्त्रादिकों में मान्य अर्थों से हटकर विचित्रतर सम्पन्न होता है। लोक-व्यवहार शब्दों का प्रयोग किसी न किसी अर्थ में रूढ़ हो गया है। इन रूढ़ अर्थों से हमारा परिचय इतना अधिक है कि सामाजिक के लिए उनमें किसी प्रकार का आह्लाद नहीं रह जाता। अतः अप्रचलित प्रकार से स्वतन्त्र प्रयोग में ही वैचित्र्य उपपादन की क्षमता शब्दों में हो सकती है-

प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्य सिद्धये।
अन्यथैवोच्यते सोऽर्थ सा वक्रोतिरुदाहता।।[२५]

बिम्ब सिद्धान्त में शब्दों के रूढ़ प्रयोग से हटकर नवीन प्रयोगों की बात कही जाती है, क्योंकि रूढ़ शब्दों की बिम्बता समाप्त हो जाती है, यह प्रयोग भावोत्कर्ष के लिए होता है, चमत्कार के लिए नहीं। अतः वक्रोति-सिद्धान्त की मूल भावना बिम्ब सिद्धान्त से अछूरी नहीं हैं।

ध्वनिसिद्धान्त और बिम्ब

ध्वनि सिद्धान्त से बिम्ब का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ध्वनि की परिभाषा देते हुये आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है-

यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।[२६]

जहाँ शब्द और अर्थ अपने स्वरूप को गुणीभूत कर उस अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, जो काव्य का परम रहस्य है। यदि ये शब्द और अर्थ सचित्र हों तो उनसे व्यञ्जना की जायेगी, बिम्ब कहलायेगी।

ध्वनि सिद्धान्त और तुलनीय साहित्य-चिन्तन के लेखक के अनुसार ध्वनि-सिद्धान्त जिस चमत्कारी अर्थ को काव्य का सर्वस्व बताता है, वह बिम्बरूप ही होता है, ध्वनिकार ने दीप-प्रकाश की तुलना द्वारा वाच्य व्यंग्य का जो निरुपण किया है, उससे भी बिम्ब विधान पर भी प्रकाश पड़ता है और वही प्रकाश अर्थ बिम्ब कहा जाता है। परन्तु व्यंग्य सदैव बिम्ब रूप होता है, इसे लेकर ध्वनिमत में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।[२७]

लक्षणा और बिम्ब

काव्य में उक्ति-वैचित्र्य का महत्त्व निर्विवाद है। लक्षणा इस उक्ति-वैचित्र्य का उत्तम साधन है। इसे काव्य या विदग्ध वक्रोक्ति का जीवित कहा गया है-

---

२३ दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्। काव्यप्रकाश, १०/१०२
२४ यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत सा निदर्शना। साहित्यदर्पण-१०/५२
२५ व्यक्ति विवेक-महिमभट्ट, १/६९
२६ ध्वन्यालोक, १/१३
२७ अवस्थी बचूलाल, ध्वनिसिद्धान्त व तुलनीय साहित्यचिन्तन, पृ. ४४४

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरुच्यते।। [२८]

बिम्ब के सन्दर्भ में लक्षणा का विचार करें तो पाते हैं कि चित्रात्मकता बिम्ब की लक्षणीय विशेषता है और लक्षणा चित्रमयता का महत्त्वपूर्ण उपकरण है। कविता की भाषा के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता है और ऐसी चित्रभाषा लक्षणा का भण्डार है। लक्षणा बिम्ब-विधान में किस प्रकार सहायक है, यह लाक्षणिक बिम्बों के उदाहरणों से स्पष्ट है-

बाँधा था विभु को किसने इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख क्यो भरा हुआ हीरों से।। [२९]

चन्द्रमुखी की हीरक जटित सीमन्त व श्यामल केश राशि का बिम्ब लक्षणा जन्य है।

बिम्ब और व्यञ्जना

व्यञ्जना शक्ति से भी प्रायः बिम्ब-विधान होता है। व्यञ्जना के लिए बिम्ब के माध्यम का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि वस्तु को दृश्य रूप में प्रस्तुत करना व्यञ्जना में अनिवार्य नहीं हैं। वहाँ सांकेतिता से भी काम लिया जाता है। बिम्ब प्रायः व्यंग्य होते हैं। व्यंग्यार्थ-ध्वन्या भी बिम्ब रूप होता है। यथा-'**गतोऽस्तमर्कः**' वाक्य में विभिन्न श्रोता जो विभिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं, उनके अलग-अलग बिम्ब होते हैं, जैसे सन्ध्या वन्दन का बिम्ब, अभिसार का बिम्ब आदि।

बिम्ब और रस सिद्धान्त

रस में बिम्बात्मकता के महत्त्व को आधुनिक हिन्दी आलोचक रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ. नगेन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।[३०] रस एक अमूर्त एवं सूक्ष्म तत्त्व है। इस सूक्ष्म को अभिव्यक्ति के लिए स्थूल व मूर्त का आश्रय लेना पड़ता है। रस को अपनी सूक्ष्मता प्रेषणीय बनाने के लिए मूर्त माध्यमों का प्रयोग करना पड़ता है, यह माध्यम बिम्ब ही है। रस या भाव कथन से प्रकट नहीं होते, यह व्यंजित होते हैं। भाव का जन्म मूलतः कवि के हृदय में मूर्त अथवा गोचर रूप से होता है। जैसे क्रौंच वध[३१] को देखकर ही वाल्मीकि के मन में करुणा का भाव जन्म लेता है। पाठक भी भाव को उसी प्रकार अनुभूति कर सकें, इसके लिए कवि को भी भाव की अनुभूति बनाकर प्रस्तुत करनी होती है। यह गोचरता बिम्ब द्वारा ही सम्भव है।

रस-परिपूर्ण कोई भी स्थल हम लेकर देखें तो यह तथ्य सामने आयेगा कि बिम्ब वहाँ अवश्य विद्यमान है। रसों के उदाहरण रूप में काव्यशास्त्रियों के ग्रन्थों से पद्य लेकर देखें तो ज्ञात होगा कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भाव का प्रयोग बिम्ब रूप ही होता है। मम्मट द्वारा उद्धृत उद्धरण से स्पष्ट है-

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरैर्निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

---

२८ भोजः शृङ्गारप्रकाश, पृ. १३१ व सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ.-१८६
२९ जयशंकरप्रसाद, आँसु, पृ. २१
३० रसमीमांसा- डॉ. रामचद्र शुक्ल, पृ. ११९-१२० तथा ३५८ एवं काव्य बिम्ब-डॉ. नगंद्र, पृ. ५२-५३
३१ मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः। यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। वा.रा. १/२/१५

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीम्,
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।[३२]

यहाँ शृङ्गार का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत किया गया है, जिसमें आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव मिलकर एक सुन्दर शृङ्गार बिम्ब में परिणित हो रहे हैं।

औचित्य सिद्धान्त और बिम्ब-

औचित्य बड़ा व्यापक तत्त्व है, इसका जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्त्व है। क्षेमेन्द्र की सम्मति में रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही होता है।[३३] रस, अलंकार आदि में जैसे औचित्य की आवश्यकता है वैसे ही बिम्ब में भी औचित्य गुण अनिवार्य है। औचित्य भेदों में परिगणित पद, वाक्य, अलंकार, क्रिया, कारक, लिङ्ग-वचन, विशेषण आदि अनेक प्रकार के औचित्य का मर्म यही है कि इस औचित्य से प्रस्तुत बिम्ब सम्यक् रूप से स्पष्ट हो सकें।

भारतीय आलोचना पद्धतियों के आलोक में बिम्ब-विधान पर विचार करते हुये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि बिम्ब को सिद्धान्त रूप में यहाँ मान्यता प्राप्त नहीं हुई और न इसके महत्त्व का स्पष्ट उल्लेख हुआ, किन्तु आलोचक व कवि बिम्बात्मकता से सर्वथा अपरिचित रहे हों, ऐसा नहीं माना जा सकता। वस्तुतः प्राचीनकाल से आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित चित्र शब्द में बिम्बात्मकता का भाव भी निहित रहा है। **'रसचित्र' 'भावचित्र'** आदि शब्दों का प्रयोग आलोचना में सदा होता रहा है। बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में भी चित्रात्मकता का महत्त्व स्वीकृत है। 'मानस साक्षात्कार' में भी बिम्ब का अर्थ सम्पृक्त है।

वस्तुतः काव्य में बिम्ब ही एक ऐसा प्राणतत्त्व कहा जा सकता है, जो देश, काल, भाषा और जाति की परिधि से परे शाश्वत व नित्य तथा कवि-कौशल की कसौटी पर खरा कहा जा सकता है।

---

३२ काव्यप्रकाश, ४/३०
३३ औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। औचित्य-विचार-चर्चा-५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१८२-१८७) ISSN 0974 – 8830

वाल्मीकि रामायण और रामचरितमानस में नीति

डा० मृदुल जोशी[१]

'नीति' शब्द की व्युत्पत्ति 'नी' धातु से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'ले जाना'। 'नीति' वह विधायिका शक्ति है, जो सभ्य, सुसंगठित और संस्कारित समाज के लिए 'पथ-प्रर्दशन' या 'मार्ग-दर्शन' का कार्य करती है। 'नीति' की सर्वमान्य परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है- **'नीयते व्यवस्थाप्यते स्वेषु-स्वेषु सदाचारेषु लोकाः यया सा नीतिः'** अर्थात् जिसके द्वारा समाज के लोग कुमार्ग से विरत होकर सदाचरण में लाये जा सकें उसको 'नीति' कहते हैं। 'शुक्रनीति' के अनुसार **'नयनाद् नीतिरुच्यते'**[२] के आधार पर सन्मार्ग में ले जानी वाली 'नीति' ही है। व्यक्ति और समाज के सर्वविध कल्याण हेतु विवेक के निकष पर जिन नियमों-सिद्धान्तों का निर्धारण किया जाता है, वे 'नीति' के अन्तर्गत आते हैं। इनके अनुकूल आचरण नैतिकता व प्रतिकूल आचरण अनैतिकता की परिधि में परिगणित किया जाता है।

वाल्मीकिकृत 'रामायण' और तुलसीकृत 'रामचरितमानस' भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं। उक्त दोनों ही ग्रन्थों में समाजनीति, राजनीति, अर्थनीति, स्वास्थ्यनीति का विस्तार से वर्णन है। दोनों ही ग्रन्थों में राम एक उच्च कोटि के नीतिज्ञ के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। एक राजा के रूप में राजकाज सम्बन्धी नीतियों का अनुपालन तो वे करते ही हैं, परिवार में रहते हुए वह सामाजिक, नैतिक नियमों के भी उत्कृष्ट मानदण्ड स्थापित करते हैं। आदिकवि वाल्मीकि और तुलसी ने अपने प्रबन्ध काव्य में स्थान-स्थान पर दशरथ, कौशल्या, राम, भरत, लक्ष्मण, विश्वामित्र, वशिष्ठ, अत्रि, अनसुइया, सीता, मंदोदरी, हनुमान्, विभीषण, जाम्बवान्, बालि, अंगद, तारा, कुम्भकर्ण के माध्यम से श्रेष्ठ नीतियों का वर्णन किया है।

'सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्। विद्या च गुरुशुश्रुषा ध्रुवाण्येतानि राघवे।।[३] के अनुसार वाल्मीकि के कथानायक राम के चरित्र में दान, तप, त्याग, मैत्री, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरुसेवा के साथ-साथ सत्य भी विद्यमान है। यही नहीं वे **'सत्यवादी मेहष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः। स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः।**[४] **तथा व्यसनेषु मनुष्याणां भृषं भवति दुःखितः। उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।।**[५] के आधार पर महाधर्नुधर, वृद्धों की सेवा करने वाले, जितेन्द्रिय, हँसकर बोलने वाले, उदारचेता, दूसरों के सुख में सुखी और दूसरों के दुःख में दुःखी होने वाले हैं। ये लक्षण एक उच्च कोटि के राजनीतिज्ञ के ही नहीं एक नीतिवान् सामाजिक के भी हैं। तुलसी की राजनीति धर्ममय होती हुई उदारनीति से सम्पृक्त है। तुलसी के राजा राम के शासनारूढ़ होते ही सर्वत्र आनन्द और मंगल का साम्राज्य है। यह नीतिज्ञ पुरुष द्वारा संचालित राज्य व्यवस्था का ही परिणाम है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्यों का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करता हुआ सुखी है। तुलसी के ही शब्दों में-**'राम राज बैठे त्रैलोका, हरषित भए गए सब सोका। बरनाश्रम**

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गुरुकुल कॉंगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ शुक्रनीति १.१५७
३ वा०रा० अयोध्याकाण्ड, ११/२९७
४ वा०रा० अयोध्याकाण्ड, २/२४
५ वा०रा० अयोध्याकाण्ड, २/२३

निज-निज धरम, निरत वेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहि, नहिं भय सोक न रोग।'[६] महाभारत के शान्तिपर्व में एक उत्कृष्ट समाज नीति के रूप में एक ऐसी व्यवस्था की कामना है जहाँ सर्वथा छल-कपट का अभाव, सुख-शान्ति प्रपूरित सहअस्तित्व की भावना और समग्र समाज के कल्याण के भाव सन्निहित हों।[७] रामचरितमानस में चरितनायक राम के द्वारा परिवार व समाज में व्यवहार करते समय मानो **'लोकं पृण, छिद्रं पृण'**[८] के सिद्धान्त को सामने रख कर लोक हितार्थ चिंतन करते हुए सर्वदा ही वैयक्तिक स्वार्थ से ऊपर उठकर सोचा गया है।

तुलसी ने एक स्वस्थ समाज की संकल्पना की है, जहाँ समाज में परस्पर, प्रेम, सौहार्द्र और निश्छलता का साम्राज्य हो। पारिवारिक नीति-निर्धारक तत्त्वों में मर्यादा और अनुशासन को सर्वोपरि रखा गया है। **'मातृ देवो भव'**, **'पितृ देवो भव'**, **'आचार्य देवो भव'** की वैदिक नीतियाँ रामचरितमानस में पग-पग पर व्यवहार में परिणत होती देखी जा सकती हैं। स्थान-स्थान पर तुलसी स्वयं इन नीतियों के अधिवक्ता बने हैं। अन्यत्र अनेक पात्र अपने आचरण द्वारा उन मर्यादाओं का पालन करते दृष्टिगत होते हैं। माता-पिता व गुरु के प्रति सम्मान का भाव स्वस्थ व सुखी परिवार का कारक है। तुलसी का स्पष्ट मत है कि माता-पिता की आज्ञा का पालन न करने वाला व्यक्ति आसुरी प्रवृत्ति का है-

मानहि मातु पिता नहिं देवा, साधुन्ह सन करवावहिं सेवा।
जिन्ह के यह आचरन मवानी, ते जानेहु निसिचर सब प्रानी।[९]

चरित नायक राम नीति-शिरोमणि हैं। **'नीति, प्रीति परमारथ स्वारथु, कोउ न राम सम जान जथारथु'**[१०] कहते हुए तुलसी उन्हें नीति, प्रेम, स्वार्थ और परमार्थ का यथार्थ ज्ञाता मानते हैं। राम मन, वचन व कर्म से माता-पिता व गुरु के प्रति अनन्य श्रद्धा भाव रखते हैं। इसीलिए तो उनके प्रत्येक दिवस का प्रारंभ तीनों के प्रति अभिवादन व्यक्त करने के साथ होता है।[११] यहीं नहीं इनके आदेशों का अक्षरशः पालन करना भी राम की दृष्टि में नैतिकता का ही एक अंग है।[१२] उनका तो स्पष्ट मानना है कि माता, पिता, गुरु, स्वामी की शिक्षा को जो शिरोधार्य करते हुए तदनुसार आचरण करते हैं, उन्हीं का जन्म सफल है।[१३] इसके विपरीत आचरण करने में हानि की संभावना ही अधिक है।'[१४] क्योंकि **'गुरु पित मात स्वामी सिख पालें, चलेहुँ सुगम पग परहिं न खालें।'**[१५] अर्थात् गुरु, पिता, माता और स्वामी की शिक्षा का पालन करने वाले का सुमार्ग पर चलने के कारण

---

६ रा०च०मा०, उत्तरकाण्ड, दोहा सं०२०
७ महा० प्रत्यक्षं सुख भूयिष्ठं आत्मसाक्षिकमच्छलम्। सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम्।
८ यजुर्वेद १५.५९
९ बालकाण्ड, रा०मा० दोहा सं० १८३/२-३
१० रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २५३/२
११ प्रातकाल: उठ कै रघुनाथा, मातु पिता गुरु नावहिं माथा। रामचरितमानस, बालकाण्ड, २०४/७
१२ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी, बिनहिं विचार करिअ सुभ जानी, रामचिरतमानस, बालकाण्ड ७६/३
१३ मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहि सुभायँ। लहेउ लाभु तिन्ह कर नतरु जनम जग जायें रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा/७०
१४ सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि। सो पछताई अघाइ उर अवसि होइ हित हानि, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ६३
१५ रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ३१४/५

पतन नहीं होता। इसलिए इनकी प्राण-प्रण से सेवा करनी चाहिए।[१६]

भारतीय संस्कृति में माता का स्थान सर्वोपरि है-'**गुरुणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः**'।[१७] महाभारत, स्कन्दपुराण और अत्रि संहिता आदि आर्ष ग्रन्थों में भी माता को 'परमगुरु' की उपाधि से विभूषित करते हुए उसकी श्रेष्ठता उद्घोषित की गई है।[१८,१९,२०] तुलसी ने भी मानस में जननी की महिमा को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए उसे पिता से भी श्रेष्ठ सिद्ध किया है।[२१] राम का तो अनन्य विश्वास है कि संसार में माता-पिता को प्रसन्न रखने वाला मनुष्य अत्यन्त शोभाग्यशाली है, क्योंकि '**माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तया**।[२२] अर्थात् माता पृथ्वी से भी बढ़कर व पिता आकाश से भी ऊँचे हैं। इसीलिए वह पुत्र धन्य है जो अपने माता-पिता को प्रसन्न रख पाता है। राम की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि-**सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी, जो पितु मातु बचन अनुरागी। तनय मातु पितु तोष निहारा, दुर्लभ जननि सकल संसारा**।।[२३] माता-पिता के प्रति अनन्य प्रेम रखने वाले के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सहज ही सुलभ हैं।[२४]

राम के चरित्र द्वारा तुलसी ने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा का प्रदर्शन किया है। गुरु के प्रति किस कोटि की श्रद्धा व मर्यादित आचरण होना चाहिए, मानस में सुलभता से इसके दर्शन हो जाते हैं। गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा रखने से समस्त वैभव की प्राप्ति होती है।[२५] चरित्र नायक राम मानस में स्थान-स्थान पर गुरुजनों का सम्मान करते दृष्टिगोचर होते हैं। विश्वामित्र के साथ वन में विचरण करते हुए वे उनकी सेवा में तत्पर हैं। मर्यादा का पालन करते हुए वे गुरु से पूर्व ही शैय्या का त्याग कर देते हैं और उनके सोने के बाद ही स्वयं सोने जाते हैं। यही आचरण लक्ष्मण का अपने अग्रज राम के प्रति भी है।[२६] यही नहीं गुरु वशिष्ठ को अपने महल में आया देखकर वह तत्परता से सम्मान पूर्वक अगवानी हेतु प्रस्तुत होते हैं और अर्घ्य देकर महल के अन्दर लाते हैं।[२७] शिष्य को गुरु के समीप स्वयं जाकर उनकी आदेशों का अनुपालन करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। राम की दृष्टि में यही एक स्वस्थ परम्परा है-**सेवक सदन स्वामी आगमनू मंगल मूल अमंगल दमनू। तदपि उचित जनु**

---

१६ गुरु पित मात बन्धु सुर साई, सेइअहि सकल प्राण की नाईं। रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ७३/३
१७ महाभारत आदि पर्व, १९५/६
१८ नास्ति मातुः परो गुरुः। अत्रि संहिता १५०
१९ नास्ति मातृसमो गुरुः। महाभारत, शान्ति पर्व, १०८/१८
२० पतिता गुरवस्त्याज्या माता च न कथंचन।
२१ गर्भधारण पोषाभ्यां तेन माता गरीयसी। स्कन्दपुराण, मा० को० ६/१०७, मत्स्यपुराण, २२७/१५० द्रष्टव्य- जौं केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जान्नि बड़ि माता। जो पितु मातु कहेहु बन जाना, तौ कानन सत अवध समाना अयोध्याकाण्ड, ५५/१-२
२२ महाभारत वनपर्व, ३१३/६०
२३ रामचरितमानस, अयो०/४०/७-८
२४ चारि पदारथ करतल ताकें, प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें। रामचरितमानस, अयो० ४५/२
२५ जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। तेजनु सकल विभव बस करही। रामचरितमानस, अयो० काण्ड २/५
२६ उठे जानु निसि बिगत सुनि अरूनसिखा धुनि कान। गुरुते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान।। रामचरितमानस, बालकाण्ड २२६
२७ गुर आगमन सुनत रघुनाथा, द्वार आइ पद नायउ माथा। सादर अरघ देइ घर आने, सोरह भाँति पूजि सनमाने।। रामचरितमानस, अयो०का० ८/२-३

बोलि सप्रीती, पठइअ काज नाथ असि नीती।[२८] उच्छृंखलता का परिशमन भय और संकोच से ही संभव है, लेकिन यह भय भी प्रेम और विनय से सम्पृक्त होना चाहिए। मानस के सभी पात्र वशिष्ठ के समक्ष भय और संकोच से आवृत्त विनय और प्रेम का प्रदर्शन करते दृष्टिगोचर होते हैं-**सभय सप्रेम विनीत अति, संकुच सहित दोह भाई। गुरुपद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाई।**[२९] गुरु वचनों पर अगाध विश्वास संशय की समस्त संभावनाओं को समाप्त करता है। यही विश्वास सुख और सफलता की अपार संभावनाओं के द्वार को अनावृत करता है।

तुलसी की दृष्टि में 'माता-पिता एवं गुरु साक्षात् देवस्वरूप हैं। इनका सम्मान करना धर्म की आधार भूमि है ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वी का आधार शेषनाग हैं।[३०] उन्होंने तो इनका असम्मान करने वाले को '**पशु**' की संज्ञा से तक अभिहित किया है।[३१]

परिवार का एक अविभाज्य अंग सेवक भी है। सेवक का प्रमुख कार्य स्वामी का हित-चिंतन करना व उसे सुख पहुँचाना है तो स्वामी का धर्म भी स्वार्थ का त्याग करना है। तुलसी ने बड़े ही स्पष्ट रूप में दोनों की भूमिका को प्रस्तुत किया है।[३२,३३,३४] कवि द्वारा '**मुखिआ मुख सो चाहिए, खान पान कहुँ एक। पालिअ पोषिअ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक**'[३५] कहते हुए गृहपति या गृहस्वामी को मुख की संज्ञा दी गयी है। मुख जैसे ग्रहण किये गये भोजन से समस्त अंग प्रत्यंगों का पोषण करता है ठीक उसी प्रकार गृहस्वमी को उपार्जित धन से आश्रितों की विवेक पूर्वक देखभाल करनी चाहिए। इसीलिए तो केवल स्वोदर पोषण करने वाले को '**निज तनु पोषक निरदय भारी**' कहते हुए तुलसी ने '**निर्दय**' कहा है। मानसकार का अटूट विश्वास है कि कीर्ति, वैभव व सद्गति चाहने वाले को तो नीति व धर्म का ज्ञान होना परम आवश्यक है। वास्तव में ऐसा व्यक्ति ही इसका सुपात्र भी है।

समाजनीति के अन्तर्गत कर्त्तव्याकर्त्तव्य का गहन विचार है। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति व व्यक्ति विशेष के अवगुण उसे किन-किन लाभों से वंचित कर सकते हैं, इसका स्पष्ट वर्णन रामचरितमानस में हुआ है। परिवार और समाज में सुख के अंकुरण दृढ़ संयम की उर्वरा भूमि में उपजते हैं। एक सुगठित, सुव्यवस्थित व स्वस्थ समाज की संकल्पना करने वाले तुलसी सामाजिकों से आचरण विशेष की अपेक्षा रखते हैं। उनके अनुसार सेवक सुख चाहे, भिक्षुक सम्मान चाहे, व्यसनी धन की अभिलाषा करे और व्यभिचारी शुभ गति की; लोभी यश चाहे और अभिमानी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना करे तो यह उसी प्रकार असंभव है जैसे आकाश दुह कर व्यक्ति दूध लेना चाहता हो।[३६] अयोध्याकाण्ड में कवि विस्तारपूर्वक समाजनीति की चर्चा

---

२८ रामचरितमानस, अयो०का० ८/५-६
२९ रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा० २२५
३० मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥ रामचरितमानस, अयो०का० ३०५/९
३१ अयोध्याकाण्ड, दोहा स० १७२/२
३२ सेवक हित साहिब सेवकाई। करे सकल सुख लोक बिहाई। रामचरितमानस, अयो०का० १८५/१
३३ करइ स्वामि हित सेवक सोई। रामचरितमानस, अयो०का० २६७/३४
३४ स्वामि धरम स्वारथहि विरोधू। रामचरितमानस, अयो०का० २९२/८
३५ अयोध्याकाण्ड, ३/५
३६ सेवक सुख चह मान भिखारी, व्यसनी धन सुभगति विभिचारी। लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्राणी रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड १६/१५-१६

पतन नहीं होता। इसलिए इनकी प्राण-प्रण से सेवा करनी चाहिए।[१६]

भारतीय संस्कृति में माता का स्थान सर्वोपरि है-'**गुरुणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः**'।[१७] महाभारत, स्कन्दपुराण और अत्रि संहिता आदि आर्ष ग्रन्थों में भी माता को 'परमगुरु' की उपाधि से विभूषित करते हुए उसकी श्रेष्ठता उद्घोषित की गई है।[१८,१९,२०] तुलसी ने भी मानस में जननी की महिमा को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए उसे पिता से भी श्रेष्ठ सिद्ध किया है।[२१] राम का तो अनन्य विश्वास है कि संसार में माता-पिता को प्रसन्न रखने वाला मनुष्य अत्यन्त शोभाग्यशाली है, क्योंकि '**माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तया।**[२२] अर्थात् माता पृथ्वी से भी बढ़कर व पिता आकाश से भी ऊँचे हैं। इसीलिए वह पुत्र धन्य है जो अपने माता-पिता को प्रसन्न रख पाता है। राम की स्पष्ट स्वीकारोक्ति है कि-**सुनु जननी सोइ सुत बड़ भागी, जो पितु मातु बचन अनुरागी। तनय मातु पितु तोष निहारा, दुर्लभ जननि सकल संसारा।।**[२३] माता-पिता के प्रति अनन्य प्रेम रखने वाले के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सहज ही सुलभ हैं।[२४]

राम के चरित्र द्वारा तुलसी ने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा का प्रदर्शन किया है। गुरु के प्रति किस कोटि की श्रद्धा व मर्यादित आचरण होना चाहिए, मानस में सुलभता से इसके दर्शन हो जाते हैं। गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा रखने से समस्त वैभव की प्राप्ति होती है।[२५] चरित्र नायक राम मानस में स्थान-स्थान पर गुरुजनों का सम्मान करते दृष्टिगोचर होते हैं। विश्वामित्र के साथ वन में विचरण करते हुए वे उनकी सेवा में तत्पर हैं। मर्यादा का पालन करते हुए वे गुरु से पूर्व ही शैय्या का त्याग कर देते हैं और उनके सोने के बाद ही स्वयं सोने जाते हैं। यही आचरण लक्ष्मण का अपने अग्रज राम के प्रति भी है।[२६] यही नहीं गुरु वशिष्ठ को अपने महल में आया देखकर वह तत्परता से सम्मान पूर्वक अगवानी हेतु प्रस्तुत होते हैं और अर्घ्य देकर महल के अन्दर लाते हैं।[२७] शिष्य को गुरु के समीप स्वयं जाकर उनकी आदेशों का अनुपालन करने हेतु तत्पर रहना चाहिए। राम की दृष्टि में यही एक स्वस्थ परम्परा है-**सेवक सदन स्वामी आगमनू मंगल मूल अमंगल दमनू। तदपि उचित जनु**

---

१६ गुरु पित मात बन्धु सुर साई, सेइअहि सकल प्राण की नाईं। रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ७३/३

१७ महाभारत आदि पर्व, १९५/६

१८ नास्ति मातुः परो गुरुः। अत्रि संहिता १५०

१९ नास्ति मातृसमो गुरुः। महाभारत, शान्ति पर्व, १०८/१८

२० पतिता गुरवस्त्याज्या माता च न कथंचन।

२१ गर्भधारण पोषाभ्यां तेन माता गरीयसी। स्कन्दपुराण, मा० को० ६/१०७, मत्स्यपुराण, २२७/१५० द्रष्टव्य- जौं केवल पितु आयसु ताता, तौ जनि जाहु जान्नि बड़ि माता। जो पितु मातु कहेहु बन जाना, तौ कानन सत अवध समाना अयोध्याकाण्ड, ५५/१-२

२२ महाभारत वनपर्व, ३१३/६०

२३ रामचरितमानस, अयो०/४०/७-८

२४ चारि पदारथ करतल ताकें, प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें। रामचरितमानस, अयो० ४५/२

२५ जे गुरु चरन रेनु सिर धरहीं। तेजनु सकल विभव वस करही। रामचरितमानस, अयो० काण्ड २/५

२६ उठे जानु निसि बिगत सुनि अरूनसिखा धुनि कान। गुरुते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान।। रामचरितमानस, बालकाण्ड २२६

२७ गुर आगमन सुनत रघुनाथा, द्वार आइ पद नायउ माथा। सादर अरघ देइ घर आने, सोरह भाँति पूजि सनमाने।। रामचरितमानस, अयो०का० ८/२-३

बोलि सप्रीती, पठइअ काज नाथ असि नीती।[२८] उच्छृंखलता का परिशमन भय और संकोच से ही संभव है, लेकिन यह भय भी प्रेम और विनय से सम्पृक्त होना चाहिए। मानस के सभी पात्र वशिष्ठ के समक्ष भय और संकोच से आवृत्त विनय और प्रेम का प्रदर्शन करते दृष्टिगोचर होते हैं-**सभय सप्रेम विनीत अति, संकुच सहित दोह भाई। गुरुपद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाई।**[२९] गुरु वचनों पर अगाध विश्वास संशय की समस्त संभावनाओं को समाप्त करता है। यही विश्वास सुख और सफलता की अपार संभावनाओं के द्वार की अनावृत करता है।

तुलसी की दृष्टि में 'माता-पिता एवं गुरु साक्षात् देवस्वरूप हैं। इनका सम्मान करना धर्म की आधार भूमि है ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वी का आधार शेषनाग हैं।[३०] उन्होंने तो इनका असम्मान करने वाले को 'पशु' की संज्ञा से तक अभिहित किया है।[३१]

परिवार का एक अविभाज्य अंग सेवक भी है। सेवक का प्रमुख कार्य स्वामी का हित-चिंतन करना व उसे सुख पहुँचाना है तो स्वामी का धर्म भी स्वार्थ का त्याग करना है। तुलसी ने बड़े ही स्पष्ट रूप में दोनों की भूमिका को प्रस्तुत किया है।[३२,३३,३४] कवि द्वारा **'मुखिआ मुख सो चाहिए, खान पान कहुँ एक। पालिअ पोषिअ सकल अंग, तुलसी सहित विवेक'**[३५] कहते हुए गृहपति या गृहस्वामी को मुख की संज्ञा दी गयी है। मुख जैसे ग्रहण किये गये भोजन से समस्त अंग प्रत्यंगों का पोषण करता है ठीक उसी प्रकार गृहस्वमी को उपार्जित धन से आश्रितों की विवेक पूर्वक देखभाल करनी चाहिए। इसीलिए तो केवल स्वोदर पोषण करने वाले को **'निज तनु पोषक निरदय भारी'** कहते हुए तुलसी ने **'निर्दय'** कहा है। मानसकार का अटूट विश्वास है कि कीर्ति, वैभव व सद्गति चाहने वाले को तो नीति व धर्म का ज्ञान होना परम आवश्यक है। वास्तव में ऐसा व्यक्ति ही इसका सुपात्र भी है।

समाजनीति के अन्तर्गत कर्त्तव्याकर्त्तव्य का गहन विचार है। व्यक्ति की सामाजिक स्थिति व व्यक्ति विशेष के अवगुण उसे किन-किन लाभों से वंचित कर सकते हैं, इसका स्पष्ट वर्णन रामचरितमानस में हुआ है। परिवार और समाज में सुख के अंकुरण दृढ़ संयम की उर्वरा भूमि में उपजते हैं। एक सुगठित, सुव्यवस्थित व स्वस्थ समाज की संकल्पना करने वाले तुलसी सामाजिकों से आचरण विशेष की अपेक्षा रखते हैं। उनके अनुसार सेवक सुख चाहे, भिक्षुक सम्मान चाहे, व्यसनी धन की अभिलाषा करे और व्यभिचारी शुभ गति की; लोभी यश चाहे और अभिमानी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की कामना करे तो यह उसी प्रकार असंभव है जैसे आकाश दुह कर व्यक्ति दूध लेना चाहता हो।[३६] अयोध्याकाण्ड में कवि विस्तारपूर्वक समाजनीति की चर्चा

---

२८ रामचरितमानस, अयो०का० ८/५-६
२९ रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा० २२५
३० मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥ रामचरितमानस, अयो०का० ३०५/९
३१ अयोध्याकाण्ड, दोहा स० १७२/२
३२ सेवक हित साहिब सेवकाई। करे सकल सुख लोक बिहाई। रामचरितमानस, अयो०का० १८५/१
३३ करइ स्वामि हित सेवक सोई। रामचरितमानस. अयो०का० २६७/३४
३४ स्वामि धरम स्वारथहि विरोधू। रामचरितमानस, अयो०का० २९२/८
३५ अयोध्याकाण्ड, ३/५
३६ सेवक सुख चह मान भिखारी, व्यसनी धन सुभगति बिभिचारी। लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्राणी रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड १६/१५-१६

करते हैं। उनकी दृष्टि में वेद न जानने वाला भोगासक्त ब्राह्मण, प्रजा से प्रेम न करने वाला और नीति न जानने वाला राजा, आतिथ्य सत्कार से विमुख शिव भक्ति न करने वाला धनवान्, किंतु कंजूस वैश्य, मिथ्या अहंकारी व बकवादी शूद्र, कुटिल व कलहप्रिया पति से छल करने वाली स्त्री, गुरु आज्ञा न मानने वाला और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करने वाला ब्रह्मचारी, कर्म से च्युत गृहस्थ, जागतिक प्रपंच से प्रलुब्ध व ज्ञान वैराग्य से रहित संन्यासी, भोगी वानप्रस्थी, माता-पिता-गुरुजनों का विरोधी, चुगल खोर, दूसरों का अनिष्ट चाहने वाला, निर्दय, क्रूर और अपने ही शरीर का पोषण करने वाला शोचनीय है।[३७] इसमें संदेह नहीं की स्वस्थ समाज नीति में उक्त दुगुर्णो को व्यक्ति विशेष के संदर्भ में अवांच्छनीय माना जा रहा है। विदुरनीति कहती है- **'द्वावेव न विराजते, विपरीतेन कर्मणा, गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः।'**[३८] ठीक इसी बात का समर्थन तुलसी इन शब्दों में करते हैं-**सोचिय गृही जो मोहबस करइ करम पथ त्याग। सोचिअ जति प्रपंच रत विगत बिवेक बिराग।**[३९] नैतिकता की कोटि में परिगणित परोपकार, दया, सत्य, करुणा, श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, विनय इत्यादि भावों के सम्पोषण के स्फुल्लिंग 'मानस' में यत्र-तत्र सर्वत्र छिटके हुए दिखाई पड़ते हैं और स्थान-स्थान पर हिंसा, क्रोध, अन्याय, राग-द्वेष, मद-मोह, लोभ, अहंकार का तिरस्कार एक सुष्ठु समाजनीति का दिशा-निर्देश है।[४०] दीर्घकालीन परिणाम को दृष्टिपथ पर रखकर सोच-विचार कर कार्य करने की नीति सर्वजन हिताय, सर्वजन सुखाय है। सहसा कार्य करने वालो को तुलसी 'मूर्ख' की संज्ञा तक दे देते हैं।[४१] महाभारत के उद्योग पर्व में विदुर नीति कहती है-**'हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्। सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषः क्षयावहाः'**[४२] अर्थात् दूसरे के धन का अपहरण, दूसरे की स्त्री का संसर्ग तथा सुहृद मित्र का परित्याग, ये तीनों ही दोष नाश करने वाले हेतु हैं। रामचरितमानस में इन दोषों का परित्याग स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। **'नर पावहिं परतिय मनु दीठी'**[४३] कहते हुए उन पुरुषों को श्रेष्ठ पुरुषों की कोटि में रखते हुए **'परदारेषु मातृवत्'** के उच्चादर्श का समर्थन है। तुलसी ने ऐसे सामाजिकों को श्रेष्ठ माना है जिनका मन परायी स्त्रियों के प्रति आकर्षित नहीं होता। बाली व रावण का नाश भी इसी कारण हुआ है कि एक ने अनुज वधू का वरण किया है तो दूसरे ने मित्र समान बन्धु का परित्याग। विदुर नीति के अनुसार **'नवद्वारमिदं वेश्यत्रिस्पूणं पंचसाक्षिकम्।' क्षेत्रज्ञधिष्ठितम् विद्वान् यो वेद स परः कविः**[४४] अर्थात् जो विद्वान् पुरुष आँख, कान, नाक आदि नौ दरवाजों वाले, वात-पित्त, कफ, रूपी खंभों वाली, पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप सारथी वाले आत्मा के निरास स्थान इस शरीर रूपी गृह को जानता है वह बहुत बड़ा ज्ञानी है। वास्तव में **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** इसी शरीर के माध्यम से इस इहलौकिक व पारलौकिक अभीप्सित को प्राप्त किया जा सकता है। अतः इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। तुलसी के

---

३७ अयोध्याकाण्ड, १७१/३-८, १७२/१-३

३८ महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरनीति ३३/६२

३९ रामचरितमानस, अयो०का० १७२

४० रामचरितमानस, बालाकण्ड ८३/१, बालकाण्ड १८३, बालकाण्ड २७७, बालाकण्ड, २८१/४, अयो०का० ७४/५, २७/५, किष्किंधा काण्ड १५ख/९

४१ सहसा करि पछिताहिं विमूढा, रामचरितमानस, अयो०का० १९१/७, सहसा करि पाछे पछिताहीं, कहहिं वेद बुध ते बुध नाहीं, अयो०का० २३०/३-४

४२ महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरनीति ३३/७०

४३ रामचरितमानस, तुलसीदास २३०/८

४४ विदुरनीति ३३.१०५

मानस में भी कहीं-कहीं स्वास्थ्य नीति के सूक्त मिल जाते हैं। **'भानु पीठि सेइअ उर आगी'** के अनुसा स्वास्थ्य चाहने वाले को सूर्य को पीठ से व अग्नि को सामने से तापना चाहिए। यही नहीं स्वास्थ्य की रक्षा संलग्न वैद्य को रोगी से झूठ नहीं बोलना चाहिए। उसकी स्थिति का ठीक-ठीक आकलन करते हुए प्रसन्नता य लाभ की आशा में मिथ्या सांत्वना नहीं देनी चाहिए। यदि वह ऐसा करता है तो शीघ्र ही रोगी के शरीर का ना हो सकता है।[४५]

शुक्रनीति कहती है कि किसी देश में राज्यांगों में राजा सिर, मन्त्री चक्षु, मित्र कर्ण, कोश मुख, सैन बुद्धि व राष्ट्र पैर हैं।[४६] मनुस्मृति भी राज्य की परिभाषा में इन सभी अंगों को सम्मिलित करती है **'स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतय:'।**[४७] तथा **'स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन्राज्यमुच्यते।'**[४८] राजा का स्थान इसमें सर्वप्रमुख है। **'राजा प्रकृतिरंजनात्'**[४९] अर्थात् राजा वही जो प्रजा को प्रसन्न रखे। साम्राज्य को चलाने के लिए राजा के बाद मन्त्री का स्थान है कौटिल्य नीति कहती है कि राजा और मन्त्री साम्राज्य रूपी शकट के दो पहिये हैं, जिनके बिना राज्य शक आगे नहीं बढ़ सकता।[५०] इसीलिए कौटिल्य नीति इस बात का समर्थन करती है कि राजा द्वारा मन्त्री पद प नियुक्ति सोच समझकर की जानी चाहिए।[५१] मनुस्मृति कहती है कि राजा वंश क्रमागत, शास्त्रज्ञाता, शूरवीर शस्त्र चलाने में निपुण, उत्तम वंश में उत्पन्न, सात या आठ मन्त्रियों को नियुक्त करे और उन मन्त्रियों के सा संधि, विग्रह आदि षड् गुण, स्थान, समुदय गुप्ति और मिले हुए का उपयोग और चिंतन करे।[५२] रामचरितमान और वाल्मीकि रामायण दोनों का ही अनुशीलन करने पर शास्त्रोक्त सभी गुणों का निर्वहण राजा राम कर दिखाई देते हैं, यही नहीं दशरथ व रावण सदृश राजा भी मन्त्रियों से मन्त्रणा करने के उपरान्त ही निर्णय दे दृष्टिगत होते हैं। यही नहीं **'दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च'**[५३] के ही समान ये सभी राजा दूत के माध्यम पारस्परिक वार्ता विनिमय करते दृष्टिगोचर होते हैं। राम और रावण यथासमय इन दूतों के ही माध्यम से अप संदेश का प्रेषण और शत्रुपक्ष के बलाबल का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यथासमय राजा दशरथ और जनक ने भी दू के ही माध्यम से अपने संदेश को दूसरे राज्यों तक पहुँचाया है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि तुलसी की समाजनीति एक आदर्श और परिष्कृत समाजनीति है जिसका अनुपालन और अनुसरण विश्व का कोई भी सभ्य समाज करना चाहेगा।

---

४५ सचिव वैद गुर तीन जौं प्रिय बोलहि भय आस। राज धर्म तन तीन कर होइ बेगिहिं नास। रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, ३७

४६ शुक्रनीति, खण्ड-१/१२२-१२४

४७ मनुस्मृति ९/२९४

४८ मनुस्मृति ९/२९५

४९ रघुवंश ४/१२

५० सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते। कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषां न श्रृणुयान्मतम्। अर्थशास्त्र, भाग-१, अध्याय-६,

५१ विभज्यात्मत्यविभवं देशकालौ च कर्म च। आमात्या: सर्वस्वैते कार्या: स्युर्न तु मन्त्रिण:। विभज्यात्मत्य विभवं देशकालौ कर्म च। आमात्या: सर्व एवैते कार्या: स्युर्न मन्त्रिणा। अर्थशास्त्र, भाग-१, अध्याय-७

५२ मनुस्मृति ७/५४-५६

५३ अर्थशास्त्र भाग-१, अध्याय-१५

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०१८८-१९५) ISSN 0974 – 8830

महर्षि वाल्मीकिकालिक शिक्षा

डॉ. वसुन्धरा रिहानी[१]

महर्षि वाल्मीकि संस्कृत भाषा के आदि कवि हैं तो उनकी रामायण आदिकाव्य है। रामायण के विषय में उक्ति प्रसिद्ध है :-

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।

तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।[२]

अर्थात् जब तक इस भूतल पर पर्वत स्थिर खड़े हैं और नदियाँ बह रहीं हैं, तब तक लोग रामकथा का गान करते रहेंगे। यदि कोई काव्य शताब्दियों बाद भी एक विशाल जनसमूह को प्रभावित कर रहा है तो यह मानना ही पड़ेगा कि वह काव्य उत्तम मानव प्रतिभा की उत्तम सृष्टि है और जिस समाज ने ऐसी प्रतिभा को जन्म देकर परिपुष्ट किया, उस समाज की शैक्षिक स्थिति अत्यन्त संतोषजनक रही होगी। इस महाकाव्य के भाव, रूप, पात्र और उनका चरित्र चित्रण सभी तत्कालीन शैक्षिक स्थिति के द्योतक हैं।

महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में जीवन के जिन आदर्शों जैसे माता-पिता व गुरुजनों की आज्ञा का पालन करना, सत्यवादिता, प्रतिज्ञापालन, दीन-दुर्बल एवं आश्रित संरक्षण, एकपत्नीव्रत, आदर्शपातिव्रत्यधर्म, वर्णाश्रम मर्यादानुसार आचरण, भ्रातृप्रेम, त्याग, उदारता, संध्या, यज्ञादि का उल्लेख किया है, इन सब को क्रियान्वित करने के लिए वाल्मीकिकालिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा। महर्षि ने शिक्षा को व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व, जिसमें व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान की परिगणना की जाती है, के विकास का साधन स्वीकार करते हुए रामायण में वेद-वेदांग, इतिहास, पुराण, दण्डनीति, वार्ता, अर्थशास्त्र, औषधविज्ञान, शरीरविज्ञान, मनोविज्ञान, ज्योतिषशास्त्र, खगोलशास्त्र आदि विविध विद्याओं के साथ-साथ संगीत, नृत्य, चित्रकला, वास्तुशास्त्र, नाट्यशास्त्र, काव्य और कविता आदि उत्कृष्ट कलाओं[३] की गणना की गई है और इन्हें वाल्मीकि ने **'वैहारिक'**[४] संज्ञा दी है। रामायण के काल में कताई, बुनाई, सिलाई और काष्ठकारी जैसी वृत्तियों का प्रशिक्षण भी दिया जाता था।[५] इस आदिकाव्य में विद्वान्, पण्डित, वेदवित्, श्रुतिपारग, बहुश्रुत, संस्कारसम्पन्न प्रभृति विशेषणवाची पद भी तत्कालीन शिक्षा की उच्च

---

१ दयाननद शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

२ (रामा. बाल.२.३६)

३ (क) वेदवेदांगशास्त्राणां पठने तत्परोऽभवत्। (अयोध्याकाण्डम् २.८) (ख) वेदविद्यासु चान्यासु कुशलः सर्वशास्त्रवित्। (अयोध्याकाण्डम् १.२) (ग) सर्वविद्यासु कुशलान् परं हर्षमवाप ह। (अयोध्याकाण्डम् २.९) (घ) धनुर्वेदे च वेदे च नीतिशास्त्रे च पारगः। अर्थशास्त्रे च कुशलो व्यायामे च तथैव हि, हस्तिशिक्षासु निष्णातो रथशिक्षासु निष्ठितः। (वही.१.२७.२८) (ङ) धनुर्वेदे च वैदेहि वेदांगेषु च निष्ठितः। (सुन्दरकाण्डम् २९.१४) च) योग-सांख्योपनिषदैस् त्रिदशैः समभिष्टुतम्। (सुन्दरकाण्डम्९१.६६) (छ) धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् धर्मकोविदः। स्मितपूर्वाभिलाषी च कृत्येषु व्यवसायवान्। (अयोध्याकाण्डम् ३.१२) (ज) गीतं नृत्यं च वाद्यं च भज मां प्राप्य मैथिलि। (सुन्दरकाण्डम् १५.१०)

४ वैहारिकाणां कार्याणां विज्ञातार्थो यथार्थवित्। (अयोध्याकाण्डम् ३.१७)

५ मणिकाराश्च ये केचिच्छत्रकाराश्च शोभनः। यन्त्रकर्म कृतश्चैव तथा शास्त्रोपजीविनः। (अयोध्याकाण्डम् ९४.१२)

स्थिति की पुष्टि करते हैं। परन्तु इतना सब होने पर भी रामायण में कहीं यह स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि वाल्मीकिकालिक शिक्षा प्रणाली में शिक्षा का पाठ्यक्रम, परीक्षा की विधि और व्यावसायिक शिक्षा प्रशिक्षण आदि का वास्तविक स्वरूप क्या था? फिर भी तत्कालीन शिक्षा की कुछ रूप-रेखा अग्रिम पंक्तियों में प्रस्तुत की जा रही है।

शिक्षा पद वाच्य विविध अभिधान

महर्षि वाल्मीकि ने 'शिक्षा' पद के अभिप्राय को 'शिक्षा', 'अध्ययन', 'विनय' और 'उपदेश' इन चार शब्दों द्वारा समझाने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ-**'शिक्षामस्त्रेषु दर्शयन्'**[६] श्लोकांश में शिक्षा का अर्थ शिक्ष (आत्मनेपदी धातु) सीखना और ग्रहण करना किया गया है। अध्ययन पद अधि—इ गतौ (परस्मैपद) धातु से निष्पन्न होता है जिसका प्रयोग **'यदा तु शास्त्रं अध्येतुम्'**[७] में प्राप्त होता है। यहाँ कहा गया है कि गुरु के पास शास्त्र अध्ययन हेतु जाना। **'राजविद्या विनीतानाम्'**[८] श्लोकांश में प्रयुक्त 'विनय' पद वि—नय (परस्मैपद) अर्थात् व्यवस्थित रूप से नेतृत्व करना या विशिष्ट तरीके से ले जाना अर्थ को दर्शा रहा है। इसी भांति 'उपदेश' पद का प्रयोग **'उपदिष्टं सूक्ष्मार्थं शास्त्रं तत्त्वेन धीमता'**[९] में देखने को मिलता है। अतः उपदेश अर्थात् उप—दिश् (उभयपदी) का अर्थ हुआ समझना, आदेश करना और पढ़ाना। उपर्युक्त इन चारों शब्दों के प्रयोग को देखने के पश्चात् ऐसा लगता है कि महर्षि वाल्मीकि के मतानुसार प्रथम दो शब्द शिक्षार्थी अथवा मनुष्य की जन्मना प्रकृति अर्थात् आनुवांशिकता की ओर संकेत करते हैं, यहाँ वह स्वयं अपने गुण, स्वभाव या प्रकृति के अनुरूप कुछ सीखता या ग्रहण करता है, जबकि अन्य दो पद शिक्षार्थी को प्रशिक्षण, संस्कारों अथवा परिष्कार द्वारा किसी विशिष्ट दिशा में कार्य करने या ले जाने की ओर इंगित करते हैं। आभास होता है कि महर्षि ने प्रकृति और परिष्कार, जिसे आंग्लभाषा में Nature and Nurture or Heredity and Environment कहा गया है शिक्षा के संदर्भ में दोनों को ही समान रूप से स्वीकार किया गया है। रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में गुरुओं का अथवा धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का यह उत्तरदायित्व होता था कि वे विशेष संस्कारों द्वारा या अनुकूल वातावरण द्वारा ऐसी स्थिति पैदा करें कि शिक्षार्थी अपने जीवन में सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, परोपकार आदि गुणों को धारण कर धर्मपूर्वक जीवन यापन करें। यहाँ धर्म का अर्थ कोई सम्प्रदाय विशेष नहीं है अपितु **'ध्रियते इति धर्मः'** के अनुसार आचरण के शाश्वत गुणों को जीवन में धारण कर जीना ही धर्मपूर्वक जीवन यापन करना है।

भारतीय संस्कृति में संस्कारों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है और इन संस्कारों में भी उपनयन संस्कार का अपना विशेष महत्त्व है। विद्यार्थी जब विद्याध्ययन आरम्भ करता था तो उक्त संस्कार सम्पादन किया जाता था। यजुर्वेद के **'आधत्त पितरो गर्भं पुष्करस्रजम्। यथेह पुरुषोऽसत्'** मन्त्र के अनुरूप रामायण में भी गुरु के दायित्व, स्नेह और दुलार की चर्चा की गई है।[१०] कहने का अभिप्राय यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में महर्षि वाल्मीकि ने जन्मना संस्कारों के साथ-साथ विशेष प्रकार के प्रशिक्षण, सही दिशा निर्देश एवं अनुकूल

---

६ आरण्य.३३.५
७ रामायण ७.३९.१४
८ सुन्दर ३९.१३
९ अयोध्या ८३.२
१० किष्किंधा-१२४.३

वातावरण को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। भारतीय संस्कृति का कथन है कि 'गुरुजन शिष्यों को गर्भ के समान धारण करें' अर्थात् जैसे माता गर्भस्थ शिशु का पोषण एवं संवर्धन करती है और उसकी रक्षा के लिये अहर्निश चिन्तित रहती है उसी प्रकार गुरुजन भी किया करें। माता-पिता तो बालक को यह भौतिक शरीर देते हैं परन्तु गुरु विद्या और ज्ञान द्वारा शिष्य को दूसरा जन्म देता है।

गुरु के आश्रम

रामायण के काल में सारे देश में गुरुओं के आश्रम होते थे। शिष्य गुरुओं के पास ऐसे आश्रमों में रहकर विद्याध्ययन करते थे। गुरु अपने शिष्यों को राष्ट्र की प्राचीनतम धरोहर अर्थात् ज्ञान के आदि स्रोत वेदों व उपनिषदों की शिक्षाओं से अवगत कराकर उनकी सुप्त प्रतिभा को जगाकर राष्ट्र व समाज की सेवा के लिए उन्हें तैयार करते थे। गुरुओं के आश्रम अधिकांशत: शहर से दूर जंगलों और सरयू, गंगा, यमुना, गोदावरी नदियों के किनारे बने हुए थे। ये आश्रम धार्मिक और सांसारिक क्रियाकलापों के अतिरिक्त ज्ञान की विभिन्न विशेष शाखाओं जैसे राजनीति, अर्थनीति, सैन्य-प्रशिक्षण आदि की भी शिक्षा दिया करते थे।

ऐसे आश्रमों में गुरुओं के आसपास शिष्य एकत्रित हुए रहते थे जैसे कि **'संञ्चालासनात् तस्माच्छिष्यान् पाद्यमिति ब्रुवन्'**[११] श्लोक से पुष्ट होता है। रा. बाल. २.२३,२९ श्लोक में कहा गया है शिष्य गुरु की सेवा करते थे, उसके लिए पानी भरते थे, गुरु के वस्त्रों को उठाकर नदी तट तक गुरु का अनुसरण करते थे। **'समावगम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादित:'**[१२] श्लोकांश से ऐसा आभास होता है कि शिष्य लोग आश्रमों में रहकर गुरु के अतिथियों की सेवा शुश्रुषा भी करते थे। महर्षि का कहना है कि शिष्यों में श्रमशीलता, विनम्रता और सहनशीलता आदि गुणों का आधान करना शिक्षा का एक भाग होता था। हाँ, इतना सब होने पर भी सारे काव्य में कहीं कोई ऐसा स्पष्ट संकेत नहीं मिलता जहाँ यह बताया गया हो कि शिष्य गुरु से अपने पाठ्यक्रम को पढ़ रहा है या आजकल की तरह कोई कक्षा लगी हुई है। इत्यादि।

जंगल-स्थित इन आश्रमों के अतिरिक्त महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में कुछ ऐसे शिक्षा केन्द्रों का उल्लेख भी किया है जो शहरों अथवा अयोध्या नगरी में ही बने हुए थे। इस बात का संकेत:-**'इष्टांस्तर्पय सौमित्रे ब्राह्मणान् वेदपारगान्'**[१३] श्लोक में मिलता है। यहाँ कहा गया है कि राम ने अपने वनगमन के समय वेद के विद्वानों को बुलाकर उपहार आदि देकर सम्मानित किया था। ऐसा भी माना जा सकता है कि राम लक्ष्मणादि चारों भाइयों को गुरु वशिष्ठ, जो उनके धमाचार्य थे, और ब्राह्मण गुरु सुधन्वा जिन्होंने इन चारों राजकुमारों को दण्डनीति एवं अस्त्र-शस्त्र विद्या की शिक्षा दी थी, ऐसे ही शिक्षा केन्द्रों में रहते थे जो कि शहर में ही स्थित थे।[१४] अगस्त्य और कौशिक जैसे उत्तम कोटि के ब्राह्मण भी उस अवसर पर श्री राम से उपहार प्राप्त करने आए थे, लगता है कि वे भी अयोध्या में ही निवास करते होंगे।[१५] सम्भवत: ये ब्राह्मण नाम विख्यात ऋषि नामों से भिन्न हों। नगर-स्थित इन आश्रमों में रहने वाले शिष्यों के खाने-पीने और आवास का सारा प्रबन्ध राजघराने की

---

११ अयोध्या.१०३.७
१२ अयोध्या. १०.३.७
१३ अयोध्या ३५.१५
१४ (क) आचार्यगृहे नित्यं धनुस्तिष्ठति मेऽर्चितम्। तदनयाथ गत्वा त्वं त्वरावनिह लक्ष्मण। (अयोध्या३४.२६) (ख) इष्वस्त्रे परमाचार्यमर्थशास्त्रविशारदम्। सुधन्वानमुपाध्यायं कचित्त्वं नावमण्यसे। (अयोध्या.११४.९)
१५. अगस्त्यं कौशिकं चैव गार्ग्यं शाण्डिल्यमेव च। समाहूयाभिवर्ष त्वं धनरत्नौघवृष्टिभि:॥ (अयोध्या३५.१६)

सहायता से होता था।[16] किष्किन्धाकाण्डम् (२१.१०) के एक श्लोक के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि शिक्षा संस्थाओं में सत्रारम्भ वर्षा या शरद् ऋतु के आरम्भ में होता था[17] क्योंकि इन दोनों में गर्मी का प्रकोप कुछ कम हो जाता था और आषाढ, श्रावण और भाद्रपद मास की पूर्णिमा के दिन वेदाध्ययन का आरम्भ किया जाता था।

गुरु शिष्य सम्बन्ध

मनुस्मृति[18] में गुरु अथवा अध्यापक की चार श्रेणियों-गुरु, उपाध्याय, आचार्य और कुलपति-का वर्णन किया गया है। महर्षि वाल्मीकि ने भी :-

'प्रज्ञां ददाति च आचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते।'[19]

'कृतांजलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं तथा।'[20]

'उपाध्यायांश्च संप्राप्य ब्रूयास्त्वभमिवादनम्।'[21]

श्लोकों में इन चारों का कथन किया है, परन्तु यहाँ इन चारों के सापेक्ष महत्त्व के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। संभवत: स्मृति-प्रतिपादित कर्त्तव्य एवं अधिकार ही इनके भी होंगे। हां, रामायण में कुलपति को आश्रम का मुखिया कहा गया है।[22] आश्रम में बड़ी संख्या में शिष्य रहते थे और कुलपति की देखरेख में उनको विविध विषयों का ज्ञान दिया जाता था।[23] एक शिष्य के जीवन में गुरु अथवा अध्यापक का स्थान माता-पिता से भी ऊपर बताया गया है। रामायण में यह भी बताया गया है कि गुरु और आचार्य के प्रति शिष्य भी पूर्णत: समर्पित और विनयशील होते थे। इस मत की पुष्टि महर्षि वाल्मीकि के काव्य में प्रयुक्त एक उपमा से होती है-यहाँ वे लिखते हैं :-

मणिरं कपिवर: सम्प्रनृह्यऽभिन्वा।
आचार्यमिव शिष्यो हि विनीतवद् उपस्थित:।[24]

अर्थात् जब अशोक वाटिका में हनुमान् सीता माता के पास गये तो वे ऐसे विनम्र भाव से उनसे मिले जैसे एक विनम्र शिष्य अपने गुरु के पास जाता है। शिष्य की विनम्रता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण राम और लक्ष्मण

---

१६ (क) भिक्षाभुजो द्विजा ये च कौशल्यां मातरं मम। पर्युपासन्ति ये तेभ्यो द्वे सहस्रे समुत्सृज। (अयोध्या ३५.२६) (ख) तथैव च सुमित्रां ये भिक्षव: समुपासते। तेभ्यश्चैव द्विजातिभ्य: सहस्रमपवर्जय। (अयोध्या. ३५.२७)

१७ प्रोष्ठपादो विनेयानां मासो ब्रह्मविवक्षताम्। अयमध्यायसमय: सामगानामुपस्थित:। (किष्किन्धा २१.१०)

१८ मनु०२.१४०-१४२

१९ रा. अयोध्या १२४.३

२० रा. आरण्य. १.४

२१ रा. अयोध्या.५३.५४

२२ त्वन्निमित्तं वयं तात वसाम: शुभदर्शनम्। रक्षोभ्यस्तेन संवृत्ता: कथयन्तो मिथ: कथा:। (आरण्य १.१२) (यह श्लोक एक ऐसे ही कुलपति की ओर संकेत करता है, जो चित्रकूट में रहते थे पर संस्थान की रक्षा के अभाव में वे किसी अन्य सुरक्षित स्थान पर चले गए थे.

२३ (क) पिता जन्म जनयति माता संवर्धयति। प्रज्ञां ददाति च आचार्यतस्मात्स गुरुरुच्यते। (अयोध्या १२४.३) (ख) पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवस्त्रय:। आचार्यश्चैव काकुत्थ पिता माताच ते त्रय:। (अयोध्या.१२४.२)

२४ सुन्दर. ३५.६३

दोनों भाई हैं। ये दोनों राजकुमार जब गुरु विश्वामित्र के आश्रम में रहते हैं तो अपने आप को गुरु का किंकर (दास) कहते हैं।[२५] इसी भांति रावण की एक उक्ति भी शिष्य की विनयशीलता का प्रतिपादन करती है यहाँ कहा गया है कि शिष्य भले ही आयु में गुरु से बड़ा हो परन्तु जब वह गुरु के पास जाए तो उसे अपना दर्प व अभिमान पीछे छोड़कर जाना चाहिए।[२६]

वाल्मीकिकालिक शिक्षा के अन्तर्गत गुरुजन भी शिष्यों की भांति देखरेख करते थे और बड़े प्यार, दुलार से उन्हें सम्बोधन करके कोई कार्य करने के लिए कहते थे। यथा:-- ऋषि विश्वामित्र जब भी राम व लक्ष्मण के साथ वार्तालाप करते थे तो दशरथ और कौशल्या का प्रसङ्ग आने पर दशरथतात कौशल्यामात कह कर बात करते थे।[२७] ऐसा व्यवहार शिष्यों की मनोवैज्ञानिक परिस्थिति को समझकर करना अपेक्षित भी होता था, क्योंकि शिष्य अपने माता-पिता और घर-बार को छोड़कर अब गुरु के पास रहने आश्रमों में आते थे तो उन्हें वही माता-पिता वाला स्नेह मिलना आवश्यक होता था। गुरु एक 'आदर्श' के रूप में अपने आपको शिष्यों के समक्ष उपस्थित करते थे, क्योंकि वे उनके भावी जीवन का निर्माण करने वाले होते थे। हम रामायण में देखते हैं कि समग्र ज्ञान के स्रोत ऋषि विश्वामित्र ने अपने इसी उत्तरदायित्व और राम लक्ष्मण के प्रति स्नेह व दुलार के वशीभूत होकर स्वत: ही उनको दूर-क्षेपक यन्त्रों का ज्ञान व अन्य कई प्रकार के अस्त्रों शस्त्रों का प्रशिक्षण दिया था।[२८]

पठन पाठन विधि

महर्षि वाल्मीकि कालिक शिक्षा में पठन-पाठन की विधियों अथवा शिक्षा प्रणाली के विषय में ज्ञान कम ही प्राप्त होता है, परन्तु **'रामनामाऽङ्कितं चेदं दिव्यं पश्यांगुलीयकम्'**[२९] एवं **'इषवो निपतिष्यन्ति रामलक्ष्मणलक्षित:'**[३०] प्रभृति श्लोकांशों से ज्ञात होता है कि उस समय लेखन कला का प्रचार आरम्भ हो चुका था। इसी भाँति **'लेख्यसंस्थानशब्दज्ञान्नीतिशास्त्रार्थ पारगान्'**[३१] सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि उस समय लिखित पुस्तकें भी उपलब्ध थीं। यद्यपि रामायण में 'पाठ' शब्द और पठ् धातु के विविध तिङन्त रूप देखने को मिलते हैं, फिर भी ऐसा आभास होता है कि उस समय शिक्षा प्राय: मौखिक रूप से ही दी जाती थी। इस मत का समर्थन **'प्रोष्ठपादो विनयानां मासो ब्रह्मविवक्षताम्'**[३२] श्लोक में पठित ब्रह्मविवक्षताम् पद में प्रयुक्त वच् धातु का प्रयोग, जो बोलने अर्थ में किया गया है, करता है। रामायण में यह भी उल्लेख आता है कि गुरु हर शिष्य पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान देते थे- इससे भी स्पष्ट होता है कि गुरु और शिष्यों के मध्य कोई लिखित पुस्तक आदि नहीं होती थी और गुरु व शिष्य के मध्य विविध विषयों पर परस्पर संवाद शैली में वार्तालाप ही होता

---

२५ (बाल. २९.४)
२६ संपृच्छामो वयं तावन्मतिमन्तं विभीषणम्। सर्वोऽर्थेष्ववरा भूत्वा गुरुं शिष्यगणा इव।। (सुन्दर) ८८.९)
२७ रा. बाल. २१.२
२८ रा. बाल. २५.२
२९ सुन्दर.३१.१७
३० सुन्दर १६.२२
३१ अयोध्या.२.२
३२ किष्किन्धा.२१.१०

था। शिष्यगण पढ़ाये गए पाठ को बार-बार दोहरा कर स्मरण किया करते थे।[३३] महर्षि वाल्मीकि ने लव और कुश दोनों को रामायण कथा मौखिक रूप से ही कंठस्थ करवाई थी, तभी तो वे दोनों वाल्मीकि शिष्य अश्वमेध यज्ञ के प्रसङ्ग में अयोध्यानगरी में रामगाथा अथवा सीताव्यथा मौखिक रूप से ही गा गा कर सुनाते हैं। यहाँ पर भी किसी लिखित पुस्तक का संदर्भ नहीं है।

इसी भांति राम और लक्ष्मण जब ऋषि विश्वामित्र के साथ अयोध्या से सिद्धाश्रम और बाद में सिद्धाश्रम से मिथिला के लिये प्रस्थान करते हैं तो रास्ते में राम बड़ी उत्सुकता से पवित्र नदियों एवं अन्य तीर्थ स्थलों के बारे में जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं तो ऋषि मौखिक रूप से उनको पूरे इतिहास, भूगोल, भारतीय संस्कृति एवं देवशास्त्रादि का ज्ञान देते हैं।[३४] तत्कालीन ऋषि आश्रमों में संध्या समय में धार्मिक और नैतिक कहानियों के सुनने और सुनाने की प्रथा का भी संकेत मिलता है,[३५] जब इन आश्रमों में यज्ञों के सत्र चलते थे तो विविध जनपदों से आए हुए विद्वान् लोग शास्त्रार्थ भी करते थे।[३६] इस प्रकार के कार्यक्रमों से भी सिद्ध होता है कि उस समय मौखिक शिक्षा का ही प्रचार था। इस प्रकार के ज्ञानवर्द्धक कार्यक्रमों से भी सिद्ध होता है कि उस समय मौखिक शिक्षा का ही प्रचार था। इस प्रकार के ज्ञानवर्द्धक कार्यक्रमों से शिक्षा के विशेष क्षेत्र में अध्ययन करने वाले प्रवर (Senior) छात्र विशेष रूप से लाभान्वित होते थे। इस संदर्भ में यहाँ एक मनोरंजक बात यह भी कही जा सकती है कि जो आलसी शिष्य स्मरण किए हुए पाठ को बार बार दोहरा कर याद नहीं करते थे और पाठ भूल जाते थे तो फिर गुरु से डरते भी थे, और गुरु ताड़ना व डाँट के डर से कृषकाय हो जाते थे। इस बात का संकेत वाल्मीकि ने राम के वियोग में कृशकाय हुई विरहणी सीता का वर्णन करते हुए एक उपमा द्वारा दिया है[३७] कि सीता, नियमित रूप से पाठ न दोहरा सकने के कारण गुरु के डर से डरे हुए दुबले शिष्य की भांति, राम के वियोग में दुबली हो गई है शास्त्रकारों ने इस समस्या का निदान स्वाध्याय और पुनः पुनः स्वाध्याय ही बताया है।

स्त्री शिक्षा

पुरा काल से लेकर अद्यावधि यह तो ज्ञात है कि लड़कों का उपनयन संस्कार किया जाता था परन्तु

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्[३८] **इमं मन्त्रं पत्नी पठेत् (श्रौतसूत्र)**

पुराकल्पे कुमारीनां मौंजीबन्धनं इष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्री वचनं तथा।[३९]

---

३३ संपरिष्वज तावन्मां पश्चात्पुत्र गमिष्यसि। किं वत्स कुपितो मेऽसि येन यां नाभिभाषसे। (अयोध्या७०.३०) (इस श्लोक में सन्दर्भ यह है कि किसी अन्धक नामक मुनि के प्रिय पुत्र की मृत्यु हो गई थी और वह पुत्रशोक में विलाप कर रहा था। इसी समय उषाकाल में उन्होंने आश्रम में उच्च स्वर में बोल बोलकर पाठ याद कर रहे विद्यार्थी को सुना। विद्यार्थी की आवाज को सुनकर उन्हें अपने बेटे की याद और भी सताने लगी तो वे बोल उठे- हे वत्स!क्या तुम मेरे से नाराज हो जो मेरे से नहीं बोल रहे? और अब न ही ऐसा अधीत पाठ मैं तुम्हारे मुख से सुन पाऊँगा।

३४ रा. बालकाण्डम् २१.२७ एवं २९.४५

३५ रा. वही. १.२

३६ रा. वही. १०.१४

३७ सा प्रकृत्यैव तन्व अंगी मद्वियोगेन कर्षिता। अनभ्यसनशीलस्य विद्येन तनुतां गता। (सुन्दर) ७४.१८)

३८ (अथर्ववेद ११.५.१८)

३९ धर्मशास्त्र का इतिहास, ऱ्दद़त्त, भाग-१, पृ. २९५

इत्यादि सन्दर्भों से यह भी परिपुष्ट होता है कि वैदिक काल से लेकर धर्मशास्त्र काल पर्यन्त कुमारों के साथ-साथ कुमारियों के लिए उपनयन संस्कार एवं शिक्षा का विधान था। यदि कोई व्यवधान आया था तो वह परिस्थिति वश मध्यकाल में आया था। परन्तु वाल्मीकिकालिक शिक्षा प्रणाली में हम स्त्री-शिक्षा का उचित स्थान देखते हैं। यहाँ वैदिक काल की तरह स्त्रियों के धार्मिक अधिकार भी वैसे ही बताए गए हैं। रामायण काल में यज्ञ सपत्नीक ही सम्भव होता था और स्त्रियाँ स्वयं संध्या वंदनादि एवं देवपूजा करती थीं।[४०] अतिथि सत्कार वैदिक मान्यताओं के अनुरूप किया जाता था।[४१] स्त्रियों द्वारा युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए पति एवं पुत्र की मंगल कामना हेतु वैदिक विधि से मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वस्त्ययन' किया जाता था।[४२] ये सब शिक्षा एवं उपनयन संस्कार के अभाव में सम्भव नहीं हो सकता था।

रामायण के समय में साधु संतों की भाँति जीवन यापन करने वाली साध्वियों का उल्लेख भी मिलता है, जिनमें स्वयंप्रभा, वेदवती, अनसूया आदि के नाम प्रमुख हैं। तारा, मन्दोदरी, कौशल्या, सीता ये सब की सब स्त्रियाँ पूर्ण विकसित व्यक्तित्व की धनी थीं। इस सन्दर्भ में मरणासन्न बाली के शब्द जो वे तारा के विषय में सुग्रीव से कह रहे हैं, उल्लेखनीय हैं-वे कहते हैं कि सुषेण की पुत्री तारा मर्मज्ञवेत्ता है, विपत्ति में अच्छी लाभकारी सलाह देती है और तारा का परामर्श कभी निष्प्रभाव नहीं होता,[४३] इसी भाँति सीता राम के साथ वनगमन का निर्णय लेना कि पति के हर सुख दु:ख में उसका साथ देना चाहिए सीता उत्तम प्रशिक्षण व शिक्षा की ओर संकेत करता है।[४४]

राजघराने की राजकुमारियों को उनके माता-पिता के द्वारा सब प्रकार की शिक्षा दी जाती थी जैसे - कैकेयी जब राजा दशरथ के साथ युद्ध में जाती है तो वहाँ राजा के घायल हो जाने पर वह उन्हें प्राथमिक चिकित्सा देती है तथा आवश्यकता पड़ने पर रथ का संचालन भी करती है।[४५] राम के राज्याभिषेक के अवसर पर देखा जाता है कि कौशल्या माता को राज्याभिषेक की संपूर्ण विधि और क्रियाओं का ज्ञान है।[४६] इसी भाँति **'अभिज्ञा राजधर्माणाम्'**[४७] श्लोकांश द्वारा सीता को भी राजधर्म की ज्ञाता कहा गया है। तारा और मन्दोदरी भी अपने-अपने पतियों के साथ राजनीतिक वार्ता में भाग लेती थीं।[४८] लंका में नियुक्त स्त्री सैन्य रक्षकों (Military Guards) एवं स्त्री जासूसों का भी उल्लेख मिलता है।[४९] रामायण में यह भी प्रसङ्ग आता है कि हनुमान् ने रावण के दरबार में नृत्यांगनाओं को देखा था।[५०] अत: स्पष्ट है कि उस समय स्त्रियों को हर तरह की शिक्षा देकर हर क्षेत्र में उन को सक्षम बनाने का प्रयास किया जाता था चाहे वह क्षेत्र गृहकार्य का हो अथवा

---

४० अर्चयन्तीं पितृंश्चैव देवांश्चान्यमानसाम्। (अयोध्या २०.९)
४१ द्विजातिवेषेण हि तं दृष्ट्वा रावणमागत:। सर्वैरतिथिसत्कारै: पूजयामास मैथिलि। (आरण्य ५१.९)
४२ सा निगृह्य ततो वाष्पमुपस्पृश्य जलं शुचि। चकार देवी रामस्य तत: स्वस्त्ययनक्रियाम्। (अयोध्या) २८.१६)
४३ सुषेणदुहिता चेयमर्थे सूक्ष्मविनिश्चये। औत्पातिके च विविधे सर्वत्रोत्तमनिष्ठिता।। (किष्किन्धा) १६.१००)
४४ अयोध्या.३०.३२ एवं ३३
४५ तस्मिन्महति संग्रामे राजा शस्त्रपरिक्षत:। विजित्याभ्यागतो देवि त्वयोपचारित: स्वयम्। (अयोध्या ११.१४)
४६ एवमृत्विगुपाध्यायै: सह मामुक्तवान् नृप:। यानि चात्यन्तयोग्यानि श्वो भाविन्यभिषेचने। (अयोध्या ६.३५)
४७ (अयोध्या २९.४)
४८ स दु:खशयितो नित्यं प्राप्येदं सुखमुत्तमम्। (किष्किन्धा २८.६)
४९ विचारन् हरिशार्दूलो विकृतेक्षणा:। (सुन्दर ४.३२)
५० अन्याकक्षगतेनैव मृदंगेलाऽसितेक्षणा। (सुन्दर ५.१२७)

व्यावसायिक।

शिक्षा का क्षेत्र तो अति विस्तृत है, परन्तु इस लेख में महर्षि वाल्मीकिकालिक शिक्षा विषय को लेकर महर्षि के मतानुसार शिक्षा पद के विविध अभिधान, शिक्षा ग्रहण करने में जन्मना गुणों व संस्कारों से साथ-साथ अनुकूल वातावरण और विशेष प्रशिक्षण का स्थान, तत्कालीन गुरुओं के आश्रम, गुरु और शिष्यों के परस्पर सम्बन्ध और एक दूसरे के प्रति उनके कर्त्तव्य, पठन-पाठन की विधि एवं स्त्री शिक्षा आदि विषयों पर किंचित् विचार किया गया है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ० १९६-२०४) ISSN 0974 – 8830

कालिदास का गंगा विषयक प्रेम

डॉ. राकेश शास्त्री[१]

भारतवासियों की जन-जन की आस्था एवं श्रद्धा की केन्द्र पतित पावनी पुण्य सलिला गंगा का सभी भारतीय नदियों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति के व्याख्याता काव्यकार कालिदास ने अपने काव्यों में गंगा के प्रति असीम श्रद्धा एवं आस्था व्यक्त की है। गंगा का उल्लेख हमारे प्राचीनतम वैदिक साहित्य ऋग्वेद[२] शतपथ ब्राह्मण[३] जैमिनि ब्राह्मण,[४] तैत्तिरीय आरण्यक[५] के साथ-साथ वाल्मीकि रामायण[६] आदि में भी उपलब्ध होता है तथा महाभारत में भी इसकी पवित्रता एवं महिमा का विस्तार से वर्णन हुआ है।[७]

इस प्रसङ्ग में उल्लेखनीय है कि नाटककार कालिदास ने जहाँ केवल दो स्थलों पर गंगा की धारा का सामान्य रूप से मात्र उपमान रूप में प्रयोग किया है,[८] वहीं दूसरी ओर काव्यकार ने अपनी तीनों ही कृतियों में गंगा के प्रति अगाध श्रद्धा-भाव को अपने अन्तस्तल से अद्भुत एवं तलस्पर्शिणी अभिव्यक्ति प्रदान की है। यहाँ तक कि अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति रघुवंश महाकाव्य में एक स्थल[९] पर तो उनका यहाँ तक मानना है कि तत्त्वज्ञानी न होने पर भी गंगा-यमुना के संगम में स्नान करने से व्यक्ति को सांसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

उन्होंने इसके जह्नु कन्या अथवा जाह्नवी[१०] भागीरथी,[११] गंगा[१२] आदि विशेषणों का अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के साथ प्रयोग किया है। इतना ही नहीं हम देखते हैं कि काव्यकार अपने प्रथम महाकाव्य कुमार सम्भव में स्वर्ग गंगा मन्दाकिनी के भागीरथी,[१३] शिव की जलमयी मूर्ति,[१४] सुरापगा,[१५] स्वर्ग तरंगिणी,[१६] स्वर्धुनी,[१७] गंगा,[१८]

---

१. अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री गोविन्द गुरु राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा(राज.)३२७००१
२. ऋ.- ६/४५/३१, १०/७५/५।
३. शतपथ ब्राह्मण- १३/५/४/११।
४. जैमिनि ब्राह्मण- ३/१८३।
५. तैत्तिरीय आरण्यक- २/१०।
६. वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड- ४०/२०।
७. महा.-आदि. ६७/७४, ९६/४-८, ९-१२।
८. (क) गंगारोधः पतनकुलषा गच्छतीव प्रसादम्। विक्रमो-१/९। (ख) हिमवति जलधौ च व्यस्ततोयेव गंगा। विक्रमो-४/५३
९. रघु.-१३/५८।
१०. मेघ.- १/५४, रघु.- ६/८५, ८/९५, १०/२६, ६९, १४/५१।
११. रघु.- ७/३६, कुमा० १/१५।
१२.कुमा० १/३०, ५४, ६/३८, ७०, रघु.- २/२६, ४/३६, ७३, ६/४८, १३/५७, १४/३, ५२, १६/३३, मेघ.- १/६७।
१३. कुमा० १०/२४।
१४. कुमा० १०/२६।
१५. कुमा० १०/२६,११/१।
१६. कुमा० १०/२८।
१७. कुमा० १०/३४।
१८. कुमा० १०/३६।

व्योमवाहिनी,[१९] स्वर्गापगा,[२०] त्रिदशापगा,[२१] सुरस्रवन्ती,[२२] नाक नदी[२३] तथा सुर निम्नगा[२४] इत्यादि अनेक प्रशंसनीय विशेषणों का प्रयोग करते हुए अत्यन्त भावभीनी स्तुति प्रस्तुत की है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर नाटककार अपनी तीनों कृतियों में गोमती,[२५] सिन्धु,[२६] मालिनी,[२७] वरदा[२८] और मन्दाकिनी[२९] आदि कुल पाँच-छः नदियों का प्रसङ्ग वश केवल नामोल्लेख ही करते हैं, इनमें भी मालिनी नदी के तट पर महर्षि कण्व का आश्रम होने से अपेक्षा कृत कुछ अधिक वर्णन हुआ है, किन्तु यहाँ भी इस नदी के प्रति नाटककार की कोई विशेष श्रद्धा भावना अभिव्यक्त नहीं हुई है। दूसरे शब्दों में नामोल्लेख के अतिरिक्त इनका कोई विशेष महत्त्व प्रदर्शित नहीं हुआ है।

वहीं दूसरी ओर इसके ठीक विपरीत काव्यकार का नदियों और उनके संगम स्थलों के प्रति विशेष लगाव रहा है, यही कारण है कि उन्होंने अकेले मेघदूत में ही सिन्धु,[३०] चर्मण्वती,[३१] वेत्रवती,[३२] निर्विन्ध्या,[३३] शिप्रा,[३४] गन्धवती,[३५] गम्भीरा,[३६] रेवा,[३७] सरस्वती[३८] आदि लगभग नौ नदियों का भावभीने वर्णनों के साथ उल्लेख करके अपने नदी विषयक प्रेम को विशिष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है।

इसके अतिरिक्त अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति रघुवंश महाकाव्य में उनकी गंगा के प्रति अगाध श्रद्धा भक्ति भावना के साथ-साथ यमुना, सरयू आदि अन्य नदियों के प्रति भी भावाभिव्यक्ति दर्शनीय कही जा सकती है। इस प्रसङ्ग में महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि गंगा-सरयू संगम पर तो काव्यकार वस्तुतः मन्त्रमुग्ध ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि अज की मुक्ति के लिए उन्होंने उसका देह त्याग भी गंगा सरयू के संगम पर ही कराया है-

तीर्थेतोयव्यतिकरभवेजह्नुकन्या सरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।

---

१९. कुमा० १०/४०।
२०. कुमा० ११/७, १७।
२१. कुमा० ११/१२।
२२. कुमा० ११/२४।
२३. कुमा० ११/२६।
२४. कुमा० १३/३०।
२५. शाकु०१/२४, विक्रमो.- ४/५३।
२६. माल.- ५/१५ से पूर्व।
२७. शाकु० १/१३ से पूर्व, ३/५, ६, ४/१५, ६/१७।
२८. माल.- ५/१, १३।
२९. आकाश गंगा - विक्रमो.- ४/२ के बाद।
३०. मेघ.-१/३१।
३१. मेघ.-१/४९
३२. मेघ.-१/२५
३३. मेघ.-१/२९
३४. मेघ.-१/३३
३५. मेघ.-१/३७
३६. मेघ.-१/४४
३७. मेघ.-१/२०
३८. मेघ.-१/५३

पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौलीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥[३९]

इसके अलावा हम देखते हैं कि गंगा सरयू दोनों ही नदियाँ काव्यकार की श्रद्धास्पद रही हैं और इन दोनों का संगम तो फिर उनके लिए सोने पर सुहागा ही हो जाता है। यही कारण है कि इन दोनों पवित्र नदियों के संगम पर शरीर त्याग करने के तुरन्त बाद अज देवता बनकर, मृत्युलोक से स्वर्ग में आकर पहले से भी अधिक सुन्दर अपनी भार्या इन्दुमती के साथ नन्दन वन के विलास भवनों में विहार करने लगे।

यद्यपि गंगा, यमुना, सरयू इन तीनों नदियों के अतिरिक्त काव्यकार ने रघुवंश में सिन्धु,[४०] शोण,[४१] लौहित्य,[४२] गोदावरी,[४३] कावेरी,[४४] ताम्रपर्णी,[४५] मुरला,[४६] कपिशा,[४७] तमसा,[४८] वंक्षु[४९] आदि अनेक नदियों का उल्लेख भी किया है। इन सभी वर्णनों के आधार पर इतना भी अवश्य कहा जा सकता है कि काव्यकार कालिदास वृहत्तर भारत की विशालतम एवं लघुतम दोनों ही नदियों से पूर्णतया परिचित थे, जबकि इस विषय में नाटककार का ज्ञान हमें अत्यन्त सीमित प्रतीत होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि नाटककार की अपेक्षा काव्यकार का नदी विषयक ज्ञान एवं उनके प्रति लगाव अत्यधिक रहा है। यही कारण है कि अपने काव्यों में उन्होंने पर्वतीय प्रदेश की विषम चट्टानों में प्रवाहित होने वाली तुमुल ध्वनि करने वाली,[५०] मध्य प्रदेश एवं हिमालय की अनेकानेक नदियों का अत्यन्त सूक्ष्म रूप में मनभावन वर्णन किया है।

नदी प्रवाह से जुड़े हुए उनके सूक्ष्म वर्णनों में पर्वतीय अवरोध के कारण जल के स्तम्भित होने,[५१] अवरूद्ध होने[५२] आदि स्वाभाविक वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त काव्यकार इस वैज्ञानिक तथ्य से भी भली भाँति परिचित प्रतीत होते हैं कि बाढ़ युक्त सहायक नदी की धारा मुख्य नदी के प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करती है।[५३]साथ ही सभी प्रधान नदियाँ पर्वतों से निकलकर सागर में जाकर मिलती हैं।[५४]

---

३९. रघु.- ८/९५।
४०. रघु.- ४/६७।
४१. रघु.- ७/३६।
४२. रघु.- ४/८१।
४३. रघु.- १३/३४।
४४. रघु.- ४/४६।
४५. रघु.- ४/५०।
४६. रघु.- ४/५५।
४७. रघु.- ४/३८।
४८. रघु.- ९/२०,७२, १२/७६, १४/७६।
४९. रघु.- ४/६७।
५०. रघु.- १६/३१।
५१. कु- ५/८५।
५२. रघु.- ६/५२।
५३. रघु.- ७/३६।
५४. रघु.- ८/८, ९/१७।

इसके ठीक विपरीत नाटककार ने, पर्वतीय अवरोध के कारण नदी का दो धाराओं में विभक्त होना,[५५] विषम शिलाओं के अवरोध युक्त प्रवाह का वेग सौ गुना बढ़ जाना,[५६] आदि केवल कुछ स्थलों पर ही इस विषय में अपने ज्ञान का परिचय प्रस्तुत किया है।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि काव्यकार नदियों के साथ-साथ नदी संगम के प्रति भी विशेष रूप से प्रभावित रहे हैं, क्योंकि उन्होंने गंगा-सरयू संगम[५७] के साथ-साथ गंगा-यमुना-संगम[५८] एवं गंगा शोण संगम[५९] का विस्तृत उल्लेख अपनी श्रेष्ठ कृति रघुवंश में किया है।

वस्तुत: काव्यकार का संगम एवं नदी विषयक यह प्रेम पृथक् से विवेचन का विषय है, अत: हमने यहाँ इसका संकेत भर किया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में हमारा कथ्य केवल इतना है कि काव्यकार का यह गंगा विषयक प्रेम ही कहा जाएगा कि उन्होंने अपनी सर्व श्रेष्ठ कृति रघुवंश का प्रारम्भ ही महर्षि वसिष्ठ के आश्रम से किया है, जिसे गंगा प्रपात अपने शीतल जल कणों से पवित्र कर रहा है-

गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश।।[६०]

इसी प्रकार अपनी प्रथम काव्य कृति कुमार सम्भव का आरम्भ ही वे जिस हिमालय की नगरी औषधि प्रस्थ से करते हैं, वह भी गंगा के किनारे ही स्थित है। जिसके चारों ओर गंगा की धाराएँ प्रवाहित हो रही हैं-

गंगास्रोत: परिक्षिप्तं वप्रान्तर्ज्वलितौषधि:।।[६१]

इसी प्रकार मेघदूत की अलका नगरी का भी गंगा के तट पर स्थित होना काव्यकार के गंगा-विषयक उत्कट प्रेम एवं उसके प्रति अगाध आस्था तथा श्रद्धा का ही परिचायक कहा जा सकता है। इतना ही नहीं यहां तो काव्यकार ने गंगा की बहती धारा में कामिनी के शरीर से सरकती हुई साड़ी की अत्यन्त सुन्दर एवं मनभावन कल्पना भी की है-

तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलाम्।[६२]

इसके अतिरिक्त रघु की दिग्विजय के प्रसङ्ग में भी काव्यकार ने हिमालय की चोटियों पर गंगा जी की फुहारों से युक्त शीतल वायु द्वारा ही अपने कथा नायक रघु की सेवा कराना उपयुक्त माना है-

गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ।[६३]

तत्पश्चात् इन्दुमती स्वयंवर के अवसर पर महिष्मती नगरी के राजा महाबाहु का वर्णन करते हुए उनकी रानियों के जल विहार के समय उनके स्तनों पर लगे चन्दन के जल में मिलने पर मथुरा की यमुना में भी गंगा की लहरों के संगम की कल्पना विशेषरूप से करना, काव्यकार के गंगा विषयक प्रेम को ही अभिव्यक्ति प्रदान

---

५५. शाकु० २/१७।
५६. विक्रमो.- ३/८
५७. रघु.- ८/९५
५८. रघु.- १३/५४-५७।
५९. रघु.- ७/३६।
६०. रघु.- २/२६।
६१. कुमा०६/३८।
६२. मेघ.- १/६७
६३. रघु.- ४/७३।

करता है-

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।

कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गंगोर्मिसंसक्तजलेव भाति।[६४]

इसी प्रकार अज और इन्दुमती के मिलन की उपमा के लिए काव्यकार को गंगा के समुद्र में मिलन रूप उपमान का चयन करना ही अधिक संगत एवं प्रभावी प्रतीत हुआ है, जो उनके गंगा विषयक प्रेम का ही परिचायक है-

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं जलधिनमनुरूपं ज।कन्यावतीर्णा ।[६५]

इसके पश्चात् इन्दुमती की रक्षा के लिए राजाओं की सेना को रोककर खड़े होने के लिए बाढ़ के दिनों में ऊँची तरंगों वाले शोण नद द्वारा गंगा की धारा को रोकने रूप उपमान का प्रयोग, जहाँ एक ओर काव्यकार के उपमा वैशिष्ट्यि को प्रदर्शित करता है, वहीं दूसरी ओर उनके गंगा विषयक प्रेम को भी अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला है-

प्रत्यग्रहीत् पार्थिवाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरंग:।[६६]

इसी प्रकार इसी महाकाव्य में अन्यत्र विष्णु की स्तुति करते हुए अलग-अलग शास्त्रों में अलग-अलग रूप में बताए गए सभी मार्ग एक ही परम पिता विष्णु तक पहुँचते हैं, इस कथ्य को समझाने के लिए भी काव्यकार गंगा की सभी धाराओं के समुद्र में गिरने के उदाहरण का ही चयन करते हैं-

बहुधाप्यागमैर्भिन्ना पन्थान: सिद्धहेतव:। त्वय्येव निपनन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे।[६७]

इन सबसे महत्त्व पूर्ण विचारणीय तथ्य यह भी है कि गंगा के प्रति काव्यकार की श्रद्धा-भाव की प्रबल अभिव्यक्ति दशम सर्ग में उस अवसर पर होती है, जब वे प्रसव के उपरान्त दुबली कौसल्या के पास लेटे हुए नन्हें राम की उपमा के लिए शरद् ऋतु में पतली धार वाली गंगा के तट पर चढ़ाए हुए नील कमल का उपमान रूप में प्रयोग करके सहृदय को चमत्कृत कर देते हैं-

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ। सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा।।[६८]

तत्पश्चात् रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में गंगा यमुना को समुद्र की दो पत्नियाँ बताते हुए आठ श्लोकों में तल स्पर्शिणी भावाभिव्यक्ति हुई है।[६९] काव्यकार का मानना है कि अत्रि की पत्नी अनसूया ही, ऋषियों के स्नान के लिए त्रिपथगा गंगा को यहाँ लेकर आयी हैं। जिसमें सप्तर्षि गण पूजा के लिए स्वर्ण कमल चुनते हैं, यही त्रिपथगा शिव के सिर पर माला की सी शोभा को धारण करती है, वस्तुत: सुन्दर कल्पना कही जा सकती है।[७०]

पुन: गंगा-यमुना संगम का भावविभोर कर देने वाला वर्णन करते हुए काव्यकार अनेक उत्प्रेक्षाओं की

---

६४. रघु.- ६/४८।
६५. रघु.- ६/८५।
६६. रघु.- ७/३६।
६७. रघु.- १०/२६।
६८. रघु.- १०/६९।
६९. रघु.- १३/५१-५८।
७०. रघु.- १३/५१।

मानो झड़ी ही लगा देते हैं, जो उनके गंगा विषयक प्रेम का ही संकेतक कहा जा सकता है। इस प्रसङ्ग में उपमानों की परिकल्पना काव्यकार की नव नवोन्मेषिणी प्रतिभा को भी प्रदर्शित करती है। यहाँ यमुना की साँवली लहरों में मिली हुई उजली लहरों वाली गंगा की सुन्दरता की अभिव्यक्ति के लिए इन्द्रनील मणियों से गुथी माला, नीले और श्वेत कमलों की मिली माला[७१] का उपमान रूप में प्रयोगदर्शनीय कहा जा सकता है।

पुनः इस उपमानों से संतुष्ट न होकर काव्यकार अग्रिम श्लोकों में साँवले रंग के हंसों से मिले हुए उजले रंग के राजहंसों की पंक्ति का उपमान रूप में प्रयोग करते हैं। तत्पश्चात् इसी प्रसङ्ग में श्वेत चन्दन से चीती हुई पृथ्वी को बीच-बीच में काले अगरु द्वारा चीती हुई बताते हैं।[७२] इतना ही नहीं इस सबसे आगे बढ़कर वे गंगा-यमुना के संगम की शोभा को वृक्ष के नीचे की उस चाँदनी के समान बताते हैं, जिसके बीच-बीच में पत्तों की छाया पड़ी हो अथवा शरद् ऋतु के उजले बादलों के समान कहते हैं, जिनके बीच में से नीला आकाश झाँक रहा हो।[७३] इसके अतिरिक्त कहीं तो भाव विभोर कर देने वाला यह दृश्य काव्यकार को भस्म पुते हुए शिव के शरीर के समान प्रतीत होता है, जिस पर काले सर्प लिपटे हुए हैं।[७४]

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रस्तुत स्थल पर गंगा-यमुना संगम के दृश्य का वर्णन करते हुए काव्यकार वस्तुतः अपने श्रद्धातिरेक के कारण अत्यन्त भावुक हो गए हैं, इसलिए संगम के इस दृश्य पर स्वयं को मानो वे न्यौछावर ही कर देना चाहते हैं। तभी तो वे गंगा-यमुना संगम को लेकर एक के बाद एक उपमान प्रस्तुत करते हुए उपमानों की झड़ी लगाते हुए माला ही प्रस्तुत कर देते हैं।

इतना ही नहीं काव्यकार ने तो संगम स्नान को तत्त्व ज्ञान से भी अधिक महत्ता प्रदान की है, क्योंकि इस विषय में उनकी मान्यता है कि गंगा-यमुना के पवित्र संगम में स्नान करने वाला व्यक्ति तत्त्वज्ञानी न होते हुए भी सांसारिक बन्धनों से पूर्णतया मुक्त होकर मोक्ष गामी हो जाता है।[७५]

वस्तुस्थिति तो यह है कि काव्य संरचना करते हुए काव्यकार प्रतिक्षण ऐसे अवसरों की तलाश में रहते हैं कि उन्हें गंगा के वर्णन का अवसर प्राप्त हो। इसीलिए जैसे ही उन्हें इसका अवसर प्राप्त होता है वे गंगा का उपमान रूप में अथवा उदाहरण रूप में नियोजन करने से नहीं चूकते हैं। रघुवंश के चतुर्दश सर्ग में राम लक्ष्मण के वनवास से लौटने पर उनकी माताओं के साथ मिलन के दृश्य में भी वे गंगा का ही उपमान रूप में प्रयोग करते हैं।[७६]

क्योंकि राम लक्ष्मण को देखकर उनकी दोनों माताओं की आँखों में आए आनन्द के ठंडे आँसुओं ने शोक के गर्म आँसुओं को वैसे ही ठंडा कर दिया, जैसे गर्मी के दिनों में हिमालय का शीतल जल, गंगा और सरयू के गर्म जलों को ठंडा कर देता है।[७७] प्रस्तुत सुन्दर अभिव्यक्ति वस्तुतः काव्यकार के गंगा विषयक प्रेम को ही अभिव्यक्ति प्रदान करती प्रतीत होती है।

---

७१. रघु.- १३/५४।
७२. रघु.- १३/५५।
७३. रघु.- १३/५६।
७४. रघु.- १३/५७।
७५. रघु.- १३/५८।
७६. रघु.- १४/३।
७७. रघु.- १४/३।

इसके अतिरिक्त काव्यकार ने गंगा को ममता मयी माँ के रूप में चित्रित करके उसके प्रति आपनी आस्था एवं श्रद्धा के सुमन भी अर्पित किए हैं। रघुवंश महाकाव्य में राम की आज्ञा से माता सीता को गंगा तट पर स्थित वन में छोड़ने के लिए जाते हुए मार्ग में पड़ी गंगा मानो लक्ष्मण को अपने लहरों रूपी हाथों को हिला कर ऐसा अनर्थ करने से मना कर रही है, ऐसा हृदय स्पर्शी दृश्य वस्तुतः अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है-

गुरोर्नियोगाद्वनिता वनान्ते साध्वीं सुमित्रा तनयो विहास्यन्।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रास्थितया पुरस्तात्॥[७८]

इसी प्रकार काव्यकार की गंगा के प्रति श्रद्धा भावना को वापस अयोध्या लौटने के अवसर पर भी अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है, क्योंकि मार्ग में जहाँ एक ओर पश्चिम की ओर उलटी बहने वाली गंगा पर हाथियों के पुल का निर्माण करके कुश सेना सहित उसे पार करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे चंचल तरंगों वाली गंगा को प्रणाम कराना नहीं भूलते हैं, क्योंकि वे इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं कि इसी गंगा की कृपा से कपिल के कोप से दग्ध हुए उनके पूर्वज सगर के पुत्रों को स्वर्ग की प्राप्ति हुई थी-

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद् भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम्।
सुराऽलयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौ लुलितं ववन्दे॥[७९]

इसके अतिरिक्त कुमार सम्भव महाकाव्य के दशम सर्ग में काव्यकार की गंगा के प्रति अगाध आस्था की अभिव्यक्ति और भी अधिक प्रशंसनीय कही जा सकती है। जहाँ शिव के वीर्य को धारण करने वाले अग्नि को गंगा-स्नान द्वारा ही असह्य पीड़ा से मुक्ति मिली है। इसी अवसर पर काव्यकार द्वारा प्रकट किए गए उद्गार वस्तुतः उनकी गंगा के प्रति श्रद्धा भावना को सटीक अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।

इस अवसर पर काव्यकार ने दस श्लोकों में गंगा को सभी दुःखों को मिटाने वाली, भक्तों के लिए स्वर्ग की सीढ़ी, मोक्ष दात्री, पाप हारिणी, कष्ट निवारिणी, स्वर्ग तरंगिणी, धर्म धारिणी, सगर के पुत्रों को तारने वाली, विष्णु के पैर से उत्पन्न, ब्रह्म लोक से आने वाली, शिव की जल मयी मूर्ति एवं अपनी तीनों धाराओं से तीनों ही लोकों को सदैव पवित्र करने वाली बताया है।[८०]

अग्नि को देखकर इस अवसर पर भी पुण्य तोया गंगा अपना ममत्व प्रदर्शित करती है, क्योंकि यहाँ भी वह ममतामयी माता के समान अपने लहरों रूपी हाथों को ऊपर उठाकर, अग्नि के कष्ट को दूर करने के लिए मानो उसे दूर से ही अपने पास बुला रही है-

जातवेदसमायान्तमूर्मिहस्तैः समुत्थितैः। आजुहावार्थसिद्धी तं सुप्रसादधरेव सा।[८१]

इसी प्रसङ्ग में काव्यकार ने गंगा के राज हंसों की ध्वनि में भी अपनी श्रद्धा के कारण परोपकार एवं कष्टहरण रूप भावना के दर्शन किए हैं।[८२] साथ ही ऊँची उठती ढलुए तट पर आगे बढ़ती गंगा की तरंगों में देव कार्य करने वाले अग्नि के स्वागत करने की सुन्दर परिकल्पना भी की है[८३] और अन्त में कल्याण कारिणी, श्रम

---

७८. रघु.- १४/५१।
७९. रघु.- १६/३४।
८०. कुमा० १०/२२-३१।
८१. कुमा० १०/३२।
८२. कुमा० १०/३३।
८३. कुमा० १०/३४।

हारिणी, पुण्य भारिणि, तारिणि गंगा के जल में डुबकी लगाकर अग्नि देव को भी असीम सुख प्रदान कराया है-

गंगावारिणि कल्याण कारिणि श्रमहारिणि। स मग्नो निर्वृत्तिं प्राप पुण्यभारिणि तारिणि।[८४]

तत्पश्चात् माघ माह में छहों कृत्तिकाओं के स्नान के लिए गंगा तट पर आगमन,[८५] स्वर्ग में रहने वाले देवों द्वारा भी गंगा के दर्शन, स्नान और आचमन आदि का कथन करना,[८६] स्नान के उपरान्त ऋषि मुनियों द्वारा तट पर पूजा की सामग्री-फूल, दूब, अक्षत आदि का मन भावन चित्रण[८७] तथा इसी गंगा के तट पर ऋषि, मुनि एवं योगियों द्वारा पद्मासन लगाकर परम ब्रह्म का ध्यान करना,[८८] ऐसी सर्वगुण सम्पन्न दिव्य गंगा नदी को कृत्तिकाओं द्वारा प्रणाम कराना, आदि अनेक क्रियाएँ काव्यकार की गंगा के प्रति अगाध श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम की परिचायक कही जा सकती हैं, जो हमें नाटककार कालिदास में सर्वथा दृष्टिगोचर नहीं होती है।

इसी प्रकार काव्यकार की गंगा के प्रति आस्था की प्रतीति हमें उस अवसर पर भी होती है, जब वे गंगा के दर्शनमात्र से ही परम पुण्य की प्राप्ति का कथन करते हुए कहते हैं कि-जिस गंगा को स्वयं भगवान् शंकर ने अपने मस्तक पर धारण किया, जिनके दर्शन मात्र से परम पुण्य की प्राप्ति होती है, उन गंगा जी को देखकर कृत्तिकाओं के मन में परम श्रद्धा ने प्रवेश किया[८९] और उन्होंने मुक्ति प्रदान करने वाली, पुण्य सलिला, पापनाशिनी, गंगा की अत्यन्त भक्तिभाव से वन्दना की।[९०]

उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि काव्यकार की मान्यता तो इस सम्बन्ध में यहाँ तक है कि गंगा का दर्शन व्यक्ति के सौभाग्य का सूचक है, जो वस्तुत: उसे मोक्ष प्रदान कराने के समान है।[९१] अत: पूर्व जन्म के पुण्य कर्मे के फल स्वरूप ही लोग इस गंगा में स्नान के अवसर को प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि कृत्तिकाओं ने भी गंगा जल में स्नान के पश्चात् चरम आनन्द की प्राप्ति की तथा अपने भाग्यों की सराहना की,[९२] क्योंकि गंगा जल में स्नान करते हुए कृत्तिकाओं को मोक्ष प्राप्ति की ही अनुभूति हो रही थी।[९३]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि नाटककार कालिदास जहाँ केवल कुछ ही स्थलों पर[९४] गंगादि नदियों का स्मरण मात्र करते हैं। वहीं काव्यकार अपनी तीनों ही कृतियों में गंगा के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा भावना एवं भक्ति का परिचय प्रस्तुत करते हुए, उपमान रूप में तो उसके अनेकानेक प्रयोग करते ही हैं, साथ ही भाव विभोर होकर उसकी स्तुति में भी अनेक पद्यों की संरचना करते हैं।[९५] यहाँ वे इसके लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग करते हैं, जो उनके अन्तस्तल से श्रद्धा पूर्वक निकले हुए भावों की गहन अभिव्यक्ति ही

---

८४. कुमा० १०/३६।
८५. कुमा० १०/४३।
८६. कुमा० १०/४४।
८७. कुमा० १०/४५।
८८. कुमा० १०/४६-४७।
८९. कुमा० १०/४९।
९०. कुमा० १०/५०।
९१. कुमा०१०/५१।
९२. कुमा० १०/५३।
९३. कुमा० १०/५२।
९४. शाकु० १/१३ से पूर्व, १/२४, ३/५, ६, ४/१५, ६/१७, विक्रमो.- ४/२ के बाद, ४/५३। माल.- ५/१, १३, ५/१५ से पूर्व।
९५. कुमा० १०/२२-३१।

प्रतीत होते हैं।

वस्तुत: गंगा के प्रति इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति हमें अन्य किसी भी संस्कृत महाकवि में देखने को नहीं मिलती है। वस्तुस्थिति तो यह है कि गुप्तकाल में स्थित काव्यकार कालिदास गंगा के पौराणिक स्वरूप के प्रति अत्यन्त आस्थावान् रहे हैं। यही कारण है कि गंगा की स्तुति में हम भावभीनी पौराणिक शैली के दर्शन भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि काव्यकार के गंगा विषयक इस प्रगाढ़ आस्था एवं प्रेम के आधार पर हमें नाटककार कालिदास एवं काव्यकार कालिदास दो भिन्न व्यक्तित्वों के रूप में स्पष्ट रूप से दिखायी देते हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०२०५-२०८) ISSN 0974 – 8830

पौराणिक नारी का आधुनिक नारी समाज पर प्रभाव

डॉ. रंजु पटियाल[1]

सम्पूर्ण भारतवर्ष पर पौराणिक प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। हमारी अमूल्य निधि पुराणों में भारतीय संस्कृति के ज्ञान का अक्षय-भण्डार भरा हुआ है। पुराण साहित्य में उल्लिखित नारी का रूप आधुनिक नारी का आधार है और भविष्य में उसके लिए प्रेरणा भी। इसीलिए प्राचीन नारी-वर्णन का ज्ञान प्राप्त करना अपेक्षित है। पुराण काल में नारी को न केवल सम्मानीय स्थान प्राप्त था। अपितु प्रत्येक क्षेत्र में उसकी अपनी महत्ता भी थी। परिवार में वह पुत्र के समान ही गौरवमय स्थान रखती थीं माता, पुत्री, पत्नी के रूप में परिवार की मर्यादाओं का पालन करने के साथ-साथ समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वहण भी बहुत ही सुचारू ढंग से करती थी।

पौराणिक समाज में स्त्री के प्रति पुरुष का दृष्टिकोण उसके सम्बन्धों पर निर्भर करता था। माता-गुरुपत्नी, पत्नी तथा कन्या के रूप में स्त्री को आदर तथा प्यार दिया जाता था, बिना माता और पत्नी के घर जंगल के समान माना जाता था।

यस्य माता गृहे नास्ति गृहिणी वा सुशासिता।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथाऽरण्यं तथा गृहम्॥[2]

भविष्य पुराण में स्पष्ट कहा गया है कि पुरुष के बिना स्त्री या पत्नी के बिना पुरुष आधा होता है।[3]

पुरुष स्त्री की हर प्रकार से रक्षा करता था, स्त्रियों के तीन रक्षक माने गये हैं।

'पिता कौमारकाले च सदापालनकारकः।
भर्ता मध्ये सुतः शेषे त्रिधाऽवस्था सुयोषिताम्॥'[4]

आधुनिक समाज में स्त्री के प्रति पुरुष का दृष्टिकोण उसके सम्बन्धों पर ही निर्भर करता है। आज भी पारिवारिक सम्पन्नता के लिए स्त्री का होना अनिवार्य माना जाता है तथा पुरुष स्त्री की हर प्रकार से रक्षा करता है। प्रत्येक भारतीय स्त्री को रक्षणीय मानते हुए उसकी रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है।

पौराणिक काल में स्त्री को अबला माना जाता था[5] सम्भवतः इसीलिए स्त्री को अवध्य कहा गया है। स्त्री का वध करना महादोष माना जाता था,[6] इतना ही नहीं जो पुरुष धर्मपत्नी का त्याग करता था। वह नरक भोगता था।

न मोक्षस्तस्य भवति धर्मस्य स्खलनं ध्रुवम्।

---

१ संस्कृत प्राध्यापिका, बी.टी.सी. डी.ए.वी. कालेज, बनीखेत, हिमाचल प्रदेश
२ ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृतिखण्ड ५९.१२
३ भविष्य पुराण ब्रह्मपर्व ६.२९
४ ब्रह्मवैवर्त पुराण गणपतिखण्ड ४.६
५ दे० भा०, ५/२/१२-१३
६ दे० भा०, ५/१८/१८

अभिशापेन भार्याया नरकं च परत्र च।[७]

कन्या के विक्रय को अत्यधिक घृणित माना गया है।

स्वकन्यापालं कृत्वा विक्रीणाति हि यो नरः।
अर्थलोभान्महामूढो मांसकुण्डं प्रयाति सः।।[८]

इससे यह भी संकेतित होता है कि तत्कालीन समाज में कन्या के विक्रय की प्रथा भी अवश्य विद्यमान रही होगी। परन्तु उसे समाज में निन्दनीय तथा हेय माना जाता था। पौराणिक काल के इस पक्ष का आधुनिक समाज पर साक्षात् प्रभाव दृष्टिगोचर होता है क्योंकि वर्तमान समाज में भी स्त्री का क्रय विक्रय निन्दनीय माना जाता है। यदि कोई निर्धन या धन का लोभी ऐसा कार्य करता है तो सभी के द्वारा उसकी भर्त्सना की जाती है।

पौराणिक काल में ऐसा नहीं था कि नारी समाज का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था अपितु वह राजनीति में अत्यधिक पारंगत थी। इसका प्रमाण हमें मदालसा के द्वारा अपने पुत्र अलर्क को दिये गये राजनैतिक उपदेश से मिलता है। वह अलर्क को कहती है कि यदि राजा को पृथ्वी का पालन करना हो तो उसे इन्द्र, सूर्य, यम, चन्द्र और वायु इन पांच देवताओं के अनुरूप आचरण करना चाहिए।

'चन्द्रसूर्यस्वरूपं च नीत्यर्थे पृथ्वीक्षिता'[९]

राजा को दान के द्वारा सूर्य की गर्मी की तरह सूक्ष्म उपायों से करादिग्रहण कर, यम की तरह प्रिय-अप्रिय तथा दुष्ट के प्रति समदर्शी बनकर, चन्द्रमा की तरह प्रजा के प्रति अच्छा तथा सत् आचरण कर और वायु की तरह नगरवासी आमात्य और बन्धु के चरित्रादि की सोच ही राजा का प्रमुख कर्तव्य है। इन्द्र चार मास तक वर्षा के द्वारा प्राणिमात्र को तृप्त करता है।[१०] राजा को भी इन्द्र की भाँति प्रजा को सदैव सुखी तथा सन्तुष्ट रखना चाहिए।

यद्यपि आधुनिक नारी की भांति पौराणिक नारी प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग नहीं लेती थी परन्तु उसकी अप्रत्यक्ष राजनैतिक सूझ-बूझ सम्पूर्ण संसार पर विजय प्राप्त करवा सकती थी। उसके राजनैतिक दृढ़ संकल्प का उदाहरण मदालसा के उस पद्यांश से उपलब्ध होता है, जिसमें वह अपने पुत्र को सम्पूर्ण पृथ्वी पर विजय पाने का मूलमन्त्र देती है।[११]

पौराणिक नारी स्वरक्षा और पररक्षा हेतु अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग करती थी वह अत्याचारों के विरू(आवाज उठाने की क्षमता भी रखती थी, देवी के रूप में नारी के त्रिशूल, गदा, शर, वृष्टि और खड्गादि द्वारा सैकड़ों महाअसुरों का विनाश किया।

ततो देवी त्रिशूलेन गदया शरवृष्टिभिः।[१२]

---

७ ब्रह्मवैवर्त पुराण श्रीकृष्ण जन्मखण्ड ११३/८
८ ब्रह्मवैवर्त पुराण प्रकृतिखण्ड ३०,३३
९ मार्क० पु० २४/२०
१० मार्क० पु० २४/२२-२८
११ मार्क० पु० २४/२३
१२ मार्क० पु० ७९/५६

नारी ने देवी रूप में माया द्वारा विभिन्न रूप धारण कर महिषासुर नामक राक्षस का वध कर दिया देवी ने सृष्टि की रक्षा के लिए देवताओं की प्रार्थना करने पर अनेक दैत्यों का सेना सहित नाश कर दिया जिसके फलस्वरूप देवतागण अत्यधिक प्रसन्न हुए।

'ततो हाहाकृतं सर्वं दैत्यसैन्यं ननाश तत्।
प्रहर्षं च परं जग्मुः सकला देवतागणाः॥'[१३]

आधुनिक युग में भी भारतीय समाज में नारियां विभिन्न माध्यमों से स्वरक्षा और पररक्षा का भार निभ रही हैं, चाहे वह स्वयंसेवी संगठन हो अथवा सशस्त्र सेना। परन्तु इसके साथ-साथ नारी के सकारात्मक औ नकारात्मक दोनों रूप दृष्टिगोचर हो रहे हैं। नारी अपने बौद्धिक विकास एवं सम्पूर्ण सक्षमता का दुरूपयोग भ कर रही हैं। वह विभिन्न मंचों के माध्यम से अपने अहं तथा स्वाभिमान का दुरूपयोग करते हुए स्वशोषण औ परशोषण का कारण बनती जा रही है। आधुनिक नारी अत्यन्त सशक्त है, परन्तु अपनी शक्तियों के दुरूपयो के कारण वह नकारात्मकता का प्रतिबिम्ब बनती जा रही है, यद्यपि ऐसी नारियों की संख्या बहुत कम है, परन् यह आधुनिक युग की सच्चाई है।

पौराणिक स्त्रियां अपने सौन्दर्यवर्धनार्थ बाह्य शृंगार को बहुत अधिक महत्त्व दिया करती थीं। वे अप मन को प्रसन्न करने के लिए तथा पति को सन्तुष्ट रखने के लिए नाना प्रकार के शृंगार किया करती थीं। साड़ियां पहनती थी।[१४] गले में गंदार पुष्प की मालाएं तथा मोतियों के हार पहनती थीं,[१५] माथे पर सिंदूर से अ चन्द्रकार बिन्दु,[१६] भाल पर कस्तूरी से पत्र रचनाएं बनाती थीं। वे सूती तथा रेशमी दोनों प्रकार के वस्त्रों व प्रयोग में लाती थीं,[१७] ये वस्त्र बहुत महीन तथा मुलायम होते थे। वे बालों में फूलों की माला[१८] तथा पैरों मेंहदी और महावर लगाती थीं।[१९] वे शंखों से बने तथा मिट्टी से बने आभूषणों का भी प्रयोग किया करती थीं।[२०]

आधुनिक युग में भी नारी पौराणिक युग की भान्ति शृंगारप्रिया ही है। आज की नारी अपने शृंगार औ साज-सज्जा पर अत्यधिक समय एवं पूंजी खर्च करती है। पौराणिक नारी की तरह आधुनिक नारी भी शृंगारि प्रवृत्ति की है, अन्तर केवल इतना है कि पौराणिक नारी अपने साज-सज्जा हेतु प्राकृतिक साधनों का उपयो करती थी, किन्तु आधुनिक नारी कृत्रिम प्रसाधनों का प्रयोग करती है, जो कि उसकी त्वचा को मुलायम बना हैं और शारीरिक सौन्दर्य को बढ़ाते हैं किन्तु कई बार हानिकारक भी सिद्ध होता है। धीरे-धीरे इन कृत्रि प्रसाधनों को नकारते हुए आज की नारी भी सौन्दर्य के प्राकृतिक प्रसाधनों की ओर आकर्षित हो रही है पौराणिक काल में पुरुष नारियों के लिए धन संग्रह के साथ-साथ सौन्दर्यवर्धक रत्नादि का संग्रह भी किर करते थे।[२१]

---

१३ मार्क० पु० ८०/४३
१४ दे० भा० ९/११/२०
१५ दे० भा० १/१६/६२
१६ दे० भा० ९/११/५
१७ दे० भा० ९/११/१२
१८ दे० भा० ९/१९/२९
१९ दे० भा० ९/१९/२९
२० दे० भा० ९/१९/२९
२१ अग्नि पु० १२४/३

कृष्ण ने भी अपनी प्रेयसी राधा को प्रसन्न करने के लिए विभिन्न साधन उपलब्ध करवाए थे। आजकल भी पति या प्रेमी अपनी पत्नियों तथा प्रेमिकाओं के लिए अनेक प्रकार की साज-सज्जा की सामग्रियां उपलब्ध करवाकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं।

शाक्त पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में स्त्री की तीन रूपों में स्थिति स्पष्ट होती है, कन्या, पत्नी और माता। कन्या के रूप में उसका समाज में पर्याप्त आदर था वह परिवार के सभी सदस्यों के लिए स्नेह की पात्र थी। वैवाहिक जीवन प्राप्त करने के लिए वह अपने माता-पिता पर निर्भर थी। वह स्वयं भी अपने पति का चयन कर लेती थी, परन्तु अन्तिम रूप से उसे अपने पिता की सहमति प्राप्त करनी होती थी। वैवाहिक जीवन में उसे पति के अधीन रहना पड़ता था। उसे अपने पति की हर आज्ञा का पालन करना होता था। सन्तानोत्पति के पश्चात् उसका कर्तव्य था कि वह बच्चों की देखभाल करें।

उपर्युक्त दर्शित पौराणिक नारी एव आधुनिक नारी के तुलनात्मक अध्ययन से यह दृष्टिगोचर होता है कि आधुनिक नारी पौराणिक नारी का उभरा हुआ स्वरूप है जो विशेषताएं हमें पौराणिक नारी के स्वरूप में प्राप्त हुई हैं उन्हीं विशेषताओं का नवीनतम रूप भारतीय समाज में आधुनिक नारी के व्यक्तित्व में दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि आधुनिकता तथा औद्योगिकता का नारी समाज पर भी प्रभाव पड़ा है तथा अपने व्यक्तित्व को उभारने के लिए आधुनिक युग में नारी के अपने विकास के लिए कुछ पुरातन परम्पराओं तथा प्रथाओं को ठुकरा दिया है, परन्तु सामान्यतया आज भी नारी समाज पर पौराणिक नारियों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०२०९-२१५) ISSN 0974 – 8830

संस्कृत नाट्योत्पत्ति-पाश्चात्य समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. सुरचना त्रिवेदी[1]

संस्कृत भाषा में नाट्य शब्द नट् धातु में क्यप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[2] जिसका अर्थ है रूपक, रूप्य और नाटक। नाट्यदर्पण के रचयिता राम चन्द्र केमतानुसार 'नाट्य' शब्द 'नाट्य' धातु से व्युत्पन्न हुआ। आचार्य पाणिनि नाट्य की व्युत्पत्ति 'नट्' धातु से मानते हैं, जबकि पाश्चात्य विद्वान् वेबर तथा मोनियर विलयम 'नृत्त; का प्राकृत रूप मानते हुए इसे स्वीकार करते हैं।[3] परन्तु वस्तुतः नाट्य शब्द 'नट्' धातु से निष्पन्न है। 'नट्' धातु में नृत्त के अर्थ के साथ-साथ अभिनय का अर्थ भी सम्बद्ध है। आचार्य भरतमुनि ने 'नाट्य' शब्द को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्पूर्ण संसार के भावों की अनुकीर्तन ही नाट्य है।[4] दशरूपककार से इसी को और अधिक स्पष्ट किया-**अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।**[5]

एश्लेड्यूक्स ने अपने 'इंग्लिश ड्रामा' नामक ग्रन्थ में लिखा है-'ड्रामा' शब्द ग्रीक में 'सक्रियता' का वाचक होता है। 'ड्रामा' शब्द की व्युत्पत्ति से भारतीय व पाश्चात्य नाटकों के मौलिक अन्तर का स्पष्टीकरण भी हो जाता है। भारतीय मान्यतानुसार 'अनुकरण और अभिनय' को नाटक का प्रमुख तत्त्व माना जाता है और पाश्चात्य देशों में सक्रियता को इसका प्रमुख उपादान ध्वनित किया गया है।

भारतीय संस्कृत नाट्योत्पत्ति के संबंध में विचार करते हुए यह ज्ञान होता है कि आचार्य भरतमुनि ने चारों वेदों[6] ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर[7] वेदोपवेद से सम्बन्धित 'नाट्यवेद' की सृष्टि की।[8] भारतीय परम्परानुसार नाट्य सार्ववर्णिक है और त्रैलोक्य का भावानुकीर्तन रूप है। मनुष्य जीवन के मंगल के लिए नाट्य में न जाने कितने तत्त्वों का संकलन होता है। यह धार्मिकों के लिए धर्म, कामोपसेवियों के लिए शृङ्गार-हास्य, दुर्विनीतों के लिए संयम, विनीतों के लिए दमन क्रिया शूरों और अभिमानियों के लिए उत्साह, दुःख पीड़ितों के लिए धैर्य, अर्थोपजीवियों के लिए अर्थ तथा उद्विग्न चित्त को धैर्य प्रदान करता है। इस प्रकार नाना प्रकार के भावों और अवस्थाओं से परिपूर्ण लोकवृत्त का सजातीय अनुकरण रूप यह नाट्य होता है -

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।

---

१. असि० प्रोफे०- संस्कृत, भगवानदीन आर्य कन्या स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)
२. संस्कृत हिन्दी कोष - तारिणीश झा, पृ० ५९१
३. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त-द्वितीय भाग पृष्ठ - १७४
४. नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय
५. दशरूपकम् - प्रथम प्रकाश
६. जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥
७. वेद में सृष्टि की दो धाराये हैं - अग्नि और सोम। दोनों नाना प्रकृति और योनि है। दोनों के योग से अग्नि सोमात्मक जगत् की सृष्टि हुई। अग्नि की धारा से 'ऋक्' और सोम की धारा से 'अथर्व' की रचना हुई। नाट्य रूप अग्नि के लिए सोम अपेक्षित है। नाट्य का सुख सोम है और दुःख अग्नि रूप है। (डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के मौखिक परिसंवाद के आधार पर) - भरत और भारतीय नाट्य-कला, पृ० ६४
८. नाट्यशास्त्र - ३६/७१-७२

न सौ योगो न तत्कर्म, यन्नाट्येऽस्मिन् न दृश्यते।।[९]

नाट्योत्पत्ति के विषय में भारतीय परम्परा भरत के मत का समर्थन करती है। अभिनय दर्पण,[१०] रसार्णव सुधाकर,[११] नाटक लक्षण रत्नकोष[१२] और भाव प्रकाशन[१३] आदि ग्रन्थों में इस प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। भरत प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति के विश्लेषण के पश्चात् कुछ निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, वे इस प्रकार हैं-(क) नाट्य को वेदों से सहायता प्राप्त हुई, (ख) लोकोत्सव और ऋतुत्सवों ने मनोरंजन और लोक चेतना से अनुप्राणित किया, (ग) नाट्य के उद्भव, विकास प्रयोग में आर्येतर शक्तियों का भी दायित्व था, (घ) विभिन्न देवताओं की जीवन गाथाओं ने भी प्रेरणा दी, (ङ) नाट्य प्रयोग में महिलाओं का प्रवेश बहुत बाद में हुआ, (च) नाट्य मण्डप की रचना बाद में हुई और (छ) गीत, नृत्त तथा नृत्य बाद में नाट्य के अङ्ग बने। किन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वान् जिनमें वैबर, विंडिश सिल्वान लेवी, श्रोडर, हर्शेल, मैक्समूलर, पिशेले, कीथ, जो अपने शोध व कल्पना के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय संस्कृत नाट्योत्पत्ति के विविध विधि स्रोत पाश्चात्य नाट्यकला में उपलब्ध हैं। इन पाश्चात्य समीक्षकों का मत का उल्लेख निम्नवत् है --

पाश्चात्य समीक्षक वेबर ने संस्कृत नाटयोत्पत्ति और विकास को ग्रीक नाट्य कला से प्रभावित सिद्ध किया है। उन्होंने सिद्ध किया कि प्राचीन काल में ग्रीक और बैक्ट्रिया के राजाओं से पंजाब के राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध के फलस्वरूप ही भारतीय संस्कृत नाट्यकला ग्रीक नाट्य कला से प्रभावित हुई थी। वैबर के उक्त मत को विंडिश नामक पाश्चात्य समीक्षक से दृढ़ता से प्रतिष्ठापित किया।

विंडिश ने अनेक तर्कों व प्रमाणों से यह सिद्ध किया कि ३४० से लेकर ३६० ई० शताब्दी पूर्व में प्रचलित न्यू एटिक कॉमेडीज ने भारतीय नाट्यकला की रूपरेखा संभाली थी। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने अनेक तर्क दिए।[१४]

भारतीय नाटकों के अंकों की विकास कला, सब पात्रों के चले जाने के पश्चात् पटाक्षेप का विधान तथा नाटकों में पांच अंको के होने का नियम ग्रीक नाटकों से ही ग्रहण किए गये हैं।

भारतीय तथा ग्रीक नाटकों में हमें दृश्य में स्वगतोक्ति पात्रों के अन्दर आने व बाहर जाने आदि से सम्बन्धित जो नियम प्राप्त होते हैं, उनकी पारस्परिक समता इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि भारतीय नाट्य कला में कुछ ग्रीक नाट्य कला से उद्भूत है।

भारतीय नाट्य कला में कुछ ग्रीक शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग प्राप्त होता है इनमें एक शब्द है 'जवनिका'। इससे प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृत नाट्य पर ग्रीक प्रभाव है।

ग्रीक व रोमन कॉमेडी ड्रामा में वर्णित प्रणय कथाओं के आधार पर ही भारतीय नाट्य में प्रणय कथाओं की प्रधानता है।

विंडिश का कहना है कि संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में अभिज्ञान सम्बन्धी घटना

---

९. वही १/११ ३ ख - ११४
१०. अभिनयदर्पण श्लोक ९८-१००, पृ० - १२
११. रसार्णव सुधाकर १/४५-४५
१२. नाटक लक्षण कोष-१५-३०
१३. भाव प्रकाशन - पृ० ५६, २८७
१४. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, गोविन्द त्रिगुणायत द्वितीय भाग, पृ० १७८-१७९

की कल्पना भी ग्रीक नाटकों से ही ग्रहण की है। विंडिश ने शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया है कि उसकी रचना ग्रीक कॉमेडीज के अनुकरण पर हुई थी। उनके कथनानुसार 'मृच्छकटिकम्' का नामकरण भी ग्रीक कॉमेडी ड्रामा के नामों के ढंग पर हुआ है। ग्रीक कॉमेडीज में Little Pot छोटा बर्तन, बड़ी गाड़ी जैसे नाटकों के नाम मिलते हैं। उन्होंने यह भी तर्क प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार ग्रीक नाटकों में प्रणय तथा राजनीतिक परिस्थितियों को मिलाकर चित्रित करने का नियम था उसी ढंग पर 'मृच्छकटिकम्' में भी प्रणय कथा और राजनीतिक परिस्थितियां संकलित करके रखी गई। इस प्रकार उन्होंने इस आधार पर सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतीय नाट्य की उत्पत्ति का आधार ग्रीक नाट्य है।

विंडिश महोदय के उक्त तर्कों का खण्डन पाश्चात्य समीक्षक प्रो० कीथ ने अपने संस्कृत ड्रामा नामक ग्रन्थ में विधिवत् किया है। उनका मत है कि भारतीय नाटकों में कथावस्तु और अंक विभाजन कार्य के आधार पर किया जाता है। ग्रीक व रोमन व नाट्य परम्परा में यह तथ्य अप्राप्य है। पात्रों की स्वगतोक्ति का नियम इस बात का प्रमाण नहीं हो सकता कि क्योंकि समान परिस्थितियों में विकसित दो भिन्न नाट्य परम्पराओं में कतिपय समान तथ्यों का होना स्वाभाविक है। अत: इससे परस्पर प्रभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। स्वयं भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्यमण्डप के दृश्य विधान के अन्तर्गत नाट्य धर्मी[१५] विधियों का पालन किया है, जो इस तथ्य का प्रमाण है कि पात्रों की विधि क्रियाएं भारतीय परम्परा से ही उद्भूत है। इसके अतिरिक्त भरत मुनि ने रंग मण्डप निर्माण, कक्ष्याविभाग तथा आहार्य अभिनय का जितना विस्तृत और व्यापक विधान किया है, उसके सन्दर्भ में भारतीय रंगमंच के रंग विधान पर पाश्चात्य प्रभाव मानना उचित नहीं जान पड़ता।[१६]

कीथ ने विंडिश की तीसरे तर्क का खण्डन करते हुए कहा कि यवनिका का प्रयोग भारतीय नाट्य परम्परा में सम्भवत: ग्रीक प्रभाव की देन है, विंडिश प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने जो यह कल्पना की थी उसका सम्भवत: कारण था यवनिका शब्द का स्वरूप व विकास निश्चय ही दो भिन्न जातियों और संस्कृतियों के बीच अन्तरावलम्बन हुआ तो भारतीय व पाश्चात्य कलाओं की विभिन्न धाराओं का भी संगम हुआ, परन्तु भारतीय और पाश्चात्य कलाओं की दार्शनिक भित्ति से सतही अन्तर नहीं, दोनों की दृष्टि और सृष्टि के धरातल भी भिन्न हैं। एक संघर्ष मूलक है तो दूसरी आदर्शमूलक और सुख पर्यावसायी। अत: 'यवनिका' के प्रयोग की दृष्टि से भारतीय रंगशालाएँ यूनानी रंगशालाओं की ऋणी हों, यह बात कल्पनातीत और भ्रमपूर्ण मालूम होती है।[१७]

प्रो० कीथ ने सिल्वालेवी के इस मत पर भी समीक्षा दी कि अभिज्ञान शाकुन्तलम् में **यवनीभि: परिवृत:**[१८] के आधार पर भारतीय नाट्य पर विदेशी प्रभाव मान लिया जाए यह कल्पनातीत तथ्य है।[१९]

मेरी दृष्टि में कीथ का मत उचित है, क्योंकि भारतीय कोश ग्रन्थों में जवनिका शब्द का स्पष्ट प्रयोग प्राप्त है।[२०] 'यवनिका' शब्द का विकास बन्धन वाचक 'यु' धातु से हुआ है क्योंकि उसके द्वारा नाटकीय दृश्य

---

१५. प्रासाद गृहयानानि नाट्योपकरणानि च। न शक्यानि तथा कर्तुं यथोक्तानीह लक्षणै:॥ लोकधर्मी भवेत् का त्वन्या नाट्यधर्मी तथाऽपरा। स्वभावो लोकधर्मी तु विभावो नाट्यमेव हि॥ ना० शा० २१/१९३-१९४
१६. भारतीय नाट्य के रंगमंच के दृश्य विधान की योजना चित्रात्मक अथवा यथार्थवादी कभी नहीं रही। नाट्य-कला पृ० २०० (डॉ० रघुवंश)
१७. संस्कृत ड्रामा कीथ पृ० ६१
१८. एष बाणासन हस्ताभि: यवनीभि: वनपुष्पमालाधारणीभि: परिवृत इत एव आगच्छति - अभि० शाकु०, अंक-२
१९. संस्कृत ड्रामा, कीथ - पृ० ३५९
२०. हलायुधकोश

दृष्टि पथ से ओझल हो जाता है।[२१]

विंडिश के चतुर्थ प्रणय कथा की समानता का आधार, को भी कीथ नहीं स्वीकारते, उनका कहना है कि प्रणयभाव प्राणी मात्र का सर्वाधिक प्रधान मनोराग है। यदि सभी देशों के साहित्य में उसको महत्त्व दिया गया हो, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। शाश्वत मनोभावों के वर्णनों के आधार पर हम दो साहित्यों के बीच पारस्परिक प्रभाव प्रक्रिया को स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

विंडिश का पाँचवा तर्क भी कीथ नहीं मानते-संसार के सभी देशों व जातियों के प्रेमी-प्रेमिकाएँ प्रेम को चिरस्थायी बनाने के लिए प्रणय सम्बन्धी अभिज्ञान चिह्नों का परस्पर परिवर्तन करते रहे हैं। भारतीय नाट्योत्पत्ति पर ग्रीक प्रभाव दिखाने के लिए इस प्रकार के शाश्वत नियम सर्वथा असमर्थ हैं।[२२]

विंडिश के छठे तर्क का भी खण्डन प्रो० कीथ करते हैं कि ग्रीक नाटकों से '**मृच्छकटिकम्**' के नाम की समानता इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि यह संस्कृत का प्रतिनिधि नाटक नहीं है साथ ही कतिपय नाट्य तत्त्वों की समानता भी इसका आधार नहीं हो सकती। इस प्रकार विंडिश व वेबर सदृश पाश्चात्य समीक्षकों के मत की पुनर्समीक्षा कर पाश्चात्य विद्वान् कीथ ने भारतीय परम्परा के मत की पुष्टि की।[२३]

प्रसिद्ध पाश्चात्य समीक्षक मैक्समूलर ने भी संस्कृत नाट्योत्पत्ति के विषय में विचार किया तथा ऋग्वेद के संवाद सूक्तों के आधार पर संस्कृत नाट्य का उद्भव प्रतिपादित किया। प्रसङ्गत: ध्यातव्य है कि ऋग्वेद में पन्द्रह ऐसे सूक्त हैं, जिनमें नाट्य शैली का संवाद उपलब्ध है। इस दृष्टि से 'यम-यमी' पुरुरवा-उर्वशी, इन्द्र-अदिति-वामदेव, इन्द्र-इन्द्राणी वृषाकपि शर्मा-पणिस् विश्वामित्र-नदी, इन्द्र-मरुत् तथा अगस्त्य-लोपामुद्रा संवाद मुख्य हैं।[२४] मैक्समूलर ने इन संवाद सूक्तों के आधार यह कल्पना की है कि इन संवाद सूक्तों को दो मन्त्र वाचक दो दलों में बँटकर पाठ किया करते हैं और उनमें अनुकरण भी किया जाता हो। मैक्समूलर के विचारों का उपबृंहण करते हुए सिल्वान लेवी महोदय[२५] ने प्रतिपादित किया कि ऋग्वेद ऐसी कुमारी बालिकाओं से परिचित है जो सुन्दर वेशभूषा धारण कर अपने नायकों को मुग्ध किया करती थी। सामवेद के रचना काल में संगीत कला का विकास हो चुका था और संगीत नाट्य का शृङ्गार है। अथर्ववेद में पुरुषों के नर्तन और गायन का उल्लेख है, आगे चलकर इन्हीं अभिनयों से नाट्योपत्ति का विकास हुआ।

प्रो० लेवी ने अपने विश्लेषण के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि संस्कृत नाट्योत्पत्ति में शक प्रभाव अति महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि प्रथम शताब्दी के आस-पास संस्कृत भाषा-साहित्य भाषा के रूप में विकसित होने लगी थी। अपने मत के प्रमाण में उन्होंने रुद्र दमन के शिलालेख का संकेत किया है। रुद्र दमन का शिलालेख (समय १५० ई०) साहित्यिक संस्कृत का प्राचीनतम उपलब्ध उदाहरण है। इस आधार पर प्रो० लेवी ने निष्कर्ष निकाला कि संस्कृत नाट्योत्पत्ति शक क्षत्रपों की छत्र छाया में हुयी।

प्रो० लेवी का यह मत मानने योग्य नहीं है, क्योंकि अश्वघोष के नाटक और काव्य इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि साहित्यिक संस्कृत का विकास कम से कम चौथी शताब्दी पूर्व ही हो चला था। यदि ऐसा

---

२१. प्रतिसीरी जवनिका स्यात्तिरस्करिणी च सा। अमरकोष पृ०१३१४ सिद्धान्त कौमुदी धातु पाठ १४८०
२२. संस्कृत ड्रामा, कीथ
२३. सेक्रेड बुक ऑफ द ईस्ट, भाग ३२ पृ० १८२
२४. ऋग्वेद १०/१०/७, १०/१०/१४, १०/९५/२, ६/१८/५, १०/८६/६, १०/१८/१०७, १/१७९
२५. थियेटर पृ० ३०७ (१८९०), ऋक् १/९२/४

न होता तो अश्वघोष की भाषा इतनी प्रांजल और प्रवाहयुक्त न होती। उस प्रांजलता व प्रवाहात्मकता को प्राप्त करने में साहित्यिक संस्कृत को तीन-चार सौ वर्ष अवश्य लगे होंगे, इसलिए संस्कृत नाट्योत्पत्ति के लिए शक-प्रभाव को स्वीकारा नहीं जा सकता।[२६]

एक अन्य पाश्चात्य विद्वान् श्राडर महोदय[२७] ने प्रतिपादित किया कि वैदिक संवाद सृष्टि प्रक्रिया के अनुकरण रूप है। विश्व की अति प्राचीन जातियों में युगल नृत्य की परम्परा वर्तमान थी, उन नृत्यों में सृष्टि प्रक्रिया को भी अभिव्यक्ति प्रदान की जाती थी। संभवत: वैदिक पुरोहित भी इन संवादों को प्रस्तुत करते हुए नृत्य-गीत का प्रयोग करते थे। हजारी प्रसाद द्विवेदी[२८] ने अपने ग्रन्थ में विवेचन करते हुए लिखा है कि- पाश्चात्य विद्वान् हर्टेल महोदय की मान्यता है कि इन सूक्तों का गायन होता था सुपर्णादय[२९] इस दृष्टि से ध्यातव्य है।

श्राडर और हर्टेल महोदय के मन्तव्य पर डॉ० सुरेन्द्र नाथ दीक्षित जी ने विवेचन करते हुए निष्कर्ष दिया कि इन दोनों विद्वानों का मत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि कि आचारवान् पुरोहित यज्ञानुष्ठानों के पावन अवसरों पर मिथुन नृत्य करते हों, यह संभव नहीं और सूक्तों के गायन के भी प्रमाण प्राप्त नहीं होते।[३०]

प्रो० कीथ लोकधर्म का प्रतिरूपण करते हुए भारतीय संस्कृत नाट्योपत्ति का स्रोत लोकधर्म तथा वैदिक चिन्तन धारा को स्वीकार करते हैं। स्वयं भरतमुनि ने नाट्य स्रोत के विवेचन के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया है कि वेद तथा अध्यात्म की अपेक्षा नाट्य में लोक को अधिक प्रमाण माना जाता है।

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा।
तस्माल्लोकप्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्ययोक्तृभिः॥[३१]

लोकजीवन की यह सशक्त धारा वेदों से शिक्षा ग्रहण करती थी और उनका आचार विचार और निष्ठाएँ उत्तर वैदिक काल के साहित्य को भी प्रभावित करती रही। वेद, इतिहास और आख्यान तथा उस युग में प्रचलित आर्यों के धार्मिक विश्वासों ने मिलकर नाट्योत्पत्ति के लिए मार्ग प्रस्तुत किया। हमारी दृष्टि से वैदिक काल में लोकधर्म और वेद इतिहास-आख्यानों द्वारा प्रभावित लोक परम्परा इतनी पुष्ट और प्रबल थी कि उसके समक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल और बौद्धिक दृष्टि से हीन अनार्यों की सभ्यता धर्म और संस्कृति की धारा भारतीय नाट्य के उद्भव को प्रमाणित करने की सक्षम स्थिति में नहीं थी। नाट्यशास्त्र में **'त्रिपुरदाहे'** **'दैत्यदानवनाशन'** और **'अमृतमंथन'** आदि नाट्य प्रयोगों का उल्लेख है।

कीथ ने माना कि विदूषक संस्कृत नाट्य का अत्यन्त लोकप्रिय पात्र है और लोक भावना का निकटवर्ती भी, पर वह भी नितान्त धर्म विच्छिन्न व्यक्तित्व नहीं। अत: भारतीय संस्कृत नाट्य के उद्भव व विकास को लोक चेतना विकास को लोक चेतना और धार्मिक चेतना दोनों ने ही समान रूप से प्रेरणा और गति

---

२६. शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, गोविन्द त्रिगुणायत पृ०-१८०
२७. संस्कृत ड्रामा, कीथ पृ० १५, पृ० १६
२८. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा, पृ० ५
२९. अथर्ववेद १२/४१
३०. भरत और भारतीय परम्परा पृ० ६८
३१. नाट्यशास्त्र २५/११९-१२३

दी है।[३२]

महाभारत में नट और शैलूष आदि शब्दों के आधार पर नाट्योद्भव के सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष की कल्पना कीथ महोदय को स्वीकार नहीं है।[३३]

यूरोपीय विद्वान् डा० पिशेचल ने संस्कृत नाट्योत्पत्ति के विषय में विचार करते हुए यह मत प्रस्तुत किया कि प्राचीन भारत में प्रचलित पुत्तलिका नृत्य द्वारा ही कालान्तर में नाटकों की उत्पत्ति हुई होगी। अपने मत के पक्ष में वे 'सूत्रधार' शब्द को उद्धृत करते हैं। जिस प्रकार कठपुतलियों का नियामक 'सूत्रधार' कहलाता था उसी प्रकार अभिनय के नियामक को सूत्रधार कहा जाता है। सूत्रधार सम्बन्धी यह साम्य स्पष्ट प्रमाणित करता है कि नाटकों की उत्पत्ति कठपुतलियों से हुई।[३४]

कीथ महोदय ने उक्त मत की समीक्षा करते हुए बताया कि सूत्रधार शब्द मूल संस्कृत में ही है। डॉ० पिशेचल की कल्पनानुसार यदि वह पुत्तलिका नृत्य की परम्परा में आया होता तो नटी की तरह इसका प्राकृत रूप प्रचलित होना चाहिए था। उन्होंने महाभारत,[३५] मुद्राराक्षस[३६] तथा नाट्यशास्त्र में उल्लिखित सूत्रधार के अर्थों के आधार पर यह स्थापना की कि सूत्रधार शब्द का सम्बन्ध मूल रूप से वैदिक कालीन यज्ञों से रहा होगा, बाद में वह नाट्य यज्ञों का सूत्रधार बन गया।

कीथ महोदय का उक्त विवेचन उचित ही मालूम पड़ता है।[३७] नाट्य का सूत्रधार पुत्तलिका नृत्य से प्रभावित नहीं अपितु पुत्तलिका नृत्य का विकास नाट्य के अनुकरण पर समानान्तर हुआ।[३८]

पाश्चात्य समीक्षक प्रो० ल्यूडर्स ने भारतीय संस्कृत नाट्योत्पत्ति पर विचार करते हुए छाया नाट्य को उसका आधार माना। उन्होंने पातंजल महाभाष्य[३९] को इस सन्दर्भ में उद्धृत किया कि ग्रन्थिको के साथ शौभिक के कार्य व्यापार से इसका अनुमान किया जा सकता है। सम्भवत: यह छाया नाट्य का ही सङ्केत हैं। प्राचीन भारत में नाट्योद्भव के पूर्व यह शिल्प प्रचलित था, इसी के माध्यम से नाट्योत्पत्ति हुई।[४०] उन्होंने सिद्ध किया कि अशोक के शिलालेखों में रूप शब्द का प्रयोग छायाचित्र के अर्थ में मिलता है। संस्कृत में दूतांगद आदि कुछ छाया नाटकों के उल्लेख मिलते हैं।[४१]

प्रो० कीथ ने उक्त मत की समीक्षा करते हुए कहा कि उत्तररामचरित में सीता-छाया का प्रवेश इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। परन्तु नाट्यशास्त्र अथवा उसके परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में छाया शैली के नाट्य का कोई विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। रावली नाटिका, प्रबोध चन्द्रोदय तथा दशकुमार चरित आदि

---

३२. संस्कृत ड्रामा, कीथ पृ० ५६
३३. वही - पृ० २८ विराट पर्व ७२/२९
३४. वही - पृ० ५२
३५. स्थपतिबुद्धिसमापन्नो वस्तुविद्याविशारद। इत्यब्रवीत सूत्रधारः सूतो पौराणिकस्तदा। महाभारत, आदि पर्व। ५१/१५
३६. मुद्राराक्षस, अंक - २
३७. भरत और भारतीय नाट्य-कला - डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित - पृ० ७८
३८. The grouth of the dramas doubtless brought with it the use of puppets to imitate it in brief and form the drama came the vidiusaks not vice versa संस्कृत ड्रामा, कीथ - पृ० ५३
३९. पात० महा० ३-१
४०. संस्कृत ड्रामा - कीथ पृ० ५३
४१. उत्तररामचरितम् अंक ३

कृतियों में प्रयुक्त ऐन्द्रजालिक छायानाट्य का सर्जन है। निश्चय ही ये विवरण इतने परवर्ती हैं कि नाट्योत्पत्ति के स्रोत के रूप में इन्हें स्वीकारने का कोई अर्थ नहीं।

इस प्रकार भारतीय संस्कृत नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों/समीक्षकों ने विधिवत् विचार किया तथा संस्कृत नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में भरत-प्रतिपादित सिद्धान्तों में विविध मत-मतान्तरों को प्रस्तुत किया है। इन सब पर प्रो० कीथ सदृश पाश्चात्य समीक्षकों ने व्यापक सतर्क समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत किया। इन समस्त पाश्चात्य समीक्षकों के मतों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है वैदिक काल में भारतीय संस्कृत नाट्य के प्रथम चरण का शुभारम्भ हुआ। नाट्य के विभिन्न तत्त्वों के बीज-रूप इन वेदों में उपलब्ध थे। ऋक् के संवाद, यजुष् के कर्मकाण्ड आदि से अभिनय, साम से गीत और अथर्व से प्राणरूप रससंग्रह हुआ और संस्कृत नाट्य अपने आदि रूप में परिपल्लवित हुआ। भरत के इस सिद्धान्त का समर्थन कीथ प्रभृति पाश्चात्य मनीषियों ने भी किया।[४२] यजुर्वेद का तीसवाँ अध्याय[४३] इसका स्पष्ट प्रमाण है कि उसके रचना काल तक नाट्य पूर्णरूप से भले ही विकसित न हो पाया हो, परन्तु नाट्य गीत और नृत्य के प्रयोग के लिए अपेक्षित पात्र और रंग सामग्री बहुत लोकप्रिय हो गयी थी। सूत के लिए नृत्य, गीत के लिए शैलूष, हास्य के अनुकरण के लिए कारि (विदूषक) वामन और कुब्ज, गन्धर्व, अप्सरा, चित्रकारिणी, वीणावादक, पाणिघ्न, तणवध्म तवल मागध आदि का उल्लेख अति स्पष्टता से प्राप्त होता है। नाट्य के इन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग नाट्य विकास की उस सीमा रेखा को प्रमाणित करता है, जब कि नाट्य वैदिक परम्पराओं से स्वतन्त्र रूप धारण करने के महान् प्रयासों में संलग्न था।[४४]

संस्कृत नाट्योत्पत्ति के काल निर्धारण के सम्बन्ध में घोष महोदय द्वारा प्रस्तुत इस कृत्रिम प्रक्रिया से असहमत होने पर भी यह पूर्णतः प्रामाणिक है कि संस्कृत नाट्य के उद्भव, विकास तथा उसकी गौरवशाली यात्रा में वेद, धर्म, लोक संस्कार, ऋतूत्सव, लोकोत्सव, महान् नाटककारों की गौरवशाली नाट्य कृतियों तथा आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की सामग्री का अभूतपूर्व योगदान है।

अन्ततः भरत वाक्य के रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृत नाट्य में अनुकरण व अभिनय को नाटक का प्रमुख तत्त्व माना जाता है और पाश्चात्य देशों में सक्रियता को इस प्रमुख उपादान ध्वनित किया गया है। अतः निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्य कला अति प्राचीन है तथा पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा प्रस्तुत तर्कों के आधार पर विदेशियों का प्रभाव मानना समीचीन नहीं।

---

४२. संस्कृत ड्रामा कीथ पृ० १७

४३. नृत्ताय सूतं गीताय शैलूषं धर्माय सभाचरं नरिष्ठायै भीमलं नर्माय रेभः हसाय कारिमानन्दाय स्त्रीषखं प्रमदे कुमारीपुत्रम् उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनम्......। यजुर्वेद - ३०/६, ८,१०,१४,२०

४४. भरत और भारतीय नाट्य-कला- डॉ० सुरेन्द्र नाथ दीक्षित, पृ० ६९

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०२१६-२२४) ISSN 0974 – 8830

जंगल-जंगल बात चली है, पता चला है।

डॉ० मंजुलता शर्मा[१]

गाँव की पगडण्डी से लेकर कान्तार की बंसवारी तक भावकों को ले जाने का संकल्प लेकर अभिराज ने एक ऐसे उपाख्यान का सर्जन कर दिया, जिसमें उनके बालपन की सत्यघटना, '**दि जंगल स्टोरी**' के अकल्पनीय दृश्य और विक्रमचरितम्' के रोचक प्रसङ्गों के स्मृति चित्र हैं। बच्चों का प्यारा, वन्यजीवों का दुलारा मोगली मुद्गल मिश्र का पुत्र होने के नाते पहले मोदगलि' फिर 'मोगली' होकर लोकप्रिय हो गया। वृकमानव के रूप में विकसित 'मोगली' ही इस कथा का नायक है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र द्वारा प्रणीत-'**कान्तारकथा**' एक ऐसा विलक्षण उपाख्यान है, जिसमें वन्यजीवों की जीवनचर्या ही नहीं, अपितु उनका अनुशासन, भावानुभूति, पुरुषार्थ और सम्पूर्ण कान्तारदर्शन प्रतिबिम्बित है। लेखक ने जिस प्रकार से जीवों के नैसर्गिक क्रियाकलापों को चित्रित किया है। उसे देखकर ऐसा लगता है जैसे वे जंगल की प्रत्येक आहट से पूर्व परिचित है। कभी महाबल गजराज उन्हें अपने बल का प्रमाणपत्र दिखाते हैं तो कभी 'वज्राङ्ग' की शक्ति उन्हें बांधती है कभी सर्वज्ञ की विद्वता उन्हें चमत्कृत करती है, तो कभी द्विजिह्व का दोगलापन उन्हें आक्रोशित करता है। सुवेगा की ममता में वे अपनी माँ को ढूंढ रहे होते हैं। उसी समय आसन्न प्रसवा 'विवशा' गिलहरी का मातृत्व उन्हें पुकार लेती है। यहाँ गिरे हुए बच्चे को ना उठा पाने की विवशता ही उनके नामकरण का आधार है। वह बच्चे की मृत्यु के भय से व्याकुल तो है, परन्तु निरुपाय होने के कारण 'विवशा' है। लेखक ने अपने आख्यान का प्रारम्भ ही मातृस्नेह के प्राचीर पर ध्वजा फहराकर किया है।

सम्पूर्ण आख्यान में नवरसों के आनन्द की जो सरिता प्रवाहित है, वह अविच्छिन्न गति से पाठकों को अपने साथ लेकर चलती है। कभी वात्सल्य के तट पर ठिठकती है[२] तो कभी करुणा को प्रस्रवित करती है।[३] उनके वर्णन कभी रौद्र भयानक और बीभत्स की चित्रवीथी में उतरते हैं,[४] तो कभी श्रृंगार के रमणीय उद्यान में विश्रान्ति देते हैं।[५] कथा के प्रारम्भ से ही कथाकार की संवेदना अंगड़ाई लेने लगती है। मात्र एक माह के बच्चे को 'धृष्ट' नामक भेड़िया अपनी आसन्नप्रसवा मादा 'सुवेगा' के लिए उठा ले जाता है। भेड़िया द्वारा लाये गये शिशु को आहाररूप मानते हुऐ भी तृप्त सुवेगा कुछ देर बाद ही उसे खाना चाहती है, परन्तु अनायास ही प्रकृति का वह चमत्कार होता है, जिसके समक्ष हिंसा बौनी हो जाती है, आवेग शिथिल पड़ जाता है और शक्ति पराजित हो जाती है। मातृत्व जब आँचल में दूंध बनकर प्रस्रवित होता है तो वह बालक स्तनों से लगकर अपना मातृसुख ढूंढने लगती है और सुवेगा अपनी पशुवृत्ति से ऊपर मातृत्व में आनन्दित होने लगती है। दूध के साथ बह रहा है, उसका दुलार, उसका स्नेह। वह शिशु कब सुवेगा का वृकशिशु बन गया पता ही नहीं चला। पक्ष की डोर में जाति, वृत्ति और सृष्टि एकाकार हो गयी।

---

१. अध्यक्ष- संस्कृत विभाग, सैण्ट जोन्स कॉलेज, आगरा
२. कान्तार कथा पृष्ठ-२३
३. तथैव पृष्ठ-२०, ७९
४. तथैव पृष्ठ-५७
५. तथैव पृष्ठ-३७, ३८

यही बालक 'मोगली' नामकरण के साथ वैदिक पौराणिक सृष्टि प्रक्रिया और दर्शन को वन जीवन में साकार करता है। जंगल से हिंसा को मिटाने का संकल्प देकर यह पुरोधा कान्तार नायक बन जाता है। यद्यपि पशुओं का जीवन परजीवी पोषित होता है, फिर भी उनकी इस वृत्ति को और आचरण पर रोक लगाकर नैसर्गिक अनाचारों को नियन्त्रित करने का उद्घोष तो किया ही जा सकता है। दरअसल मत्स्य न्याय की अवधारणा के इन्द्रजाल को तोड़ने के लिए ही मोगली का जन्म हुआ है। कथा के मध्य में जब वह वन्यजीवों के मध्य मिथ्या अभिमान और स्वामित्व की लड़ाई को रोककर युद्ध की विभीषिका से जंगल के अस्तित्व की रक्षा करता है, तब एक यक्ष प्रश्न सहसा ही आ खड़ा होता है कि जब पशुओं के मध्य इस नृशंस निर्णय को बदला जा सकता है तो बुद्धि और विवेक से सम्पन्न मनुष्यों द्वारा किये जा रहे सीमा विवाद और अखण्डित भारत के टुकड़े करने की साजिश का अन्त क्यों नहीं किया जा सकता? विश्वबन्धुत्व की गलबहियाँ डालकर प्रगति के स्वप्न क्यों नहीं पूरे किये जा सकते?

युद्ध अहं और शक्ति का प्रदर्शन मात्र है। इस तांडव को रचने वाले 'आका' महलों में बैठे हुये केवल राष्ट्र रक्षा की दुहाई देते रहते हैं। वो क्या जाने अधूरे सपने लिये विदा हो जाने की पीड़ा। अतः एक श्रृगाली का श्रृगाल में आसक्त होकर अपने पूर्व पति को छोड़कर चले जाने के तुच्छ कारण पर जब युद्ध की भेरी बजने लगती है, तब मोगली अपने प्रबल तर्कों द्वारा उसे शान्त करता है और जनरक्षक का दायित्व निभाता है। आख्यान का अन्त बहुत ही हृदयाकर्षक है। स्वाधीनता के लिए कष्टपूर्ण संवेदना से मोगली का गुजरना हमें एक राष्ट्र की स्वतन्त्रता के मूल्य का संदेश देता है। पशुओं का नेतृत्व पशुशाला में कैद है। उसके साथ ही कैदी रूप में अन्य पशु भी समीपस्थ हैं, परन्तु वे मोगली के द्वारा किये जाने वाले रुदन-क्रन्दन की भाषा भूल चुके हैं, क्योंकि नियति ने उन्हें इसी स्थिति में जीने का पाठ पढ़ा दिया है। उनकी जन्मजात वृत्तियाँ लुप्त हो चुकी हैं। वे तो अब पशुशाला की कैद में अपने अस्तित्व से बेखबर है। स्वतन्त्रता का आस्वादमय सन्तोष अब उनके पास नहीं है, वे तो अपनी मानवीय क्रियाओं द्वारा मानव केन्द्रित हो चुके हैं। यहाँ एक ओर परतन्त्रता का दंश है तो दूसरी ओर लेखक ने चाटुकारों और दासानुदासों की प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। ऐसे लोग अपनी तुष्टि के लिए अपनी स्वतन्त्रता भी गिरवी रख देते हैं।

'मोदगलिस्तानरण्यबन्धून् दृष्ट्वा चिराभ्यस्तस्वरैस्तानाजुहाव। परन्तु न तेऽभीष्टमुत्तरं दत्तवन्तः। समेषामेतेषां वन्य प्रवृतयो विनष्टा अभूवन। सम्प्रति ते सर्वेऽपि माँसखण्डलोभिनो, वनपालदासानुदासास्तत्कृपाकाक्षिणस्संजाता विलुप्तेवासीत्तेषां तेजस्विता। विनष्ट एवासीत् तेषां वन्यो निसर्गः।'[६]

सत्य भी है बहुत विरले ही इस संसार में पराधीन रहकर भी अपने निसर्ग स्वभाव ओर तेजस्विता को अक्षुण्ण रख पाते हैं। परन्तु मोगली एक मशाल है जो राष्ट्रहित के लिए निरन्तर अपना प्रकाश फैलाने को संकल्पित है। यद्यपि कुछ समय के लिए वह भी विवश और निरुपाय हो जाता है-

मौदगलि; विक्षिप्त एवं परिलक्ष्यते न किञ्चिदश्नात्यसौ। न चापि जलं पिबति।[७] **तस्यावाहने दैन्य वैवश्यं, साध्वसं पारतन्त्रयञ्च दुःखमासीत्।**[८]

---

६. तथैव पृष्ठ-७५

७. तथैव पृष्ठ-७९

८. तथैव पृष्ठ-७४

यह है बापू की गांधीगिरी, सत्याग्रह और राष्ट्रचेतना का बिगुल। जिसके बजने से होता है यही उद्घोष :-कि

भो बान्धवः। स्वाधीनतादिवसोऽद्य कान्तारस्य। इतोऽग्रे 'बन्धनं न सहामहे' इत्येव भविष्यत्यस्माकं जातीयः समुद्घोषः।[९]

अतः यहाँ प्रश्न केवल स्वतन्त्रता प्राप्ति का नहीं है, अपितु उसकी सुरक्षा का भी है। हमारा उत्तरदायित्व है कि हम कष्टों से प्राप्त इस स्वतन्त्रता का मूल्य समझें।

वस्तुतः परतन्त्रता के चक्रव्यूह को तोड़ने के लिए, स्वामित्व और मिथ्या अभिमान की लडाई को रोकने के लिए एवं युद्ध की विभिषिका से जीव के अस्तित्व को बचाने के लिए ही मोगली का जन्म हुआ है। **'कान्तारकथा'** सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को प्रतिबिम्बित करने वाला आख्यान है, जिसमें परहित के लिए पीड़ा है, पुरुषार्थ चतुष्टय की लीला है और विश्वबन्धुत्व का सख्यभाव है। कुछ अन्य बिन्दु भी पाठक को इसमें सहज ही आकृष्ट करते हैं। उन पर भी चर्चा करना यहाँ अनिवार्य है। सर्वप्रथम आज सम्पूर्ण विश्व आतंकवाद और स्वामित्व के प्रश्नों के साथ एक-दूसरे पर घात लगाये हुऐ है। इसमें व्यक्तिगत हित भले न हो, परन्तु उनके शक्तिप्रदर्शन का भाव अवश्य निहित है। यही कारण है कि कभी आतंकवाद कभी नक्सलवाद अनेकों अपराधियों की जान ले लेता है। यहाँ प्रभुता की लड़ाई है। पता नहीं किस पर किस की प्रभुता? कोई समझने को तैयार नहीं वह तो भय फैलाकर शासक बनने का गुरूर पाले हुए हैं। उन **'अहं ब्रह्मोऽस्मि'** के कर्णधारों ने क्या कभी उन भयभीत और असहाय आखों में झांक कर देखा है, जो निस्तेज होकर अपना अपराध पूछ रही है। **'कान्तारकथा'** इसका समाधान प्रस्तुत करती है कि यह जंगलीपन, बीभत्स, नृशंस, पाशविक वृत्ति इस प्रकार रोकी जा सकती है।

'वत्स! त्वत्प्रयैररण्यमिदं परिवर्तिष्यते। प्रयतस्व समत्वसंस्थापनाय। प्रयतस्व न्यायधर्मसंस्थापनाय प्रयतस्व वत्स! बन्धुत्वसख्यसहभावसंस्थापनाय। लप्स्यते साफल्यम्।[१०]

प्रायः समाज में न्याय प्रतिष्ठित करने के लिए मानवीय मूल्यों की चर्चा की जाती है। उसके लिए आवश्यक है कि वह न तो देवत्व से स्वयं को जोड़े और न पशुओं के आचरण का अनुसरण करें, अपितु मनुष्यगत संस्कारों और धर्मों का पालन करता हुआ स्वयं को मानवयोनि में ही प्रतिष्ठित करें। क्योंकि मानव का अधर्म जंगल का धर्म है, मनुष्य द्वारा किया गया अन्याय कान्तार का न्याय है। मनुष्य और पशु के मध्य यही नियामक रेखा है। अभिराज ने इन वर्गीकृत मूल्यों को सर्वज्ञ नामक वृद्धभल्लूक द्वारा अपने आख्यान में प्रस्तुत किया है-

'बन्धुत्वं सख्यं वा भवत्येव न्यायस्य सहभावस्य वा मूलम्। परन्तु शरीरबलं भवत्यन्यायस्य मूलम्। यतो हि कान्तारे शरीरबलमात्रं प्रभवति तस्मदेवात्र पदे-पदेऽन्यायो दृश्यते। बलवानत्र निर्बलं पीडयति, उद्वेजयति, भक्षयति च। मानवसमाजे बलवतां कृते निर्बला अनुकम्पनीयाः सम्भावनीयाश्च। परन्तु कान्तारेऽस्मिन् निर्बला बलवतां भक्ष्यभूताः। तस्मादेव वराका निर्बला आत्मत्राणाय धावन्तो दृश्यन्ते।[११]

---

९. तथैव पृष्ठ-८३
१० तथैव पृष्ठ-३४
११ तथैव पृष्ठ-३४

जब निर्बल की रक्षा करना बलवान् का धर्म है। इसके विपरीत आचरण करना पाशविकता है, फिर मनुष्य की यह हिंसक प्रवृति किस बात का प्रतीक है? उसके पशु हो जाने की अथवा और भी नीचे गिर जाने की? क्योंकि वन्यजीवी भी केवल पेट भरने के लिए हिंसा करते हैं, पेट भर जाने पर अकारण ही किसी का वध नहीं करते। अतः उनकी सृष्टि में हिंसा का कारण केवल बुभुक्षा है। परन्तु हमारी यह कैसी भूख है? जो दूसरे का जीवन छीन लेने पर तृप्त होती है और दूसरों की व्याकुलता में आनन्दित होती है। सम्भवतः हमारी पशुता पशुओं से भी अधिक बीभत्स है:-

'मर्त्यसमाजे मानवः स्वार्थसिद्धुर्थिमेव कमप्यकारणं निहन्ति। परन्त्वत्र कान्तारेऽकारणं हननं नासीत्। निरर्थकं हननं नासीत्। ये सिंहव्याघ्रादयः स्वोदरक्षुधं शमयितुं हरिणादीन् घातयन्ति स्म ते एव प्रशान्ते सति जठरानले तानन्तिकेऽपि चरतोऽवलोक्य मर्षयन्ति स्म।'[१२]

वास्तव में यह सन्देश है, उन नरपशुओं के लिए जो अकारण और निरर्थक हिंसा फैलाकर समाज में अपना वर्चस्व कायम करना चाहते हैं। उनकी मनोवृत्ति को शुद्ध करने के लिए ही इस आख्यान में सृष्टि तत्त्व को जोड़ा गया है। कान्तार दर्शन का यह पक्ष हमारे वैदिक और पौराणिक साहित्य के सृष्टि तत्त्व को व्यक्त करता है। उसके वैकारिक, प्राकृत और वैकृत यह तीन भेद हैं। वैकारिक में देवता, प्राकृत में बुद्धि आदि छः तत्त्व और वैकृत में स्थावर, तिरश्चीन और उर्वाक्स्रोतस् आदि आते हैं। मिश्र जी ने इस आख्यान में अपने दार्शनिक चिन्तन को पृष्ठ ३२ पर विस्तार से प्रस्तुत किया है। 'सर्वज्ञ' के रूप में वे वहाँ स्वयं उपस्थित हैं और अपने इस वक्तव्य के माध्यम से मानो यह कहना चाहते हैं कि समस्त जीव उस परमात्मा का अंश हैं। सृष्टि और परमेश्वर एकात्मक सूत्र में बधे हुये हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने में समेट कर जगत्स्रष्टा जब निष्क्रिय हो जाता है। तब वह निर्विकार कहा जाता है और जब वह अपने अन्दर से ब्रह्माण्ड को निकालकर सृष्टि का विस्तार करता है, तब वह साकार कहा जाता है। यही उसके सगुण और निर्गुण रूप हैं-

वस्त मौद्गले! एकात्म्यमेव परमेश्वरस्वरूपम् अनैकात्मयञ्च सृष्टिस्वरूपम्। यदा निखिलब्रह्माण्डम् आत्मनि सङ्गोप्य जगत्स्रष्टा निष्क्रियस्तिष्ठति तदाऽसौ निर्गुणो निराकारो निर्विकारो वाऽभिधीयते। परन्तु यावदेवासौ आत्मगुप्तं ब्रह्मण्डबहिर्निस्सार्य प्रतनोति सृष्टिरूपेण तदाऽसौ सगुणः, सकलः, साकारो वा कथ्यते।[१३]

अभिराज सदैव से ही एकजुटता के पक्षधर हैं। उनका विचार है कि जब व्यक्ति समूह हित को छोड़कर व्यक्तिगत हित की बात करने लगता है तब विघटन की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। प्रथमतः यह विघटन परिवार से प्रारम्भ होता है। तदन्तर बढ़ते-बढ़ते सम्पूर्ण समाज, राष्ट्र और विश्व को निगल जाता है, उन्हें विश्वास है कि समाज में पारस्परिक सम्बन्धों की उष्णता समुदाय से ही उत्पन्न होती है, उसी से विकसित होती है, और उसी से ही विस्तार को प्राप्त होती है। जो व्यक्ति भयवश, स्नेहवश अथवा स्वार्थवश धैर्यरहित एवं विवेकहीन होकर समूह को त्याग कर अकेला रह जाता है। वह निश्चित रूप से पराजित एवं मृत्यु को प्राप्त करता है।

---

१२ तथैव पृष्ठ-६०
१३ तथैव पृष्ठ-३१

यूथं परित्यज्य न पलायितव्यम्। यदि नाम कश्चिदेकलसञ्ज्ञातस्तर्हि तस्य मरणं ध्रुवम्।[१४]

यूथपति शैलमस्त द्वारा बार-बार कहे जाने पर भी कोई भैंसा वात्सल्यवश यूथ से दूर हो गया और सिंहों द्वारा घेर कर मारा गया। यह घटना इस बात की ओर संकेत करती है कि भारत की अखण्डता के लिए आवश्यक है कि हम उसे टुकड़ों में बँटने से रोकें। कभी वोटों की राजनीति, जाति, धर्म और वर्ग के नाम पर बाँटने की जो साजिश की जा रही है, उसके दुष्परिणाम स्वरूप गुलामी कभी भी हमारे द्वार पर दस्तक दे सकती है। जिससे हमारा अस्तित्व, हमारी पहचान पर फिर प्रश्न चिह्न लग सकता है। अत: यह उपकथा हमें कश्मीरी, असमी, बंगाली, मद्रासी, पंजाबी आदि क्षेत्रवाद से ऊपर उठाकर भारतीय होने का संदेश देती है।

अभिराज राजेन्द्र मिश्र की कान्तार कथा में मातृत्व के अनगिन मोती बिखरे हुए हैं। जरा सा अवसर मिलते ही वे पाठकों की झोली मातृस्नेह से भर देते हैं। आख्यान प्रारम्भ ही एक विवश माँ के विलाप से है जिसके एक माह के बच्चे को भेड़िया उठाकर ले जा रहा है, वह देखकर भी कुछ नहीं कर पा रही। उसकी पीड़ा पानी से बाहर फेंकी मछली की सी पीड़ा है, जो मरणान्तक कष्टों के साथ जीवित है-

जलादबहिष्कृता शफरीव भूमौ एव लुठितुमारभत।[१५]

यहाँ लुठित शब्द का प्रयोग बहुत समीचीन है। वात्सल्य के कारण अनिष्ट का भय माँ को भूमि पर इतनी त्वरा से व्याकुल कर रहा है कि दाँये-बाये पल-पल में बदलते हुये आंगिक परिवर्तनों ने उसे मछली के समान कर दिया है। पानी से बाहर निकली मछली श्वास न ले पाने के कारण तुरन्त नहीं मरती, अपितु जमीन पर पटक-पटक कर मरती है। शायद उस माँ की पीड़ा को जिसके बच्चे की मृत्यु तय हो, इससे अधिक सटीक उपमान दिया ही नहीं जा सकता।

इसके बाद 'सुवेगा' के स्तन से लग जाने पर उसके पशुगत संस्कारों का अन्त करके लेखक ने मातृत्व को विकसित किया है। वह भेड़ियानी से माँ बन गई है, अब कोई भय नहीं। दन्तक्षतों पर अपनी लार का मरहम लगाती हुए अपने पति से ही आशंकित है। वह इसे चट न कर जाये। अत: भेड़िये को भी वचनबद्ध करना आवश्यक हो गया। अब निश्चिन्त होकर वह उसकी रक्षा कर सकेगी। यही कारण है कि सुवेगा के अपने बच्चे तो थोड़ा सा बड़े होते ही उसे छोड़कर चले गये, परन्तु मोगली के मानवोचित संस्कारों ने उसे सुवेगा से जोड़ दिया-

मानवसंस्कार संवलितो मौदगलिः क्षणमात्रमपि मातरमेकाकिनीं न परित्यजति स्म।[१६]

वस्तुतः इस कान्तार की धनी वनभूमियों में कहीं 'विवशा' गिलहरी अपने नवजात शिशु के गिर जाने पर क्रन्दन करती है[१७] तो कहीं हस्तिशावक के गड्ढे में फंस जाने पर ममतामयी हथिनी का करुण विलाप हृदय को विदीर्ण कर देता है[१८] शेरनी के दाढ़ों में फंसा हरिण शावक यद्यपि उसकी क्रीड़ा का विषय है। परन्तु भयभीत हिरणी की करुणामयी आँखें अपने छौने पर ही स्थिर हैं। मुख से गिरते अर्धचर्वित कुश उसकी वेदना

---

१४ तथैव पृ०५६
१५ तथैव पृष्ठ-२०
१६ तथैव पृष्ठ-२५
१७. तथैव पृष्ठ-५३
१८. तथैव पृष्ठ-५४

के साक्षी हैं।[१९] मातृत्व का सहेजा हुआ आंचल अभिराज ने बहुत लाड़ के साथ ओढ़ा है।

पुरुषार्थ चतुष्ट्यी भारतीय संस्कृति का विशिष्ट अंग है। कोई भी कृति रचना इसके बिना अधूरा है। अभिराज की कान्तार कथा में नीतिगत धर्म है, पशुशाला की अप्रत्यक्ष आर्थिक व्यवस्था है, जो बन्दी पशुओं के प्रदर्शन से सम्पन्न की जाती है और काम के अनेकों मनोहारी एवं रसात्मक संवाद हैं। यहाँ पशुओं की स्वच्छन्द कामक्रीड़ा में जो अपील है, वह मानव सम्बन्धों पर चोट करती है। काम की व्याख्या करते हुये मिश्रजी कहते हैं कि पशु गन्धजीवी होते हैं, अत: इनमें पारस्परिक सम्बन्ध के लिए भोक्ता और भोग्या की सहमति अनिवार्य है, परन्तु यहाँ विवेकी मानव द्वारा किया गया बलात्कार क्या है ?

यद्गन्धजीविनो वनवासिन: अत्रत्यं दाम्पत्यं भवत्येव भोक्तृभोक्तव्यसहमतिमूलम्। नात्र मर्त्यसम्बन्धा दृश्यन्ते जननीभगिनीपुत्रीप्रभृतय:। वस्तुत: एषां रक्तसम्बन्धानां काप्यनुभूतिरपि न वर्तते वन्यसमाजे।[२०]

वास्तविकता यही है कि पशुओं, पक्षियों हिंसक जानवरों जलचारी प्राणियों के समूह में यौन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मनुष्य जैसी कोई प्राजापत्य विवाह विधि मान्य नहीं है।[२१] परन्तु पशु अपनी मादा के चले जाने पर पीड़ा का अनुभव अवश्य करते हैं। अभिराज ने काम के इस मनोविज्ञान का पशुओं में भी सूक्ष्म निरीक्षण किया है। इसलिए ही प्रिया के द्वारा ठगा गया श्रृगाल उसके चले जाने पर **'भूषित इव लुण्ठित इव'** और **'विक्षिप्तइव'** प्रतीत होता है। ये पशु काम के प्रति इतने संवेदनशील होते हैं कि उसमें बाधक अपने बच्चे को भी स्वयं मार डालते हैं।[२२]

काम को कला के रूप में स्वीकार किया गया है। अभिराज ने अपने इस आख्यान में इसे 'काम-कला' के रूप में ही चित्रित किया है। उनका विश्वास है कि 'काम' सन्तुष्टि के प्रतिफलन पर निर्भर है। चाहे वह पशु हों अथवा मनुष्य, पारस्परिक आकर्षण में काम उपभोग का परिष्कृत रूप अनिवार्य है। मनुष्य में तो सामाजिक मान्यताऐं और कुछ मर्यादायें इस पुरुषार्थ को धर्म से जोड़कर विकृति से बचाती हैं। परन्तु पशुओं का धर्म मनुष्य के विपरीत है। जैसे मनुष्य में यौन सन्तुष्टि के अभाव में भी सम्बन्धों का निर्वाह होता है, परन्तु पशुओं में द्विजि की पतोहु को अपने पति को छोड़कर दुर्लभ से संसर्ग करना उन्मुक्त काम को व्यक्त करता है। यह प्रवृति विवाहेतर सम्बन्धों के रूप में आज समाज में भी पनप रही है। पशुओं के काम संकेतों और सुख भंगिमाओं को लेखक ने अत्यन्त कुशलता से वर्णित किया है। बिना सूक्ष्म निरीक्षण के इस मनोविज्ञान का निर्वाह करना बहुत कठिन है। यथा-

वल्लभोऽपि तामनूढां ज्ञात्वाऽनुकूलयितुकामस्तदन्तिकमुपेत्य नेत्रयुगलं विस्तार्य समुद्ग्रीवस्सन् दक्षिणपादमसकृच्चालयन् स्वकीयस्मर चेष्टाभि: प्रकाशितवान्। द्विजिद्वस्नुषातु तं सुदर्शनजम्बुकयुवकं दृष्ट्वैव मदविहवलाऽऽसीत्। साऽपि तमभिनन्दती स्वीयं स्मरभावं प्रकटितवती। ततश्च वल्लभस्तांकन्दर्पोन्मद जम्बुकसुन्दरी सर्वाङ्गेषु भूयोभूय: परिलिहन् तदगुहयाडगञ्च जिघ्रन् स्वदमानश्च तां वेपथुमतीं कृतवान्।[२३]

पशुओं और मनुष्यों के मध्य कामतुष्टि में नियमों की प्रतिबद्धता का अन्तर है। पशु गन्धजीवी होने के

१९. तथैव पृष्ठ-६०
२० तथैव पृष्ठ ४८
२१. तथैव पृष्ठ-४४
२२. तथैव पृष्ठ-६१
२३ तथैव पृ०३८

कारण किसी भी मादा के साथ सम्बन्ध बनाने को स्वतन्त्र होते हैं। इसमें माँ, बहन एवं पुत्री का भाव नगण्य होता है। इनका दाम्पत्य सम्बन्ध क्षणमात्र के रतिसुख पर आधारित है-

क्षणिकरतिसुखार्थमेव ते दम्पती भवन्ति। पश्चाच्च तं सम्बन्धो परमार्थतः विस्मरन्ति। गन्धजीविनो वन्यपश्वो न तावदविवेकजीविनः। अन्यथा कथन्ते जन्मदात्रीं भगिनीं पुत्रीञ्चपि भोग्या इव भजेरन्।[२४]

आज आधुनिकता के नाम पर कामोपभोग की स्वच्छन्दता से हमारा प्राजापत्य गौरव खण्डित हुआ है। सामूहिक आनन्द की प्रवृत्ति ने हमें गन्धजीवियों से भी अधम बना दिया है। उन्मुक्तकाम का आस्वाद हमारी संस्कृति को रसातल में पहुंचा रहा है। लेखक ने इसे अनुचित मानते हुए सिद्ध किया है कि जब पशुओं का यह उच्छृंखल काम उन्हें युद्ध के द्वार तक ला सकता है। तो मनुष्यों द्वारा इसका अनियन्त्रित उपभोग उसके विनाश का न जाने कौन सा अध्याय लिखेगा।

अभिराज ने सर्वाधिक मनोयोग से वन सुषमा का वर्णन किया है। प्रकृति की माधुरी पल-पल उन्हें बाँधती हैं। पाठक उनके प्राकृतिक सौन्दर्य के तिलिस्म में उलझता रहा है। कोई वृक्ष, कोई लता, कोई उपत्यका, कोई कन्दरा ऐसी नहीं जहाँ जाने का मन न चाहे। रमणीय दृश्यों की श्रृंखला और उनकी वर्णन शैली कहीं-कहीं कालिदास का स्मरण करा देती है। कण्वाश्रम की सुषमा यदि कान्तार कथा में श्वास लेती है तो कोई आश्चर्य नहीं है- वन के इस सुप्रभात में प्रत्येक जीव का अपना आत्मसुख है-

'रमणीयमासीत्प्रभातम्। सिंहशावकाः पर्वतदरीतो बहिर्निष्क्रम्य कलहायमानाः क्रीडन्ति स्म। हरितशष्पक्षेत्रे मृगाणां संहतिरासीत्। सर्वेऽपि पक्षिणो निजस्वरैस्मन्तो वृक्षेषु समुत्पतन्ति स्म। नवप्रसूतं वत्सकं स्तन्यं पाययन्ती वनमहिषी स्वयूथे सुखं स्थिताऽऽसीत्। निर्भयाः क्रीडन्ति स्म। वनपल्वलेषु वराहाः प्रातरेव पडकस्नानं विदधाना मुस्ताकन्दान् मार्गयन्ति स्म।

इसके अतिरिक्त वर्षा का वर्णन करने में अभिराज बेजोड़ हैं। उन्होंने वर्षा काल के बाद वनवधूटी को सजते संवरते देखा है। कुछ वृक्ष पत्तों से लद गये हैं। कुछ पर फूल हैं फल है और कुछ पर पत्ते फल सब भरे हुए हैं। कैसा गदराया यौवन है, सभी वन्य पशु अपनी अपनी वाणी से प्रसन्नता व्यक्त कर रहे हैं। वर्षा न केवल प्रकृति और वन्य जीवियों को ही उत्साह से नहीं भरती, अपितु मनुष्य में भी आनन्द का संचार करती है। परन्तु वर्षा के साथ घर बनाने की चिन्ता पशुओं में भी स्वभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती है। भला जीव सुरक्षा असुरक्षा के भाव से कैसे अलग हो सकता है।[२५] लेकिन वर्षा ऋतु का सौन्दर्य उसकी मादकता से कोई नहीं बच पाया है। वनमानुष, चिम्पैंजी, वानर, सुअर, भैंसे, हिरण, हाथी, मोर, जंगली मेढ़े, नील गाय, भेड़िये, लकड़बग्घे, चीते, तेन्दुए, स्याही आदि जिस को जो भी स्थान मिला वहाँ पहुंच कर क्रीड़ा करने लगे। जलजन्तुओं के लिए तो यह विलक्षण महोत्सव था।

जलधरनादं श्रावं श्रावं बर्हिणः प्रतिध्वनिं प्रतिध्वनिं प्रकट्य्य मेघाभिनन्दनं कृतवन्तः। हरिणाः गवया, वनगावः, वनगर्दभाः वनमेषा, वनबर्करा, जीर्णशफा, जवराश्चेति सर्वेऽपि शाकहाराः पशवो वर्षोद्विग्नाः सन्तो घनच्छायान् पादपान् श्रितवन्तः। नीडवन्तो विहिगास्तु सुखिन आसन् कुलायेषु। श्रृगालावृका लकुटव्याघ्रश्चित्रकास्तरक्षवश्शल्यश्च सुरक्षितभूरन्ध्रेषु मृत्कूटकोटरेषु पर्वतदरीषु वा गतवन्तः।

---

२४ तथैव पृ०४५

२५. तथैव पृष्ठ-५२

मत्स्यकमठनक्रमकरभेकदीनां जलजीवनान्तु अपरमहोत्सव इव समायात: वर्षाकाल:।

इस गद्य खण्ड में प्रकृति की रमणीय माधुरी के साथ अभिराज की समासात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं। एक शब्द में अनेक पशुओं का नाम समेट कर लेखक ने पाठक को मानो शब्दक्रीड़ा का नियन्त्रण दिया है। प्रतीत होता है कि मिश्रजी ने आख्यान में सरल के स्थान पर सुबोध भाषा का प्रयोग किया है। क्योंकि उसे पढ़ने के लिए केवल सतही संस्कृत भाषा के ज्ञान से काम नहीं चल सकता। नवजिज्ञासुओं को पृष्ठ पलटकर हिन्दी अनुवाद पर भी अपनी प्रज्ञा-केन्द्रित करनी पड़ेगी। परन्तु भाषा में प्रवाह इतना तीव्र है कि सतही पाठक एक बार आख्यान को प्रारम्भ करने के बाद अन्त पर पहुंचकर ही विराम लेगा। इसका कथ्य बहुत ही रोचक और पूर्व परिचित है। मोगली का प्रसङ्ग बच्चों के लिए कार्टून फिल्म भले ही हो, परन्तु बड़ों के लिए यह आख्यान नये मूल्यों का प्रतिपादक है। आज जब देश में द्वेष की आँधी चल रही है, ऐसे में अभिराज का चिन्तन शीतल समीर बनकर चित्त का अनुरंजन कर सकता है। शब्दों की जादूगरी से मिश्र जी ने अरण्यं को **'अ-रण्यं सञ्जातम्'**[२६] करके युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी, क्योंकि जंगल की वृत्तियाँ जब शान्त हो जायें तो अरण्य उपवन बन जाते हैं। सम्पूर्ण कथा कान्तार के मनोरम दृश्यों से परिपूर्ण है अत: अलंकारों को वर्ण्य विषय में पर्याप्त स्थान मिला है। अंधेरी रात में चमकते जुगनू काली साड़ी पर लगे पीले फूल जैसे सुशोभित हैं-

मन्दं भासमाना: खद्योता कृष्णशटिकायां पीतपुष्पप्रतिच्छविमिव रूपयन्तो ददृशिरे।[२७]

इस कथा का हिन्दी अनुवाद इसकी आत्मा सदृश है। इससे इसका विस्तार और आनन्द द्विगुणित हो गया है। प्राय: भाषानुवाद यदि लेखक से इतर व्यक्ति द्वारा किया जाता है। तो काव्य का मूल तत्त्व कहीं-कहीं छिटक जाता है, परन्तु जब लेखक स्वयं उन शब्दों को अनुवादित करता है तो उसके मूल से ब्रह्मरन्ध्र तक उसकी दृष्टि केद्रित होती है। परिणाम स्वरूप पाठक को ब्रह्मानन्द सहोदर की अनुभूति होने लगती है। मेरा यह विश्वास है कि इस कथा को पढ़ते समय पाठक जब इसकी दुर्गम खोहों में उतरेंगे, घने अगम्य वनों में भटकेंगे और झाड़ियों के झुरमुट में उलझेंगे तो पता नहीं चलेगा कि कब गन्तव्य आ गया। भावानुवर्तिनी हिन्दी का प्रयोग करते हुए लेखक ने अनेकों मुहावरे और आंचलिक शब्दों को प्रयोग किया है।[२८] द्विजिह्व नामक श्रृगाल की निर्लज्ञता के लिए मिश्रा जी ने **'कांछ का कच्चा'** होना इस मुहावरे का प्रयोग किया है। संस्कृत में उसे लम्पट शब्द द्वारा व्यञ्जित किया है। लम्पट शब्द की काव्यशास्त्रीय व्याख्या भले ही कुछ हो, परन्तु व्यावहारिक रूप में जिसका 'पट' पर अंकुश न हो, शारीरिक आकर्षण और संयमविहीन संसर्ग के लिए जो सदैव लालायित रहे। ऐसी स्थिति में लम्पट व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से दुर्बल होगा। इसमें उसका धूर्त होना आवश्यक नहीं, यदि संक्षेप में कहा जाये तो जिसका वस्त्र किसी भी विपरीत लिंगीय आकर्षण में आकर 'लम्बमान' अर्थात लटक जाये, उसे लम्पट कहना समीचीन है। यह प्रयोग मेरी अवधारणा है। यहाँ धातु प्रत्यय जन्य व्युत्पति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस कथा प्रसङ्ग में मिश्रजी को भी 'लम्पट' शब्द के अभिप्राय में 'कामी' अर्थ ही अभीष्ट है। परन्तु यह काम अनियन्त्रित होने पर ही इस श्रेणी में आता है। भले ही इसका मूल विषय **'दि जंगल स्टोरी'** पर आधारित हो, परन्तु अभिराज ने उसे बहुत पीछे छोड़ दिया है। क्योंकि 'दि जंगल स्टोरी' मोगली के चमत्कारी कार्यों की कार्टून कथा है। जिसमें मोगली द्वारा किये गये शारीरिक करतब सर्कस का अहसास कराते

---

२६ तथैव पृष्ठ ५१
२७ तथैव ५२
२८. लहुरी पतोहु

हैं। जानवरों के प्रति उसकी प्रगाढ़ता आश्चर्य तो उत्पन्न करती है, परन्तु भावप्रवणता नहीं। उस कथा में वास्तव में केवल जंगल की कथा है। उन वन्यजीवियों का किलकिल नाद और मोगली की उछलकूद है, परन्तु कान्तार कथा का नायक मोगली स्वाधीनता संग्राम का जनक है। वन्यजीवियों का रक्षक है और गन्धजीवियों के कृत्यों में निर्णायक भी। वह अपने नियमों को सार्वजनिक करने के लिए सबको साथ लेकर चलता है। क्रूर को अक्रूर बना देने वाला मोगली श्याम सुकुमार है। उसे सामाजिक सम्बन्धों की समझ है। राजनैतिक नियमों की जानकारी है, आध्यात्मिक चिन्तन में उत्सुकता है और एकसूत्रता में समर्पित होने का साहस भी है। यही कारण है कि मोगली को अन्ततः **'कान्तारबन्धु'** की उपाधि से अलंकृत किया जाता है। हम जहाँ रहते हैं उसकी सम्प्रभुता की हमें प्राणपण से रक्षा करनी चाहिये। यही हमारी राष्ट्रभक्ति है, केवल ध्वजारोहण अथवा राष्ट्र प्रशस्तियाँ गाने से कोई राष्ट्रभक्त नहीं हो जाता। इसलिए आरण्यक मोगली अपने बन्धुओं से यही आह्वान करता है कि -

सम्प्रभुत्वमस्य कान्तारस्याऽस्याभिः प्राणपणेन रक्षणीयमेव।[२९]

लेखक का यह सन्देश यदि कुछ भारतीयों तक भी पहुंच जाये तो इस रचना की रचनाधर्मिता सफल हो जायेगी। अभिराज की यह कृति विक्रमचरितम् के अधिक निकट है। परन्तु लेखक ने इसमें सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को समाहित कर इसको और भी व्यापक कर दिया है। इस आख्यान को यदि वन्यजीवियों एवं वनवृक्षों का शब्दकोश कहा जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। इतने वृक्षों एवं पशुओं के नाम हैं कि शायद ही इनके अतिरिक्त कुछ शेष रहा हो। मेरा पाठकों से अनुरोध है कि यदि वे इसे पढ़कर नया पशु और वृक्ष ढूंढकर ले आयें तो मुझे अवश्य बतायें। पात्रानुकूलता के प्रसङ्ग में अभिराज ने नाम को स्वभाव को जोड़ा है। इसमें बलशाली सिंह के लिए दुर्गम, ज्ञानी भल्लूकराज के लिए सर्वज्ञ, पराक्रमी-गजराज के लिए महाबल, सिंह के प्रतिद्वन्द्वी, व्याघ्र के लिए वज्राङ्ग, वराहपति के लिए कम्बुघोण, अजगर को मन्दगः, गृद्धराज को सुदृष्टि व्याघ्रगुप्तचर गिद्ध को वज्रचञ्चु और लम्पट दोगले शृगाल को द्विजि का नाम दिया गया है। इस प्रकार लगभग बत्तीस पात्र अपने नाम से ही अपने व्यक्तित्व और चरित्र को प्रस्तुत करते हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि कान्तार कथा एक आन्दोलन है तो हमें बन्धन से मुक्ति की ओर ले जाता है। यह मुक्ति है जाति वर्ग, द्वेष, अत्याचार, युद्ध विनाश और परतन्त्रता से मुक्ति हो जाने की। यह आख्यान विश्व में व्याप्त आतंकवांद, युद्ध की विभिषिका में निर्बलों पर अत्याचार को रोकने का एक सत्प्रयास है। हमारे सामाजिक सम्बन्धों की पवित्रता भंग हो रही है, महिलाओं को भोगने का जो घिनौना खेल चल रहा है, मर्यादाएं बलात् हटाई जा रही हैं, द्विजिहव जैसे कामुक अपने इन्द्रिय सुख के लिए राष्ट्र को दाँव पर लगा रहे हैं। ऐसे में कान्तार कथा हमें मार्गदर्शन देती है, सही गलत के फैसलों के लिए सचेत करती है। वस्तुतः बिगड़ती फिजा में राष्ट्रीय अन्तराष्ट्रीय पीठिका पर समन्वय बनाने के लिए आवश्यक है कि हम संगठित हों, सम्भवतः अभिराज का भी यही इशारा है-

चाप्येकसूत्रतारक्षायै वयं सर्वेऽपि समन्विताः संघटितातिष्ठन्।[३०]

---

२९ तथैव पृ०८३
३० तथैव पृष्ठ-४३

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०२२५-२३१) ISSN 0974 – 8830

वैदिकीय विश्वबन्धुत्व के सन्दर्भ में हिन्दी कविता का मूल्यांकन

डॉ० सुमन सिंह[1]

वैदिक वाङ्मय में व्यक्ति की उस सत्-प्रवृत्ति को सदा से आदर्श स्वरूप माना गया है, जो मनुष्य के मन में प्राणिमात्र के प्रति सौहार्द्र, सहयोग, समभाव और स्नेह, करुणा, दया का भाव विकसित और प्रतिष्ठित करती है। ऐसे भाव ही विश्व-एकता और विश्व-बन्धुत्व जैसे उदात्त भावना को पोषित करते हैं। ऐसे सार्वजनिक आदर्श प्रस्तुत करने में भारतीय दर्शन, चिन्तन और संस्कृति का बड़ा योगदान रहा है और भारतीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसने प्रत्येक युग में उन उदात्त भावनाओं को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है, जो विश्व-कल्याण की कामना से परिपोषित है। भारतीय साहित्य में वेदों को अपौरुषेय, ईश्वर की वाणी तथा सृष्टि के प्रारम्भ में आदि ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित ज्ञान माना गया है। यही नहीं वैदिक वाङ्मय को संसार एवं मानव जाति का आदि ग्रन्थ माना गया है। वेद सभी ज्ञान एवं विज्ञान का मूलाधार एवं विश्व संस्कृति का उन्मेषक भण्डार है, धर्म एवं सभ्यता का विशाल साम्राज्य वेद की आधारभूमि पर ही विकसित हुआ है। लेकिन आज की बौद्धिक जागरूकता ने व्यक्ति को अमंगलकारी स्पर्धाओं में इतना अंधा कर दिया कि वह मानवीय मूल्यों को भूलता जा रहा है और अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु दूसरों को नुकसान पहुँचाने में भी संकोच नहीं करता। जीवन के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा नैतिक सभी सन्दर्भों में विघटनकारी प्रवृत्तियों का विकास हो गया है।

तब ऐसी विषम स्थिति में आज संसार के महान् चिन्तक, मनीषी और साहित्यकार किसी ऐसे आदर्श दर्शन की खोज में लगे हैं जो इस युग की पथ-भ्रष्ट मानव-जाति को जीवन का वह सुदृढ़ आधार प्रदान कर सके, जिससे सम्पूर्ण विश्व में परस्पर ऐक्य का भाव प्रस्थापित हो सके। वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक साहित्य में ऐसे उदात्त आदर्श भाव हैं, जो आज के संघर्ष बहुल जीवन में व्यक्ति को व्यक्ति के प्रति सहानुभूति और संवेदनशील बनाने में समर्थ हैं। इन आदर्शों को अपनाकर मनुष्य में शोक-सन्तप्त तथा भयग्रस्त प्राणीमात्र के प्रति असीम करुणा और दया के भाव प्रतिष्ठित हो सकते हैं। इस शोध लेख के पीछे हमारी यही भावना है कि आज की विघटनपूर्ण वातावरण में हिन्दी साहित्य के उस योगदान का मूल्यांकन किया जा सके, जिसने वैदिक वाङ्मय में वर्णित समता, सहृदयता और स्नेह जैसे आदर्श को अपनाकर व्यक्ति की सुप्त उदात्तता और उदारता को जाग्रत कर, जीवन के उच्चतर मूल्यों की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। जहाँ जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद-भाव मिटाकर 'विश्व बन्धुत्व' जैसे प्रबल उदार भावना को स्थापित करने में सहयोग प्रदान करती है।

वेद मानव समाज के कल्याण का संवाहक हैं। मानव की प्रत्येक क्रिया के पीछे उसका उद्देश्य सुख और शान्ति की प्राप्ति है। समाज में सभी लोग बराबर हैं, न कोई छोटा है, न बड़ा। समभाव की कामना से ही समाज एवं राष्ट्र का विकास सम्भव है। ऐसे कल्याणमय सन्देश की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर मिलते हैं –

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

---

१. वरिष्ठ प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, दयानन्द गर्ल्स पी०जी० कालेज, कानपुर।

देवाभागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते।।[२]

अर्थात् मिल-बैठना, संवाद करना, मन एक बनाना, मन एक बनाकर भाग या अधिकार का सेवन करना ये चार सामाजिक जीवन के सेतु हैं। वेद में सामाजिक एकता की कामना की गयी है। वेदों के अनुसार सब मनुष्य भाई-भाई हैं, जन्म से न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। इस समानता के भाव को धारण करते हुए हम सब सामाजिक उन्नति के साथ विश्व बन्धुत्व के लिए प्रयत्न कर सकते हैं -

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः।।[३]

इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी समानता और परस्पर प्रेम-भाव को प्रतिष्ठित करने के लिए कवियों ने स्पष्ट निर्देश दिये हैं। कबीर ने ऊँच-नीच, जाति-पांति के भेदभाव को दूर करने के लिए सभी को एक ही परमसत्ता का अंश माना है -

एक जोति से सब जग उपजा, क्या ब्राह्मण क्या सूद्रा।[४]

ईश्वर के दरबार में न कोई छोटा है न कोई बड़ा -

जाति-पाति पूछे नहीं कोई हरि के भजे से हरि का होई।

जाति-पाँति के उद्भूत भेदभाव साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए उन्हें एक ऐसे धर्म की तलाश थी, जिसके द्वारा मानव मात्र की कल्याण और साधना का मार्ग प्रशस्त हो। कोई किसी से घृणा न करे, कोई किसी की हत्या न करे। कबीर ने सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति के लिए जो पहला मन्त्र दिया वह है-**ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पण्डित होय।** इस प्रेम मन्त्र से ही धर्म, समाज में विद्यमान सभी वैमनस्य समाप्त होकर विश्वबन्धुत्व की स्थापना सम्भव हो सकती है।

आधुनिक कवि भी प्रेम एवं सौहार्द्र को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसीलिए धर्म के नाम पर पनपने वाले वैरभाव, ऊँच-नीच आदि का विरोध करते हुए प्रेम धन लिखते हैं -

धर्म आग्रह सब है केवल करने ही को झगड़ा।
है उपासना भेद न उसके अर्थ वैर विस्तारो।।[५]

इस सन्दर्भ में डॉ. केशरी नारायण शुक्ल जी लिखते हैं कि-**इन कवियों का दृढ़ विश्वास है कि समस्त धर्मों के मूल सिद्धान्त एक हैं और सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर संकेत करते हैं, प्रेम ही इन कवियों का धर्म है।**[६]

वैदिक वाङ्मय की चिन्तन धारा लोक-कल्याण एवं जीवन-दर्शन की अवधारणा से ओत-प्रोत है। लोक-कल्याण के अन्तर्गत मानव-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक आदि सभी पक्षों को परिगणित किया जाता है। विश्वशान्ति एवं विश्वबन्धुत्व से ओतप्रोत वैदिक ऋचाओं में लोक-

---

२ ऋग्वेद, १०-१९१-२
३ वही, ५-६०-५
४ कबीर साहब, डॉ० गुरुदेव सिंह, पृ० ३४३
५ प्रेम धन- सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० ३६५
६ आधुनिक काव्यधारा, डॉ० केशरी नारायण शुक्ल, पृ० ५६

कल्याण के लिए सौहार्द्र, मित्रता, समानता, संगठन सभी भावनाओं का व्यापक रूप परिलक्षित होता है। प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव से ही लोक-कल्याण सम्भव है। यजुर्वेद की ऋचाओं में यह कामना है कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब प्राणी परस्पर एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें-

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।[७]

अत एव मानसिक संकीर्णता का परित्याग एवं सबको समान मानना मैत्रीभाव का मूल कारक है। एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति, सहयोग, प्रेम और उपकार के व्यहार आचरणीय है। एक-दूसरे के प्रति रक्षा का भाव और सहायता करना मनुष्य का परम कर्तव्य है-

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः।[८]

यही मित्रवत् भावना ही सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोकर रखती है। हिन्दी साहित्यकारों ने वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, प्रांत का भेदभाव मिटाकर हमेशा एकता का संदेश दिया है। रूपनारायण पाण्डेय समस्त भारतीयों को आपस में भ्रातृ-भाव रखने के लिए कहते हैं-

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई-भाई।।
पुण्य-भूमि है, स्वर्गभूमि है, जन्मभूमि है देश वही।
इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं।।[९]

मित्रता एवं एकता की मनोरम कल्पना रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' अपनी शब्दों में व्यंजित करते हैं-

भारत-तनु में है विविध प्रांत-निवासी अंग
पंजाबी, सिंधी, सुजन महाराष्ट्र तैलंग।
महाराष्ट्र तैलंग, बंग देशीय बिहारी
हिन्दुस्तानी मध्य हिन्दी जन वृन्द बरारी।
गुजराती उत्कली आदि देशी सेवारत,
सभी लोग हैं अंग बना है जिनसे भारत।।[१०]

आज हम जाति भेद, वर्ग भेद और प्रान्त भेद के कारण एक दूसरे के दुश्मन बन बैठे हैं। कविव मैथिलीशरण गुप्त इन सभी भेदभाव से ऊपर मानव एकता को महत्त्व देते हैं-

इसका नहीं हमें कुछ खेद, मिट जावे आपस का भेद।
रक्खो हिन्दुपन का गर्व, यहीं ऐक्य के साधन सर्व।।[११]

---

७ यजुर्वेद, ३६.१८
८ ऋग्वेद, ६.७५.१४
९ मातृमूर्ति, सरस्वती खण्ड-रूपनारायण पाण्डेय, पृ० १४
१० स्वदेशी कुण्डल, पूर्णसंग्रह - राय देवी प्रसाद पूर्ण, पृ० २१२

कवि अपनी इस भावना के द्वारा समाज-सुधार एवं मानव ऐक्य प्रस्थापित करना चाहते हैं। उन्हें विश्वास है कि मैत्रीभाव और मानव ऐक्य से हम बड़े-बड़े झंझावत को भी पार कर सकते हैं। राष्ट्रीयता की संकुचित भावना से बाहर निकलकर विश्व के मानव के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए सियारामशरण गुप्त लिखते हैं-

प्रार्थना है आज जन-जन की
जन की न हो के यह जनता की जय हो।
निखिल भुवन की
पीड़ित मनुष्यता जहाँ भी हो अभय हो।[१२]

वेदों में ऐसे समाज की परिकल्पना की गयी है, जहाँ सभी समान हों, सबके हृदय एक हों, सभी की विचारधारा एक हो-

समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:।
समानमस्तु वो मनो यथा वं सुसहासति।।[१३]

वैदिक कालीन समाज हो या हिन्दी कवियों की सुन्दर समाज की कल्पना का आधार दोनों में एक ही आकांक्षा है। नागार्जुन भी वैदिक कालीन आदर्श समाज की कामना रखते हैं-

पुलकित तन हो मुकुलित मन हो,
सरस और सक्षम जीवन हो।
अन्न वस्त्रदा/सुखदा, सुभदा
प्राणों से भी बढ़कर प्यारी
हिमकिरीटिनी/जलाधि-पैजनी।
बने स्वर्ग ये भूमि प्यारी।
अधर-अधर पर अमिताभ ताज हो।
सतत अभ्युक्ति जन-जन प्रमुदित,
सर्व सुखद सुन्दर समाज हो।[१४]

वेदों में दया, धर्म अहिंसापरक जैसे भावों के विचार हैं, जिसे सभी दिशाओं में फैलाकर विश्वबन्धुत्व की स्थापना ही वेदों का उद्देश्य है। ये गुण ही मनुष्य में मानवीय गुणों को प्रस्फुटित करते हैं, जो व्यक्ति व समष्टि को एक सूत्र में पिरोकर रखता है-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि व:।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातामिवघ्न्या।।[१५]

---

१ स्वाभिमान - हिन्दू - मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १६
२ ऋग्वेद, पृ० १०-१९१-४
३ सतरंगे पंखो वाली- नागार्जुन, पृ० ४६-४७
४ अथर्ववेद, पृ० ३-३०-१
५ कुणाल गीत, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १३६

हिन्दी कवि भी अपनी कविता के माध्यम से दया, प्रेम, स्नेह और करुणा जैसे उदात्त भावना की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं-

अर्पित हो मेरा मनुज-काय, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।[१६]

मानवतावादी विचारों से प्रभावित कवि माखन लाल चतुर्वेदी जी प्रार्थना करते हैं-

विनती कर, इन सब जीवों का मानवता पर प्रेम बढ़े,
चक्रपाणि, तेरे चरणों का इन पर प्यारा रंग चढ़े।[१७]

समानता व समरसता का सन्देश वैयक्तिक भूमि पर न दिया जाकर सम्पूर्ण सृष्टि के लिए दिया गया सन्देश है। मानवीय प्रेम का यह उदात्त आदर्श हिन्दी कविता के प्रसङ्गों में प्रतिष्ठित है। इसी संदर्भ में श्रद्धा का सन्देश दर्शनीय है-

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओं,
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।।[१८]

व्यापक एवं समतामूलक संगठन की दृष्टि से वेदों का उपदेश सर्वथा ग्राह्य है। संगठन के प्रथम सोपान परिवार से लेकर समाज, राष्ट्र और विश्व स्तर के संगठन के निर्माण में मानव ही प्रथमतः उत्तरदायी कारक है। स्वस्थ रूप से विकसित मानव में परस्पर बन्धुत्व की भावना जितनी बलवती होगी, संगठन की स्थिति उतनी की सुदृढ़ होगी। वैदिक साहित्य की यह अनोखी विशेषता है कि वह मानव के कल्याण की भावना को अग्रसर करता है। वैदिक ऋषि समग्र सृष्टि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। वह व्यक्ति तथा समाज से ऊपर उठकर समस्त विश्व के सुख समृद्धि तथा मंगल की कामना करता है-

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद भद्रं तन्न आ सुव।।[१९]

हिन्दी कविता में भी एकता एवं समता की मंगल कामना की गयी है। कवि का विश्वास है कि एकता की भावना से सारी रूढ़ियाँ विषमताएं, शोषण, अनाचार, भस्मीभूत हो जाएंगे और उसमें से सुख, शन्ति और समानता के साम्राज्य में मानव-मूल्यों की सच्ची पहचान होगी-

सुख-सुविधा सबके हेतु सहज, सब सक्षम होंगे प्रबुद्ध
आबाल-वृद्ध वनिता सारे कर्त्तव्यनिरत, निर्माणशील
सब एक सूत्र में गुम्फित कुसुमावलि समान
अमरत्व न चाहेगा, सम होंगे जीवन और मरण।[२०]

सामाजिक विषमता मिटाकर सम्पूर्ण विश्व को एक घर की कल्पना करते हुए कवि पंत संदेश देते हैं-

---

१६ युगचरण, माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० १३
१७ कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ० १२८
१८ यजुर्वेद, ३०-३
१९ युगधारा - नागार्जुन, पृ० ११२
२० युगवाणी, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३०

नहीं छोड़ सकते रे यदि जन
देश, राष्ट्र, राज्यों के हित नित युद्ध करना
हरित जनाकुल धरती पर विनाश बरसाना
तो अच्छा हो छोड़ दे अगर हम
अमरीकन, रूसी और इंगलिश कहलाना
देशों में आये धरा निखर, पृथ्वी हो सब मनुष्यों का घर।[२१]

मुक्तिबोध की कविता में सर्वजन कल्याण की भावना प्रमुख है। उनके साहित्य दृष्टि का मूल प्रेष्य ही विश्व बन्धुत्व की कामना है-

सभी सम्बन्ध हटकर दूर।
केवल एक पृथ्वी पुत्र का नाता,
व उस एकान्त नाते में,
गहन विश्वास दूरदंर।[२२]

वैदिक परम्परा एवं संस्कृति से निकला यह विश्व प्रसिद्ध नारा **वसुधैव कुटुम्बकम्** हिन्दी साहित्य में भी परिलक्षित होता है। विश्वबन्धुत्व एवं विश्वकल्याण की भावना प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान की समाप्ति पर साधक पुरुष अपना आदर्श इस प्रसिद्ध श्लोक के द्वारा प्रकट करता है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

आधुनिक युग के स्वार्थरत मानव को विश्व प्रेम का सन्देश देने के लिए कवि अपनी कविता को माध्यम बनाये। यही विश्वप्रेम एवं विश्व-मानवता तथा विश्व बन्धुत्व की भावना आधुनिक काल के कवि को विश्व-मानवता के हितैषी तथा विश्व-बन्धुत्व के आकांक्षी के रूप में प्रकट कर देती है-

रुचि मूलक मानस के मन्थ, भिन्न-भिन्न अपने मत-पन्थ।
रहे अनेक अपार्थिक ग्रन्थ, मिले एक के लाख प्रभाव।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।[२३]

'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की कामना में कवि अपने जीवन की आहुति देने के लिए तत्पर है-

जग की पीड़ा में पाया है, मैने अपना अस्तित्व नया।
मैं जलूँ, किन्तु जग को प्रकाश दे मेरे उर के अंगारे।[२४]

मात्र भौतिक समृद्धि को जीवन की पूर्णता मान लेने की भूल अब हम सब समझने लगे हैं और इसीलिए व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, उपदेशकों, सन्तों, चिन्तकों और साहित्यकारों के स्वरों में विश्व एकता

---

२१ मुक्तिबोध रचनावली, द्वितीय खण्ड, सं० नेमिचन्द जैन, पृ० २०७
२२ कुणाल, गीत, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ११३
२३ याद, विस्मृति के फूल, भगवतीचरण वर्मा, पृ० ३०-३१
२४ याद, विस्मृति के फूल, भगवतीचरण वर्मा, पृ० ३०-३१

और विश्वबन्धुत्व जैसे उदात्त भावों की अभिव्यक्ति का पुनरावर्तन हम पाते हैं। जो प्राचीन वाङ्मय से लेकर आज तक के साहित्य में व्यक्ति का आदर्श माना गया है और इसी के द्वारा सामंजस्यपूर्ण स्थिति की कल्पना की गयी है। हिन्दी साहित्यकार फिर भला ऐसे उच्चतर मूल्यों की प्रतिष्ठा में क्यों पीछे रहते। हिन्दी कविता ने जहाँ जाति, प्रदेश और राष्ट्र की सीमाओं से उन्मुक्त सम्पूर्ण दुःखी सृष्टि के प्रति अपनी संवेदनायें प्रकट की हैं और उन्हें स्नेह तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार देकर विश्व एकता और विश्वबन्धुत्व के उदार आदर्श को प्रतिष्ठित किया है। इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध की कविता 'मेरे अन्तर' में विश्व बन्धुत्व की भावना प्रस्फुटित होती है-

सन्नद्ध हुआ वह ज्वाल बिद्ध
करने को सारा तम प्रसार
वह जन है जिसके उच्च भाल पर
विश्व भार और अन्तर में
निस्सीम प्यार

इस प्रकार विश्वबन्धुत्व की यह भावना विभिन्न भूमिकाओं के साथ वैदिक वाङ्मय से प्रवाहित होती हुयी हिन्दी कविता के प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक में अजस्त्र प्रवाह के साथ लक्षित होती है। हिन्दी साहित्य अनवरत अपनी अनेक विधाओं के माध्यम से व्यक्ति व समाज में उच्चतर मूल्यों की प्रतिष्ठा करती रहेगी, जो विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की स्थापना में सहयोग बनते हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०२३२-२३५) ISSN 0974 – 8830

जीवन में वेदों का योगदान

डॉ० सरिता भटनागर[1]

वेद शब्द संस्कृत की विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ है जानना या ज्ञान प्राप्त करना। वेद अपौरुषेय एवं प्राचीनतम ग्रन्थ है। अपौरुषेय का अर्थ है कि किसी पुरुष (या स्त्री) ने इनकी रचना नहीं की है। प्रलय के पश्चात् जब सृष्टि अस्तित्व में आती है, तभी वेदों का भी आविर्भाव होता है। शतपथ-ब्राह्मण के १४वें काण्ड में कहा गया है-

यथा प्रदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगा व्युचरन्ति एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इति।।[2]

अर्थात् जैसे प्रज्वलित अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार महाभूत परमात्मा के निश्वास रूप से चारों वेद प्रकट होते हैं। प्राचीन ग्रन्थ होने के कारण विश्व में इन्हें सर्वोच्च श्रद्धा प्राप्त है। ये ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के नाम से जाने जाते हैं। ऋग्वेद में विचारों की पवित्रता, यजुर्वेद में कर्मों की पवित्रता, सामवेद में उपासना की शुद्धता और अथर्ववेद में स्थिरगति पर प्रकाश डाला गया है। वेदों के अध्ययन एवं श्रवण से प्रत्येक समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व की उन्नति होती है। वेदों में ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्र विद्यमान हैं। विज्ञान की अनेक शाखाओं जैसे रसायन, भौतिकी, जीवविज्ञान, भूगर्भविज्ञान के साथ ही चिकित्सा के क्षेत्र में आहार-विहार, रोग के लक्षण एवं उनके उपचार के लिए औषधि आदि का वर्णन अथर्ववेद में निहित है। वेद पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यत्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक चिन्तन का दर्पण है। जीवन में इन सभी क्षेत्रों में वेदों का योगदान प्रशंसनीय है।

१. पारिवारिक क्षेत्र

समाज या राष्ट्र की उन्नति के लिए परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। पारिवारिक सम्बन्धों का प्रभाव पहले समाज पर पड़ता है, फिर राष्ट्र पर पड़ता है। पारिवारिक सम्बन्ध विषयक वेदों में पर्याप्त दिशा निर्देश है। वैदिक काल में सन्तान माता-पिता की आज्ञा का पालन करती थी। पति-पत्नी के सम्बन्ध मधुर थे। भाई बहन का आदर्श आचरण था। परिवार के सभी सदस्य अपने-अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का पालन करते थे। संयुक्त परिवार होते थे, जिनका मुखिया सम्पूर्ण परिवार को निर्देशित करता था। माता-पिता के प्रति सन्तान के कर्तव्यों का निर्धारण वेदों में किया गया है। ऋग्वेद के प्रस्तुत मन्त्र में इसका प्रतिपादन किया गया है -

पितुर्न पुत्राः क्रतुं जुषन्त श्रोषन्ये अस्य शासं तुरासः।
वि राय और्णोद्दुरः पुरुक्षुः पिपेश नाकं स्तृभिर्दम्नाः।।

वर्तमान युग में एकल परिवार हैं, जहाँ सम्बन्धों में मधुरता का अभाव है। हमारे भारतीय परिवार वैदिक जीवन मूल्यों से विमुख होकर पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण कर रहे हैं। वेदों द्वारा निर्देशित पारिवारिक

---

1. एसोसिएट प्रोफेसर एवं प्रभारी संस्कृत-विभाग हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद।
2. शतपथ ब्रा० काण्ड १४

व्यवस्था को अपनाने से आज के परिवार अपने जीवन में सुख एवं शन्ति ला सकते हैं। पारिवारिक सम्बन्धों के देखते हुए हमें अपनी प्राचीन सभ्यता एवं परम्परा की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। अथर्ववेद में कहा गय है-

अनुव्रतः पितुः पित्रो मात्रा भवतु संमना। जाया पत्ये मधुवतीं वाचं ददतु शन्तिवाम्।[३]

अर्थात् पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो तथा स्त्री पति से मधुर और शान्त वाणी से बात करे। वेद किसी विशेष जाति या देश के लिए सीमित न होकर समग्र संसार एवं मानव मात्र के लिए हैं। यजुर्वेद सब प्राणियों को अपने समान देखने का उपदेश देता है।

''यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति सर्वभूतेषु चात्मनं ततो न विचिकित्सति''[४]

अर्थात् जो सब प्राणियों को अपने समान और अपने को सब प्राणियों के समान देखता है वह किसी से पृथक्ता न मानकर सबसे प्रेम करता है। यह कहकर समानता के उच्च सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद में स्त्री को घर का स्वरूप मानते हुए साम्राज्ञी का सम्मानीय स्थान प्राप्त है। एक आदर्श वैदिक परिवार आज के परिवारों के लिए उदाहरण है। ऋग्वेद में नववधू के व्यवहार और सम्बन्ध का वर्णन दृष्टव्य है-

सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्रवा भव।
ननन्दिरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवसु।।[५]

२. सामाजिक क्षेत्र

प्राचीन काल से लेकर आज तक वैदिक वाङ्मय सम्पूर्ण विश्व समाज को कल्याणकारी उपदेश देता रहा है। वैदिक मन्त्रों में सामाजिक जीवन की सम्पन्नता, एकता एवं समृद्धि आदि मूल्यों का वर्णन है, जिनके द्वारा मनुष्य आतंकवाद, हिंसा, अपहरण तथा स्वार्थ आदि से मुक्त होकर आत्मशुद्धि करके स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है। वेदों में मानवीय आचार-विहार शुद्धता पर बल दिया गया है। वेदों से यह प्रेरणा मिलती है कि सामाजिक जीवन में छोटे से छोटे कार्य से लेकर समस्त कार्य कर्म यज्ञ होते हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चारों वर्णों के कार्यो का उल्लेख है। समाज में एकता बनाये रखने के लिए वेदों से हमें निष्काम कर्म करने का सन्देश मिलता है। सामाजिक शिष्टाचार से सम्बन्धित अनेक उपदेश वेदमंत्रों में मिलते हैं। हिन्दुओं की सामाजिक दृढ़ता के पीछे जीवन के नियमित सोलह संस्कार हैं। संस्कारों का सम्बन्ध सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से है। इनका सम्पादन वेदमंत्रों के बिना सम्भव नहीं है। वेदों में वर्णाश्रम व्यवस्थानुसार सभी मनुष्यों को विधिपूर्वक अपने कर्तव्यपथ पर चलने की शिक्षा दी गई है। ऋग्वेद में अश्विनी कुमार अनेक जनों की सहायता करते हैं। वैदिक संस्कृति को विश्व की प्रथम वरणीय संस्कृति कहा गया है। वेदों से निःसृत संस्कृति एवं साहित्य में प्राणिमात्र के साथ समता और ममता की भावना निहित है। वैदिक साहित्य में सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण की कामना की गई है।

वैदिक ऋषि व्यक्ति एवं समष्टि के कल्याण के लिए जगदीश्वर से प्रार्थना ही नहीं करता अपितु समस्त

---

३ अथर्व०३.३०.२.
४ यजु०४०.६
५ ऋग्वेद १०.८५.४६

सृष्टि के लिए आशीर्वाद माँगता है। वह व्यक्ति तथा समाज से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व की समृद्धि एवं मंगल की कामना करता है। वैदिक ऋषियों की **'विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव'**[६] की भावना से हमारा समाज प्रेरणा ले सकता है। आचरण व व्यवहार सम्बन्धी अनेक उपदेश वैदिक मंत्रों में मिलते हैं। इन मंत्रों में मानव जीवन के प्रत्येक पहलू में विधिपूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करने की शिक्षा दी गई है। आचार्य, माता-पिता एवं अन्य सभी के प्रति शिष्ट व्यवहार की शिक्षा वेदों से ही प्राप्त होती है। वेदों में सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह-विधि, कुटुम्ब-व्यवस्था तथा राजनीति एवं समाज से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख मिलता है। हम वेदों में वर्णित आदर्श समाज का अनुकरण कर अपने समाज को उन्नतिशील बना सकते हैं।

३. धार्मिक, आध्यत्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र

वैदिक साहित्य में धर्म का सर्वाधिक महत्व है। वेदों में समस्त धर्मों के श्रेष्ठ तत्त्व सम्मिलित हैं। यज्ञ वैदिक धर्म का मूल है! यज्ञ में वैदिक मंत्रों का प्रयोग किया जाता है। मानव जाति के कल्याण, स्वास्थ्य एवं वातावरण की शुद्धता के लिए यज्ञों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसके अतिरिक्त रामायण एवं महाभारत में जो धर्म का आदर्श वर्णित है वह वेदों पर ही आधारित है। मनु ने वेदों को धर्म का मूल स्रोत कहा है-

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः।।[७]

वेद आध्यत्मिक दृष्टि से भी सर्वोपरि हैं। सभी प्राणी परमतत्त्व के ही अंश हैं। वे परमात्मा से अविच्छिन्न हैं। वेदों में अनेक देवता हैं, परन्तु बहुदेवतावाद का प्रतिपादन होने से अनेकेश्वरवाद की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। सभी देवता एक ही ईश्वर में समाविष्ट हैं। जिस प्रकार लौकिक वस्तुओं के साक्षात्कार के लिए नेत्र उपयोगी होते हैं, उसी प्रकार अलौकिक तत्त्वों के रहस्य को जानने के लिए वेद उपयोगी हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में वेदों को **'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्,'** कहकर ईश्वर का निःश्वास बताया है। कभी-कभी कोई धार्मिक या आध्यत्मिक जिज्ञासा या विवाद होने पर व्यक्ति वेदों को ही प्रमाण मानकर कहता है कि अमुक बात हमारे वेदों में कही गयी है।

वेदों का दार्शनिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। सभी अस्तिक दर्शन वेद को ही अपना मूल मानते हैं। ये दर्शन सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा वेदान्त हैं। इन सभी दर्शनों में वर्णित ईश्वर, जीव और जगत् सम्बन्धी सभी विचारधारायें वेदों पर आधारित हैं।

नानात्व में एकत्व की अनुभूति के लिए निम्न मन्त्र सर्वाधिक प्रसिद्ध मन्त्र है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[८]

---

६ ऋ०५.८२.५
७ मनुस्मृति २.७
८ ऋग्वेद १.१६४.४६

४. साहित्यिक क्षेत्र

वेद विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। साथ ही तत्कालीन साहित्य और समाज को जानने के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। वेद स्वयं काव्य रूप हैं और उनमें काव्य के सम्पूर्ण तत्त्व पाये जाते हैं। वेदों में स्थान-स्थान पर काव्यात्मक अभिव्यक्तियाँ देखने को मिलती हैं। ऋग्वेद में काव्यगत तत्त्वों जैसे रस, छन्द और अलंकारों का सुन्दर रूप दिखाई देता है। इन्द्र की स्तुतियों में वीर रस की अभिव्यंजना अपने भव्य रूप में उपस्थित होती है।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।

यो विश्वस्य प्रतिमानं वभूव ये अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः।।[९]

ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के प्रथम सूक्त के १७वें तथा १८वें मन्त्र में अग्नि को समस्त काव्यों का ज्ञाता कहा गया है। कवि ने प्राकृतिक दृश्यों में ईश्वरीय शक्ति का मानवीकरण किया है। साहित्य के क्षेत्र में वैदिक संस्कृत लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। साथ ही संस्कृत का लौकिक साहित्य वैदिक काव्य से प्रभावित है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति आदि कवियों के काव्य में वैदिक काव्य की झलक देखने को मिलती है। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र का मूल वेदों को स्वीकारते हुए उसकी उत्पत्ति वेदों से बताई है। इस प्रकार साहित्य के क्षेत्र में वेदों से पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है।

५. ऐतिहासिक क्षेत्र

ऋग्वेद मानव सभ्यता का आदिम ग्रन्थ है। देश के विभिन्न पर्वतों, नदियों तथा विभिन्न जातियों का विवरण वेदों से प्रचुर मात्रा में मिलता है। गुजरात के कई स्थानों पर की गई खुदाई के अवशेषों से सिद्ध होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और वैदिक सभ्यता में समानता थी। प्राचीनकाल के इतिहास को जानने व समझने के लिए वेद ही प्रामाणिक हैं।

६. वैज्ञानिक क्षेत्र

किसी भी क्षेत्र में जब तक हम किसी वस्तु का साक्षात्कार नहीं कर लेते हैं, तब तक हमारा संशय दूर नहीं होता है। श्रुति ने प्रत्यक्ष ज्ञान को साक्षात् ब्रह्म कहा है। विज्ञान ने अनेक विषयों में जैसा हमें अपरोक्ष ज्ञान देने का सफल प्रयास किया है, उससे एक प्रकार से हमारे ब्रह्मसाक्षात्कार का मार्ग बन रहा है। वेद एवं विज्ञान के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। यद्यपि वेदों में विज्ञान के सिद्धान्तों को नहीं खोजा जा सकता, तथापि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं जैसे भौतिकी, गणित तथा वनस्पति-शास्त्र आदि की दृष्टि से वेदों का अध्ययन हुआ है। जगत में विद्यमान भौतिक पदार्थों में वनस्पति के विषय में ऋग्वेद में कहा है-

'या औषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा'[१०] वनस्पति को प्राण भी कहा है-**प्राणो वै वनस्पतिः**[११]

अतः विभिन्न क्षेत्रों में वेदों के योगदान के विषय में जितना कहा जाये कम है।

---

९ ऋ० २/१२/९

१० ऋग्वेद १०.९१.१२

११ ऐ० ब्रा० २.४.१०

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च २०११ अङ्क १५ (पृ०२३६-२४१) ISSN 0974 – 8830

Ahimsa in the Manusmrti: its modern perspective

Dr. Hiran Sarmah[1]

Ahimsa is a term which denotes non-injury or non-violence. It is a universal belief which is deeply rooted in the Indian tradition. The roots of Ahimsa are found in the Vedas, Upanisads , Dharma Sastras, Yoga Sutras and other texts of Hinduism, Jainism and Buddhism . As Sir P.S. Sivaswamy Aiyer comments – "The sanctity attached to all kinds of life and the duty of abstaining from any form of injury or hurt to living beings or showing compassion to all animals down to the smallest creatures was one of the essential tenets of Hinduism"[1]. Ahimsa, as an ideal, sustains some other noble ideals in human mind like forgiveness (ksama), compassion (daya), truth (satya) etc. and further it brings the purity of mind. B. Kuppuswamy remarked[2] – "Whatever might have been the attitude of people during the Vedic times, for the last thirty centuries or more, Indians have been wedded to the concept of Ahimsa. References of Ahimsa are found in different texts of historical Vedic religion. It appears in the Taittiriya Samhita[3] of the Yajurveda where it refers to non-injury to the sacrificer himself. It occurs several times in the Satapatha Brahmana in the sense of non-injury without a moral connotation[4]. The Ahimsa doctrine is a late development in Brahmanical culture. The earliest reference to the idea of non- violence to animals, apparently in a moral sense, is in the Kapisthala Katha Samhita[5] of the Yajurveda . Yajurveda[6] also suggests man not to kill animals and to protect them. Atharvaveda[7] states 'We ought to destroy those who eat cooked as well as uncooked meat, meat involving destruction of males and females foetus and eggs'. The word scarcely appears in the principal Upanisads. The Chandogyopanisad[8] has the earliest evidence for the use of the word Ahimsa in the sense familiar in Hinduism. It bars violence against all creatures and the practitioner of Ahimsa is said to escape from the cycle of reincarnation. It also names Ahimsa as one of the five essential virtues[9].

Ahimsa is dignified in the Puranas too. Padma Purana[10] holds Ahimsa as the best dharma and tapas. It further tells that 'one should not do those unto others which are not desirable for oneself[11].

The idea of Ahimsa or non-violence is clearly depicted in the Ramayana[12] where a hunter, in spite of hunting being his profession, was found to be cursed by the great sage Valmiki for causing hurt to a bird. The concept of Ahimsa is also deeply rooted in the

---

1 Reader, Dept. of Sanskrit, Gauhati University-781014, Assam

1. Evolution of the Hindu Moral Ideals, P. 118.
2. Social Change in India, P. 74.
3. Yajurveda, 5.2.8.7
4. Satapatha Brahmana, 2.3.4.30; 2.5.1.26; 6.3.1.39
5. Kapisthala Katha Samhita 31.11
6. SuklaYajurveda, 1.1; 5.42
7. Atharvaveda, 8.6.23.
8. Chandogyopanisad, 8.15.1.
9. *Ibid*, 3.17.4.
10. *Ahimsa paramo dharmo hyahimsaiva param tapah* / Padma Purana, Svargakhanda. 15.
11. *atmanah pratikulani paresam na samacaret* / Ibid, 27.
12. *ma nisada pratistham tamagamah* .... Ramayana, I.II.15

Mahabharata. Narada was found telling to Sukadeva[13] -'forsaking of cruelty is the dharma par excellence and therefore, having born as human being one should not injure or cause harm to others.' Practice of non violence with all creatures is considered as the greatest deed [13(a)]. It is further stated in the epic that Ahimsa is the highest dharma, the highest tapas and the highest truth and emerge from it the dharma[14].

The Bhagavadgita[15] terms Ahimsa as one of the divine attributes which are ancillary to liberation. Ahimsa is to be established in one's own self by the practice of noble thoughts, kind words and deeds of charity and Gita considers it as knowledge[15(a)]. The Gita does not substantially differentiate the soul of a human being from that of an animal and one , who has no enmity with any creature is able to attain God's grace[15(b)].

Ahimsa is the most distinctive and fundamental feature of Jainism and it forms the cornerstone of its ethics and doctrine. The five major vows, known as Mahavratas, undertaken by the Jaina are quite strict and rigorous for monks and nuns,but are relaxed for a lay person The first of these viz, ahimsa implies non injury in thought, word and deed including abstention from inflicting injury on any being superior or inferior. Ahimsa in Jainism i confined not only to humans but extended to plants, animals, small insects or other miniscul animals too. In Jainism the practice of the principle of Ahimsa is rigorous, e.g. abstainin from going out at night as they may cause injury to small animals by carelessness or no taking honey as it amounts to violence against the bees and so on.

Non-violence is one of the Five Precepts (pancasila) of Buddhism which, in turn constitute the right action of the Buddhist middle path. Like the Jainas, Buddhists alway condemn the killing of living beings or burning plants.

Ahimsa is imperative for practitioners of Patanjali's Rajayoga. It is one of the fiv Yamas[16] (restraints) which make up the code of conduct, the first of the eight limbs of whic this path consists. It is interpreted as abstinence from malice towards all living creatures i every way and at all times. It is not merely non- violence but non-hatred too[17].

Ahimsa occupies a predominant place in the Manusmrti, the law book of Manu. Th doctrine of Ahimsa in Manu's rule is well-established and it is evident from several reference in the book. Like the Arthasastra and Vasistha Dharmasutra, Manusmrti[18] too points out th Ahimsa is a duty for all the four classes of people in the society. It declares that ahim should be extended to all forms of life. Manu was very much concerned about the pain injury to the living beings -big or small, moving or non-moving and suggested various do and don'ts. Manu points out five household items viz. mortar and pestle, grinding ston hearth, water jar and broom stick by using which one gets involved in killing of living bein

---

13. na himsyat sarvabhutani maitrayana – gatascaret / nedam janma samasadya vairam kurvita kenaci Mahabharata,XII, 329.18. 13(a). Ibid , XIV.50.2
14. Ibid XIII, 115, 23
15. Bhagavadgita. XVI. 2 15 (a). Ibid, XIII, 8. 15 (b). Ibid, V. 18.
16. Yoga Sutra of Patanjali, II. 30
17. Vyasa Bhasya of Yoga Sutra. II.30.
18. Manusmrti, (M.S.) X. 63.
19. pancasuna grhasthasya culli pesanyupaskarah / kandani codakurnbhasca vadhyate yastu vahaya Ibid, / III, 68
20. anumanta visaisita nihanta krayavikrayi / samskarta copaharta a khadakasceti ghatakah // Ibid, V.
21. nakrtva praninam himsam mamsamutpadyate kvacit / na ca pranivadhah svargyastu smanmams vivarjjayet // Ibid, V. 4.8
22. svamamsam paramamsena yo vardhayitumicchati / Anabhyarccya pitrn devanstato r nastyapunyakrt // Ibid, 52

and Manu treats them as sin[19] Manu identified some persons as killers or slayers who get involved in act of injury[20] Manusmrti contains detailed reference about the use of flesh of animals (mamsa) for consumption by human being. According to Manu, meat cannot be obtained without killing of living beings which is detrimental to the attainment of heavenly bliss and one should avoid eating meat[21]. Manu considers one who wants to increase the bulk of his own flesh by taking the flesh of other animated beings as great sinner[22]. Though Manu sanctions some lawful slaying of animals for some religious rites he appears to take measures forsaking killing of animals for one's own consumption[23]. Considering the origin of flesh which, according to Kulluka[24], is not other but a kind of menstrual blood and for the cruelty involved in fettering and slaying of animals one should stop eating meat[25]. The etymological meaning of 'mamsa' (flesh) is "he (sa) will eat me (mam) in the other world whose flesh I eat here" [25(a)] and Manu considered killing of animals for flesh as act of generation of violence. Manu declared that the merit of non-taking of meat for life is equal to the virtue gained by hundred years' sacrifice with a horse- sacrifice every year[26]. Manu further said that he who desires not to cause confinement, death and pain to living beings, (but is) desirous of the good of all, gets endless happiness[27]. It is also stated that he, who injures nothing attains, without effort, what he meditates, what he does and what he takes delight in[28].

Moksa or liberation is the ultimate goal of human life and Manu suggested along with other qualities like control of sense organs, decay of passion and hatred, the necessity of harmlessness to beings for attainment of the ultimate goal[29]. In order to desist oneself from causing harm to the living beings Manu suggested that he should walk looking at the ground even in pain of the body[30].

Manu considered slaying of human being, irrespective of Brahmana, Ksatriya or Sudra, or killing of cow as sin. Telling of untruth in respect one's superiority is considered as equivalent to slaying of Brahman[31] as they may sow the seed of hegemony. Manu's concept of Ahimsa was confined not only to the living beings or animals of higher order but also to

23. Ibid, V. 39 – 50
24. Kulluka on M.S.V. 49
25. samutpattinca mamsasya vadhavandhau ca dehinam / prasamiksya nivarteta sarvamamsasya bhakshanat // M.S. V., 49
25. (a) mamsabhaksayitamutra yasya mamsamihadmyaham/ etanmamsasya mamsatvàm pravadanti manisinah// Ibid, V.55
26. varse varse' svamedhena yo majeta satam samah / mamsani ca na khedet yastayoh pynyaphalam samah /Ibid53.
27. yo vandhanavadhaklesan praninam na cikirsati / sa sarvasya hitaprepsuh sukhamatyantamasnute // Ibid, 46
28. yaddhyayati yat kurute dhrtim vadhnati yatra ca/Tadavapnotyayatnena yo hinasti na kincana // Ibid V.47.
29. Ibid,VI, 60,75,
30. samraksanartham jantunam ratravahavi va sada/sarirasyatyaye caiva Samikshya varudham caret // Ibid. 68
31. Ibid, XI, 55,56,60 & 67.
32. Ibid, 64,65
33. Ibid, 143, 145
34. kharasvostramrgebhanamajavikavadhastatha/samkarikaranam jneyam minahimahisasya ca// Ibid, 69
35. krmikitvavayohatya madyanugatabhojanam/Phalaidhahkusumanteyamadhairyanca malavaham// Ibid, 71

the plants and animals like insects, worms etc. He gives attention to the protection of wild animals and plants.

Manu's concern about the cutting and destroying of trees and plants without a lawful reason glorifies his view towards the doctrine of non-violence. Manu's environmental awareness in that age of remote antiquity, which has been the burning problem of this era, is a valuable admonition to mankind. Realizing the importance of plants and other animals for the very sustenance of mankind he proscribed the felling of live trees for firewood or injury to the plants[32]. Cutting of trees which bear fruit, bushes, vines and creepers and plants which grow in wood are considered as acts of violence according to the Manusmrti and they need expiation[33]. Killing of animals like ass, horse elephant, fish, snake etc. are considered as crime[34]. Likewise killing of birds, winged insects or worms also need to be prohibited[35].

Manu further said that one should plant trees voluntarily and not for acquiring of remuneration[36]. Kulluka tells 'One who plants for money is not a person suitable for acquiring dharma, as it is held that who plants five number of mango sapling does not go down to the hell[37].

Manu tried to contain the harm committed to nature by acts of violence and pleaded for love, compassion for the animals and plants He said that by injuring the living beings one gets condition of disease[38].

The eleventh chapter of the Manusmrti contains some expiatory rites for the four social orders for committing some condemnable acts. Most of the expiatory rites are prescribed for acts involving injury towards different animated beings-from the highest to the lowest. These rites are otherwise some means for checking injury or violence done by men towards the other living beings.

Nitisastra teaches us 'vasudhaiva kutumabakam' meaning the entire world is my family and this forms the core of religious and cultural ethos of the Indian psyche. Again the concept "yatra jiva tatra siva" implying God dwells in every living being motivate people to venerate all living beings- irrespective of plants or animals, high or low, developed or not and so on. Religions or faiths originated in India have highlighted the importance of ahimsa in the pursuit of eternal happiness, peace or prosperity in the society. Ahimsa or non-violence is, in simple words, a simple systematic and scientific way of peaceful coexistence of all living beings. As rational being human can prosper or attain peace through practice of ahimsa which is a unique contribution of Indian thought to the world.

Ahimsa does not merely imply absence of violence but also indicates absence of desire to indulge in any sort of violence. In the 19th and 20th centuries many prominent thinkers of India emphasized the importance of Ahimsa. Mahatma Gandhi is one who applied ahimsa in both social and political fronts by his non-violence satyagraha.

Gandhiji considered ahimsa as the highest virtue of mankind and that no virtue can b practiced unless all living beings are allowed to live and that all other virtues presuppose lov All virtues require some amount of self sacrifice and this is not possible without lov According to Gandhi, ahimsa is essential for lokasamgraha and one cannot hope to brin about good of the society without renouncing violence. The achievement of India independence through non-violence struggle conducted under the leadership of Mahatn Gandhi is a unique example of non-violence in the history of the world. Gandhi's philosopl of ahimsa or non-violent resistance movement satyagraha had immense impact in Indi impressed public opinion throughout the western countries and influenced leaders

---

36. Ibid, III 163
37. Kulluka on M.S. III 163
38. "himsaya vyadhibhuyastvam" M.S.XI 52

movements for civil or political rights such as Martin Luther King Jr or Nelson Mandela . It is still being hailed and practiced in almost every part of the world. Ahimsa, in Gandhiji's thought precludes not only act physical harm but also mental states like hatred, untouchability, dishonesty, lying, unkind behaviour etc. and he considered these as incompatible with ahimsa.

God has created the universe and each and every individual is his part and any act of violence is, in simple words, defiance of the wishes of the creator, or disruption of the process of creation or sustenance of the universe. Different philosophical texts or sastras including the Manusmrti are found to have suggested various ethics and principles for peaceful coexistence of all the living beings and avoidance of violence or ahimsa is at the core of all the principles of co-existences, peace and prosperity.

The world today has witnessed various evils like, hatred, famine, war, hunger torture, disparities-social, economic or others, deprivation, excessive pressure on the natural environment – leading to extinction of a large variety of flora and fauna and so on. Erosion of moral and ethical values is vividly transparent. Concept of love, respect for universal brotherhood or peaceful co-existence, espoused specially by the Indian culture and thought through ages are almost disappearing.

Situation has turned into such a horrible state today that the very existence of the universe and its things and beings are at stake. Hostility among people has grown. Scientific and technical innovations are being so misused and the rulers and the scientific community are intensely engaged in production of lethal weapons like atom bomb or others which can cause irreparable damage to the mankind and the environment in a split of second. This is really shocking.

The present state of affairs is primarily due to non-adhering the principle of love and respect for the creatures and the creator of the universe. Men throughout the world today are vying for peace and prosperity. This can be attained through observation of some ethical principles like humility, love, truthfulness, honesty, tolerance, charity so on and non-violence (ahimsa) is at the core of all the virtues.

Among all ethical teachings Ahimsa (non-violence) is considered the supreme. Teachings of ancient India highlighted the necessity and merits of ahimsa for the sustenance and development of man and nature. Manusmrti, a law book, contains elaborate guidelines to the followed by mankind for controlling violence for the welfare of man, animal and nature.

Manu emphasized on non-injury, non-killing of plants and animals, avoidance of non-vegetarian food and so on. Taking of vegetarian food has been considered the best in the society at present for its merits, namely helping in increase of the inner and outer strength, nourishing the simultaneous development of mental, vital physical force, pleasure and satisfaction and above all the tranquility of mind and body. Manusmrti advocates vegetarian food as it will help in avoiding killing of animals, which he considers as acts or violence. Manu's dictum for preservation of environment has been considered as appropriate by the present day world. The world has realized that any damage to the environment will ultimately harm the mankind.

Manu's concept of Ahimsa is very much relevant and the society, to a large extent, can get relief from the trouble faced by it by following the principles of Ahimsa (non-violence) suggested by Manu.

REFERENCES:

1. *Aiyer, P.S. Sivasmamy: Evolution of the Hindu Moral Ideals, Nag Publishers, Jawahar Nagar, Delhi, 1976.*
2. *Kuppuswamy,B: Social change in India,Konark Publishers, Pvt. Ltd.,1992*

3 The Bhagavadgita, edited by Swami Chibhavananda, TamilNadu,1986.
4. Chandogyopanisad , Geeta Press,Gorakhpur ,1st edn 4(.a). Kapisthala Katha Samhita , edited by Raghu VirA Delhi 1968
5. Mahabharata, Geeta Press,Gorakhpur.
6 . Manusmrti with Manvarthamuktavali of Kullukabhatta, ed. and translated into Bengali by Shyamakanta Vidyabhusan, Tara Library, 2nd ed. Calcutta-6.
7. Padma Purana ed. By Kedarnath Bhaktivinod, 181 No. Maniktala Street,Calcutta
8. Rgveda Samhita with the commentary of sayana,ed. By Tilak Maharastra University Vaidik Samsodhana Mandal,
9. Ramayana , Geeta Press , Gorakhpur
10.Yoga Sutra of Patanjali translated by Rama Prasada, Munshiram Manoharlal,1995
11. Atharvaveda Samhita translated by William Dwight Whitney edited by Nag Sharan Singh, Nag Publisher Delhi, 1987
12. The Taittiriya Samhita of the Black Yajurveda edited by A. Mahadeva Shastri and K. Rangacharya, M.B.D. Delhi, 1986.
13. Sukla Yajurveda Samhita edited by Pandit Jagadish Lal Shastri , M.B.D. Delhi, 1978.

विद्वत्परिचयः

१.	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	प्रोफेसर, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२.	प्रो० महावीर	उपकुलपति गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्
३.	डॉ० रूप किशोर शास्त्री	अध्यक्षचरः-वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)
४.	डॉ० विक्रम कुमार	अध्यक्ष दयानन्द शोध-पीठ, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
५.	डॉ. कृष्णा आचार्य	एसोसियेट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, म.द) विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
६.	डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री	एसो. प्रोफेसर, वेदविभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
७.	डॉ. राजिन्द्रा शर्मा	एसोशियेट प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल शिमला १७१००५ (हिमाचल प्रदेश)
८.	डॉ. कुलदीप सिंह आर्य	अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, डी ए वी कॉलेज, अमृतसर
९.	डा० कमला मिढ्ढा	रीडर- संस्कृत विभाग, पी०सी० बागला महाविद्यालय, हाथरस।
१०.	डॉ०नरेश कुमार	प्रोजेक्ट फैलो, वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)।
११.	डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता	एसोशियेट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
१२.	डॉ. गीतादेवी गुप्ता	वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, एस.एन.सेन बा०वि० पी०जी०कालेज, कानपुर (उ०प्र०) मो०9450126730 0512-2583762
१३.	नीति गौतम	नीति गौतम पत्नी श्री रमाकान्त कालिया, म.न.३८७, वार्ड नं०१२, नजदीक सोढी मन्दिर, कुराली, जि०मोहाली पंजाब मो००९७७९००५११३
१४.	इन्दू सोनी	शोधछात्रा संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
१५.	डॉ. अमित कुमार	अंशकालिक प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१६.	डॉ० सुधीरकुमारः	असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वेद-विभागः, गुरुकुलकांगडी वि०वि० हरिद्वारम्।
१७.	डा० अनिता सेनगुप्ता	एसो० प्रोफेसर, संस्कृत, ईश्वर शरण डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
१८.	डॉ. कर्मवीर आर्य	सहायक प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद उ. प्र.

१९.	डॉ० ब्रह्मदेव	संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२०.	डॉ० मनुदेव बन्धु	प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष, वेद विभाग, अधिष्ठाता प्राच्य विद्या संकाय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२१.	डॉ० सुरेन्द्र कुमार	प्रवक्ता मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२२.	डॉ. सोहनपाल सिंह आर्य	एसो. प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, गु.का.वि.वि., हरिद्वार ई-मेल- sohanpalarya@yahoo.com
२३.	डॉ० ईश्वर भारद्वाज मलिक राजेद्र प्रताप	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष मानवचेतना एवं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार. शोधछात्र, मानवचेतना एबं योगविज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार.
२४.	डॉ. मौहर सिंह	असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, वि०वि० हरिद्वार
२५.	डा० मृदुल जोशी	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२६.	डॉ. वसुन्धरा रिहानी	दयाननद शोधपीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
२७.	डॉ. राकेश शास्त्री	अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री गोविन्द गुरु राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा(राज.)३२७००१
२८.	डॉ. रंजु पटियाल	संस्कृत प्राध्यापिका, बी.टी.सी. डी.ए.वी. कालेज, बनीखेत, हिमाचल प्रदेश
२९.	डॉ. सुरचना त्रिवेदी	असि० प्रोफे०- संस्कृत, भगवानदीन आर्य कन्या स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०)
३०.	डॉ० मंजुलता शर्मा	अध्यक्ष- संस्कृत विभाग, सैण्ट जोन्स कॉलेज, आगरा
३१.	डॉ० सुमन सिंह	वरिष्ठ प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, दयानन्द गर्ल्स पी०जी० कालेज, कानपुर।
३२.	डॉ० सरिता भटनागर	एसोसिएट प्रोफेसर एवं प्रभारी संस्कृत-विभाग हिन्दू कॉलेज, मुरादाबाद।
३३.	Dr. Hiran Sarmah	Reader, Dept. of Sanskrit, Gauhati University-781014, Assam

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

- गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।
- शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।
- गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।
- किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।
- शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रामाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। **साथ ही उसमें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये न्यूनतम १५ से अधिक प्रमाण देने चाहिये।**
- अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।
- गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही **हस्तलिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।
- अधिक उचित होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट **ALT+CTRL+F** के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त उपाय अपनाना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।
- टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृत्तिदेव ०१०'** अथवा **वॉकमैन चाणक्य** के साइज १४ में टाइप कराया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।
- विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com**
- सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

गुरुकुल-शोध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, वैदिक एवं लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक आलेखों को प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।

गुरुकुल-शोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः विद्वान् लेखकों से अनुरोध है कि वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों।

शोध-निबन्ध मौलिक होना चाहिये। किसी अन्य विद्वान् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन है।

गुरुकुल-शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जायेंगे। जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।

किसी अन्य पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुनः प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें। निबन्ध की मूलप्रति टंकण कराकर प्रकाशित करने के लिये भेजें।

शोध-निबन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रमाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। अन्धविश्वास को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः अन्धविश्वास का समर्थन करने वाले निबन्ध कृपया न भेजें।

गुरुकुल-शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, फोटो स्टेट प्रति स्वीकार्य नहीं होगी। साथ ही **हस्तलिखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अतः विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख प्रेषित करें, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।

सभी विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के समय **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें**, जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत करने में सुगमता रहे।

टंकण कराते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव 010'** फोण्ट तथा साइज १४ में टाइप किया जाए। टंकण के उपरान्त, शोधन करके सी.डी. बनवाकर प्रेषित करें।

विद्वान् ईमेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है - **gyanprakashshastri@gmail.com**

सी.डी. अथवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे मूल्यांकन के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सकती है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण्ड)

मुद्रक : किरण ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222

ISSN 0974 - 8830

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाणमासिकी शोधपत्रिका
मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १६, सितम्बर २०११



सम्पादक
प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

कुलपिता, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय



स्वामी श्रद्धानन्द जी

१८५६-१९२६

ISSN 0974 – 8830

॥ओ३म्॥

गुरुकुल-शोध-भारती

षाणमासिकी शोधपत्रिका

मूल्याङ्कित शोधपत्रिका

(A Refereed Research Journal)

अंक १६, सितम्बर २०११



सम्पादक

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

मुख्य संरक्षक	श्री सुदर्शन शर्मा, कुलाधिपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
संरक्षक	प्रो. स्वतन्त्र कुमार, कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
सहसंरक्षक	प्रो. महावीर, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार तथा उपाध्यक्ष उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी, हरिद्वार.
सम्पादक	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री, प्रोफेसर श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड) चलदूरभाष:-09219513135, **gyanprakashshastri@gmail.com or gyanprakashshastri@live.com**
परीक्षकत्वम्	प्रो. सुरेन्द्र मोहन मिश्र, प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र.
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार, पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
प्रकाशक	प्रो. ए.के. चोपड़ा, कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तराखण्ड)
एक प्रति का मूल्य	रु० ७५.०० पचहत्तर रुपये
वार्षिकमूल्य	रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये
पञ्च-वार्षिकमूल्य	रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु **कुलसचिव**, गुरुकुल काँगड़ी **विश्वविद्यालय, हरिद्वार**, के नाम धनादेश बनवाकर **पुस्तकालयाध्यक्ष**, गुरुकुल **काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार**, नाम प्रेषित करें।) दूरभाष:-01334-243037
प्रकाशनीय शोधलेख	शोधलेख विषयक दिशानिर्देश अन्तिम से पूर्व पृष्ठ में दिये गये हैं।

परामर्शदात्री समिति

१. प्रो. विक्रम कुमार विवेकी, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

२. प्रो. कमलेश चौकसी, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद (गुजरात)

३. प्रो. शशि तिवारी, पूर्व प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

४. प्रो. किरण टण्डन, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, (उत्तराखण्ड)

५. प्रो. केशव नारायण विद्यालंकार, संस्कृत-विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय हैदराबाद (आन्ध्रप्रदेश)

विषयसूची

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१-१०) ISSN 0974 – 8830

अयं मे हस्तो भगवान्

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री[१]

मानवस्य जीवनं पुरुषार्थे समाश्रितम्। पुरुषार्थं विना मनुष्यो न विकासयात्रायां प्रगतिं कर्तुं समर्थः स्यात्, न च नितान्तव्यक्तिगतकार्याणि यथा भोजनादिकान्यपि कर्तुं शक्नुयात्। यथा पुरुषार्थो जीवनस्य आधारः, तथैवायं भाग्यनिर्माताऽप्यस्ति। संस्कृतस्य नीतिसाहित्ये कर्मकर्त्रोः सम्बन्धमुल्लिखन् प्रतिपादितम्-

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ परस्परम्।
एवं कर्म च कर्ता च संश्लिष्टावितरेतरम्॥[२]

यथा छाया आतपश्च परस्परं सुसम्बद्धौ वर्तेते, तथैव कर्म कर्ता च। अस्यायमाशयः-यथा आतपम् अनुगच्छति छाया तथैव कर्म कर्तारमनुसरति।

अमुं प्रकरणं विवृण्वन् नीतिकारेणोक्तम्-

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पुरस्कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥[३]

यथा गोसहस्रेषु वत्सः स्वमातरं विन्दति तथैव पुरः कृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति। अनेनेदं प्रतिपादितं भवति यत् पूर्वं कृतं कर्म भोगेन विना कदापि कर्तारं न परित्यजति, भुक्त्वैव तत् शाम्यति।

उपर्युक्तविवरणेन इदं स्पष्टीभवति यत्कर्म कर्मफलस्य कारणम् कर्मफलं च तत्कार्यम्। वक्तुरयमाशयोऽयं यत् कृतकर्म कर्तारमनुसरत्येव, उपभोगं विना तन्नोपशाम्यति, तन्न विरमते। वयं कियन्तमपि प्रयासं कुर्मः, तेन न पलायितुं समर्थः। भाग्यनामकरणस्य अयमेव आधारो प्रतीयते यत्कर्म कर्तारं सर्वदा सर्वकालं भजते, न कदापि अन्यथा भवितुमर्हति, तत्तु छायावत् जनितारं संलगति, तमनुयाति।

अर्वाक्कालीनभारतीयसंस्कृतौ भाग्यपुरुषार्थौ इतरेतरस्यानुपूरकौ। भाग्यविषयकचर्चायां पुरुषार्थस्य चिन्तनमपरिहार्यम्, तथैव पुरुषार्थचिन्तने भाग्यस्य। प्रस्तुतनिबन्धमाध्यमेन वयमिदं ज्ञातुं प्रयतिष्यामहे यद्वैदिकसाहित्ये, विशेषरूपेण संहितासु, भाग्यपुरुषार्थयोः कियन्महत्त्वम्। भाग्यं बलवदुत पुरुषार्थः। अत्र प्रथमं वयं पुरुषार्थं विवेचयामः-

पुरुषार्थः

वैदिकी संस्कृतिः कर्मप्रधाना संस्कृतिरिति वयं वक्तुं शक्नुमः। अस्यां यत्र तत्र सर्वत्र कर्मणो माहात्म्यं चित्रितम्। ऋग्वेदस्य ऋषिः कर्तुः सत्तायाः प्राधान्यमुद्घोषयन् ब्रूते-

अ॒यं मे॒ हस्तो॒ भग॑वान॒यं मे॒ भग॑वत्तरः।

---

१. प्रोफेसर, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. पञ्चतन्त्र, मित्रसं.१३२
३. पञ्चतन्त्र, मित्रभेद १२२

अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥[४]

अयं मम हस्तो भगवान् अर्थात् भाग्यस्य निर्माता, न केवलं निर्मातैव अपितु भगवत्तरः अस्मादपि महीयान्। अयं मम हस्तः विश्वभेषजः अर्थात् विश्वस्य रोगाणां ओषधिर्वर्तते। असावेव कल्याणकरः। यत्र एतादृशी महत्ता प्रतिपादिता वर्तते तत्र किं नाम भाग्यम्, तत्तु तुच्छम्, तस्य सामर्थ्यं नगण्यम्।

यजुर्वेदस्य चत्वारिंशदध्यायेऽपि कर्मणो महत्त्वं प्रतिपादयन् कथितम्-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[५]

मनुष्यः कर्म कुर्वन् शतं वर्षाणि जीवितुमिच्छेत्। य इत्थं कर्म कुर्वन् अस्मिन् जगति विचरति, मन्त्रे निगदितम्-स कर्म कुर्वन्नपि कर्मणा न लिप्यते। स एव नरो यः कर्मसु न रमते, यस्य कर्मसु अर्थात् कर्मफलेषु न आसक्तिः, एवंविधो मनुष्यः सर्वं क्रियमाणं कर्म कुर्वन्नपि कर्मबन्धनेन न बध्नाति। अतोऽसौ कर्मजनितफलस्य बन्धनेन निर्मुक्तः।

पूर्वोक्तमन्त्रे **'एवम्'** पदमाध्यमेन निर्दिष्टं यदेवं कर्म करोति, स तेन कर्मणा न लिप्यते। अधुना प्रश्नः समुदेति केन कर्मणा मनुष्यो न लिप्यते। रहस्यमिदं स्पष्टं कुर्वन् पूर्वमन्त्रे प्रतिपादितम् यद्यो सर्वत्र अस्य जगतोऽणुमात्रेऽपि ईश्वरस्य साक्षात्कारं करोति, ईश्वरदर्शनजन्यविवेकेन यस्त्यागपूर्वकसांसारिकभोगान् भुङ्क्ते, स कदापि न कर्मणा लिप्यते।[६] परन्तु यो अन्यथा आचरति, यस्य कृते संसारो भोगायैव, यः स्वं कर्ता भोक्ता च मन्यते, तस्य कृते कृतकर्म अर्थात् पुरुषार्थ एव भाग्यरूपेण आपतति, तज्जनितबन्धनेन स पलायितुं न शक्यते, यावदसौ तान् न भुङ्क्ते।

अमुं प्रकरणं विशदरूपेण स्पष्टं कुर्वन् यजुर्वेदः प्रतिपादयति अग्रे-

असुर्य्या नाम लोकाऽअन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥[७]

ये स्वार्थे वशीभूय कर्म कुर्वन्ति, ते असुर्यलोकान् प्राप्नुवन्ति। महर्षिदयानन्दः 'असुर्य'पदं विवृण्वन् निर्वक्ति-**'असुराणां प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः'**।[८] ये अविद्यायां निरताः, तेऽपरिहार्यरूपेण स्वार्थे निपतन्ति, तेषां च **'अन्धेन तमसावृताः'** अन्धकारनिमग्नमपि निश्चितम्। एतादृशान् स्वार्थपरायणान् वेद आत्महन्तारूपेण प्रतिपादयति। एवं कर्म तत्कर्मविपाकेन च न कोऽपि शक्तोऽपसरितुम्।

उपर्युक्तसिद्धान्तस्य आलोके वयं निष्कर्षं ग्रहीतुं शक्नुमो यद्भाग्यम् एवंविधानां कर्मणां समूहं यानि स्वार्थे निपत्य कृतानि। मनुष्यकृतकर्मणी द्विविधे भवितुमर्हतः, प्रथमम्-तानि कर्माणि ये मनुष्येण परमेश्वरं साक्षिणं मत्वा निष्पन्नानि, स्वार्थरहितप्रयोजनेन सम्पादितानि कर्माणि न बन्धनकारणानि। द्वितीयम्-यानि कर्माणि स्वार्थवशेन करोति मनुष्यः, तानि कर्माणि भाग्यरूपेण परिणतानि भवन्ति। अत एव वेद एवंविधानि

---

४. ऋ०१०.६०.१२

५. यजु०४०.२

६. यजु०४०.१ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

७. यजु०४०.३

८. यजु०४०.३ असुराणां प्राणपोषणतत्पराणामविद्यादियुक्तानामिमे सम्बन्धिनस्तत्सदृशः पापकर्माणः।

कर्माणि समाचरितुं निर्दिशति, यानि बन्धनकारणानि न स्युः। अथर्ववेदः कथयति-

यस्यास्ते घोरऽआसञ्जुहोम्येषां बुन्धानामवुसर्जनाय।

यां त्वा जनो भूमिरिति प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परि वेद विश्वतः॥[९]

अथर्ववेदस्य भग ऋषिरुदीरयति यदहं संसारस्य घोरे मुखे जुहोमि बन्धनान्मुक्तये। अस्यां धरायामुत्पन्ना जना इमां भोगभूमिं मन्यन्ते एवं मत्वा प्रमुदिता भवन्ति, परन्तु त्वहमिमां निर्ऋतिम् अर्थात् दुःखस्य कारणं मन्ये, यतोहि इयं कर्मबन्धनजननी।

पूर्वोक्तमन्त्रे कर्मणोरुभयोः पक्षयोः स्वरूपं विस्पष्टं भवति। एकेन कर्मणा मुच्यते, अपरेण च बध्यते। यत्कर्म भोगानां प्रदाता, स वेदे भाग्यरूपेण चित्रितम्, अत एव हेयरूपेण प्रतिपादितं श्रुतिषु।

आत्मस्वरूपं निरूपयन् पूर्वोक्तमन्तव्यं पोषयन् चाथर्ववेदो व्याहरति-

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः आत्मानं धीरमजरं युवानम्॥[१०]

अस्मिन् मन्त्रे आत्मन अकामः अर्थात् निष्कामरूपत्वं चित्रितम्, य एतम् आत्मानं वेत्ति, न पुनः स मृत्योर्बिभेति, स तु तस्मात् पारमत्येति।

मन्त्रे वर्णिता अकामता पूर्ववर्णितनिर्लिप्तभावेन कर्मकरणेन प्राप्ता भवति। एतद् एतादृशं कर्म यद्भाग्यरूपे न परिणमते। एतस्मात् कारणात् मृत्योर्भयं न बिभेति, एष श्रेयसः पन्था।

सर्वेषां मनुष्याणां पिता रुद्रः, एषां माता पृश्निः अर्थात् प्रकृतिरस्ति। अत एव सर्वे परस्परं भ्रातरः। एतस्मात् कारणात् ज्येष्ठः कनिष्ठश्च, श्रेष्ठोऽश्रेष्ठश्च अन्येन प्रकारेण वा भेदं कुर्वन् न व्यवहर्तव्यम्, किन्तु सर्वदैव समत्वमाश्रयन् वर्तितव्यम्। अभेदवृत्तिमाश्रित्य कृतं कर्म मन्त्रनिर्दिष्टवत् 'सुदिना' अर्थात् सुखकरं भवति।[११]

कर्म विषयमधिकृत्य स्वाभिमतं प्रकटयन् वेदो ब्रूते-

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।

त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय॥[१२]

हे इन्द्र! यः कर्म न करोति स दस्युः, यः सम्यक् न विचारयति स अमन्तुः, अकरणीय-कर्माणि यो विदधाति स अन्यव्रतः, यो मनुष्येभ्यो विहितानि कर्माणि परित्यज्य अमानुषानि कर्माणि करोति स अमानुषः, अत एव हे इन्द्र! एवंविधं मनुष्यं त्वं जहि।

उक्तमन्त्रे यः कर्म न करोति तं दस्युनाम्ना अभिहितम्। को दस्युः ? य उपक्षयं विदधाति स दस्युः। एवंविधो मानवो न केवलं संसारस्यापितु स्वस्यापि हानिर्विदधाति। यः किमपि अकुर्वन् संसारे जीवितुमिच्छति, यः अकृतश्रमः भोक्तुमीहते यश्च देवताभ्योऽनर्पयन् एकाकी भोक्तुं कामयते, स दस्युरेव। एवंविधमविचारशीलं मनुष्यं वेदोऽमन्तुनाम्ना समबोधि।

---

९. यजु०१२.६४; अथर्व०६.८४.१

१०. अथर्व०१०.८.४४

११. ऋ०५.६०.५ अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥

१२. ऋ०१०.२२.८

मनुष्यस्य प्रथमं वैशिष्ट्यमिदमेव यो मत्वा कर्माणि सीव्यति,[१३] यो दस्युः, स अमननशील एव, यदि स बुद्धिमान् स्यात् तत्कथं निरुद्देश्यं भ्रष्टलक्ष्यं प्रति वा न प्रयतेत। अत एव वेदो एतादृशं मनुष्यममानुषपदेन अभिधत्ते। यो लोकाय भार एव तं साक्षादालस्यरूपं दण्डयितुं निर्दिशति वेदः। एवं वेदनयेन पुरुषार्थो न केवलं जीवनयापनाय अपरिहार्यमपितु मनुर्भवाय अपरिहेयो नियमः। अतो वेदो निरन्तरपुरुषार्थकरणाय आदिशति।

मनुष्येभ्योऽनृणाय कर्म करणीयमेव। यावत् कोऽपि ऋणात् न मुच्यते, तावदसौ देवयानपथा न गन्तुं शक्नोति। वेदो वदति-

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥[१४]

वेदः कदापि **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** एतादृशं संदेशं न ददाति। स त्वुपदिशति यद्वयं कर्म कुर्वन्, कर्म अप्येतादृशं येन बन्धनेषु न बध्नीयुः, संसारात् प्रस्थानं कुर्युः। वैदिकपुरुषार्थ ऋणान्मुक्तेर्दर्शनमस्ति।

वैदिक ऋषिः संसारस्य वास्तविकतां सम्यक्तया विजानाति यदिदं जगत् अतीव कुटिलं जटिलं चास्ति। अस्मिन् पथि नास्ति एतादृशं यं वयं राजमार्गाभिधानेन अभिदध्युः। इयं संसारसरित् शिलामयी यस्य संघट्टनेन कदापि मनुष्यो लक्ष्याद् भ्रंशितुमर्हति। इदं तु 'मार्केट'नाम युगम्, यत्र दुर्बलं भोक्तुं सर्वे उद्यताः। एतादृश्यां स्थितौ मनुष्यं सावधानं कुर्वन्, वेदो वदति-

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वमुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमोऽशिवा येऽ असञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥[१५]

शिलामयी सरित् वेगेन प्रवहति। अत उत्तिष्ठत, संगच्छध्वम्, परस्परं साहाय्यं कुर्वन् नद्याः सम्यक् उत्तरत। यत्किञ्चित् अकल्याणकरं स्यात्, तद्वयमत्रैव परित्यजेम। यच्च कल्याणकरं स्यात् तद् गृहीत्वा नदीमुत्तरेम।

वैदिकपुरुषार्थस्य मार्गः शिवस्य मार्गः, यः शिवमुपास्ते अर्थात् कल्याणकरान् तत्त्वान् संगृहीते, सः संसारसागरात् पारमत्येति। अत एव परवर्तीसाहित्ये पुरुषार्थचतुष्टयस्य संकल्पना कृता तस्मिंश्च धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-इति चत्वारि तत्त्वानि परिगणितानि। पुरुषार्थचतुष्टयस्य मूल इयं धारणाऽऽसीत् यन्मनुष्यस्य समक्षे एतादृशं पथमुपस्थातव्यो येन मार्गेण गत्वा असौ मोक्षमाप्नुयात्। यदि जीवनयात्रा धर्मेण आरभते तर्हि तस्य परिणतिर्मोक्षरूपे भवितुमर्हति। मध्ये स्थितौ अर्थकामौ मनुष्यस्य मनसः कुण्ठा अतृप्तवासना वा पूरयतः। यदा मनुष्यः सर्वान् कामान् भुङ्क्त्वा विकुण्ठो भवति तदैवासौ वैकुण्ठं भजते।

वैदिकपुरुषार्थस्य आत्यन्तिकं स्वरूपं निरूपयन् ऋग्वेदो वदति-

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे॥[१६]

पुरुषार्थीमनुष्येण परमात्मा प्रार्थनीयो यत् वयं सर्वतः भद्रसंकल्पान् प्राप्नुयाम। एते संकल्पा

---

१३. द्र०निरु०३.७
१४. अथर्व०६.११७.३
१५. यजु०३५.१०
१६. ऋ०१.८९.१

अदब्धासः अर्थात् कदापि कस्यापि अवस्थायां न नमयेयुः, न दाम्येयुः, विपत्तिभिः विपरीतपरिस्थितिषु वाप्यनाक्रान्ताः स्युः। यथा पृथिवीमुद्भिद्य बीजरूपेण स्थितो नवाङ्कुरो बहिरागत्य वटवृक्षाकारं लभते तथैवास्माकं विचाराः संकल्पाः कार्यरूपे परिणताः स्युः। कथनस्यायमभिप्रायो यदस्माभिः दृष्टः संकल्पः तत्पूर्तिहेतुकृतकर्म निर्वीर्यं न स्यात्, नपुंसकं वा न भवेत्, तदोजसा तेजसा च परिपूर्णं स्यात्, यद् गर्भरूपे स्थितो भूत्वा परिपाककाले नवशिशुवत् हर्षनादं कुर्वन् जीवनस्य नवाध्यायं प्रारभेत।

एवं पूर्वोक्तमन्त्रे पुरुषार्थेन सह भाग्यस्य एवंविधं चित्रं प्रस्तुतं यस्मिन् जीवनस्य चिह्नानि, हृदयस्य स्पन्दनम्, जीवनस्य लक्ष्यम्, एतत् निर्धनेच्छावत् मनस्येव न म्रियते। एष एतादृशः क्रतुर्यो भव्यप्रासादरूपमुपलभ्य कर्तुः यशःपताकां दोलायते। एष एवंविधं भाग्यं निर्मीमते यस्मिन् क्रन्दनं न वर्तते, नास्ति तत्र चीत्कारः, अत्र तु हर्षनादस्य घोषः, यस्मिन् नास्ति कापि विवशता, तत्र तु श्रद्धा, तत्र तु उत्साहः। एतत् कर्तुरेतादृशं कर्म यत् विश्वामित्रवत् स्वर्गं स्वयं निर्मातुं शक्यते, तत्कृते दैव-दैव इत्यादि आह्वानस्य न आवश्यकता। अत एव वेदो वदति-

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ [१७]

देवा यज्ञकर्म कर्तुं परायणान् कामयन्ते, यो निद्राशीलः अलसोऽस्ति, सर्वदैव चैतन्यरहितः, तं देवा नेच्छन्ति, यतोहि देवाः स्वयमालस्यरहिता, नियमेन यान्ति स्वपथे, अत एते ये कर्म कर्तुं न कामयन्ते तान् दाम्यन्ति।

उपर्युक्तमन्त्रे प्रतिपादितं यत् देवास्तेभ्य एव स्पृहयन्ति ये अभिषवकर्मणि निरताः अर्थात् ये देवहिताय स्वश्रमस्य निवेशं कुर्वन्ति। कथनस्यायमाशयो यत्तदेव कर्म शुभं पुण्यदायकं यज्ञीयं येनायं जगत् पूर्वापेक्षयाऽधिकं रमणीयम्, पवित्रम्, सुखदायकं वा भवेत्, एतादृशं कर्म एव सोममभिषुणोति। एवंविधं कर्म य आचरति देवास्तं कामयन्ते। एतद्विपरीतं य अनुतिष्ठति अर्थात् कार्यद्वेषं यः समाचरति तं विविधरोगाद्युपद्रवैः पीडयन्ति देवाः। अत एव प्रार्थना कृता वेदे-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ [१८]

हे देवाः! वयं कर्णैः भद्रं निशाम्येम, हे यजनीयदेवाः! वयं चक्षुभिः कल्याणमवलोकयामः, स्वस्वस्थगात्रैः सदा स्तुवन् वयं देवहिताय स्वायुरतिवाहयामः।

एवं वेदप्रतिपादितपुरुषार्थो देवहिताय कर्मकरणाय प्रेरयति। वयमस्माकं च पूर्णा शक्तिः यथा देवाः स्वार्थं परित्यज्य कर्मणि निरतास्तथैव वयमपि स्युः, एष एव वैदिककर्मसिद्धान्तः, एष एव सनानतनपन्थाः। वेदः कर्मसिद्धान्तं यज्ञरूपे निरूपयति। ऋग्वेदस्य दीर्घतमसः सूक्त अमुं रहस्यं विवृण्वन् कथितम्-

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥ [१९]

इयं यज्ञवेदिः भूमेरन्तिमा सीमा, न केवलमन्तिमा सीमा, अपितु इयं भुवनस्य नाभिरर्थात्

---

१७. ऋ०८.२.१८
१८. ऋ०१.८९.८
१९. ऋ०१.१६४.३५

केन्द्रबिन्दुरप्यस्ति। वक्तुरयमाशयो यत् यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म,[२०] यदि अस्मात् संसारात् श्रेष्ठकर्माणि समाप्ताः स्युस्तर्हि न बहुकालं यावदिदं स्थातुं शक्नोति। अस्मात् कारणात् वेदे प्रतिपादितं यद् यज्ञवेदिरस्याः पृथिव्या अन्तिमा सीमा, इयं केन्द्रबिन्दुर्जीवनस्य। एवं संसारस्योत्पत्तिः स्थितिश्च यज्ञकर्मण्याश्रिता इति वक्तुं शक्यते।

यदा जीवनं यज्ञमयं भवति, तदैव मनसि विचारा उदिता भवन्ति यद्वयमाशैशवात् कुर्मस्तस्य तत्क्रमोऽधुना विरमतु यतोहि कालोऽयमागत एतादृशः, यत्र द्वेषस्योत्तरं न द्वेषेन देयम्। अन्ये न द्विष्येयुरेतस्मात् पूर्वमिदावश्यकमस्ति वयमपि न द्विष्येम। यदा मनसि अन्यान् प्रति सहिष्णुता क्षमायाश्च भावा उदिता भवन्ति, तदैव कोऽपि अशत्रुर्भवितुं शक्नोति। उक्तभावं पोषयन् वेदो निगदति-

इदमुच्छ्रेयो अवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥[२१]

यो मनुष्य उक्तमार्गमनवलम्बयन् रागद्वेषमये संसारे रमते, स वरुणस्य पाशत्रयेन बद्धो भवति। इमे पाशाः सन्ति-उत्तमपाशः, मध्यमपाशः, अधमपाशश्च। एतेषु पाशेषु मध्यमेन मुक्तिरतीव दुष्करा, यतोहि कामविकाराः शरीरस्य मध्यमभागे विराजन्ते, तान् परित्यागमतीव कठिनम्। परन्तु वरुणदेवः प्रसीदेत् तर्हि पाशत्रयैर्मोचनं सम्भवति। वेदो निगदति-

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥[२२]

यदा कश्चित् पाशत्रयैर्मुक्तो भवति तदासौ अनागसो भवति यदासौ अपापस्तर्हि असौ अदितित्वमुपैति। दितेराशयः खण्डः, एवमदितेरभिप्रायोऽखण्डः। यः खण्डं पश्यति स पाखण्डी, परन्तु यः खण्डात् परमवलोकयन् अखण्डं पश्यति, तत्कृते वेदे प्रतिपादितम्-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥[२३]
यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः॥[२४]

अखण्डोऽर्थात् एकत्वस्य दर्शनमर्थात् सर्वेषु तदेकं परमात्मतत्त्वमवलोकयन् मोहात् शोकाच्च पारमुपैति। वैदिकपुरुषार्थस्य लक्ष्यं मोक्षस्यावाप्तिरस्ति। ईदृशी उद्घोषणा वेद अनेकधा दृश्यते, परन्तु एकैव हेतुस्तत्रास्ति यः स्वार्थं विजहाति तस्यैव जीवनं यज्ञमयं भवितुमर्हति। यजुर्वेदे निगदितम्-

स्वर्यन्तो नापेक्षन्तऽआ द्याꣳ रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारꣳ सुविद्वाꣳसो वितेनिरे॥[२५]

स्वसुखमुपेक्षयन् यो विश्वस्य धारयितारं यज्ञं वितनुते, एतादृशो विद्वान् दुःखं परिहर्तारं प्रकाशलोकं

---

२०. काठ०३०.१०; तै०सं०३.२.१४; श०ब्रा०१.७.१.५ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
२१ अथर्व०१९.१४.१
२२. ऋ०१.२४.१५; यजु०१२.१२; अथर्व०७.८३.३
२३. यजु०४०.६
२४. यजु०४०.७
२५. यजु०१७.६८

लभते।

उपर्युक्तमन्त्रेण विस्पष्टं भवति यद् यज्ञकर्म विशिष्टप्रकारककर्मफलप्रदाता, इदं कर्मफलमेव परवर्ती साहित्ये भाग्यनाम्नाऽभिहितम्।

भाग्यम्

वैदिकसाहित्ये पुरुषार्थवत् भाग्यशब्दोऽपि न प्रयुक्तो दृश्यते। अथर्ववेदे सौभाग्यं वर्णयन् कथितम्-

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥[२६]

विवाहप्रकरणे विवाहितां स्त्रियं आशंसमाना कथितं यत् सौमनस्यम्, सन्ततिः, धनेन सह सौभाग्यस्य कामना विहिता। अत्र स्पष्टरूपेण सौभाग्यपदं भाग्यपदार्थे प्रयुक्तमिति कथितुं शक्यते। एवं ऋग्वेदेऽपि सौभाग्यपदं विवाहप्रकरणे प्रयुक्तम्। अत्रैतत् आशीरर्थस्य प्रतीतिं कारयति-

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं वि परेतन॥[२७]

सामविधानब्राह्मणे **'प्रजां पशून् सौभाग्यं दीर्घायुष्ट्वं पत्युः'**[२८] सन्तति-पशु-पत्युर्दीर्घायुष्यं प्रभृतिभिः सह सौभाग्यस्य प्रार्थना विहिता दृश्यते।

उपर्युक्तकतिपयैरुद्धरणैरिदं वयं वक्तुं शक्नुमो यद्वैदिकसाहित्यस्य शब्दावल्यां सौभाग्यशब्दो विवाहप्रकरणे प्रयुक्तो दृश्यते, तत्रापि विशेषतः विवाहितामाशीर्वादार्थायं प्रयुक्तः। लोकेऽपि विवाहितां स्त्रियं आशीः **'सौभाग्यमस्तु'** अथवा **'सौभाग्यवती भूयाः'** इत्यादिवाक्यैः प्रदीयते। अनेन हेतुनेदं प्रतिपादितं भवति यद्वैदिकसाहित्ये सौभाग्यशब्दस्य प्रयोगः प्रायः विवाहितस्त्रियै आशीर्वादार्थं प्रयुक्त आसीत्, परन्तु यस्मिन्नर्थे भाग्यशब्दो लोके प्रयुक्तस्तथा न वैदिकसाहित्ये इति वयं निष्कर्षरूपेण वक्तुं शक्नुमः।

भाग्यशब्देन यस्यार्थस्य प्रतीतिः जनसामान्ये भवति, वयमिदं निश्चयात्मकरूपेण वक्तुं शक्नुमो यत् तस्मिन्नर्थे भाग्यशब्दो वैदिकसाहित्ये प्रयुक्तो नैव आसीत्, तथापि भाग्यशब्दस्य अर्थो न सर्वथा अप्रयुक्तः। ऋग्वेदे भाग्यार्थस्य विज्ञापक 'ध्रुतिः' शब्दः प्रयुक्तो दृश्यते-

न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान्कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृतस्य प्रयोता॥[२९]

उक्तमन्त्रस्य व्याख्यां सायण एवं करोति-' हे **(वरुण) (सः) (स्वो) (दक्षः)** पुरुषस्य स्वभूतं तद्बलं पापप्रवृत्तौ कारणं **(न)** भवति। किं तर्हि **(ध्रुतिः)** स्थिरा उत्पत्तिसमय एव निर्मिता दैवगतिः कारणम्। 'ध्रु गतिस्थैर्ययोः' इति धातुः। **(सा)** च ध्रुतिर्वक्ष्यमाणरूपा। **(सुरा)** प्रमादकारिणी **(मन्युः)** क्रोधश्च गुर्वादिविषयः सन्ननर्थहेतुः। **(विभीदकः)** द्यूतसाधनोऽक्षः। स च द्यूतेषु पुरुषं प्रेरयन्ननर्थहेतुर्भवति। **(अचित्तिः)** अज्ञानमविवेककारणम्। अत ईदृशी दैवक्लृप्तिरेव पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ कारणम्। अपि च **(कनीयसः)** अल्पस्य

---

२६. अथर्व०१४.१.४२
२७. ऋ०१०.८५.३३
२८. सा०मं०ब्रा० १.५.५.
२९. ऋ०७.८६.६

हीनस्य पुरुषस्य पापप्रवृत्तौ **(उपारे)** उपागते समीपे नियन्तृत्वेन स्थितः **(ज्यायान्)** अधिक ईश्वरः (अस्ति)। स एव तं पापे प्रवर्तयति। तथा चाम्नातम्- **'एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते'** (कौ.उ.३.८) इति। एवं च सति **(स्वप्नश्चन)** स्वप्नोऽपि **(अनृतस्य)** पापस्य **(प्रयोता)** प्रकर्षेण मिश्रयिता भवति। **(इत्)** इति पूरकः। स्वप्ने कृतैरपि कर्मभिर्बहूनि पापानि जायन्ते किमु वक्तव्यं जाग्रति कृतैः कर्मभिः पापान्युत्पद्यन्त इति। अतो ममापराधो दैवागत इति हे वरुण त्वया क्षन्तव्य इति भावः॥[३०]

सायणात् प्राक्कालीन ऋग्वेदस्यैकोऽन्यो भाष्यकार आचार्य वेङ्कटस्वामी 'ध्रुतिः' पदस्य व्याख्यानमेवं करोति-**'अपि तर्हि ध्रुतिः सा भवति। ध्रुतिः इति ध्रुवां नियतिम् आह। न पुरुषः स्वैरं** तदनुतिष्ठति, **दैवाभिपन्नः अनुतिष्ठतीत्यर्थः।'**[३१]

अनेन प्रकारेण ऋग्वेदे स्पष्टरूपेण भाग्यस्य वर्णनं प्राप्नोतीति, वक्तुं शक्नुमः। भाग्यायत्तः पुरुष एवंविधानि कार्याणि कर्तुं प्रवृत्तो भवति, यदसौ स्वस्थमानसिकस्थितौ न कदापि कुर्यात्। दौर्भाग्यवशात् मनुष्यस्य विवेको लुप्तो भवति तस्मादसौ आक्रोधाद् द्यूतपर्यन्तानि कुत्सितकर्माणि आवेगवशात् करोति। निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्नुमो यद् ऋग्वेद उद्धृतध्रुतिशब्दो लोकप्रचलितभाग्यसदृशोऽस्ति।

यादृशं वर्णनम् ऋग्वेद उपलभ्यते, प्रायः तादृशमेव वाल्मीकिरामायणेऽपि प्राप्नोति। अत्र मर्यादापुरुषोत्तमो रामः स्वानुजं भरतमाश्वसयन् ब्रूते-

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतरेश्चेतरश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥[३२]

अस्मिन् लोके मनुष्यः स्वाभिलाषानुसारं स्वेप्सितं न कर्तुं पारयति, यतोहि अयं परतन्त्रः। एनं कृतान्तः इतस्तत आकर्षति। अत्र यो विवशताया भावो विद्यते, तस्य सम्बन्धः दैवेन भाग्येन वा सह विद्यते।

यथा ध्रुतिवशात् पुरुषो दौर्भाग्यपथे गन्तुं परतन्त्रः, तथैव ध्रुतिः सौभाग्यमपि प्रयच्छति, उन्नतेर्मार्गं प्रशस्तं करोति, एवंविधं वर्णनं वेदे नोपलभ्यते। यद्यपि कतिपयस्थलेषु सौभाग्यवर्णनं प्राप्नोति, यथा-ऋग्वेदस्याग्रिमो मन्त्रः-''**अग्निर्वव्ने सुवीर्यमग्निः कण्वाय सौभगम्**'[३३] सुवीर्यस्य याचना कृते अग्निः कण्वाय सौभाग्यं प्रायच्छत्। सायणेनात्र **'सौभगम्'** पदस्यार्थः- **शोभनधनादिरूपं भाग्यं प्रायच्छदिति शेषः'** कृतमिति, परन्तु महर्षिदयानन्देन-**'शोभना भगा ऐश्वर्ययोगा यस्य तस्य भावस्तम्'** विहितम्। एवं सायणोऽत्र भाग्यार्थं गृह्णाति, किन्तु दयानन्द ऐश्वर्यार्थं ग्रहीतुमिच्छति। एकस्मिन् स्थाने कथितम्-**'स त्वमग्ने सौभगत्वस्य विद्वानस्माकमायुः प्र तिरेह देव।'**[३४] अस्मिन् मन्त्रे अग्निम् आयुर्विज्ञातारं प्रतिपादयन् दीर्घायुष्येण सह सौभाग्यस्य प्रार्थना विहिता। अत्र **'सौभगत्वस्य'** पदस्यार्थस्य यत्किंचित् साम्यं भाग्यस्यार्थेन सह प्रतीयते। किंच वेदे कतिपयस्थलेषु अस्पष्टसंकेताः प्राप्यन्ते येन तदर्थप्रतीतिः सम्भाव्यते-

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।

---

३०. सायणभाष्य ऋ०७.८६.६
३१. वेङ्कटभाष्य ऋ०७.८६.६
३२. वा०रा०अयोध्या०१०५.१५
३३. ऋ०१.३६.१७
३४. ऋ०१.९४.१६

पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥[35]

उक्तमन्त्रे धनम्, बुद्धिः, बलम्, सौभाग्यम्, धनस्य पोषणम्, स्वास्थ्यम्, वाचो माधुर्यम् इत्यादिभिः सह सुदिनत्वस्य अभ्यर्थना कृता। इदं सुदिनत्वं भाग्यस्याभिधायकं स्वीकर्तुं शक्यते।

उपर्युक्तविश्लेषणेनेदं निष्कर्षं ग्रहीतुं शक्यते यद् वेदे दैवं भाग्यं वाऽस्यार्थस्य प्रतीतिः यत्किञ्चिदेवाभवत्। अस्मिन् विषय इदमपि वक्तुं शक्यते यद्वेदे भाग्यस्य पर्यायवाचीरूपेण ध्रुतिपदं पठितं दृश्यते, इदं वर्णनं यस्मिन् मन्त्रे वर्तते, तेनायं प्रतीयते यद् ध्रुतिपदं दौर्भाग्यमेव अभिदधाति न सौभाग्यम्। अवनतेः पथप्रदर्शकः पूर्वकृतं कर्म वेदेन ध्रुतिनाम्ना प्रतिपादितम्, इति निर्णायकरूपेण वक्तुं शक्यते।

वेदः पुरुषार्थभाग्ययोः कस्य महत्त्वं स्वीकरोति, उपर्युक्ताध्ययनमाध्यमेन अस्मिन् प्रश्न इदं वक्तुं शक्नुमो यथा वैदिकेतरभारतीयसाहित्ये पुरुषार्थभाग्ययोः द्वौ मार्गौ स्पष्टरूपेण दृग्गोचरीभवतः, क्वचित् पुरुषार्थस्य महत्त्वं स्वीकृतम्, यथा-'**एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति**'[36] क्वचित् भाग्यस्य-'**भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्**' इत्यादिवचोभिर्भाग्यस्य माहात्म्यमुद्घोषितम्।

अनयोर्मार्गयोः कतरो गरीयः, अस्मिन् प्रश्ने समुत्पन्ने वक्तुं शक्यते पञ्चतन्त्र उभयोर्मध्ये सामञ्जस्यमुपस्थापयन् कथितं यत् कदापि वर्षाकाले दैववशात् मेघात् जलाशयेषु जलं पतति, कदाचिच्च श्रमेण भूमिमुत्खनेन पातालात् जलाशये जलमागच्छति। अत एव यदि कदाचित् अचिन्त्यं भाग्यं बलवत् तर्हि पुरुषार्थस्यापि महत्त्वं न न्यूनम्, सोऽपि बलीयान्।[37] उद्योगेन मनुष्यस्य सर्वे मनोरथाः सिद्ध्यन्ति, जना यं भाग्यं दैवं वा कथयन्ति तदपि पुरुषार्थस्य विशिष्टो गुण एव। यतोहि दैवोऽपि पुरुषस्य कर्मणः परिणामः, नोद्योगेन तस्य विभेदः।[38]

एवं नीतिकारमते भाग्यपुरुषार्थयोरुभयोर्महत्त्वं विद्यते। इदमपि वक्तुं शक्यते पुरुषार्थस्य परिणाम एव भाग्यम्। वेदाधिगतसंकेतैः स्पष्टरूपेण कर्मसिद्धान्तस्य पुष्टिर्भवति, परन्तु यद्वेदे बीजरूपे प्रतिपादितं तल्लौकिकसाहित्ये स्फुटतररूपेणाभिव्यक्तमभूदिति।

निष्कर्षरूपेण वयं वक्तुं शक्नुमो यद्वेदा निश्चयात्मकरूपेण कर्ममाहात्म्यं स्वीकुर्वन्ति, तन्मते मनुष्यजीवनस्यैकमेव सत्यं तत्पुरुषार्थ एव। स तु क्रियमाणकर्मण्येव प्रत्येति, अत असौ वदति-'**कृतं मे दक्षिणो हस्ते जयो मे सव्य आहितः।**'[39] या पुनः '**पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरापत।**'[40] अत्रैकतः कर्मणो माहात्म्यं तस्य प्राबल्यमभिनन्दितम्, अन्यतः कृतकर्मणो विपाको भवति, इदं तथ्यमपि सुस्पष्टरूपेण निरूपितम्। एवं कर्मसिद्धान्ते भाग्यं सूत्रवदनुस्यूतं वर्तते। परवर्तीसाहित्ये भाग्यवादपुरुषार्थवादयोर्विशदं निरूपणं दृश्यते, परन्तु वेदे पुरुषार्थवादस्य प्राधान्यं स्पष्टतया दृग्गोचरीभवति, तत्र भाग्यस्य वर्णनमुपलभ्यमानेऽपि भाग्यवादस्य प्रतिष्ठा नास्ति। महर्षिदयानन्दोऽपि वेदस्य कर्मसिद्धान्तस्य धारामनुकुर्वन्

---

३५. ऋ०२.२१.६

३६. हितो०प्रस्ता०३२

३७. पञ्च०अपरीक्षित०३० पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति। दैवमचिन्त्यं बलवद् बलवान् ननु पुरुषकारोऽपि॥

३८. पञ्च०अपरीक्षित०३० अभिमतसिद्धिरशेषा भवति हि पुरुषस्य पुरुषकारस्य। दैवमिति यदपि कथयसि पुरुषगुणः सोऽप्यदृष्टाख्यः॥

३९. अथर्व०७.५०.८

४०. यजु०३.४९

ब्रूते-**'पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'** इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं इसीसे प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।"[४१] एष एव सिद्धान्तपक्षः, निष्कर्षरूपेण सर्वैः शास्त्रैरमुं पक्षं स्वीकृतं सिद्धान्तरूपेण। **'होइये सोई राम रचि राखा'** या पुनः **'सबहि नचावत राम गोसाईं'** इत्यादिवचनानि नानुमतानि वेदेन। मध्यकाले दासतानिगडेन निबद्धैः भारतीयजनानां समीपे नासीत् कश्चन सन्तोषविषयः, यतोहि ते विवशताजनितसंतापन्यूनीकरणाय भाग्यपक्षमवलम्बितवन्तः, अत एष नास्ति सिद्धान्तपक्षः। किंच ये दीना भवन्ति न ते आदर्शसिद्धान्तपक्षमाश्रयितुं शक्नुवन्ति। अत इदमुचितमेव यन्महर्षिदयानन्देन प्रारब्धापेक्षया पुरुषार्थस्य महत्त्वं स्वीकृतम्।

अमुं निबन्धमुपसंहरन् वयं वक्तुं शक्नुमो यद्वैदिकविचारधारा ऐक्यमतेन कर्म कर्मवादश्च पोषणं करोति, परन्तु तेन कर्मणा सह भाग्यस्य सम्बन्धं स्वीकुर्वन्नपि कुत्रापि भाग्यवादस्य पोषणं न विहितम्। अस्येदमेव कारणं प्रतीयते यद्भाग्याश्रितजनो न कदापि जीवन उन्नतिं कर्तुं समर्थो भवति। सफलताया इतिहासो यदाऽपि येन सभ्यतया संस्कृतिना च लिखितम्, तन्मूले पुरुषार्थ एवाऽऽसीत्। अतो निष्कर्षरूपेण वयं वक्तुं शक्नुमो-**'कुर्वन्नेह कर्माणि'** सिद्धान्तमवलम्बयन् जीवने सर्वप्रकारमभ्युदयं प्राप्तु शक्नुमः।

---

४१. स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः २५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्वर २०११ अङ्क १८ (पृ० ११-१७) ISSN 0974 – 8830

सत्यार्थ-प्रकाश : मानवमात्र के कल्याणार्थ

प्रो० स्वतन्त्र कुमार[1]

महर्षि दयानन्द जिस कालखण्ड में इस धरा पर अवतरित हुए, वह भारत का अन्धकारयुग माना जाता है। जिस प्रकार कृष्ण अमावस्या की काली रात्रि में अवतरित होकर जगत् को दिव्यता का संदेश देते हैं। उसी प्रकार महर्षि दयानन्द ने न केवल भारत को अपितु सम्पूर्ण मानवजाति को सत्यार्थ-प्रकाश के रूप में अमृत का उपहार दिया है। स्वयं विष पीकर दूसरों को अमृत देने की कला, यदि कोई सीखना चाहता है, तो वह महर्षि दयानन्द से सीख सकता है। वे विषपान करने में जहाँ शङ्कर हैं, वहीं दूसरों को क्षमा करने में साक्षात् करुणा का अवतार हैं। इस प्रकार वे आधुनिक युग की एक ऐसी विभूति हैं, जिनकी तुलना इस युग के किसी सन्त, आचार्य, विद्वान् या समाज सुधारक से नहीं की जा सकती।

जब-जब मानवता पर सङ्कट के बादल मँडराते हैं, जब-जब मनुष्य में निहित पाशविक प्रवृत्तियाँ उग्र होती हैं, उसका मूल कारण उसका सत्य से विमुख होना होता है। महर्षि दयानन्द ने इस मूल कारण को पहिचान कर मानवमात्र के कल्याण के लिये सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ की रचना की है। वे सत्यार्थ-प्रकाश के गठन के मूल में निहित कारण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-'**मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य-सत्य अर्थ का प्रकाश करना है अर्थात् जो सत्य है, उसको सत्य और मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना ही सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है।**'[2] आगे वे अपने मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं-'**परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी कोई वात नहीं रक्खी है और न किसी का मन दुखाना वा किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्याऽसत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें। क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।**'[3]

महर्षि दयानन्द के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वे यदि खण्डन-मण्डन के लिये प्रवृत्त हुए हैं तो उसका कारण किसी के मन को कष्ट पहुँचाना नहीं है, वरन् एक चिकित्सक की भाँति दुःख-दर्द का निवारण करना रहा है। वे सत्य उपदेश देने और उसको ग्रहण करने में ही मानवता का कल्याण देखते हैं। इसीलिये वे सत्यार्थ-प्रकाश के प्रारम्भ में निम्न मन्त्र को उद्धृत करते हुए कहते हैं-'**ओ३म्। शन्नो मित्रः शं वरुणः वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।**'[4] वे उक्त मन्त्र में ऐसे ईश्वर को सामने रखकर सत्यार्थ-प्रकाश का प्रारम्भ कर रहे हैं, जो मित्ररूप होने से वरणीय एवं न्यायकारी है। आगे वे तैत्तिरीय आरण्यक के निम्न वचन को उद्धृत करते हुए कहते हैं-'**त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि ऋतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः॥ १॥**'[5]

---

१. कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराञ्चल)
२. सत्यार्थ-प्रकाश-भूमिका।
३. सत्यार्थ-प्रकाश-भूमिका।
४. सत्यार्थ-प्रकाश, प्रथमसमु०।
५. तै०आ०७.१. सत्यार्थ-प्रकाश, प्रथमसमु०।

तैत्तिरीय आरण्यक के मन्त्र के माध्यम से की गयी महर्षि दयानन्द की उक्त प्रतिज्ञा से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि का लक्ष्य सत्य, साधन सत्य, आचरण सत्य और सिद्धान्त सत्य है। इस प्रकार वे सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित हैं। वे कहते हैं-'**सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्था विततो देवयान:' अर्थात् सर्वदा सत्य का विजय और असत्य का पराजय और सत्य ही से विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। इस दृढ़ निश्चय के आलम्बन से आप्त लोग परोपकार करने से उदासीन होकर कभी सत्यार्थ-प्रकाश करने से कभी नहीं हटते।**'[६] इस प्रकार महर्षि दयानन्द की दृष्टि में मानव की सभी समस्याओं का निदान सत्य में निहित है और इसलिये मानवमात्र के कल्याण के लिये वे सत्यार्थ-प्रकाश का निर्माण करने में प्रवृत्त होते हैं।

मानव का कल्याण सत्य की प्रतिष्ठा से ही सम्भव है, परन्तु उस सत्य की प्रतिष्ठा का आधार क्या होना चाहिये? महर्षि विना किसी संकोच के यह प्रतिपादित करते हैं कि सत्य की प्रतिष्ठा वेद के माध्यम से ही हो सकती है। इसलिये वे आर्यसमाज के तृतीय नियम में वेद को सत्यविद्याओं की पुस्तक और उसके पढ़ने-पढ़ाने को आर्यों का परम धर्म मानते हैं।[७] वेद के निम्न मन्त्र से वे अपने कथन को पुष्ट करते हुए कहते हैं-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।।[८]

यह वेद वाणी विना किसी भेदभाव के मनुष्यमात्र के कल्याण के लिये है, यह स्वयं वेद कह रहा है। अत: स्वामी दयानन्द भी ईश्वरीय ज्ञान वेद में मानवमात्र का कल्याण निहित देखते हैं। महाराज मनु वेद को 'सर्वज्ञानमय' तथा सम्पूर्ण धर्म का मूल बतलाते हैं।[९] उनके अनुसार वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपनी आत्मा को जो प्रिय है, वह धर्म है।[१०] उनकी दृष्टि में श्रुति एवं स्मृति के अनुसार 'आचार' ही सबसे बड़ा धर्म है।[११] इस प्रकार मनु की दृष्टि में धर्म ही वेद है अथवा वेद ही धर्म है।

धर्ममूलक राजनीति

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोक्त धर्म का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दयानन्द ने इसी सत्य का उद्घाटन किया है। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त के मन्त्रों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने सन्देश दिया है कि वेदोक्त धर्म वह है कि जिसमें सभी लोग साथ मिलकर चलते हैं, एक जैसा बोलते हैं और एक जैसा ज्ञान प्राप्त करते हैं।[१२] जहाँ सबके विचार समान हैं, जहाँ सबकी सभा, समिति समान हैं, जहाँ मन समान है, जहाँ आहार-विहार समान है, वहाँ धर्म है।[१३] इसके अतिरिक्त जिनके सङ्कल्प समान हैं, जिनके हृदय समान हैं, उनमें धर्म

६. सत्यार्थ-प्रकाश, भूमिका।
७. आर्यसमाज के नियम।
८. यजु०२६.२. सत्यार्थ-प्रकाश, तृतीयसमु०।
९. मनु०,२.७. 'सर्वज्ञानमयो हि स:।' मनु०,२.६. 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।'
१०. मनु०,२.१२. 'वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन:।'
११. मनु०,१.१०८.
१२. ऋ०,१०.१९१.२.
१३. ऋ०,१०.१९१.३.

का निवास है।[१४] इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों के आधार पर कहा जा सकता है कि समता ही धर्म है और विषमता अधर्म। राजनीति का प्रारम्भ भी इसी उद्देश्य से हुआ है। विषमता को समता में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया का नाम राजनीति है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द के अनुसार मानवमात्र का कल्याण धर्ममूलक राजनीति में है। दूसरे शब्दों में विना किसी भेदभाव के चलने वाली राजनीति ही मनुष्य का कल्याण कर सकती है।

शिक्षा

भारतीय पुनर्जागरण के पुरोधा महर्षि दयानन्द धर्म और राजनीति के अतिरिक्त शिक्षा को भी मानव कल्याण के लिये आवश्यक मानते हैं। उन्होंने नई पीढ़ी के विचारों को राष्ट्रनिर्माण एवं मानव-कल्याण की ओर अभिमुख करने के लिये **'शिक्षा-पद्धति का स्वरूप'** विस्तार के साथ अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में प्रतिपादित किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती का उक्त दृष्टिकोण उस समय और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जब उनके समकालीन अथवा किञ्चित् पूर्वकालीन धार्मिक एवं समाजसुधार आन्दोलन के प्रवर्तक राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा को प्रारम्भ कराने के लिये विशिष्ट व्यक्तियों के हस्ताक्षर से युक्त एक आवेदन लेकर अंग्रेज महाप्रभुओं के समक्ष उपस्थित हुए हों। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रथम का चिन्तन भारतीय परम्परा से अनुप्राणित है, जबकि द्वितीय का चिन्तन विदेशी संस्कृतिजन्य जडता से उद्भूत हुआ है। उपर्युक्त दोनों मनीषियों की विचारधारा में भिन्नता का कारण स्पष्ट है। जहाँ राजा राममोहन राय विदेशी धर्म और संस्कृति के आक्रमण से हतप्रभ हैं, वहीं महर्षि दयानन्द सरस्वती विदेशी धर्म और संस्कृति को पूरी तरह न केवल नकारते हैं, अपितु उसको भी कटघरे में खड़ा कर देते हैं, जहाँ राजा राममोहन राय को पश्चिम की ओर अनिमेष दृष्टि से देखने के अतिरिक्त और कोई विकल्प दिखायी नहीं देता, वहीं महर्षि दयानन्द सरस्वती अपना मुख पूर्व की ओर रखते हैं। प्राची ही वह दिशा है, जहाँ विद्या का सूर्य उदित होता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में शिक्षा को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। इसका कारण यह है कि व्यक्ति, समाज, राज्य और समस्त विश्व की उन्नति और सुख-समृद्धि तभी सम्भव है, जब स्त्री-पुरुष सुशिक्षित हों। सुशिक्षित होने पर ही उनको उचित-अनुचित तथा ज्ञान-विज्ञान का बोध सम्भव है और तभी वे सम्पूर्ण प्राणिमात्र के कल्याण के लिये उसका उपयोग कर सकते हैं। महर्षि की दृष्टि में सुवर्णादि आभूषणों को धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति, चोर आदि का भय ओर मृत्यु भी सम्भव है, अतः सन्तान को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभाव को धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है।[१५] आगे वे कहते हैं कि जो लोग विद्या-विलास में लगे रहते हैं, जिनका स्वभाव सुन्दर है, सत्यवादी है, अभिमान और अपवित्रता से रहित हैं, दूसरों के अज्ञान का नाश तथा वेदविहित कर्मों के द्वारा लोकमङ्गल करने वाले हैं, ऐसे नर-नारी धन्य हैं।[१६]

शिक्षा के स्वरूप के विषय में एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि वही शिक्षा है, जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की वृद्धि हो और अविद्यादि दोष छूटें।[१७] महर्षि विद्या को यथार्थ का दर्शन

---

१४. ऋ०,१०.१९१.४.
१५. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६५.
१६. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,६५-६६.
१७. सत्यार्थप्रकाश, स्वमन्तव्य, पृ०,९५६.

कराने वाली और भ्रम से रहित मानते हैं।[१८] अथर्ववेद में ब्रह्मचारी को दो समिधाओं वाला बताया गया है।[१९] प्रथम समिधा 'भोग' की प्रतीक है और द्वितीय समिधा 'ज्ञान' की। ज्ञान और भोग इन दोनों समिधाओं के द्वारा अन्तरिक्ष स्थानीय हृदय की सन्तुष्टि और पूर्णता प्राप्त करना ब्रह्मचारी का उद्देश्य है। कहने का आशय यह है कि केवल भोग या केवल ज्ञान से मनुष्य जीवन सफल नहीं हो सकता।[२०] इसलिये भारतीय वैदिक शिक्षा जीवन के दोनों रूपों में सामञ्जस्य स्थापित करके मनुष्य को पूर्णता तक पहुँचाती है।

स्त्री एवं शूद्र शिक्षा

महर्षि दयानन्द सरस्वती का आविर्भाव इस देश में ऐसे समय हुआ था, जब शूद्र और स्त्री की शिक्षा पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा हुआ था।[२१] उस युग में स्त्री शिक्षा की कल्पना करना परम्परा और धर्माचर्यों का विरोध करने के साथ-साथ एक आश्चर्य था। इसलिये महर्षि की शिक्षाव्यवस्था की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता स्त्रीशिक्षा है। उनका स्पष्ट अभिमत था कि जब तक स्त्रियाँ विदुषी नहीं होतीं, तब तक उत्तम शिक्षा भी नहीं बढ़ती।[२२] अतः, सब कन्याओं को पढ़ाने के लिये पूर्ण विद्या वाली स्त्रियों को नियुक्त करके सब बालिकाओं को पूर्ण विद्या और सुशिक्षा से युक्त करें, वैसे ही बालकों को भी किया करें।[२३] महर्षि ने मनुष्य को पूर्ण ज्ञानवान् बनाने के लिये तीन शिक्षक स्वीकार किये हैं, उनमें से माता को प्रथम और महत्त्वपूर्ण शिक्षक माना है। वे कहते हैं कि वह कुल धन्य, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक, विद्वान् हों।[२४] आगे वे कहते हैं कि जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुँचता है, उतना किसी से नहीं।[२५]

ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या में वे स्त्री को एक वेद, दो वेद, चार वेद, चार वेद और चार उपवेद और वेदाङ्गों का उपदेश करने वाली तथा परमात्मा के निमित्त प्रयत्न करने वाली बतलाते हुए कहते हैं कि ऐसी ही स्त्री विश्व का कल्याण करने वाली होती है।[२६] कहने का आशय यह है कि महर्षि की दृष्टि में न केवल स्त्री को वेद पढ़ने का अधिकार है, अपितु उसको वेद की शिक्षा और उपदेश करने का भी पुरुष के समान अधिकार प्राप्त है। महर्षि दयानन्द सरस्वती लिङ्ग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव के पक्ष में नहीं हैं। इसका कारण यह है कि ईश्वर ने जिस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि को विना किसी भेद के सब प्राणियों को उपलब्ध कराया है, इसलिये कल्याण के निमित्त दिया जाने वाला ईश्वरीय ज्ञान किसी वर्ग विशेष के लिये नहीं हो सकता। वे कहते हैं:- वेद परमेश्वरोक्त हैं। इन्हीं के अनुसार सब लोगों को चलना चाहिये। जैसे माता-पिता अपने सन्तानों पर कृपा दृष्टि कर उन्नति चाहते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सब मनुष्यों पर कृपा करके वेदों को प्रकाशित किया है, जिससे मनुष्य अविद्यान्धकार भ्रमजाल से छूटकर विद्या

---

१८. ऋषि दयानन्द सरस्वती के शास्त्रार्थ और प्रवचन, पूना प्रवचन सं०,०३. पृ०,२८१. सं० भवानीलाल भारतीय, युधिष्ठिर मीमांसक, श्रीमती सावित्री देवी, बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता, सन् १९८८.

१९. अथर्व०,११.५.४. 'इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोन्तरिक्षं समिधा पृणाति।'

२०. यजु०,४०.१०-१४.

२१. ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य,३.३.३८.

२२. यजु०,३७.४.

२३. यजु०भा०,१९.४४.

२४. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५२.

२५. सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय समु०, पृ०,५२.

२६. ऋ०,१.१६४.४१.

विज्ञान रूप सूर्य को प्राप्त होकर अत्यानन्द में रहें और विद्या तथा सुखों की वृद्धि करते जायें।' यह महर्षि की ही अपनी विशेषता है कि वे मनुष्यमात्र को वेद के ज्ञान का पात्र मानते हैं, जबकि उनसे पूर्व के विद्वान् स्त्री और शूद्र को उक्त अवसर देने के पक्ष में नहीं हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन आया है कि जो व्यक्ति यह चाहता है कि मेरी पुत्री पण्डिता बन जाये, उसे इस-इस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये।[२७] उक्त कथन की विवेचना करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं कि इस उपनिषद् में कन्याओं के पाण्डित्य का जो प्रतिपादन है, वह गृहकार्य विषयक ही समझना चाहिये, क्योंकि उनको वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।[२८] अभेद दर्शन का प्रतिपादन करने वाले आचार्य ज्ञान के क्षेत्र में भेद दर्शन की प्रतिष्ठा करते हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है। शास्त्रार्थ के द्वारा बौद्धों के बुद्धत्व को निर्वाण तक पहुँचाने वाले आचार्य शङ्कर क्यों स्त्री और शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, के सम्बन्ध में प्रमाणरूप में न वेद को प्रस्तुत करते हैं और न उसका उन्होंने कोई मनोवैज्ञानिक कारण ही दिया है। महर्षि का मानना है कि यदि ईश्वर शूद्रादि को उक्त वेद पठन के अधिकार से वञ्चित रखना चाहता तो उसकी शरीर संरचना भी द्विजों से भिन्न होती।[२९] इसलिये ईश्वर की अन्य सभी वस्तुएँ स्त्री और शूद्र को द्विज के समान उपलब्ध हैं, अतः, वेद ज्ञान भी सबके लिये है।

महर्षि ने स्त्री को विदुषी बनाये जाने में एक सामाजिक कारण भी दिया है। वे कहते हैं कि स्त्री और पुरुष में से एक के भी अशिक्षित रहने पर घर में सुख-शान्ति नहीं रह सकती है।[३०] कहने का आशय यह है कि पारिवारिक सुख का आधार समता है। पति-पत्नी दोनों का मानसिक स्तर, जब समान होता है, तभी वे एक-दूसरे की समस्याओं को समझकर वे उनके समाधान में सहयोग कर सकते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में नारी का कार्यक्षेत्र केवल घर तक सीमित नहीं है। इसलिये वे स्त्रियों के न्यूनतम अध्ययनीय विषयों में व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्पविद्या आदि का परिगणन करते हैं।[३१] उनका मानना है कि विना उक्त विद्याओं का अध्ययन किये स्त्री अपने घर का सञ्चालन भी भलीभाँति नहीं कर सकती। इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में नारी एवं शूद्र को शिक्षा एवं कर्मक्षेत्र में वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो एक पुरुष को हैं। लिङ्ग या शरीर संरचना के आधार पर महर्षि का दृष्टिकोण पूर्णतया तर्कसङ्गत है, क्योंकि चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि में पुत्र और पुत्री अपने माता-पिता के गुणसूत्रों के समान उत्तराधिकारी हैं, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव करना न केवल तुच्छता का प्रतीक है, अपितु अमानवीय भी है।

वर्ण-व्यवस्था

आज भारतीय समाज की अनेक विकट समस्याओं का मूल जाति को माना जाता है, क्योंकि यह विना किसी उचित कारण के व्यक्ति को व्यक्ति से अलग करती है। इसलिये महर्षि भेदभाव रहित वर्ण-व्यवस्था को मानव कल्याण के लिये अपरिहार्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में वर्ण-व्यवस्था का आधार जन्म न होकर, गुण और कर्म हैं। उनका स्पष्ट अभिमत है कि जो '**ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं, वे ही ब्राह्मणादि**

---

२७. बृहदा०,६.४.१९. 'अथ य इच्छेद् दुहिता मे पण्डिता जायेत।'
२८. बृहदा०,६.४.१९. 'दुहितुः पाण्डित्यं गृहतन्त्रविषयमेव वेदेऽनधिकारात्।'
२९. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२६.
३०. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२७.
३१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समु०, पृ०,१२८.

हैं। और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुणकर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे, उसको भी नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।'[३२] वे अपने कथन को पुष्ट करते हुए तर्क देते हैं कि जैसे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति ईसाई या मुसलमान बन जाने पर ब्राह्मण नहीं रहता, क्योंकि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये हैं, इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने वर्णधर्म का पालन नहीं करता, वह तत्तत् वर्ण का भी नहीं रहता।[३३] वर्ण-परिवर्तन में मनु के कथन को उद्धृत करते हुए वे कहते हैं कि जो 'शूद्रकुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान गुणकर्म स्वभाव वाला हो तो वह शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हो जाये। वैसे क्षत्रिय या वैश्य के कुल में उत्पन्न होके ब्राह्मण वा शूद्र के समान (गुणकर्म स्वभाव वाला) होने से ब्राह्मण और शूद्र भी हो जाता है अर्थात् चारों वर्णों में जिस-जिस वर्ण के सदृश जो जो पुरुष व स्त्री हो, वह-वह उसी वर्ण का गिना जाये।[३४] महर्षि के कथन का सार यह है कि वर्ण का वरण करना पड़ता है अर्थात् तत्तत् वर्ण को प्राप्त करने के लिये उस-उस वर्ण की योग्यता को अपने में धारण करना होता है। जन्म लेने मात्र से उसको पिता के वर्ण की प्राप्ति नहीं होती है। जिस प्रकार पिता द्वारा अधिगत विद्या पुत्र को उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं हो सकती, उसे पाने के लिये सन्तान को अन्यों के समान श्रम करना पड़ता है, उसी प्रकार वर्ण की प्राप्ति भी एक योग्यता है। उसका सम्पत्ति के समान जिस किसी को हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता। गुणसूत्रों को धारण करते हुए भी सन्तान माता-पिता की विद्या और वर्ण को सहज रूप में प्राप्त नहीं कर सकती।

वर्ण-निर्धारण के काल की व्यवस्था देते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते हैं कि गुणकर्मों से वर्णों की व्यवस्था कन्याओं की १६ वर्ष और पुरुषों की २५वें वर्ष में नियत करनी चाहिये।[३५] आचार्य पाणिनि ब्रह्मचारी को वर्णी नाम से अभिहित करते हैं।[३६] उनकी दृष्टि में ब्रह्मचारी वर्ण का वरण करता है, इसलिये वह 'वर्णी' है। इससे भी महर्षि के मत की पुष्टि हो जाती है कि वर्ण का निर्धारण ब्रह्मचर्य काल में होता है, जन्म या किसी अन्य अवस्था में नहीं।

वर्ण-निर्धारण की उक्त व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के बाद समाज की अनेक विषम समस्याओं का समाधान हो जाता है। जन्मना वर्ण-व्यवस्था देश की अधिकांश समस्याओं का मूल है। इस व्यवस्था के चलते हुए प्रत्येक को न्याय दे पाना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आज देश में सामाजिक न्याय का सङ्कट विद्यमान है। यदि आज शोषितों और दलितों को जन्म के आधार पर अवसर आरक्षित किये जाते हैं, तो यह एक प्रकार से जन्मना वर्ण-व्यवस्था को पुष्ट करने के समान है। इसके अतिरिक्त जैसे पहले जन्मना वर्ण-व्यवस्था के कारण निरन्तर प्रतिभा का हनन होता चला आ रहा है, योग्य व्यक्ति को उचित अवसर से वञ्चित किया जाता रहा है और अयोग्य तथा मूर्ख अपने स्वार्थ को रखने के लिये नाना प्रकार के मिथ्या तर्कों या शास्त्रों के मनगढ़न्त व्याख्यान का आश्रय लेते रहे हैं, मानवीय प्रतिभा और उसकी गरिमा हमेशा जैसे पद-दलित की जाती रही है, आगे भी यही प्रक्रिया जारी रहने वाली है। न्याय का यह आशय कदापि नहीं होता कि वह निश्चितरूप से किसी एक व्यक्ति या वर्ग को प्राप्त होती रहे। न्याय तो वह तर्कसङ्गत प्रक्रिया है, जो

---

३२. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समु०, पृ०,१४३.
३३. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समु०, पृ०,१४५.
३४. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समु०, पृ०,१४५-४६.
३५. सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समु०, पृ०,१४७.
३६. अष्टा०,५.२.१३४. 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि।'

मानव की उन्नति में सहायक होती है और उसका व्यवहार स्वेच्छाचारी और अविवेकपूर्ण होने के स्थान पर संयम और विवेक का वह समन्वित रूप है, जिसमें प्रकाश को ही दिन कहा जाता है। हमें न्याय को न्याय के लिये नहीं, वरन् मानव के उत्कर्ष के लिये उसे प्रतिष्ठित करना है और उसका आधार प्रतिभा, योग्यता या गुणसमुदाय हो सकता है। ये ही वे तत्त्व हैं, जो मानव के उत्कर्षपथ को प्रशस्त करते हैं। इस प्रकार महर्षि की वर्ण-निर्धारण की व्यवस्था पक्षपात से रहित जातीय समस्या का समाधान करने में सक्षम, मनुष्य की योग्यता और श्रम का उचित मूल्याङ्कन करने वाली एवं सभी प्रकार के भेदभाव से रहित है। स्वार्थबुद्धि से रहित प्रत्येक विवेकी पुरुष को यह व्यवस्था स्वीकार्य हो सकती है, परन्तु जिनका शोषण करना स्वभाव बन गया है या जिसे मानव कल्याण की समझ नहीं है, ऐसे अविवेकी जनों को यह व्यवस्था समझ में आने वाली नहीं है।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द का अमरग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश के प्रणयन का उद्देश्य यही रहा है कि किस प्रकार मानवजाति का कल्याण हो, वह किस प्रकार अभ्३ुद३ा के पथ पर अग्रसर हो। इसी भावना से अनुप्राणित होकर, विना किसी भेदभाव के महर्षि दयानन्द ने एक ऐसे अद्भुत ग्रन्थ का निर्माण किया है, जो नवीन होते हुए भी पुरातन है और जिसमें वेद को आधार बनाया गयाहै। इस ग्रन्थ से महर्षि दयानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वे अन्य धर्मगुरुओं की तरह स्वार्थी नहीं हैं। इसी कारण वे इतने आत्मविश्वास-पूर्वक सत्यार्थ-प्रकाश के अन्त में कह पाये हैं:-**'त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। अवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ओ३म् शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः॥ १॥'**[३७] जो कुछ मैंने कहा है वह उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष करके कहा है। ऋत कहा है, सत्य कहा है। इतने विश्वास से वही कह सकता है, जिसने उस परमात्मा को प्रत्यक्ष करके कहा है, उसकी प्रेरणा से कहा है। कहने में जिसका अहंकार बीच में नहीं आया है। और जो कुछ भी कहा है वह मानवमात्र के कल्याण को दृष्टि में रखकर कहा है। इसलिये आज सारा विश्व महर्षि के समक्ष नतमस्तक है। आओ हम भी उस महामानव का श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुए सत्यपथ पर आगे बढ़ते रहने का संकल्प लें और अपने को **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'** के उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दें।

३७. तै०आ०७.१. सत्यार्थ-प्रकाश, चतुर्दशसमु०।

भूमण्डलीयकरणे संस्कृतस्य भूमिका

प्रो० महावीर अग्रवाल[1]

सर्वेषां भाषापण्डितानां सुविदितमेव, संस्कृत भाषा विश्वस्य श्रेष्ठतमा भाषेति, अस्याः भाषायाः सुविशालं वैदिकं लौकिकञ्च साहित्यं विलोक्य, सर्वे विस्मिताः भवन्ति। चत्वारो वेदाः, ब्राह्मणसाहित्यं, आरण्यकानि, उपनिषदः, दर्शनानि, वेदाङ्गानि, रामायणम्, महाभारतं तथा च महाकवि-भास-कालिदास-भारवि-श्रीहर्ष-माघ-भवभूति, बाणभट्ट-सुबन्धुप्रभृतिभिः स्वनामधन्यैः महाकविभिः विरचितानि महनीयानि, रमणीयानि, नाटक-महाकाव्य-चम्पूकाव्य-गीतिकाव्यादीनि पठित्वा कस्य सचेतसः हर्षातिरेको न जायते? यद्यपि भाषेयं भारतदेशस्य अलंकारभूता। भारतीया विद्वांसः, कवयः, महाकवयः संस्कृते विविधानि काव्यानि विरचितवन्तः परं तेषां चिन्तनं न संकुचितं, नापि च तेषां हृदयानि संकुचितानि। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** इत्यासीत् संस्कृतज्ञानाम् उद्घोषः। इयं समुद्रवेष्टिता धरा, एते धरणीधराः, एताः सततं स्यन्दमानाः सरितः, एते असंख्याताः प्राणिनः, सर्वं संस्कृतज्ञानां कुटुम्बकम्। **'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'**[2] संस्कृतभाषाभाषिणः, संस्कृतभाषा सेविनोऽनुरागिणो वा न लघु हृदयाः, तेषां मतं विद्यते **'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति'** येन विदुषा विचाराणां विस्तारो विहितः, यः खलु मानवमात्रं वा प्राणिमात्रं वा हृदि निधाय चिन्तयति, तदनुगुणमेव चाचरति, तस्य कृते सर्वे जनाः पारिवारिकसदस्या एव वर्त्तन्ते। वैदिकसंहितासु, उपनिषत्सु, रामायणे, महाभारते, कालिदाससाहित्ये, अन्यत्रापि च सुविशाले संस्कृत-साहित्ये अनेके मन्त्राः, अनेकानि पद्यानि, अनेकानि च गद्यखण्डानि मानवं मुहुर्मुहुः उद्बोधयन्ति **'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'**[3] इयं मित्रदृष्टिः संस्कृतभाषायाः महद् अवदानं वर्त्तते। एकमन्यदपि सुवचनं संस्कृतस्य चिन्तनधारां प्रकटीकरोति-

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः॥[4]

संसारे सर्वाः नार्योऽस्माकं मातृरूपाः, परद्रव्याणि मृत् पिण्डवत् तथा च सर्वे प्राणिनोऽस्माकंकृते आत्मवत् सन्ति इति यो मन्यते, पश्यति वा स एव विद्वान् वर्त्तते। संस्कृतानुरागिणः भारतीयाः पिपीलिकायां, हस्तिनि, शुनि, श्वपाके च सर्वत्रैव समदर्शिनो भवन्ति। यथोक्तं भगवता श्रीकृष्णेन श्रीमद्भगवद् गीतायां-

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥[5]

संस्कृतदृष्ट्या न कोऽपि महान्, न चापि लघुः, सर्वेषु प्राणिषु स एव जगन्नियन्ता, सर्वज्ञः, सर्वशक्तिमान् ईश्वरो निवसति। तेनैव करुणासागरेण व्याप्तमिदं निखिलं जगत्। यजुर्वेदे निगदति भगवती श्रुतिः-

---

१ उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ हितोपदेश (मित्र सम्प्राप्ति)

३ यजुर्वेद, ३६.१८

४ सत्यार्थप्रकाश, द्वित्तीय समुल्लास

५ भगवद्गीता, ५।१८

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।।[६]

इदं सर्वं विश्वं तेन ईश्वरेण व्याप्तं वर्त्तते। निखिल ब्रह्माण्डे व्याप्तः प्रभुः अस्मान् सर्वान् प्राणिनः पश्यति। वयं सर्वे तस्य परमात्मनः पुत्राः। यथोक्तं वेदमन्त्रे-

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।[७]

ईश्वरः सर्वान् जनान् अमृतपुत्रान् मन्यमानः सन्दिशति। यदा सर्वे तस्य पुत्रास्तर्हि परस्परं वयं भ्रातरः, भगिन्यः, मित्राणि वा। न कोऽपि कस्यापि शत्रुः, परकीय/स्वकीय एव वा वस्तुतो यावन्तो देहधारिणो वर्त्तन्ते, ते न हिन्दवः, न यवनाः, न सिखाः, न ईसाई धर्मवन्तो वा। सर्वेषां शरीररचना समाना, सर्वेषां शरीरेषु समानमेव शोणितं सञ्चरति, विभिन्नधर्मावलम्बिनां देहेषु शोणितं रक्तवर्णमेव। तत्र का भिन्नता। वयं यां भिन्नतां पश्यामः सा मानवनिर्मिताऽस्ति। एकस्मिन् वेदमन्त्रे निगद्यते-

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।

द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः।[८]

अस्यायमाशयः यत्र कुत्रापि एकान्ते वयं यत् किमपि कुर्मः, तत् सर्वं सः राजा वरुणः, जानाति।

सम्पूर्ण जगति तस्यैव परमेश्वरस्य साम्राज्यं वरीवर्ति। सर्वेषां कर्मणां फलप्रदाता, सर्वेषां रक्षकः, पोषक प्रेरकः स एवास्ति। वयं प्रतिदिनं जगदीश्वरं प्रार्थयामहे-

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।

त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव।।

संस्कृतज्ञाः तमेव मातृ, पितृ, भ्रातृरूपेण स्तुन्वन्ति, तमेव सखारूपेण ध्यायन्ति। यस्य संस्कृतसेविनो जनस्य तस्मिन् परब्रह्मणि परमा श्रद्धा, किं स कदापि कस्मिन्नपि भेदबुद्धिं करिष्यति। नैव। स तु कृत्स्नमपि प्राणिजातम् आत्मौपम्येनैव पश्यति। संस्कृतज्ञानां चिन्तनमस्ति सार्वभौमिकं सार्वकालिकं ते सर्वदा प्राणिमात्रस्य कल्याणं कामयन्ते।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

संस्कृतभाषा शिक्षयति

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।[९]

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।[१०]

---

६ यजुर्वेद, ४०.१

७ ऋग्वेद, १०.१३.१

८ अथर्ववेद, ४.१६.२

९ ऋग्वेद, १०.१९१.२

सर्वेषां गमनं, हसनं, वदनं, चिन्तनं समानरूपं भवेत्, न तत्र कोऽपि भेदः स्यात्। यतोहि सर्वे ईश्वरेणैवोत्पादिताः वर्त्तन्ते।

संस्कृतमनीषिणः भौतिकैश्वर्ये न तथा रमन्ते, यथा तेषां मनांसि अध्यात्मसरोवरे निमज्जन्ति। यो मानवो बाह्यं सांसारिकम् आकर्षणं विहाय आत्मसरोवरे अवगाहनं करोति, तस्मिन् समत्वबुद्धिः सहजतयैव समुदेति। यथा निगदितवन्तः भगवन्तः श्रीमद्भगवद्गीतायाम्-

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥[११]

यथा वृक्षाः, सरितः, मेघमाला, सूर्यः, चन्द्रमा न कस्यापि एकस्य जनस्य, राज्यस्य, देशस्य वा कृते सन्ति एते सर्वेषां हितं कुर्वन्ति, वृक्षाः अयं निजः परो वेति भेदं विहाय सर्वेभ्यः छाया, फलानि पुष्पाणि च यच्छन्ति। सरितः सर्वेषां प्राणिनां पिपासां शमयन्ति। सूर्याचन्द्रमसौ सर्वेभ्यः प्रकाशं प्रयच्छतः, तथैव अस्माभिः व्यवहर्त्तव्यम्। **'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'**[१२] इति उद्घोष्यते वैदिकैः ऋषिभिः। यथा व्योमविहारिणः पक्षिणः प्रातरुत्थाय स्वं-स्वं नीडं परित्यज्य भोजनमधिगन्तुं इतस्ततः विचरन्ति, प्राप्ते च सायं समये प्रत्यावर्त्य स्वनीडेषु प्रविशन्ति, तत्र च नीडे सर्वे प्रेम्णा निवसन्ति, तथैवास्माभिरपि वर्तितव्यम्।

पाश्चात्यचिन्तका निखिलमपि विश्वम् आपणं मन्यन्ते। वस्तूनि विश्व-आपणे विक्रीय अधिकाधिकम् धनार्जनमेव तेषां लक्ष्यम्। संस्कृतज्ञाः उद्गिरन्ति-**'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**[१३] अद्यावधि न कोऽपि धनेन परां निर्वृत्तिं प्राप्तवान्। येन कर्मणा मानवः शान्तिं, सुखं, सन्तोषञ्चापि विन्दते, यया भक्त्या जीवने करुणा, दया, ममता, परोपकारः, परसेवादयो भावाः समुत्पद्यन्ते तदेव जीवने प्रापणीयम्। वैदिकाः उद्गायन्ति-

'अन्योऽन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या'[१४]

यथा धेनुः सद्योजातं स्ववत्सं स्निह्यति तथैव वयमपि परस्परमतीव प्रेम्णा व्यवहरेम। **'लोकाः समस्ता सुखिनो भवन्तु'** इत्यस्ति संस्कृतपुत्राणां प्रार्थना। वयमभिलषामः सर्वेऽपि अमृतपुत्राः संसारे तथा निवसन्तु यथा एकस्मिन् गृहे सर्वेऽपि पारिवारिकजना अतिशयेन प्रेम्णा निवसन्ति।

रामायण-महाभारत-भगवद्गीता-रघुवंश-कुमारसंभवप्रभृतिषु काव्येषु महाकाव्येषु च सर्वत्र कुटुम्बपरिकल्पना एव दृग्गोचरि भवति। अनया कुटुम्बपरिकल्पनया मानवा देवत्वं प्राप्नुवन्ति। वयं प्रतिदिनं पश्यामो दुष्कृतं दुष्कृतं जनयति, सुकृतं च सुकृतम्। विद्वेषो विद्वेषं जनयति, विरोधो विरोधम्, तथैव स्नेहः स्नेहं वर्धयति, प्रेम प्रेमभावनां जागरयति।

प्राचीनैः संस्कृतज्ञैर्भारतीयैः सततमेवोदीरितम् यत् सर्व-भूत-हित-साधनम् अस्माकं लक्ष्यम्। तत्र राष्ट्रदेशादिभेदो विपज्जनक एव। यदा स्वार्थबुद्धिर्हीयते तदैव देवत्वं जागर्ति। निजत्व-परत्वभावना तु अल्पधियामेवाभिमता। ते ममेदम्, परकीयम्-एतद् इति विभेदमाश्रयन्ते।

---

१० ऋग्वेद, १०.१९१.३
११ भगवद्गीता, १२।१८
१२ यजुर्वेद, ३२.८
१३ कठोपनिषद्, १।१।१२
१४ अथर्ववेद, ३.३०.१

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'[१५] इति संकल्पं मनसि निधाय वयं जीवनं धन्यं कुर्मः। पतञ्जलिप्रभृतिभिः महर्षिभिः **'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह'**[१६] आदयो यमाः; शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधानादयो नियमाश्च सर्वस्य विश्वस्य कल्याणायैव निर्दिष्टाः सन्ति।

संस्कृते पदे-पदे विश्वबन्धुत्वस्य, विश्व-कुटुम्बस्य च उदात्तभावना परिलक्ष्यते। इयमेव भावना भूमण्डलीकरणे सर्वथा-सर्वथा समर्था ऽस्ति। इदमेव देवभाषायाः गौरवं वैशिष्ट्यं वा।

अतः बान्धवाः ! संस्कृतं समभ्यर्च्य निखिले विश्वे प्रेम्णः, विश्वबन्धुत्वस्य भूमण्डलीकरणस्य च महद् दीपं प्रज्वालयेम, येन **'तमसो मा ज्योतिर्गमय'**[१७] इत्येषा प्रार्थना, भावना, कामना वा सफला भवेत्।

---

१५ ऋग्वेद, ९.६३.५
१६ योगदर्शन, २.२९
१७ बृहदारण्यकोपनिषद्, १।३।२८

गुरुकुल-शोध-भारती मितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२२-२८) ISSN 0974 – 8830

वैदिकी शिक्षा

आचार्यः वेदप्रकाशः शास्त्री[1]

समग्रे प्राणिसंसारे मानवमहत्ता शिक्षयैव मन्यते। शिक्षादीमिदीपित एव पुरुषः क्रमेणोन्नतिमातनोति। अगणनीयां योनिपरम्परामनुसंत्य स्वकर्मफलानुसारमेव जीवो मानवयोनिं प्राप्नोति। सहजतया मानवजन्म न लभ्यते, मानवजन्म तु प्राक्कालिकजन्मजन्मान्तरार्जितानां पुण्यानां फलमेवास्ति। यत पुण्यं मानवजीवनप्रदमुन्नतिकरञ्च कथ्यते तत्पुण्यं पुरुषेण शिक्षयैव वेद्यते सम्पाद्यते च। वक्तुं शक्यते यत् मानवानां निखिलमप्युन्नतिमयं जीवनं शिक्षाश्रितमेव वेद्यम्। वेदविद्यावता आद्यां स्मृतिपरम्परामुद्भावयता मनुना भूतेषु प्राणिनां, प्राणिषु बुद्धिजीविनां, बुद्धिमत्सु नराणां नरेषु ब्राह्मणानां, ब्राह्मणेषु विदुषां, विद्वत्सु कृतबुद्धीनां, कृतबुद्धिषु कर्तॄणां, ब्रह्मविदां श्रेष्ठता समाख्याता। तथाहि

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥[2]
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥[3]

अस्मिन् श्रेष्ठताप्रतिपादने शिक्षामहत्त्वपूर्णा विराजते। सृष्टेरादावेव परमपितापरमात्मना सर्वाङ्गतया मानवजीवनमुन्नेतुं वेदमुखेन शिक्षा प्रकल्पिता। चतुर्णामृषीणां हृदये यद्वेदज्ञानं ब्रह्मणा प्रदत्तं तदेव ज्ञानमृषिभिर्मानवकल्याणार्थं प्रख्यापितम्। वैदिकशिक्षावसरो वैदिकपरम्परायां विधिवदुपनयनसंस्कारादेव परिगण्यते। यद्यप्युपनयनसंस्कारात् प्राक् मातापितरौ बालकं सामान्यबालशिक्षामध्यापयतः परं गुरुणोपनीतस्यैव बालकस्य वेदाध्ययने प्रविष्टिर्मन्यते। उपनयनसंस्कारमन्तरा विद्याभ्यासक्रमो न भवति लोकानुमोदितः। सस्वरं सार्थञ्च गायत्रीमन्त्रमध्याप्य सम्यगध्यापति यज्ञोपवीतधारिणं ब्रह्मचारिणमाचार्यः। वेदोक्तवर्णपरम्परानुसारं त्रिधा विभक्तो विद्यते मनुस्मृतावुपनयनकालः। प्रथमः कालो गर्भादारभ्य पञ्चवर्षावधिकः अष्टवर्षावधिकश्च विद्यते। द्वितीयकालः अष्टवर्षावधिक एकादशवर्षावधिको द्वादशवर्षावधिकश्च कथितः। तृतीयः कालः षोडशवर्षावधिको द्वाविंशवर्षावधिकश्चतुर्विंशवर्षावधिकश्च प्रकल्पितः।

यथा-

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥[4]
गर्भादष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनयनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥[5]

---

१ पूर्वं उपकुलपतिः, गुरुकुल काँगड़ीविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्

२ मनुस्मृतिः १.९६

३ मनुस्मृतिः १.९७

४ मनुस्मृतिः २.३७

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
आ द्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः॥[६]

यथा शिशुर्गर्भस्थः सन्नेव मातृमाध्यमेन सर्वाङ्गतया शरीरपुष्टिमवाप्य गर्भाद् बहिरागत्य पारिवारिकजनानां दृग्गोचरतामेति तथैव विद्यावसरे ब्रह्मचारी द्विजतामधिगन्तुमाचार्यस्य गर्भस्थो भूत्वा सर्वा विद्याः संप्राप्य, आचार्यानुमोदनेन सह सामाजिकक्षेत्रमवतरति। गुरुजनाः समुपनीतानां शिष्याणामन्तर्भावं सम्यक्तया विचिन्त्य वेदाभ्यासे निश्चिते विद्याक्रमे तेषा मतिं वर्धयन्ति।

वैदिक शिक्षापरम्परायां शिक्षणस्थानाविषये स्पष्टत्वेन वेदे विद्यते सङ्केतः। विद्याकालस्तपस्त्वमाख्यापयति यतो हि तपसा सह विद्यावृद्धिर्विजायते। यथा यथा संवर्धते तपस्तथा तथा विवर्धते विद्याभ्यासः। अतो या तपस्थली वनस्थली वा विद्यते सैव भवति शिक्षास्थली। विद्या प्रकाशवतीति निगद्यते, सत्त्वगुणो ननु प्रकाशकरोऽतो यत्र यत्र वसतिं प्रकुर्वाणस्य विद्यापुरुषस्य भवति सत्त्वोद्रेकस्तत्र तत्रैव विद्योत्कर्षता परिलक्ष्यते। पर्वतानामुपह्वरस्थलं नदीनाञ्च संगमस्थलं सत्त्वोद्भावकत्वेन मन्यते। सार्वत्रिकाभ्युदयं कामयमानैर्मनुष्यैः किं नाम शिक्षास्थानमवचेतव्यमित्यस्मिन् प्रश्ने समुद्भूते सति निर्दिशति वेदः-

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।[७]

वेदमन्त्रस्येमामेव भावनामभिवर्धयता स्मृतिकारेण मनुना प्रकृष्टमेवोदीर्यते-

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः॥[८]

अर्थात् कुशाग्रबुध्यर्थं सावित्री नित्यरूपेणोपास्या यो नित्यं सावित्रीमुपास्ते तस्य वेदार्थिनः वेदे वेदाङ्गे समग्रे च विद्याप्रक्रमे मतिरकुण्ठिता प्रभवति। आचार्येण विद्याप्रदानावसरे सावित्रीसमुपासनार्थं प्रेरितो ब्रह्मचारी यदि सावित्रीं जपति तर्हि नूनमेव स सोमरूपतां, वेदविद्यावत्तां, धुरीणतां, विद्याया अक्षुण्णतां, भावानां निर्मलतां चासाद्य भूयो भूयो भुवि भासते। प्राक्कालेऽपि विद्याप्रवेशपरीक्षा क्रियते स्म परं सा परीक्षा गुणानुसारिणी भवति स्म। आचारवान्, सत्यवाक्, विषयेषु निर्लिप्तः, सेवाभावयुक्तः, सरलस्वभावो विद्यार्थी विद्यया वर्धनीयः। यथा-

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः॥[९]

वैदिकशिक्षायामभिवादनपरम्परा कदाप्यनपहेया विद्यते, अभिवादनविमुखो नरः संयमविरोधितां भजमानो मदान्धो भूत्वा पशुवदाचरन् प्रजाभिः शीघ्रमेव पशुवत् प्रताड्यते। यो मनुष्यः सततम् अभिवादनकर्मणि संसक्तो भवति तस्य पुरुषस्य जीवनोदयः सूर्योदय इव भाति। शिक्षाप्रसङ्गे मनुनाऽभिवादनमहत्त्वमुद्गीतम्-

---

५ मनुस्मृतिः २.३६
६ मनुस्मृतिः २.३८
७ यजुर्वेदः २६.१५
८ मनुस्मृतिः २१.०४
९ मनुस्मृतिः २.१०९

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।। [१०]

वैदिकशिक्षा समेषां मानवानामभ्युदयकारिणी विद्यते, सर्वेषां समानाधिकारो वर्तते विद्याभ्यासे। वेदमन्त्रे भावनेयं सर्ववेद्या सर्वग्राह्या च विद्यते। यथा-

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।। [११]

मानवानां विकासो द्विधा निगद्यते। भौतिको विकासोऽथ वैचारिको विकासः। वैचारिकविकासापेक्षया भौतिको विकासो हेयो न विद्यते। विकासद्वयमेव सार्वत्रिकरूपेण मानवान् उन्नेतुं प्रभवति। उभावप्युन्नतिप्रकारौ समेषां कृते समौ। आत्मिकोन्नतिकरेण विचारेण भुवि विकासः परिलक्ष्यते। यथा-

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्।। [१२]

वैदिकशिक्षायां श्रद्धामेधयोः समन्वयो दृश्यते। श्रद्धया पुंसां हृदि ज्ञानग्निः समिध्यते ज्ञानग्निना प्रदीप्तो नरो भवति मेधावतां मध्ये विशिष्टः। अतः एव श्रद्धामेधयोरुत्कर्षाय वेदे प्रार्थना क्रियते-

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धया भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि। [१३]
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धां हृदय्ययाकृत्या श्रद्धया विन्दते वसु।। [१४]
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्लुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।। [१५]
मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परिं।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे।। [१६]
अग्ने समिधमहार्षं बृहते जातवेदसे।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु।। [१७]

वैदिकशिक्षायां ब्रह्मचर्यस्य महत्त्वमन्वाख्यातम्। ब्रह्मचर्यव्रतमनुपालयन्नेवाचार्यो ब्रह्मचारिणं वेदविद्यायां पारङ्गतं कृर्तृ स्वान्तेवासित्वेनाङ्गीकरोति। आचार्यो वारं वारं कायमते यदभितो विद्याभ्यासाभिवर्धनाय ब्रह्मचारिणः सर्वदा आचार्यस्यान्तेवासिनो भवन्तु- तैत्तिरीयोपनिषदि समुपलब्धानि

---

१० मनुस्मृतिः २.१२१
११ मनुस्मृतिः २६.२
१२ ऋग्वेदः ५.३०
१३ ऋग्वेदः १०.१५१.१
१४ ऋग्वेद १०.१५१.४
१५ ऋग्वेदः १०.१५१.५
१६ अथर्ववेदः ६.१०८.५
१७ अथर्ववेदः १९.६४.१

वाक्यानीमानि पुष्कलत्वेनाचार्य प्रकाशयन्ति-

आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।[१८]

अर्थात् ब्रह्मचारिणो निर्मलमनसा निरभिमानिनः सत्यविद्याविलासिनः, शान्तिकारिणः, सत्यविद्याप्रसारकाः वशीकृतेन्द्रियगणाः सर्वतो मामुपायान्तु।

वैदिकशिक्षा मानवानां सर्वासां समस्यानां निराकरणं कर्तुं शक्तिमती विद्यते। शिक्षायां ब्रह्मचर्यव्रतस्यानुपालमेव मुख्यतया मन्यते। आचार्योऽपि ब्रह्मचर्यव्रतेनात्मानमाच्छाद्य राजापि, इन्द्रोऽपि, ऋषिरपि, देवोऽपि स्वमहिमानमविरलतया प्रसारयति। कन्या विद्यावती भूत्वा ब्रह्मचर्येण युवानं पति विन्दते। ब्रह्मचर्यतपोबलेन देवा भवन्ति मृत्युञ्जयाः। ब्रह्मचारी तपसा पृथिवीं तथान्तरिक्षं दिवञ्च समित्त्रयेण पूरयन् मेखलया श्रमेण सर्वा विद्याः प्रसारयन् लोके महान् भवति। अत एव वेदे विद्याप्रसङ्गे ब्रह्मचर्यमहत्त्वमुद्गिरन्तो मन्त्राः संप्राप्यन्ते-

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।।[१९]
आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी।।[२०]
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति।।[२१]
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्।।[२२]
ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्।।[२३]
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।।[२४]

वैदिकशिक्षापद्धतिः सम्यक्तया गुरुत्रयं निर्वक्ति। त्रयस्तत्र गुरवो भवन्ति विद्याप्रदातारः। तत्र वैदिकगुरुर्भवति नाम्ना आचार्यः। आचार्यः एव मृत्युरूपो, वरुणरूपः, सोमरूपोऽथौषधरूपः, पयोरूपश्च भवति। अनेन रूपपञ्चकेनाचार्यो निजान्तेवासिनं परिपुष्णाति। आचारशिक्षायाः प्रमुखः प्रदाता आचार्य-एव स एव विद्यानां वैविध्यं प्रथयति स एव शास्त्रे रुचिं योजयति। अत एव तत्राचार्यविषये यदधिगम्यते समासिन

---

१८ तैत्तिरीयोपनिषद् १, अनु० ४
१९ अथर्ववेदः ११.५.४
२० अथर्ववेदः ११.५.१६
२१ अथर्ववेदः ११.५.१८
२२ अथर्ववेदः ११.५.१९
२३ अथर्ववेदः ११.५.२५
२४ अथर्ववेदः ११.५.१७

तदुच्यते।-

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं तमाचार्यं विदुर्बुधाः।।[२५]
आचिनोति यः शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कीर्त्यते।।[२६]
आचिनोति यः शास्त्रार्थन् यमैः सनियमैर्युतः।।[२७]

आचार्यः कस्मात्? आचार्य आचारं ग्राह्ययति। आचिनोत्यर्थान् आचिनोति बुद्धिमिति वा।[२८]

भौतिकलौकिकविद्यानां प्रदाता यो भवति तन्नाम वैदिकशिक्षापद्धतौ **'उपाध्यायो'** भवति। एकस्मिन् वेदमन्त्रे सन्त्यनेकानि पदानि यानि संस्पृशन्त्युपाध्यायम्। तत्रोपाध्यायः शतधारपदेन, अक्षीयमाणपदेन, विपश्चित्पदेन, सत्यवाक्पदेन च समाख्यातः। यथा-

शतधारमुत्समक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्वानाम्।
मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम्।।[२९]

मनुना मनुस्मृतौ त्वेवमाख्यात उपाध्यायः-

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते।[३०]

पूर्णतया य आध्यात्मिकविद्याप्रदाता, अन्नप्रदाता, शंप्रदाता, अन्तःप्रकाशकर्ता वा भवति तन्नाम गुरुः। गृणाति उपदिशति वेदशास्त्राणि यद् वा गीयते, स्तूयते शिष्यवर्गैरिति गुरुः।।

मनुना गुरुप्रसङ्गे व्याख्यातं तदतीव रम्यम्। यथा-

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च।।[३१]
अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्योपकरोति यः।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तया।।[३२]
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधिः।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।।[३३]

आचार्यस्योपाध्यायस्य गुरोश्च समन्वयकर्त्रा मनुना एकस्मिन्नेव श्लोके गुरूणां त्रिधात्वमाख्यातम्।

---

२५ मनुस्मृतिः २.१४०
२६ ऐतरेयारण्यकम् आ० ३.२.६
२७ लिङ्गपुराणम् २०.२
२८ निरुक्तम् १.२
२९ ऋग्वेदः ३.२६.९
३० मनुस्मृतिः २.१४१
३१ मनुस्मृतिः २.६९
३२ मनुस्मृतिः २.१४९
३३ मनुस्मृतिः २.१४२

वैदिकगुरुराचार्यः, लौकिकगुरुरुपाध्यायः, आध्यात्मिकगुरुर्गुरुः। यथा

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च।

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥[३४]

वैदिकशिक्षा प्राक्कालादेव सर्वविषयवती विद्यते। तस्यां शिक्षायां सर्वे विषया अध्याप्यन्ते स्म। अद्य वर्तमानायां शिक्षायां कस्मिंश्चिदपि विषये पूर्णता न विद्यते। एकम् एकं पक्षं वेत्ति परं पक्षान्तरे सोऽनभिज्ञ एव। सत्यं त्विदं विद्यते यत् सर्वा विद्या अन्योऽन्याश्रयत्वेन वर्धन्ते। एका विद्या द्वितीयां विद्यां बोधयति। पूर्वतमे समये सर्वे विषया उपविषयैः सह अध्ययनाध्यापानरुचिं जनयन्ति स्म। छान्दोग्योपनिषदि ब्रह्मविद्यार्जनप्रसङ्गे सनत्कुमारं समित्पाणिः सन् प्रणतिं कुर्वन्नारदः श्रद्धयोवाच- भगवन् ब्रह्मविद्यामधिगन्तुं भवच्चरणसन्निधिं समीहे। श्रद्धावनतं नारदमुवाच महात्मा सनत्कुमारः। हे नारद! त्वया यदधिगतं तत्सर्वं यथोचितं स्थानमुपविश्य मां कथय। नारदेन यद् यदधिगतं तत्सर्वं कथयता या या विद्याः संख्यातास्तासां संख्या भूयसी वर्तते।

उपनिषद्वाक्यानीहाविकलतया प्रस्तूयन्ते-**स होवाच-ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं, सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणं पञ्चमं, वेदानां वेदम्, पित्र्यं, राशिं, दैवं, निधिं वाकोवाक्यमेकायनं, देवविद्यां ब्रह्मविद्याम् भूतविद्याम्, क्षत्रविद्याम्, नक्षत्रविद्याम्, सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।**[३५]

आसु निगदितासु विद्यासु सर्वाविद्या बीजरूपाः सन्ति, वर्तमाने काले प्रचलितेषु विद्यासङ्कायेषु ये ये विद्याविषयाः परिगण्यन्ते ते सर्वे विषया अत्र विराजन्ते।

वैदिकशिक्षापरम्परायां स्वविद्यापारङ्गतो विद्वान् स्नातक इति पदेन प्रोच्यते। स्नातकास्त्रिविधा भवन्ति। विद्यास्नातकाः, व्रतस्नातकास्तथा विद्याव्रतस्नातकाश्च। यः स्नातक आत्मानमृतेन, सत्येन, तपसा च विभूषयितुं कामयते तेन स्वाध्याये प्रवचने च प्रमादो न विधेयः। अतः एवोच्यते-'**ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च।**[३६]

वैदिकशिक्षायामेवेदमप्रतिमं वैशिष्ट्यं विद्यते यदाचार्यस्त्रिधा शिष्यनिर्मितिं करोति। प्रथमस्त्वाचार्य स्वान्तेवासिनमीक्षते तदीक्षणं करोति, तदनन्तरं शिक्षणं करोति पश्चात् दीक्षणं करोति एषैव प्रक्रिया ईक्षा, शिक्षा, दीक्षा निगद्यन्ते। ईक्षया ईक्षितः, शिक्षया शिक्षितः, दीक्षया दीक्षितो भूत्वा ब्रह्मचारी लोके महान् भवति।

दीक्षान्तपरम्परा या वैदिकार्याणां शिक्षणसंस्थाने विलोक्यते साऽन्यत्र नः वेदविद्यया विभूष्य विद्यानिष्णातं स्वशिष्यं निर्माय आचार्यो दीक्षान्तवेलायां स्नातकमुपदिशन् सर्वेषामागतानामतिथिमहानुभावानां हृदयेष्वाह्लादं जनयति। तैत्तिरीयोपनिषदि दीक्षामयानि यान्याचार्यवाक्यानि प्राप्यन्ते तान्येव याथातथ्येन प्रस्तूयन्ते-

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न

---

३४ मनुस्मृतिः २.११७

३५ छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ७ खण्ड २

३६ तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक् - ९

प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि, यान्यस्मा सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।[३७]

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषद्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।[३८]

वैदिकशिक्षाया दीक्षान्तपरम्परेयं सर्वजनमनोहारिणी सर्वाभ्युदयदायिनी, विश्वकल्याणकारिणी, मनोमालिन्यशोधिनी, हृदयकमलविकासिनी, भवभयहारिणी, अभिनवविकासप्रदायिनी, विश्वबन्धुत्वभावोद्भाविनी, पापकर्मबन्धनमोचिनी च विद्यते। अद्य सर्वविधसुखेच्छुभिरवश्यमेव वैदिकशिक्षा परम्परायामादरो वर्धनीयः।

---

३७ तैत्तिरीयोपनिषद्- ११

३८ तैत्तिरीयोपनिषद्- ११

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२९-४३) ISSN 0974 – 8830

वेद और मांस : भक्ष्याभक्ष्य के सन्दर्भ में

डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री डी०लिट्.[१]

वेदों के अनेक स्थलों पर पशुहिंसा के निषेध तथा पशुरक्षा के विधान का भाव पाया जाता है।[२] इनमें कतिपय ऐसे भी मन्त्र हैं जिनमें मासांहारी को दण्ड देने का विधान किया गया है। यद्यपि वेदों के अनेक सुभाषित ऐसे है जिनमें मांसभोजन न करना चाहिये-ऐसा स्पष्ट उल्लेख है, फिर भी निम्न याजुष् मन्त्रांश इस विषय में विशेष उल्लेखनीय हैं-**लाजीञ्छाचीन् यव्ये गव्य एङ्कतदन्नमत्त देवा एङ्कतदन्नमद्धि प्रजापते** (२३/८) अर्थात् लाजाओं को, सत्तुओं को, जौं से बने पदार्थों को, गौ के दूध, दही, मक्खन तथा इसके दूध के बने अन्य पदार्थों को, (एतत् अन्नम्) इस तथा इस प्रकार के अन्य अन्न को अर्थात् वानस्पतिक तथा दूध और इसके विकार रूपी अन्न को हे देवो! खाया करो। हे गृहस्थी! तू भी ऐसे ही अन्न का सेवन किया कर।' कृषि कर्म में गाय के महत्त्व को समझते हुए उसे अघ्न्या, अदिति और माता कहा गया है तथा भोग्य के रूप में गौ मांस ही नहीं अपितु पशु मांस का भी सर्वथा निषेध है-**यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने: तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।**[३] वेदों में तो गौ का काटना, उसके मांस को खाना और गौओं की संख्या को कम करके उनके दूध में क्षति पहुँचाना, वेदविरुद्ध दर्शाया गया है-**क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते। क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम्**[४] फिर भी वेदों में मांसाहार की विधि है या निषेध इस सम्बन्ध में विद्वानों में प्रायः विवाद चला आया है, और अब भी है। यदि वेदों में भक्ष्याभक्ष्य को, विशेष रूप से मांसाहार को आधार बनाकर चिन्तन किया जाता है तो निम्न निर्देशों पर विचार करना आवश्यक है-१-वेदों में मांस को राक्षस-भोजन कहा है, २-वेदों में मांस भक्षण का निषेध है, ३-वेदों में क्षुधा की निवृत्ति के लिये जौ आदि अन्नों का विधान है, मांस का नहीं, ४-भक्ष्य (भोज्य) पदार्थों की प्रार्थनाओं तथा सूची में मांस का परिगणन नहीं किया गया है, ५-वैदिक प्रार्थनाओं में, यद्यपि गौ आदि पशुओं की प्राप्ति के लिये प्रार्थनायें है, तथापि उनकी प्राप्ति (भोजन के संम्बन्ध में) उनके दूध आदि के लिये है, न कि उनके मांस के लिये, ६-वेदों की रहस्यात्मक और प्रतीकात्मक वर्णन-शैली में मांस शब्द का अर्थ, ७-उक्त रहस्यात्मक शैली में अश्व, ऋषभ, वृषभ, गोघ्न, अतिथिग्व, उक्षा, अज, धेनु, गौ, अघ्न्या आदि शब्दों के अर्थ। इन उपर्युक्त निर्देशों पर विचार करते हुए विषय को स्पष्ट किया जाता है। जैसे-

वेदों में मांस को राक्षस भोजन कहा है-इस कथन को प्रमाणित करने के लिये वेदों में पठित क्रव्याद, पिशाच, असुतृप, गर्भाद, अण्डाद, मांसाद आदि राक्षसों के कतिपय नामों पर विचार किया जाता है-

---

१ अध्यक्ष, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. कतिपय पशुरक्षाप्रतिपादक मन्त्रों के साथ-साथ पशुहिंसानिषेधक वाक्य इस प्रकार हैं-यजमानस्य पशून् पाहि (यजु०१/१), ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे (यजु०११/८३), द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् (यजु०१२/९५), द्विपादव, चतुष्पात् पाहि (यजु०१४/८), यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् (यजु०१६/४), शमसद् द्विपदे चतुष्पदे (यजु०१६/४८), यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। त्वं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा (अथर्व०१/१६/४), गां मा हिंसीरदितिं विराजम् (यजु०१३/४३), मा गामनागामदितिं वधिष्ट (ऋ०८/१०१/१५)।

३. ऋग्वेद १०/८७/१६

४. अथर्व०५/१९/५

क्रव्याद-यह नाम राक्षसों का है। क्रव्याद—क्रव्य—अद। 'क्रव्य' शब्द कृवि धातु से बनता है जिसका अर्थ है 'हिंसा'। यथा **कृवि हिंसायाम्**। अत: क्रव्य शब्द का अर्थ है-'हिंसा से प्राप्त मांस।' 'अद' का अर्थ है 'खाने वाले या खाने वाला'। अत: क्रव्याद का अर्थ है 'हिंसा से प्राप्त मांस को खाने वाले'। वेदों में 'क्रव्याद' यह नाम राक्षसों का है। अत: वैदिक सिद्धान्त के अनुसार सभी मांस भक्षक राक्षस हैं-यह सिद्ध हुआ। **पिशाच**-यह नाम राक्षसों का है। पिशाच शब्द—पिशित का अर्थ मांस और अश का अर्थ खाने वाले[५]। अत: पिशाच का अर्थ मांस के खाने वाले। अत: पिशाच शब्द भी यह सिद्ध कर रहा है कि वैदिक सिद्धान्त के अनुसार मांस भक्षक राक्षस हैं। **असुतृप**-यह नाम राक्षसों का है। असुतृप—असु—तृप। असु का अर्थ है प्राण या जीवन और तृप का अर्थ तृप्त होने वाले। अत: असुतृप का अर्थ है दूसरों के प्राणों पर तृप्त होने वाले अर्थात् जो दूसरों का जीवन हरण कर, उनके मांस द्वारा अपनी तृप्ति करते हैं वे असुतृप है। असुतृप शब्द से यही सिद्ध होता है कि वे मनुष्य जो कि दूसरों के मांस से अपनी तृप्ति करते हैं, वास्तव में, राक्षस कोटि के ही हैं। असुर शब्द का भी लौकिक दृष्टि से यही अर्थ है। असु का अर्थ है प्राण और 'र' का अर्थ रमण करने वाले अर्थात् जो दूसरों के प्राणों पर रमण करे वे असुर हैं। **गर्भाद**-ये नाम भी राक्षसों का है। गर्भाद का अर्थ गर्भ के खाने वाले। गर्भ के दो अर्थ हैं-(i)-वह जीवन तत्त्व जिससे कि बच्चे का शरीर बनता है। (ii)-नवजात शिशु अथवा छोटे-छोटे पशु-पक्षी। पहले अर्थ में अण्डों को खाने वाले गर्भाद हैं। क्योंकि अण्डे में बच्चे के शरीर को बनाने वाला जीवन तत्त्व रहता है, जिसे कि लोग खा जाते हैं। दूसरे अर्थ में नवजात या छोटे-छोटे पशु-पक्षियों के खाने वाले गर्भाद हैं। इस श्रेणी में वे लोग शमिल होते हैं, जो कि चूजों को खाते हैं, या उनका सत निकालकर खाते हैं। इस प्रकार के सभी लोग, वैदिक दृष्टि में, पूर्ण राक्षस हैं। **अण्डाद**-यह नाम भी राक्षसों का है। अण्ड का अर्थ है-अण्डे और अद का अर्थ है खाने वाले। अत: अण्डाद का अर्थ है अण्डों के खाने वाले। वर्त्तमान समय में, अण्डों के खाने का बहुत प्रचलन है। वेदों की दृष्टि में, अण्डों के खाने वाले राक्षस नाम से पुकारे जाने के योग्य है। **मांसाद**-यह नाम भी राक्षसों का है। मांसाद का अर्थ मांस खाने वाले। यह शब्द अत्यन्त स्पष्ट है जोकि मांस के खाने का निषेध कर रहा है।

उपर्युक्त इन राक्षसों को वेदों में कठोर दण्ड देने का विधान है। यथा इनके सिर काट देने; इन्हें जला देना; घर, धन तथा परिवार से इन्हें वियुक्त कर देना; इन्हें भूखा मारना; इत्यादि। अत: जो वेद, मांसभक्षकों के लिये इतने कठोर दण्डों का विधान करता है, और जो इन्हें घृणित राक्षस नाम से पुकारता है-वह अतिथि यज्ञ, श्राद्ध, पशु यज्ञ और साधारण भोजन में मांस के प्रयोग की आज्ञा देगा, यह बात समझ में नहीं आ सकती। वेद में मांस भक्षण का निषेध है-इस कथन की प्रामणिकता के लिये, यहाँ कतिपय मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं। यथा-

(क) **व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथोतिलम्।**
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च।।[६]

अर्थात् हे दाँतों की दोनों पङ्क्तियों! चावल खाओ, जौ खाओ, उड़द खाओ और तिल खाओ। यह अन्न ही तुम्हारा नियत हिस्सा है। इसके भक्षण से तुम्हें रमणीय फल मिलेगा। उन्हें मत मारो जो माता पिता-पिता बनने की योग्यता रखते हैं, अर्थात् पितृशक्ति और मातृशक्ति से सम्पन्न पशुओं की हिंसा न करो।'

---

५. पिशितं मांसं भोजनार्थमचति याचते इति भ्वादि: (प्रो०विश्वनाथकृत अथर्ववेदभाष्यम् ४/२०/७)
६. अथर्व० ६।१४०।२

इस मन्त्र में दाँतों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे दाँतों! (i)-प्रभु ने, तुम्हारे खाने के लिये धान आदि अन्न ही नियत किया है, मांस नहीं। (ii)-इस धान आदि अन्न के खाने से ही तुम्हें उत्तम फल मिल सकता है। क्योंकि अन्न भक्षियों के दाँत शीघ्र नहीं बिगड़ते और मांस भक्षियों के शीघ्र बिगड़ जाते हैं। (iii)-तुम पिता और माता की हिंसा न करो अर्थात् तुम पितृशक्ति या मातृशक्ति से सम्पन्न किसी भी प्राणी का विलोप न करो। मांसभक्षी, पशुपक्षियों की हत्या द्वारा, संसार में पितृशक्ति और मातृशक्ति का विलोप करते हैं। इस मन्त्र में दाँतो के प्रति कहा है कि तुम मांसभक्षण द्वारा पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो। **स्वधिते मैनं हिंसीः, मञ्चाः क्रोशन्ति, कुन्ताः प्रविशन्ति**-की तरह यहाँ भी लक्षणा है। दाँतों को सम्बोधन से तात्पर्य मनुष्यों से है।[७] अतः यह मन्त्र मांसभक्षण (अभक्ष्य) का स्पष्ट निषेधक है।

(ख) उप॑हूतौ सयुजौ॑ स्योनौ दन्तौ॑ सुम॒ङ्गलौ॑।

अ॒न्यत्र॑ वां घो॒रं त॒न्व॑:१ परै॑तु दन्तौ॒ मा हिं॑सिष्टं पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॥[८]

अर्थात् हे सुखदायक तथा सुमङ्गल दाँतों! तुम्हारा छेदन-भेदन रूपी घोर कर्म, शरीरों अर्थात् प्राणियों से अन्यत्र (धान, जौ आदि में) हो, तुम पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो।'

इस मन्त्र में दाँतों के प्रति स्पष्ट आज्ञा है कि तुम्हारा छेदन-भेदन तथा चबाना-पीसना आदि घोर कर्म, प्राणि देहों अर्थात् मांस में न हो; अपितु उससे अन्यत्र अर्थात् धान, जौ आदि वनस्पति चीजों में हो। तथा यह भी आज्ञा दी है कि तुम पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा न करो। मांसभक्षण द्वारा इन शक्तियों की हिंसा होती है। अतः इस वर्णन द्वारा, मांस के भक्षण का निषेध किया गया है।

(ग) य आ॒मं मां॒सम॒दन्ति॒ पौरु॑षेयं च॒ ये क्र॒विः।

गर्भा॒न् खाद॑न्ति केश॒वास्ताॅनि॒तो ना॑शयामसि॥ (अथर्व० ८।६।२३)

अर्थात् जो आम[९] मांस (कच्चे, घर में पक्के तथा गौ के मांस) को खाते हैं, जो पौरुषेय[१०] क्रवि (पितृशक्ति और मातृशक्ति से प्राप्त मांस) को खाते हैं, जो गर्भों[११] (अण्डों तथा नवजात या छोटे-छोटे पशु पक्षियों) को खाते हैं-इस प्रकार केशवों[१२] (जिनका देह श्मशान-कब्रस्तान बना हुआ है) का, हम यहाँ से नाश करते हैं।'

---

७. मन्त्रों में अचेतन दाँतों में चेतन धर्मों का केवल उपचार मात्र ही हुआ है। वेदों में औपचारिक वर्णन बहुत्र हैं। यथा- चेतनवद्धि स्तुतयो भवन्तीत्यचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि (निरु०७/२/७)

८. अथर्व० ६।४०।३

९. आम मांस के तीन अर्थ हैं-(i) कच्चा मांस, इसके लिये देखो वाचस्पत्यकोष। यथा-आम्यते ईषत् पच्यते, आ—अम; ईषत् पक्वे, पाकरहिते (ii) घर में पका मांस। अमा—घर; निघ०अ०३,खं०४। अतः आम—घर सम्बन्धी, अर्थात् घर में पका हुआ (iii) गौ का मांस। इस अर्थ के लिये **आम** शब्द पर आप्टे कोश द्रष्टव्य है।

१०. पुरुष शब्द से यहाँ पुरुष और स्त्री दोनों का ग्रहण है। 'पिता मात्रा' सूत्र के आधार पर एकशेष मानना चाहिये। अतः पौरुषेय का अर्थ हुआ 'पुरुष और स्त्री की हिंसा से प्राप्त'। इसलिये पौरुषेयक्रवि—पुरुष और स्त्री की हिंसा से प्राप्त मांस। मांस के प्राप्त करने में या तो पितृशक्ति की हिंसा होगी या मातृशक्ति की। क्योंकि संसार में प्राणी या तो पितृशक्तिसम्पन्न है या मातृशक्तिसम्पन्न।

११. गर्भ—उत्पादन का जीवनतत्त्व, तथा नवजात या छोटे छोटे पशु-पक्षी

१२ क—देह, और शव—मुर्दा। 'के' सप्तमी विभक्ति का एकवचन है। अतः केशवाः—वे मनुष्य जिनके शरीर अर्थात् पेट में मुर्दे निवास करते हैं। 'क' का अर्थ शरीर है। इसके लिये द्रष्टव्य है वाचस्पत्य तथा आप्टे कोश।

इस मन्त्र में कच्चे, घर में पके तथा गौ के मांस के खाने वालों; पितृशक्ति और मातृशक्ति की हिंसा करने वालों; अण्डों तथा नवजात या छोटे-छोटे पशु पक्षियों के खाने वालों के नाश करने की आज्ञा दी है।

(घ) क्षुद्ध्ये यो गां विवृद्धन्तन्तं भिक्षमाण उपतिष्ठति (यजु० ३०।१८)

अर्थात् गौ काटी जा रही हो और उस समय जो गौ मांस की की भिक्षा के लिये वहां उपस्थित हो, उसे क्षुधा का दण्ड देना चाहिये अर्थात् उसे भूखा रहने की सजा देनी चाहिये।'

यह मन्त्र यजुर्वेद के ३०वें अध्याय का है। कर्मकाण्ड के अनुसार इस अध्याय का सम्बन्ध पुरुषमेध के साथ है, इसमें एक पूर्ण राष्ट्र का तथा यत्किंचित् दण्डनीति का वर्णन है। इसी दण्डनीति के सिलसिले में क्षुधादण्ड का भी विधान है। इसी ३०वें अध्याय के निम्नलिखित प्रमाण के आधार पर यह प्रतीत होता है कि गोघाती को प्राणदण्ड देना चाहिये, यह राजकीय धर्म है। यथा-**अन्तकाय गोघातम्** (यजु ३०।१८) इसलिये गोघाती को प्राण दण्ड और जो स्वयं गोघाती तो नहीं, परन्तु गौ को कटती हुई देखकर मांस की भिक्षा के लिये आ उपस्थित होता है, उसे क्षुधा दण्ड देना चाहिये, यहां यह अभिप्राय है। परन्तु उस मनुष्यों को-जो कि गौ का घात तो नहीं करता, और न गौ का मांस ही खाता है, परन्तु चर्मकार होने के कारण गौ का चमड़ा उतारना चाहता है-कोई दण्ड न मिलना चाहिये।

वेदों में, क्षुधा की निवृत्ति के लिये धान आदि, अन्नों तथा दुग्ध आदि पदार्थों का ही विधान है, मांस का नहीं-इसके स्पष्टीकरण के लिये, निम्नलिखित मन्त्रों पर विचार किया जाता है। यथा-

(ङ) गोभिष्टरेमामतिं दुद्धरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टा सो वृजनीभिर्जयेम॥ (अथर्व ७।५०।७)

अर्थात् हे पुरुहूत (इन्द्र) प्रभो! हम सब दुर्व्यवहार की उत्पादक अमति (कुबुद्धि और बुद्धि की न्यूनता) को, गौओं के दूध आदि के सेवन से दूर करें। हम सब जौ आदि अन्नों के द्वारा क्षुधा को दूर करें। इस प्रकार हम सब रोग रहित हों। तथा हम सब सेनाओं के द्वारा, राजाओं के खजानों को जीतें या लूटें।'

इस मन्त्र में चार निर्देश हैं। (i)-पहला निर्देश यह हैं कि गौ के दूध आदि पदार्थ अमति अर्थात् कुमति के नाशक तथा सद्बुद्धि के वर्धक हैं। (ii)-दूसरा निर्देश है कि **विश्वे** अर्थात् हम सब, अपनी क्षुधा की निवृत्ति जौ आदि अन्नों द्वारा करें। इस निर्देश में **विश्वे** शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिये। **विश्वे** का अर्थ है-सब (all)। अत: इस निर्देश द्वारा सभी मनुष्यों के प्रति यह वैदिक आज्ञा है कि वे, अपनी क्षुधा की निवृत्ति, जौ आदि के अन्नों द्वारा ही करें, मांस द्वारा नहीं। (iii)-तीसरा निर्देश यह है कि इस प्रकार गौ के दूध आदि सात्त्विक पदार्थों तथा जौ आदि अन्नों के सेवन से हम सब रोगरहित हों। सम्भव है कि शाकभोजी तथा दुग्धाहारियों में रोगों की सम्भावना कम हो। (iv)-चौथा यह निर्देश है कि हम सब सेनाओं के द्वारा, राजाओं के खजानों को लूटे। वैदिक सिद्धान्त यह है कि राजा लोग, प्रजा से प्राप्त धन को अपना न समझे। अपितु प्रजा का ही समझे। अत: उस धन को प्रजा की भलाई में लगाये, न कि अपने भोग विलास में। परन्तु जो राजा इससे उल्टा चलता अर्थात् प्रजा से प्राप्त धन को प्रजा की भलाई में नहीं लगता अपितु उसे अपने भोग विलास की सामग्री समझने लगता है, उसे दण्ड अवश्य मिलना चाहिये। ऐसी अवस्था में वैदिक प्रजा को पूर्ण अधिकार है कि वह अपनी सेनाओं द्वारा राजा पर आक्रमण करे, और उसके कोष को लूट ले।

यहां प्रश्न हो सकता है कि इस अमति और क्षुधा की निवृत्ति के प्रकरण में, इस राष्ट्रिय सिद्धान्त का वर्णन क्यों किया? इसका उत्तर यह है कि आर्थिक और राष्ट्रिय समस्या सर्वथा ही भिन्न नहीं है। आर्थिक

समस्या कई बार और प्रायः ही, राष्ट्रिय विप्लवों को उत्पन्न कर देती है। 'जिस राष्ट्र में, दुग्ध आदि पौष्टिक और बुद्धिवर्धक पदार्थ, तथा क्षुधा के निवारक अन्न दुर्लभ हो जायें, वहां राष्ट्र विप्लव कर राजकीय खजानों को लूट लेना चाहिये' इस सिद्धान्त को दर्शाने के लिये ही, ऊपर के मन्त्र में आर्थिक और राष्ट्रिय निर्देशों का वर्णन साथ साथ हुआ है।

(च) गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम॥ (अथर्व० २०।१७।१०)

अर्थात् हे पुरुहूत प्रभो! हम दुर्व्यवहार की उत्पादक (अमति तथा बुद्धि की न्यूनता) को गौओं के दूध आदि के सेवन से दूर करें। हम जौ आदि अन्नों के द्वारा सब प्रकार की क्षुधा को दूर करें। तथा हम अपने बल द्वारा राजाओं के खजानों को जीतें या लूटें।'

इस मन्त्र का भाव भी, लगभग, पूर्व मन्त्र के भाव के सदृश ही है। मुख्य विशेषता केवल यही है कि इस मन्त्र में, सब प्रकार की क्षुधा की निवृत्ति के लिये जौ आदि अन्नों का विधान है। वह क्षुधा चाहे पेट की हो, या रसना इन्द्रिय की हो।

(छ) प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते।

यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥ (अथर्व० ११।४।१३)

अर्थात् वास्तव में, धान और जौ, प्राण और अपान रूप (जीवनरूप अर्थात् जीवन के प्रधान साधन) हैं, बैल भी प्राणरूप हैं (चूंकि बैल के कारण ही कृषि तथा गौओं की वृद्धि होती है और कृषि तथा गौएं प्राण को अन्न देती हैं); जौ में प्राण तथा धान में अपान स्थित है।'

इस मन्त्र में कृष्यन्न तथा गव्यान्न के ही सेवन की ओर निर्देश किया है-

(ज) लाजीञ्छाचीन् यव्ये गव्य एतदन्नमत्त देवा एतदन्नमद्धि प्रजापते॥ (यजु० २३।८)

अर्थात् हे देवो! तुम लाजाओं, सत्तुओं, जौ के बने पदार्थों तथा गौ से उत्पन्न दूध आदि पदार्थों को खाओ। हे प्रजापते! अर्थात् सन्तान के रक्षक गृहस्थी सज्जन! तू भी इन्हीं अन्नों का सेवन कर।'

इस मन्त्र में देवों (अर्थात् जो अपने को सात्त्विक बनाना चाहें, या अपने में दिव्य गुण लाना चाहें) और गृहस्थियों को स्पष्ट आज्ञा है कि वे कृषि से पैदा हुए अन्न तथा गौ से पैदा हुए दूध आदि का ही सेवन करें।

'भोज्य पदार्थों की वैदिक प्रार्थनाओं अथवा सूचि में, मांस का परिगणन नहीं किया' इस कथन की प्रामाणिकता के लिये हमें वेदों के वे स्थल पढ़ने चाहियें जहाँ कि भोज्य पदार्थों की प्रार्थनाएं की गई हैं या अकस्मात् जहाँ कहीं भोज्य पदार्थों के परिगणन का प्रसंग आगया है। उन स्थलों के पठन से यह परिणाम अवश्य निकलेगा कि इन प्रार्थनाओं, या प्रसंगोपात्त सूचियों में मांस का परिगणन नहीं है। यदि वैदिक ऋषि मांसलोलुप होते तो, इन प्रार्थनाओं या सूचियों में, मांस का परिगणन भी अवश्य होता। इस निश्चय के लिये यजुर्वेद के १८ वें अध्याय तथा वेदों के अन्य ऐसे स्थलों को देखना आवश्यक है। इस लेख में भी, प्रसंगवश जो मन्त्र उपस्थित किये हैं, उनमें भी कहीं-कहीं भोज्य पदार्थ गिनाये गये हैं, परन्तु मांस का परिगणन इनमें भी नहीं। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में धान, जौ, तिल, उड़द, मसूर आदि अन्नों की वृद्धि की कामना यज्ञ द्वारा की गयी है-

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।। (यजु० १८/१२)

'वैदिक प्रार्थनाओं में यद्यपि गौ आदि पशुओं की प्राप्ति के लिये प्रार्थनाएं हैं, तथापि उनकी प्राप्ति (भोजन के सम्बन्ध में) उनके दूध आदि के लिये है, न कि उनके मांस के लिये'-इस कथन की प्रामाणिकता में निम्नलिखित मन्त्र पर अवश्य विचार करना चाहिये जैसे-

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्।। (अथर्व० १९।३१।५)

अर्थात् मैं ने दोपाये चौपाये पशुओं तथा धान्व को खूब एकत्र किया है। आज्ञाकारी महान् प्रभु में, पशुओं का तो दूध और औषधियों का सार भूत उत्तम अन्न मेरे (भोजन के लिये) नियत किया है।'

इस मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि 'आज्ञाकारी महान् प्रभु ने पशुओं का दूध ही, मेरे लिये नियत किया है (मांस नहीं)'। अत: वैदिक प्रार्थनाओं में, जहाँ कही भी, गौ आदि दूध देने वाले पशुओं का वर्णन है, वहां वह वर्णन, उनके दूध के लिये ही जानना चाहिये मांस के लिये नहीं। इस प्रकार भेड़ का वर्णन उसकी ऊन के लिये भी उत्पन्न हो सकता है।

पुल्लिंग पशुओं की प्रार्थना पशु सन्तति के बढ़ाने के लिये भी हो सकती है। इसी प्रकार सर्वत्र, यथा शक्य, उपपादन करना चाहिये।

'वेदों की रहस्यात्मक वर्णन शैली में, मांस शब्द, पशु मांस से भिन्न अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त है' इस कथन की पुष्टि के लिये, निम्नलिखित निर्देशों पर अवश्य विचार करना चाहिये। यथा:-

(i) अनेक वैदिक तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि, यज्ञ में या यज्ञ से अन्यत्र व्यवहार कार्य में भी, निरपराधी पशु की हत्या नहीं करनी चाहिये। वेद में तो यह भी लिखा है कि पशु, परमात्मा के प्रिय प्राणरूप हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वेद में मांस के खाने वाले को राक्षस नाम से पुकारा है। अत: वह वेद जो कि पशुओं पर परम कृपालु है, और जो मांस-भक्षक को राक्षस कहता है, पशुओं के मांस के भक्षण की आज्ञा देगा। यह मानना तर्क सिद्ध प्रतीत नहीं होता। तो भी वेदों में कतिपय ऐसे स्थल अवश्य मिलते हैं, जहाँ मांस के भक्षण या उसके यज्ञ में डालने का आभास प्रतीत होता है। जैसे-

(i) अपूपवान्मांसवांश्चरुरेह सीदतु। लोककृतः पथिकृतो यजामहे
ये देवानां हुतभागा इह स्थ।। (अथर्व० १८।४।२०)

(ii) ये ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः।। (अथर्व०१८/४/४२)

(iii) स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपाहरति।
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे।।
(अथर्व० कां०९, सू०६, पर्याय ४, मं० ७,८)

(iv) एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्।।
(अथर्व०९/६/पर्याय३/९)

इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों में मांस के वर्णन का समाधान क्या है?

आस्तिक लोग, जो कि समग्र वेद को सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी मानते हैं, वेदों में इस प्रकार परस्पर विरोध के प्रश्न को एकदम उपेक्षित नहीं कर सकते। इसका कोई न कोई समाधान उन्हें सोचना ही पड़ेगा। जब कि वैशेषिक दर्शनकार जैसे तत्त्ववेत्ता और वैज्ञानिक भी वेदों के सम्बन्ध में लिखते हैं कि **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'** अर्थात् वैदिक वाक्य रचना बुद्धिपूर्वक है, तब हमारे लिये और भी आवश्यक हो जाता है कि हम भासमान इस परस्पर विरोध का कोई समाधान ढूँढ़ें।

परन्तु प्रश्न यह है कि उपस्थित मांस की समस्या को हल कैसे किया जाये? इसका समाधान, सम्भवतः, इस कल्पना में मिल जाये कि 'जब वेदों के विधिवाक्यों में पशुहिंसा तथा मांस-भक्षण के स्पष्ट निषेध मिलते हैं, तब वेदों के ऐसे स्थलों में, जिनमें कि मांसभक्षण के आधार की यत्किंचित् सम्भावना प्रतीत होती है, इससे जानने के कोशिश की जाय कि, सम्भवतः वेदों के रहस्यात्मक वर्णन शैली में, पशुमांस के अतिरिक्त मांस शब्द का कोई अन्य अप्रसिद्ध अर्थ भी हो।'

(ii) बृहदारण्यक उपनिषद् अ०३, ब्रा० ९, कण्डि० २८ में पुरुष और वृक्ष में पूर्ण समानता दर्शाई है। जैसे-

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥
त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।
तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति दासो वृक्षादिवाहतात्॥
मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारुणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥

अर्थात् जैसे बड़ा वृक्ष होता है पुरुष भी वैसा ही है, यह सर्वथा सत्य है। वृक्ष के पत्ते ही रोम हैं, बाहर की छाल ही त्वचा है। आहत होने पर मनुष्य की त्वचा से रुधिर निकलता है, और वृक्ष की त्वचा से गोंद का रस। वृक्ष के शकर (गूदा?) मांस रूप हैं, सूक्ष्म-सूक्ष्म तन्तु सम शिराएं स्नावा हैं, अन्दर की दारु अस्थि, तथा दारु में रहने वाला स्नेह पदार्थ मज्जा हैं।'

इस प्रकार, इस वर्णन में स्पष्ट दर्शाया है कि रोम, त्वचा, रुधिर, मांस, स्नावा, अस्थि तथा मज्जा आदि शरीरावयववाची पद, वृक्षों के भिन्न-भिन्न अवयवों के भी वाचक है।

अतः वेदों में, भोजन के सम्बन्ध में, मांस शब्द के केवल दर्शनमात्र से पशुमांस की कल्पना कर लेना न्यायानुमोदित तथा युक्ति सिद्ध प्रतीत नहीं होता।

(iii) अथर्ववेद ४/१२/१-७ के मन्त्रों में, रोहिणी औषधी का वर्णन है। इस औषधि के वर्णन में कहा है कि यह टूटी फूटी हड्डी को, जले हुए मांस, त्वचा तथा मज्जा को पुनः पूर्वावस्थित कर देती है। इसी वर्णन क्रम में, रोहिणी के भिन्न-भिन्न अवयवों को **'मज्जा परुः चर्म, असृक्, मांस, लोम तथा अस्थि'** आदि नामों द्वारा निर्दिष्ट किया है। अतः प्रतीत होता है कि वैदिक परिभाषा में मांस, अस्थि आदि नाम औषधि जगत् के भिन्न-भिन्न अवयवों में भी प्रयुक्त होते हैं, केवल एकमात्र पशु या जङ्गम प्राणी जगत् में ही इनका प्रयोग सीमित नहीं। अतः भोजन के सम्बन्ध में, वेदो में, यदि मांस आदि शब्द प्रयुक्त हों, तो इन के उचित अर्थों के चुनाव में, बुद्धिमत्ता तथा व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिये। अथर्ववेद ११/३ में धान के परिप्रेक्ष्य में मांस

शब्द के विषय में आता है कि **अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः** (११/३/५), **श्यामयमयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्** (११/३/७) अर्थात् चावल के कण अश्व हैं, चावल गौ हैं, भूसी मशक है, चावलों का श्याम भाग मांस और लाल भाग रुधिर है।'

रोहिणी औषधि के सम्बन्ध में तीन मन्त्र यहां उपस्थित किये जाते हैं, जिनके पठन से उपर्युक्त वक्तव्य की सत्यता प्रतीत हो सकेगी। जैसे-

सं ते मज्ज्ञा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु॥
मज्ज्ञा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे॥३-५॥

अर्थात् हे रोगी! रोहणी (लाख, लाक्षा) की मज्ज्ञा—मज्जा (marrow) द्वारा तेरी मज्जा का संधान हो, 'रोहणी ओषधि के चर्म के द्वारा तेरा चर्म रोपित हो, स्वस्थ हो। रोहणी के असृक् तथा अस्थि द्वारा तेरा रक्त तथा तेरी हड्डी स्वस्थ हो। तथा रोहणी के मांस अर्थात् गुद्दे द्वारा तेरा मांस बढ़े।' इस प्रकार मन्त्र में रोहणी ओषधि (जिससे कि लाख बनती है) की मज्जा, चर्म, असृक् अर्थात् रक्त, हड्डी और मांस का वर्णन है। आप्टे के अनुसार मज्जा का अर्थ है-The pith of plants, तथा The marrow of the bones & flesh. अतः उपर्युक्त मन्त्र में मांस का अर्थ 'फल का गूदा' प्रतीत होता है।

(iv) ब्राह्मण ग्रन्थ के आधार पर यह दर्शाया जा सकता है कि, भिन्न भिन्न अवस्थाओं में, धान और जौ की पीठी के तथा इस पीठी के भिन्न-भिन्न अवयवों के भी, मांस, अस्थि, रुधिर, तथा त्वचा आदि नाम हैं, यथा-'**यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति; यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति; यदा संयौत्यथ मांसं भवति, सन्तत इव हि स तर्हि भवति, सन्ततमिव हि मांसम् यदाशृतोऽथास्थि भवति दारुण इव हि स तर्हि भवति, दारुणमित्यस्थि; अथ यदु द्वासयिष्यन्नभि धारयति तं मज्ज्ञानं दधात्येषो स सम्पद्याहुः पांक्तः पशुरिति॥** शतपथब्राह्मण १,२,३,८॥

अर्थात् व्रीहि (धान) और यव (जौ) की पीठी के दाने लोम रूप हैं, पानी डालने से इस पीठी पर जो पिप्पड़ी बन जाती है वह त्वचा रूप है, जल और पीठी के मिलाने पर पीठी मांस-रूप है, चूंकि जल के मिलाने पर वह पीठी फैल सी जाती है, और मांस भी फैला हुआ ही होता है; जब पीठी पकाई जाती है तब वह अस्थि (हड्डी) रूप है, उस समय वह कठोर हो जाती और अस्थि भी कठोर ही होती है। जब पीठी को अङ्गारों पर से उतार कर उस पर घी डालते हैं तब अस्थिरूप पीठी में मज्जा पैदा होती है। इस प्रकार इसी पीठी में पांचों पशुओं की श्री है।'

इससे भी प्रतीत होता है कि वेद मे, यत्र तत्र, भोजन के सम्बन्ध में भी पठित मांस आदि शब्द, आवश्यक नहीं कि प्राणि पशु के ही भिन्न-भिन्न अवयवों के वाचक हों।

(v) चरक संहिता आदि वैद्यक ग्रन्थों में, केसर को रुधिर, खजूर के गूदे को मांस, बेर की गुठली को अस्थि, तथा पके आम के गूदे, रस और गुठली को क्रम से, मांस, मज्ञा, तथा अस्थि के नामों से पुकारा है।

(vi) आप्टे कोष में भी, मांस शब्द के अर्थों में 'फल का गूदा (fleshy part of a fruit)' अर्थ दिया है। अत एव इन्टरनेट की agniveer website पर मांस की परिभाषा देते हुए लिखा गया है कि '**मीट को मांस इसलिये कहा जाता है क्योंकि वह गूदेदार होता है, इसी से केवल मांस शब्द के प्रयोग को देखकर ही मीट नहीं समझा जा सकता।**'

अतः उपर्युक्त मन्त्रों, जिनमें द्व्यर्थिक शब्दों से मांसभक्षण आदि का आभास या भ्रम प्रतीत होता है, का पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय के अनुसार अर्थ इस प्रकार है-

(i) प्राजापत्ययाजी के जीवन यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् भी इस घर में पूड़ों समेत और मांस (फल का गूदा) समेत चावल, जौ आदि विद्यमान रहें। तथा अतिथिदेवों में जो आप आहुतियों के पश्चात् यज्ञशेष का भाग ग्रहण करने वाले इस भूमण्डल पर जीवित हो, और लोकोपकार करने वाले और लोकों का सत्पथ में चलाने वाले हो, उन आपका अतिथियज्ञ द्वारा हम सत्कार कर सकें। (अथर्व० १८।४।२०)

(ii) हे पितृवर्ग! आप में से प्रत्येक के प्रति इस मठे को, जिस ओदन को, जिस फल के गूदे को आपका पुत्र मैं आपके पालनार्थ भेंट करता हूँ, वे सब भेटें आपके धारण-पोषण करने वाली सात्त्विक हों, मधुर हों, तथा घृतपूर्ण हों। (अथर्व०१८/४/४२)

(iii) जो अतिथिपति इस प्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, और मांस (फल का गूदा) को सींचकर, डालकर उपहार रूप में अन्न प्रदान करता है वह उत्तम प्रकार से समृद्ध हुए द्वादशाहयज्ञ द्वारा यजन करके जितना फल प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है उतना फल इस अतिथियज्ञ द्वारा प्राप्त करता या स्वाधिकार में कर लेता है। (अथर्व० कां०९, सू०६, पर्याय ४, मं० ७,८)

(iv) निश्चय से यह पनीर अधिक स्वादु है जो कि गो सम्बन्धी है, दूध या मांस (आमिक्षा) अथवा दूध और मांस (आमिक्षा) उसे ही श्रोत्रिय, अतिथि से पहले न खाये। (अथर्व०९/६/पर्याय३/९)

उपर्युक्त पहले दो मन्त्र अट्ठारहवें काण्ड से सम्बन्धित हैं। आचार्य सायण के अनुसार इनका पितृमेध प्रकरण में विनियोग है। इन दो मन्त्रों से प्रेत को मांसदान तृप्त करने के लिये किया जाता है। उपर्युक्त में से तृतीय और चतुर्थ मन्त्र में अतिथि का माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। विनियोग भाष्यकार आचार्य सायण ने यहाँ **मांसम्** का अर्थ प्राणिमांस ही अर्थ किया है जो कि किसी भी प्रकार संगत नहीं बैठता है। इन मन्त्रों में **मांसवान्** और **मांसम्** पदों का अर्थ पशुहिंसाजन्य मांस ही हो, यह सर्वदा उचित नहीं। इस विषय में एक तर्क यह भी हो सकता है कि **मांसवान्** आदि पदों में मांस यदि रूढ़िगत अर्थ वाला है तो यह निश्चित करना पड़ेगा कि किसका मांस, पशुओं में गौ, अश्व आदि का या किसी और का? अथर्ववेद में तो पाँच पशुओं में मनुष्य की भी गणना होती है-**तवे॒मे पञ्च॑ प॒शवो॒ विभ॑क्ता॒ गावो॒ अश्वाः॒ पुरु॑षा अजा॒वयः॑** (११/२/९)। मांसभोजियों को तो मनुष्य के मांस का भोजन अत्यधिक स्वादिष्ट लगता है। अतः परप्राणी हिंसा से भी बचा जायेगा। अपने प्रिय अतिथि को अपने प्रिय शरीर का ही मांस परोसना चाहिये, यदि उपर्युक्त स्थल पर रूढ़िगत मांस (Meat, flesh eating) अर्थ लेते हैं तो। ऐसा वे करेंगे नहीं। अतः पूर्वापरप्रसंग और उक्त तर्क के आधार पर यह सिद्ध होता है कि **मांसवान्** पद का अर्थ यहाँ **फलों का गूदा** ही है।

पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत मांसभक्षण के पोषक उपर्युक्त चार मन्त्रों में प्रयुक्त मांस शब्द के उल्लेख से पहले तत्तत् सूक्तों के बाद वाले मन्त्रों में अपूप, क्षीर, दधि, द्रप्स, घृत, अन्न, मधु, रस आदि पदार्थों के चरु का विधान है। जो निश्चय ही शाकाहारी पदार्थ हैं। शाकाहारी पदार्थों के साथ अशाकाहारी पदार्थों का मेल

कदापि उचित प्रतीत नहीं होता। अतः यहाँ उक्त स्थलों में मांस का अर्थ **फलों का गूदा** ही उचित प्रतीत होता है। अतः इन कतिपय प्रमाणों और तर्कों से यह अवश्य सिद्ध होता है कि, वेदों में पठित मांस आदि शब्द, आवश्यक नहीं कि प्राणी पशुओं के ही अवयवों के सूचक हों। क्योंकि मांस हिंसा से प्राप्त होता है, इस प्रकार हिंसा तथा अहिंसा सम्बन्धी पूर्वोक्त परस्पर विरोध का भी परिहार हो सकता है। अथर्व०१०/९ सूक्त के निम्नलिखित मन्त्र भी विद्वानों के लिये गोमांस भक्ष्य प्रसंग में विचारणीय रहे हैं-

(i) यः शृतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते।
प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम्॥ ४॥
(ii) ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने॥ ७॥
(iii) घृङ्क्तं प्रोक्षन्ती सुङ्खभगा देवी देवान् गमिष्यति।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने॥ ११॥

उक्त तीनों मन्त्र अथर्व०१०/९ सूक्त में आये हैं। इस सूक्त का याज्ञिक विनियोग सायणाचार्य के शब्दों में इस प्रकार है-'**आघायताम्** यह सूक्त आहुत्यर्थ गोवध में विनियुक्त होता है। वह वध्या गौ शतौदना कहलाती है। उसके वध से उसके मांस की आहुति से जो यजन होता है वह अग्निष्टोम और अतिरात्र से भी श्रेष्ठ हैं। यह कर्ममार्ग में प्रवृत्त कराने वाला प्रशंसापरक वचन है। जो मारी जाती है उसके प्रति तू हन्ताओं से मत डर, तू देवी हो जावेगी, स्वर्ग में देवता तेरी रक्षा करेंगे-इत्यादि प्रोत्साहन वचन हैं। जो तुझे हनन करता है, पचन करता है, जो आहुति देता है, वह उत्तम स्वर्ग को जाता है, इत्यादि गोभिल वचन के द्वारा गोमेध की प्रशंसा भी की है।'

आचार्य सायण ने वध्या गौ को शतौदना माना हैं और इसी के अनुसार उपर्युक्त मन्त्रों का अर्थ किया है। जैसे-जो शतौदना का पचन क़रता है, वह कामपूरक रूप से समर्थ होता है और ऋत्विज् इससे प्रसन्न होकर यथायोग्य रीति से चले जाते हैं (मन्त्र ४)। हे देवि! जो तेरा पचन क़रने वाले हैं और जो तेरा शमन करने वाले प्राणी हैं वे सब तेरी रक्षा करेंगे, तू इनसे न डर (मन्त्र ७)। हे शतौदने देवि! हे सुभगा देवि! तू घृत का प्रोक्षण करती हुई देवताओं को प्राप्त होगी, तू पक्ता का हिंसन न कर, स्वर्ग को जा (मन्त्र ११)। सायणेतर दयानन्दीय विचारधारा के भाष्यकारों ने उक्त सूक्त में अन्नदात्री पारमेश्वरी माता का वर्णन शतौदना (गौ) के रूप में माना है। क्योंकि गौ भी सैकड़ों प्रकार के ओदनादि भोज्य पदार्थ देती है। जैसे-दूध, दधि, घृत; तथा बैलों द्वारा कृष्यन्न। इसी प्रकार यह पारमेश्वरी माता भी, यदि इसकी कृपा न हो तो हमें ये भोज्य पदार्थ प्राप्त नहीं हो सकते, हमें सैकड़ों प्रकार के ओदनादि भोज्य पदार्थों को प्रदान करती है। अथर्ववेद के उपर्युक्त १०/९ सूक्त के उद्धृत मन्त्र सातवें और ग्यारहवें में पचति, पक्तारः और पक्तारम् का अर्थ 'ध्यान द्वारा परिपक्व करता है', 'ध्यानाभ्यास द्वारा तेरा परिपाक करने वाले को' ये अर्थ करते हुए पं० विश्वनाथ विद्यालंकार ने पूरे मन्त्रों का अर्थ अपने भाष्य में इस प्रकार किया है-जो ध्यानयज्ञ करने वाला पारमेश्वरी माता (शतौदना) को परिपक्व करता है, वह कामना को पूर्ण करने वाले ध्यानयज्ञ द्वारा सामर्थ्य वाला हो जाता है, और इसके ध्यानयज्ञ के अर्थात् अध्यात्मगुरु प्रसन्न होकर जहाँ-जहाँ जाना चाहिये चले जाते हैं (मन्त्र ४)। हे पारमेश्वरी मातृदेवते! जो जन तुझे शान्त करते हैं और जो तुझे ध्यानाभ्यास से परिपक्व करते हैं वे सब तेरी रक्षा करेंगे, इनसे तू भयभीत न हो। हे सैकड़ों ओदनादि भोज्य पदार्थों को देने वाली पारमेश्वरी मातः! (मन्त्र

७)। घृतादि पदार्थों का सिंचन अर्थात् प्रदान करती हुई उत्तम भगों वाली पारमेश्वरी मातारूपी देवता दिव्य गुणों वाले व्यक्तियों को प्राप्त होती है। हे अहन्तव्ये अत्याज्ये मातः ! ध्यानाभ्यास द्वारा तेरा परिपाक करने वाले को तू निज आश्रय से वंचित न कर। हे नानाविध अन्नों को देने वाली! उपासक के मस्तिष्क में तू प्राप्त हो (मन्त्र ११)

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में सायणादि विनियोक्ता भाष्यकारों ने शतौदना को लोकप्रसिद्ध गाय मानते हुए पचति, पक्तारः, पक्तारम् इन पदों का लोकप्रसिद्ध सामान्य अर्थ 'अग्नि पर पकाना' और मा हिंसीः का अर्थ 'हिंसन न कर' किया है। जो कि मूल वैदिक अभिप्राय से बिल्कुल दूर है। जैसे 'परिपक्व बुद्धि' पद में परिपाक का अर्थ 'अग्नि पर पकाना' नहीं होता वैसे ही पचति आदि उक्त पदों के विषय में भी जानना चाहिये। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि मारी गयी, काटी गयी और अग्नि पर भूनी गयी और द्युलोक में पहुँची हुई शतौदना के जब अंग ही न रहे तब वह दिविषद्, अन्तरिक्षसद् तथा भूमिष्ठ देवों को आमिक्षा आदि कैसे दे सकती है? जो कि इस अथर्ववेदीय सूक्त के अन्य मन्त्रों में इंगित है। वैदिक दर्शानानुसार वेद में मन्त्र-रचना बुद्धिपूर्वक हुई है तब मन्त्रार्थ बुद्धिसंगत ही होने चाहियें, बुद्धि विपरीत नहीं। विशेषतया तब जब कि वेदों को परमेश्वरीय रचना माना जाता है।

वेदों की रहस्यात्मक वर्णन शैली में, जिस प्रकार मांस आदि शब्दों के गूदा और चावलों का श्याम भाग आदि अर्थ सम्भव हैं। इसी प्रकार अश्व आदि शब्दों के भी, पशु भिन्न अन्य अर्थ भी सम्भव हैं। जिनके कतिपय उदाहरण निम्नलिखित है। यथा-(a) अश्व—तण्डुल के कण[13]; सूर्य, अश्वपर्णी या असगन्धा औषधि, एक नक्षत्र[14] आदि, (b)अज या छाग—तीन वर्ष या सातवर्ष के पुराने धान[15]; राशिचक्र मे मेषराशि[16]; अजानामक औषधि[17] आदि, (c) धेनु—धाना[18]; पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएं आदि (d) वत्स—तिल[19] (e) वृषभ—ओदन[20], बादल, ऋषभ औषधि आदि, (f) गौ—तण्डुल[21]; शमीवृक्ष[22], रश्मि, चन्द्रमा, दूध, चर्म, धनुष की डोरी आदि (निरुक्त अ०२, पा०२, खं०१-३, (g) उक्षा—सोम औषधि[23] आदि।

यहां परिचय मात्र के लिये कतिपय उदाहरण दिये हैं। इसी प्रकार पशुवाचक अन्य शब्दों के भी सर्वसाधारण में अप्रसिद्ध अर्थ, वैदिक तथा संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में मिलते हैं।[24] अतः वेदों के अध्ययन

---

१३. अश्वाः कणाः गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः (अथर्व०११/३/पर्याय०१/०५)
१४. द्रष्टव्य, सम्बन्धित ज्योतिष ग्रन्थ।
१५ प्रो० विश्वनाथ वेदोपाध्याय, वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा, अजमेध प्रकरण।
१६ द्रष्टव्य, सम्बन्धित ज्योतिष ग्रन्थ।
१७. द्रष्टव्य, सम्बन्धित आयुर्वेद के ग्रन्थ।
१८. धानाः धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्। तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति॥ अथर्व०१८/४/३२
१९ देखो, पाद टिप्पणी संख्या १३
२० वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ। सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम्॥ अथर्व०११/१/३५
२१ देखो, पादटिप्पणी संख्या७
२२ ऋग्वेद १०/३१/१० पर सायण भाष्य।
२३ ऋग्वेद १०/२८/१८ पर सायण भाष्य।
२४ पशुवाचक कतिपय अन्य शब्दों के वैद्यक प्रसिद्ध अर्थ इस प्रकार है, जिनका कि वेदों के स्वाध्याय काल में स्मरण रखना

करने वाले के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह, मन्त्रों के अर्थ करते समय, परस्पर विरोधी वर्णनों पर विशेष ध्यान दे और विरोध के समाधान के लिये वेदों के रहस्यार्थों की खोज करें। क्योंकि द्व्यर्थिक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है उसका निराकरण वेदों तथा अन्य ग्रन्थों ने स्वयं कर दिया है। वेदेतर लौकिक साहित्य में भी द्व्यर्थिक शब्दों से भ्रम पैदा होता है जिसका निराकरण भी पूर्वापर प्रसंग के आधार पर किया जाता है। जैसे कि निम्नलिखित कतिपय उद्धरणों में देखा जा सकता है-

(i) **गोमांसं भक्षयेन्नित्यं, पिबेदमरवारुणीम्। कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातका:।।**
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि। गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्।। (हठयोगप्रदीपिका)

(ii) **मातरं पितरं हत्वा राजानौ द्वौ च क्षत्रियौ।**
राष्ट्रं सानुचरं हत्वा अनघो याति ब्राह्मण:।।[२५] (धम्मपद के वचन का संस्कृत रूपान्तर)

(iii) **कुमारिका पादघातेन तत्क्षणं म्रियते फणि:।**[२६] (वैद्यकग्रन्थ)

वैदिक और संस्कृत भाषा को एक समझ कर संस्कृतभाषा के आधार पर पूर्णत: वैदिकभाषा को नहीं समझा जा सकता, इन दोनों भाषाओं में महान् अन्तर है। उपर्युक्त वैदिक और लौकिक उद्धरण इस बात के प्रबल प्रमाण हैं।

उपर्युक्त मांसभक्षण विषय की आलोचना के सम्बन्ध में अन्य निम्नलिखित कतिपय तर्क दिये जाते हैं, जिनसे यह पता चलता है कि वेदों में मांस मनुष्य का भोजन नहीं है-

प्राकृतिक दृष्टि से मनुष्य शाकाहारी है, मांसाहारी नहीं ऐसा वैदिक संहिताओं में पदे पदे दृष्टिगोचर होता है। क्योंकि मांस भोजी जीवों के शरीर से एक विशेष प्रकार की गन्ध निकलती है जिसको सूंघकर दूसरे प्राणी उसको देखते ही भागने लगते हैं, जैसे शेर, भेडिया, चीता आदि को देखकर दूसरे प्राणियों का भागना। यदि मनुष्य मांस भोजी जीव होता तो मनुष्य को देखकर दूसरे प्राणियों को भाग जाना चाहिए था। परन्तु लोक में ऐसा देखने में नहीं आता इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य का भोजन मांस नहीं है। वेद परमात्मा की सार्थक वाणी है अत: अव्यावहारिक और अप्राकृतिक वर्णन वेद में नहीं हो सकते।[२७]

आवश्यक है। जैसे-अश्व—अश्वगन्धा, ऋषभ—ऋषभक कन्द, श्वान—कुकुरमुत्ता, वराह—वराही कन्द, काक—काकमाची, अज—अजमोद, मत्स्य—मत्स्याक्षी, लोम—जटामांसी, महिष—महिषाक्ष गुग्गुल, मेष—चकवड़, मेषपर्णी, मातुल—धतूरा, मृग—सहदेवी बूटी, पशु—मोथरा, कुमारी—घृतकुमारी, रुधिर—केशर, पेश—जटामांसी, ह्रद—दारचीनी। सृष्टि के आदि में वेद और लोक की भाषा एक ही थी इसलिये वेद और लोक में समागत एक से शब्दों को देखकर भ्रान्ति होने लगती है। जबकि लोक में शब्द रूढ़ि होते हैं और वेद में यौगिक (शब्द के सभी अर्थों का आधार धातु)।

२५ मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये। रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो।। अर्थात् मातरं पितरं—तृष्णा और अहंकार, राजानो द्वे—शरीर को नित्य मानना तथा पुनर्जन्म को न मानना, इन दोनों मिथ्या दृष्टियों और रट्ठं सानुचरम्—विषयों सहित चक्षु आदि इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके ब्राह्मण दु:ख से रहित होकर अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

२६ शाब्दिक अर्थ-कुमारी के पैर के आघात से साँप तत्काल मर जाता है। क्या यह संभव है? नहीं, वास्तविक अर्थ-घीकंवार (ग्वारपाठा) के रस में डालकर उसकी जड़ की आग में सीसे को पकाया जाये तो वह शीघ्र भस्म बन जाता है।

२७ If we were a natural meateater species than would not he mute animals run away at our sight like they do when they see lion, tiger, cheeta, leopard etc. Is this not the simplest and strongest

चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से भी मांस मनुष्य का भोजन नहीं है। क्योंकि मनुष्य की अन्तड़ियां ३३ फुट लम्बी तथा घुमावदार है, जबकि मांसाहारी जीवों की अन्तड़ियां उनके शरीर की लम्बाई से केवल ३ गुना अधिक है, घुमाव तनिक नहीं और सीधी थैली सी हैं ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए, चूंकि मांस जल्दी सड़ता है, अतः बैक्टीरिया द्वारा रक्त प्रवाह में मांस के सड़ने से जहर घुल जाने से पूर्व ही उसे पचाना और बाहर निकाला जाना आवश्यक होता है। इसलिये परमात्मा ने उसकी आंतें छोटी बनाई ताकि मांस सड़ने से पूर्व ही पच जाये और बाहर निकल जाये। परन्तु उसके विरुद्ध गैर-मासांहारी अर्थात् शाकाहारी प्राणी जल्दी सड़ने वाला भोजन नहीं खाते, इसलिये उनका पाचन तन्त्र अधिक लम्बा, घुमावदार होता है-जो शाकाहारी भोजन को धीरे-धीरे पचाने के लिये है। इसलिए भली प्रकार से समझना चाहिये कि मानव का शरीर मांस खाने के लिये अनुकूल कदापि नहीं हैं और हमारे द्वारा मांस खाना अप्राकृतिक तथा खतरनाक दोनों है।[२८] वेदों में मानव शरीर संरचना की दृष्टि से ही भोज्य पदार्थों का वर्णन है। फल, शाक-सब्जी, कन्दमूल (Fruits & Vegitables-vegitarion food) दुग्ध, अन्नादि ऐसे भोज्य पदार्थ हैं जो कि मानव शरीर संरचना की दृष्टि से भोजन के लिये उपयुक्त हैं।

अथर्ववेद में राजा के राज्याभिषेक प्रकरण में कहा है कि वही मनुष्य राजा बनने के योग्य है जो प्रजाओं को दुग्ध आदि से पालन करने में समर्थ हो-**भङ्क्तो भूङ्क्तेषुङ्क्ष पयुः आ दधाति स भङ्क्तानामधिपतिर्बभूव** (अंथर्व०४/८/१)। इसमें कहीं भी मांसभक्षण से प्रजा का पालन करना नहीं लिखा। यदि मांस भोज्य होता तो इस बात का उल्लेख अवश्य होना चाहिये था। ऐसा चारों वेदों में कहीं भी उल्लेख नहीं है।

ऋग्वेद के अतिवृष्टि निरोधक मन्त्र में आता है-'**ओषधिरजीजनत् भोजनाय**' अर्थात् हे मेघ! तुम खूब बरसे, भोजन के लिये पर्याप्त मात्रा में ओषधियाँ (अन्नादि) उत्पन्न हो गये हैं, अब बस करो तुम।' यदि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन शाकाहार अन्नादि न होता तो उक्त मन्त्र में ओषधिः पद का प्रयोग न होकर किसी और मांसादि पद का प्रयोग होना चाहिये था।

पशुवध कर उसका मांसाहार करना वैदिक नहीं है जो भी मन्त्र मांसभक्षण के पोषण में दिये जाते हैं, उनकी परीक्षा करने से मांसभक्षण की पुष्टि नहीं होती। वेदों में ऐसा एक भी मन्त्र नहीं है, जिसमें यह कहा गया हो कि मैं पशुमांस की हवि देने के लिये और उसको खाने के लिये इन पशुओं का पालन-पोषण करता हूँ। इसके विपरीत जैसा कि इस शोधनिबन्ध में पूर्वोल्लिखित है कि भोज्य के रूप में गोमांस ही नहीं अपितु किसी भी प्रकार के मांस का सर्वथा निषेध प्राप्त होता है। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में तो यह लिखा है कि पृथिवी पर मरणधर्मा मनुष्य का अन्न ही धारण-पोषण करने वाला है, उसके सेवन से ही मनुष्य जीवित रहते हैं-**भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः** (१२/१/२२)। इस मन्त्र में मनुष्य जीवन को धारण करने की शक्ति अन्न में **स्वधा** पद के द्वारा बतायी गयी है। यजुर्वेद में गोदुग्ध से प्राप्त घी से शरीरों की वृद्धि होती है-**घृतेन तन्वं वर्धस्व**-ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है। यदि मांस से शरीरवृद्धि अपेक्षित होती तो **मांसेन तन्वं वर्धस्व**

---

argument telling us loudly that we are doing something grossly unnatural when we like an animal for our food can there be a doubt that who is move natural: a humanbeing or an animal. "Meet Eating" by Dr. Harishchandra (परोपकारी में प्रकाशित उक्त उद्धरण)

२८. आर्यजगत्, ६ दिसम्बर से १२ दिसम्बर २००९, पृ०२२ पर सुभाषचन्द्र गुप्ता का लेख, क्या आप जानते हैं?

का प्रयोग होना चाहिये था। इन सभी तर्कों से यह सिद्ध होता है कि मांसभक्षण वेदानुमोदित नहीं है। मांसभक्षण तो वैदिक अपराध है, क्योंकि इसमें पशुहिंसा पायी जाती है, जिससे सर्वभूत मैत्रीसिद्धान्त की क्षति होती है।

वेदों में अनेक भक्ष्य पदार्थों का वर्णन है जो कि कृष्यन्न और गौ से पैदा हुए दूध एवं उससे निर्मित पदार्थ (अधिगव) ही हैं, ऐसा ऊपर प्रसंगानुरूप वर्णन किया गया है। फिर भी कतिपय भक्ष्य पदार्थ इस प्रकार है जिनमें कहीं भी मांस का उल्लेख नहीं है-गौ का दूध, घी, धान्य, अन्न (१२ प्रकार के अन्न-यजु०१८/१२), ओदन, पूड़ा (अपूपवान्), सत्तू, दही, दही की लस्सी, शहद तथा मधुर वस्तुयें, नानाविध रस, शुद्ध जल, मठा (मन्थम्), आमिक्षा—पनीर, क्षीर, फल का गूदा, चरु, गौ दुग्ध से बने बहुत से पदार्थ आदि।

निघण्टु में भोजन (भुज्) धन नामों में पठित है। परन्तु ऋग्वेद में यह बहुत बार सामान्य रूप से भोज्य पदार्थ (Food) के रूप में आया है। ऋग्वेद १/१८७ **अन्न**देवताक सूक्त में अन्न को **पितु** कहा है। आचार्य सायण ने इसका अर्थ **पालकमन्नम्** किया है। वेदों में अन्न को **कीलालम्** और **भरद्वाज** इन दो विशेषणों से भी अभिहित किया गया है। शरीर और शरीरावयवों को जीवात्मा के साथ बांधे रखने में पर्याप्त होने से अन्न **कीलाल** है[२९] तथा भरण-पोषणकारी होने से अन्न भरद्वाज कहलाता है।[३०] इन दोनों नामों की सार्थकता ऋग्वेदोक्त **पितु**[३१] नाम में स्पष्ट रूप से घटती है। यह विशेषता मांस में नहीं है। वेद परमात्मा की सार्थक वाणी हैं। अतः उसमें असार्थक, अप्रासंगिक (पूर्वापर प्रसंगविरुद्ध) और वदतोव्याघातयुक्त बातें नहीं हैं।

यजुर्वेद ११/८३ में परमात्मा को **अन्नपति** कहा है, और उससे अन्न देने की प्रार्थना की गयी है, मांस देने की नहीं। वैदिक साहित्य में भोजन (अन्न) से विनिर्मित शरीर (The Physical or grassbody, made of food) को अन्नमयकोश के नाम से कहा गया है। अत एव मनुष्य के षोडश संस्कारों में अन्नप्राशन संस्कार[३२] का विधान है। शरीर के लिये अन्न महत्त्वपूर्ण पदार्थ है इसलिये प्रथम बार अन्नग्रहण करने के अवसर पर शिशु का यह संस्कार किया जाता है। जिसमें घृतमिश्रित ओदन[३३] और दधि, मधु, घृतमिश्रित अन्न का निर्देश है। पूरे प्रकरण में कुत्रापि मांस का संकेत तक नहीं है। प्राण का सम्बन्ध अन्न के साथ है इसलिये **'ओं प्राणेनान्नमशीय स्वाहा। इदं प्राणाय-इदं न मम'** मन्त्र से बच्चे को खिलाये जाने वाले शाकाहारी पदार्थ की आहुति भी डालने का निर्देश मिलता है। यदि मांस अभिप्सित वस्तु होती, आवश्यक

---

२९. कीलालम्—अन्ननाम, निघं०२.७। कील बन्धने (भ्वादिः)—अलम्—पर्याप्तम् (अथर्ववेदभाष्यम् ४/२६/६, प्रो०विश्वनाथ) जीवन का प्रारम्भ तब होता है जब आत्मा प्राणधारण करता है। प्राणधारण करने से ही वह (आत्मा) जीवात्मा संज्ञावाला होता है (जीव प्राणने)। प्राण का सम्बन्ध अन्न के साथ है। ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि (अथर्व० प्राणसूक्त)। अतः आत्मा का सम्बन्ध अन्न के साथ है। एतदर्थ वेद में अन्न की कीलाल संज्ञा है, जो कि शरीर और शरीरांगों को आत्मा के साथ जोड़कर रखता है।

३०. भरद्वाज—भरत, डुभृञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः), भृञ् भरणे (भ्वादिः), वाजः अन्नम्, बलं वा, निघं०२/७,२/९

३१ पा रक्षणे (to protect), पा पाने (to drink), प्याय वृद्धौ (to increase)।

३२ संस्कारविधि, स्वामी दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-६, अगस्त १९९७, १०वां संस्करण, संपा०राजवीर शास्त्री, पृ०६९।

३३ इसके भक्षण से शरीर निर्मित होता है, अथर्व०४/१४/७

होता तो **'ओं प्राणेन मांसमशीय स्वाहा'** यह मन्त्र होना चाहिये था। ऐसा नहीं है। अत: वैदिक परम्पंरा में मांस भोज्य नहीं है। वैदिक ऋषि इस बात को जानते थे कि अन्न पर ही जीवन आधारित है। इसलिये वेद में मांस की दूर-दूर तक भी भोजन के लिये कल्पना ही नहीं है। यदि होती तो उसकी सयुक्तिक प्रसंगोपात चर्चा अवश्य होती। जीवन के उक्त महत्त्वपूर्ण संस्कार में तो अवश्य होती और उसका नाम **मांसप्राशन** संसार होता। इसीलिये वेदारम्भ संस्कार में मांसभक्षण न करने का ब्रह्मचारी को स्पष्ट निर्देश दिया गया है।[३४] यदि मांसभक्षण इष्ट होता तो उसका निषेध क्योंकर किया जाता? डॉ० शशि तिवारी ने अपने निबन्ध 'The Vegitarion food in the Rigveda' में ऋग्वेद के आधार मांसाहार का प्रत्याख्यान करते हुए शाकाहारी भोजन का ही वर्णन किया है कि ऋग्वैदिक लोग विशुद्ध शाकाहारी (Pure vegitarion) थे। इस शाकाहारी भोजन में फल, सब्जियों के अन्तर्गत बिल्व, खर्जूर, आमलक, उर्वारुक, बिस[३५] का जहाँ उल्लेक किया गया है वहीं दूध और अन्न से निर्मित विविध प्रकार के अग्रलिखित शाकाहारी व्यंजनों का विवेचन भी प्रस्तुत किया है-पायस्, घी, दही, पुरोडाश, पक्ति, धाना, करम्भ, सक्तु, अपूप (Sweet cake) क्षीरोदन, दध्योदन, मुद्गोदन, गवाशिर, यवाशिर आदि।[३६] अथर्ववेद में धानों के प्रकार (varity) के प्रसंग में लिखा है कि हरिणी, श्येनी, रस्या, कृष्णा और रोहिणी नामक धान होते हैं[३७]। वेद में ऐसे ही भिन्न-भिन्न रूपों वाले धान आदि अन्नों को अनेक प्रकार से पकाये जाने पर खाने का विधान है-**यदन्नमद्मि बहुधा विरूपम्** (अथर्व०६/७१/१)।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वेदों में मांस की झलक तो मिलती है, परन्तु पूर्वापर प्रसंग, तर्कशक्ति और वैदिक रहस्यवाद से इस झलक का वास्तविक रूप प्रकट होता है। वेदों में मांस शब्द जहाँ प्राणी मांस के अर्थ में (मांसं मांसेन रोहतु) अत्यल्प उपचार के प्रसंग में आया है वहीं भोजन के प्रसंग में फल के गूदे, आमिक्षा (पनीर) और चावल के श्याम भाग के अर्थ में भी आया है। यह हमने यथाप्रसंग स्पष्ट किया है। अत: मांसभक्षण से सम्बन्धित तथाकथित वेदों के उन-उन स्थलों की परीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यदि कभी तत्तत् मन्त्रों/मन्त्रांशों के गलत अर्थों के आधार पर उनमें मांसभक्षण का आभास प्रतीत होने पर यदि कुछ लोग इस देश में श्रुति के नाम पर मांसभक्षण करते भी रहे हैं तो उसे वेदानुमोदित नहीं कहा जा सकता। अत एव महाभारतकार ने लिखा है कि मद्यमांसादि का प्रचार तो धूर्तों ने किया है। वेदों में यह कहीं भी पठित नहीं है-

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृशरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु विद्यते॥

---

३४ संस्कारविधि, स्वामी दयानन्द, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली-६, अगस्त १९९७, १०वां संस्करण, संपा०राजवीर शास्त्री।
३५ अथर्व०४/३४ में कुमुदम्—कमलडोड़ा, मुलाली—कन्दमूल का भी वर्णन है।
३६. जर्नल ऑफ ओरियेण्टल इन्स्टीट्यूट एम०एस०यूनिवर्सिटी बडौदा, वाल्यूम्-४६ नं०३-४, पृ०२४३
३७ एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते (अथर्व०१८/४/३४)

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०४४-४९) ISSN 0974 – 8830

वैदिक यज्ञों में पशुहवि का स्वरूप विवेचन

(शतपथ ब्राह्मण के आलोक में)

डॉ. (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी[1]

यज्ञ वैदिक धर्म का एक अनुपम तत्त्व है और वेद में स्थान-स्थान पर इसका महत्त्व बतलाया गया है; यहाँ तक कि यज्ञों द्वारा परमेश्वर की पूजा और प्राप्ति का भी प्रावधान है। उदाहरणार्थ-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते हि नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥[2]

मन्त्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि सत्यनिष्ठ विद्वान् लोग यज्ञों द्वारा ही पूजनीय परमेश्वर की पूजा करते हैं। यज्ञों में सब श्रेष्ठ धर्मों का समावेश होता है। यज्ञों द्वारा भगवान् की पूजा करने वाले महापुरुष उस दुःखरहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं जहाँ सब ज्ञानी लोग निवास करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद के निम्न मन्त्र- **न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहम् इर्मैव ते न्यविशन्त केपयः।**[3] में भी कहा गया है कि जो यज्ञमयी नौका पर चढ़ने में समर्थ नहीं होते वे कुत्सित किंवा अपवित्र आचरण वाले होकर यहीं इस लोक में नीचे गिरते जाते हैं।

वैदिक यज्ञ-

वेद-सम्मत दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, अग्निहोत्र और चातुर्मास्य, सोमयज्ञ, वाजपेय, राजसूय, सौत्रामणी और अश्वमेध प्रभृति[4] यज्ञों की कर्मकाण्डीय विस्तृत व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार से की गई है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के एकमात्र ब्राह्मण ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण के **'एतावान् वै सर्वो यज्ञो यावानेष त्रयो वेदाः तस्यै वै तद्रूपम् क्रियते। एष योनिराशयः। तद् एतेन त्रयेण वेदेन पुनर्यज्ञमारभते।'**[5] वाक्य में स्पष्टतया कहा गया है कि तीनों वेदों का जितना ज्ञान है वह सब इन यज्ञों से प्रकाशित किया जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कहा जा सकता है कि 'यज्ञ' समग्र वेदार्थ का वाचक शब्द है। जब 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'[6] अथवा 'यज्ञो हि श्रेष्ठतमं कर्म'[7] कहा जाता है तो इसका भी यही अर्थ है कि दर्शपूर्णमासादि यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्मों के बोधक हैं।

---

१. एसोसियेट प्रोफेसर (रिटायर्ड), क १६१७, सैक्टर ४४-बी, चण्डीगढ़-१६००४७.
२. वेद-१०.९०.१६
३. अथर्ववेद-२०.९४.६.
४. (क) कर्मकाण्ड के अनुसार यजुर्वेद के प्रथम अध्याय से लेकर द्वितीय अध्याय के २८वें मंत्र तक दर्शपूर्णमास यज्ञ है। (ख) कर्मकाण्डपरक व्याख्या में यजुर्वेद के षष्ठ अध्याय के मंत्र ७ से २२ तक अग्नीषोमीय पशु का प्रयोग आता है। (ग) कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार यजुर्वेद के २२वें से २५वें अध्याय तक अश्वमेध यज्ञ वर्णित हुआ है। (घ) यजुर्वेद अध्याय ३० तथा ३१ पुरुषमेधपरक है। (ड.) यजुर्वेद अध्याय ३५ में पितृमेध का वर्णन है।
५. शतपथ ब्राह्मण-५.५.५.१०.
६. शतपथ ब्राह्मण-१.७.३.५.
७. तैत्तिरीय संहिता-३.२.१.४.

यज्ञ में हिंसा का भ्रम-

इतना सब होने पर भी यज्ञ विषयक एक और विचारधारा हमारे समक्ष आती है-वह यह है कि कतिपय मयकालीन वेदाचार्यों, पाश्चात्य विद्वानों ओ़र उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों की यह मान्यता है कि वैदिक यज्ञों में देवताओं के तर्पण हेतु, हवि के रूप में, भौतिक अग्नि में घृत और पुरोडाश आदि के साथ-साथ घोड़ों, भेड़ों, बकरियों, बैलों, गौओं आदि पशुओं की बलि दिये जाने का भी विधान है।[८] यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त वैदिक यज्ञों की तालिका में अश्वमेध पद के अनुरूप गोमेध, अजमेध, पुरुषमेध (पुरुषयज्ञ, नृयज्ञ) आदि शब्दों को देखकर वैदिक यज्ञों में पशुहवि किंवा पशुहिंसा का भ्रम हुआ है। यह भ्रम भी उक्त पदों में प्रयुक्त मेधृ धातु के 'हिंसा' अर्थ को लेकर उत्पन्न हुआ लगता है।

यज्ञीय हिंसा के भ्रम का निवारण-

वास्तविकता तो यह है कि धातुपाठ के अनुसार मेधृ धातु के मेधा, संगमन और हिंसा-ये तीन अर्थ हैं;[९] अर्थात् व्याकरण की दृष्टि से मेधृ धातु का एक अर्थ है-मेधा, अर्थात् शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना, दूसरा अर्थ है संगमन, अर्थात् लोगों में एकता व प्रेम को बढ़ाना और तीसरा अर्थ है हिंसा। अतः यहाँ यह स्पष्ट हुआ कि मेधृ धातु का 'हिंसा' ही एकमात्र अर्थ नहीं है जो कि अधिकांश लोगों ने समझा है। अतः वेद-मंत्रों को और उनके विनियोग को समझने के लिए वैदिक पदों के यौगिक अर्थों को, धात्वर्थ को, प्रत्यय और प्रकरण को जानना नितान्त आवश्यक है। वैसे भी निरुक्त तथा चारों वेदों में यज्ञ के पर्याय अथवा कहीं-कहीं विशेषण के रूप में 'अध्वर' शब्द का प्रयोग यज्ञ को हिंसा रहित कर्म की संज्ञा प्रदान करता है।[१०] इसके अतिरिक्त वैदिक और संस्कृत साहित्योक्त 'राष्ट्रं वा अश्वमेध। वीर्यं वै अश्वः' (शतपथ ब्राह्मण १.३.१.६) 'अजसंज्ञानि बीजानि' (महाभारत, शान्तिपर्व, ३३७) 'नृयज्ञो ह्यतिथिपूजनम्' (मनुस्मृति ३.७०) इत्यादि वचनों को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिये। भाव यह कि शास्त्र में जब अश्व शब्द वीर्य का वाचक है तो अश्वमेध शब्द द्वारा देशवासियों के बल और वीर्य की वृद्धि करना और राष्ट्र का अच्छे प्रकार से संचालन करना-अर्थ ग्रहण किया जाना चाहिए। इसी प्रकार 'अज' पद से व्रीहि या पुराने धान्य विशेष का (न कि केवल भेड़ का) और नृयज्ञ से अतिथि सत्कार आदि सत्कर्मों का ग्रहण किया जाना चाहिये। इसी के समानान्तर मेधृ धातु का 'संगमन' रूप जो अर्थ है उसका समर्थन महाभारत के यज्ञ विषयक अनेक प्रकरणों से होता है। जैसे महाभारत में यह उल्लेख आता है कि-यज्ञमण्डप में पशु-प्रदर्शनी चल रही है और वहाँ पशु, गो तथा धन-धान्य से भरपूर उस यज्ञमण्डप को देखकर आमन्त्रित राजा आश्चर्य को प्राप्त हुए।[११] अतः इस दृष्टान्त से गोमेध, अजमेध,

---

८. (a)"Scarcely less debased than the Danastutis are the Apri hymns, manufactured artifically for employment in animal sacrifice----there is no reason to doubt that these hymns were actually used at the animal sacrifices as tradition maintains. —The Vedic Age, P.348. (b)The Vedic Age, Page 501 also can bee seen.

९. मेधासंगमनयोर्हिंसायाम् च-धातुपाठ.

१०. (क) अध्वर इति यज्ञनाम्-ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरुक्त २.७ (ख) अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परि भूरसि।-ऋग्वेद १.१.४. (ग)---अग्ने बृहन्तमध्वरे।-यजुर्वेद २.४. (घ) त्वमग्ने गृहपतिस्त्वं होता नो अध्वरे। सामवेद, पूर्वार्चिक, २.२.६ (च) यस्याध्वरः सप्तहोता-अथर्ववेद ४.२४.३

११. स्थलजा जलजा ये च पशवः केचन। गाश्चैव महिषी चैव-------एवं प्रमुदितं सर्वं पशुगोधनधान्यतः-महाभारत,

अश्वमेध आदि शब्दों से इन पशुओं की प्रदर्शनी का रूप स्पष्टतया सिद्ध होता है; तो ऐसे हिंसारहित शुद्ध पवित्र यज्ञ में जो कि भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन बतलाया गया है; पशुहिंसा या पशुहवि का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस सन्दर्भ में आलम्भन या आलम्भ (अच्छी प्रकार से प्राप्त करना, स्पर्श करना) संज्ञपन (ज्ञान देना, दिलाना, मेल करना) तथा अवदान आदि शब्दों के उचित अर्थों को भी प्राचीन ग्रन्थों की सहायता से समझना अभीष्ट है।[१२] अस्तु!

पशुहवि (पशु और हवि)

पशु-

यज्ञ की महिमा का वर्णन करने के उपरान्त अब यज्ञ में दी जाने वाली पशुहवि पर वैदिक वाङ्मय के आलोक में, कुछ प्रकाश डालना चाहूँगी। पशु और हविः दोनों शब्दों में से प्रथम 'पशु' शब्द की विवेचना करना अभीष्ट है। 'पशु' शब्द से यदि केवल अश्व, गो, बैल, भेड़, बकरी आदि पशुओं का ही ग्रहण किया जाय तो वेद में इनकी रक्षा और संवर्द्धन की बात कही गई है न कि इनकी हिंसा की। इस सन्दर्भ में वेद के कुछ पशुरक्षाप्रतिपादक और पशुहिंसा-निषेधक मन्त्रांश प्रस्तुत हैं-

(क) यजमानस्य पशून् पाहि।[१३]

(ख) द्विपादश्च चतुष्पाद् पाहि।[१४]

(ग) गां मा हिंसीरदितिं विराजम्।[१५]

(घ) इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्।[१६]

(च) पशून् त्रायेथाम्।[१७]

इन सब मन्त्रांशों का आशय यही है कि पशुओं की (चाहे वे दो पैर वाले हैं या चार पैर वाले) रक्षा करो, उनकी हिंसा न करो। इसके अतिरिक्त प्राचीन ग्रन्थों में 'पशु' शब्द-दधि, मधु, घृत और धान आदि के पर्याय के रूप में भी दृष्टिगोचर होता है।[१८] इसी भाँति यदि हम पुरातन साहित्य व शास्त्रों का अध्ययन करते हैं तो भी ज्ञात होता है कि 'पशु' शब्द केवल गो आदि प्राणियों का ही वाचक नहीं अपितु दैवी प्रजा, पुरुष व यजमान आदि का भी वाचक है; तद्यथा-

(क) एता वै दैवी विशो यत् पशवः।[१९] (ख)त्रयो वै पशूनां हस्तादाना पुरुषो हस्ती मर्कटः।[२०] (ग)

अश्वमेधपर्व, अध्याय ८५, श्लोक ३२, ३३, ३५

१२. द्रष्टव्य-(क) पारस्कर गृह्यसूत्र-१.८.८. (ख) मीमांसा दर्शन-२.३.१७ की सुबोधिनी टीका (ग) शतपथ ब्राह्मण-१.४ की आख्यायिका

१३. यजुर्वेद १.१

१४. यजुर्वेद १४.८

१५. वही १३.४३

१६. वही १३.४७

१७. वही ६.११

१८. (क) दधि मधु घृतम् आपो धाना भवन्ति एतद् वै पशूनाम् रूपम्। तैत्तिरीय संहिता २.३.२.८. (ख) पशवो वै धानाः गोपथ, उत्तरार्चिक, प्रपाठक ४.६

१९. मैत्रायणी संहिता ३.९.६

दैवी वा एता विशो यत् पशवः।[२१] (घ) पशु वै पुरुषः।[२२] (च) यजमानो वै पशु।[२३] (छ) प्रजा वै पशवः।[२४] (ज) यजमानो व एष निदानेन यत पशवः।[२५] पशु पद के विवेचनोपरान्त अब हवि शब्द पर भी किंचित् प्रकाश डालना उचित होगा।

हविः-

हविः का अर्थ है प्रत्यक्षतया क्रियमाण दर्शपूर्णमासादि यज्ञों में हविर्भाक् देवताओं और मनुष्य आदि देवताओं को उद्दिष्ट करके अग्नि में जो पुरोडाशादि द्रव्यों को भेंट किया जाता है, वह हवि कहलाता है। देवता के विषय में निरुक्तकार यास्क का कथन है कि '**महाभाग्याद् देवताया एक एवात्मा बहुधा स्तूयते**' और शतपथकार भी कहते हैं कि **परोक्षं वै देवाः, परोक्ष यज्ञः**'।[२६] यदि पशुहवि को लें तो शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि, '**सर्वेषां वै देवानां हविः पशुः**'[२७] अर्थात् समग्र देवताओं की हवि पशु है। इसी भाँति ऐतरेय ब्राह्मण में भी उल्लेख आया कि '**हविर्हि पशुः**'।[२८] अब प्रश्न यह है कि देवों को दी जाने वाली पशुहविः का स्वरूप क्या हो सकता है?

शतपथादि ब्राह्मणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रत्यक्षतया दीयमान पुरोडाश, पशु और सोम आदि हवियाँ किन्हीं विशेष अर्थों की प्रतीक हैं। जैसे कि शतपथ ब्राह्मण में-

(क) जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्।[२९]

(ख) हविरेव भवति य एवमेतद् वेद।[३०]

(ग) हविः वा एष देवानां भवति यो दीक्षते।[३१]

काण्व संहिता में हवि के विषय में निम्न सामग्री प्राप्त होती है-

(क) यजमानो हवि। हविर्भूतमेव यजमानमपनुदते।[३२] (ख)आत्मा हविः।[३३] (ग) हविर्वै दीक्षितः।[३४]

तैत्तिरीय संहिता भी हवि के सम्बन्ध में कुछ ऐसा ही दर्शाती है-

(क) मनो हविः।[३५] (ख) प्राणो हविः।[३६]

---

२०. काण्व संहिता ५७.८
२१. वही २६.७
२२. वही ३०.९
२३. तैत्तिरीय संहिता ६.५.५.१
२४. वही २.६.४.३
२५. ऐतरेय ब्राह्मण २.११
२६ श०ब्रा०३.१.३.२५
२७. शतपथ ११.५.४.२७
२८. ऐतरेय ब्राह्मण ३.९.६ः
२९. शतपथ ब्राह्मण १.२.१.२०
३०. वही १.२.३.७
३१. वही ३.६.३.१९
३२. काण्व संहिता ४.३
३३. वही ८.५
३४. वही ५.७

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि देवों के तर्पण व प्रीणन हेतु जो हवि अर्पण की जाती है वह देवों के समान प्राणवान् एवं अमृत होती है और शतपथ ब्राह्मण (३.६.३.१९) का यह उपर्युक्त वचन कि '**हविः वा एष देवानां भवति यो दीक्षते**' अर्थात् जो दीक्षा लेता है वह देवों की हवि बन जाता है-सिद्ध करता है कि देवों की वास्तविक हवि दीक्षित व्यक्ति है और सोम व पशु आदि हवियाँ उसी की प्रतीकभूत हैं। इस प्रकार यह अर्थ ग्रहण कर लेने पर उपरिलिखित काण्व संहिता के-यजमान ही हवि है, आत्मा हवि है और प्राण हवि है प्रभृति वचन सार्थक हो जाते हैं। मन को हवि कहने का भी यही रहस्य है। अतः स्पष्ट है कि दर्शपूर्णमासादि यज्ञों में जो हवियाँ दी जाती हैं वे जीवित मन, प्राण व दीक्षित आत्मा की अभिव्यंजक हैं।

अब देखना यह है कि पशुहवि जिसे पशुहिंसा भी कहा जाता है, का वास्तविक स्वरूप अथवा परोक्षार्थ क्या है! उपर्युक्त 'पशु' शब्द के विविध अर्थों (जो कि पशु शीर्षकान्तर्गत दर्शाए गए हैं) के अतिरिक्त अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में 'पशु' शब्द शिशु (बालक) के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है जो कि उक्त संदर्भ (कि देवों की वास्तविक हवि दीक्षित व्यक्ति है) में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रपाठ इस प्रकार है-

वितिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।[३७]

अर्थात् इस माता की गोद से नाना स्वभाव वाले, प्रसिद्ध होते हुए (पशवः) दृष्टि वाले विज्ञान लोग विविध प्रकार उपस्थित हों। बडे मंगल वाली तू इस अग्नि (व्यापक परमेश्वर व भौतिक अग्नि) की सेवा कर और पति सहित तू यहाँ (गृहाश्रम में) विज्ञानों के लिए शोभायमान हो।

एक पाश्चात्य विद्वान्, विलियम डी. ह्विटनी, ने स्वकीय अथर्ववेद के अनुवाद में उस सूक्त का नाम विवाहोत्सव (Marriage Ceremony) दिया है। अनुवाद इस प्रकार है-

"Let there come forth from the lap of this mother, animals (Pashu) various forms, being born, as one of excellent omen sit thou by this fire. With the husband be thou serviceable to the gods here." अनुवाद के अन्त में यह टिप्पणी की गई है कि-In Kanc 78.9 of this verse accompanies the removal of the boy again from the bride's lap.[३८]

निःसन्देह यहाँ यह कहा जा सकता है कि वैदिक वाङ्मय में 'पशु' पद बालक अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है।

इस समग्र विवेचन से स्पष्ट होता है कि देववाणी संस्कृत का प्रत्येक शब्द एकाधिक अर्थों का प्रकाशक है; परन्तु एक शब्द के सभी अर्थतत्त्वों का प्रकाश करना सम्भव व सहज नहीं है। शब्द-शास्त्र के महान् आचार्य पंतञ्जलि ऋषि ने भी '**समर्थः पदविधिः**' सूत्र पर महाभाष्य (२.१.१) में सघोष कहा है कि '**असम्भवं खल्वपि अर्थादेशनस्य को हि नाम समर्थो धातुप्रत्ययप्रातिंपदिकानामर्थानादेष्टुम्**' अर्थात् शब्दों के सब अर्थों का निर्देश करना असम्भव है। बड़े से बड़ा पण्डित भी धातु, प्रत्यय और प्रातिपदकों के अर्थों का साकल्येन निर्देश नहीं कर सकता। पुनरपि व्याख्याकार यथासम्भव शब्दों के अर्थों का निर्देश करने का यत्न

३५. तैत्तिरीय संहिता २.१.५.९

३६. वही २.१.७.२

३७. अथर्ववेद १४.२.२५

३८. (Harvard oriental series, Lanman, Vol. 8. Atharvavede. Part II William Dwight Whitney, Page 758, Motilal Banarsidas, Bunglow Road, Jawahar Nagar, Delhi- 7, 1971)

करता है। इसी मार्ग का अवलम्बन कर 'पशु' शब्द का अर्थ **'निर्विकल्पप्रेक्षणशक्तिमद् विशिष्टज्ञानशून्यः'** किया जा सकता है अर्थात् नाम गुणादि विशेषण से रहित दर्शन-शक्ति-युक्त प्राणी को पशु की संज्ञा दी जा सकती है। यह विशिष्ट ज्ञान-शून्यता की स्थिति गो आदि पशुओं में यावज्जीवन बनी रहती है, अतः उनके लिए यह शब्द रूढ़ हो गया। यह पशुत्व की स्थिति किन्हीं विषयों में पुरुष अर्थात् मनुष्य की भी होती है; और बालक तो प्रायः सभी विषयों में ज्ञान-शून्य ही होता है, अतः वैदिक वाङ्मय में 'पशु' शब्द ज्ञानार्थी बालक या शिशु के लिए भी प्रयुक्त किया गया है।

अतः पशुहवि अथवा पशुहिंसा का गुह्य अर्थ है-ज्ञानलिप्सु वह बालक जिसे आचार्य के ज्ञान-यज्ञ के लिए आहूत किया जाता है। (यहाँ पशुहिंसा शब्द पशुमेध शब्द के समान है और मेध शब्द उपर्युक्त मेधृ धातु के तीन अर्थों **'मेधासंगमनयोर्हिंसा'** में से प्रथम अर्थ---शुद्ध बुद्धि को बढ़ाना-का द्योतक है) इससे स्पष्ट होता है कि 'पशु' शब्द का अर्थ-आचार्य कुल में ज्ञानार्जन करने वाली दैवी प्रजा[३९] है तथा देवताओं की यही हवि अथवा आहुति है और यही वैदिक यज्ञों की सच्ची पशुहविः या पशुमेध है। कुछ लोगों ने अज्ञानतावश या पूर्वाग्रह से पशुहवि, पशुहिंसा, पशुमेध के इस वास्तविक स्वरूप को न समझकर अर्थ का अनर्थ कर दिया। वेदमन्त्रों के इन्हीं अव्यावहारिक और अनुचित अर्थों को देखकर महाभारतकार महर्षि व्यास को कहना पड़ा कि, **'धूर्तैः प्रवर्तितं चक्रं नैतद् वेदेषु विद्यते।'**[४०] अर्थात् यह कुचक्र धूर्त्त व लोभी मनुष्यों द्वारा चलाया गया है, वेदों में इनका कोई विधान नहीं है। उधर शतपथकार ऋषि याज्ञवल्क्य भी स्पष्ट शब्दों में कहते हैं-'अर्थात् प्राण ही पशु है। जब तक वह प्राणवान् है तब तक पशु है। जब इसके प्राण निकल जाते हैं तब यह काष्ठ के समान निश्चेष्ट होकर निरर्थक हो जाता है।'[४१] अतः निष्प्राण पशु के अंगों की आहुति देना क्या अनर्थ हेतु नहीं होगा? देव स्वयं प्राणवान् हैं अतः उनकी हवि भी सजीव होनी चाहिये न कि निर्जीव। वास्तविकता तो यह है कि ज्ञानार्थी बालक के हृदय आदि अंग आचार्य के प्रति ज्ञानाग्नि के लिए आहूत करने का विधान शतपथकार ने किया था, परन्तु कुछ लोगों ने इस अभिप्राय को पूर्वाग्रहवश अन्यथा समझा।

शतपथकार ने अन्यत्र भी स्वयं एक प्रश्न उठाकर कि-स्वर्ग कहाँ है? उसका उत्तर देते हुए कहा है-**'यत्र वै पशून् संज्ञपयन्ति स स्वर्गः'** अर्थात् जहाँ अबोधों को ज्ञान या बोध कराया जाता है वह ज्ञान-यज्ञ का स्थान ही स्वर्ग है। इस यज्ञ से यहीं पर स्वर्ग मिलता है। जहाँ-जहाँ लोगों की संकल्प-अग्नि प्रबुद्ध हुई और ज्ञान का प्रकाश प्रारम्भ हुआ, वहाँ-वहाँ ईर्ष्या, द्वेष आदि सब समाप्त हुआ। जब मनुष्य के हृदय में अहिंसा, परोपकार व क्षमा की भावना की ज्योति जल उठेगी तो सांसारिक दुःख उसमें भस्मीभूत क्यों न होंगे। ऐसी परिस्थिति हो जाने पर मनुष्य इस संसार में रहता हुआ भी स्वर्ग में रहता है और ज्ञान का प्रकाश उसे सुपथ का बोध कराता है। अतः शतपथकार की दृष्टि में वह ज्ञानशून्य बालक जिसे आचार्य के ज्ञानयज्ञ के लिए आहूत किया जाता है, यही वैदिक यज्ञों में पशुहवि का यथार्थ स्वरूप है।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

---

३९. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः (अथर्ववेद ११.५.३) के अनुसार आचार्य जब ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करता है तब वह मानो उसे अपने गर्भ में रखता है, अतः वह दैवी प्रजा हुई।

४०. महाभारत, शान्तिपर्व-२६५

४१. शतपथ ब्राह्मण-३.७.८.१९

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०५०-६०) ISSN 0974 – 8830

अथर्ववेदीय मन्त्र-विनियोगों का सम्भावित मनोवैज्ञानिक अभिप्रेतार्थ

डॉ. जितेन्द्र कुमार[1]

वेदों में अन्यतम अथर्ववेद एक भूयसी विशिष्टता से संवलित है, ऋग्वेदादि तीनों वेद आमुष्मिक फल देने वाले हैं अर्थात् इन वेदों में उपदिष्ट मन्त्रों के द्वारा स्वर्ग लोक की प्राप्ति आदि परलोक-सम्बन्धी विषयों का प्रतिपादन किया गया है किन्तु अथर्ववेद ऐहिक फल देने वाला है। इस जीवन को सुखमय तथा दुःखरहित बनाने के लिये नाना प्रकार के साधनों का विधान अथर्ववेद में किया गया है।

उपर्युक्त की सम्पुष्टि हेतु अथर्ववेद पर सर्वप्रथम उपलब्ध भाष्यकार आचार्य सायण अथर्ववेद का महत्त्व उपोद्घात में प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं कि-'अन्य तीन वेद स्वर्ग प्राप्ति आदि पारलौकिक फलों को देने वाले हैं, परन्तु अथर्ववेद लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का प्रतिफल देने वाला है।[2] अतः अथर्ववेद में लौकिक सुख, शान्ति, अभ्युदय, कष्टनिवारण, रोगनाशन, अभिचारवारण, शत्रुक्षय आदि के लिए विविध अनुष्ठानों का वर्णन प्राप्त होता है।

आचार्य सायण ने अथर्ववेद पर भाष्य करते हुए याज्ञिक क्रियाओं का प्रचुर मात्रा में प्रयोग कर उक्त तथ्य को अधिक प्रमाणित किया है एवं भाष्य प्रक्रियाओं के अन्तर्गत अधियज्ञ परक व्याख्या कर अभ्युदय की प्राप्ति में विघ्नों के परिहारार्थ एवं अभीष्ट सिद्धि के लिए अनेक अनुष्ठानों के साथ ही अभिचार, कर्म, जादू, टोना, मारण, उच्चाटन, शकुन, अपशकुन आदि का प्रभूत मात्रा में दिग्दर्शन कराया है जिससे अथर्ववेद के सम्बन्ध में विद्वद्वृन्द तथा जन-साधारण में यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि **अथर्ववेद जादू टोने का वेद है।** जादू-टोने के प्रति व्यक्ति की धारणा न केवल स्त्रियों, बच्चों, अशिक्षितों, शूद्रों आदि में अपितु राजाओं, विद्वानों, वृद्धों एवं समाज के प्रत्येक वर्ग में उत्सुकता, कौतुकता, विस्मयता और आश्चर्यजनक रूप से जिज्ञासा रहती आयी है। वर्तमान समाज भी हमसे अछूता नहीं रह गया है। जादू शब्द में ही ऐसा चमत्कार है कि **इसके प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। जो कठिन से कठिन कार्य को सहजता, सरलता और सरसता एवं दक्षता से प्रदर्शित करे वह जादू ही है।**

जादू शब्द का प्रयोगजन्य व्यावहारिक अर्थ भी इसी ओर इङ्गित करता है। **जो कार्य या रोग अविश्वसनीय रूप में व्यक्ति को अथवा समाज को असम्भव के समान दिखायी दे और उसको कोई भाग्यशाली यशस्वी, कार्यकुशल पुरुष अथवा चिकित्सक अपने बुद्धिचातुर्य से या हस्तकौशल से सम्पादित कर देता है तो उसके हाथ में जादू है यह कहा जाता है।** इसी बात को ध्यान में रखकर यह लोकोक्ति भी प्रसिद्ध हुई है-'जादू वही जो सिर चढ़कर बोले'। अथर्ववेद में अनेक ऐसे विनियोग एवं औषधियों, वनस्पतियों, मणियों, क्रियाकलापों के द्वारा प्रयोग वर्णित हैं जो जादू-टोने के समान अपरिमित प्रभावयुक्त बताये गये हैं।

'वेदाः हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' वचन के आधार पर यह स्पष्ट और विशद रूप से प्रमाणित है कि

---

१. अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, दयानन्द महाविद्यालय, अजमेर

२ व्याख्याय वेदत्रितयम् आमुष्मिकफलप्रदम्। ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति।। अथर्वभाष्य-उपोद्घात (श्लोक-१०) आचार्य सायण

वेदमन्त्रों का उपयोग कर्म में प्रवृत्ति बनाने तथा बनाये रखने के लिये ही है। कोई भी सिद्धान्त सर्वप्रथम बुद्धि या मन में आता है फिर उसका परिपाक होकर वाणी से प्रकट होता है। परन्तु जब व्यवहार अथवा उपयोग में सटीक बैठता है तब वह सिद्ध प्रयोग की श्रेणी में प्रतिष्ठित होता है। जिसको सरलभाषा में मन, वचन और कर्म के रूप में कहते हैं। संक्षेप में सज्जन व्यक्ति की पहचान कथनी-करनी एक होनी चाहिए इस रूप में दी गयी हैं। **'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्त् दुरात्मनाम्।'** संस्कृत की प्रसिद्ध उक्ति का अभिप्राय भी यही है और इसके विपरीत को दुरात्मा भी कहा गया है।

विनियोगों में अनेक कर्म निर्दिष्ट हैं जो यज्ञों में मन्त्रोच्चारण पूर्वक किये जाते हैं। जिनका आचार्यों, ऋषियों, मुनियों ने स्थान-स्थान पर विनियोग किया है। वे अनेकत्र भाष्यों और यज्ञ-पद्धतियों में विनिर्दिष्ट हैं। अथर्ववेद पर पी-एच. डी. हेतु शोध-अध्ययन के अवसर पर **आचार्य सायण द्वारा एकमात्र प्राचीन एवं संस्कृत में भाष्य सुलभ होने के कारण** वे विनियोग ही देखने में आये हैं। उस समय आचार्य द्वारा निर्दिष्ट अनेक विनियोग व्यावहारिक, प्रामाणिक, शास्त्रीय, समाजोपयोगी होने में सन्देह उत्पन्न करते थे परन्तु समाज के बहुत सारे वर्ग को उससे प्रभावित तथा ठीक-ठीक न समझ पाने के कारण अथवा उनके शुद्ध रूप में प्रचलित न हो पाने से वह विकारग्रस्त हुए प्रतीत होने लगे। थोड़ा ध्यान से देखने पर तथा उनमें आये अपभ्रंशों, विकारों एवं दोषों का परिहार करने और परिष्कार के भाव से देखने पर वे कुछ-कुछ अपना स्वरूप प्रकट करने लगते हैं। मैं आप सबका ध्यान इसी ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ।

संसार में अधिसंख्य समुदाय रोग, शोक, भय, व्याधि, क्लेश, भौतिक अभावों और मानसिक पीड़ाओं से ग्रस्त है। मनुष्य का मूलभूत स्वभाव है कि वह सरलता एवं शीघ्रता से उन अभावों, पीड़ाओं, रोग, शोक, भय, व्याधि और क्लेश से मुक्त होने के लिए छटपटाता रहता है। अनेक बार उनके कारणों को प्रथम तो जानना ही नहीं चाहता और कदाचित् जानने की चेष्टा करता हुआ भी वह अपने मन को तुरन्त समझा नहीं पाता है। अतः बिना किसी प्रकार का कष्ट उठाये सुविधा और शीघ्रता की आशा में ज्योतिषियों, तान्त्रिकों, यान्त्रिकों, झाड़ा लगाने वालों, फूँक मारने वालों और ऐसे ही अनेक प्रकार की सान्त्वना देने वालों अथवा दुःखी व्यक्तियों को तत्काल राहत देने वालों के चक्कर में आ जाता है। आज भी अनेक गाँवों में, आदिवासी क्षेत्रों में, पहाड़ों में, जंगलों में तथा नगर में रहने वाले अनेक प्रकार के लोगों एवं स्त्रियों में, जहाँ शिक्षा का, धन का, सुविधाओं का, चिकित्सालयों का, आवागमन के साधनों का अभाव देखा जाता है वहाँ पर चिकित्सा के नाम पर झाड़, फूँक आदि के उपचार तथा जैसी जिस समाज में प्राकृतिक जानकारी है उसके अनुसार अपने रोगों को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। **उनमें से कुछ तो काल की गति के प्रभाव से, कुछ साधारण प्राकृतिक उपचार से और कुछ मानसिक भावना एवं विश्वास से ठीक हो जाते हैं तथा जिनका रोग ठीक नहीं भी होता वे यह मानकर सन्तोष कर लेते हैं कि ईश्वर की यही इच्छा है।** इस कारण **उनका विश्वास झाड़, फूँक करने वालों से विमुख नहीं होता।** यह स्थिति डॉक्टरों तथा चिकित्सालयों में उपचार के पश्चात् भी अनेक बार होती दिखायी देती है। किन्तु इससे यह अभिप्राय निकालना कि मैं डॉक्टरों और चिकित्सालयों में जाने की आवश्यकता पर सहमत नहीं हूँ ऐसा नहीं है। अपितु इसका अर्थ इतना ही है कि वे उस स्थिति एवं परिस्थिति को ऐसा ही समझते हैं। अतः अन्तर नहीं कर पाते हैं। उनका विश्वास टूटता नहीं है। उनकी धारणाओं, अवधारणाओं पर विराम नहीं लगता है, अनेक बार तो अच्छे डॉक्टरों और चिकित्सालयों में उपचार कराते-कराते थक जाने पर **इस आशा एवं विश्वास से झाड़, फूँक करने वालों तथा भभूत देने वालों के पास जाते हैं कि क्या पता इससे ही ठीक हो जाये और जाने में हानि कुछ भी**

नहीं है। हमारा मरीज तो वैसा का वैसा ही है। शायद कुछ न कुछ करने पर अन्तर आ जाय और बहुधा संयोगवश अथवा उस व्यक्ति के भाग्य में यश लिखा होने के कारण या काल की अपनी गति से वह रोगी ठीक हो जाता है तब वह चमत्कार के समान, जादू के सदृश समाज में अपनी मनोभावना को, अपने विश्वास को और अधिक दृढ़ता के साथ व्यक्त करता दिखायी देता है। तथा जिन लोगों को वहाँ जाने से भी राहत नहीं मिलती तब वे ईश्वर पर छोड़कर उस झाड़-फूँक करने वालों को दोष नहीं देते अपितु उसने तो अपना प्रयत्न किया परन्तु हमारे भाग्य में यह दुःख लिखा है तब तक तो भोगना ही पड़ेगा। ऐसा विचार करके अपने विश्वास को बनाये ही रखते हैं। **झाड़, फूँक करने वालों, ज्योतिषियों, मान्त्रिकों, तान्त्रिकों और यान्त्रिकों की भी यह मानसिकता रहती है कि यदि वर्षों में हमारे पास रोग, शोक से पीड़ित दस हजार लोग भी आये और उसमें से ५० प्रतिशत भी किन्हीं कारणों से ठीक हो गये तो उसका श्रेय एवं यश हमें ही प्राप्त होगा तथा प्रतिष्ठा भी बढ़ेगी। शेष ५० प्रतिशत में से थोड़ा भी लाभ पहुँचा हो ऐसे २० प्रतिशत अपने रोग व शोक की तीव्रता से राहत की आषा में शान्त बैठेगें। अब बचे ३० प्रतिशत लोग अन्य ५० प्रतिशत को देखकर यह विचार करते हैं कि वे तो ठीक हो गये इसलिये बाबा तो चमत्कारी है ऐसा सोच कर शान्त हो जाते हैं। यह मानसिकता झाड़, फूँक करने वालों का बाजार गर्म किये रहती है तथा लोगों का विश्वास, आस्था एवं निष्ठा को टूटने से रोके रखती है।** व्यवहार में भी यह अनेक बार देखने में आता है कि जो चिकित्सक, डॉक्टर, उपदेष्टा, अध्यापक, अभियन्ता, विद्वान् किसी भी प्रकार का कार्य करने वाला व्यक्ति अपने-अपने कर्म क्षेत्र में यश, पद, पैसा, प्रतिष्ठा लिखाकर लाया है वह अल्प परिश्रम से अथवा बिना असाधारण पुरुषार्थ के तथा अन्य अपने व्यवसाय के लोगों की तुलना में अल्प जानकर होने पर भी वह अपने कार्य में अधिक सफलता, पद, पैसा और प्रतिष्ठा, सुख, सुविधा, साधनों का भोग करता दिखाई देता है। इस संसार में वह भाग्यशाली कहलाता है। इसी बात को अथर्ववेद का एक मन्त्र निम्न रूप में अभिव्यक्त करता है।

चिकित्सक रोगी को मनोवैज्ञानिक उपाय से सान्त्वना और आश्वासन देता हुआ कहता है कि-'**मेरा यह हाथ अभिमर्शन साधनयुक्त भाग्यवान् हाथ है और यह दूसरा हाथ इससे भी अधिक अतिशयित भाग्यशाली है। यह हाथ सुखकर स्पर्शवाला हो।**'[3]

ऐसे चिकित्सक देखे जाते हैं जो रोगी के रोग को ठीक से समझते हैं, दवा भी देते हैं और पढ़े लिखे भी अधिक हैं परन्तु उनके भाग्य में धन, यश, सुख, सुविधा वैसी नहीं लिखी जैसी अन्य चालू चलताऊ चिकित्सकों के भाग्य में लिखी होती है। इससे यह अर्थ कदापि निकालने की भूल नहीं करनी चाहिये कि मैं भाग्यवादी हूँ और पढ़ने-लिखने अथवा सही जानकारी प्राप्त करने का विरोधी हूँ अपितु इससे यह अर्थ अभिप्रेत है कि **सम्पूर्ण उत्तम प्रयत्न करने के पश्चात् भी पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिये जिससे पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य का निर्माण किया जा सके** इस जन्म में सम्भव न हो तो अगले जन्म के लिए आवश्यक है। इन कारणों से तथा जीवन में साक्षात् अनुभव किये जाते हुए व्यवहारों से जनसाधारण लोगों एवं विद्वानों में यह विश्वास कम नहीं होता अपितु कष्ट में, पीड़ा में, वेदना के अवसर पर और अधिक तीव्र हो जाता है।

उक्त विश्वास का कारण भी जब मुझे अथर्ववेद के एक मन्त्र का आश्रय लेकर यह कहने का अवसर प्राप्त हो रहा है कि **मन में सद्भाव, वाणी में पवित्र वेदमन्त्र का उच्चार और क्रिया में तदनुरूप**

---

३ अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजो यं शिवाभिमर्शनः। अथर्व (४.१३.६)

व्यवहार व्यक्ति के रोग एवं शोक को दूर करने में सहायक होता है। परवर्त्ती काल में इस मानसिक, भावात्मक, संकल्पात्मक विचार को व्यावहारिक बनाने के उद्देश्य से सार्थक, सटीक, सहज, सरल और सरस कल्पना को आधार बनाया गया हो यह बहुत सम्भव है। परिणामस्वरूप मन को, भावनाओं को, अमूर्त संकल्प को, व्यक्त करने के लिए सुकमार, कोमल मोर के पंखों को, झाड़ा लगाने के लिये उपयुक्त समझकर ही इनका प्रयोग किया जाता है। फूँक का अर्थ मन्त्र फूँकना करना अभीष्ट है। अभिमन्त्रित झाड़े के द्वारा मन्त्रोच्चारण पूर्वक मन में शुभकामना लिये कोई साधु, सन्त, महात्मा व्यक्ति ने लोगों के रोग, शोक, भूत, प्रेत आदि के हौआ तथा मानसिक भ्रम एवं भय को, व्याधि को दूर करने का क्रियात्मक प्रयोग करके दूर करने की चेष्टा से आरम्भ किया हो इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। परन्तु इसमें अनेक प्रकार की जो विसंगतियां, अपभ्रंश, विकार और दोष काल के प्रभाव से आ गये हैं उनका कभी भी अनुमोदन या समर्थन नहीं किया सकता। जब हम किसी को बुलाते हैं तब हाथ और अगुँलियों के संकेत को **'आओ'** यह पद बोलकर इंगित भी करते हैं और **'जाओ, परे हटो, दूर हो जाओ'** आदि कहते हैं तो हाथ के इशारे से भी वैसा ही करते हैं। इसी को वेद[४] की भाषा में **'आ सुव'** अर्थात् भद्र तुम आओ और **'परा सुव'** परे हट, दूर जा, जाओ इत्यादि कहकर हाथ से भी वैसा ही संकेत करने में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिये। हमारे अन्दर व्याप्त बुराई, पाप-भाव, दुःख, दुर्व्यसन आदि दूर हो जायें। **इसी भावना और कामना से ओत-प्रोत होकर या रच-बस कर ही झाड़-फूँक का उदय हुआ है।**

अथर्ववेद का एक मन्त्र स्पष्ट रूप से साक्षात् यह निर्देश और आदेश मन को, चित्त को, हृदय को, मस्तिष्क को देता है कि-**'हे मेरे मन के पाप तू दूर हो जा क्यों अप्रशंसनीय की प्रशंसा करता है। तू परे हट, मैं तुझे नहीं चाहता हूँ। तू वृक्षों में जा, वनों में विचरण कर। मेरा मन तो घर के कार्यों और पालतू गौ आदि पशुओं में लगा हुआ है।'**[५]

यह ध्यातव्य है कि मन में भय और भ्रम दोनों गहराई तक बैठे हुए हैं। साधारण जन इस भय और भ्रम को दूर करने के लिए इधर-उधर भटकता रहता है। अनेक बार जानकारी के अभाव में, धन के अभाव में, साधनों के अभाव में जो सुलभ होता है उसको ही सही मानकर विश्वासपूर्वक उक्त मन्त्रगत मनोभाव को झाड़-फूँक के द्वारा दूर करने का भी यत्न करता है। यह क्रिया न केवल मनोगत दुर्भावों को अपितु शारीरिक रोगों को भी दूर करने में सहायक हो सकती है। इसको सूक्ष्मता से ही ग्रहण किया जाना चाहिये।

रोगों को पाप का परिणाम भी कहा गया है। पूर्वजन्म में किये गये पाप, व्याधि (रोग) के रूप में जन्म लेते हैं, उनका निवारण शान्ति, औषधि, दान, जप, होम पूजादि के द्वारा किया जाता है। बहुत दोषयुक्त पाप से उत्पन्न रोगों को दूर करके श्रेष्ठ कार्यों को करें।[६] ऐसा निर्देश प्राप्त होता है।

आचार्य सायण द्वारा निर्दिष्ट कर्म आथर्वण मन्त्रों पर आधृत हैं अथवा अन्य ग्रन्थों पर? इसका उत्तर देते हुए अथर्ववेद के आरम्भ में ही आचार्य की प्रतिज्ञा है कि 'पूर्वोक्त कर्मों में ही विनियोगं दिखाकर मैं

---

४ विश्वानि देव सवितार्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ यजुर्वेद (३०.३)

५ परोऽपेहि मनस्पापं किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वां कामये वृक्षाँ वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः। अथर्व० (६.४५.१)

६ अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम्। अथर्व० (१९.८.५) (क) जन्मान्तरकृतं पापं व्याधिरूपेण जायते। तच्छान्तिरौषधैर्दानैर्जपहोमार्चनादिभिः॥ अत्रापि दुर्निमित्तदोषपरिहार. आशास्यते। पापं पापवहम् अहितनिमित्तं परिक्षवं कष्टप्रदेशे क्षुतम् अप। अपगमेयम्। न केवलं अहितनिवारणं किन्तु क्षवं दुर्निमित्तरूपं क्षतु पुण्यं श्रेयस्करं भक्षीमहि लप्सीमहि। (१९.८.५)

अथर्ववेद की शौनकीय संहिता का अर्थ प्रकाशित करूँगा।'[७] पूर्वोक्त कर्मों के विनियोगों में आचार्य सायण ने जिन ग्रन्थों का आश्रय ग्रहण किया है उन ग्रन्थों का अथर्ववेद भाष्य-भूमिका में अथर्ववेद को ऐहिक आमुष्मिक फल के साधनों की सिद्धि एवं नव शाखाएं तथा गोपथ-ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थों का नामोल्लेख पूर्वक उपवर्षाचार्य के द्वारा प्रोक्त कल्पसूत्राधिकरण का प्रमाण भी उद्धृत कर प्रस्तुत किया है।

'उस ऐहिकामुष्मिक सम्पूर्ण पुरुषार्थ के परिज्ञानोपकरणभूत अथर्ववेद के नौ भेद हैं। यथा-पैप्पलाद, तौद, मौद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्ष तथा चारणवैद्य। शौनक आदि चार शाखाओं में अनुवाक सूक्त, ऋगादि का गोपथ ब्राह्मण के अनुसार पाँच सूत्रों द्वारा विनियोग किये हैं। वे पाँच सूत्र निम्न प्रकार हैं। १. कौशिक, २.वैतान, ३.नक्षत्रकल्प, आगिंरसकल्प, ५.शान्तिकल्प।[८]

उक्त पञ्चसूत्रों का आचार्य सायण ने अपने भाष्य में पदे पदे प्रयोग किया है। यहाँ पर ऐसे कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं-अथर्ववेद प्रथम काण्ड सूक्त सत्रहवाँ निम्न प्रकार से है।

इस सूक्त से शस्त्र प्रहार से उत्पन्न रक्तप्रवाह और स्त्री-रज के अतिवर्तन की निवृत्ति हेतु पाँच पर्वों वाले दण्ड से रुधिरवहन स्थान का अभिमन्त्रण, व्रण-मुख पर गली की धूल, रेत आदि का प्रक्षेपण तथा अर्म कपालिका शुष्क गीली मिट्टी अथवा खेत की मिट्टी का बन्धन इत्यादि कर्म करे।[९] इसमें आचार्य सायण कौशिक सूत्र का प्रमाण उद्धृत करते हैं।[१०] मन्त्र और मन्त्रार्थ इस प्रकार है।

'स्त्रियों से सम्बन्धित सामने दिखायी देने वाले लाल रंग के वस्त्र अथवा रुधिर की निवासभूत रज का वहन करने वाली जो नाड़ियां व्याधि के कारण सर्वदा प्रवहमान हैं **वे नाड़ियां क्रियमाण इस** भैषज्य कर्म **से क्षीण तेज वाली प्रनष्ट रोग वाली होवें अर्थात्** उनका बहना बन्द हो जाये। जैसे-बिना भाई की बहनें जिस कुल में जन्म लेती हैं उसी कुल में सन्तानोत्पत्ति हेतु तथा पिण्डदान के लिए रहती हैं।[११]

'इस सूक्त के अगले तीन मन्त्रों का संक्षेप में आशय यह है कि-सम्पूर्ण शरीरस्थ नाड़ियाँ अपने-

---

७ शाखायाः शौनकीयायाः पूर्वोक्तश्चैव कर्मसु। विनियोगाभिधानेन संहितार्थः प्रकाश्यते।। अथर्व. भाष्यारम्भ (सायण)

८ तस्य ऐहिकामुष्मिकसकलपुरुषार्थपरिज्ञानोपायभूतस्य अथर्ववेदस्य नव भेदाः भवन्ति। तद्यथा-पैप्पलादास्तौदामौदाः शौनकीय जाजला जलदा ब्रह्मवदा देवदर्षाश्चारणवैद्याश्चेति। तत्र शौनकीयादिषु चतसृषु शाखासु अनुवाक्सूक्तऋगादीनां गोपथ ब्राह्मण अनुसारेण पंचभिः सूत्रैर्विनियोगोऽभिहितः। तानि च सूत्राणि-कौशिकम् वैतानं नक्षत्रकल्पः आगिंरसकल्पः शान्तिकल्पश्चेति। तदुक्तम् उपवर्षाचार्यैः कल्पसूत्र अधिकरणे-'नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः। तुर्य अंगिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पंचमः। कल्पसूत्राधिकरण-उपवर्षाचार्य, अथर्व. उपोद्घात-सायण

९ तेन शस्त्रघातादिजरुधिरप्रवाहस्य स्त्रीरजसः अतिवर्तनस्य च निवृत्तये पंचपर्वणा दण्डेन रुधिरवहनस्थानाभिमन्त्रणं व्रणमुखे रथ्यापांसुसिकताप्रक्षेपणादिकम् अर्मकपालिका (अर्मकपालिका नाम शुष्कपंकमृत्तिका, केदारमृत्तिका वा) बन्धनं च इत्येवमादि कुर्यात्। अ. भा.-(१.१७.१) सायण

१० अमूर्या इति। पंचपर्वणा पांसुसिकताभिः परिकिरति। अर्मकपालिकां बध्नाति पाययति'। कौ. सू.-(२६.९.१२)

११ अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः। अ. सं.-(१.१७.१) (योषितः) स्त्रियाः सम्बन्धिन्यः (अमूः) एताः पुरतो दृश्यमानाः (लोहितवाससः) लोहितवर्णवस्त्राः। लोहित वर्णा इत्यर्थः। यद्वा लोहितस्य रुधिरस्यनिवासभूताः। ईदृश्यो (या हिराः) सिराः रजो वहननाड्यः (यन्ति) गच्छन्ति। व्याधिवशात् सर्वदा प्रवहन्तीत्यर्थः। ताः सिराः क्रियमाणेन अनेन भैशज्य कर्मणा (हतवर्चसः) हततेजस्का प्रनष्टरोगवीर्याः सत्यः (तिष्ठन्तु) स्थेयासु। मा प्रवाक्षुरित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः (अभ्रातरः) न विद्यन्ते भ्रातरो यासां ता अभ्रातरः (इव) यथा अभ्रातृका (जामयः) भगिन्यः। आह च यास्कः-न जामये भगिन्यै। जामिरन्ये अस्यां जनयन्ति जाम् अपत्यम् (नि. ३.६) ता यत उत्पन्नास्तत्रैव पितृकुले सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय च तिष्ठन्ति। तद्वत् इत्यर्थः। ओ सो (१.१७.१) सा.भा.

अपने स्थान पर रहकर स्वकार्य में रत तथा जो रोगजन्यता के कारण स्वमार्ग से विचलित हो गई हैं वे भैषज्य कर्म द्वारा स्वस्थान पर पूर्ववत् कार्य करने लगें।[१२]

उक्त सूक्त के सन्दर्भ में आचार्य सायण पूर्वोक्त कौशिक सूत्र के विनियोग द्वारा अपने भाष्य को एक सुलभ सामाजिक जनसमुदायोपयोगी अच्छे वैज्ञानिक शरीरशास्त्र से युक्त रक्तस्राव निरोधार्थ अर्थ का निर्देश करके अथर्ववेद को आयुर्वेद से सम्बद्ध बताकर आयुर्वेद एवं प्राकृतिक चिकित्सा (मिट्टी के द्वारा की जाने वाली चिकित्सा) का मूल स्रोत विनिर्दिष्ट करके परवर्ती व्याख्याकारों तथा भाष्यकारों के लिए पिता के तुल्य पथप्रदर्शक का गुरुतर कार्य कर प्रेरणास्रोत हो गये हैं। मन्त्रों में भी रक्तवाहिनी नाड़ियों को स्वस्थ रखने का संकेत दिखायी देता है। आचार्य सायण ने **'क्रियमाणेन भैषज्यकर्मणा'** शब्दों द्वारा **'अच्छे चिकित्सक उत्कृष्ट औषधियों से रक्त प्रवाह को रोकने में समर्थ होते हैं ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया है।**

आजकल अनेक चिकित्सा पद्धतियों में प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति का भी बहुत विस्तार हुआ है। **इसमें अधिकांश रोगियों की चिकित्सा मिट्टी, पानी, भाप, धूप, हवा इत्यादि प्राकृतिक सर्वसुलभ उपायों से की जाती है।** यह अत्यन्त प्रासंगिक एवं समयानुकूल ही है। घरों में वर्तमान में भी जब किसी व्यक्ति के नाक से खून बहने लगता है तब सीधा लिटाकर, सिर, ऊपर की ओर करके, सिर पर पानी गिराते हैं और नाक से मिट्टी को सूंघने के लिए कहते हैं। इस क्रिया के द्वारा नाक से रक्त बहना तुरन्त रुक हो जाता है। यह अत्यन्त अनुभूत प्रयोग है। **अत: आचार्य सायण द्वारा विनिर्दिष्ट प्रयोगों का आधुनिक विधि एवं प्रविधि से परीक्षण अपेक्षित है। इन क्रियाओं को सहसा नकारने की तुलना में अच्छा यह है कि सकारात्मक विचार के साथ जिस प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती के लिखे हुए वाक्यों को प्रामाणिक मानकर सकारात्मक संकेतों को देखने की निरन्तर ऊहा और सायास प्रयास करते रहते हैं ठीक उसी प्रकार यहाँ पर भी प्रयत्न एवं कल्पनाशीलता के साथ सृजनशीलता की आवश्यकता है।**

अथर्ववेद के एक स्थल पर सूक्त २.१-५ में सायण ने निम्न विनियोग किये हैं। कौशिक सूत्रकार ने इसका विनियोग 'मनोवाञ्छित फल सिद्ध होगा या असिद्ध' इसका पता लगाने में किया है। इस सूक्त का अभीष्ट वस्तु की सिद्धि, असिद्धि परिज्ञानार्थ विनियोग है। पाँच पर्वों वाले वेणुदण्ड, काम्पील वृक्ष की शाखा या रथयुग को इस सूक्त के मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके अभीष्ट कार्य को मन से सोचकर, समतल प्रदेश में ऊँचा करके छोड़ दे।

यदि वे वेणु दण्डादि सोची हुई दिशा में गिरें तो कार्यसिद्धि जानें और विपरीत दिशा में गिरे तो असिद्धि। इसी प्रकार बाण को धनुष पर सन्धान करके इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर छोड़ दें निर्दिष्ट लक्ष्य पर गिरने से अर्थसिद्धि जानें। इसी प्रकार पानी से पूर्ण घड़ा अथवा कमण्डल में दूध डालकर प्रार्थना करें। यथासंकल्प न्यून एवं अधिक अर्थ सिद्धि होगी। इसी प्रकार जड़युक्त दर्भसमूह की गणना करें यदि सम संख्या आये तो विचारित कार्य की सिद्धि जानें।

इसी प्रकार इन्धन को अभिमन्त्रित कर अग्नि में डालें दक्षिण दिशा की ज्वाला में अभिमत सिद्धि होगी। इसी प्रकार अक्षों, पाशों को इससे अभिमन्त्रित कर फेंकें इष्ट संख्या आने पर कार्यसिद्धि जानें। ऐसे ही

---

१२ तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे। कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही। ओ सो (१.१७.२) शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्। अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत। वही-(१.१७.३) परि वः सिकतावती धनुर्बृहत्यक्रमीत्। तिष्ठतेलयता सु कम्। वही-(१.१७.४)

दोनों हाथों में दो अँगुलियां इससे अभिमन्त्रित करके विचारे उद्दिष्ट अँगुली के स्पर्श से अभिलषित सिद्धि जाने।

इसी प्रकार इक्कीस (२१) संख्या वाली शर्करा को अभिमन्त्रित करके विभक्त करे। उद्देश्य सम विषम भाव से अर्थ सिद्धि जाने।[१३] इसी प्रकार खोये हुए द्रव्य का पता लगाने तथा विवाह से पूर्व कुमारी के सौभाग्यादि की परीक्षा में भी सूक्त का विनियोग है।

पानी का घड़ा, हल एवं जुए के पासों को नवीन वस्त्र से लपेटकर संपातित तथा अभिमन्त्रित कर जिनका रजोदर्शन प्रारम्भ नहीं हुआ है ऐसी दो कुमारियों को कहे कि इसे ले जाओ। वे जिस दिशा में ले जाएं उसी दिशा में खोया हुआ द्रव्य मिलेगा ऐसा जानें। इसी प्रकार विवाह से पूर्व कुमारी के सौभाग्यादि लक्षणें के ज्ञान के लिए आकृति लोष्ठ (क्षेत्र मृत्तिका) वल्मीक लोष्ठ, चतुष्पथलोष्ठ और मशान-लोष्ठ इन चार प्रकार की मृत्तिकाओं को इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर कुमारी को कहे कि इनमें से किसी एक को उठा लो। यदि वह आकृतिलोष्ठ, वल्मीकलोष्ठ को उठाये तो उसका कल्याण होगा, चतुष्पथ-लोष्ठ को उठाये तो वह बहुचारिणी होगी, मशान-लोष्ठ को उठाये तो उसकी मृत्यु हो जायेगी ऐसा जाने। दूसरी विधि यह भी कर सकते हैं कि कुमारी की अंजलि में जल भरकर इस सूक्त से अभिमन्त्रित कर उसे कहे कि इच्छानुसार किसी दिशा में इसे फेंक दे। यदि वह पूर्व दिशा में फेंके तो समझें कि उसका कल्याण होगा।[१४]

सायण ने कौशिकसूत्र तथा वैतानसूत्र का यहाँ पर प्रमाण भी उद्धृत किया है-'इसमें सूत्र-'वेनस्तत्' पाँच पर्व, कुम्भ, कमण्डल, दर्भसमूह, काम्पील वृक्ष की दो शाखा, इन्धन, अक्ष (पासा) दोनों हाथों में (२१) चीनी के दाने इत्यादि सहित पानी से पूर्ण अंजलि ले, आदि ऐसा कहा है। पूर्व दिशा में फेंकने पर कल्याण होगा।'[१५]

अथर्ववेद काण्ड द्वितीय सूक्त चौथे में कृत्यादूषणार्थ, आत्मरक्षार्थ तथा विघ्न परिहारार्थ जङ्गिड़ मणि के प्रयोग का विधान किया है।

'दीर्घायुत्वाय' इस सूक्त से कृत्यादूषण के लिए, अपनी रक्षा के लिए, विघ्नशमन के लिए जङ्गिड़ नाम वाले वृक्ष की मणि को सन से पिरो, संपात और अभिमन्त्रित करके बाँधे।[१६] 'कौशिक सूत्र में भी कहा है

---

१३ तस्य अभिमतफलसिद्ध्यसिद्धिविज्ञानकर्मसु विनियोगः। तानि च-पंचपर्वयुतवेणुदण्डं काम्पीलवृक्षशाखां युगं वा अभिमन्त्र्य अभिमतकार्यं संचिन्त्य समे देशे ऊर्ध्वं धारयेत्। यदि दण्डादयः चिन्तितदिशि निपतेयुः तदा कार्यसिद्धिं जानीयात् विपर्यये तु असिद्धम्। तद्वदेव इषुं संधाय अनेन सूक्तेन अभिमन्त्र्य विसृजेत्। निर्दिष्टलक्ष्यपतनेन अर्थसिद्धिः। तथैव उदकपूर्णे कुम्भे कमण्डलौ वा दुग्धं प्रक्षिप्य आयाचेत् ऊनेन अधिकेन वा यथासंकल्पम् अर्थसिद्धिः। तथैव दर्भस्तम्बम् अनेन अभिमन्त्र्य कार्यं चिन्तयित्वा गणयेत्। समसंख्यायाम् अभिमतसिद्धिः। एवं इध्मर्माभमन्त्र्य अग्नौ प्रक्षिपेत्। प्रदक्षिणज्वलेन इष्टसिद्धिः। तथैव अक्षान् अनेन अभिमन्त्र्य चिन्तयेत्। उद्दिष्टाङ्गुलिस्पर्शनेन अभिलषितसिद्धिः। तथैव एक विंशतिसंख्याकाः शर्करा अभिमन्त्र्य ततो गृहीत्वा विभजेत्। यथोद्देषं समविषमभावेन अर्थसिद्धिः। अ. सं.-(२.१.१) सा. भा.

१४ तथैव विवाहात् प्राक् कुमार्याः सौभाग्यादिलक्षणविज्ञानकर्मण्यपि आकृतिलोष्टवल्मीकलोष्ट चतुष्पथलोष्टष्मशानलोष्ट-- रूपाश्चतस्रो मृत्तिका अनेनैव सूक्तेन अभिमन्त्र्यं आसाम् अन्यतमां गृहाणेति कुमारीं ब्रूयात्। तत्र आकृतिलोष्टवल्मीकलोष्टयोः स्पर्शने कल्याणं भवति; चतुष्पथलोष्टस्पर्शनेन बहुचारिणी भविष्यति; श्मशानलोष्ठ स्पर्शनेन मरिष्यति इति जानीयात्। तथा, कुमार्या अंजलै उदकम् आपूर्य अभिमन्त्र्य प्रक्षिपेति तां ब्रूयात्। यदि प्राचीं दिशं प्रति निनयेत् तदा कल्याणं प्रतीयात्। अ. सं.- (२.१.१) सा. भा.

१५ अत्र सूत्रम्-'वेनस्तत्' इति पंचपर्वेषुकुम्भकमण्डलुस्तम्बकाम्पीलशाखायुगेध्माक्षेशुपाण्योरेकविंशत्यां शर्करासु इत्यादि उदाकांजलिं निनयेत्याह। प्राचीनम् अपक्षिपन्त्यां कल्याणम् इत्यन्तं द्रष्टव्यम्। कौ. सू.-(३७.३-१२)

१६ 'दीर्घायुत्वाय' इति सूक्तेन कृत्यादूषणार्थम्, आत्मरक्षार्थम्, विघ्नशमनार्थञ्च जङ्गिडाख्यवृक्षविशेषणमणिं शणसूत्रप्रोतं कृत्वा

कि-'दीर्घायुत्वाय' इस मन्त्र में कही हुई मणि को बाँधता है'।[१७]

'दीर्घ जीवनार्थ, महान् प्रशंसनीय कर्मों के लिए तथा हिंसक कर्मों से सदा अपनी रक्षा करते हुए राक्षस पिशाचादिकृत गति प्रतिबन्धक या शरीर सूख जाना जैसी व्याधि रूप में विघ्नों के निवारणार्थ बनारस में प्रसिद्ध जङ्गिड़ नाम के विशेष वृक्ष से निर्मित मणि को हम लोग धारण करें।'[१८]

प्रथम मन्त्र में आचार्य सायण ने जङ्गिड़ मणि का उपयोग किन-किन लोगों एवं रोगों से रक्षा करे इसका वर्णन कर द्वितीय मन्त्र में जङ्गिड़मणि का पराक्रम तथा प्रभाव प्रदर्शित किया है।

'हिंसक कृत्या आदि से और राक्षसों के दाँतों से चबाने तथा शरीर के टुकड़े-टुकड़े होने और राक्षसों के किए हुए रोग से अपरिमित वीर्य वाली (शक्तिशाली) यह जङ्गिड़मणि हमारी सब ओर से रक्षा करे।'[१९]

तृतीय मन्त्र में भी इस मणि की क्षमताओं का वर्णन प्राप्त होता है। यह जङ्गिड़मणि दूसरे के किए हुए राक्षस आदि के उपद्रव के प्रभाव को निष्प्रभ करती है तथा यह मणि भक्षक कृत्या आदि को मारती है। यह मणि हमारे समस्त रोगों की निवारक है और सकल औषधि रूप है, यह जङ्गिड़मणि पाप से हमारी रक्षा करे।[२०]

उपर्युक्त प्रकार से सम्पूर्ण सूक्त का अर्थ किया गया है। संक्षेप से चौथे[२१] पाँचवे[२२] व छठे[२३] मन्त्र में अनेक विशेषणों से युक्त जंगल से जङ्गिड़मणि व कृषि से सन लाकर निर्मित की गयी यह अत्यन्त अमोघवीर्यवती जङ्गिडमणि भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षसादि द्वारा अभिचार से उत्पन्न पीड़ा देने वाली कृत्यासक्ति को दूर करने वाली तथा आयु की वृद्धि करने वाली है। इसी काण्ड के एक अन्य सूक्त में (२.११) **स्त्री, शूद्र, राजा ब्राह्मण, कापालिक, अन्त्यज, शाकिनी आदि के द्वारा किये अभिचार कर्म से (तिलक, मणि**

सम्पात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। वही-(२.४.१)

१७ 'दीर्घायुत्वाय' इति मन्त्रोक्तं बध्नाति। इति। कौ. सू.-(२.४.१)

१८ दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव। मणि विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम्। वही-(२.४.१) (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय दीर्घमायुः अस्माकं यथा स्यात् इत्येवमर्थं (बृहते) महते (रणाय) रमणीयाय प्रशस्याय कर्मणे अभिलपितकर्मानुष्ठानविघ्नशान्तये (सदैव) सर्वदैव (रक्षमाणाः) आत्मानं पालयमानाः। आत्मरक्षणाद्धेतोः (विष्कन्धदूषणम्) विष्कन्धः रक्षः पिशाचादिकृतगतिप्रतिबन्धात्मकः शरीरपोषणरूपो वा विघ्नः तस्य निवारकम् (जङ्गिडम्) जङ्गिडः वृक्षविषेशो वाराणस्यां प्रसिद्धः तेन साधितं मणिं वयं (बिभृमः) धारयामः। अ. सं. (२.४.१) सा.भा.

१९ जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धाद् अभिशोचनात्। मणिः सहस्रवीर्यं पणिः पातु विश्वतः। वही-(२.४.२) सा.भा. (जम्भात्) हिंसकात् कृत्यादेः। यद्वा जम्भ इति दन्तविशेषस्याख्या। राक्षसदन्तविशेषकृतात् खादनात् इत्यर्थः। (विशरात्) शरीरविशरणात् (विष्कन्धात्) विघ्नात् रक्षः पिशाचादिकृताद् रोगादिरूपात् (अभिशोचनात्) कृत्याकृताच्छोकात् (सहस्रवीर्यः) अपरिमित सामर्थ्यो (जङ्गिडः) जाङ्गिवृक्षविकारो (मणिः नः) अस्मान् (विश्वतः) विश्वस्मात् उदीरितरज्ञम्भादेः (परिपरतु) परिरक्षतु। वही (२.४.२) सा.भा.

२० अयं विष्कन्धं सहतेयं बाधते अत्रिणः। अयं नो विश्वभेशजो जङ्गिडः पात्वंहस। अ. सं.-(२.४.३) अयं जङ्डो मणिः (विष्कन्धं) परकृतं (सहते) अभिभवतीत्यर्थः। (अयं) उक्तो मणिः (अत्रिणः) अतॄन् भक्षकान् कृत्यादीन् (बाधते) नाशयति। (अयं) मणिः (नः) अस्माकं (विश्वभेषजः) विश्वेषां रोगादीनां निवर्तकः। यद्वा विश्वं कृत्स्नं भेषजं यस्मिन्। सकलौषधात्मकम् इत्यर्थः। (जङ्गिडो) मणि (अहंसः) पापात् (पातु) रक्षतु। वही (२.४.३) सा.भा.

२१ देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा। विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे। वही-(२.४.४)

२२ शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्। अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः। वही-(२.४.५)

२३ कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः। अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्। वही-(२.४.६)

के प्रभाव से बचने की प्रार्थना व तत्तद् गुणों का वर्णन किया है) रक्षार्थ सूक्त का विनियोग किया है। 'दूष्या दूषिरसि' इस सूक्त में स्त्री, शूद्र, राजा ब्राह्मण, कापालिक, अन्त्यज और शाकिनी आदि के अभिचार करने पर अपनी रक्षा के लिए तथा कृत्या को दूर करने के लिए इस सूक्त से तिलकमणि का होम एवं अभिमन्त्रण करके बाँधे'।[२४] तथा इस सूक्त का इस कृत्याप्रतिहरण में पाठ है। अतः कृत्यानिर्हरणार्थ शान्त्युदक में भी इस सूक्त का आवपन होता है। इसी बात को कौशिक सूत्र (५.३) में कहा है।[२५] निम्नलिखित[२६] कृत्या परिहरणगण कहलाता है।

इसी प्रकार **'कृत्यमदूषणएव च। चातनो मातृनामा च। चातन और मातृनामगणकृत्यादूषण'** भी (नक्षत्रकल्प २३) यहाँ और **'अथ शान्तै कृत्यादूषणैश्चातनैः'** अब शान्त कृत्यादूषण और चातनों से (शान्तिकल्प १६) यहाँ पर भी इस सूक्त का गणप्रयुक्त विनियोग समझना चाहिए।[२७] इसी प्रकार राज्यश्री और ब्रह्मतेज को चाहने वाले के लिए बार्हस्पत्या शान्ति कर्म करे। इस नक्षत्र कल्प (१७) से विहित बार्हस्पत्या नाम वाली महाशान्ति में स्राक्त्यमणिबन्धन के समय यह सूक्त कहा जाता है। इसी बात को नक्षत्र कल्प (१९) में कहा गया है।[२८] कृत्याप्रतिहरण कर्म में ही प्रथम ऋचा से कृत्या गुल्फ सूत्रोक्त द्रव्य से छिड़के।[२९] सूत्र भी है-इस सूक्त से दर्वी के द्वारा तीन बार मथित जलरहित सारूपवत्स से गुल्फ पर परिषिंचन करे।[३०] (कौ.सू.५.३) मन्त्रार्थ आचार्य सायण द्वारा इस प्रकार किया गया है। हे तिलकमणि! तू दूसरे की कृत्या को दूर करने वाली है, तथा अन्य द्वारा प्रेरित आयुध का संहार करने वाली है। दूसरे के प्रेरित मन्त्रात्मक वाग्वज्र के लिए तू वज्र है (यद्यपि हेति और मेनि दोनों आयुध के नाम हैं, तथापि यहाँ अमन्त्रक और समन्त्रक अस्त्र और शस्त्र भेद से उनके नामों भेद का समझना चाहिए)। इस प्रकार तू शत्रु के किए हुए अभिचार आदि से उत्पन्न सकल अरिष्टों की निवारक है। **अत एव अधिक बलवान् हमारे शत्रुओं को मारने के लिए हमें प्राप्त हो और उसको घेर कर मार डाले तथा समान बल वाले शत्रु का अतिक्रमण कर अर्थात् उसको बिना प्रयत्न के ही नष्ट कर दे। न्यून बल वाला तो मन्त्र के प्रभाव के बिना अपने आप ही हारा हुआ है अर्थात् यह मणि श्रेष्ठ बली शत्रु को पीड़ा पहुँचाने वाली समान बली को लाँघ जाने वाली**

---

२४ 'दूष्यादूषिरसि' इंति स्त्रीशूद्रराजब्राह्मणकापालिकान्त्यजशाकिन्यादिकृताभिचारे स्व आत्मरक्षार्थं कृत्यापरिहरणार्थं च अनेन सूक्तेन तिलकमणिं संपात्य अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। तथा च सूत्रम्-'दूष्यादूषिरसि' इति स्राक्त्यं बध्नीयात्। कौ.सू.-(२९.१) स्रक्तिस्तिलक वृक्षः (स्रक्तिः) तिलक इति भाष्यकारः। कौ. सू. (३९.१) दारिल भाष्य

२५ तथा अस्य सूक्तस्य कृत्याप्रतिहरणगणे पाठात् कृत्यानिर्हरणार्थे शान्त्युदकेऽपि एतत् सूक्तम् आवपनीयम्। यद् आह कौशिकः-'दूष्यादूपिरसि'।

२६ 'ये पुरस्तात्' अ.सं. (४.४०) 'ईशानां त्वा' अथर्व. (४.१७) 'समं ज्योतिः' अथर्व. (४.१८) 'उतो अस्य बंधुकृत्' ओ (४.१९) 'सुपर्णास्त्वा' अथर्व. (५.१५) 'यां ते चक्रुः' अथर्व. (५.३१) 'अयं प्रतिसरः' ओ (८.५) यां कल्पयन्ति' अ. (१०.१) इति महाशान्तिम् आवपते कौ.सू. (३१.७) इति; अयमेव कृत्याप्रतिहरणगणः।

२७ तथा शान्तिकल्पे 'कृत्यादूषण एव च। चातनो मातृनामा च। (शान्तिकल्प २३.१) इत्यत्र शान्तिकल्पे 'अथ शान्तः कृत्यादूषणैश्चातनैः' (शान्ति १६)इत्यत्र च अस्य सूक्तस्य गणप्रयुक्तो विनियोगोऽवगन्तव्यः।

२८ एवं बार्हस्पत्यां राज्यश्रीब्रह्मवर्चसकामस्याभिवरतोऽभिचर्यमाणस्य च (शौ.का. १७.१) इति विहितायां बार्हस्पत्याख्यानां महाशान्तौ स्राक्त्यमणिबन्धनेऽपि एतत् सूक्तम्। तद् उक्तम् शान्तिकल्पे-'बार्हस्पत्यायां 'दूष्या दूषिरसि' इति स्राक्त्यम् अभिचरतो अभिचर्यमाणस्य च' (ष. कल्प. १९.२) इति। अ.सं. (२.११)सा.भा.

२९ कृत्याप्रतिहरणकर्मण्येव आद्यमर्चा कृत्याया गुल्फं सूत्रोक्तद्रव्येण परिषिंचेत्। अ. सं. (२.११) सा.भा.

३० 'दूष्यादूषिरसि' इति दर्व्या त्रिः सारूपवत्सेनापोदकेन मथितेन गुल्फान् परिषिंचति। कौ. सू.-(३९.१३)

तथा पापी पुरुष को पास में भी न आने देने वाली है।[३१]

उक्त सम्पूर्ण सूक्त के प्रथम मन्त्र में वर्णित विषय का ही वर्णन है। तिलकमणि के कार्यों को अतिशयता से महत्त्व प्रदान कर अभिचार कर्म को नष्ट करने का भी उपाय बताया गया है।

इससे अथर्ववेद जहाँ अभिचारादि कर्मों द्वारा अन्यों पर प्रहार करके स्वकार्यसिद्धि में मार्गों को प्रशस्त करता है वहीं पर अन्यों के द्वारा प्रयुक्त उन्हीं अभिचार कर्मों से बचने का भी साधन बताता है। इसके अतिरिक्त आचार्य सायण इस सूक्त के प्रारम्भ में **विनियोग दर्शाते हुए 'स्त्री, शूद्र, राजा, ब्राह्मण, कापालिक, अन्त्यज और शाकिनी आदिओं द्वारा अभिचार कर्म व कृत्या के प्रयोगों को कौशिक सूत्र का उद्धरण देते हुए तिलकमणि से निष्प्रभ करने का विनियोग प्रस्तुत करते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि जो लोग, स्त्री, शूद्रों और चाण्डालों (अन्त्यजों) को वेद मन्त्र पढ़ने से अथवा सुनने से वंचित रखते हैं, उन लोगों के लिए आचार्य सायण का व कौशिक सूत्रकार का भी प्रमाण द्रष्टव्य है। क्योंकि अभिचारादि कर्म व कृत्या मन्त्र द्वारा संचालित हैं। मन्त्र के बिना इनका कोई महत्त्व नहीं है। यह भी विदित होता है कि उपर्युक्त लोग ही अधिक मात्रा में अभिचारादि का प्रयोग करते हैं।**

अथर्ववेद मनुष्य की मन: स्थिति को भलीभाँति समझता है। यही कारण है कि मानव सुलभ मानसिक स्वाभाविक दुर्बलताओं की निवासभूत मनोभावनाओं को प्रकट करने में सहज वृत्ति अपनाता है। यह स्त्रियों, शूद्रों, राजाओं, ब्राह्मणों, कापालिकों, अन्त्यजों एवं शाकिनियों, आदि के अन्तर्गत इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों द्वारा इष्ट सिद्धि के लिए अनिष्ट के परिहार हेतु अनेक प्रकार के आश्चर्यचकित, असमञ्जस से भरी हुई और जादू-टोने के समान दिखायी देने वाली क्रियाओं को करते हुए विनियोगों में बताया गया है। इनकी विधियों में अनेकधा कार्य-कारण सम्बन्ध का अभाव दिखायी देता है। किन्तु किसी अभिलषित वस्तु या व्यक्ति की प्राप्ति अथवा अवांछित तत्त्व की अप्राप्ति की कामना तथा उपलब्धि पर, परिहार करने के लिए मन में अनेक प्रकार के भाव आते रहते हैं। उन्हीं मनोभावों को आचार्य सायण ने कौशिकसूत्र के उद्धरणों से विनियोगों के माध्यम से प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। सम और विषम संख्या का भाव प्रत्येक व्यक्ति के मन में रहता है। सम संख्या में व्यक्ति कार्य सिद्धि समझने की कल्पना अधिक करता है और विषम संख्या में अत्यन्त न्यून या बिल्कुल नहीं। इस बात का कहीं कोई सटीक कारण ढूँढ पाना अत्यन्त कठिन है सम्भवत: इसका कारण होता ही नहीं हो। ऐसा भी नहीं है कि ऐसी कल्पनाएं बच्चों, स्त्रियों, शूद्रों, राजाओं आदि के मन में आती हों अपितु प्रत्येक व्यक्ति के मन में उभरती रहती हैं। परन्तु उक्त लोग ही इसका प्रयोग अधिक करते हैं। यह पृथक् बात है कि इन कल्पनाओं का प्रकटीकरण कार्य की सिद्धि होने पर तो किया जाता है असिद्धि

---

३१ दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसिमेन्या मेनिरसि। आप्नुहिं श्रेयांसमति समं क्राम। अ. सं. (२.११.१) हे तिलकमणे त्वं (दूष्या:) दूषयति विनाशयतीति दूषि: कृत्या। तस्या: परकृताया: (दूषिरसि) दूषक: निवारकोऽसि। (हेत्या) आयुधनामैतत्। हन्ति अनयेति प्रहीयते प्रक्षिप्यत इति वा हेति: आयुधम्। तस्या: परप्रेरितायास्त्वं (हेति:) प्रतिहननसाधनंम् (असि) (मेन्या:) वज्रनामैतत्। मीनाति हिनस्तीति मेनि: मर्मभेदि मन्त्रात्मकं वाग्वज्रम्। तस्य पर उच्चारितस्य (मेनिरसि) निवारक: प्रतिवाग्वज्रोऽसि। यद्यपि हेतिमेनी द्वे अपि आयुध नामनी तथापि अत्र समन्त्रकामन्त्रकास्त्रशस्त्रभेदेन तयोर्भेदोऽवगन्तव्य:। यतस्त्वं शत्रुकृत अभिचारादिजनितसर्वारिष्टनिवारकोऽसि अत: (श्रेयांसम्) प्रशस्यतमम् अधिकबलम् अस्मदीयं शत्रुं (अतिक्राम) अतिक्रम्य गच्छ। अप्रयत्नेन निवारयेत्यर्थ:; न्यूनबलस्तु मन्त्रप्रभावम् अन्तरेण स्वेनैव जित इति तस्य अनुपन्यास:; तथा च तैत्तिरीयके समाम्नातम्-प्रश्रेयासं भ्रातृव्यं नुदते इति सदृशं क्रामति नैनं पापीयान् आप्नोति। तां.सं. (२.४.१.४)। अ. सं. (२.११.१) सा.भा.।

पर उपहास्यास्पद स्थिति के उत्पन्न होने के कारण कोई भी ऐसी बातों को प्रकट करने से बचता ही है।

अत: व्यक्ति का मनोबल जब डावाँडोल होता है तब ऐसी कल्पनाओं को आश्रय प्राप्त होता है। मनोबल सदैव एक समान नहीं रहता यह भी सत्य है। इस मनोबल को बनाये रखने के लिए अधिकांश लोग बहुधा बाहर कुछ व्यक्त नहीं करते क़िन्तु उससे प्रभावित होते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति दीर्घकाल तक मन की बनी रहती है तो मनोविकार जन्म लेने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। इससे बचने के लिए ही सम्भवत: ऐसी अयथार्थ कल्पनाओं को यथार्थ के धरातल पर आधार देकर अमूर्त रूप से जीवन-रस घोलने का अथवा सूखे प्राणों में ऑक्सीजन भरने का सूक्ष्म उपचार किया गया है। यह बहुत सूक्ष्म उपाय स्थूल प्रभाव नहीं डालता किन्तु मन में कार्य की परिणति पर्यन्त जिज्ञासा के कारण जिजीविषा को जागृत किये रहता है और यह उपचार की दृष्टि से देखने पर अनुचित नहीं जान पड़ता है।

अथर्ववेद का उद्देश्य है कि व्यक्ति, व्यक्ति की प्रत्येक प्रकार से रक्षा करे, उसका पोषण करे, उसके प्रति सद्भाव रखे, उसके काम आए।[३२] इसके अतिरिक्त समस्त उपाय, सम्पूर्ण धर्म, कर्म और सकल क्रियायें उक्त उद्देश्य के लिए साधन हैं। साधनों का उपयोग उद्देश्य के लिए होना आवश्यक है न कि साधनों को ही साध्य समझकर अपरिहार्य रूप से प्रयोग किया जाता रहे। यही आथर्वणिक मन्त्र विनियोग का सम्भावित मनोवैज्ञानिक अभिप्रेत अर्थ मुझे प्रतीत होता है।

---

३२ पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत:। अथर्ववेद

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०६१-६७) ISSN 0974 – 8830

अथर्ववेद में अग्निचिकित्सा

डॉ. पुष्पा मलिक[१]

विश्व संस्कृति के आधारभूत वेद आदिकाल से ही मानव-जाति के लिए प्रकाशस्तम्भ रहे हैं। वेदों में मानवोपयागी ज्ञान-विज्ञान का अथाह भण्डार विद्यमान है। इनमें विविध विषयों का विवेचन प्राप्त होता है। कहीं ऋषियों के द्वारा ईश-स्तुति है तो कहीं विज्ञान की विविध शाखाओं यथा वनस्पति विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, गणित, आयुर्विज्ञान की चर्चा है। कहीं राजनीति और अर्थशास्त्र से सम्बद्ध मन्त्र हैं तो अन्यत्र राष्ट्र कल्याण, राष्ट्राभ्युदय और राष्ट्रभक्ति का सन्देश है। कहीं वर्तमान समय में विश्व में व्याप्त आतंकवाद, भ्रष्टाचार, पर्यावरण असन्तुलन जैसी समस्याओं के समाधान हैं तो अन्यत्र प्रबन्धन और प्रौद्योगिकी जैसे नवीन विषयों से सम्वद्ध अनेक मन्त्र हैं। कहने का तात्पर्य है कि ऐसा कोई भी विषय क्षेत्र नहीं है, जो वेदों में न हो। इसीलिये तो मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है-**सर्वज्ञानमयो हि सः।**[२]

चिकित्सा विज्ञान की दृष्टि से वेदों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि चारों वेदों में इससे सम्बद्ध अनके मन्त्र हैं। इनमें चिकित्सा विज्ञान के महत्त्वपूर्ण तथ्यों का यथास्थान विवेचन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद तो चिकित्सा विज्ञान का कोष है। वेदों में मानव को पूर्णरूप से स्वस्थ एवं नीरोग रहने के लिये पुनः-पुनः प्रेरित किया गया है तथा इनमें उसके लिये दीर्घायु की कामना की गई है, जो स्वस्थ एवं नीरोग शरीर से ही सम्भव है। इससे सम्बद्ध कुछ मन्त्र द्रष्टव्य हैं-

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम्।।[३]

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च मे आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बल च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।[४]

पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।[५]

इन मन्त्रों में मनुष्य के दीर्घायु होने, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को शक्तिसम्पन्न, स्वस्थ बनाने, प्राण, अपान आदि को स्वस्थ बनाने के साथ ही सौ वर्ष पर्यन्त पूर्णरूपेण स्वस्थ एवं अनामय रहकर जीवन जीने की कामना की गई है।

वेदों में चिकित्सा द्वारा रोगोपशमन, आयुरक्षण एवं आयुवृद्धि का उपदेश किया गया है। इनमें चिकित्सा विज्ञान का उद्देश्य, शरीर के अङ्ग, विविध रोगों के कारण, निदान एवं चिकित्साएँ यथा अग्नि

---

१ रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, भ.आर्य कन्या स्ना. महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी
२ मनुस्मृति २.७
३ यजुर्वेद २८.२९
४ वही २८.२
५ वही ३६. २४

चिकित्सा, ओषधि चिकित्सा, जल चिकित्सा, वायु चिकित्सा, स्पर्श चिकित्सा इत्यादि विषय विशदता से वर्णित हैं। अथर्ववेद में चार प्रकार की चिकित्साओं का उल्लेख है-आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी एवं मानवी तथा चार प्रकार की ही ओषधियां कही गई हैं-

आथर्वणीराङ्गिरसी दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि।।[६]

इनमें से आथर्वणी चिकित्सा अथर्वा ऋषि से सम्बन्धित है तथा आङ्गिरसी चिकित्सा का सम्बन्ध अङ्गिरा ऋषि से है। दैवी चिकित्सा पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन पञ्चतत्वों पर आधारित है। अतः मृत् चिकित्सा, जल चिकित्सा, अग्नि चिकित्सा, प्राणायाम आदि चिकित्साएँ दैवी चिकित्सा के अन्तर्गत समाविष्ट हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार इसे प्राकृतिक चिकित्सा कहा जा सकता है। मानवी चिकित्सा मनुष्यों द्वारा बनाई गयी चिकित्सा है। इसमें मानवनिर्मित भस्म, चूर्ण, आसव, अवलेह, वटी आदि सम्मिलित है। यह चिकित्सा औषधि-चिकित्सा है।

पञ्च महातत्वों में अग्नि का विशेष एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। पृथ्वीस्थानीय देवताओं में इसे प्रमुख देवता माना गया है। इसकी महत्ता इसी से सिद्ध है कि वेदों के अनेक सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही अग्नि की स्तुति से हुआ है। वैदिक मन्त्रों में अग्नि का विशेष सम्बन्ध यज्ञाग्नि से है। अतः अग्नि यज्ञीय अग्नि का प्रतिनिधि रूप है। चिकित्सा कार्य में अग्नि का प्राधान्य है। अथर्ववेद में अग्नि के भेषजत्व का उल्लेख प्राप्त होता है-**अग्निष्कृणोतु भेषजम्।**[७] अग्नि के इस गुण के विषय में यजुर्वेद में कहा गया है-

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पहि आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।।[८]

इस मन्त्र में अग्नि से शरीर की रक्षा करने, आयु प्रदान करने, तेजोमय बनाने एवं शरीर की न्यूनता या वैषम्य को दूर करने की प्रार्थना के द्वारा अग्नि के चिकित्सीय गुण का निर्देश किया गया है।

अग्नि के माध्यम से चिकित्सा कार्य में यज्ञ की पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। यज्ञ करने से हमारे चारों ओर का वातावरण तो सुगन्धित एवं शुद्ध होता ही है, इसके साथ ही अनेक रोगों का निवारण भी होता है। हमारे देश में तो वैदिक काल से ही यज्ञ के इस महत्त्व को जान लिया गया था, अब विदेशों मे भी इस पर अनुसन्धान कार्य चल रहे हैं। फाइव फोल्ड पाथ नामक संस्था ने वाशिंगटन में अग्निहोत्र यूनिवर्सिटी की स्थापना कर यज्ञ पर अनके परीक्षण किये हैं। इन परीक्षणों का परिणाम सकारात्मक रहा है क्योंकि यज्ञ की वायु में ऑक्सीजन की मात्रा अधिक होने के कारण यज्ञकर्त्ता अथवा यज्ञ के समीप बैठने वाला व्यक्ति उस ऑक्सीजन से लाभान्वित होता है। इससे शरीर में स्थित विषैले तत्त्वबाहर निकल जाते हैं। ब्रह्म वर्चस शोध संस्थान इस दिशा में सक्रिय कार्य कर रहा है।

अथर्ववेद में यज्ञ चिकित्सा से सम्बन्धित अनेक सूक्त हैं, जिनमें राजयक्ष्मा, ज्वर, उन्माद आदि रोगों के यज्ञ द्वारा निवारण किये जाने का वर्णन है तथा अनेक मन्त्रों में सामान्य रूप से यह निर्दिष्ट है कि यज्ञ की

६ अथर्व. ११ ४.१६
७ अथर्व. ६.१०६.३
८ यजु. ३.१७

अग्नि से रोग विनष्ट होते हैं, यहां तक कि यदि कोई व्यक्ति मरणासन्न अवस्था में है तो भी यज्ञ-चिकित्सा के द्वारा वह मृत्यु की गोद से लौट सकता है। विशेष रोगों के यज्ञोपचार सम्बन्धी मन्त्रों से पूर्व कुछ मन्त्र प्रस्तुत हैं, जिनमें सामान्य रूप से यह कहा गया है कि यज्ञीय अग्नि से रोगों का निवारण हो जाता है-

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।[९]

अर्थात् यज्ञ में प्रयुक्त हवि के द्वारा जीवन की वृद्धि एवं रक्षा के लिए तुझे अज्ञात रोगों एवं राजयक्ष्मादि रोगों से मुक्त करता हूँ।

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय।।[१०]

अर्थात् यदि यह क्षीण आयु हो चुका हो, यदि यहं निराश हो चुका हो, यदि यह मृत्यु के बिल्कुल निकट पहुँच चुका हो तो भी यज्ञ चिकित्सा द्वारा मैं इसे मृत्यु की गोद से लौटा लाता हूँ। मैंने इसे सौ वर्ष जीने के लिये बल दिया है।

घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः।।[११]

अर्थात् मनोयोग के साथ और चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रिय-देवों के व्यापार के साथ अग्नि में डाली गयी घृत की धारा अन्य ओषधियों की हवि के साथ वर्ष भर हमें बढ़ाती रहे। हमारे कर्ण, चक्षु, प्राण रोगादि से छिन्न न हों, हम आयु और तेज से छिन्न न हों।

महर्षि दयानन्द भी यज्ञ के चिकित्सीय महत्त्व को स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार जो व्यक्ति यज्ञ से शुद्ध किये हुये अन्न, जल और पवन आदि पदार्थों का भोजन करते हैं, वे नीरोग होकर बुद्धि, बल, आरोग्य और दीर्घायु वाले होते हैं। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में भी यज्ञ द्वारा रोग-निवारण का वर्णन उपलब्ध होता है। चरक संहिता में क्षय रोग की चिकित्सा के सन्दर्भ में कहा गया है-

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा जितः।
तां वेद विहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्।।[१२]

अर्थात् प्राचीन काल में जिस युक्ति से राजयक्ष्मा को जीता जाता था, आरोग्यार्थी मनुष्य उन वेदविहित यज्ञों को करे।

यज्ञ द्वारा विशेष रोगों की चिकित्सा सम्भव है। रोगों के उत्पादक अनेक कारणों का उल्लेख वेदों में, विशेष रूप से अथर्ववेद में किया गया है। इनमें से अन्यतम प्रमुख कारण हैं कृमि जिसे आधुनिक चिकित्साशास्त्र भी स्वीकार करता है। ये कृमि हमारे शरीर में श्वास, भोजन, जल आदि के द्वारा प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। अथर्ववेद में अनेक प्रकार के कृमियों का उल्लेख मिलता है तथा उसमें यह भी निर्दिष्ट है कि यज्ञीय अग्नि में कृमि विनाशक ओषधियों की आहुति देकर इन कृमियों को नष्ट करके रोगों से रक्षा की जा

९ अथर्व. ३.११.१
१० वही ३.११.२
११ वही १९.५८.१
१२ चरक. चिकित्सा० ८.१९९

सकती है। अथर्ववेद (5.29) में उल्लिखित है कि अन्न, जल, दुग्ध आदि पदार्थों में प्रवेश करके कृमि जब शरीर में पहुँचते हैं तो मनुष्य को रोगी बना देते हैं। इन कृमियों को नष्ट करने का उपाय यज्ञ है-

आमे सुपे शवले विपे योमा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो ऽयमस्तु॥
क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये यः।
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्॥ [१३]

इसी प्रकार अथर्ववेद में अन्यत्र भी हवि के द्वारा कृमिओं को विनष्ट किये जाने का उल्लेख प्राप्त होता है'

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवावहत्।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः॥ [१४]

यज्ञ द्वारा कृमियों के विनाश का संकेत आयुर्वेदीय साहित्य में भी उपलब्ध होता है यथा-

काकुभकुसुमविडङ्गं लाङ्गलिभल्लातकं तथोशीरम्।
श्री वेष्टकसर्जरसं चन्दनमथ कुष्ठमष्टमं दद्यात्॥
एष सुगन्धो धूपः सकृत् कृमीणां विनाशकः प्रोक्तः।
शय्यासु मत्कुणानां शिरसि च गात्रेषु यूकानाम्॥ [१५]

इसमें अर्जुन के पुष्प, बायबिडंग, कलियारी की जड़, भिलावा, खस, राल, सालवृक्ष के रस, चन्दन और कूठ को सममात्रा में लेकर पीसकर इसकी धूप से कृमियों के नष्ट होने का उल्लेख है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में केवल यज्ञाग्नि से नहीं, अपितु अग्नि में औषधियाँ डालकर उनकी धूनी लेने से रोगों के शमन का वर्णन है। धूनी लेना भी यज्ञ-चिकित्सा का ही एक रूप है।

यज्ञ से विभिन्न प्रकार के ज्वरों का उपचार होता है। अथर्ववेद में ज्वर के लिए तक्मा पद का प्रयोग किया गया है। **'तकि कृच्छ्रजीवने'** धातु से निर्मित तक्मा पद का अर्थ है जीवन को कष्ट देने वाला। अथर्ववेद में कहा गया है-**भीमास्ते तक्मन् हेतयः।**[१६]

इस वेद में अभ्रज, वातज, शुष्म, शीत, तृतीयक, वितृतीय, वार्षिक, ग्रैष्म, शारद, अन्येद्यु आदि अनेक प्रकार के ज्वरों का उल्लेख किया गया है। निम्नलिखित मन्त्रों में ज्वरग्रस्त व्यक्ति को हवि के द्वारा ज्वरमुक्त किये जाने का विधान है-

अङ्गे अङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्तसमङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभींत् पर्वास्याग्रभीता॥ [१७]

---

१३ अथर्व. ५.२९.६-९
१४ वही १.८.१
१५ योगरत्नाकर
१६ अथर्व. ५.२२.१
१७ वही १.१२.२

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः॥

वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु॥[१८]

आयुर्वेद भी इसका समर्थक है। बृहन्निघण्टुराकर में ज्वर निवारक औषधियों को घी में मिलाकर उसकी धूप से विषम ज्वर के उपचार का वर्णन किया गया है-

निम्बपत्रं वचा कुष्ठं पथ्या सिद्धार्थकं घृतम्।

विषमज्वरनाशाय गुग्गुलुश्चेति धूपनम्॥

राजयक्ष्मा रोग अत्यधिक भयंकर संक्रामक रोग है। वेदों में इस रोग के लिए राजयक्ष्मा (तै०सं० २.३.५.२, अथर्व. ३.११.१), पापयक्ष्मा (तै.सं. २.३.५.२), जायान्य (अथर्व. ७.७६.५), जायेन्य (तै.सं. २,३,५.२), पाप्मा (अथर्व. ५.२२.१२) आदि शब्द प्रयुक्त हैं। अथर्ववेद में जायान्य की उत्पत्ति के दो हेतु बताये गये हैं। प्रथम यह रोग जीवाणु द्वारा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रवेश करता है-

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।[१९]

दूसरा कारण शुक्रक्षय को बताया गया है। वैसे तो इस रोग के अन्य भी अनेक कारण हैं, परन्तु अथर्ववेद में इन दोनों को ही प्रमुखता दी गई है। यह रोग शरीर में अस्थियों, अंस, माँस और वीर्य पर प्रभाव डालता है-

यः कीकसाः प्रश्रृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।

निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।

तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।

कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥[२०]

अन्तिम मन्त्र में कहा गया है कि जिस व्यक्ति के घर में यज्ञ होता है, उसे यह रोग पीड़ित नहीं करता है। इससे विदित होता है कि राजयक्ष्मा के कृमियों को यज्ञ के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, ऑक्सीजन प्राप्त की जा सकती है। इसके अतिरिक्त यज्ञ के स्थान पर गहरी श्वास ली जाने पर यह ऑक्सीजन फेफड़ों तक पहुँचकर उनमें हुए क्षत को सरलता से सुखा देती है। अतः रोगी को यज्ञ के स्थान पर यथाशक्ति स्थित होकर गहरी श्वास लेनी चाहिए।

चरक ने यज्ञ के द्वारा राजयक्ष्मा रोग की चिकित्सा का वर्णन किया है-

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा पुरा जितः।

तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत्॥[२१]

अथर्ववेद में एक अन्य रोग अपचित् (गण्डमाला) का वर्णन प्राप्त होता है। इसमें अपचित् रोग का

---

१८ वही ५. २२.२
१९ वही ७.७६.४
२० वही ७.७६. ३-५
२१ चरक. चिकित्सा. ८.१२२

वर्णन चार सूक्तों के कुछ मन्त्रों में संक्षेप में उपलब्ध है। इसका अर्थ है-अपाक चीयमाना: अपचित: अर्थात जो गले से लेकर नीचे कक्ष आदि में गण्ड फैलते हैं, इसलिए ये (गण्डमाला) अपचित् हैं अथवा **अपचिन्वन्ति पुरुषस्य वीर्यम्** अर्थात् ये पुरुष के वीर्य का अपचिन्वन कर डालती है, इसलिए अपचित् हैं। अथर्ववेद (६.२५) में इनकी संख्या ५५,७७,९९ निर्दिष्ट है तथा इसे आठ प्रकार का बताया गया है-एनी, श्येनी, कृष्णा, रोहिणी, असूतिकां, रामायणी, ग्लौ, गलुन्त। इसके अनुसार सूर्य और चन्द्रमा की किरणों के सेवन से तथा यज्ञाग्नि में आहुति से यह रोग दूर हो जाता है-

अपचित: प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।
सूर्य: कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु।।
एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन।।
असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति।
ग्लौरित: प्रं पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति।।
वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि।।[२२]

इससे स्पष्ट है कि अपचित् (गण्डमाला) का रोगी यदि गण्डमाला ग्रन्थियों पर विशेष औषधियों का यज्ञ धूम ले तो ये ग्रन्थियाँ नष्ट हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त उन्माद रोग को दूर करने के लिए अथर्ववेद में अग्नि से प्रार्थना की गई है-

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्धि।[२३] **अग्निष्टे निशमयतु।।**[२४]

मन की उद्भ्रान्त अवस्था का नाम उन्माद है-

यदिं ते मन उद्युतम्।[२५]

यज्ञाग्नि स्त्रियों के गर्भ सम्बन्धी दोषों का निवारण करती है-

ब्रह्मणाग्नि: संविदानो रक्षोहा बाधतामित:।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये।।[२६]

एक अन्य मन्त्र में सुगमतापूर्वक प्रसूति के लिए यज्ञिय सुगन्ध उपयोगी बताई गई है-

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधा:।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ।।[२७]

चरक संहिता में भी सूतिकागार में यज्ञ का विधान किया गया है।[२८]

---

२२ अथर्व. ६.८३.१-४
२३ वही ६.१११.१
२४ वही ६.१११.२
२५ वही ६.१११.२
२६ वही २०.९६.१
२७ वही ६.११.१
२८ चरक. शा. ८.४१

यज्ञ से मनुष्य आरोग्य लाभ कैसे करता है? इस विषय में श्री वीरसेन वेदश्रमी[२९] के द्वारा दिये गये तथ्य ध्यातव्य हैं, उनमें से कुछ तथ्यों का उल्लेख करना प्रासङ्गिक होगा। ये तथ्य निम्नवत् हैं-

१- जो रोगी यज्ञ के पास आहुति देने बैठता है, उसको यज्ञ में प्रयुक्त विविध प्रकार के उत्तम काष्ठों की अग्नि का ताप घृत से शक्ति सम्पन्न होकर तप्त करता है। इस ताप के शरीर में प्रवेश से अनेक प्रकार के अमीवा-रोग कीटाणु नष्ट होते हैं।

२- यज्ञ में प्रयुक्त घृत तथा औषधियों के रोग से शुद्ध, आरोग्यप्रद एवं पौष्टिक वातावरण का निर्माण होता है, उसमें श्वास-प्रश्वास की गति विद्यमान होने से यज्ञ के तेजस्वी, शुद्ध, पौष्टिक एवं रोगनाशक परमाणुओं का वायु द्वारा शरीर में प्रवेश होता है, जिससे फुफ्फुस शुद्ध एवं पुष्ट होते हैं तथा रोगरहित हो जाते हैं।

३- यज्ञ-पद्धति में ध्वनि क्रिया का प्रभाव भी विशेष लाभ करता है। अग्नि एवं सूर्य रश्मि निश्चित ताप में ध्वनि तरंगों के प्रसारण से विविध वर्ण की, शब्द की, अति सूक्ष्म लहरें क्रियाशील होती हैं और वे अपना एक पूर्ण मण्डल बनाकर अदृष्ट प्रभाव शरीर एवं मन पर करती हैं और उनका रोगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

गुग्गुल, चन्दन, चावल, शक्कर, तिल, उड़द, जटामाँसी, गिलोय, अगर आदि यज्ञीय सामग्री के प्रयोग से अनेक रोगों का निवारण होता है। गुग्गुल की सुगंध से राजयक्ष्मा, ज्वर आदि रोग मनुष्य को आक्रान्त नहीं करते हैं। अथर्ववेद में यद्यपि यज्ञीय द्रव्य के विषय में अधिक नहीं कहा गया है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि रोगोपचार हेतु प्रयोग की जाने वाली औषधियाँ यज्ञ में हवि के रूप में प्रयोग की जाती थीं। इस वेद में गुग्गुल (गुल्गुल) को रोगों का विनाश करने में अत्यधिक उपयोगी कहा गया है। वेद का तो इस विषय में यह कथन है कि जो व्यक्ति गुग्गुल की सुगन्ध का सेवन करता है, उसे रोग नहीं घेरते-,

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते। यं भेषजस्य गुल्गुलो सुरभिर्गन्धो अश्नुते।।[३०]

वर्तमान समय में यज्ञ की अत्यधिक महत्ता है क्योंकि आज पर्यावरण प्रदूषण के कारण विभिन्न रोग उत्पन्न हो रहे हैं, उस पर आधुनिक जीवन शैली, रहन-सहन, आचार-विचार, कृषि में रासायनिक खादों के प्रयोग, खाद्य पदार्थों में मिलावट ने रोगों में और वृद्धि कर दी है। ऐसी स्थिति में हमारा यह दायित्व एवं कर्त्तव्य होना चाहिए कि हम आधुनिकता और प्राचीनता में सामंजस्य स्थापित करते हुए अपनी जीवन-शैली में परिवर्तन लायें और सर्वहितकारी यज्ञ की ओर उन्मुख हों। इतना ही नहीं यज्ञ से होने वाले लाभों से सर्वसाधारण को परिचित करायें। तभी वेद की यह वाणी सत्य सिद्ध होगी और हम स्वस्थ रहकर जीवन यापन कर सकेंगे-

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोषा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्।।
ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः। प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः।।[३१]

२९. वैदिक सम्पदा पृ० २२४-२२५
३० अथर्व. १९.३८.१
३१ वही १९.६०.१-२

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्वर २०११ अङ्क १६ (पृ०६८-७७) ISSN 0974 – 8830

वैदिकवाङ्मयोपवर्णित मोक्षविषयकावधारणा

डॉ० नरेश कुमार[1]

मोक्षविषयक अर्थविचार-

जन्म-मरणरूप बन्धन का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष कहाता है। मोक्ष का एकमात्र साधन आत्मज्ञान है अर्थात् आत्मज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके शरीरधारी जीव कृतकृत्य होकर शोकरहित हो जाता है।[2] जो इसे जानते हैं वो अमरता को प्राप्त करते हैं।[3] मोक्ष शब्द की उत्पत्ति मोक्षण अर्थवाली √**मुच्लृ मोक्षणे**[4] धातु से हुई है इस प्रकार मोक्ष का अर्थ हुआ-**छूटना अथवा मुक्त हो जाना** अर्थात् प्रकृतिजन्य शरीर आदि के बन्धन से अथवा जन्म-मरण के चक्र से विमुक्त होना। भारतीय दर्शन में दुःखनिवृत्ति और परमानन्दप्राप्ति को मोक्ष कहा गया है। विभिन्न मतों द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं में प्रयुक्त शब्दों में परिवर्तन हो सकता है किन्तु उनके मोक्षस्वरूपसम्बन्धी विचारों में साम्यता दृष्टिगोचर होती है। बौद्धमत में यही मोक्ष **निर्वाण** पद से अभिहित किया जाता है। जैनमत में इसे **आर्हती दशा** पद से अभिहित किया गया है। न्यायदर्शन में इसे **अपवर्ग** तथा वैशेषिकदर्शन में **निःश्रेयस्** कहकर सम्बोधित किया गया है। योगदर्शन में **स्वरूपावस्थान** अथवा **कैवल्य** माना गया है। सांख्यदर्शन इसे **प्रकृतिवियोग** के नाम से कहता है। मीमांसक **प्रपञ्चसम्बन्धवियोग** के नाम से कहते हैं तो वेदान्त **ब्रह्मपदावाप्ति** मानता है। विभिन्न जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के फलस्वरूप सुख-दुःखादि का भोग करते हुए आत्मा को कष्ट की अनुभूति होती है, इसी कष्ट से आत्मा सर्वदा सर्वथा निवृत्ति प्राप्त करना चाहता है। यही मोक्षावस्था है।

मोक्ष के विषय में आचार्य शंकर का मत है कि **मोक्ष** उत्पाद्य नहीं हो सकता, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है वह अनिवार्य रूप से नष्ट भी होता है। यह प्रकृति का सामान्य एवं स्वाभाविक नियम है। यथा-उपासनादि कर्मफलजन्य स्वर्गादि। इसके विपरीत मोक्ष तो आत्मा को स्वभावतः नित्यप्राप्त है। अज्ञान से आच्छादित मात्र होने के कारण आत्मा अपने को सुख-दुःखादि से युक्त समझता है। वस्तुतः वह तो विज्ञानमय तथा आनन्दस्वरूप है।[5] सद्गुरु द्वारा **तत्त्वमसि**[6] इस उपदेशवाक्य से स्मरणमात्र दिला दिये जाने पर जब अज्ञानावरण समाप्त हो जाता है, तो **अहं ब्रह्मास्मि**[7] की अनुभूति होती है। यही मोक्ष है जो प्राप्य नहीं है; अपितु आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। अहं ब्रह्मास्मि की यही अनुभूति ही अशरीरत्व है।[8] अज्ञानवृत्तिपरक

---

१. वेदविभाग, गु०कां०विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ (क) तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवति वीतशोकः। श्वेता०उप०१.२.१४ (ख) तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ ईशा०उप०७

३ विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ श्वेता०उप०३.७

४ मुच्लृ मोक्षणे, तुदादिगण, धातुपाठ, पाणिनि।

५ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहद्०उप०३.९.२८

६ छां०उप०६.१६.३

७ बृहद्०उप०१.४.१०

८ अशरीरं शरीरेष्वनवस्थितम्। कठ०उप०१.२.२२

इस मोक्ष की सिद्धि गौतमप्रणीत दुःखजन्मादि सूत्र से भी हो जाती है।[९]

वेदों में वर्णित मोक्षसम्बन्धी मूलप्रवृत्ति-

वैदिक संहिताओं में मोक्ष शब्द का साक्षात् प्रयोग प्राप्त नहीं होता है किन्तु **मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्** इस मन्त्रांश में क्रियारूप में मोक्ष शब्द का इतना सुन्दर प्रयोग हुआ है जिसे देखकर यह कदापि नहीं कहा जा सकता है कि वेद में मोक्ष का स्पष्ट भाव नहीं है। यही मोक्षपद क्रियारूप में **(मुक्षीय)** ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में एक-एक बार आया है। मोक्ष शब्द संज्ञारूप में उपनिषद् एवं दर्शनकालीन प्रतीत होता है। संहिताओं में मोक्षवाची 'अमृतत्व' का सर्वाधिक प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में अमृतपद सम्पूर्ण विभक्तियों में लगभग २०८ बार देखने को मिलता है, जो कि अमरण अर्थवाची तथा अन्य शक्तियों के साथ भी प्रयुक्त है। लेकिन मोक्षवाची अमृतत्व पद का प्रयोग ऋग्वेद में लगभग २६ बार, यजुर्वेद में आठ बार, सामवेद में पाँच बार तथा अथर्ववेद में ७ बार हुआ है, परन्तु ऋग्वेद के समान अन्य वेदसंहिताओं में भी अमृतपद का प्रयोग अनेक स्थानों पर द्रष्टव्य है।[१०]

ऋग्वेद में वरुण देवता से प्रार्थना की गयी है कि वह हमें अपने पाशों से मुक्त करे।[११] एक अन्य मन्त्र में तीन प्रकार के बन्धनों को हटाने की प्रार्थना की गयी है।[१२] अग्नि देवता से भी पाशमोचनार्थ प्रार्थना की गयी है।[१३] मोक्ष को परिभाषित करते हुए ऋग्वेद अन्यत्र कहा गया है-सर्वोत्पादक सकल कल्याणसाधक परमात्मा योगयज्ञसाधक निष्काम महात्माओं के लिये पहले सेवनीय सर्वोत्तम भाग **मोक्ष** को प्रदान करता है, उनके सभी ओर से बन्धनों को खोल देता है और उन्हें मनुष्योचित अनुकूल वृत्तिवाले साधन देता है।[१४] इस प्रकार सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होना ही मुक्ति हैं। यजुर्वेदानुसार मृत्यु के बन्धन से अर्थात् मर्त्यशरीर के बन्धन से छूट जाना ही मुक्ति है। जैसे ककड़ी या खरबूजा पककर मधुरगन्ध धारण कर स्वतः अपने बन्धनरूप लता से वियुक्त हो जाता है, उसी प्रकार मैं भी खरबूजे की भाँति मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाऊँ, अमृत से नहीं।[१५] अथर्ववेद में भी मृत्यु को दूर करने तथा अमृत को प्राप्त करने की प्रार्थना की गयी है।[१६]

वेदों में जीवनमुक्त के लक्षण एवं मुक्तिविषयक चर्चा-

साधकजन परमपिता परमात्मा की उपासना द्वारा अविद्यादि विभिन्न प्रकार दुष्ट गुणों का निवारण करके तथा शुभ एवं पवित्र गुणों का आचरण करके मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्तिपद को पाने वाले उपासक के गुण-कर्म-स्वभाव आदि में विलक्षणताएं आ जाती हैं। वैदिक संहिताओं में इनका पर्याप्त उल्लेख

---

९ दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानमुत्तरोतरापाये तदन्तरापायादपवर्गः॥ न्यायसूत्र १.१.१२

१० वेदों में योगविद्या-स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती, पृ०३६१

११ सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु॥ ऋग्०१.२४.१२

१२ उदुत्तमं मुमुग्धि नो विपाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे॥ ऋग्०१.२५.२१

१३ एवास्मदग्ने विमुमुग्धि पाशान्। ऋग्०५.२.७

१४ देवेभ्यो हि प्रथमम् यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्। आदिद्दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥ ऋग्०४.५४.२

१५ उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। यजु०३.६०

१६ परैतु मृत्युरमृतं न एतु॥ अथर्व०१८.३.३२

मिलता है। ऋग्वेद में इस सम्बन्ध में अधोलिखित प्रकार से कहा गया है-

न वा उ एतन्म्रियते न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिः सुगेभिः।
हरी ते युञ्जा पृषती अभूतामुपास्थाद् वाजी धुरि रासभस्य।।[१७]

अर्थात् जो पुरुष साधना के मार्ग पर मन एवं आत्मा से सद्गुणों को धारण करके निज मधुरवाणी के द्वारा दूसरों को शान्ति प्रदान करते हैं एवं शुभकर्मों द्वारा दूसरों को आप्लावित करते हैं। जो श्रेष्ठ योगियों का सत्सङ्ग करने के साथ-साथ उनके श्रेष्ठ कार्यों को करने में सहायक होते हैं। मन-कर्म-वचन से सदैव प्रेरणा देते रहते हैं तथा अपनी आत्मा को हमेशा परमात्मा से युक्त करने वाले जीवनमुक्त होते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती एक ऋग्वेदीय मन्त्र के भावार्थ में मुक्ति के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं-'**परमेश्वर की वेद में दी गयी आज्ञानुकूल चलते हैं, वे मोक्षसुख को प्राप्त होते हैं। जैसे सामान्यजन बन्धु या मित्र को प्राप्त होकर सहायता को पाते हैं अथवा प्यासे जन मीठे जल से पूर्ण कुएँ को प्राप्त होकर पूर्णानन्द को प्राप्त होते हैं।**[१८]' इसके अतिरिक्त अन्य मन्त्रों में भी में भी मुक्ति का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। यथा-

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि।।[१९]

अर्थात् जहाँ विद्वान् लोग मुक्ति को प्राप्त करते हैं, वहाँ कुछ भी अन्धकार नहीं है औरं वे मोक्ष को प्राप्त हुए प्रकाशमान होते हैं, वही आप्तजनों का मुक्तिपद है। मोक्षानन्द-प्रत्यक्षकर्त्ता ऋषि मोक्षस्वरूप का वर्णन करता हुआ, मोक्षानन्दप्राप्तिहेतु प्रार्थना करता है कि जिस मोक्ष में निरन्तर ज्योति का प्रकाश होता है तथा जिस ज्ञान में सुख ही सुख होता है, वह अमृत-अवस्था वृद्धि तथा क्षय से रहित है। हे सब को पवित्र करनेवाले परमात्मन्! वहाँ मुझे रखें और मुझ ज्ञानयोगी के लिये आप पूर्णाभिषेक का कारण बनें।[२०] हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! आप ज्ञानी योगी के लिये पूर्णाभिषेक के निमित्त बनें। जहाँ सब काम निष्काम किये जाते हैं तथा जहाँ ब्रह्मज्ञान का परमपद है, जहाँ अमृत की प्राप्ति और उससे तृप्ति है, वहाँ मुझको मोक्षपद प्राप्त करायें।

उपनिषदों में वर्णित मुक्तिविषयक दृष्टिकोण-

उपनिषद्वाङ्मय में मुक्तिविषयक विस्तृत-चर्चा करने से पूर्व उपनिषदों में निहित लक्ष्यों पर विचार करना परमावश्यक प्रतीत होता है-दार्शनिकान्वेषण तथा मानव का अन्तिम लक्ष्य एक ही है-आत्मा-परमात्मा का स्वरूप ज्ञान, जगत् के वास्तविक स्वरूप से परिचित होना, ज्ञान-कर्म-उपासना को अपनाना। अन्ततः यह सब है किसलिये? मनुष्य ने इन सबकी खोज किसलिये की? इन सबका अन्त मनुष्य की पूर्ण सुखप्राप्ति से सम्बन्धित होना चाहिए। पूर्ण सुख ही दार्शनिकान्वेषण का अन्त है तथा पूर्ण सुखप्राप्ति अपूर्ण सुख से सर्वदा सर्वथा मुक्त होने पर ही सम्भव है। त्रिविध तापों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिकनिवृत्ति ही अत्यन्त पुरुषार्थ

---

१७ ऋग्०१.१६२.२१

१८ तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति। उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।। ऋग्०१.१५४.५

१९ ऋग्०१.१५४.६

२० यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमानाऽमृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव।। ऋग्०९.११३.७ यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। [illegible] ।। ऋग्०९.११३.८

है।[२१] जब हृदय में विद्यमान समग्र कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है और यहाँ उसे ब्रह्मोपलब्धि हो जाती है। जैसा कि अधोलिखित उपनिषद्मन्त्र में कहा गया है-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा ये ह्यस्य हृदि संस्थिताः।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥[२२]

उपनिषदों में मोक्षविषयकावधारणा-

जन्म-मरणादि विविध बन्धनों का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है। आत्मज्ञान को मोक्ष का एकमात्र कारण माना गया है। आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करने के पश्चात् शरीरधारी जीव कृतकृत्य होकर शोकरहित हो जाता है।[२३] जो इसे जानते हैं, वे अमरता को प्राप्त हो जाते हैं,[२४] तथा इसका अनुभव करके जीव परमशान्त्यवस्था को प्राप्त करता है।[२५] आत्मा के स्वरूप को इस प्रकार से जानने वाला व्यक्ति मृत्यु के बन्धनों को काट देता है। इस आत्मविद्या का ज्ञाता पाप को त्यागकर, विनाशरहित, सुखमय, स्वयंप्रकाशयुक्त परब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है।[२६] यहाँ ज्ञान को ही मोक्ष के परमसाधन के रूप में दर्शाया गया है, परन्तु यत्र-तत्र उपासना एवं ध्यान आदि के महत्त्व को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। मुण्डकोपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि यह आत्मा न नेत्र से ग्रहण किया जा सकता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से और न तप अथवा कर्म से ही अपितु यह पुरुष ज्ञानप्रसाद से विशुद्धचित्त हो जाता है, तभी वह ध्यान करने पर उस निष्कल आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।[२७] आचार्य शंकर ने मोक्ष को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'ब्रह्मभाव या ब्रह्मावगति ही मोक्ष है।'[२८] यह मोक्ष नित्य, शुद्ध एवं ब्रह्मस्वरूप वाला है।[२९] अर्थात् यह स्वर्गसुख सदृश आपेक्षित या परिणामी सुख नहीं है, जो धर्म (पुण्य) के क्षीण होने पर नष्ट हो जाये[३०] अपितु मोक्षरूपी सुख को पारमार्थिक नित्य बतलाया गया है।[३१] इस ब्रह्मभावप्राप्त्यनन्तर साधक की हृदयग्रन्थि खुल जाती है, सम्पूर्ण सन्देह दूर हो जाते हैं और प्रारब्धकर्म को छोड़कर सञ्चित तथा क्रियमाणकर्म नष्ट हो जाते हैं।[३२] कहने का अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार के शोक तथा मोह से रहित ऐसा मुक्त पुरुष सर्वत्र परब्रह्म का ही दर्शन करता है[३३] क्योंकि वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप को ही प्राप्त कर लेता है।[३४] समाधि अवस्था में क्रम से

---

२१ अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। साख्य०द०१.१-कपिलमुनि
२२ कठ०उप०२.३.४
२३ तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवति वीतशोकः। श्वेता०उप०२.१४ तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥ ईश०उप०७
२४ विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति। श्वेता०उप०३.७
२५ निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। कठ०उप०१.१.७
२६ अपहत्य पाप्मानमन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति। केन०उप०४.९
२७ ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः। मुं०उप०३.१.८
२८ ब्रह्मभावश्च मोक्षः। ब्रह्मसूत्र शा०भा०१.१.४
२९ नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपवान् मोक्षः। ब्रह्मसूत्र शां०भा०१.१.४
३० क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। श्रीमद्०भग०गी०९.२१
३१ ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति। मुं०उप०३.२.९
३२ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ मुं०उप०२.२.८
३३ तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः। ईश०उप०७

परिणाम होते रहते हैं इसलिये तीनों कालों में होने वाले संसार के समस्त पदार्थ धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम के अन्तर्गत रहते हैं। अतः जब योगी किसी वस्तु के इन तीनों परिणामों को लक्ष्य में रखकर संयम करता है तो उसका इन तीनों परिणामों से साक्षात् होने से उस वस्तु की समस्त अवस्था का ज्ञान हो जाता है।[३५]

छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि 'शरीररहित आत्मा को सुख-दुःखादि स्पर्श नहीं करते।'[३६] इससे सुस्पष्ट है कि सशरीरत्व मात्र मिथ्याज्ञान से होता है और सम्यक् ज्ञान होने पर जीवितावस्था में ही आत्मवित् को अशरीरत्व प्राप्त होता है। इसे ठीक उसी प्रकार समझना चाहिए जैसे सर्प-काँचुली बांबी के ऊपर मृत और सर्प द्वारा परित्यक्त हुई पड़ी रहती है; उसी प्रकार जिस ज्ञानी पुरुष ने अभिमान का त्याग कर दिया है, उसका शरीर भी पड़ा रहता है। शरीर में स्थित यह आत्मा अशरीर है, अमृत है, प्राण है, ब्रह्म है तथा स्वयंप्रकाश है। जैसा कि अधोलिखित उपनिषद्मन्त्र में द्रष्टव्य है-

तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव॥[३७]

इसलिये मैं 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्मात्मभाव का साक्षात्कार करने वाला विद्वान् पुरुष पूर्व के समान संसारी नहीं रहता। जो पूर्व की भाँति संसारी है, उस ब्रह्मभाव से युक्त नहीं माना जा सकता। इस तरह मोक्ष वह तत्त्व है, जिसकी प्राप्ति अथवा साक्षात्कार के पश्चात् व्यक्ति सांसारिक बन्धनों में नहीं पड़ता। वह किसी भी दुःख या मोह से शोकग्रस्त एवं मोहग्रस्त नहीं होता है। प्रारब्धकर्मों के क्षयपर्यन्त वह शरीर को धारण किये रहता है किन्तु शरीर में उसकी कोई आसक्ति नहीं रहती, ऐसा व्यक्ति ही जीवन्मुक्त कहलाता है। मैं कर्त्ता नहीं हूँ, मैं भोक्ता नहीं हूँ, जीवितावस्था में यह प्रतीति ही जीवनमुक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीता में स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण दिये गये हैं वे सब जीवन्मुक्ति के ही लक्षण हैं।[३८]

मोक्ष के सम्बन्ध में ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार दण्ड से दूध को मथा जाता है, उसी प्रकार चार कला से युक्त हृदय में स्थित तत्त्व को देह में भ्रमण कराया जाता है, तब इसमें महापक्षी (जीव) शीघ्र ही त्रास करता है। जब जीव की श्वास एवं निश्वास की गति अवरुद्ध हो जाती है, जब जीव निष्फल हो जाता है। जैसा कि अधोलिखित उपनिषद्-मन्त्र में निर्दिष्ट है-

चतुष्कलसमायुक्तो भ्राम्यते च हृदिस्थितः। गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः॥
एतस्मिन् वसते शीघ्रमविश्रामं महाखगः। यावन्निःश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलता गताः॥[३९]

अभिप्राय यह है कि विविध प्राणायामों के द्वारा साधक जब प्राणजय कर लेता है, तब चित्त के स्थिर होने से तथा विविध मलों के आवरण के हट जाने से निष्कलतत्त्व (आत्मतत्त्व) अपने स्वरूप में प्रतिबिम्बित

---

३४ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तैत्ति०उप०२.१

३५ व्या०भा०यो०सू०३.१६

३६ अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छां०उप०८.१२.१

३७ बृहद्०उप०४.४.७

३८ प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगताम्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ श्रीमद्०भग०२.५५-५६

३९ ब्रह्म०उप०१८-१९

होने लगता है और अन्ततः इसी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके व्यक्ति मोक्ष की अनुभूति करता है। यही परमानन्द या ईश्वरत्व है। जो प्राणायामों के सतत अभ्यास योगीसाधक को प्राप्त हो जाता है। इसी मार्ग का आश्रय लेकर अनेक योगीसाधकजन मोक्षप्राप्त कर चुके हैं।[४०]

मोक्षविषयक विस्तृत चर्चा में शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार सूर्य के व्यवहार की गति शान्त होने पर जगत् का व्यवहार शान्त हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों और सज्जनों के संग से वैराग्याभ्यास का योग होने से सांसारिक व्यवहार शान्त हो जाता है। इस निमित्त प्रथमतः संसार के कार्य में अनास्था प्रकट की जाती है, फिर दीर्घकाल तक एकान्तध्यान और एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास होने से प्राण की गति बन्द हो जाती है। इसी प्रकार अत्यन्त सहजतापूर्वक पूरक, कुम्भक तथा रेचक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास और एकान्त ध्यानयोग करने से मन की गति शान्त हो जाती है अर्थात् मन वश में हो जाता है। ऐसी स्थिति में ओङ्कार के उच्चारण के अन्त में शब्दतत्त्व का अनुभव होने से ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप समझ लिया जाता है, तब प्राण की गति शान्त हो जाती है अर्थात् प्राणजय कर लिया जाता है।[४१] ऐसी स्थिति में जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करने से ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, इस त्रिपुटी से रहित परमानन्दस्वरूप और शुद्धचैतन्यावस्था वाली समाधि की प्राप्ति होती है।[४२] इसी को ब्रह्म, मोक्ष या निर्बीज-समाधि भी कहा जाता है।

मोक्षावस्था में जीव, ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित करता है, **अहं ब्रह्मास्मि** की अनुभूति करता है। इसी अनुभूति का अत्यन्त विस्तारपूर्वक उल्लेख ब्रह्मविद्योपनिषद् में प्राप्त होता है। यथा-

अच्युतोऽहमचिन्त्योहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम्। अव्रणोहमकायोहमनंगोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम्।।
अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः। अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम्।।
अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोस्म्यकलोऽस्म्यहम्। अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम्।।
अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः। अगोत्रोऽहमगोत्रोहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम्।।
अदृश्योहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भूतः। अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोस्म्यहम्।।[४३]

मोक्षावस्था में जीव अनुभव करता है कि मैं अच्युत हूँ। अचिन्त्य हूँ, अतर्क्य हूँ, अज हूँ, अकाय हूँ, अव्रण हूँ, अनङ्ग हूँ, अभय हूँ, अशब्द हूँ, अरूप हूँ, अस्पर्श हूँ, अद्वय हूँ, अरस हूँ, अगन्ध हूँ, अनादि हूँ, अमृत हूँ, अक्षय हूँ, अलिङ्ग हूँ, अजर हूँ, अकल हूँ, अप्राण हूँ, अक्रिय हूँ, अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य हूँ, अनिर्देश्य हूँ, अलक्षण हूँ, अदृश्य हूँ, अवर्ण हूँ, अखण्ड हूँ, अद्भुत हूँ, अश्रुत हूँ, अन्वेषण योग्य हूँ एवं अमर हूँ। यहाँ पर अच्युत से अभिप्राय है कि मोक्षस्वरूप ब्रह्म (जीव) कभी भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होने वाला है।

उपनिषदों के अनुसार मोक्षप्राप्ति की अनिवार्यता-

बृहदारण्यकोपनिषदनुसार आत्मा अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी को आत्मज्ञान की अनिवार्यता के सम्बन्ध में कहते हैं-

आत्मा वाऽवरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन

---

४० ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमानः। बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः।। ब्रह्म०उप०२५
४१ शां०उप०१.७.२६-२९
४२ जीवात्मपरमात्मैक्यवस्थः त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका समाधिः।। शां०उप०१.८.११
४३ ब्रह्म०उप०८१-८५

मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।।[४४]

अर्थात् हे मैत्रेयि! निस्सन्देह आत्मा ही देखने, सुनने और मनन करने योग्य है तथा अन्त में अनुभव करने योग्य है। आत्मा (परमात्मा) को देखने, सुनने, मनन करने और विशेष ज्ञान प्राप्त कर लेने से यह सब जान लिया जाता है। मैत्रेयी की यह उक्ति मोक्षप्राप्ति में सहायक सिद्ध होगी कि **येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्**[४५] अर्थात् जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती, उस धन का मैं क्या करूँगी? अत: हे भगवन्! आप जो अमर होने के साधन जानते हैं, उन्हीं को मुझे बतलावें, ताकि उन साधनों के द्वारा मैं मुक्त्यवस्था अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सकूँ।

इसी उपनिषद् के प्रथमाध्याय में उपनिषद् प्रस्तोता मोक्षविषयकचर्चा करता हुआ मृत्यु एवं अमरता के रहस्य को उद्घाटित करते हुए कहता है कि मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो और मुझे मृत्यपाश से छुड़ाकर अमृत की ओर ले चलो। आगे कहता है कि मृत्यु ही असत् है और सत् अमृत है। मृत्यु ही तम है और ज्योति ही अमृत है। उपर्युक्त सभी वाक्यों में एक ही भाव परिलक्षित होता है कि मुझे अमर कर दो।[४६]

मोक्षानन्दानुभूति एवं उसकी परिसीमा

बृहदारण्यकोपनिषद् में मोक्षानन्द की मात्रा को लौकिक दृष्टान्तों से समझाने का प्रयास किया गया है। जिस प्रकार प्रिया के आलिङ्गन किये जाने पर पुरुष न तो बाहरी वस्तु को जानता है और न भीतरी वस्तु को। इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा से आलिङ्गन किये जाने पर न बाह्य को जानता है और न ही अन्दर को। उस समय उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। क्योंकि आत्मा (परमात्मा) की उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रहती।[४७] महर्षि पतञ्जल्यनुसार समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में एकरूपता रहती है अर्थात् एक प्रकार का आनन्द आता है।

मोक्षानन्द की इयत्ता का उल्लेख सर्वप्रथम हमें वैदिक संहिताओं में मिलता है। यही चराचर दृश्य या अदृश्य जगत् उस परम पुरुष की महिमा है। वह पुरुष इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से बड़ा है। भगवान् की सम्पूर्ण शक्ति का एक चौथाई ही यह चराचर जगत् है। तीन चौथाई तो अमृत (मोक्ष) में है। उस भोग को केवल मुक्तपुरुष ही कर सकते हैं।[४८] ब्रह्मलोक जाने की एकमात्र शर्त यही है कि सांसारिक मोह, माया, ममता, भौतिक वस्तुओं का उसी प्रकार त्याग किया जाये, जिस प्रकार हम मलत्याग करते हैं। सांसारिक वस्तुओं को भगवान् के चरणों में समर्पित करके ही हम ब्रह्मलोकाधिकारी बन सकते हैं। जैसा कि अधोलिखित अथर्ववेदीय मन्त्र में निर्दिष्ट है-

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रयोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।

---

४४ बृहद्०उप०२.४.५

४५ बृहद्०उप०२.४.३

४६ असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमयेति।। बृहद्०उप०१.३.१८

४७ तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। एवमेवायं पुरुष प्राज्ञे नात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद् वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्।। बृहद्०उप०४.३.२१

४८ एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। ऋग्०१०.९०.३, यजु०३१.३

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।।[४९]

उपनिषद्वाङ्मय के ऋषियों ने सूक्ष्म अध्ययन करके अथवा अनुभव करके यह जानने का प्रयास किया है कि मोक्ष के आनन्द की परिसीमा क्या है? महर्षि याज्ञवल्क्य बृहदारण्यकोपनिषद् में मोक्षानन्द की मीमांसा करते निर्देश देते हैं-मनुष्यों में जो सबसे अधिक सुख-सुविधा सम्पन्नता है, वह मनुष्यों का सबसे बड़ा आनन्द है। मनुष्यों के ऐसे सौ आनन्द पितरों का एक आनन्द के बराबर है। पितरों के सौ आनन्द गन्धर्वों के एक आनन्द है। गन्धर्वों के सौ आनन्द कर्मदेवों का एक आनन्द है। कर्मदेवों के सौ आनन्द आजानदेवों का एक आनन्द है। आजानदेवों के सौ आनन्द प्रजापति लोक में एक आनन्द है। ऐसे प्रजापतिलोक के सौ आनन्द ब्रह्मलोक में एक आनन्द के बराबर है। यही परम आनन्द है। यही ब्रह्मलोक है।[५०]

मोक्षप्राप्ति के उपाय-

उपनिषदों के तत्त्वविचार के साथ-साथ उस परमतत्त्व को प्राप्त करने के साधनों पर भी विचार किया गया है। मोक्ष का एकमात्र साधन आत्मलाभ अथवा ब्रह्मसाक्षात्कार है। परन्तु पूर्ण आत्मलाभ की ओर क्रमशः विकास के अनेक प्रकार के अन्य साधनों का सहारा लेना पड़ता है। आत्मा जब शान्त (मन को वश में करना), दान्त (इन्द्रियों को वश में करना), उपरत (विरक्त), तितिक्षु (सहिष्णु) और समाहित (एकाग्रचित्त) हो जाता है, तब अपने अन्दर ही परमात्मा का दर्शन कर लेता है। यथा-आत्मज्ञानाभिलाषी व्यक्ति को चाहिये कि वह आचार्य के कुल में वेद को पढ़कर यथाविधि गुरु के पास सारे सेवादि कार्य करके समावर्त्तन संस्कार करवाकर परिवार में रहता हुआ, पवित्र स्थान में बैठकर स्वाध्याय करता हुआ, निज सन्तानों को तथा अन्य लोगों को धार्मिक कार्यो में प्रवृत्त करता हुआ, कहीं भी किसी भी प्राणी को कष्ट न देता हुआ, वह सम्पूर्ण आयु ऐसा व्यवहार करता हुआ अन्तकाल में मुक्ति को प्राप्त होता है। तब वह आवागमन के चक्र से छूट जाता है।[५१] इसी उपनिषद् में सनत्कुमार जी ने नारद को मोक्षविद्या का उपदेश देते हुए कहा है कि-मुक्ति की प्राप्ति विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा, त्याग, कर्म एवं सुख से होती है। दुःखी मनुष्य अच्छे कर्म नहीं करते। सुख हमेशा ईश्वर से प्राप्त हुआ करता है। इसी कारण भूमा को सुख कहा गया है। क्योंकि वही सुखस्वरूप है।[५२]

मुक्ति की अवधि एवं महर्षि दयानन्द-

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में मोक्ष की अवधि छत्तीस हजार बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के समय के बराबर लिखी है। एक बार की सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का समय दोनों मिलाकर आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्ष को छत्तीस से गुणा करने पर ३१ नील १० खरब और ४० अरब मानव वर्ष का समय बनता है। इतने काल तक जीवात्मा किसी भी प्रकार का कोई भी दुःख नहीं भोगता। मोक्ष की अवधि पूरी होने पर अपने अवशिष्ट कर्मों का फल भोगने के लिए और पुनः मोक्षप्राप्ति के लिये, फिर संसार में जन्म धारण करता है। महर्षि दयानन्द दुःखों से पूर्णतया मुक्त होने को

---

४९ अथर्व०१९.७१.१

५० बृहद्०उप०४.३.३३

५१ छां०उप०८.१५.१

५२. छां०उप०७.१७.१-७.२३.१

मुक्ति कहते हैं-**मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जनाः यस्यां सा मुक्तिः।**[५३] मुक्ति की यही सरल परिभाषा है। यह जीवनकाल में भी हो सकती है और मृत्यु के उपरान्त भी। जैसे लोक में आदमी औषधि आदि का सेवन करके कुछ काल तक रोगों से मुक्त रहता है, वैसे ही उपासना, सत्कर्म आदि के अनुष्ठान से जन्म-मरण के चक्र का कुछ कालपर्यन्त निरुद्ध हो जाना मोक्ष है। वे मुक्ति का एक सीमित काल मानते हैं, आत्यन्तिक मुक्ति नहीं। आत्यन्तिक शब्द का वे अत्यधिक अर्थ करते हैं।[५४]

मुक्ति अथवा मोक्ष के प्रकार एवं तत्सम्बन्धी चर्चा-

योगदर्शन के व्यासभाष्य में मुक्ति दो प्रकार की है-१. **जीवन्मुक्ति** तथा २. विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति को परिभाषित करते हुए व्यास जी कहते हैं कि क्लेशों तथा कर्म आदि के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर विद्वान्पुरुष इसी जीवन में मुक्त हो जाता है।[५५] यद्यपि जीवन्मुक्त विद्वान् भी अन्य व्यक्तियों की तरह कार्य करता हुआ प्रतीत होता है किन्तु विवेकज्ञान उत्पन्न होने के कारण उसके कर्म कर्माशय जनक होते हैं। मृत्यु के अनन्तर सदा के लिये जन्म-मरण से छूटने को विदेहमुक्ति कहते हैं। प्रथमतः हम जीवन्मुक्ति के विषय में चर्चा करते हैं-

१. जीवन्मुक्ति-

तत्त्वमसि इत्यादि गुरूपदिष्ट श्रुतिवाक्यों तथा **अहं ब्रह्मास्मि** इत्यादि आत्मानुभवों से जब ब्रह्म एवं आत्मा की एकता विषयकानुभूति होती जाती है, तब ज्ञान से आत्मविषयक सम्पूर्ण अज्ञान नष्ट हो जाता है और अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार होता है एवं जीवात्मा के सभी प्रकार के कर्मों के बन्धन क्षीण हो जाते हैं। इसको ही जीवन्मुक्त जाना चाहिये। यह अवस्था स्वस्वरूपभूत अखण्डब्रह्म के साक्षात्कार के पश्चात् ही होती है। उस साक्षात्कार का उपाय है, स्व-स्वरूपभूत अखण्डब्रह्म का ज्ञान। अभिप्राय यह है कि समस्त बन्धनों से रहित हो जाने से केवल ब्रह्म में ही तत्पर रहने वाले ब्रह्मनिष्ठ को ही जीवन्मुक्त कहते हैं। जैसा कि अधोलिखित उपनिषदोद्धृत उद्धरण में निर्दिष्ट है-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥[५६]

जीवनमुक्ति का मूल चित्तवृत्तिनिरोध है।[५७] इन चित्तवृत्तियों के निरोध के दो मार्ग बतलाये गये हैं- योग एवं ज्ञान। योग के अन्तर्गत अष्टाङ्गिक मार्ग से चित्तवृत्तियों का शमन किया जाता है, जबकि ज्ञान द्वारा वस्तु के तत्त्व को यथार्थरूप में देखकर चित्त को इससे विरक्त कर लिया जाता है अथवा सभी वस्तुओं मूलतः ब्रह्मरूप में देखते हुए समत्वबुद्धि का प्रसार होता है, जिससे मन की गति नियन्त्रित होती है। इस प्रकार मन को जब वश में कर लिया जाता है तब वह निश्चित ही शान्त हो जाता है और इसकी चञ्चलता शान्त होते ही सम्पूर्ण विश्व अपने अन्तःकरण में विलीन होता हुआ प्रतीत होता है।

जिस प्रकार कर्पूर अग्नि में तथा नमक जल में विलीन हो जाता है, वैसे ही योगीसाधकजन का मन

---

५३ स०प्र०, नवम समुल्लास।

५४ स०प्र०, नवम समुल्लास।

५५ क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् मुक्तो भवति। योग०द०१.१९ पर व्या०भा०

५६ मुं०उप०२.२.८

५७ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योग०सू०१.२

परमात्मा में विलीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में जो जानने योग्य है, वह सब जाना हुआ ही है। ज्ञान और ज्ञेय सभी एक साथ नष्ट हो जाते हैं। ज्ञेय वस्तु के त्याग से जब मन विलय हो जाता है, तो केवल कैवल्य ही शेष रहता है।[५८] यही जीवन्मुक्ति है।

२. विदेहमुक्ति-

ब्रह्मभाव या ब्रह्मावगति को ही मोक्ष या विदेहमुक्ति के नाम से जाना जाता है। कार्य और कारणरूप परब्रह्म को तात्त्विकरूप में जान लेने पर इस जीव के हृदय की अविद्यारूपी गाँठ खुल जाती है, समस्त संशय विनष्ट हो जाते हैं तथा समस्त शुभाशुभ कर्म क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् यह जीव समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।[५९] जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है।[६०]

विदेहमुक्ति के साधनरूप में उपदेश वाक्यों को प्रस्तुत करते हुए महर्षि अथर्वा, शाण्डिल्य ऋषि से कहते हैं-हे शाण्डिल्य! जिसमें यह सब ओत-प्रोत है, जिसमें यह सब उदय पाता है, जिसे जानने से यह सब कुछ जान लिया जाता है, वह हाथ-पैर-रहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, जिह्वारहित, शरीररहित, अग्राह्य तथा अनिर्देश्य है। जिसे प्राप्त किये बिना ही वाणी मन के साथ पीछे लौट जाती है। जो केवल ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है, जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रसार हुआ है, जो एक और अद्वितीय है, आकाशवत् सर्वव्यापी, अत्यन्त सूक्ष्म, निरञ्जन, निष्क्रिय, मात्र सत्यस्वरूप, चैतन्य और आनन्दरूप, एकरस, मङ्गलमय, अतिशान्त और अमर है; वह परब्रह्म है और वही तू भी है। ज्ञान द्वारा तुम उसको जानो। वही आत्मशक्ति के रूप में मुख्य, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तरात्मा, सर्वभूताधिवास, सर्वभूतनिगूढ़, सर्वभूतयोनि तथा एकमात्र योग के द्वारा जानने योग्य है। जो विश्व की सृष्टि, पालन तथा संहार करता है; वही आत्मा है। उन समस्त लोकों को तुम आत्मा में ही अधिष्ठित समझो। तू शोक मत कर। आत्मा का विशेष ज्ञान अर्थात् मोक्ष-प्राप्त करके तू शोक का अन्त कर सकेगा।[६१]

पैङ्गलोपनिषद् में धर्ममेध समाधि तथा इसके बाद होने वाली जीवन्मुक्ति का वर्णन योगदर्शन के समान ही इस प्रकार किया गया है। स्मरण करने पर ही उनका पता चलता है। अब तक संचित कर्म तथा उनके परिणाम विलय को प्राप्त हो जाते हैं। अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर सदैव अमृतधारा बरसती रहती है। इस प्रकार वासनाजाल के निःशेष हो जाने पर कर्मसंचय तथा पुण्य-पाप नष्ट हो जाने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है।[६२]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वैदिक-वाङ्मय में मोक्षविषयक पर्याप्त चर्चा प्राप्त होती है। उपनिषदों में मोक्षसम्बन्धी जो चिन्तन प्राप्य है उसके मूल में भी वेद संहिताएँ ही हैं।

---

५८ कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा। तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते। ज्ञेयवस्तु परित्यागाद्विलयं याति मानसम्। मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते॥ शां०उप०१.७.२१ व २३

५९ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ मुं०उप०२.२.८

६०. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति॥ मुं०उप०३.२.९

६१ शां०उप०, द्वितीय अध्याय

६२ पैङ्गलोपनिषद् २.१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०७८-८३) ISSN 0974 – 8830

वेदप्रतिपादित प्राणायाम-चिकित्सा

डॉ. नीरज शास्त्री[1]

वेदों में भौतिक वायु द्वारा-चिकित्सा करने की चर्चा की गयी है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में वायु को भेषज्, विश्व भेषज्, अमृत आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। वायु को अमृत का निधि कहा गया है और इसे दीर्घायु का साधन कहा गया है।[2] शुद्ध वायु का सेवन, घर में शुद्ध वायु का निर्बाध प्रवेश, शुद्ध वायु में लम्बे श्वास लेना, प्रदूषण रहित स्थान में निवास, पर्वतों में रहना या समुद्र तट पर निवास करते हुए अति शुद्ध वायु का सेवन अनेक बीमारियों का निदान और दीर्घायुष्य का साधन है। ये चर्चायें वेद के अनेक मन्त्रों में प्राप्त होती है। वायु से प्राण अर्थात् जीवनीय शक्ति प्राप्त होती है। वायु को **वात आ वातु भेषजम्** अर्थात् वायु को भेषज् कहा है। वायु हृदय को शक्ति देता है और मनुष्य को दीर्घायु प्रदान करता है, ऐसी ऋग्वेद की मान्यता है।[3]

पवित्र वायु के सेवन से प्राण या जीवनी शक्ति प्राप्त होती है।[4] वायु शरीर में औषध का कार्य करता है,। वह शरीर के दोषों को निकालकर बाहर करता है।[5] वेद की इस भावना को कि भौतिक वायु से रोग का निदान होता है। इसके लिए सबसे उत्तम उदाहरण क्षय-रोग (ऊ.ँ) चिकित्सा के लिये उत्तराखण्ड में चीड़ के जंगलों में आच्छादित शुद्ध वायु के वातावरण में ज़नपद नैनीताल में स्थित **भवाली सेनिटोरियम** की स्थापना की गयी। वहाँ क्षय-रोग से पीड़ित सैंकड़ों रोगी स्वास्थ लाभ के लिये जाते हैं और स्वास्थ्य लाभ करने के पश्चात् सकुशल दीर्घायु होकर घर वापस लौटते हैं। चिकित्सालयों में आकस्मिक उपचार के लिए ऑक्सीजन (प्राणवायु या भौतिक-वायु) का मास्क रोगी की नासिका पर लगाकर उपचारित किया जाता है। बेहोश रोगियों के फेफड़ों के अन्दर जमा कफ को निकालने के लिये वायु के दबाव से ही बाहर खींचकर निदान करते हैं। अतः सिद्ध होता है कि वायु मनुष्य का रक्षक है, पिता है, पोषक और भाई एवं सहायक व मित्र है।[6]

इससे प्रतीत होता है कि शुद्ध वायु का सेवन पालक, पोषक और सहायक मित्र के समान है, इसका सदुपयोग किया जाता है, तो मनुष्य दीर्घायु हो जाता है। वायु मनुष्य की आत्मा है।[7] यह प्राणों से भी प्रिय है। इसको शरीर रूपी घर में अत्यन्त आदरणीय अतिथि के रूप में स्थान देना चाहिये। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि जिस घर में वायु का अबाध प्रवेश है, वह घर शुद्ध है और उसमें रहने वाला व्यक्ति सबसे अधिक

---

१ प्रोजेक्ट फेलो, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ ऋक्० १०.१८६.३ यददो वात ते गृहे, अमृतस्य निधिर्हितः॥

३ ऋक्० १०.१८६.१

४ वातात् ते प्राणं अविदम्-अथर्व०८.२.३

५ ऋग्०१०.१३७.३

६ ऋग्०१०.१८६.२

७ ऋग्०१.३४.७ आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम्।

सुरक्षित है अर्थात् वह सभी प्रकार के रोगों से सर्वथा मुक्त रहता है।[८] इस प्रकार पता चलता है कि शुद्ध वायु का सेवन और निवास स्थान में शुद्ध वायु का प्रवेश, मनुष्य के शरीर और हृदय को स्वच्छ रखते हैं, पुष्ट करते हैं, नीरोग करते हैं और उसे दीर्घायु प्रदान करते हैं।

वेदों में प्राणायाम-चिकित्सा के विषय में अनुसन्धानपरक तथ्यों पर आधारित विवेचन करना ही हमारा प्रयास है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार प्राणायाम शब्द दो पदों के मेल से बना है। प्राण — आयाम, व्याकरण के **अकः** 'सवर्णे दीर्घः'[९] सूत्र के आधार पर दीर्घ-सन्धि करने पर प्राणायाम शब्द निष्पन्न होता है। प्रस्तुत शब्द प्राणायाम में प्राण शब्द का अर्थ है-शरीर में विद्यमान वायु और आयाम का अर्थ है-विस्तार। यह प्राणायाम शरीर को हृष्ट-पुष्ट और नीरोग तो बनाता ही है, साथ ही धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति के लिये भी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। अष्टाङ्गयोग में समाधि तक पहुँचने के लिये योग के आठ अङ्गो का वर्णन किया गया है, जो निम्नलिखित है-

प्रथम अङ्ग यम है। उसके पाँच भेद माने जाते हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। द्वितीय अङ्ग नियम है। इसके भी पाँच भेद हैं-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान। तृतीय अङ्ग आसन। चतुर्थ अङ्ग प्राणायम। पञ्चम अङ्ग प्रत्याहार। षष्ठ अङ्ग धारणा। सप्तम अङ्ग ध्यान। अष्टम अङ्ग समाधि है।

इस प्रक्रिया में साधन तक पहुँचने के लिये आसन और प्राणायाम का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। इस प्राण को रोकने के विषय में अथर्ववेद में कहा है कि-जो मनुष्य ऐसे बड़े अर्थात् विद्वान् सर्वज्ञ परमेश्वर का उपद्रष्टा अर्थात् सूक्ष्मदर्शी व साक्षात्कारकर्त्ता भक्त होता है, वह अपने प्राणों को रोकता है।[१०] इसी अनुक्रम में अथर्ववेद में आगे कहा कि यदि वह अपने प्राण को नहीं रोकता है, तो वह सब हानि से निर्बल हो जाता है।[११] और फिर इसी प्रसङ्ग में अथर्ववेद का आदेश है कि-वह सब हानि से ही हीन नहीं होता है किन्तु ऐसे मनुष्य को जरा अर्थात् बुढ़ापा आने से पहले ही जीवन-व्यापार छोड़ देता है।[१२] प्राणायाम की महत्ता को समझाते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में, प्रमाण रूप में योगदर्शन का सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहा है कि **प्राणायामशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।**

अर्थात् मनुष्य जब प्राणायाम करता है, तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है। जब तक मुक्ति न हो तब तक उसके आत्मा का ज्ञान बराबर बढ़ता जाता है।

मनुस्मृति का कथन है कि-जैसे अग्नि में तपाने से सवर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट होते हैं, वैसे प्राणायाम करके मनादि इन्द्रियों के दोष निर्मल हो जाते हैं।[१३] प्राणायाम की विधि का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि-

जैसे अत्यन्त वेग से वमन होकर अन्न, जल बाहर निकल जाता है, वैसे ही प्राण को बल से बाहर

---

८ ऋग्०१.८६.१ मरुतो यस्य हि क्षये स सुगोपातमो जनः।
९ अष्टाध्यायी ६.१.९९
१० अथर्व०११.३.५४ स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि।
११ अथर्व०११.३.५५ न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते।
१२ अथर्व०११.३.५६ न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति।
१३ दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां च यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ मनु० ६.७१

फेंककर बाहर ही यथाशक्ति रोक देवें। जब बाहर निकालना चाहें तभी मूलेन्द्रिय को ऊपर खींच लें। तब तक मूलेन्द्रिय को ऊपर खींचे रखें, जब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है। जब घबराहट हो तब धीरे-धीरे भीतर वायु को ले के फिर भी वैसे ही करता जाये, जितना सामर्थ्य और इच्छा हो और मन में (ओ३म्) इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की स्थिरता होती है, पवित्रता होती है। प्राणायाम की क्रिया को समझाते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती जी क्रिया विधि का उपदेश करते हैं कि-एक **वाह्यविषय** अर्थात् बाहर ही अधिक रोकना। दूसरा **आभ्यान्तर** अर्थात् भीतर जितना प्राण रोका जाय उतना रोके। तीसरा **स्तम्भवृत्ति** अर्थात् एक ही बार जहाँ का तहाँ प्राण को यथा-शक्ति रोक देना। चौथा **बाह्यभ्यन्तराक्षेपी** अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उससे विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले और जब भीतर से बाहर आने लगे तब प्राण को धक्का देकर रोकता जाए। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करें तो दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में होने से मन और इन्द्रियाँ भीं स्वाधीन होते हैं। बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है, जो कि बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती हें। इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम और जितेन्द्रियता प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य सब शास्त्रें को थोड़े ही काल में समझकर उपस्थित कर लेता है। स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें।[१४]

प्राणायाम और दीर्घ-श्वसंन

प्रत्येक लड़के और लड़की को दीर्घ श्वास-प्रश्वास लेने के महत्त्व को बता देना चाहिये और उचित अध्यक्ष की अध्यक्षता में अभ्यास कराना चाहिये। इसका प्रभाव मन और शरीर दोनों पर अच्छा पड़ेगा। इससे शरीर के सब अङ्ग दृढ़ होकर मन के सुयोग्य और प्रशस्त सेवक बन जायेंगे।[१५] फेफड़े का जीवन-पराक्रम अधिक से अधिक वायु भीतर भरकर अधिक से अधिक वायु बाहर निकालने पर निर्भर है।[१६] दीर्घ और नियमित श्वास-प्रश्वास से मन की एकाग्रता करने में निश्चय सहायता मिलती है। अभ्यास करने वालों को चाहिये कि पहिने हुए कपड़ों को ढ़ीला करके अपने फेफड़ों को मन्द तथा एक सा वायु से पूर्णतया भर लेवें। श्वास को बिना अति उद्योग के रोके रहे और धीरे-धीरे एक सा बाहर को फेंके। इस अभ्यास से शान्त और ओजस्विनी अवस्था प्राप्त होती है। जो कि एक शक्तिशाली व्यक्ति के लिये आवश्यक है। जब श्वास ले रहे

---

१४ सत्यार्थ प्रकाश, चतुर्थ संस्करण १९९८, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ २८

१५ वैदिक सम्पत्ति, सार्वदेशिक सभा प्रकाशन, पृष्ठ २९ As it is by the means of air which We breathe, hat life is supported and vital energy retained, it is of great consequence that we should be as much as possible surrouded by that element in a state of purity. Invalids should commence all exercises very moderately and gradually increase them and set the motto be little but often. Every boy and girl should be taught the value of deep breathing which should be practised under proper control. They whould set beneficially boty mentally and physically, strengthen the various organs of the body and render them more able and efficient servants of the mind. Dr. May`s Practical Method. p.19

१६ वैदिक सम्पत्ति, सार्वदेशिक सभा प्रकाशन, पृष्ठ २९ The vital capacity of the chest is the amount of air which can be expired from the chest after taking the deepest possible inspiration. Physiology, 138 by H. Ashby, M.P

हां, तब प्रेम स्वास्थ्य या आनन्द की एक गम्भीर भावना को अन्दर प्रवेश करें। जब तक श्वास रोके रहें, तब तक उसी भावना को रोके रहें और प्रश्वास के समय उसको भी बाहर फेंक दें।[१७] इन क्रियाओं के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों ने प्राणायाम को सिद्ध कर लिया है। वे मनमाने समय तक बिना श्वास लिये मृतवत् रह सकते हैं। एडिनबरो के डाक्टर डंकन एक विद्यार्थी के विषय में लिखते हैं कि वह भी कर्नल टौनशैंड की तरह मृतवत होकर, सफलतापूर्वक प्राण लौटा लिया करता था।[१८]

प्राणायाम वेदों से अनुसन्धान की गयी वह प्रणाली है, जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर को स्वस्थ रखते हुए आन्तरिक दोषों को दूर कर देती है। इसी पर आधारित होकर महर्षि पतञ्जलि ने चिन्तन और आत्मदर्शन के परिणाम स्वरूप वेद मन्त्रों के भावों को क्रियात्मक रूप युग-युगान्तर तक देने के लिये योगदर्शन का प्रणयन किया। प्राणायाम स्थूल शरीर के लिये श्वसन और निश्वसन क्रिया व्यायाम की एक विशिष्ट और सूक्ष्म पद्धति है। जिससे स्वर-संस्थान, फुफ्फुस-संस्थान (फेफड़े), हृदय-संस्थान आदि की कार्यप्रणाली सुधरने से आरोग्यता मिलती है और दीर्घायुष्य की प्राप्ति होती है। शरीर की वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एनाटोमी और फिजियालॉजी का अध्ययन करने से पता चलता है कि हमारा फुफ्फुस-संस्थान शरीर का वह संस्थान है, जिसमें श्वसन क्रिया के द्वारा शुद्ध प्राणवायु को खींचकर जब अन्दर ले जाते हैं, तो यह शुद्ध वायु रक्त के अन्दर मिलकर शरीर के प्रत्येक भाग में प्राणवायु अर्थात् ओसजन (ऑक्सिजन) का संचार करती है और निश्वसन की क्रिया में सम्पूर्ण शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के अवयवों में संचरित रक्त शिरा नलिकाओं (शिरा-कोशिकाओं) से वापस लाये गये रक्त में दूषित वायु जिसे कार्बनडाईआक्साइड कहते हैं, यह कार्बनडाइआंक्साड रक्त से फुफ्फुस-संस्थान में आकर स्वसन-संस्थान के माध्यम से निश्वसन क्रिया द्वारा बाहर फेंक दी जाती है। प्राणायाम के द्वारा निरन्तर श्वसन और निश्वसन का क्रमबद्ध अभ्यास करके रक्त के शोधन का कार्य निरन्तर चलता रहता है।। प्राणायाम की क्रिया के अतिरिक्त जो श्वास का अनुक्रम चलता है, उसमें प्रायः सभी व्यक्ति सामान्यतया गहरा श्वास नहीं ले पाते, जिससे फेफड़े लगभग एक चौथाई से भी कम कार्य कर पाते हैं। अतिरिक्त तीन चौथाई भाग निष्क्रिय ही रहता है। वैज्ञानिक सर्वेक्षणों से फेफड़ों का एनाटोमिक अध्ययन करने से पता चलता है कि लगभग सात करोड़ तीस लाख 'स्पंज' आकृति के कोष्ठक शहद की मक्खी के छत्ते के अनुसार होते हैं। सामान्यतया श्वास लेने पर अधिक से अधिक दो करोड़ के लगभग फुफ्फुस छिद्रों में प्राणवायु का संचार हो पाता है, शेष बचे हुए लगभग पाँच करोड़ तीस लाख फुफ्फुस छिद्रों में प्राणवायु न पहुँचने से बेकार और निष्क्रिय हो जाते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप शरीर में

---

१७ वैदिक सम्पत्ति, सार्वदेशिक सभा प्रकाशन, पृष्ठ ३० An undoubted aid to concentration is to practise deep and regnlar breathing. Having loosened the clothing. Fill your lungs to thefullest extent with slow and even inspiration, hold the breath without straining and expel it equally slowly. This excercise the calm, strong attitude essential to a powerful individuality. Whilst inhaling draw in some deep thoughat of love, health or happiness, allow the mind to dwell on it whilst keeping the breath in suspension and radiate or give out the same quality during expiration. `Mind concentration` p.38 and by 39 K.L.Anderson.

१८. Dr. Duncan, Edinburg, mentions the case of a medical student who like col. Townshend simulated successfully the appearance of death. Medical jurisprudence for India, p.82, by L.A.Waddell.

सुस्ती आलस्य जड़ता और विजातीय द्रव्य या मल जमने लगते हैं। इन विजातीय द्रव्यों या मलों के जम जाने से क्षय, ब्रॉकाइटिस, खाँसी आदि कफज रोगों से शरीर रोग ग्रसित हो जाता है। फुफ्फुस-संस्थान की इस अधुरी कार्य पद्धति का प्रभाव रक्त-संचार पर भी प्रतिकूल पड़ता है और रक्त अशुद्ध होनें से अथवा कम शुद्ध होने से हृदय तो कमजोर होता ही है, साथ-साथ शरीर के अन्य भागों में अनेक रोग उत्पन्न कर देता है, परिणामत: कष्ट उठाने पड़ते हैं और जीवन नरकमय हो जाता है। इसलिये अथर्ववेद का निर्देश है कि-पुरुष के हित के लिये तुझे नमस्कार हो, जाते हुए के हित के लिये तुझे नमस्कार हो, हे प्राण! खड़े होते हुए के हित के लिये तुझे नमस्कार हो, बैठे हुए के हित के लिये तुझे नमस्कार हो।[१९]

वेद मन्त्रों का अर्थ गूढ़ होता है और गुणात्मक यौगिक भी होता है और जैसा कि पीछे बताया गया है गुणात्मक और यौगिक अर्थो पर जितना ही मनन और चिन्तन करेंगे, उतना ही अनुसन्धान पूर्वक विचित्र ज्ञान मिलता है। प्रस्तुत मन्त्र में इस वैचित्रता का आनन्द तब आता है, जब आध्यात्मिक क्षेत्र के लिये प्राण शब्द का अर्थ परमात्मा के लिये किया जाता है। परमात्मा भी शरीर की रक्षा करता है और वायु श्वसन और निश्वसन अर्थात् आते हुए और जाते हुए बैठी अवस्था या खड़ी अवस्था में प्राणों का रक्षक है। योग-दर्शन का सम्पूर्ण विषय महर्षि पतञ्जलि ने इसी आधार पर दिया है, क्योंकि ऋषियों का चिन्तन विद्वानों और वैज्ञानिकों के चिन्तन से अतिसूक्ष्म होता है। इसलिये वेद-प्रतिपादित प्राणायाम की महत्ता और क्रिया-विधि को रोगों के निवारणार्थ और दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिये मृत्युञ्जयी जीवन बनाने के लिये लोकोपकारी योगसूत्रों का साक्षात्कार कर प्रणयन किया। इसी अनुक्रम में अगला मन्त्र कहता है कि-

हे प्राण! श्वास लेते हुए के हित के लिये तुझे नमस्कार हो, प्रश्वास लेते हुए के हित के लिये तुझे नमस्कार हो, बाहर जाते हुए के हित के लिये तुझे नमस्कार हो, सम्मुख जाते हुए के हित के लिये तुझे नमस्कार और सबके हित के लिये तुझे नमस्कार हो।[२०] उद्वेग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चिन्ता, निराशा आदि मनोरोगों का औषधियों से अधिक सफलता पूर्वक एवं सरलता पूर्वक निदान प्राणायाम द्वारा किया जा सकता है। जबकि वैदिक स्तुति,प्रार्थना,उपासना और सन्ध्या के नित्य-कर्म में प्राणायाम को एक आवश्यक दिनचर्या का अङ्ग बताते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने **संस्कार-विधि** के गृहस्थ आश्रम प्रकरण में लिखा है कि-

'शौच, दन्तधावन, मुख-प्रक्षालन करके स्नान करे, पश्चात् एक कोश वा डेढ़ कोश एकान्त जंगल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना कर सूर्योदय पर्यन्त अथवा घड़ी, आध घड़ी दिन चढ़े तक धर में आके सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथा-विधि उचित समय में किया करे।'[२१] प्राणायाम के विषय में अथर्ववेद में स्वास्थ्यपरक यौगिक अर्थो में स्पष्ट कहा है कि-प्राण सब उत्पन्न प्राणियों को निरन्तर ढ़क लेता है, अर्थात् रोगों और विपदाओं से रक्षा करता है, जैसे माता-पिता अपने पुत्र की वस्त्रादि साधनों से सुरक्षा करते हैं।[२२] अत: प्राण ही सब का रक्षक है, जो कुछ श्वास लेते हैं और जो श्वास नहीं लेता है, इसी क्रम में ज्वर आदि अनेक रोगों के निवारणार्थ प्राणायाम की शक्ति के विषय में वेद का मन्त्र आदेशित अथवा उपदेशित करता है कि-प्राण जीवन दाता मृत्यु, जो प्राण जीवन को कष्ट देने वाला अर्थात् मृत्यु को प्राप्त कराने

---

१९ अथर्व० ११.४.७ नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥

२० अथर्व० ११.४.८ नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते। पराचीनाय ते नमः। प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः॥

२१ संस्कार विधि, गृहस्थ आश्रम प्रकरण, १२ वाँ संस्करण, प्रकाशक आर्ष साहित्य ट्रस्ट, पृष्ठ-१५५

२२ अथर्व० ११.४.१ प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।

वाले ज्वर आदि गम्भीर रोग हैं, उस प्राण की विद्वान् लोग उपासना करते हैं अर्थात् श्वास-प्रश्वास से सेवन करते हैं, प्राण ही सत्यवादि को उत्तम लोक पर स्थापित कर सकता है।[२३]

इस प्रकार वेदां का उर्प्युक्त वर्णित अनुसन्धानात्मक अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि वेद प्रतिपादित प्राणायाम की क्रिया एक वैज्ञानिकता पूर्ण चिकित्सा पद्धति है। जो इहलोक और परलोक दोनों में अत्यन्त लाभकारी है, इस चिकित्सा पद्धति के माध्यम से मनुष्य अनेक भयावह रोगों से मुक्ति पाकर अपने जीवन को आनन्दमय बना सकता है। आज के प्रदूषित एवं विषाक्त वातावरण में कोई भी वस्तु अथवा अन्न,जल,वायु आदि कोई भी भक्षय पदार्थ जिसका हम सेवन करते हैं वह शुद्धता से रहित है, ऐसी परस्थिति में तो प्राणायाम का महत्त्व ओर भी अधिक बढ़ जाता है। प्राणायाम द्वारा विशुद्ध वायु के सेवन से मनुष्य के शरीर और शरीर के आन्तरिक अङ्ग स्वच्छ और पुष्ट होकर दीर्धायु को प्राप्त होते हैं तथा प्राणायाम आध्यात्मिक शक्तियों का भी संचय कर मृत्युञ्जयी जीवन बनाकर परमात्मतत्त्व तक पहुँचाने का एक मात्र साधन है।

२३ अथर्व० ११.४.२ प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०८४-९१) ISSN 0974 – 8830

वेद एवं कुरआन : आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में

डॉ० बी० नाज[1]

अपौरुषेय एवं अनन्त ज्ञान के भण्डार वेद एवं कुरआन केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं अपितु ज्ञान एवं अनुसंधान की विविध शाखाओं के वाहक तथा अध्यात्मविद्या से लेकर भौतिक विद्या तक फैले ज्ञान के विविध क्षेत्रों में प्राप्त बौद्धिक उत्कर्ष के भण्डार हैं। इनमें अन्तर्विषयी अध्ययन की अपार क्षमता है। आत्मिक एवं भौतिक ज्ञान की निधि के ये दोनों ग्रन्थ मानवता के सर्वाधिक विकसित मस्तिष्क का प्रदर्शन हैं। वेदों और कुरआन में निहित ज्ञान वैविध्यमय है, जो व्यावहारिक जीवन के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्ध रखता है। इनमें निहित ज्ञान एवं शिक्षायें सांकेतिक, प्रतीकात्मक गूढ एवं परोक्ष हैं। इनमें आधुनिक अनुसंधान की सीमाओं में न बंधते हुये प्रकृति एवं पदार्थ के रहस्यों को वैज्ञानिक एवं सांकेतिक रूप में उजागर किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों में विज्ञान की विविध धारायें खगोल विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, भूविज्ञान, वनस्पति विज्ञान, कृषि विज्ञान, सामान्य विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान के रूप में प्रवाहित हुई हैं।

आधुनिक विज्ञान में भी वैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न अनुसंधानों एवं गवेषणाओं के पश्चात् भिन्न-भिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार के तथ्यों को बिना किसी वैज्ञानिक प्रमाण के स्वीकार किया जाता है। फ्रेंसिस कॉलिन्स जैसे जेनेटिक्स तथा रिचर्ड डावकिन्स जैसे इथोलॉजिस्ट पिछले २५ वर्षों से एक वैज्ञानिक के रूप में कार्य करते हुये भी यह कहने में आज संकोच नहीं करते कि विज्ञान सृष्टि को पूर्णरूपेण समझने में नाकाम रहा है। विज्ञान की हठवादिता अब कम होती जा रही है। इसका कारण यह है कि पदार्थ जिसे उसने अपना आधार मान रखा था, आज अपना अस्तित्व खोता जा रहा है। नील्स, बोर (डेनमार्क), लुइस दे बांगली (फ्रांस) बारनर हारजेनबर्ग (जर्मनी) पाल डेरिक (इंग्लैण्ड) के वैज्ञानिकों ने अपने सम्मिलित शोध प्रयत्नों से यह सिद्ध कर दिया है कि पदार्थ अनित्य है तथा उसका रूपान्तरण ऊर्जा में होना अवश्यम्भावी है। साथ ही वैज्ञानिकों की यह मान्यता कि ऊर्जा जड़-चेतन सभी में समायी है अतः सर्वव्याप्त है, प्रकारान्तर से वेद एवं कुरआन के द्वारा बताये गये तथ्यों का ही समर्थन है। वेदों में वर्णित विज्ञान के विविध रूप धीरे-धीरे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं के शोध विषय प्रयोजन एवं निष्कर्ष बनते जा रहे हैं। वेदों एवं कुरआन में अत्याधुनिक विज्ञान की विविध शाखाओं का उच्चस्तरीय आकर्षक एवं सम्मोहक प्रवाह पहले से ही व्याप्त है-

भौतिक विज्ञान:-

विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में भौतिक विज्ञान एक महत्वपूर्ण शाखा है जिसके अन्तर्गत पदार्थ एवं ऊर्जा एवं इनकी पारस्परिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। पदार्थ की सबसे छोटी इकाई अणु है। इस अणु सिद्धान्त का प्रतिपादन ग्रीक वैज्ञानिक डेमोक्रिटस द्वारा किया गया २०वीं० शताब्दी में वैज्ञानिकों ने यह खोज की कि अणु का भी विखण्डन होता है। अरबी शब्द ''जर्रा' का अर्थ भी अणु है। चौदहवीं शताब्दी पूर्व अरबवासी भी इस तथ्य से अनभिज्ञ थे कि अणु का भी विखण्डन हो सकता है। उनके लिये तो अणु ही वह सीमा थी जिसके बाहर कुछ नहीं जा सकता है। किन्तु कुरआन की निम्नांकित आयत में इस सीमा से आगे

---

१ विभागाध्यक्ष संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, बिलासपुर (रामपुर)

का भी वर्णन है-

'कहो- क्यों नहीं मेरे रब की कसम वह घड़ी (कियामत) तुम पर आकर रहेगी परोक्ष को जानने वाले की (कसम) उससे कण भर भी कोई चीज ओझल नहीं आसमानों में न इससे छोटी न बड़ी'।[२]

इस आयत से यह स्पष्ट होता हे कि अणु से भी छोटी वस्तु का अस्तित्व संभव है, जबकि विज्ञान द्वारा इस तथ्य की खोज २० वीं० शताब्दी में की गयी।

भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत गति, ताप, विद्युत् प्रकाश तथा शब्द आते हैं ये सभी एक दूसरे रूप में परिवर्तनशील हैं। ऊर्जा संरक्षण नियम के अनुसार वस्तु की सम्पूर्ण ऊर्जा नियत रही है। ऊर्जा का मात्र रूपान्तरण होता है। ऋग्वेद की एक ऋचा के अनुसार शक्ति को प्रयोग में लाने के इच्छुक उस शक्ति को जो अक्षय है, अन्य शक्ति के रूप में परिवर्तित करें।[३] एक अन्य ऋचा में कहा गया है कि 'ये तुम्हारी सम्पूर्ण शक्ति निश्चय बढ़ती है, पदार्थों के शक्ति का समुद्र कभी नष्ट नहीं होता'।[४] ऊर्जा संरक्षण सम्बन्धित यह सिद्धांत हमें यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है।[५] यजुर्वेद के अनुसार ''नश्वर जगत् में अग्नि अर्थात् ऊर्जा अक्षय है 'अमर है', क्योंकि अग्नि में वयस् अर्थात् (Potential energy) है।[६] इसके लिये यजुर्वेद में वयस् शब्द का प्रयोग हुआ है, वैदिक वाक् आधुनिक विज्ञान में ध्वनि विज्ञान के रूप में जाना जाता है, ऋग्वेद में एक स्थान पर उल्लेख है-

'जब भुवनों में वाक् वायु के समान विचरण करती है और अपनी महिमा से इस पृथ्वी के भी परे व द्युलोक के परे पहुँच जाती है''[७] भौतिक विज्ञान के अनुसार विद्युत् में श्रवणशक्ति होने के कारण विद्युत् के द्वारा ध्वनि तरंगों का सम्प्रेषण भी होता है, जिससे दूरस्थ व्यक्ति परस्पर वार्तालाप कर सकते हैं, संवाद सुन सकते हैं तथा संदेश प्रेषित कर सकते हैं। ऋग्वेद में **'श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिः'**[८] तथा यजुर्वेद **'अग्ने तव श्रवो वयः'**[९] शब्दों के प्रयोग से विद्युत् तरंगों में संवादप्रेषणीयता की क्षमता व्यक्त की गयी है। वेदों में वर्णित विद्युत् द्वारा ध्वनि सम्प्रेषण के इस सिद्धान्त के आधार पर ही ग्राहमवेल ने टेलीफोन और मारकोनी ने वायरलैस बनाया। ऋग्वेद के एक मन्त्र में रेडियो जैसे यंत्र का प्रयोग मिलता है 'हे द्युलोक! की विद्युत् तरंगों मेरे इस शब्द और वाणी की अज्ञान नाश के लिये दूर ले जाओ'[१०] कुरआन में आया है- 'फिर आकाश की ओर रुख किया वह एक धुआँ जैसा था फिर उसने दो दिन में इन सात आकाशों को, पूरा कर दिया और दुनिया के आकाश (निकटवर्ती आकाश) को दीपकों (तारों व नक्षत्रों से सुशोभित कर दिया[११] यहाँ धुआँ शब्द का

---

२. यत्रकुम् आलिमिल-गैबि ला यअजुबु अन्हु मिस्कालु जर्रतिन फिस्समावति व-ला फिलअर्जि व-ला अस-गरू मिनजालिक व ला अक्बरू इल्ला फी किताबिम् मोबीन् कुरआन - सूरा ३४ - स - बइन आयत नं० ७
३. अया ते अग्ने विधेमोर्जो नपादश्वमिष्टे। एना सूक्तेन सुजात। ऋग्वेद २/६/२
४. इमा हि त्वामूर्जो वर्द्धयन्ति वसूयवः सिन्धवो न क्षरन्तः। ऋग्वेद - २/११/१
५. यजुर्वेद - १२/२४
६. अग्निरमृतो अभवद् वयोभिः - यजुर्वेद - १२/२४
७. ऋग्वेद - १/६९/३४
८. ऋग्वेद - १/४४/९३
९. यजुर्वेद - १२१/१०६
१०. एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्भ्याय परा वह। गिरो देवि रथीरिव। ऋग्वेद - ५/६१/१७
११. कुरआन - सूराः ४१ हा मीम् अस्सजदा आयत नं० १०, ११

प्रयोग गैस के लिये हैं। ऋग्वेद में भी 'शक्तिशाली गैस के लिये **'शकमयं धूमम्'** अर्थात् महाशक्ति युक्त धूम शब्द का प्रयोग होता है। यजुर्वेद के अनुसार 'सूर्य में प्राण अर्थात् ऑक्सीजन अपान अर्थात् हाइड्रोजन गैस दोनो ही विद्यमान हैं।[१२] अत: आधुनिक वैज्ञानिकों ने जिस ऑक्सीजन एवं हाइड्रोजन गैस की खोज की उन गैसों का वर्णन बहुत पहले ही वेदों एवं कुरआन में प्राप्त होता है।

वायु का यांत्रिक प्रयोग

आधुनिक वैज्ञानिकों ने दिसम्बर १९०३ को वायुयान का आविष्कार किया जबकि इससे बहुत समय पूर्व दैवीय ग्रन्थ वेदों एवं कुरआन में इसका वर्णन हमें प्राप्त होता है।[१३] यजुर्वेद की ऋचाओं में 'विमान का वर्णन अश्व नाम से किया गया है[१४] कुरआन में है- मेअराज की रात अल्लाह अपने बन्दे (मुहम्मद) को मस्जिदे हराम (काबा) से मस्जिद अक्सा तक ले गया ताकि हम उसे अपनी कुछ निशानियाँ दिखायें।[१५] इस सम्बन्ध में नबी (सल्ल०) के बयान का सारांश हैं कि जिबरील (अ०) आपको (सल्ल०) को बुर्राक नामक सवारी पर मस्जिदे हराम से बैतुलमुकदिद्स के बाद ऊपरी लोक आसमानी क्षेत्र में ले गये। जहाँ उन्होने अपने रब की बड़ी-बड़ी निशानियाँ देखीं'। और प्रात: होने से पूर्व धरती पर वापस आ गये। यह बुर्राक एक पंखधारी अश्व था। अत: अश्व शब्द का यह अर्थ भी प्रतीत होता है कि शीघ्र गति से मार्ग तय करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचने वाला। इसलिये इन ग्रन्थों में विमान को अश्व कहा गया। इससे स्पष्ट है कि विचित्र अश्व का शरीर पक्षी रूप है जिसके बारे में उल्लेख है आकाश के निर्धूल और बाधारहित मार्ग से उड़ता है।''[१६] ऋग्वेद में तो एक स्थान पर **'विद्युद्रथा:'** का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ विद्युत् से चलने वाले वायुयान तथा पृथ्वी पर विद्युत् चालित रेलगाड़ियाँ है।''[१७]

अस्त्र शस्त्र एवं सैन्य विज्ञान

वैदिक वाङ्मय एवं कुरआन में हमें अस्त्रों-शस्त्रों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद में अभीवर्त मणि[१८] दर्भमणि[१९] का उल्लेख मिलता है। अभिवर्त्त बम जैसी बस्तु लगती है। दर्भ में दर्भ शब्द का यौगिक अर्थ है विदीर्ण छिन्न-भिन्न करने वाला कुरआन में लूत (अ०) पर ईमान न लाने वाले लोगों की वस्ती को पौ फटते ही एक (भंयकर) चीख ने आ घेरा और हमने उस (बस्ती) को तलपट करके छोड़ा उस पर पकी मिट्टी के पत्थर बरसाये''[२०] ये मिट्टी के पत्थर बम जैसी वस्तु की ओर संकेत करते हैं क्योंकि किसी भी बस्ती या क्षेत्र को बम-वर्षा ही पूर्ण रूप से नष्ट कर देती है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में सीसे की गोली का प्रयोग

---

१२. शकमयं धूमम् - ऋग्वेद - १/१६४/४३
१३. अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादापानती - यजुर्वेद - ३१७
१४. ऋग्वेद - १/१६३/९/९०
१५ मस्जिदिल्-हरामि इलल मस्जिदिल् अक्सल्लजी बॉरक्ना हौंलहू लिनुरियहू मिन् आयातिना इन्नहू हुवस्समीउल-बसीर। सूरा बनी ईसराइल आयत नं० १५
१६. ऋग्वेद - १/१६३/६
१७. ऋग्वेद - १/८८/१
१८. अथर्ववेद काण्ड १ सूक्त २९
१९. अथर्ववेद - १९/३२/२
२०. कुरआन - सूरा अल हिज्रि आयत न० ७४

मिलता है। "सीसा डाकुओं का नाश करने वाला है"[२१] अतः आधुनिक विज्ञान द्वारा जिन बमों, गोलियों की रचना १८वीं, १९वीं २०वीं शताब्दियो में की गयी वे 'सब इन दोनों ग्रन्थों में पहले से ही प्राप्त है।

भू-विज्ञान

वेद एवं कुरआन में भू-विज्ञान के सैद्धातिक एवं प्रायोगिक पक्षों का परिचय मिलता है। ऋग्वेद में "पृथ्वी का फैलाव स्पष्ट होता है"[२२] कुरआन में है- हमने धरती को फैलाया और उसमें अटल पहाड़ डाल दिये और हर प्रकार की चीज एक अंदाजे से उगाई और उसमें तुम्हारी जीविका के सामान संचित किये"[२३] "इस पृथ्वी पर गिरि तथा हिमवान् पर्वत है"[२४] पृथ्वी पर आने वाले भूकम्पों की और भी इन ग्रन्थों में संकेत है। कुरआन में है-" हमने पर्वतों को (हिलाकर) छत की तरह उनके ऊपर कर दिया"[२५] एक अन्य सूरा में है- क्या नहीं बनाया हमने धरती को बिछौना और पहाड़ों को मेखें"[२६] औताद शब्द का अर्थ वे खूटियाँ है जो टेन्ट आदि लगाने में गाड़ी जाती हैं। पर्वत पृथ्वी की ऊपर परत को धारण करते हैं और पृथ्वी को स्थायित्व प्रदान करते हैं। यू०एस०ए० की Academy of Sciences ने Earth के President Frank Press नामक पुस्तक में कहा - 'पर्वत पृथ्वी की परत को स्थायित्व प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निबाहते हैं"[२७] कुरआन-पर्वतों का कार्य पृथ्वी को हिलने से रोकने के विषय में स्पष्ट कहता हे- व जअल्ला फिलअर्जि-खासि-य अन तमी-द बिहिम्'[२८] अर्थात् हमने धरती पर अटल पहाड़ रख दिये ताकि वह लोगों को लेकर एक ओर ढलक न जायें। कुरआन और वेद के ये विवरण वर्तमान वैज्ञानिक आँकड़ों के अनुरूप है'।

वनस्पति विज्ञान

विज्ञान की शाखा के रूप में वनस्पति विज्ञान जीव-जन्तु विज्ञान के अन्तर्गत आता है। सृष्टिकर्ता द्वारा निर्मित सृष्टि तत्वों में जड़ एवं चेतन दोनों प्रकार की सत्तायें पायी जाती हैं जो मानव के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। इन तत्वों में वनस्पतियाँ प्रमुख है। वनस्पतियाँ मनुष्य के लिये आवश्यक है क्योंकि एक तो वे प्रकृति के मनोरम रूप को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है। वायु शुद्ध करके तापक्रम नियन्त्रित करती हैं तथा पेड़-पौधों एवं वनस्पतियाँ ही आवश्यक फल-फूल, अनाज एवं औषधियां प्रदान करती हैं, जो पृथ्वी पर मानव के अस्तित्व के लिये आवश्यक हैं। सृष्टिकर्ता इस तथ्य से पूर्व परिचित था। इसलिये कुरआन में कहा गया है - 'धरती व आकाश बनाये, जल बरसाया, अन्न और फल उगाये और तुम्हारी जरूरत का हर सामान जुटाया' बागों को उगाया, फल पैदा किये, बोझा उठाने को चौपाये आठ किस्म

२१. अथर्ववेद - १/१६/२
२२. ऋग्वेद - १/१३०/२
२३. कुरआन - सूरा १५ अलहिज्रि आयत नं० १९, २०
२४. अथर्ववेद - १२/१/११
२५. कुरआन - सूरा ७- अल साराफ आयत नं० १७१
२६. अलम् - नजअलिल् - अर - ज मिहादव - वल- जिबा-ल औतादँव -सूरः अंन-नबई आयत नं० ७
२७. Earth Press and siever - P- ४३५
२८. सूरा १४ अल इब्राहिम आयत नं० ३२

के पैदा किये''[२९] पहले मनुष्य यह नहीं जानता था कि पौधों में चैतन्य एवं नर, मादा भेद होता है। वनस्पति विज्ञान यह बताता है कि प्रत्येक पौधे में नर एवं मादा भेद होता है। यहाँ तक की एकलिंगी पौधों में दोनों के गुण पाये जाते हैं। कुरआन इस तथ्य को पहले से अभिव्यक्त कर चुका है- 'उसने आकाश से पानी उतारा और इससे विभिन्न प्रकार की वनस्पति पैदा की प्रत्येक दूसरे से अलग'[३०] और हर प्रकार के फल की दो-दो किस्में (नर-मादा) बनायीं'[३१] 'वमिन् कुल्लि शैइन् खलकना जौजेनि'[३२] और हमने हर चीज को जोड़ा-जोड़ा बनाया। कुरआन की ये समस्त आयतें इस तथ्य को सिद्ध करती हैं कि ईश्वर द्वारा नर व मादा के जोड़े के रूप में हर वस्तु बनायी गयी फल आने से पूर्व फूल में नर व मादा (पुंकेसर व्र अण्डाणु) पाये जाते हैं। फूलों में जब परागकण आते हैं। उसी से फल बनते हैं। मनुष्य जानवर फल और पौधों के अतिरिक्त विद्युत् में भी अणु, ऋणात्मकता व धनात्मकता के इलेक्ट्रोन व प्रोटॉन से आवेशित होते हैं। वेदों में भी वनस्पति जगत् की महत्ता को स्वीकारते हुये वनस्पति जगत् को पूजनीय माना गया। ऋग्वेद में 'औषाधियों को माता के समान मानते हुये उनके संरक्षण के लिये विशेष निर्देश दिये गये''[३३] यजुर्वेद में वृक्षों के दुष्प्रभावों का शमन करने वाला कहा गया'[३४] वनों के अत्यधिक महत्त्व को देखते हुये ऋग्वेद में वनों के लिये विशिष्ट प्रकार की नीति निर्धारित की गयी ताकि पशु एवं मानव वन्यक्षेत्र का अतिक्रमण न कर सके'[३५] अतः सृष्टि के प्रारम्भ से ही वनस्पति के महत्त्व को देखते हुये इनके संरक्षण एवं संवर्धन पर बल दिया गया।

खगोल-विज्ञान

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सृष्टि का प्रारम्भ एक भीषण महाविस्फोट (बिग बैंग) से हुआ। विज्ञान का यह बिग बैंग वेदों में वर्णित हिरणगर्भ एवं महदग्नि पिण्ड का ही आधुनिकीकरण है। हिरण्यगर्भ का तात्पर्य है **'ज्योतिर्मय पिण्ड'** शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'हिरण्य का अर्थ ज्योति है तथा यह अविनाशी ज्योति है'[३६] ऋग्वेद के अनुसार आरम्भ में किरणों का एक महामण्डल उद्भूत हुआ। क्रियात्मक होते ही त्रिवर्गी शक्ति की परस्पर क्रिया एवं संयोग के परिणास्वरूप यौगिकों की उत्पत्ति हुई, प्रकृति के इस विस्तृत रूप को **बृहती आपः** कहा गया, यह विज्ञान की प्रारम्भिक अवस्थाओं को रेखांकित करती है। इसी अंतराल में बृहत् अग्नि पिण्ड उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद में इस घटना का प्रतीक हिरण्यगर्भ है तथा इस अग्नि ताण्डव (बिग बैंग) का नाम **मार्तण्डम् आपः** है।''[३७] **मार्तण्डम्**[३८] का अर्थ मारक पिण्ड अर्थात् विस्फोटक पिण्ड भी होता है। इस महाग्नि ताण्ड्व की घटना के समय उत्पन्न बृहदाकार ज्योतिर्मय पिण्ड को ही वैज्ञानिक भाषा में

२९. सूरा ६ - अल अनआमि आयत नं० - १४१ -१४४
३०. कुरआन - सूरा २० ताहा आयत नं० ५३
३१. कुरआन - सूरा १३ अल-रअदि आयत नं० ३
३२. कुरआन - सूरा ५१ अल जारियाति आयत नं० ३
३३. औषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रवे सनेयमश्वं गां वास आत्मनं तव पूरुष। ऋग्वेद - १०/९७/४
३४. शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम्। यजुर्वेद - २१/२१
३५. न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते। ऋग्वेद - १०/१४६/५
३६. ज्योतिर्वै हिरण्यम्, ज्योतिरेषोऽमृतम् हिरण्यम्। श०ब्रा० अ० ७
३७. ऋग्वेद - १०/७२
३८. मार्तण्डम् - मृत् — अण् — अण्ड़क - मृ मारना से मारक पिण्ड

'सुपरनोवा' कहा जाता है[३९] यह विद्युन्मय पिण्ड तीव्र गति से प्रसार में संलग्न था। सूर्यवत् तेजस्वी लोक उसी महापिण्ड के अवशेष हैं। उसी महाशक्ति का सतत प्रवाह इस जगत् रूप में अवस्थित है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में समस्त ब्रह्माण्ड एक Nabulu. था अर्थात् गैसीय था। महाविस्फोट (Big Bang) के बाद आकाश गंगायें बनीं, फिर ये ग्रह उपग्रह सूर्य, चन्द्र, तारों के रूप में अस्तित्व में आये। कुरआन में निम्नांकित आयत इसी महाविस्फोट को इंगित करती है-

"क्या ये लोग नहीं देखते प्रारम्भ में धरती व आकाश मिले हुये थे हमने उन्हें विदीर्ण कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया।"[४०] महाविस्फोट की इस घटना के बाद उस महाशक्तिवान् सृष्टिकर्ता द्वारा पृथ्वी आकाश आदि अस्तित्व में लाये गये।

जीव विज्ञान

प्रत्येक सजीव वस्तु जल से बनी है। वर्तमान वैज्ञानिक खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि अधिकतर जीवों में ५० से ९० प्रतिशत जल होता है। और अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये जीवनाधायक जल की आवश्यकता होती है। वेदों में आप: शब्द का साधारण प्रयोग जल के लिये तथा विशिष्ट प्रयोग प्रतीक के लिये हुआ है। स्वादिगणीय परस्मैपदी **आप्लृ व्याप्तौ** धातु के आधार पर यह सर्वव्यापी मूल तत्त्व व्युत्पन्न हुआ है"[४१] सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व एकमात्र अधिपति ईश्वर ही विद्यमान था उसी ने मूल तत्व (आप:) को क्रियात्मक होते देखा। इस तथ्य का उल्लेख ऋग्वेद में इस प्रकार मिलता है- 'विविधता की इच्छा करते हुये ईश्वर ने सर्वप्रथम अप् तत्व का सृजन किया अनन्तर उसी अप् तत्व से देवों का निर्माण हुआ'[४२] अत: देव भौतिक सत्तात्मक स्थितियों, अवस्थाओं यौगिकों के द्योतक हैं, सृष्टि रचना हेतु नियोजित आप: मूल तत्व की परिणामी अवस्था हैं। इसी आप से प्रत्येक सजीव की उत्पत्ति हुई। कुरआन में है- (हमने) पानी से हर जानदार चीज बनाई'[४३] और 'अल्लाह ने' प्रत्येक जीवधारी को पानी से पैदा किया'[४४] आधुनिक विज्ञान मानव शरीर में ८० प्रतिशत जल की बात की सिद्ध करता है। कुरआन में निम्नांकित आयत इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं- 'और वही है जिसने पानी से आदमी पैदा किया और फिर उसे वंष व ससुराली रिष्ते वाला कर दिया"[४५]

चिकित्सा विज्ञान

मनुष्य के जन्म के साथ ही विविध रोगों की भी उत्पत्ति हुई इस रोगों को दूर करने के औषधियों द्वारा चिकित्सा भी प्रारम्भ हुई। निरुक्तकार यास्क के अनुसार 'जो शरीर में ऊर्जा उत्पन्न करके उसे धारण करती है या जो दोश प्रदूषण आदि को नष्ट करती है औषधि है'[४६] ऋग्वेद और यजुर्वेद मे तो विभिन्न रोगों एवं

---

३९. The out burst for a brief duration a single star may outshine a whole galoxy known as supernova (paul Davis- 'The Edge of infinity P- १० सृष्टि विज्ञान से साभार उद्धृत.
४०. कुरआन - सूरा २१ अल-अम्बिया आयत नं० ३०
४१. अमरकोष
४२. अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन्। ऋग्वेद- ४/२६/२
४३. वजअल्ना मिनल्मा इ कुल-ल षैइन हय्यिन्'। कुरआन सूरा २१ - अल अम्बिया-आयत नं० ३०
४४. वल्लाहु ख-ल-क कुल-ल् दाब्बतिम् मिम्-माइन। -कुरआन सूरा २४ अन नूरि-आयत नं० ४५
४५. बहुवल्लजी ख-ल-क मिनल् मा-इ बषरन् फ-ज-अ-लहूत्र सबॅव वसिहरन् ; सूरा २५ अल-फुरकानि आयत नं० ५४
४६. निरुक्त - ९/२७

उनकी औषधियों का संकेत मात्र ही प्राप्त होता है। किन्तु अथर्ववेद में तो सम्पूर्ण शरीर-विज्ञान के व औषधियों के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के रोगों को दूर करने का उपाय भी विस्तारपूर्वक दिया गया है। पृश्निपर्णी नामक औषधि का उल्लेख शरीर को शक्ति को नष्ट करने वाले, गर्भ का नाश करने वाले तथा शरीर में रक्त की कमी करने वाले कृमियों के नाश के लिये है''[४७] अपामार्ग'[४८] नामक औषधि को वनस्पतियों में मुख्य माना गया है। इसके द्वारा कृषि मनुष्य तथा पशु तीनों में होने वाले रोग दूर किये जाते हैं। भस्मरोग, बवासीर, चिडचिड़ापन, बन्ध्यापन, नवजात शिशु को होने वाले रोगों, इन्द्रियों से सम्बन्धित रोगों का नाश करती है। इसके अतिरिक्त क्षय रोग को दूर करने के लिये 'कुष्ठ'[४९] नामक औषधि, आँखों के लिये अञ्जन नामक औषधि 'व्रण' के उपचार हेतु 'लाक्षा'[५०] नामक औषधि, बालों के लिये शमी'[५१] औषधि शरीर पर चोट लगने एवं जलने में रोहिणी नामक औषधि के वर्णन मिलते हैं। कुरआन में भी शहद का वर्णन मिलता है, जो घाव को भरता एवं शरीर को निरोग बनाता है[५२] आधुनिक विज्ञान ने जिन औषधियों को खोज की है, वे आज से कई सौ शताब्दियों पूर्व रचे इन ग्रन्थों में मिलती हैं।

कृषि एवं शिल्प विज्ञान

प्राणियों के लिये आहार एवं व्यापार की अनिवार्यता के कारण ही वेदों एवं कुरआन में कृषि एवं शिल्प विज्ञान के वर्णन स्पष्ट 'रूप से मिलते हैं। ऋग्वेद में '**कृषमित्कृषिस्व**'[५३] कहकर कृषि की ओर प्रेरित किया गया है। यजुर्वेद में कामना या अनुष्ठान द्वारा जल बरसाया जा सके जिससे फल व औषधियाँ पकें, कहकर कृषि की ओर प्रेरित किया गया है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के कुछ सूक्त जिनके देवता इन्द्र व पर्जन्य हैं। कृषि विज्ञान से सम्बन्धित है'[५४] कुरआन में है- 'मुर्दा भूमि एक निशानी है अल्लाह उसे जिंदा करता है (पानी बरसाकर) उसमें से अनाज निकाला है। फल-फूल, खजूर, अंगूरों के बाग हर चीज का जोड़ा'[५५] जमीन को बराबर किया पानी बरसाया, भांति-भांति के पेड़ पौधे उगाये, खाओं व चौपायों को खिलाओ'[५६] सुम-म शक्कनल्-अर्-ज शक्का फ-अम्बतना फीहा हब्बव् व नी-नबव व कज्बव-'[५७] अर्थात् जमीन को फाड़कर (जोतकर) अनाज और अंगूर और भाजी' 'कच्ची खाने वाली सब्जियाँ' उगायी यहाँ प्रयुक्त कज्ब शब्द कच्ची व हरी रूप में खाये जाने वाली सब्जियों के लिये हैं, यही आज की वैज्ञानिक भाषा में सलाद हैं।

वैदिक युग में शिल्प का भी विकास हो चुका था उस काल का महत्त्व पूर्ण शिल्प तक्षा (बढ़ई का

४७. अथर्ववेद - ७/१३/१-२
४८. अथर्वदेव - ४/१७/१-३, ५-८, ४/१८/५, ७४/१९/२-३, ५
४९. अथर्ववेद - ५/४/१-२, ६-१०
५०. अथर्ववेद - ५/५/२-७
५१. अथर्ववेद - ६/३०/२-३
५२. कुरआन - सूरा - १६ अन-नहल् आयत नं० ६९
५३. ऋग्वेद - ६/३१४
५४. अथर्ववेद - ३/९८
५५. सूरा ३६ - यासीन। आयत नं० ३३, ३६
५६. सूरा २० ताहा आयत नं० ५३, ५४
५७. सूरा ८० अ ब स आयत नं० २६ - २८

था तक्षा या त्वष्ट काष्टकर्म से सम्बन्धित है। यजुर्वेद में लोहार, कुम्हार आदि शिल्पकारों के साथ तक्षक और रथकार का भी वर्णन मिलता है''[५८] ऋग्वेद में नदियों को पार करने के लियें सौ चप्पू वाली नाव का वर्णन मिलता है''[५९] कुरआन में दरिया में चलने वाली नौकायें''[६०] और समुद्र में चलने वाले जहाज''[६१] उस युग के उन्नत शिल्प के द्योतक हैं।

इस प्रकार दैवीय ग्रन्थ वेदों एवं कुरआन में आधुनिकतम विज्ञान की सभी खोजें पूर्व में ही विद्यमान हैं। सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान से लेकर प्राणिमात्र के अस्तित्व के लिये आवश्यक हर पक्ष का विवरण इनकी ऋचाओं व आयतों में मिलता है। वेद की प्रत्येक ऋचा तथा कुरआन की प्रत्येक आयत परस्पर सम्बन्धित है। केवल शब्द एवं अर्थ तक सीतित रहकर उस आयत या ऋचा के रहस्य की खोज सम्भव नहीं। इन ऋचाओं और आयतों की गहराई में जाकर इनके परस्पर सम्बन्ध एवं क्रमबद्धता को उभारकर ही इनमें किसी भी विज्ञान का अन्वेषण किया जा सकता है। वेदों और कुरआन की वैज्ञानिकता का यथार्थ अभी तक सतत विचारक्रम के ग्रन्थ के रूप में नही देखा जा सका है। आधुनिक विज्ञान एवं विज्ञानवेत्ताओं ने जो निष्कर्ष अद्यतन अपने गहन प्रयोगों एवं अनुसंधानों से निकाले हैं, वे निर्विवाद रूप से इन दोनों धर्म ग्रन्थों में प्राप्त वैज्ञानिक तथ्यों की समीचीनता को सिद्ध करते हैं। यदि आधुनिक वैज्ञानिक इन ग्रन्थों में निहित वैज्ञानिक तथ्यों से दिशा-निर्देश प्राप्त करेगे तो विज्ञान को एक नूतन आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होगी।

---

५८. यजुर्वेद - १६/२७
५९. ऋग्वेद - १/११६/३५
६०. कुरआन सूरा ३१ लुकमान आयत नं० ३१
६१. सूरा ४२ अश् - शूरा आयत नं० ३२ - ३५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०९२-९९) ISSN 0974 – 8830

स्त्री अधिकार: मिथक और यथार्थ-वैदिक परिप्रेक्ष्य में

डॉ० अमित कुमार चौहन[१]

पुरुष और स्त्री सृष्टिरूपी रथ के दो चक्र हैं।[२] जिस प्रकार रथ की गति में उसके दोनों चक्रों का समान महत्त्व है, वे एक दूसरे के सम्पूरक एवं सहयोगी होते हैं।[३] उसी प्रकार सृष्टिप्रवाह की निरन्तरता बनाए रखने में नर और नारी का समान योगदान है। इनमें से किसी के आकार (अधिकार) अथवा स्थान में परिवर्तन से सृष्टि का सहज प्रवाह वैसे ही बाधित हो जाता है जैसे किसी रथ के दोनों पहियों का आकार व स्थान असमान कर देने पर उसकी गति। स्त्री और पुरुष की यह समानता सम्पूर्ण चेतन सृष्टि में ओत-प्रोत हैं चाहे वे जीव वैज्ञानिक आधार पर अविकसित अथवा विकसित जीव-जन्तु हों या पेड़-पौधे। आदित्य की भाँति प्रकृति के इस स्पष्ट दृष्टिगोचर और सुगम सत्य से मनुष्य समाज भी अछूता नहीं है। मनुष्येत्तर प्राणी अपने स्वाभाविक ज्ञानवश प्रकृति के नियमों में कोई ननु नच नहीं करते। परन्तु ईश्वर द्वारा वरदान में प्राप्त नैमित्तिक ज्ञान[४] का दुरुपयोग करके मनुष्य ने ईश्वर के ऋत रूपी नियमों को ही झुठला देने का प्रयत्न किया। जिनमें से एक स्त्री को पुरुष की तुलना में सर्वथा हीन समझ, मानकर व्यवहार करना।

आज विज्ञान और शिक्षा की उन्नति से मनुष्य को अनुभव हुआ कि वह प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन में सदियों से संलग्न हैं। उसने अपनी त्रुटियों को सुधारना तो प्रारम्भ किया परन्तु उसने अपना भेदभावयुक्त व्यवहार करने की प्रवृत्ति (जिसको उसने परम्परा कहा) का त्याग नहीं कर सका, जिसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम हुआ-अपने धर्म-दर्शन, सभ्यता, संस्कृति व पूर्वजों के प्रति स्त्रियों व पुरुषों में असम्मान के साथ-साथ हीनभावना का उत्पन्न होना। जबकि इनका आलोडन-विलोडन करने पर वास्तविकता भिन्न पाई जाती है।

वेद संसार की प्राचीनतम पुस्तक है। विश्व के किसी भी पुस्तकालय में इससे पूर्व की कोई भी पुस्तक प्राप्त नहीं होती। ऐसा इसलिए है क्योंकि सृष्टि निर्माण के उपरान्त जब ईश्वर ने सर्वप्रथम मनुष्य को इस धरा पर उत्पन्न किया तो उसने इस सृष्टि के उपभोग में सरलता के लिए मनुष्य को वेद रूपी ज्ञान दिया। इसका सीधा आशय है कि 'वेद' मनुष्य को ईश्वर द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान है।[५] अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान है। इसी कारण 'वेद' मनुष्य समाज की अमूल्य निधि है।[६] मनुष्य ने अपने जीवन का प्रत्येक आयाम-धर्म, दर्शन, संस्कृति, सभ्यता, आचार-व्यवहार, शिक्षा, समाज, अर्थ, राजनीति आदि सब कुछ वेद की शिक्षा के आधार पर ही विकसित किया है। इसलिये वेदों को

---

१. प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ वैदिक नारी, पृष्ठ १, डॉ. रामनाथ वेदालंकार

३ तैत्तिरीय संहिता-३/७५। यहां स्त्री और पुरुष को रथ में जुड़े दो बैलों की उपमा दी गई है।

४ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ-१०, महर्षि दयानन्द सरस्वती

५ तदैव, पृष्ठ ३८

६ वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, प्राक्ककथन, डॉ. कपिल देव द्विवेदी

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्,[७] **सर्वज्ञानमयो हि सः।**[८]

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक[९] कहा गया है। इस आधार पर वेद मानव सभ्यता व उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष के लिये उत्तरदायी सिद्ध होते हैं। इसी कारण मानव स्वभाव के अध्येता सर्वप्रथम वैदिक आचार संहिता व उससे पोषित परम्परा पर दृष्टिपांत करते हैं। आधुनिक काल में पाई जाने वाली नारी जीवन की विद्रुपताओं को वैदिक कालीन परम्पराओं का नाम लेकर एक वर्ग उन्हें नवजीवन देना चाहता है। तो दूसरे का उद्देश्य है वेद को कलुषित करके उसे नारी जीवन ही नहीं अपितु मानव जीवन से निकाल कर तिलांजलि दे दी जाए। इसमें दोनों ही प्रकार से नारी को कोई लाभ नहीं, हां इससे नारी के ईश्वरीय वाणी की पक्षपातरहितता,न्यायप्रियता अपने गौरवमयी अतीत, अपने ईश्वर प्रदत्त अधिकार और उनकी परम्परा से विमुख होने की हानि अवश्य है।उक्त दोनों धाराओं के आकर्षण विकर्षण से वेद में नारी समाज के अधिकारों को लेकर कुछ मिथक स्थापित हो गये हैं। इनको मिथक इसलिये कहना उपयुक्त होगा क्योंकि वेद की अन्तः साक्षी यथार्थ का प्रत्यक्ष स्वयं कराती है।

मिथक . मानव इतिहास में स्त्रियों को कभी-भी पुरुषों के समकक्ष नहीं माना गया।

यथार्थ-प्राचीन इतिहास में नारी की स्थिति अत्यन्त उच्च, गौरवमयी और पूज्या स्पद रही है। वेद में स्त्री को पुरुष के सदैव समकक्ष अधिकार दिये गये हैं।[१०] जहाँ पति और पत्नी दोनों को दम्पति (दम्–पतिघर–स्वामी) कहा गया है।[११] जो आज तक इसी अर्थ में प्रचलित है। जिसका सीधा अर्थ निकलता है कि पति पत्नी दोनों एक दूसरे के जीवनसाथी होकर समान रूप से घर के स्वामी हैं।[१२] वेद का कथन है-

जाया इत् अस्तम्। ऋग्वेद-

अर्थात् पत्नी ही वस्तुतः घर है। यह वेदोक्ति अप्रत्यक्षतः नारी को पुरुष से भी कुछ अधिक अधिकार सम्पन्न दिखाती है। क्योंकि वेद में किसी स्थान पर भी पति के लिए इस प्रकार का वाक्य प्राप्त नहीं होता है। यह वैदिक परम्परा पश्चातवर्ती ग्रन्थों में भी समान रूप् से दृष्टिगोचर होती है।

महाभारत ने भी नारी को उसी श्रेणी के अधिकार से अलंकृत करते हुए कहा है-गृहणी के बिना घर-घर नहीं होता, गृहणी ही घर होती है अर्थात् वह जिस स्थान पर हो वहीं घर बन जाता है।[१३] **स्त्रियाः श्रियो गृहस्योक्ताः**'[१४] अर्थात् स्त्रियाँ घर की श्री (लक्ष्मी) हैं। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार नारी रहित पुरुष अधूरा है क्योंकि पत्नी के बिना वह संतान नहीं प्राप्त कर सकता और संतान बिना पुरुष अपूर्ण होता है।[१५]

---

७ मनु०२.६

८ मनु०२.७

९ आर्य समाज का तीसरा नियम

१० वैदिक नारी, पृष्ठ २२, डॉ. रामनाथ वेदालंकार

११ वेद और धर्मशास्त्र में नारी, पृष्ठ ५६, स्कालास्तिका कुजूर

१२ वैदिक नारी, डॉ. रामनाथ वेदालंकार, तदैव, पृष्ठ ४९

१३ न गृहं गृहं इत्याहु गृहिणी गृहं उच्यते। महाभारत शान्तिपर्व-१२/३६४/६३, पंचतन्त्र ३/१४५

१४ महाभारत

१५ अर्धो वा एष आत्मनो यज्ञाया तस्माद्यावज्ञायां न विन्दते नैव तावत प्रजायते असर्वे हि तावद् भवति। शतपथ ब्राह्मण ५/२/१/१० पुरुषो जायां वित्त्वा कृत्स्नतमम् इवात्मानं मन्यते। ऐतरेय आरण्यक १/३/५

नारी के बिना पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं है।[१६] और स्वर्ग प्राप्ति के लिए भी पत्नी का साथ होना आवश्यक माना गया है।[१७] इसलिये पत्नी को अर्धांगिनी बताया गया है।[१८]

स्त्रियों को पुरुषों का व पुरुषों को स्त्रियों का आधा अंग बताया जाना और उसके अनुरूप सामाजिक अधिकार के प्रमाण स्वतः सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त थे और उसका सामाजिक स्तर किसी भी प्रकार पुरुषों से कम नहीं था।

मिथक-पत्नी को पति के अधीन रहना चाहिए क्योंकि पति ही घर का स्वामी होता है। उसे पति के अनुशासन में ही घर का संचालन करना चाहिए। यह प्राचीन परम्परा है। अथर्ववेद // में पत्युरनुव्रता भूत्वा ऐसा ही आदेश है।

यथार्थ-

सम्राज्ञी श्वसुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्रवा भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु।।[१९]

ऋग्वेद का यह प्रसिद्ध मन्त्र वधू को कहता है कि हे वधू! ससुर की सम्राज्ञी होना, सास की सम्राज्ञी होना, ननद की स्वामिनी होना और देवरों की स्वामिनी होना। स्पष्ट है कि वधू अपने घर में सभी सदस्यों की स्वामिनी है।

अथर्ववेद उद्घाटित करता है कि वधू सदस्यों के साथ साथ भौतिक घर की भी स्वामिनी है। यथा-

यथा सिन्धुर्नदीनां, साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्येधि, पत्युरस्तं परेत्य।।[२०]

अर्थात्-हे वधू! जैसे वर्षक बादल नदियों के साम्राज्य को उत्पन्न करता है उसी प्रकार पति के घर जाकर तू स्वामिनी बन। यहां पर द्रष्टव्य है कि जिस मन्त्रांश पर आपत्ति थी समाधान हेतू प्रस्तुत मन्त्र उसी क्रम में अगला ही है।

मात्र पत्नी ही पति का अनुशासन स्वीकार करेगी ऐसा नहीं है, अथर्ववेद के उसी सूक्त का वाँ[२१] मन्त्र पति द्वारा पत्नी के परामर्शों के अनुवर्तन करने का विधान करता है। यजुर्वेद में एक स्थान पर पत्नी कहती है-

अग्ने ऽभ्यावर्तिन्नभि मां नि वर्तस्व आयुषा वर्चसा प्रजया धनेन।
सन्या मेधया रय्या पोषेण।।[२२]

अर्थात् हे अभिमुख आने वाले विद्वान् (पति) आप निरन्तर मेरे अनुकूल बर्ताव कीजिए आयु के

---

१६ अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीकः। शतपथ ब्राह्मण ५/१/६/१०, तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/२/६

१७ ऐतरेय आरण्यक १/२/५

१८ अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/३/३/२.

१९ तुलना करें अथर्ववेद १४/१/४४, सम्राज्येधि श्वशुरेषु सम्राज्युत देवृषु ननान्दुः सम्राज्येधि सम्राज्युत श्वश्रुवाः।

२० अथर्व०१४.१.४३

२१ अथर्ववेद १४/१/५६, इदं तदूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्। तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान्विद्वान्वि चचर्त पाशान्।

२२ यजु०१२.७

साथ, तेज के साथ, संतान के साथ, धन के साथ, दान-भावना के साथ, मेधा के साथ, विद्या के साथ, पुष्टि के साथ। यहाँ पत्नी पति को अपने अनुव्रती, अनुकूल तथा अधीन होने को कहती है तो कोई ऐसा भी कह सकता है कि पति पत्नी के अधीन रहते थे अथवा वैदिक काल में स्त्री प्रधान समाज था। परन्तु यह सब एकांगी और अन्तर्विरोध युक्त विवेचन है। अत: स्पष्ट होता है कि पत्नी घर की स्वामिनी है लेकिन जब पति के भी अधिकार समान है तो फिर मात्र स्त्री ही गृहस्वामिनी हो अथवा पति ही गृहस्वामी हो, ऐसा कैसे तर्क संगत व न्यायपूर्ण होगा।

इसके साथ ही स्त्री पति की अनुव्रती है तो पति को भी तो पत्नी का अनुव्रती होने का आदेश है। एक अन्य तथ्य भी दृष्टव्य है कि वेद में पति व पत्नी के एक-दूसरे के अनुव्रती होने की शिक्षा दी गई है। इसमें अधीनता, स्वतन्त्रता का हनन, शासन में रहने का स्वर नहीं है[२३] अपितु समर्पण, मित्रता, सहजीविता (Symbosis) का भाव निहित है। इसी संदर्भ में अथर्ववेद भी द्रष्टव्य है जिसके अनुसार पति कहता है। कि मैं स्वयं इसके वरुण के पाशों को खोलकर स्वतन्त्र कर रहा हूँ **स्वयं राज्ञो वरुणस्य पाशान्।**[२४] ऐसे सद्भाव युक्त पति का पत्नी पर एकतरफा आधिपत्य मानना न्यायोचित नहीं है।

मिथक-वैदिक काल से पुत्र-पुत्रियों में भेद किया जाता रहा है। पुत्रियों को व उनके जन्म को अच्छा नहीं माना जाता। सर्वत्र पुत्र प्राप्ति की कामना की गई है। पुंसवन संस्कार इसी का द्योतक है।[२५]

यथार्थ-संतान के लिये वेद में अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है। वैदिक कोष निघण्टु में अपत्यम् शब्द के पर्याय दिये गये हैं। जिनमें तुक, तोकम्, लजयः, तोक्म, तक्म, शेष, अप्नस, गयः, जाः, यहुः सूनुः, नपात्, प्रजा, बीजम् और अपत्यम्। सन्तान शब्द में पुत्र और पुत्री दोनों सम्मिलित हैं। संतान के लिये सर्वाधिक प्रार्थनायें, 'प्रजा' शब्द के साथ हैं। प्रजा शब्द बालक व बालिका दोनों के लिए प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर स्पष्ट रूप से कन्या या पुत्री के लिए की गई प्रार्थनायें भी मिलती हैं। इसी प्रकार पुत्र के लिये भी पृथक से प्रार्थनायें मिलना स्वाभाविक है। ऐसे में केवल पुत्र प्राप्ति की कामना सम्बन्धी ऋचाओं को उद्धृत करना वेद के साथ अन्याय ही है।[२६] जबकि अथर्ववेद में प्रार्थना मिलती है कि हे शचिपति इन्द्र मैं पत्नी का इच्छुक हूँ मुझे पत्नी प्रदान करो। यदि वेद कन्या जन्म को अवांछित मानता है, तो फिर यह पत्नी प्राप्ति की कामना कैसे सिद्ध होगी? वेदों में इन्द्र, वरुण आदि प्रत्येक देव की अपनी अपनी पत्नियां, देवों की दुहिताएं, विवाह का अत्यन्त महत्त्व कन्या अथवा पुत्री का समाज में पुत्र के समान मनोवांछित होना दर्शाता है।[२७]

पुंसवन संस्कार-गर्भस्थ शिशु को पुरुष लिंग का बनाना। ऐसा अर्थ सामानतः किया जाता है। मिथक भी इसी को उद्घाटित करता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं 'पुंसवन संस्कार का समय गर्भस्थिति ज्ञात हुए समय के दूसरे वा तीसरे महीने में है। उसी समय पुंसवन संस्कार करना चाहिए। जिससे पुरुषत्व अर्थात् वीर्य का लाभ होवे।[२८] यहां ध्यान देने योग्य तथ्य है पुंसवन का समय और उद्देश्य। समय

---

२३ दृष्टव्य-पं. विश्वनाथ वेदोपाध्याय जी द्वारा रचित अथर्ववेद १४/१ का भाष्य।
२४ अ०वे० १६.८.२६
२५ वेद और धर्मशास्त्र में नारी, पृष्ठ ३, स्कालास्तिका कुजूर
२६ वैदिक नारी, पृष्ठ २५, डॉ. रामनाथ वेदालंकार
२७ तदैव, पृष्ठ २
२८ संस्कारविधिः-पुंसवन संस्कार, पृष्ठ-६४, महर्षि दयानन्द सरस्वती

दूसरे वा तीसरे माह बताया गया है। दूसरे व तीसरे माह में गर्भस्थ शिशु का लिंग परिवर्तन असंभव है। उद्देश्य पुंसवन के प्रचारित अर्थ से भिन्न परिलक्षित होता है जिसमें 'पुरुषत्व अर्थात् वीर्य लाभ' कहा गया है अर्थात् गर्भस्थ संतान पौरुषवाली, हृष्ट-पुष्ट और बलवान हो। पुंसवन में 'पुम्' शब्द को पुरुष लिंग से जोड़कर देखना संस्कार की भावना का अनादर है।[२९] पुसंवन का वास्तव में अर्थ 'पुमान् सूयते यस्मात इति पुंसवनम्-जिससे संतान स्वस्थ एवं बलिष्ठ हो' है।[३०] अतः पुंसवन संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भस्थिति पर संतान की रक्षा व उसके समुचित विकास का वातावरण देना है।[३१] पुमान् शब्द का अर्थ वीर्यवान् होता है यह तो ठीक है परन्तु वीर्यवान् केवल पुरुष हो ऐसा कोई शरीर शास्त्र नहीं मानता, 'वीर्य' नामक धातु प्रत्येक मनुष्य शरीर का आवश्यक अंग है।[३२] जैसे बालक शब्द में बालक व बालिका दोनों का समावेश होता है। उसी प्रकार पुम् शब्द में पुत्र व पुत्री दोनों का समावेश मानना उचित है। अतः स्वामी दयानन्द द्वारा संस्कार विधि में पुंसवन का दिया गया उक्त अर्थ ही प्रासंगिक व वेद की अन्तर्भावना युक्त है।

अथर्ववेद के छठे काण्ड का ग्यारहवां सूक्त मन्त्रों वाला है और इसको पुसंवन संस्कार में प्रयुक्त किया गया है। इसके तीसरे मन्त्र का उत्तरार्ध इस प्रकार है-**'स्त्रैषूयम अन्यत्र दधत् पुमांसमु उदधदिह'** अर्थात् कन्या का जन्म अन्यत्र हो, यह नारी पुत्र को उत्पन्न करे। प्रकरणानुसार मन्त्र में प्रार्थना उस परिवार की ओर से है जिस घर में केवल पुत्रियां ही पुत्रियां हैं। इसमें पुत्री के प्रति अनिच्छा सिद्ध नहीं होती। अथर्ववेद में कहा गया है कि **पिंग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्'** अर्थात् हे पिंग नामक औषधि उत्पन्न होने वाले शिशु की रक्षा कर, गर्भ में चाहे पुत्र हो या पुत्री उसे पीड़ा (रोग) न हो। गर्भ रक्षा के इस प्रकरण को बलात् दूषित अर्थ किया जाता है हे पति! उत्पन्न होने वाले पुत्र की रक्षा करो उसे स्त्री न बनाओ। जबकि यह स्पष्ट ही है कि गर्भ में यदि पुत्र है तो उसे स्त्री कैसे बनाया जा सकता है।[३३]

इसी सन्दर्भ में यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि जीव वैज्ञानिक रूप से शरीर क्रिया (हारमोन्स) आदि जैविक रसायनों की अन्तर्क्रियाएं (Physiology) में कुछ त्रुटियां होने से जहाँ गर्भस्थ शिशु को अनेक रोगों का भय रहता है वहीं ऐसे परिवर्तनों की सम्भावना रहती है जिसके कारण शिशु का शरीर पुरुष का होते हुए स्त्रियोचित्त गुण वाला तथा स्त्री शरीर पुरुषोचित्त गुणयुक्त हो जाता है। इन्हीं रसायनों का नियमानुकूल अंनुपात व क्रिया न होने से उभयलिंगी सन्तानें भी जन्म लेती हैं। अथर्ववेद के उक्त सूक्त व उसके मन्त्रों के पुंसवन संस्कार में विनियोग करना उक्त कारण में होना सम्भव है। जिससे संस्कार काल में माता-पिता को गर्भस्थ शिशु के स्वास्थ्य के लिए सावधान करके तदनुसार आहार-विहार का आदेश दिया जा सके। अतः वेद और वेदमंत्र की भावनाएं पुत्री विरोधी नहीं है।

मिथक-नारी अबला है वह पुरुष से शारीरिक व मानसिक आदि रूप से बलहीन है। अतः उसे सदैव पुरुष-बल के संरक्षण की आवश्यकता होती है।

---

२९ संस्कार की यह भावना संस्कार विधि में इस प्रकार है-जिस करके शरीर और आत्मा सुसंस्कृत होने से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त हो सकते हैं और सन्तान अत्यन्त योग्य होते हैं, इसलिए संस्कारों का करना सब मनुष्यों को उचित है। संस्कारविधि, भूमिका, स्वामी दयानन्द सरस्वती

३० संस्कार भास्कर-स्वामी विद्यानन्द सरस्वती, पृष्ठ-९८

३१ संस्कार चन्द्रिका, पृष्ठ १४०, डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

३२ आयुर्वेदानुसार मनुष्य में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र (वीर्य) सात धातुएें होती हैं।

३३ वैदिक नारी, पृष्ठ २६, डॉ. रामनाथ वेदालंकार

यथार्थ-अबलता और सबलता क्या है? संक्षेप में इसका विश्लेषण करने पर कह सकते हैं कि चरित्रिक न्यूनता एवं आत्मिक बल का अभाव निर्बलता है और सच्चरित्रता तथा आत्मिक बल का अस्तित्व सबलता है। चरित्रबल और आत्म बल शरीर की स्थूलता आदि पर निर्भर नहीं है यह मानव के उच्च गुणों पर निर्भर है। स्त्री में पुरुषों की अपेक्षा दृढ़ मनोबल होता हैं। चरित्र और आत्मा का इतना उत्कट बल होता है कि वह अग्नि के तुल्य दाहक और नाशक होता है। पापी की पापेच्छा इनके गर्जन और तर्जन के सामने क्षण भर भी नहीं टिक सकती।[३४] फिर भी शारीरिक बल का भी अपना पृथक महत्त्व होता है। लेकिन प्रकृति प्रदत्त यह शारीरिक न्यूनता वास्तव में स्त्री को ईश्वर द्वारा वरदान में दिए गये अपने सर्वश्रेष्ठ गुणों के समक्ष नगण्य है। ईश्वर ने अपने सर्वश्रेष्ठ गुण जनन, पोषण, पालन, कृपालुता, ममत्व, वात्सल्य, प्रेम, न्यायप्रियता, सहनशीलता, सहानुभूति आदि को स्त्री में प्रचुरता से भरा है। ऋग्वेद में दीर्घतमा ने नदियें के प्रति कृतज्ञता में उनकी उपमा माता से की है। अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में पृथ्वी को भी ऐसे ही गुणों के कारण माता की संज्ञा दी गई है।[३५] माता के यही ईश्वरीय गुण उसको एक हजार पिता व एक लाख गुरुओं को समकक्ष रखते हैं।[३६] इसी कारण स्वभावत: स्त्री का शारीरिक बल पुरुष की अपेक्षा कुछ न्यून रखा गया हो। क्योंकि इन गुणों के लिए शारीरिक की अपेक्षा आत्मिक बल की अधिक आवश्यकता होती है।[३७] इससे अनुमान होता है कि ईश्वर ने इसी को दृष्टिगत रखते हुए पुरुष को स्त्री की रक्षा के निमित्त मात्र के लिये ही उत्पन्न किया हो। विवाह संस्कार में पत्नी को दक्षिण भाग से वामांग लेने का कारण भी यही है कि पुरुष के वामांग में रहने से पुरुष विपत्तिकाल में दक्षिणांगों से स्त्री की रक्षा के लिए तुरन्त तत्पर रहे या रहेगा। अन्यथा यज्ञ आदि शुभ कार्यों में तो पत्नी का आसन दक्षिण में ही होता है।[३८] विवाह संस्कार में बोले जाने वाले मन्त्रों में पति कहता है है कि वह पत्नी के भरण-पोषण रक्षण की पूर्ण व्यवस्था करने के लिये पाणिग्रहण करता है।[३९] पति के कर्त्तव्यों के विषय में वेद कहता है कि पत्नी के जीवन को उन्नत करो-**प्रतरं धेह्येनाम्।** अथर्ववेद के इस आदेश और विवाह समय की गई प्रतिज्ञा का पालन पुरुष करता है और करना भी चाहिए यह उसका कर्त्तव्य हैं कतिपय कारणों से समाज में कुरीतियां आ गई। लेकिन इसका दोष परम्परा या वेद को देना अनुचित है। वेदों में स्त्रियों के शौर्य का उल्लेख है। इन्द्राणी को सेना की देवता बताते हुए कहा गया है कि इन्द्राणी के कारण सेना के शौर्य में निखार आता है। इन्द्राणी को सेनानी बताते हुए कहा है वह अजेय और अधृष्टा है।[४०] वह शत्रु सेना को काटते हुए आगे बढ़ती है।[४१] ऋग्वेद में स्त्री सेना का उल्लेख मिलता है। शत्रुओं से युद्ध करते हुए विश्पला का पैर कट गया था। अश्वनी कुमारों से नया पैर लगवाकर वह फिर से युद्ध करनें गई।[४२] स्त्रियां

---

३४ वेदामृतम्-वेदों में नारी, पृष्ठ ६६, डॉ. कपिदेव द्विवेदी
३५ माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्ववेद १२/१/१२
३६ मनुस्मृति २/१४५
३७ वैदिक साहित्य में स्त्रियों की समानता का अधिकार, डॉ. कमला गिटठा, गुरुकुल शोध भारती, मार्च २०११, पृष्ठ ५९, सम्पादक प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
३८ विवाह और विवाहित जीवन, गंगा प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ ५८ एवं याज्ञिक आचार संहिता-पं. वीरसेन वेदश्रमी, पृष्ठ ६५
३९ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मयापत्या जरदष्टिर्यथासः। भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ ऋग्वेद १०/८५/३६
४० इन्द्राण्येतु प्रथमाजीताऽमुषिता पुरः।अथर्ववेद १/२७/४
४१ विपूच्येतु कृन्तती पिनाकमिव विभ्रती। अथर्ववेद १/२७/२
४२ सद्यो जंघाम आयसीं विश्पलायै। ऋग् १/११६/१५

पतियों के साथ युद्ध में भाग लेती थी।[४३] वेद में दिये गये स्त्री के विश्लेषणों से पता लगता है कि नारी शौर्यशाली है यथा-अषाढ़ा (अजेय), सहमाना (विजयिनी), सहस्त्रवीर्या (असंख्य पराक्रम वाली) असपा (अशत्रु), सपहनी (शत्रुनाशक) जयंती (विजेता) अभि भूवरी (हरा देने वाली)[४४] सिंही (शेरनी), अदिति (अखण्डनीय), अभेद्य, महीम (महाशक्तिशाली), तुविक्षत्रा (क्षात्र बल से भरपूर) अजरन्ती (जीर्ण न होने वाली), उरुचि (सदैव कर्मण्य)[४५]। यजुर्वेद का मन्त्र कहता है हे महाशक्तिमती! सुव्रतियों की माता, सत्यशील की पी, क्षात्रबल से भरपूर, जीर्ण न होने वाली सदैव कर्मण्य, कल्याणकारी शुभ प्रकृष्ट नीति की अनुगामी, सदैव अदीन वीर स्त्री को हम भलीभाँति रक्षा के लिये बुलायें।[४६] यह पूरे समाज द्वारा स्त्री के शौर्य की प्रशंसा करते हुए सहायता हेतू बुलाने की पुकार है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में पुरुष द्वारा अदीन, पूजनीय, महाशक्तिमती को उत्कृष्ट सुख और लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता हेतु देवी (स्त्री) को पुकारे जाने का उल्लेख है।[४७] अत: निस्संदेह ही स्त्री प्राचीन काल में भी सबला अर्थात् शौर्य शाली थी जैसा कि वेद में वर्णित है।

मिथक-नारी को वेद मन्त्रों के उच्चारण और अध्ययन का अधिकार नहीं था। इसी की परिणति नारी को शिक्षा से वंछित रखने में हुई।

यथार्थ-यजुर्वेद का प्रसिद्ध मन्त्र है जिसमें कहा गया है कि

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्य:।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणय॥

अर्थात् जैसे मैं (ईश्वर) सब मंनुष्यों के लिए इस कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देने हारी ऋग्वेदादि चार वेदों की वाणी का उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो। हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय,वैश्य, शूद्र अपने भृत्य वा स्त्रियादि और अति शूद्रादि के लिये भी वेदों का प्रकाश किया है अर्थात् मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों को ग्रहण और बुरी बातों को छोड़ के दु:खों से छूटकर आनन्द को प्राप्त करें।[४८]

इतने स्पष्ट शब्दों में मनुष्यमात्र को वेदमंत्र के उच्चारण ही नहीं अपितु अध्ययन का अधिकार स्वयं ईश्वर ने वेद के माध्यम से दिया है। फिर भी यदि कोई स्त्रियों या मनुष्य विशेष को वेदाध्ययन से दूर रखे तो स्वयं वही संदेहास्पद सिद्ध होता है। अथर्ववेद में स्पष्ट रूप से कहा है कि **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**, अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वारा कन्या युवा पति को प्राप्त करती है। यहां ब्रह्मचर्य शब्द ध्यातव्य है। ब्रह्मचारी उसी को कहा जाता था जिसका उपनयन संस्कार (यज्ञोपवीत) हुआ हो। जिसका उपनयन होता वही शिक्षा प्राप्त करता था। अत: कन्याओं को ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेकर वेदादि की शिक्षा प्राप्ति का अधिकार सहज ही प्राप्त था। बिना वेदादि की शिक्षा ग्रहण किये ब्रह्मा की पद्वी कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता। जबकि ऋग्वेद-//

---

४३ नारी समनं वाव गच्छति। अथर्ववेद २०/१२६/१०

४४ वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृष्ठ २६०, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी

४५ वैदिक नारी, पृष्ठ ७३, डॉ. रामनाथ वेदालंकार

४६ महीमू षु मातरं सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नी अवसे हुवेम। तुविक्षत्राम् अजरन्तीम् उरूचीं सुशर्माणम् अदितिं सुप्रणीतिम्॥

४७ उत त्वामदिते मह्यमं देव्युपब्रुवे। सुमृळीकायाभिष्टये॥

४८ सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृष्ठ ६९, महर्षि दयानन्द सरस्वती

में प्रत्यक्ष कहा गया है **स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ** अर्थात् स्त्री ब्रह्मा होती है।

इसका अभिप्राय है कि अपने स्त्री ज्ञान की श्रेष्ठता के कारण यज्ञ आदि में ब्रह्मा का स्थान ग्रहण करती है और अनेक संस्कार आदि कराने में सक्षम हैं। तभी तो वह मुक्त कंठ से कहती है-**अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी** अर्थात् मैं समाज में मूर्धन्य (ध्वज के समान ऊँचे स्थान पर) हूँ मैं अग्रण्य हूँ और उद्भट वक्ता हूँ। वेद में राष्ट्रगीत के रूप में गाई जाने वाली प्रार्थना में **पुरन्धिर्योषा**[४९] कहकर नारी को राष्ट्र को धारण करने वाली कहा गया है। वेदों में विभिन्न स्थलों में नारी को अभिलक्षित करके प्रार्थनायें हैं। हे पी! तुम हमारे लिये ज्ञान का उपदेश दो-**त्वं विदथमावदासि।**[५०] तुम हमारे घर की प्रत्येक दिशा में ज्ञान का प्रयोग करो-**ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वत:।**[५१] शतपथ ब्राह्मण और तैत्तरीय संहिता के अनुसार नारी रहित पुरुष अधूरा है।[५२] और नारी के बिना पुरुष यज्ञ का अधिकारी नहीं है।[५३] यज्ञ में बिना यज्ञोपवीतधारी अर्थात् अशिक्षित नहीं बैठ सकता। इसलिये निश्चित ही स्त्री को शिक्षा का पूर्ण अधिकार होगा।

वैदिक संहिताओं के अनेक सूक्तों की द्रष्टी ऋषिकायें हैं हैं इनकी कुल संख्या और द्रष्ट मन्त्रों की संख्या से अधिक है। घोषा विश्ववारा, अदिति, इन्द्राणी, रोमशा, लोपामुद्रा, यमी, वाक, मेधा, श्रद्धा कामायनी, पौलोमी, उर्वशी आदि। इन पुष्ट प्रमाणों से स्पष्ट है कि स्त्रियों को सदैव से वेद-मंत्र उच्चारण, उसके अध्ययन और यज्ञ में उनके प्रयोग पर कहीं कोई वर्जना नहीं थी। वेदानुसार शिक्षा के क्षेत्र में नारी की स्थिति पुरुषों से कहीं भी कम नहीं थी। उसको जीवन के सभी क्षेत्रों, सेना, राजनीति, शिक्षा, उद्योग व व्यवसाय, संगीत, चिकित्सा, शिल्पकला (इंजीनियरिंग) आदि में अपना सहयोग देने व अपनी प्रतिभा दिखाने के पूर्ण अवसर प्राप्त थे।[५४]

इसी प्रकार अनेक मिथक जो वेद और भारतीय परम्परा के सम्बन्ध में प्रचलित हैं लेकिन उनका यथार्थ से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वेद और समकालीन समाज में नारी को पुरुषों के समकक्ष अधिकार थे और दिये गए हैं वहां लिंग भेद जैसा कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। आज नारी के जितने अधिकारों के लिए आन्दोलन किया जा रहा है अथवा सामाजिक परिवर्तन की बात की जा रही है। उन सभी अधिकारों की पुन: प्राप्ति के संघर्ष में वेदाश्रय लेने पर विचार तर्कसंगत, सुदिशा युक्त, बहुमत सम्पन्न और प्रयास अत्यल्प परिश्रम में बहुपरिणामी होने से परिणाम निश्चित रूप से सहज व सुगम होने से सुख व आनन्ददायक होंगे।

---

४९ यजुर्वेद २२/२२
५० अथर्ववेद १४/१/२०
५१ अथर्ववेद १४/१/६४
५२ अर्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/३/३/५, शतपथ ब्राह्मण ५/२/१/१०
५३ अयज्ञो वा एषः योअपत्नीकः। तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/२/६, शतपथ ब्राह्मण ५/१/६/१०
५४ विशेष दृष्टव्य-वैदिक नारी, डॉ. रामनाथ वेदालंकार

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१००-१०६) ISSN 0974 – 8830

वैदिक वाङ्मय में पृथिवी एवं उसकी वैज्ञानिक विशेषताएँ

डॉ० पुष्पा यादव, विद्यालंकार[1]

'विशिष्ट ज्ञानं विज्ञानमिति' अर्थात् विज्ञान प्रयोग और परीक्षण द्वारा सत्यापित विशिष्ट ज्ञान है। विज्ञान की दो शाखायें हैं-

(क) प्राकृतिक विज्ञान। (ख) सामाजिक विज्ञान

प्राकृतिक विज्ञान ही वह आधारभूत विज्ञान है जिसमें प्रकृति और पदार्थ का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है। प्राकृतिक विज्ञान की एक शाखा भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड में स्थित वस्तुओं, क्रियाओं और उन्हें प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन किया जाता है। पदार्थ का अध्ययन करने वाले समस्त विज्ञानों को भौतिक विज्ञान कहते हैं। पदार्थ विज्ञान के अन्तर्गत ही ब्रह्माण्ड में स्थित विभिन्न तत्त्वों यथा सूर्य, वायु, मेघ, पृथिवी, प्रकाश आदि का अध्ययन किया जाता है।

वैदिक वाङ्मय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का वह उत्स है जो उत्तरोत्तर समृद्धि को प्राप्त होता गया। धातु विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, औषधि विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, गणित, ज्यामितीय, परमाणु विज्ञान एवं ज्योतिष आदि समस्त विज्ञानों का मूल हमें वैदिक संहिताओं में ही प्राप्त होता है।

वेदों में पृथिवी का वैज्ञानिक वर्णन रचनात्मक एवं गुणात्मक दोनों रूपों में प्राप्त होता है। यदि हम ऋग्वेद के पुरुष सूक्त पर विचार करें, तो वहाँ हम पृथिवी की उत्पत्ति और उसके उत्पत्तिक्रम की जानकारी प्राप्त होती है :-**ततो विराडजायत ..... पश्चाद् भूमिमथो पुर:।**[2] **पद्भ्यां भूमि:।**[3]

महर्षि दयानन्द इसका वैज्ञानिक अर्थ करते हुये लिखते हैं-यह जो आकाश है विराट् कहलाता है। यह प्रथम कलारूप परमात्मा के सामर्थ्य से उत्पन्न हो प्रकाशमान हो रहा है। आकाशादि के उत्पत्तिक्रम में प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व पृथिवी की उत्पत्ति हुई और यह पृथिवी 'पद्भ्याम्' अर्थात् पृथिवी के परमाणु स्थूल रूप में जब यह पृथिवी बनी तो अस्तित्व में आने के कारण भू कहलायी। उत्पन्न होने वाली होते हुये भी वह अदिति है अर्थात् अखण्ड अर्थात् नाशरहित है। इस नाम में इसका वैज्ञानिक रहस्य छिपा है। वेद में इसे 'अदिति' कहना इसके इस वैज्ञानिक तथ्य को अवगत कराता है कि यह पृथिवी स्थूलरूप में निर्मित होते हुये भी कारण रूप सामाथ्र्य के कारण अखण्ड और नाशरहित है। यह नाम उस वैदिक त्रैतवादी सिद्धान्त को भी पुष्ट करता है जिसमें मूल प्रकृति को नित्य पदार्थ माना गया है।

वेदों में इसे 'उर्वी' और पृथिवी नाम देना इसके विस्तार और फैलाव की विशेषता का बोध कराता है। पृथिवी का एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक नाम 'गौ:' है, इस नाम से यह वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त होती है कि यह गमनशील है, गतिशील है-**या गौ: वर्तनिं पर्येति।**[4]

अर्थात् पृथिवी तथा इस प्रकार के जो अन्य लोक हैं, वे अपने-अपने निर्धारित मार्ग पर अर्थात् कक्षा

---

१ एसोसियेएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा, संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय (परास्नातक), किदवईनगर, कानपुर।

२ ऋग्वेद-१०/९०/५, यजु० ३१/५.

३ तदर्थ-१०/९०/१५, यजु० ३१/१३.

४ तदर्थ-१०/६५/६

में घूमते रहते हैं। यजुर्वेद में भी इसी तथ्य को प्रकट करते हुये कहा गया है:-

आयं गौः पृश्निरक्रमीद् असदन् मातरं पुरः। पितरं च प्रयन् स्वः।[५]

अर्थात् यह पृथिवी गोलक गति करने वाला भूगोल, अपने आदित्य रूप पिता के चारों ओर गति करता हुआ और अपने उत्पत्ति निमित्त जल की भी गति करता हुआ, अन्तरिक्ष में चारों ओर घूमता है तथा अपनी कक्षा में भी घूमता है।

विज्ञान की दृष्टि से ऋग्वेद का यह मन्त्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जिससे पृथिवी सम्बन्धी दो वैज्ञानिक जानकारियाँ प्राप्त होती हैं :-

इन्द्राय गिरो अनिशितसर्गाः अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्व तस्तम्भ पृथिवीमुतद्याम्।।[६]

प्रस्तुत मन्त्र में 'अक्षेणेव चक्रिया' अर्थात् अक्ष पर घूमते हुये पहिये की उपमा देकर यह बताया गया है कि पृथिवी, सूर्य आदि लोक गोलाकार हैं और अपने अक्ष पर घूमते हैं। साथ ही **पृथिवीं तस्तम्भ** शब्दों में आकर्षण सिद्धान्त को व्यक्त करते हुये कहा गया है कि सूर्य पृथिवी को अपने आकर्षण शक्ति से अन्तरिक्ष में थामे हुये है।

पृथिवी के गोलाकार रूप को शतपथ ब्राह्मण में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है- **परिमण्डलः उ वा इयं (पृथिवी) लोकः।**[७] अर्थात् 'पृथिवी लोक गोलाकार है' इतने स्पष्ट शब्दों के होते हुये पृथिवी की खोज का श्रेय किसी और को कैसे दिया जा सकता है। वेदों से लेकर लौकिक साहित्य तक पग-पग पर पृथिवी को गोलक कहा गया है। पृथिवी को भूगोल नाम देना भी इस तथ्य को प्रकट करता है कि प्राचीन भारत में ही इस वैज्ञानिक सत्य को भली-भाँति जान लिया गया था, जबकि सत्रहवीं शताब्दी तक पाश्चात्य जगत् अन्धविश्वास और अज्ञानान्धकार में डूबा हुआ था।

वेदों में पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा आदि लोकों को एक नाम 'ग्रहः' भी दिया गया है-

एषः वै ग्रहः, य एषः सूर्यः तपति।[८]
शंनो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।[९]

इस 'ग्रह' का भी वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम है। ग्रहण करने से ये सभी 'ग्रह' हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि इन सभी ग्रहों में एक-दूसरे को पकड़ने या थामे रहने की शक्ति विद्यमान है, जिसे आकर्षण शक्ति कहा जाता है तथा इसे शक्ति सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसे **व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः**[१०] (व्याकरण महाभाष्य) एक आन्तरिक शक्ति पदार्थों को परस्पर निकट लाती है, यह कहकर आन्तरिक शक्ति सिद्धान्त नाम दिया है। ऋग्वेद का कथन है कि सूर्य ने अपनी आकर्षण शक्ति (यन्त्र) से पृथिवी को रोका हुआ है-

---

५ यजुर्वेद भाष्य ३/६
६ ऋग्वेद १/८९/४
७ शतपथ ब्राह्मण ७/१/१/३७
८ तदर्थ ४/६१/३७
९ अथर्ववेद १९/९/१०
१० ऋग्वेद-७/९९/३

दाधर्थ पृथिवीम् अभितो मयूखैः।[११]

सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णात्।[१२]

ऋषि अथर्वा विश्व के प्रथम वैज्ञानिक थे, जिन्होंने पृथिवी सम्बन्धी अनेक वैज्ञानिक तथ्यों का उल्लेख अथर्ववेद में किया है। अट्ठारहवें काण्ड के तीसरे सूक्त में 'पृथिवी की उत्पत्ति सूर्य से हुई है' का वर्णन करते हुये इसे बाहुच्युता कहा गया है:-'**बाहुच्युता पृथिवी द्यामिव उपरि।**[१३]

ऋग्वेद में एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है कि वरुण ने सूर्य के द्वारा पृथिवी को बनाया या नापा:-

वि यो ममे पृथिवी सूर्येण।[१४]

हमारे सौरमण्डल का केन्द्र सूर्य है और सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, यह एक वैज्ञानिक तथ्य है जिसे अथर्वा ऋषि ने हजारों वर्ष पूर्व ही उद्घाटित कर दिया था कि पृथिवी का केन्द्र बिन्दु (हृदय) आकाश में है:-**यस्य हृदयं परमे व्योमन्।**[१५]

आकाश में सूर्य के रूप में अग्नि विद्यमान है और अन्तरिक्ष उसी से प्रकाशित होता है :-**अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वऽन्तरिक्षम्।**[१६]

पृथिवी सूर्य की परिक्रमा करती है, पृथिवी द्वारा सूर्य की परिक्रमा करने का वैज्ञानिक सिद्धान्त अथर्ववेद के इस मन्त्र में भी दृष्टिगत हो रहा है :-**पृथिवी सूकराय वि जिहीते मृगाय।**[१७]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख है कि पृथिवी (क्ष) सूर्य (शुष्ण) की प्रदक्षिणा करती है-**क्षा .... शुष्णं परि प्रदक्षिणित्।**[१८]

अथर्ववेद में वर्णन प्राप्त होता है कि पृथिवी काँपते हुये चलती है। काँपते हुये चलने से तात्पर्य लट्टू की तरह अपने ही चारो ओर घूमते हुये चलने से है। पृथिवी की इस दैनिक गति से दिन और रात होते हैं। यह तथ्य भूगोलवेत्ता भी जानते हैं। यही तथ्य हजारों वर्ष पूर्व अथर्ववेद में भी उद्भासित किया गया है:-**याऽप सर्पविजयमाना विमृग्वरी।**[१९]

रात-दिन का उल्लेख ऋषि ने 'अहोरात्रे' कह कर किया है:-**अहोरात्रे पृथिवी नो दुहाताम्।**[२०]

पृथिवी पञ्च तन्मात्राओं से युक्त है, पञ्चमहाभूतमय पदार्थों में पृथिवी ही ऐसा द्रव्य है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध पाये जाते हैं। पृथिवी का प्रधान गुण गंध है जो अन्य किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता।

---

११ तदर्थ-७/९९/३
१२ तदर्थ१०/४९/१
१३ तदर्थ-७/९९/३
१४ तदर्थ-५/८५/५
१५ अथर्ववेद-१२/१/८
१६ तदर्थ-१२/१/२०
१७ तदर्थ-१२/१/४८
१८ ऋग्वेद
१९ अथर्ववेद-१२/१/३७
२० तदर्थ-१२/१/३६

अतः उसे गन्धवती पृथिवी भी कहा गया है-**यस्ते गन्धः पृथिवी सम्बभूव यं विभ्रत्योषधयो यमापः।।**[२१] **यं गन्धर्वा अप्सरश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु।।**

महान् वैज्ञानिक न्यूटन ने पृथिवी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को फल के पृथिवी पर गिरने के प्रयोग से सिद्ध किया। इस गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धान्त को अथर्वा ऋषि ने हजारों वर्ष पूर्व **मल्वं विभ्रती गुरुभृत्** कह कर उद्घाटित किया है अर्थात् पृथिवी में गुरु पदार्थ को अपनी ओर खींचने और धारण करने की शक्ति है।[२२]

बृहद् जाबाल उपनिषद् में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को आधार शक्ति के नाम से कहा गया है। इसके '**ऊर्ध्वशक्ति या ऊर्ध्वगः** अर्थात् ऊपर की ओर खिंचकर जाना यथा अग्नि ज्वाला का ऊपर की ओर जाना', तथा **अधः शक्ति या निम्नगः** नीचे की ओर जाना जैसे जल, पत्थर आदि का नीचे जाना' दो भेद किये गये हैं। उपनिषद् का कथन है कि समस्त संसार अग्नि और सोम का समन्वय है। अग्नि की ऊर्ध्वगति है और सोम का अधो शक्ति इन दोनों शक्तियों के आकर्षण से ही यह पृथिवी रुकी हुई है :-

(क) **अग्नीषोमात्मकं जगत्।**[२३] (ख) **आधारशक्त्यावधृतः, कालाग्निरयम् ऊर्ध्वगः। तथैव निम्नगः सोमः।**[२४]

डेढ़ सौ ई०पू० में महर्षि पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ व्याकरण महाभाष्य में इस गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का उल्लेख करते हुये आकर्षण शक्ति का वर्णन किया गया है कि 'यदि मिट्टी का ढेला ऊपर फेंका जाता है तो वह बाहुवेग को पूरा करने पर न टेढ़ा जाता है न ऊपर जाता है। वह पृथिवी का विकार पृथिवी पर ही आ जाता है-**लोष्ठः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग गच्छति, नोर्ध्वमारोहति। पृथिवी विकारः पृथिवीमेव गच्छति, आन्तर्यतः।**[२५]

इसी प्रकार चार हजार वर्ष पूर्व पिप्पलाद ऋषि के द्वारा प्रश्न-उपनिषद में पृथिवी में आकर्षण शक्ति का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि अपान वायु के द्वारा मल-मूत्र शरीर से नीचे की ओर जाता है। आचार्य शंकर ने प्रश्नोपनिषद् के भाष्य में कहा है कि पृथिवी की आकर्षण शक्ति के द्वारा ही अपान वायु मनुष्य को रोके हुये है, अन्यथा वह आकाश में उड़ जाता।

(क) **पायुस्थे-अपानम्।**[२६] (ख) **पृथिव्यां ता देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य।**[२७] (ग) **तथा पृथिव्याम् अभिमानिनी या देवता ... सैषा पुरुषस्य अपानवृत्तिम् आकृष्य .... अपकर्षणेन अनुग्रहं कुर्वती वर्तते। अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात् पतेत् सावकाशे वा उद्गच्छेत्।**[२८]

भास्कराचार्य द्वितीय ने १११४ ई० में अपने ग्रन्थ '**सिद्धान्त शिरोमणि**' में गुरुत्वाकर्षण के लिये

---

२१ तदर्थ-१२/१/२५
२२ तदर्थ-१२/१/४८
२३ बृहत् जाबाल उपनिषद-२/४
२४ तदर्थ-२/८
२५ व्याकरण महाभाष्य-१/१/४९ सूत्र पर
२६ प्रश्न उप०-३/५
२७ तदर्थ-३/८
२८ प्रश्न उप० ३/८.शांकरभाष्य

आकृष्ट शक्ति शब्द का प्रयोग किया है। भास्कराचार्य का कथन है कि पृथिवी में आकर्षण शक्ति है, अतः वह ऊपर की भारी वस्तु को अपनी ओर खींच लेती है। वह वस्तु पृथिवी पर गिरती हुई सी प्रतीत होती है। पृथिवी स्वयं सूर्य आदि के आकर्षण से रुकी हुई है, अतः वह निराधार आकाश में स्थित है तथा अपने स्थान से नहीं हटती और न गिरती है। वह अपनी कीली पर घूमती है-

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् पतत्वियं खे।।[२९]

वराहमिहिर (४७६ ई) ने अपने ग्रन्थ '**पञ्चसिद्धान्तिका**' तथा श्रीपति (१०३९ ई) ने अपने ग्रन्थ **सिद्धान्तशेखर** में इसी तथ्य को प्रकट करते हुये कहा है कि तारासमूहरूपी पंजर में गोल पृथिवी इसी प्रकार रुकी हुई है, जैसे दो बड़े चुम्बकों के बीच में लोहा।

पञ्चमहाभूतमयस्तारा-गण पंजरे महीगोलः।
खेऽयस्कान्तान्तःस्थो लोह इवावस्थितोवृतः।।[३०]

आचार्य श्रीपति के अनुसार-पृथिवी की अन्तरिक्ष में स्थिति उसी प्रकार स्वाभाविक है, जिस प्रकार सूर्य में गर्मी, चन्द्र में शीतलता और वायु में गतिशीलता। दो बड़े चुम्बकों के बीच में जैसे लोहे का गोला स्थिर रहता है, उसी प्रकार पृथिवी भी अपनी धुरी पर रुकी हुई है-

(क) उष्णत्वमर्कशिखिनोः शिशित्वमिन्द्रो, निर्हेतुखेमवनेः स्थितिरन्तरिक्षे।[३१] **(ख) नभस्ययस्कान्त महामणीनां मध्ये स्थितो लोहगुणो यथास्ते। आधारशून्योऽपि तथैव सर्वाधारो धरित्र्यां ध्रुवमेव गोलः।।**[३२]

आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि पृथिवी पहले जलमग्न थी। प्राचीन काल में पूरा यूरोप और एशिया जलमग्न था। शनैः शनैः समुद्र हटता गया और, कालान्तर में पृथिवी ऊपर आ गई। इसी तथ्य को अथर्ववेद में उल्लेख करते हुये कहा गया है कि पृथिवी पूर्व में डूबी हुई थी और धीरे-धीरे ऊपर आ गयी-

यार्णवेऽधि सलिलमग्न आसीत्।[३३]

काठक और मैत्रायणी संहिता में भी पृथ्वी को जल प्रधान, आर्द्रा और शिथिला कहा गया है-(क) **इयं तर्हि शिथिरासीत्।**[३४] **(ख) शिथिरा वा इयमग्र आसीत्।**[३५]

वात कभी उसे ऊपर कभी नीचे ले जाती है-**(क) सा हेयं पृथिवी अलेयद् यथा पर्णमेव। तां ह स्म वातः संवहति।**[३६] **(ख) तां दिशोह्ववातः समवहत्।**[३७]

ब्रह्माण्ड तीन लोकों में विभाजित है, सभी धर्मशास्त्र और वैज्ञानिकों (खगोल विज्ञान, भू-विज्ञान,

---

२९ सिद्धान्त शिरोमणि भुवन-१६
३० पंच सिद्धान्तिका पृ०-३१
३१ सिद्धान्तशेखर-१५/२१
३२ तदर्थ-१५/२१
३३ अथर्ववेद
३४ काठक संहिता-३६/७
३५ मैत्रायणी संहिता-१/६/३
३६ शतपथ ब्राह्मण
३७ तैत्तरीय ब्राह्मण-१/१/३

ज्योतिष, भूगोल आदि) ने ये माना है कि यह ब्रह्माण्ड, द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथिवी इन तीन लोकों में विभाजित है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में हजारों वर्ष पूर्व यही बात कही गयी है-**द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।**[३८]

पृथिवी अग्निमयी है।[३९] यह पृथिवी अग्निगर्भा है। इसके अन्तस् में अत्यधिक उष्णता है। कभी-कभी वही उष्णता ज्वालामुखी के रूप में फटकर बाहर निकलती है। इस तथ्य की जानकारी वैदिक वाङ्मय में 'आग्नेयी' और अग्निगर्भा कहकर दी गई है-**'आग्नेयी पृथिवी'।**[४०] **'अग्निगर्भा पृथिवी'।**[४१]

अथर्ववेद में एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है-

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूव।[४२]

यहाँ पृथिवी के गर्भ में स्थित ऊर्जा से तात्पर्य अग्नि से है जो आज की पृथिवी के गर्भ में लावे के रूप में स्थित है। इसके अतिरिक्त प्राणियों में स्थित जठराग्नि का भी उल्लेख किया गया है।[४३]

पृथिवी खनिज सम्पदा से परिपूर्ण है। इसमें सोना, चाँदी, हीरा आदि बहुमूल्य पदार्थ पाये जाते हैं, जिसका उल्लेख भूमिसूक्त में प्राप्त होता है-**विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षाः।**[४४] इस मन्त्र में 'वसुधानी' का तात्पर्य खनिजों की खान और हिरण्यवक्षा से तात्पर्य सुवर्ण, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं से है। एक अन्य स्थल पर पृथिवी से प्रार्थना की गई है-

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहावसुमणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे वसूनि।
नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥[४५]

अर्थात् विविध प्रकार की खानों को धारण करने वाली पृथिवी हमें धन दे।

पृथिवी अयस्मयी है-यह पृथिवी लौह धातु से परिपूर्ण है।[४६] यह कहकर मनुष्यों को यह ज्ञान दिया है कि अयस् अर्थात् लोहा, सोना-चाँदी आदि सभी धातुयें पृथिवी के अन्दर विद्यमान हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है-ते **(असुरा) वा अयस्मयी एवेमां (पृथिवीं) अकुर्वन्।**[४७]

कौशितकि ब्राह्मण में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है-**(असुराः) अयस्मयीं (पुरीम्) अस्मिन्** (अकुर्वत)[४८]

तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख मिलता है कि प्रारम्भ में पृथिवी अल्पा थी और बाद में धीरे-धीरे विस्तृत

---

३८ अथर्ववेद-१२/१/५२
३९ तदर्थ-१२/१/२१
४० ताण्ड्यी ब्राह्मण-१५/४/८
४१ शतपथ ब्राह्मण-१४/९/४/२१
४२ अथर्ववेद-१२/१/१२
४३ तदर्थ-१२/१/१९
४४ तदर्थ-१२/१/६
४५ तदर्थ-१२/१/४४
४६ गोपथ ब्राह्मण-२/७
४७ ऐतरेय ब्राह्मण-१/२३
४८ कौ० ब्राह्मण-८/८

हुई-**वै तर्हि अल्पा पृथिव्यासीद् अजाता ओषधयः।**[४९]

आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यही विचार है कि प्रारम्भ में ग्रह छोटे थे, और आज भी अपनी आकर्षण शक्ति से अन्तरिक्ष के धूलिकणों को अपनी ओर खींच रहे हैं जिससे उनमें विस्तार होता जा रहा है।

भूगोल विज्ञान में वर्णित भूकंप का विवरण भी वेदों के पृथ्वी सूक्त में प्राप्त होता है-**महान् वेग एजथुर्वेपथुस्ते।**[५०] अर्थात् हे पृथिवि आपका हिलना-डुलना अत्यन्त वेगवान् होता है। यहाँ पृथिवी के कंपन से भूकंप का संकेत मिलता है। इसका एक अर्थ यह भी है कि पृथ्वी जिस गति से आकाश में कंपित होकर जाती है, वह वेग अत्यन्त तीव्र है अर्थात् वह अपनी धुरी पर तेजी से घूमते हुये परिक्रमा करती है।

अन्त में हम वैदिक वाङ्मय के संक्षिप्त अनुशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैदिक साहित्य में पृथ्वी सम्बन्धी अनेक सैद्धान्तिक और मौलिक विशेषताएँ विद्यमान हैं जिनके आविष्कार का श्रेय पाश्चात्य वैज्ञानिक ले रहे थे, किन्तु वैदिक वर्णनों ने उनके दावों को झुठलाते हुये यह सिद्ध कर दिया कि वेद के आदिकाल में ही मनुष्यों को इससे सम्बन्धित ज्ञान दे दिया गया था। अन्ततः ऋग्वेद, अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त तथा ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों के अनुशीलन से जो विज्ञान सम्मत तथ्य सामने आये हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं-

- पृथिवी सौरमण्डल के नवग्रहों में से एक है।
- पृथिवी की उत्पत्ति सूर्य से हुई है और वह सूर्य से ही प्रकाश पाती है।
- पृथिवी का केन्द्रबिन्दु सूर्य है और वह गुरुत्वाकषर्ण से खिंचकर ब्रह्माण्ड में स्थित है।
- पृथिवी स्थिर नहीं है वह पश्चिम से पूर्व की ओर घूमते हुये सूर्य की परिक्रमा करती है। वह अपनी धुरी पर घूमती है, जिससे दिन और रात होते हैं।
- पृथिवी में गुरुत्वाकषर्ण शक्ति है।
- पृथिवी गोल है।
- वह पहले जलमग्न थी।
- वह प्रारम्भ में अल्पा थी, बाद में विस्तृत हुई।
- पृथिवी अग्निगर्भा है। उसमें ९८ प्रतिशत लोहा एवं अन्य भारी पदार्थ हैं।
- वह अपार खनिज सम्पदा की स्वामिनी है।
- एकमात्र पृथिवी पर ही जीवन है।
- पृथिवी में शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध है। गन्ध उसका विशिष्ट गुण है।
- पृथिवी का भौतिक स्वरूप ही प्रधान है, दैवी स्वरूप नहीं।

निष्कर्षतः पृथिवी विश्व का कल्याण करने वाली अन्न, धन, बल, कीर्ति-प्रदायिनी है तथा इस प्रकार यह पावन धरा अपने भूमि, क्षमा, मही, पृथिवी, उर्वी, उत्ताना, अपारा, धरित्री, विश्वंभरा, वसुधानी, हिरण्यवक्षा, धरिणी, धरती, वसुन्धरा, मार्ता, सुक्षिति, सुक्षेमा आदि नामों की वैज्ञानिकता को सिद्ध करती हुई जगत् का कल्याण करती है। अतः हम संक्षेप में कह सकते हैं-**विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।**

---

४९ तैत्तरीय संहिता-२/१/२

५० अथर्ववेद-१२/१/१८

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१०७-११४) ISSN 0974 – 8830

वैदिक साहित्य में वर्णित वेशभूषा एवं वस्त्र व्यवसाय

डॉ. रेखा सिंह[१]

प्राचीन काल से ही वस्त्र-उद्योग भारत के सर्वप्रमुख उद्योगों में से एक रहा है। भारत में सिंधु सभ्यता के पश्चात् वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ माना गया है। साहित्य में वैदिक काल का निर्धारण लगभग १५०० ईसा पूर्व से ५०० ईसा पूर्व तक स्वीकार किया गया है। इस दीर्घ काल में वेद (ऋक् संहिता आदि) ब्राह्मण ग्रन्थ,(शतपथ ब्राह्मण) आरण्यक, उपनिषद, श्रौत सूत्र इत्यादि ग्रन्थों की रचना हुई। इन्हीं ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न प्रकार से निर्मित वस्त्र बुनकर, करघों की जानकारी प्राप्त होती है। वैदिक साहित्य में चर्म, वल्कल, वानस्पतिक और कीट से निर्मित, वस्त्रों के साथ-साथ अन्य प्रकार के वस्त्रों का भी वर्णन मिलता है, जो इनकी बनावट व पहचान से सम्बन्धित तथ्यों पर प्रकाश डालता है। इन वस्त्रों में बराशी, दूर्श, पाण्डव, तार्प्य, कार्पास से निर्मित वस्त्रों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वस्त्र बुनने में वैदिक काल के लोग निपुण थे, और उनके द्वारा निर्मित वेशभूषा में सादगी थी।

वैदिक संस्कृति के काल में वस्त्र निर्माण का व्यवसाय सर्वाधिक महत्त्व का शिल्प रहा था। ऋग्वेद में कहा गया है-कि वस्त्र मानव का स्वरूप है और भोजन उसका जीवन है।[२] ऋग्वेद मे पत्नी द्वारा सुन्दर वस्त्र पहन कर अपने पति के पास जाने का वर्णन पाया जाता है।[३] यही नहीं इन ग्रन्थों में विभिन्न देवताओं जैसे ऊषा एवं अग्नि आदि को आकर्षक, एवं उत्तम वस्त्रों में वर्णित किया गया है।[४] विवाह संस्कार के समय नववधू को वाधूय नामक एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनाया जाता था।[५] ऋग्वेद में एक स्थान पर देवताओं से अन्य वस्तुओं के साथ वस्त्र प्रदान करने की भी प्रार्थना की गई है।[६] वैदिक काल में गायक तथा नर्तकों द्वारा भी विशेष प्रकार के वस्त्र पहनने का आभास होता है।[७] इतिहासकार वंद्योपाध्याय का मानना है कि ऋग्वेद के मन्त्र में पूषन् देवता द्वारा वस्त्र बुनने का विवरण प्राप्त होता है।[८] शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले वस्त्र बुनने के 'ताने के देवता वायु', 'बाने के देवता अग्नि', और 'सूत के विश्वदेवता' बनाए गए हैं।[९] ऋग्वेद में वस्त्र बुनने की उपमाएं मनुष्य के विभिन्न क्रिया-कलापों से दी गयी है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है-'धागा शिशु की भाँति कातने पर निरंतर बढ़ता जाता है।[१०] ऋग्वेद में ही दूसरे मन्त्र में

---

१. डॉ. रेखा सिंह, प्रवक्ता (तदर्थ) प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार

२. ऋग्वेद ८.३.२४

३. ऋग्वेद-सं.एच.एच.विल्सन, भाग-६, पृष्ठ ३१९.

४. Vedic Age-३७२

५. ऋग्वेद १०.८५.३४

६. ऋग्वेद-९.९७.५०

७. बुच, एम.ए.-Economic Life in Ancient India Vol. 2, P. 114

८. बन्धोपाध्याय, एन.सी. Economic life and progers in Ancient India P. 151

९. शतपथ ब्राह्मण ३.४.५.१३-१५

१०. ऋग्वेद ९.२२.६

बताया गया है-'तुम उसी प्रकार उत्तम गीत बुनते (रचते) हो जैसे एक कुशल बनुकर वस्त्र बुनता है।[११] वस्त्र निर्माण वाले बुनकरों को ऋग्वेद में 'वासोवाय'[१२], और अर्थवेद में वस्त्र को शरीर की सुरक्षा का साधन स्वीकार करते हुए 'वर्म' कहा है।[१३] इन वैदिक ग्रन्थों में बुनाई के संदर्भ में परिभाषिक शब्दों का भी वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में करघे के लिए 'तन्त्र'[१४], अथर्ववेद में ताने के लिए 'तंतु'[१५] तथा तैत्तिरीय सहिंता में बाने के के लिए ' ओतु' शब्द का प्रयोग किया गया है।[१६] अथर्ववेद के एक मन्त्र में वर्णन मिलता है-**तन्तुमेके युवती वयती। पुमानेतद् वयति** अर्थात् बुनाई का कार्य अधिकतर स्त्रियों द्वारा ही किया जाता था।वही एक ऋचा में वर्णन है कि पुरुष भी बुनाई का कार्य करते थे।[१७] वैदिक काल में लोग वस्त्र बुनने सिलने, कसीदाकारी करने की कला में निपुण थे। वे वस्त्रों के निर्माण में चर्म, ऊन, सूत तथा छाल आदि का प्रयोग करते थे।

प्राचीन काल में देवता, ऋषि-मुनि और सामान्य जन द्वारा पशुओं की खाल को वस्त्र के रूप में पहनने की प्रथा थी। सभ्यता के आरम्भिक युग में आर्य लोग शरीर को आच्छादित करने के लिए पशु, चर्म का प्रयोग करते थे। जिस की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण से होती है।[१८] प्राचीन काल में सुमेरियन सभ्यता जो सिन्धु सभ्यता की समकालीन थी, सरगान काल तक वहाँ के लोग बकरे की खाल से निर्मित तहमद, पहनते थे, जिसका उदहारण हमें वहाँ के चित्रों और मूर्तियों को देखने से मिलता है।[१९] कृष्णाजिन नाम से प्रसिद्ध कृष्ण मृग का चर्म वस्त्र के रूप में यज्ञ जैसे धार्मिक कृत्यों में पहनने का प्रचलन था, जिसे ऋषि, महात्मा आदि पहनते थे। कृष्णाजिन पर बैठ कर नावगंतुक साधकों को दीक्षा दिये जाने का भी उल्लेख मिलता है।[२०] आधुनिक युग में भी धार्मिक कृत्यों में मृग चर्म को पवित्र माना जाता है। ऋग्वेद के मन्त्र में मरुत्गणों के द्वारा कृष्णाजिन पहनने का वर्णन किया गया है।[२१] देवगण मृग चर्म से ढाल बनाते थे। अथर्ववेद में मुनियों द्वारा भूरे रंग का और स्वयं आखेट से प्राप्त चर्म धारण करने का वर्णन मिलता है।[२२] इसी प्रकार पञ्चविंश ब्राह्मण से भी इसी प्रकार काले और सफेद रंग के दोहरे चर्म पहनने का वर्णन मिलता है।[२३] अथर्ववेद के अनुसार जंगली लोग कृति (खाल, मृग चर्म) पहनते थे।[२४] शतपथ ब्राह्मण में बकरे की खाल पहनने का

---

११. ऋग्वेद १०.१०६.१
१२. ऋग्वेद १०.२६.६
१३. अथर्ववेद ९.५.२६, वर्मवासांसि तन्वे भवन्ति
१४. ऋग्वेद १०.७१.९
१५. अथर्ववेद ९.९.१६, १४.२.५१
१६. तैत्तिरीय संहिता ६.१.१४
१७. अथर्ववेद १०.७.४२-४३
१८. शतपथ ब्राह्मण ३.१.१३-१६
१९. डॉ. सुमन पाण्डेय-अंजना के भित्ति चित्रों में अंकित वस्त्र एवं वेशभूषा का आलोचनात्मक अध्ययन-पृष्ठ २६
२०. डॉ. सुमन पाण्डेय, पूर्वोद्धृत, पृ. २६
२१. ऋग्वेद १.११६६.१०
२२. अथर्ववेद १०.१३६.२
२३. पंचविंश ब्राह्मण १७.१.१५
२४. अथर्ववेद ४.७.६

उल्लेख है।[२५] वैदिक साहित्य में प्राप्त इन वर्णनों के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया जा सकता है। कि इस काल में चर्म वस्त्रों का भी उपयोग किया जाता है। यह चर्म काले, भूरे मृग, साँभर हिरण, बकरे आदि जानवरों का होता था। वाजसनेयी संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में समूर अर्थात् साँभर हिरण का चमड़ा के व्यापार का वर्णन मिलता है।[२६]

ऊन एवं ऊन से बने वस्त्रों के सबसे प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। आर्य लोग ऊनी वस्त्रों के लिये भेड़ों की ऊन का प्रयोग करते थे। वैदिक साहित्य में भेड़ को 'ऊर्णावती' और ऊन को 'ऊर्णा' कहा गया है।[२७] यजुर्वेद में 'ऊर्णामृदः' अर्थात् मुलायम ऊन का भी वर्णन है।[२८] ऋग्वेद में ऊनी वस्त्रों के लिये 'आविक' शब्द का प्रयोग किया गया है।[२९] अथर्ववेद में कंबल (कोई ऊनी वस्त्र) जैसे शब्द भी पाये जाते हैं।[३०] जबकि वैदिक काल के बाद के कालों में कंबल प्रायः ऊनी वस्त्र के लिए एक सामान्य शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में सिन्धु नदी के प्रदेशों को **'ऊर्णावती'** अर्थात् ऊन देने वाली भेड़ों का क्षेत्र कहा गया है।[३१] रावी नदी के आस पास के क्षेत्र ऋग्वैदिक काल में ऊन के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध थे।[३२]

ऋग्वेद के एक मन्त्र में पूषन् देवता को ऊनी वस्त्र बुनने वाला तथा ऊनी वस्त्र पहनने वाला वर्णित किया गया है।[३३] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि ऊर्णासूत्र अर्थात् ऊन के धागे की कताई-बुनाई का कार्य अधिकतर स्त्रियों के द्वारा ही किया जाता था।[३४] यजुर्वेद में ऊनी वस्त्रों की बुनाई को उत्तम कार्य बताते हुए कहा गया है कि-प्रबुद्ध लोग ऊन के धागे से बुनाई करते थे।[३५] वैदिक काल के लोग बड़ी संख्या में भेड़ पालते थे, विशेषतः पश्चिमोत्तर भारत में निवास करने वाले लोग। यास्क का मानना है कि एक जनजाति विशेष का 'काम्बोज' नाम इस लिए पड़ा, क्योंकि वे लोग कंबलों या आकर्षक ऊनी वस्त्रों का प्रयोग करते थे। वर्तमान काल में भी उत्तम प्रकार की ऊन एवं ऊनी वस्त्र कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, असाम, अरुणांचल प्रदेश आदि के ही माने जाते हैं।

वैदिक साहित्य (वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों) में कपास या सूती वस्त्रों का उल्लेख नहीं पाया जाता है। लेकिन डॉ. मोती चन्द्र का अनुमान है कि अनार्यो के द्वारा निर्मित होने के कारण ही आर्यो ने कपास से बने वस्त्रों को महत्त्व नहीं दिया।[३६] डॉ. एन० सी० बंधोपाध्याय का मानना है कि वैदिक साहित्य की रचना के काल तक आर्य जन इसके उत्पादक क्षेत्रों पूर्वी तथा दक्षिणी भारत तक नहीं पहुंच सके थे। सम्भवतः इसी

---

२५. शतपथ ब्राह्मण-अजर्षभस्य अजिन-३.९.१.२.५.२.२.२१.२४
२६. वाजसनेयी संहिता ३०.१५; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.२.१३.१
२७. ऋग्वेद ८.६७.३; ७.३६.३; १०.२६.६
२८. यजुर्वेद २.२
२९. ऋग्वेद १.१२६.७
३०. अथर्ववेद १४.२.६६
३१. ऋग्वेद १०.७५.८
३२. ऋग्वेद ४.२२.२
३३. ऋग्वेद ५.५२.९
३४. शतपथ ब्राह्मण १२.७.२.११
३५. यजुर्वेद १९.८०-ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति
३६. डॉ. मोती चन्द्र-प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ १४

लिये वैदिक साहित्य में कपास का कोई भी वर्णन प्राप्त नहीं होता है।[३७] लेकिन कुछ विद्वानों ने कुछ ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में आए 'सूत्र' एवं 'तूल' को कपास का धागा माना है।[३८] लेकिन डॉ. बुच का यह मत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषदों के अतिरिक्त तूल शब्द अथर्ववेद में भी आया है।[३९] किन्तु इनमें से किसी भी ग्रन्थ में यह कपास का द्योतक नहीं है। इस संदर्भ में श्रृंगबेरपुर (इलाहाबाद जिले में) का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पुरातत्विक उत्खनन में मिले मृत्पात्र की सतह पर कुछ कपास के धागे चिपके थे। कपास के इन धागों का प्रयोगशाला में वैज्ञानिक परिक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि ये धागे वस्त्र निर्माण में प्रयोग होने वाली अच्छी किस्म की कपास थी। डॉ. एस० के० सारस्वत ने इनका काल ईसा पूर्व १०५० तथा १००० के मध्य में रखा है। यह तिथि ऋग्वेद काल के अन्तिम भाग की है।[४०]

प्राचीन भारतीय साहित्य में रेशम या रेशमी वस्त्रों के लिए 'कौशेय' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। डॉ. मोती चन्द्र के अनुसार शतपथ ब्राह्मण में कौशेय का उल्लेख है।[४१] परन्तु डॉ. मोती चन्द्र द्वारा इस ब्राह्मण ग्रन्थ का संदर्भ नहीं दिया गया है। कुछ विद्वानों ने 'टसर' सिल्क को 'कौशेय' का दूसरा नाम माना है और सुझाव भी दिया है कि टसर संस्कृत के त्रसर शब्द का अपभ्रंश है जिसका उल्लेख ऋग्वेद और यजुर्वेद में आया है।[४२] वैदिक साहित्य में 'तार्प्य' नामक वस्त्र का उल्लेख मिलता है।[४३] जिसका समीकरण कुछ विद्वान् रेशम के साथ करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णन है कि यज्ञ के समय स्वयं यजमान को तार्प्य वस्त्र पहनना पड़ता था।[४४] शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि राजसूय यज्ञ के समय राजा भी तार्प्य वस्त्र पहनते थे, जिस पर यज्ञ के उपादानों के रूप (डिजाइन) कढ़े या टके होते थे।[४५] अलसी (Linseed) की भीतरी छाल के रेशों से बने वस्त्रों को प्राचीन भारतीय साहित्य में क्षौम कहा गया है। इस क्षौम वस्त्र की महत्ता और पवित्रता रेशमी वस्त्रों से कम नहीं है।[४६] ऋग्वेद में क्षौम का कोई भी वर्णन नहीं मिलता, परन्तु मैत्रायणी संहिता[४७] और तैत्तिरीय संहिता[४८] में क्षुमा अथवा अतसी (अलसी) की छाल से बने क्षौम वस्त्र का उल्लेख मिलता है।

भारत में प्राचीन काल से ही कताई एवं बुनाई का कार्य अपनी उन्नत अवस्था में रहा है। परन्तु कताई एवं बुनाई के सम्बंध में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से जानकारी हमें हड़प्पा संस्कृति से ही प्राप्त होती है। लेकिन ऋग्वेद तथा उत्तरवैदिक, ग्रन्थों में कताई-बुनाई तथा इसमें प्रयुक्त होने वाले उपकरणों के विषय

---

३७. Bandopadhyaya, N.C., Economic Life and Progeress in Ancient India, Vol. 1, P. 117
३८. Buch, M.A, Economic Life in Ancient India, Reprint, Vol. 1, P. 117
३९. अथर्ववेद १९.३२.३
४०. डॉ. ममता मिश्रा-प्राचीन भारत में वस्त्र उद्योग, पृष्ठ १७
४१. डॉ. मोती चन्द्र-प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृष्ठ २७
४२. डॉ. ममता मिश्रा-प्राचीन भारत में वस्त्र उद्योग, पृष्ठ ३३
४३. अथर्ववेद १८.४.३१
४४. तैत्तिरीय ब्राह्मण १.३.७.१
४५. शतपथ ब्राह्मण ५.३.५.२०-सर्वाणि यज्ञरूपाणि निस्यूतानि
४६. ममता मिश्रा, पूर्वोक्त, पृष्ठ ४३
४७. मैत्रायणी संहिता, ३.६.७
४८. तैत्तिरीय संहिता-६.१.१

में पर्याप्त जानकारी मिलती है। वैदिक साहित्य में पुरुष बुनकर के लिए 'वाय'[४९], वासोवाय[५०], 'कवय'[५१] और स्त्री बुनकर के लिए 'सिरि'[५२] एवं 'वायित्री'[५३] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में करघे को 'तन्त्र'[५४] तथा वाजसेनयी संहिता एवं तैत्तिरीय संहिता में 'वमन' कहा गया है।[५५] ऋग्वेद में तकली को 'तसर' तथा 'ताने' को तन्तु बताया गया है[५६], जबकि वाजसेनयी, संहिता में बाने को 'ओतु' कहा गया है।[५७] ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में धागा फैलाने के लिए लगाई गई खूंटी के लिए मयूख शब्द का प्रयोग किया गया है।[५८] ऋग्वैदिक काल में कताई एवं बुनाई को बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। क्योंकि ऋग्वेद में अनेक संदर्भों में कताई एवं बुनाई की उपमाएं दी गयी हैं। ऋग्वेद में पूषन् देव को 'वासोवाय' (बुनकर) कहा गया है। और साथ ही यह भी वर्णन किया गया है कि पूषन् देव भेड़ की ऊन से सूत कातकर वस्त्र बुनते थे।[५९] इससे स्पष्ट होता है कि बुनकरों के अतिरिक्त विशिष्ट लोग भी बुनाई का कार्य करते थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र के अनुसार रात-दिन की तुलना उन दो युवतियों से की गई है जो वस्त्र का ऐसा ताना-बाना बुनती हैं। जिसका दिन और रात के क्रम के समान कभी अन्त नहीं होता।[६०] अथर्ववेद[६१] एवं शतपथ ब्राह्मण[६२] के अनुसार वस्त्र बुनने का कार्य अधिकतर स्त्रियां ही करती थीं।

वैदिक ग्रन्थों में विशेषत: ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में 'सूची' 'वेशी'[६३] एवं सीव्य[६४] (अर्थात् सिला हुआ) शब्दों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में छिद्र करती हुई सुई से सिलाई करने का वर्णन है।[६५] वैदिक साहित्य में पहने जाने वाले वस्त्रों के लिए 'वासस' एवं 'वसन' शब्द का प्रयोग हुआ है। जो वस्त्र अच्छी तरह पहने जाते थे, और सुन्दर होते थे उन्हें ऋग्वेद में 'सुवसन' कहा गया है।[६६] ऋग्वेद में ही कहा गया है-'जायेव पत्य उशती सुवासा' अर्थात् उत्तम वस्त्र पहनने वाली नारी।[६७] वैदिक साहित्य में 'अत्क'

---

४९. Vedic Index, Vol. 2, P-123
५०. ऋग्वेद १०.२६.६
५१. वाजसनेयी संहिता, १९.८०
५२. ऋग्वेद १०.७.१९
५३. पंचविंश ब्राह्मण १.८-९
५४. ऋग्वेद १०.७१.९
५५. वाजसनेयी संहिता-१९.८३ तैत्तिरीय संहिता २.१.४.२
५६. ऋग्वेद ६.९.२
५७. वाजसनेयी संहिता १९.८०
५८. ऋग्वेद १०.७१.४; अथर्ववेद १४.२.४४
५९. ऋग्वेद १०.२६.६
६०. अथर्ववेद १०.७.४२
६१. अथर्ववेद १०.७.४२-४३
६२. शतपथ ब्राह्मण १२.७.२.१
६३. ऋग्वेद २.३२.४; अथर्ववेद ११.१०.३
६४. शतपथ ब्राह्मण १.३.३.६
६५. ऋग्वेद २.३२.४
६६. ऋग्वेद ९.९७.५०
६७. ऋग्वेद १०.७१.४

शब्द अनेक बार आया है। मोती चन्द्र के मतानुसार यह केवल पुरुषों के द्वारा पहने जाने वाला वस्त्र था,[६८] जो कि ऋग्वेद के अनुसार लम्बा और पूरे शरीर को ढँकने वाला था।[६९] लेकिन ऋग्वेद के इन साक्ष्यों से यह स्पष्ट नहीं है कि ये जो शब्द 'अत्क है, सिले हुए वस्त्र के लिए है या फिर किसी और प्रयोजन के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में 'द्रापि' नामक एक अन्य वस्त्र का भी वर्णन है। जो स्त्री व पुरुष दोनों द्वारा धारण किया जाता था। वास्तव में वैदिक साहित्य में 'अत्क' द्रापि आदि शब्दों का जो उल्लेख है, इनका वास्तविक अर्थ अनिश्चित है, इसके साथ वेदोत्तर काल में इस प्रकार के वस्त्रों का कोई भी वर्णन प्राप्त नहीं होता। इसलिए इनके विषय में कोई भी अन्तिम निर्णय लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि ये सिले हुए ही वस्त्र थे। क्योंकि वैदिक साहित्य में कताई, बुनाई धोबी, रंग रेज और कसीदाकारी का वर्णन तो मिलता है, परन्तु कपड़ा सिलने वाले दर्जी का कहीं कोई भी वर्णन प्राप्त नहीं होता। जहाँ तक प्रश्न सुईयों का है, सम्भवतः इनका प्रयोग कढ़ाई अर्थात् कसीदाकारी के लिए किया जाता होगा। सम्भवतः 'सिव्य' अर्थात् सिला हुआ शब्द का प्रयोग शायद फटे वस्त्र को सिलने या रफू करने के लिए प्रयोग किया गया होगा।[७०]

वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्राप्त विवरणों के आधार पर ज्ञात होता है कि आर्यों की वेशभूषा में मुख्यतः चार प्रकार के वस्त्र होते थे-१. उष्णीष, २. अधिवास, ३. नीवी, ४. अधोवस्त्र।

१. **उष्णीष**-शिरोभूषा के रूप में प्रयोग आने वाले वस्त्रों को उष्णीष या पगड़ी कहा जाता था। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग अथर्ववेद[७१] तथा पञ्चविंश ब्राह्मण[७२] में आया है। इसे साफे की तरह बाँधा जाता था।

२. **अधिवास**-यह एक प्रकार के उत्तरीय वस्त्र (चादर) था, जो कंधे पर डालकर ओढ़ा जाता था। इसे स्त्री-पुरुष दोनों धारण करते थे।[७३] सम्भवतः स्त्रियाँ अधिवास को दुपट्टे की तरह ओढ़ती थीं।

३. **नीवी**-कमर से नीचे पहने जाने वाला वस्त्र था, जिसे स्त्री व पुरुष दोनों धारण करते थे। यह एक प्रकार से तहमद या लुंगी की तरह कटि प्रदेश पर लपेट लिया जाता था। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि यह वस्त्र नाभि के पास गाँठ बांध कर पहना जाता था।[७४] शतपथ ब्राह्मण में उल्लेखित है कि स्त्रियाँ नीचे के भाग को नीवी से ढकती थीं।[७५] मोती चन्द्र के अनुसार नीवी शब्द की उत्पत्ति 'नि' अर्थात् नीचे और 'व्ये' अर्थात् ढकना या आच्छादित करने से है।[७६]

४. **अधोवस्त्र**-यह स्त्रियों द्वारा प्रयोग की जाने वाली एक प्रकार की छोटी साड़ी या लुंगी होती थी। इससे स्त्रियाँ केवल कमर से नीचे का भाग ढकती थीं। जिसे वास कहा गया है यज्ञ के अवसर पर यजमान की स्त्री अपने कटि प्रदेश पर वासस धारण करती थीं। ऋग्वेद में ऊषा (प्रातः काल) को इसी प्रकार का वस्त्र

---

६८. मोती चन्द्र-पूर्वोक्त पृ. १९
६९. ऋग्वेद २.३५.१४; ५.७४.५
७०. ममता मिश्र-पूर्वोक्त पृ. ५७
७१. अथर्ववेद १५.२.१
७२. पंचविंश ब्राह्मण १७.१.१४
७३. ऋग्वेद १.९२.४
७४. अथर्ववेद ८.२.१६; १४.२.५०
७५. शतपथ ब्राह्मण ३.१.२.१६
७६. मोती चन्द्र-पूर्वोक्त, पृ. १७-१८

पहने वर्णित किया गया है।[७७] 'वास' के चौड़े आँचल को 'सिच' कहा गया है। जिससे मातायें गोद में अपने बच्चे को भी ढकती थीं।

वैदिक साहित्य में रंगीन वस्त्रों का वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में सफेद, काला, पीले एक रंग के तथा बहुरंगी वस्त्रों के विवरण, मिलते हैं।[७८] ऋग्वेद में लाल एवं नीले रंग के धागों का भी वर्णन पाया जाता है।[७९] उत्तर वैदिक ग्रन्थों में बृहदारण्यक उपनिषद में हल्दी से रंगे वस्त्रों का वर्णन आता है।[८०] इसी प्रकार इन्द्र की पत्नि इन्द्राणी द्वारा धारण की गई बहुरंगी पगड़ी का भी उल्लेख मिलता है।[८१] वैदिक साहित्य, से ज्ञात होता है कि उस काल में गृहस्थों द्वारा लाल एवं किनारेदार वस्त्र पहनना समृद्धि का परिचायक माना जाता था। शतपथ ब्राह्मण में अग्नि का पर्याय 'विभावसु' है जिसका अर्थ रंग बिरंगे वस्त्र बताया गया है। इस काल में स्त्रियों द्वारा रंग बिरंगे वस्त्र धारण करने का प्रचलन था।[८२] वैदिक काल में रंग बिरंगे वस्त्रों के विवरण तो आए हैं किन्तु ऋग्वेद में रंगरेज का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। परन्तु वाजसेनयी संहिता में पुरुषमेध के शिकार बनाए जाने वाले व्यवसायियों में रजयित्रि अर्थात् स्त्री रंगरेज भी शामिल है,[८३] यही रंगरेज का प्राचीनतम् तथा वैदिक साहित्य में एक मात्र उल्लेख पाया जाता है।

वस्त्रों की बहुरंगी रंगाई के साथ-साथ कसीदा कारी का कार्य भी वैदिक काल में किया जाता था। वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि इस काल में अमीर, धन, सम्पन्न लोग कढ़ाई किये हुए वस्त्र धारण करते थे। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि इस काल में सोने के तारों से कढ़े 'द्रापि' और शिप्रा' का प्रयोग किया जाता था, साथ ही ऋग्वेद के मरुत देवों को स्वर्णिम वस्त्र पहने हुए वर्णित किया गया है। साथ ही 'समन' नामक उत्सव में लड़के-लड़कियाँ कढ़ाई वाले वस्त्र पहन करके उत्सव में जाती थीं।[८४] वाजसनेयी संहिता[८५] एवं बृहदारण्यक उपनिषद्[८६] में कसीदाकारी करने वाले पुरुष एवं स्त्रियों के लिए क्रमशः 'पेशस्कारी' एवं पेशस्कार' शब्दों का प्रयोग किया गया है। यही नहीं वैदिक साहित्य में कामदार अर्थात् कढ़ाई की हुई गद्दियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वस्त्र के किनारे, मध्य एवं अन्तिम छोर पर भी कसीदाकारी की जाती थी। ऋग्वेद के एक वर्णन से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में नृत्यांगनाएं भी कसीदारी किये हुए वस्त्र पहनती थीं। जिसे 'पेशस' कहते थे।[८७] कसीदाकारी का कार्य प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं।

इस सम्पूर्ण विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक कालीन भारत में प्रचलित वस्त्र व्यवसाय सर्वाधिक प्रतिष्ठित शिल्पों में से एक था। यही नहीं वैदिक काल में प्रचलित वेशभूषा की

---

७७. ऋग्वेद १.९२:४
७८. Grifith, R.T.H., The Hymns of the Rigveda P- 350, 375, 382, 463, 636, 647
७९. ऋग्वेद १.१३४.४
८०. बृहदारण्यक उपनिषद् २.३.६
८१. शतपथ ब्राह्मण १४.२.१८
८२. शतपथ ब्राह्मण ६.४.३.८
८३. वाजसनेयी संहिता-३०.१२; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४.७.१
८४. ऋग्वेद ८.७७.१; १.२५.१३; ५.५४.११
८५. वाजसनेयी संहिता ३०.९
८६. बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.४
८७. ऋग्वेद १.९२.४-५

कलात्मकता भी भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वैदिक साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि वैदिक काल के लोग न केवल वस्त्र बुनने, सिलने एवं कसीदाकारी करने की कला में निपुण थे बल्कि भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों का निर्माण करने में भी पारंगत थे जैसे ऊनी, रेशमी, सूती, चर्म क्षौम आदि। इनमें से अधिकतर वस्त्रों का निर्माण आज भी किया जाता है। अन्तर सिर्फ तकनीक का है वैदिक काल मे कपड़ा बनाने के लिए धागा तकली व अन्य उपकरणों का प्रयोग किया जाना था, कपड़ा बुनने के लिए ताने-बाने का प्रयोग किया जाता था। वर्तमान समय में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़ों का निर्माण भी भिन्न प्रकार के धागों से किया जाता है, परन्तु इन धागों को बनाने एवं वस्त्र बुनने का आधार हमें वैदिक साहित्य से ही प्राप्त होता है। वस्त्रो को बनाने बुनने का कार्य सिंधु सभ्यता में भी किया जाता था। लेकिन इनका अनुमान हम केवल पुरातात्विक खुदाई में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर करते हैं, परन्तु हमारे वैदिक साहित्य में न केवल भिन्न-भिन्न प्रकार वस्त्रों का वर्णन है बल्कि इनको कैसे बनाया जाता है कैसे बुनाई, रंगाई सिलाई एवं कसीदारी किस प्रकार से की जाती है इसका भी वर्णन हमें वैदिक साहित्य के मन्त्रों विशेषत: ऋग्वेद, अथर्ववेद, वैदिक संहिताओं में हमें स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ० ११५-१२१) ISSN 0974 – 8830

वैदिक शिक्षा का दार्शनिक स्वरूप

डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य[1]

वैदिक शिक्षा का दार्शनिक स्वरूप जानने के लिए सर्वप्रथम वैदिक शिक्षा के अर्थ पर दृष्टिपात किया जाना आवश्यक है। तदनुसार उल्लेखनीय है कि वैदिक-शिक्षा नामक उपर्युक्त पद एक संयुक्त पद है। जों दो अलग-अलग शब्दों का संयुक्त रूप है-वैदिक और शिक्षा। अतः वैदिक शिक्षा के अर्थ-बोध हेतु इन दोनों शब्दों के ऊपर शब्द-शास्त्र की दृष्टि से विचार किया जाना आवश्यक है। तदनुसार वैदिक शब्द वेदोक्त या वेद सम्बन्धी विचारों द्योतक है।[2] उल्लेखनीय है कि-वेदों पर आधारित सनातन ज्ञान की परम्परा अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध रही है। इस परम्परा के अनुसार-वेद सनातन/ईश्वरीय ज्ञान के पर्याय एवं अक्षय भण्डार है। उनमें ज्ञान-विज्ञान, कला-संस्कृति, दर्शन, समाज-व्यवस्था, राजनीति, अर्थनीति, चिकित्सा, गान-विद्या, खगोल, ज्योतिष, पर्यावरण, शिक्षा एवं कर्म-काण्ड आदि से सम्बन्धित मार्गदर्शनकारी विचार मन्त्र रूप में पाये जाते हैं। वैदिक शिक्षा समग्र रूप में इन सभी महत्त्वपूर्ण पहलूओं पर आधारित एवं समन्वित है।

उक्त धारणा के समर्थन में वेद-शब्द के व्युपत्ति मूलक अर्थ पर विचार करना प्रासंगिक है। 'वेद' शब्द 'विद्' धातु से करण और अधिकरण कारक में 'घञ्' प्रत्यय लगाने से सिद्ध होता है। 'विद' धातु अनेक अर्थो की वाचक है। यथा-(विद) ज्ञाने, (विद) सत्तायाम्, (विद्लृ) लाभे (विद) विचारणे। अर्थात् (१) वेद ज्ञान के पर्याय हैं। (२) वेद ऋक्, यजु०, साम० और अथर्व.-इन मन्त्र संहिताओं का नाम है। (३) वेदों से सब सुखों का लाभ होता है। (४) वेदों के अध्ययन मनन चिन्तन आदि से सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म और उचित-अनुचित आदि का यथार्थ विचार/बोध मनुष्य को होता है।[3]

वेद का एक अन्य प्रचलित नाम 'श्रुति' भी है। श्रुति शब्द 'श्रु' धातु जो श्रवण अर्थ में है। इससे करण कारक में क्तिन् प्रत्यय लगाने से श्रुति शब्द सिद्ध होता है। जिसका अभिप्रायः है कि-उपर्युक्त मन्त्र संहिताओं का ज्ञान पुरातन काल से श्रवण परम्परा द्वारा हुआ है। वेदों का आदि उपदेशक स्वयं जगत् स्रष्टा परमेश्वर है। वेदों के अन्तरंग प्रमाण इस वेदोक्त मान्यता का समर्थन करते हैं।[4] इसके अलावा श्वेता० ब्राह्मण, मनुस्मृति, वैशेषिक-सूत्र, ब्रह्मसूत्र और सांख्य सूत्र इत्यादि आर्ष ग्रन्थों में भी वेदों को ईश्वरीय उपदेश की पुस्तक स्वीकार किया गया है।[5] महर्षि पतञ्जलि ने भी ईश्वर को गुरुओं का भी आदि गुरु माना है।[6]

---

१ एसो० प्रोफेसर-दर्शन विभाग गु० काँ० वि० वि०, हरिद्वार मो० ०९८९७२७३६६३ ईमेल-Sohanpalarya@yahoo.com
२. आप्टे, वामन शिवराम : संस्कृत-हिन्दी कोश-पुनर्मुद्रण-२००१, मोतीलाल-बनारसीदास दिल्ली, पृ०-९७९
३. सरस्वती, महर्षि दयानन्दः ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका-२००८, सिद्ध योग पीठ ट्रस्ट्र कुरुक्षेत्र, पृ०-३४-३५
४. (क) सरस्वती, स्वामी दयानन्दः (भाष्यकार) यजुर्वेद-भाषा-भाष्य, दयानन्द संस्थान नई दिल्ली, अ०३१, मन्त्र ७ (ख) त्रिवेदी, पं० क्षेम करण दास (भाष्यकार): अथर्ववेद-भाषा-भाष्य, दयानन्द संस्थान , नई दिल्ली का-१०, प्र० २३, अनु० ४, मं० २०
५. (क) श्वेता०६/१८, (ख) मनु०१/२३ (ग) सांख्य सूत्र-५/५१ (घ) ब्रह्मसूत्र-१/१/३ (ङ) वैशेषिक सूत्र-१/१/३/ (च) पूर्व मीमांसा-१/१/१८
६. योगसूत्र-१/२६

अत एव वैदिक शिक्षा के दार्शनिक स्वरूप पर विचार करते समय हमें इस महत्त्वपूर्ण तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक है कि-वैदिक शिक्षा कोई सामान्य, चलताऊ शिक्षा न होकर ईश्वर द्वारा प्रदत्त सनातन महत्त्व के ज्ञान पर आधारित है।

अस्तु,-वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत दूसरा विचारणीय शब्द है-शिक्षा। यह शब्द वैदिक साहित्य के अन्तर्गत दो अर्थों में प्रयुक्त मिलता है।-(१) सीमित अर्थ में 'शिक्षा' षड् वेदाङ्गों में से एक तथा प्रथम वेदाङ्ग जिसका अर्थ है-शब्द उच्चारण विज्ञान। वर्णोच्चारण शिक्षा जिसका प्रथम सोपान है।[७] शेष पाँच अन्य वेदाङ्ग है-कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्। २-व्यापक अर्थ में 'शिक्षा' शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण वैदिक पाठ्यक्रम एवं विधि के लिए होता है।[८]

जैसा-कि छान्दोग्य उपनिषद्[९] और मुण्डोकोपनिषद्[१०] के अन्तर्गत शिक्षा सम्बन्धी दो व्यापक पाठ्यक्रमों का स्पष्टतः निर्देश मिलता है। इन पाठ्यक्रमों में अध्यात्म विद्या/परा-विद्या के साथ-साथ लौकिक उन्नति के संवाहक वेद, वेदाङ्गों एवं उपांङ्गों आदि आर्ष ग्रन्थों का समावेश मिलता है। वैदिक शिक्षा के आधुनिक युग के पुनरोद्धारक महर्षि दयानन्द ने भी वैदिक शिक्षा सम्बन्धी अपनी एक विस्तृत एवं व्यवस्थित पाठ्य योजना प्रस्तुत की है।[११] जिसका उद्देश्य है-शिक्षार्थी को वेद एवं वेदानुकूल आर्ष ग्रन्थों के माध्यम से समग्र ज्ञान-विज्ञान के तत्त्वों एवं रहस्यों से अवगत कराना तथा अविद्या आदि दोषों से छुटकारा दिलाना और विद्या, सभ्यता, सदाचरण, जितेन्द्रियतादि की वृद्धि करना।[१२] वस्तुतः वैदिक शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है।-शिक्षार्थी को मुक्ति का अहसास कराना।[१३] उसे जीवन के हर महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में मुक्त एवं सक्षम बनाना। ताकि अभ्युदय एवं निःश्रेयस्-दोनों ही उन्नतियों की सीमाओं को छूने में वह समर्थ हो सके।

निःसन्देह,-यह विराट् लक्ष्य समग्रता मूलक शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और वैदिक शिक्षा इस समग्रतावादी कसौटी पर खरी सिद्ध होती है। यह निष्कर्ष केवल वैदिक शिक्षा के व्यावहारिक पहलू के मूल्याङ्कन पर ही आधारित नहीं है अपितु इसके मूल में एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त योजना भी निहित है। वेदों में प्रतिपादित दार्शनिक तत्त्व-चिन्तन जिसका मूल है और जो वस्तुतः भिन्नात्मक जगत् की आन्तरिक संगति-व्यवस्था एवं व्यापकता की स्वीकृति पर आधारित है जैसा कि निम्न वेद मन्त्रों में प्रतिपादित दार्शनिक तत्त्वों के अर्थ-बोध पर विचार करने से पता चलता है।-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।[१४]

---

७. आप्टे, वामन शिवरांमः उप० पृ०-९७५
८. बन्धु, डॉ. मनुदेवः 'उपनिषदों में वर्णित शिक्षा का दर्शन,' लेख गुरुकुल शिक्षा दर्शन २००३, नामक विशेषांक में प्रकाशित गुकां०वि० हरिद्वार पृ०१०२
९. पोद्दार, हनुमान प्रसाद आदिः उपनिषद् (कल्याण का विशेषांक) वर्ष २३, अंक। गीता प्रेस गौरखपुर के अन्तर्गत छान्दो०७/१
१०. उप० मुण्डको०१/४/५
११. सरस्वती, महर्षि दयान्दः सत्यार्थ प्रकाश-३९वां सं० १९९२, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली पृ०४४-४७
१२. उप० पृ० ४७ एवं ४०६ पर स्वमन्तव्य० क्र०स० ३२
१३. सा विद्या या विमुक्तये। एवं यजु०-, ४०/१४
१४. ऋग्वेद-१/१६४/२०

प्रस्तुत मन्त्र का भाव यह है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर ब्रह्म और जीव नामक दो चेतन सत्ताएँ विराजमान हैं। जिनमें जीव अनादि प्रकृति का फलोपभोग करता है। इस कारण जन्म मृत्यु के चक्र में आबद्ध हो जाता है। ब्रह्म केवल दृष्टा भाव में स्थित रहकर कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त है और संसार के भीतर बाहर-सर्वत्र प्रकाशमान है। जगत् की उपर्युक्त तीन मूल सत्ताओं का प्रतिपादन श्वेताश्वतरोपनिषद् के निम्न मन्त्र द्वारा भी होता है।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥[१५]

अर्थात् प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फँसता है और उसमें परमात्मा न फँसता न भोग करता है।[१६]

उपर्युक्त मन्त्रों का भाव यह है कि जगत् की रचना एवं व्यवस्था के मूल में तीन मूलभूत एवं अनादि सत्ताएँ विद्यमान हैं-ईश्वर, जीव और प्रकृति। ईश्वर जगत् का निर्माता कारण है। वह अपनी सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्ति-सम्पन्नता आदि गुणों के आधार पर जगत् का निर्माण, व्यवस्था आदि करता है। जीव जगत् के निर्माण का साधारण कारण है। उसके भोग और मोक्ष हेतु जगत् का ईश्वर द्वारा निर्माण किया गया है। जगत् निर्माण का तीसरा-उपादान कारण है-प्रकृति। वह जगत् निर्माण की मूल सामग्री है। इन तीनों के संयोग से सृष्टि रचना एवं प्रलय का चक्र निरन्तर चलता रहता है।[१७]

उपर्युक्त वैदिक दार्शनिक दृष्टि कोण वैदिक शिक्षा के प्रसङ्ग में गुरुकुल शिक्षा के तीन महत्त्वपूर्ण अंगों के रूप में मूर्तिमान् होता है-आचार्य/गुरु, विद्यार्थी और शिक्षण केन्द्र या गुरुकुल। गुरुकुल को प्रकृति का जीवन्त रूप कहा जा सकता है।

जिसकी स्थिति के विषय में यजुर्वेद का निम्न मन्त्र मार्गदर्शनकारी है-

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रोऽजायत॥[१८]

अर्थात्-मनुष्य पर्वतों की उपत्यकाओं और नदियों के संगमस्थलों पर गुरुओं से विद्या-बुद्धि प्राप्त करके विद्वान् बनता है। इसके अलावा सृष्टि रचना/व्यवस्था के प्रसङ्ग में जो भूमिका विभिन्न जीवों की होती है। गुरुकुल शिक्षा व्यवस्था के अन्तर्गत वही भूमिका विभिन्न छात्र-छात्राओं की होती है। गुरुकुल के अन्तर्गत जिन्हें प्रायः ब्रह्मचारी/ब्रह्मचारिणी के रूप में सम्बोधित किया जाता हैं। उन्हीं के सम्पूर्ण विकास-शारीरिक बौद्धिक एवं आत्मिक उन्नति हेतु आचार्य द्वारा गुरुकुल का विधिवत् संचालन किया जाता है। किन्तु वे सभी मूलतः जिज्ञासु, विनयशील, समर्पणशील और श्रद्धा आदि के भावों से परिपूर्ण हों।

वस्तुतः जिस तरह परमेश्वर अपने दिव्य ज्ञान, कौशल एवं ऐश्वर्य के द्वारा समग्र संसार को व्यवस्थित/नियन्त्रित करता है और गुरुओं के भी आदिगुरु के रूप में वह अन्तर्यामी प्रभु विभिन्न जीवों को

१५. श्वेता०-४/५
१६. सरस्वती, महर्षि दयानन्दः स०प्र०, उप० पृ०-२००।
१७. आर्य, डॉ० सोहनपाल सिंहः ऋषि दयानन्द की सत्ता मीमांसा विषयक दृष्टि... गुरुकुल पत्रिका वर्ष ६३, जनवरी मार्च २०११, गु०कां०वि० हरिद्वार पृ० १७८
१८. सरस्वती स्वामी दयानन्द (भाष्यकार): यजुर्वेद भाषाभाष्य, उप० अ० २६, मन्त्र १५

सतत प्रेरणा, मार्गदर्शन प्रदान करता है। कुछ उसी तरह आचार्य भी गुरुकुल शिक्षा का प्रमुख होता है। वह अपनी प्रेरक शिक्षा, मार्गदर्शनकारी विचार एवं अनुशासन आदि द्वारा गुरुकुल की सम्पूर्ण व्यवस्था का नियमत: संचालन करता है।

इसी हेतु वैदिक शिक्षा व्यवस्था को गुरुकुल, आचार्यकुल और ऋषिकुल आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। इसका मूल कारण है कि वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत गुरु या आचार्य की भूमिका केन्द्रीय होती है और उसका व्यक्तित्व, आचरण एवं ज्ञान प्राचीन ऋषियों के अनुरूप होता है। अथर्ववेद के इस मन्त्र में आचार्य के पांच रूप बतलाए गये है-आचार्यो मृत्युर्वरुण: सोम ओषधय: पय:।[१९] अर्थात् आचार्य मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि और पय रूप होता है।

इस मन्त्र का भाव यह है कि मृत्यु के रूप में आचार्य अपने विद्यार्थी के समस्त कुसंस्कारों का विनाश करता है। उसकी वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, भुजा, पायु, जननेन्द्रियादि सभी इन्द्रियगत दोषों का शोधन करता है।[२०] धर्मात्मा और शिष्ट जनों द्वारा आचार्य का वरण किया जाता है। आचार्य के इस वरण रूप का प्रथमत: शिक्षार्थी वरण करता है। तत्पश्चात् आचार्य उसका अपने द्वारा वरण करता है। आचार्य के सोम रूप से उसके प्रिय, आकर्षण एवं शीतलता युक्त व्यक्तित्व का बोध होता हैं। तभी छात्र आचार्य के सान्निध्य में प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है। आचार्य का एक अन्य रूप भी उल्लेखनीय है-औषधि एवं पयस्। औषधि रूप में वह शिष्य की आधि-व्याधियों का शमन करता है एवं पय रूप में उसके बौद्धिक, आत्मिक एवं शारीरिक विकास को सम्पुष्ट करने का दायित्व अपने ऊपर लेता है।

इस प्रकार वैदिक शिक्षा और उसके मूल में निहित दार्शनिक दृष्टिकोण-दोनों समन्वयवादी कसौटी पर खरे उतरते हैं। जिसकी वर्तमान भौतिक युग में भी नितान्त आवश्यकता है। वर्तमान युग में शिक्षा दर्शन सम्बन्धी निम्न प्रवृत्तियाँ भी सक्रिय हैं। जो एकांगी होने के कारण प्राय: परस्पर टकराती भी हैं। जैसा कि इनकी अलग-अलग आधारभूत मान्यताओं पर दृष्टिपात करने से पता चलता है।[२१]

१. आदर्शवाद की आधारभूत मान्यताएँ-(i) जगत् का मूलतत्त्व 'आत्मा' या 'चेतन' है। उसी से जड़ चेतन जगत् का निर्माण/विकास हुआ है।

(ii) आत्मा सत्य है। भौतिक जगत् सत्य नहीं है।

(iii) मनुष्य अपने वास्तविक आत्मिक रूप को साक्षात् कर सकता है। शाक्षा आत्म-साक्षात्कार का साधन है। इसके साथ ही शिक्षा मनुष्य में निहित प्रसुप्त क्षमताओं के विकास का साधन भी है।

२.अध्यात्मवाद के विपरीत भौतिकवाद/यथार्थवाद की निम्न आधारभूत मान्यताएँ है:-

(i) जगत् का मूलाधार 'भौतिक' है न कि चेतना। उसी से जड़ चेतन का विकास हुआ है।

(ii) भौतिक जगत् की वस्तुएँ एकमात्र सत्य हैं। अनुभवकर्त्ता के मन की सृष्टि नहीं है।

---

१९. त्रिवेदी, प० क्षेमकरण दास (भाष्यकार): अथर्ववेद-भाषा-भाष्य: उप०-१५/५/१४ ।

२०. यजुर्वेद ६/१४ मन्त्र को उप० गुरुकुल 'शिक्षा दर्शन' के अन्तर्गत अपने लेख में प्रो० वेदप्रकाश शास्त्री ने उद्धृत किया है, पृ० २९

२१. उप० 'गुरुकुल शिक्षादर्शन' के अन्तर्गत डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य ने अपने लेख में इन प्रवृत्तियों को उद्धृत किया है पृ०-१४२-१४३ द्रष्टव्य।

(iii) शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से जगत् का यथार्थ ज्ञान कराना मात्र है इसलिये भौतिक संसाधनों की सहायता से व्यक्ति को प्राकृतिक वातावरण के अनुकूल बनाने पर भौतिकवाद विशेष बल देता है।

३. **अस्तित्ववाद**-उपर्युक्त दोनों परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के विपरीत अस्तित्व वाद मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रबल पोषक है। उसकी आधारभूत मान्यता है कि-अस्तित्व सार का पूर्वगामी है। यह मत मनुष्य की निज़ता, स्वतन्त्रता तथा अस्तित्वबोध का समर्थन करता है। मनुष्यता की ओर लौटो इसका प्रमुख नारा है।

४. **प्रयोजनवाद**-इस प्रवृत्ति को उपयोगितावाद के नाम से भी जाना जाता है। प्रयोजनवाद ऐसे किसी सैद्धान्तिक विभाजन को अनावश्यक मानता है, जिसका व्यावहारिक दृष्टि से कोई उपयोग न हो। इसलिये वह तात्विक चिन्तन की अपेक्षा व्यावहारिक पक्ष पर विशेष बल देता है। उसकी दृष्टि में वैज्ञानिक सत्य अथवा आध्यात्मिक चिन्तन तब तक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक कि उसका कल्याणकारी पक्ष सामने न हो। इसीलिये प्रयोजनवादी दार्शनिक परिणामोन्मुखी शिक्षा पर विशेष बल देते हैं।

परन्तु उपर्युक्त एकांगी शैक्षिक दार्शनिक प्रवृत्तियों से भिन्न वैदिक शिक्षा दर्शन इस आधार पर समन्वयशील एवं सर्वांगीण कहा जा सकता है क्योंकि वह ईश्वर, प्रकृति और जीवों की स्वयं सिद्ध सत्ता की स्वीकृति पर आधारित है। उसमें भौतिकवाद/यथार्थवाद, अध्यात्मवाद, अस्तित्ववाद और प्रयोजनवाद जैसी संकुचित सोच के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत उन सभी की प्रमुख विशेषताएँ इसमें समाहित हैं। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये वैदिक शिक्षा का सम्पूर्ण आर्ष पाठ्यक्रम भी उपयोगी सिद्ध हो सकता है इसके अलावा गुरुकुलीय दिनचर्या का भी प्रस्तुत सन्दर्भ में उपयोग किया जा सकता है। परन्तु प्रस्तुत संदर्भ में वह उल्लेखनीय कसौटी भी विचारणीय है। जिसके आलोक में वैदिक शिक्षा-दर्शन के पुनरोद्धारक महर्षि दयानन्द यह निर्धारित करते हैं कि-जो पढ़ना-पढ़ाना हो,-वह-वह अच्छी प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है।' परीक्षा पांच प्रकार से होती है।[२२]-

१.जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हो।....

२.जो-जो सृष्टि क्रम से अनुकूल (हो).....

३.'आप्त' अर्थात् जो धार्मिक, विद्वान, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग, उपदेश के अनुकूल है।...

४.अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या के अनुकूल (हो).....

५.प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव[२३] (इन प्रमाणों के अनुकूल हो वह-वह सत्य, ग्राह्य एवं पढ़ने पढ़ाने योग्य है। इसके विपरीत सर्वथा अग्राह्य, ताज्य एवं अपठनीय समझना चाहिए)

उल्लेखनीय है कि महर्षि दयानन्द ने पाठ्यक्रम निर्धारित करने की कसौटी के रूप में आधुनिक युग में सर्वप्रथम इनका सफलता पूर्वक प्रयोग किया और आर्ष-अनार्ष साहित्य का सुव्यवस्थित वर्गीकरण प्रस्तुत किया इससे वैदिक शिक्षादर्शन के ज्ञान मीमांसीय स्वरूप एवं महत्त्व का पता चलता है।

---

२२. उप० 'गुरुकुल शिक्षादर्शन' के अन्तर्गत डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य ने अपने लेख में इन प्रवृत्तियों को उद्धृत किया है पृ०-१४२-१४३ द्रष्टव्य।

२३. सरस्वती, महर्षि दयानन्द : सत्यार्थ प्रकाश, उपर्युक्त पृ०५७।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो यह कहा जा सकता है कि जहाँ अध्यात्मवादी शिक्षादर्शन के अन्तर्गत केवल उस पाठ्य सामग्री को प्रमुखता दी जाती है, जो आध्यात्मिक विकास में उपयोगी हो। इसके विपरीत भौतिकवाद के अन्तर्गत भौतिक ज्ञान एवं इन्द्रियजन्य अनुभव को शिक्षा व्यवस्था की निर्धारक कसौटी माना जाता है। जब कि अस्तित्ववाद के अन्तर्गत मनुष्य की निज अनुभूति की अभिव्यक्ति एवं विकास पर बल दिया जाता है।

परन्तु वैदिक शिक्षा की उपर्युक्त निर्धारक कसौटियों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि वैदिक शिक्षा के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी प्रमुख आवश्यकताएँ न केवल पूर्ण की जा सकती हैं, अपितु उसके साथ-साथ उपर्युक्त शिक्षा दर्शन विषयक सभी प्रवृत्तियों के एकांगीपन जनित दोषों एवं न्यूनताओं से सर्वथा बचा जा सकता है।

वैदिक शिक्षा के दार्शनिक स्वरूप पर विचार करते समय इसके आचार मीमांसीय पहलू को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। अत एव प्रस्तुत प्रसङ्ग में वैदिक शिक्षा दर्शन के निर्धारक आचार मूलक सिद्धान्तों पर भी दृष्टिपात किया जाना आवश्यक है। जो सूत्र रूप में निम्नलिखित हैं :-

१.सभी को शिक्षा पाने का अधिकार।[२४]

२.अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान।[२५]

३.लिंग, वंश के भेद-भाव का निषेध।[२६]

४.सभी को निःशुल्क शिक्षा दिये जाने का प्रावधान।

५.सभी को समान सुविधा, साधन, की प्राप्ति का प्रावधान।[२७]

६.शिक्षा में यथा योग्य दण्ड दे सकने का प्रावधान।[२८]

७.ब्रह्मचर्य एवं तपस्वी दिनचर्या की अनिवार्यता।[२९]

८.शारीरिक शिक्षा, व्यावहारिक शिक्षा एवं शिल्प-कला की अनिवार्यता।

९.सदाचार, शिष्टाचार मूलक शिक्षा को प्राथामिकत दिये जाने का प्रावधान।[३०]

१०.आवासीय शिक्षा व्यवस्था।

११.एकल लिंगीय शिक्षा व्यवस्था। अथवा सह शिक्षा निषेध।[३१]

१२.वणाश्रम की निर्धारक शिक्षा।

१३.पुरुषार्थ चतुष्टय की साधक शिक्षा।

---

२४. यजु०-२६-२।

२५. सरस्वती, महर्षि दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाश-उपर्यु०पृ०४२।

२६. सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है-महर्षि दयानन्द सरस्वतीः उप० पृ०७४।

२७. सबको को तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जाए-महर्षि दयानन्द सरस्वतीः उप०पृ० ४३।

२८. पातञ्जल महाभाष्य-८-१-१८।

२९. (क) वह राजकुमार व राजकुमारी हो चाहे दरिद्र के सन्तान हो सब को तपस्वी होना चाहिए-महर्षि दयानन्द सरस्वतीः उप० पृ०-४३। (ख)जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें तब तक....आठ प्रकार के मैथुन से अलग रहें-उप० पृ०४३।

३०. उप० पृ०४२ एवं तैत्तिरीयोपनि० (१-११) और शिक्षावल्ली अनु०९।

३१. सरस्वती, महर्षि दयानन्दः सत्यार्थ प्रकाश, उप० पृ० ४१।

१४.वैदिक कर्मफल वाद पर आधारित शिक्षा।

१५.संस्कार मूलक शिक्षा व्यवस्था आदि।

इन सिद्धान्त सूत्रों का चिन्तन-मनन करने से विदित होता है कि वैदिक शिक्षा दर्शन का आचार मीमांसीय पक्ष न केवल व्यापक है अपितु इसके साथ-साथ वह उससे जुड़े हुये जीवन के अन्य महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों तथा पक्षों पर निर्णायक प्रभाव डालने का सैद्धान्तिक आधार भी प्रस्तुत करता है। यथा-समाज व्यवस्था, आर्थिक प्रणाली और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में तो आमूल-चूल परिवर्तन किये बिना उपर्युक्त सिद्धान्त सूत्रों को शिक्षा के क्षेत्र में लागू करना सम्भव नहीं है। अतः इस दृष्टि से वैदिक शिक्षा-दर्शन क्रान्तिकारी जीवन दर्शन का पर्याय भी हो गया है। वर्तमान बाजारी-करण और भोगवादी-करण के दौर में विषमता, शोषण, अन्याय, अनास्था और भोग जनित विकृति से ग्रस्त बहुसंख्यक जनसमुदाय की मुक्ति एवं उन्नति हेतु वैदिक दर्शन एक बड़ा सम्बल भी बन सकता है। इस दृष्टि से वैदिक शिक्षा-दर्शन का मुक्ति कारक स्वरूप भी सामने आता है।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक शिक्षा-दर्शन स्वरूपतः व्यापक, समन्वयवादी, सर्वांगीण उन्नति का प्रेरक एवं संवाहक है तथा जीवन के प्रमुख क्षेत्रों में आस्तिकता मूलक एवं आमूल-चूल परिवर्तन लाने का सैद्धान्तिक आधार भी है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१२२-१२५) ISSN 0974 – 8830

वेदेषु अनावृष्टिनिवारणोपया:

डॉ० सोमदेव: शतांशु:[१]

सर्वाभीष्टसम्पादनपुरस्सरम् अनिष्टनिराकरणं हि वेदानां वेदत्वं विद्यते। प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यत्कार्यं न सिद्धयति तद्वेदैर्विद्यत इति सर्वसम्मतं मतम्। अद्यत्वे विश्वस्मिन्नपि विश्वे विविधदैवीविपत्तय: विनाशयन्ति धनं जनञ्च। दैवीविपत्तिषु अनावृष्टिविपत्ति: विनाशकारिणी। वृष्टिं विना विनश्यन्ति विश्वाभूतानि। जलमेव जीवनम्। नारायणस्यपि आपुरुषा: नारा एव अयनं, तस्मात् स नारायण:।

अनावृष्टिकारणं तु सर्वविदितम् प्राकृतिकशक्तीनां दुरुपयोगात् भुवनाश्रयभूतं सर्वकामदुह: यज्ञस्य परित्यागगात् आधुनिक वैज्ञानिकयन्त्रसंभारात् वेदविरुद्धजीवनपद्धते:, वनवृक्षविनाशात्, प्रजानां प्रजापालकानाञ्च अधर्माचरणात् अनावृष्टिरूपमनर्थमापतति।[२] उक्ततत्त्वानां निराकरणमेव अनावृष्टिनिवारणोपाया: इति सूत्ररूपेण वक्तुं शक्नुम:। अत्र वैदिकसन्दर्भै: अनावृष्टिनिवारणोपाया: संक्षेपत: प्रस्तूयन्ते।[३] यजुर्वेदे प्रार्थितम् अस्माकम् इच्छानुरूपं पर्जन्यो वर्षतु इति। एतदर्थञ्च यज्ञ एव श्रेष्ठ उपाय इति। यज्ञस्य वृष्टिसाधनत्वं वेदे बहुषु स्थलेषु वर्णितम्।[४] गीतायामिपि एतत् तथ्यं स्पाष्टत: प्रतिपादितम्-**यज्ञात् भवति पर्जन्य:**। वेदेषु यज्ञेन वर्षाकारकाणां मेघानां सृष्टि: मेघानां विविधं स्वरूपं, मरुतां प्रेरणै: मेघानां प्रवर्षणम् वृष्टेरुपयोगिता, अतिवृष्टेरवरोधनम् वर्षालक्षणम् इत्यादिकं विस्तरेण प्रतिपादितम्।

मेघसृष्टि:-ऋक्यजुरथर्ववेदेषु मेघरचना स्पष्टत: वर्णिता। तत्रोक्तं सूर्यकिरणै: जलं वाष्परूपेण दिवमुत्पतति पुन: वृष्टिरूपेण पृथिवीं परिषिञ्चति **कृष्णं नियानं हरय: सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति**।[५] वृष्टिचक्रं वर्णयन् उक्तं यत् सूर्यरश्मियग्निना जलम् ऊर्ध्वं याति तत्र अन्तरिक्षं शक्तियुक्तं पुष्टञ्च करोति। पुनश्च मेघरूपेण पृथिवीं पृणाति।[६]

यजुर्वेदेऽपि स्पष्टमाम्नातम्-

मरुतां पृषतीर्गच्छ वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं गंच्छ ततो न वृष्टिमावह।।[७]

अथर्ववेदोऽपि एतत्तथ्यम् परिपुष्णाति-

उदीरयत मरुत: समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ। वाश्रा आप: पृथिवीं तर्पयन्तु।।[८]

अथर्ववेदे मेघसृष्टौ जलवाष्पं मरुत् अग्नि: अभ्र: विद्युदादय: सहायका: उक्ता:।[९]

१.. प्रोफेसर संस्कृत-विभाग:, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

१ शाकुन्तले पञ्चमे सर्गे-तपोवनादागतानाम् ऋषीणां सूचनां प्राप्य राज्ञ: चिन्ता आहोस्वित् ममापचरितै: विष्टम्भितो वीरुधाम्।

३ निकामे निकामे न: पर्जन्यो वर्षतु। यजुर्वेद ३६।१०

४ (क) आपश्च मे यज्ञेन कल्पताम्। तदेव १८।१४ (ख) यज्ञाय वर्षवृधमसि। तदेव १।१६

५ ऋग्वेद १।१६४।४७

६ समानमेतदुदकम् उच्चैत्यव चाहभि:। भूमिं पर्जन्य: जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय:। तदेव १।१६४।५१

७ यजु०२.१६

८. अथर्व०४.१५.५

९ अपाम् अग्नि: आपो विद्युद् अभ्रं वर्षं। मरुद्भि: प्रच्युता मेघा:... अथर्व ४।१५।९-१०

तैत्तिरीयसंहितायां वृष्टिसम्पादनाय मरुदग्निसोमसूर्याणां सहयोगो विशेषत उल्लिखितः, वसुगण-मित्रवरुण-अपांनपात्-आशुहेमन्-तीव्रगतिमदग्निश्च वर्षासहायकाः उक्ताः। विद्वांसः मित्रं-ऑक्सीजन-वरुणञ्च-हाइड्रोजन इति प्रतिपादयन्ति।[१०] अनयोः सम्मेलनेन जलवृष्टिर्भवतीति आधुनिक-वैज्ञानिकानामपि मतम्। ऋग्वदोऽपि एनमेव समक्षं साधयति-

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥[११]

अन्तरिक्षे मित्रावरुणयोः सततं संगमनेन मेघजलसृष्टिर्भवति।[१२] शतपथब्राह्मणे मेघवृष्ट्यर्थं पुरोवाताभ्रविद्युत्स्तनयित्नुनां सहयोग आवश्यक इति प्रतिपादितम्। एषां सम्यक्संयोजनेन वृष्टिर्भवति-तथा च शतपथब्राह्मणे[१३] याज्ञवल्क्यः

अग्नेर्वै धूमो जायते धूमाद् अभ्रम् अभ्राद् वृष्टिः।

अमुमेव श्रुत्यर्थमन्वगच्छन् मनुस्मृतिः स्मारयामास-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजा।३।७६·

एतानेव सिद्धान्तान् आश्रित्य यज्ञादिभिरनावृष्टिर्निवार्यते।

यज्ञविद्या अतिरहस्यपूर्णा, यस्य शतपथादिब्राह्मणग्रन्थेषु विस्तृतं विवरणं दरीदृश्यते। अस्य व्यापकस्वरूपस्य यज्ञस्यानुष्ठानेनैव वृष्टिः संजायते। तत्र छान्दोग्योपनिषदि[१४] अग्नौ सोमाहुतिभिरेव वृष्टेः समुत्पत्तिः समादिष्टा। तत्स्वरूपं तत्र एवं प्रतिपादितम्-

पर्जन्य एव अग्निः वायुः तस्य समित्, अभ्रम् एव धूमः, विद्युदेव तस्य अर्चिः अशनिरेव अङ्गाराः तस्य गर्जितान्येव विस्फुलिंगाः। अस्मिन्नेव अग्नौ देवाः 'सोमं सौम्यंद्रव्याणि च जुह्वन्ति। ततो वृष्टिः सम्भवति। अस्यैवानुकरणं भौतिकयज्ञविधानं वर्त्तते। भौतिकाग्नौ सौम्यपदार्थानाम् आहुतिप्रदानेन वृष्टिकारणानि उत्पद्यन्ते वर्षाश्च जायन्ते।

तैत्तिरीयसंहितायां वर्षाकामार्थं कारीरिष्टेः वर्णनम् अवाप्यते। करीरशब्दस्य अर्थस्तु प्रसिद्धः करीर वृक्षः वंस किसलयो वा विद्यते।[१५]

यस्मिन् यज्ञे बाहुल्येन एषामुपयोगः क्रियते अतः कारीरिष्टिः एषा उच्यते। अस्याः अनुष्ठानेन अष्टविधवर्षाः ज़ायन्ते।[१६]

अत्र कारीरीष्टिप्रसंगे वर्षासम्बद्धानि अनेकानि तथ्यानि वर्णितानि। वर्षाकारकसूर्यादिदेवानां सहाय्येन

---

१० वेदों में विज्ञान पृ० २३१

११. ऋग्वेदः १।२।७

१२ देवाः पुरोवातं ससृजिरे अभ्राणि समप्लावयन् विद्युतम् स्तनयित्नुम् प्रावर्षयन्। शत १।५।२।१८

१३ शत० ५।३।५।१७

१४ पर्जन्यो वाव गौतमाग्निः तस्य वायुरेव समिद् अभ्रं धूमो विद्युदर्चिः अशनिरङ्गाराः ह्रादुनयो विस्फुलिंगाः। छान्दोग्योपनिषद् ५।४।५

१५ वेदों में विज्ञान पृ० २३४

१६ पुरोवात वर्षन् जिन्वरावृत् वातवद् वर्षत् उग्ररावृत् भीमरावृत् त्वेषरावृत् पूर्तिरावृत् श्रुतरावृत् विराड् आवृत् भूतरावृत्। तैत्तिरीय संहिता २।४।७

समुद्रजलं वाष्पत्वेन ऊर्ध्वं याति तच्च मेघगर्भरूपेण षण्मासेषु परिपापकं गत्वा वर्षारूपेण भूमिं तर्पयति। वर्षाभ्य: सौम्यतत्त्वानां भूयिष्ठं महत्त्वं विद्यते। वायुमण्डले सोम्यतत्त्वानि एव एकत्रीभूय वर्षा: कारयन्ति। करीरवृक्षे, तत्फलेषु, पुनर्नवौषधिषु च सौम्यतत्त्वं समधिकं भवति।

अतो वर्षाकाम्येष्टौ भूयान् तत्प्रयोगोऽपेक्ष्यते।[१७] वृष्टियज्ञार्थम् आम्रपलाश अर्क करीर-खादीर उदुम्बर वेतस-पिप्पल-अपामार्ग-गुडूची-तुलसी-नागरमुस्तादिसमिधाम् घृततिलयवतण्डुलशर्करा चन्दनचूर्ण दारुहरिद्रा-जटामांसी-सुगन्धवला-कर्पूर-धूपकाष्ठ-माष-नारिकेल-द्राक्षा-क्षुधाहर-गूड-मधु-गुग्गुलु-कदली-इक्षु पायसादिपदार्थानामुपयोग: क्रियते।[१८]

उक्तसमिद्भि: साकल्यादिभि: सुरम्ये वनप्रदेशे श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठै: ऋत्विग्भि: अथर्ववेदस्य चतुर्थकाण्डस्य पञ्चदशतमसूक्तेन, सप्तमकाण्डस्य एकोनिविंशतितमसूक्तेन, अष्टादशसूक्तस्य चतुर्थसूक्तमन्त्रैश्च यज्ञोऽनुष्ठीयते।

आचार्यसायणेन अथर्वभाष्ये उक्तसूक्तानां व्याख्याप्रसंगे एवं विनियुक्तम् कौशिकसूत्राणि प्रमाणयन्-

समुत्पतन्तु इति सूक्तेन वृष्टिकाम: मरुद्भ्यो मान्त्रवार्णिकाभ्यो वा देवताभ्य आज्यहोम:। काशदिविधुवकवेतसाख्या ओषधी: एकस्मिन् पात्रे कृत्वा संपात्य अभिमन्त्र्य जलमध्ये अधोमुखं निनयनम्। तासामेव काशादीनां संपातिताभिमन्त्रितानाम् अप्सु प्लावनम्।[१९]

उक्तविधिना यज्ञानुष्ठानेन वृष्टिर्भवतीति पण्डितकेशवदेवशास्त्रिणोऽपि सम्मतम्।

अथर्वमन्त्रमहत्त्वविषये गोपथब्राह्मणे उक्तम्-

न तिथिर्न च नक्षत्रं न ग्रहो न च चन्द्रमा:। अथर्वमन्त्रसंप्राप्त्या सर्वसिद्धिर्भविष्यति।।[२०]

अन्यच्च स्कन्दपुराणे कमलालयखण्डे अस्येव अनुमोदनं कुर्वन्नुक्तम्-

यस्तत्राथर्वणान् मन्त्रान् जपेच्छ्रद्धासमन्वित:।

तेषामर्थोद्भवं कृत्स्नं फलं प्राप्नोति स ध्रुवम्। इति।

यदि कश्चित् शुद्धान्त:करण संकल्पवान् ब्रह्मा उक्तविधिना यज्ञं कारयति वृष्टि: सुनिश्चिता। यज्ञेन वृष्टि: गुरुकुल प्रभाताश्रमस्य तपोनिष्ठाचार्यवर्यै: स्वामिविवेकानन्दसरस्वतिमहोदयैरनेकवारं कारिता।[२१]

किमधिकम् शतपथब्राह्मणे उक्तं यदि कश्चिद् धार्मिकयजमान: उदिते सूर्ये नित्यं विधिवद् जुहोति तर्हि: एतेनैव तस्मिन् क्षेत्रे सुवृष्टि: भवति।

अथर्वपरिशिष्टे अनावृष्टिनिवारणार्थं वारुणीमहाशान्ते: विधानं वर्त्तते।[२२] तस्मिन् प्रसंगे क्षीरसमायुतै:

---

१७ तैत्तिरीय संहिता २।४।७-१०

१८ वृष्टियज्ञपद्धति-पृ०५-७ स्वामी विद्यानन्द विदेह

१९ (क) समुत्पतन्तु ४। १५, प्रनभस्व ७।१८ इति वर्षाकामो द्वादशरात्रम् इत्यादिं त्रिपादेऽश्मानम् अवधाय अप्सु निदधाति। कौशिकसूत्र ५।५ सायणीय अथर्ववेदभाष्ये ४।१५ सूक्ते। (ख) हरिद्वारस्थे कनखले कश्चिद् घनपाठी ब्रह्मचारी उवास। यदा पर्जन्यसूक्तस्य घनपाठं करोति स्म तदा निरभ्रेऽपि आकाशे मेघा: समागत्य वर्षन्ति स्म इति प्रामाणिकपुरुषाणां कथनम्।

२०. गो०ब्रा०१।१०

२१ गुरुकुलप्रभात आश्रम, भोला, मेरठ (उ०प्र०) क्षेत्रवासिन: अनेके जना: अस्य साक्षाद्द्रष्टार: सन्ति यथा यज्ञमुनि: वानप्रस्थ इत्यादय:

२२ (क) वैतसानां तु पत्राणां लक्षं क्षीरसमायुतम्। व्रतान्ते [illegible] वर्षास्वपि वर्षयेदिति।। अ०परि०६५।३।८ (ख)

लक्षवैतसपत्रैः हवनेन शुष्कर्तौ अपि वर्षा भवन्ति। प्लाक्षीः सक्षीरा घृतसंयुताः समिधः शमीवैतसार्कसमिद्भिश्च हवनेन अनावृष्टि उत्पातः शाम्यति। अत्र सद्यः वर्षाकारकाणि लक्षणानि अपि प्रदत्तानि यथा-

पूर्वोऽभ्रजननो वायुरितरोऽभ्रविनाशनः।
उदग्जनयते वृष्टिं वर्षत्येव च दक्षिणः॥[२३]
नीलरश्मि प्ररोहन्तः शाखावन्त इव द्रुमाः।
यत्र यत्र प्रदृश्यन्ते ध्रुवं तत्र प्रवर्षति॥[२४]
संध्यैश्च परिवेषैश्च प्रतिघैः प्रतिसूर्यकैः।
जलजैश्चावृतानिन्द्यैः सद्य सन्ध्या प्रवर्षति॥[२५]

वेदाङ्गभूते-ज्योतिषशास्त्रास्य बृहत्संहिताग्रन्थे चापि अनेकलक्षणानि प्रदत्तानि।[२६] अतिवृष्टि-निवारणार्थम् अथर्ववेदे उपायाः उपन्यस्ताः। तत्र अथर्ववेदस्य १८।४।८१-८८ मन्त्रैः वरुणदेवनिमित्तको होमो निर्दिष्टः।

एवं वेदेषु अनावृष्टि-अतिवृष्टि निवारणार्थम् उपास्याः वर्णिताः। यज्ञादि-अनुष्ठानपूर्वकम् सर्वदैवैः सूर्य-वायु-जल-अग्नि-वृक्ष-वनस्पति-प्राकृतिकशक्तिभिः योऽयं विराट् यज्ञः प्रचरति तस्य सम्यगनुष्ठानेन वेदविहितकर्मभिश्च अनावृष्टिदैवीविपत्तिम् अवश्यं वारयितुं शक्नुम इति।

आदध्यात्समिधः प्लाक्षीः सक्षीराः घृतसंयुताः। ततस्तच्छममायाति, कृत्स्नमुत्पातलक्षणम्॥ तदेव ६५।३।५
२३ अथर्व०परि०६५।१।३
२४ अथर्व०परि०६५।१।५
२५ तदेव ६५।२।३
२६ बृहत् संहिता-२३।६-१०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१२६-१३१) ISSN 0974 – 8830

आचार्य यास्क का पदार्थ-चिन्तन

डॉ० सत्यदेव निगमालंकार[1]

वेद मन्त्रों के रहस्यार्थ को जानने के लिये शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-इन छः वेदाङ्गों का प्रणयन हुआ। अन्य वेदाङ्गों की तरह निरुक्त का भी अति महत्त्व है। यास्क का कथन है कि जो व्याकरण भी जानता हो, उसे ही निरुक्त का उपदेश दिया जाये।[2] जिस प्रकार श्रोत्र के अभाव में वाणी के द्वारा लौकिक कर्म तो सिद्ध होंगे किन्तु, वे व्यापक न होकर सीमित अवस्था में रह जायेंगे, उसी प्रकार निरुक्त के बिना मुखरूपी व्याकरण के द्वारा पद-पदार्थ का ज्ञान तो अवश्य होगा, किन्तु वह सीमित ही रहेगा, व्यापकार्थ को गृहीत न कर पायेगा। इसलिये इस निरुक्त को वेदपुरुष का श्रोत्र बताया गया है।[3]

प्राचीन काल में अनेक निरुक्तकार हो चुके हैं, इसकी जानकारी वर्तमानकाल में उपलब्ध एकमात्र यास्कीय निरुक्त से मिलती है। इस निरुक्त में विभिन्न स्थलों पर आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, औपमन्यव, कात्थक्य, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरस्, तैटीकि, शलवलाक्ष, शाकपूणि, शाकपूणिपुत्र तथा स्थौलाष्ठीवि-इन चौदह निरुक्तकारों का उल्लेख स्वयं यास्क ने किया है। इससे यह मानना होगा कि इन आचार्यों का अपना कोई निरुक्त अवश्य रहा होगा, जो यास्क के निरुक्त के प्रथित होने के उपरान्त धीरे-धीरे काल-कवलित हो गया होगा। यह भी संभव है कि इन आचार्यों ने निरुक्त के सिद्धान्तों का विशेष प्रचार और प्रसार प्रवचन शैली के माध्यम से अपने शिष्यों में किया हो जिससे विभिन्न विचार धाराएँ निरुक्त के सिद्धान्तों को लेकर फैल चुकी हों। अस्तु, कुछ भी हो, किन्तु यास्क ने निरुक्त के क्षेत्र में इन आचार्यों का नाम आदर तथा प्रमाणपूर्वक अनेकत्र लिया है।

निरुक्त पञ्चाध्यायी वैदिक कोष निघण्टु के कतिपय पदों का व्याख्यान करने वाला ग्रन्थ है, जिस निघण्टु में लगभग १७७१ पदों का संग्रह पाँच अध्यायों में ७८ खण्डों के अन्तर्गत किया गया है। यास्क ने इनमें से कतिपय पदों का अर्थ निर्वचन के माध्यम से मन्त्र अथवा मन्त्रांश प्रस्तुत कर निरुक्त में दिया है। किन्तु निरुक्त में इन्होंने निघण्टु में पठित पदों का एक तरफ से क्रमशः अर्थ अथवा निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया है। निघण्टु से पद-चयन का प्रकार आचार्य का विचित्र है, जो इस प्रकार है-

निरुक्त के दो भाग हैं, जिसे पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में विभाजित किया गया है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में विस्तृत भूमिकाएँ हैं। पूर्वार्द्ध में नैघण्टुक तथा नैगमकाण्ड आते हैं और उत्तरार्द्ध में दैवतकाण्ड। पूर्वार्द्ध के नैघण्टुक काण्ड में निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्या की गयी है, नैगम काण्ड में निघण्टु के चतुर्थ अध्याय का तथा दैवतकाण्ड में निघण्टु का पञ्चम अध्याय व्याख्यात है। निघण्टु के चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों के सभी पदों की व्याख्या निरुक्त में की गयी है, जो नैगम तथा दैवतकाण्डान्तर्गत है। किन्तु निघण्टु के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अध्यायों के पदों की व्याख्या में आचार्य ने भिन्न शैली अपनायी है।

---

१ अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. Email: satyadevnigmalankar@gmail.com

२ नावैयाकरणाय। निरु० भा० भू०

३ निरुक्तं श्रोत्रमच्यते। पा० शि० ४१

यद्यपि इन तीनों अध्यायों में १३५० पद संगृहीत हैं, किन्तु इनमें से २३० पदों पर ही आचार्य ने विचार किया है। यह विचार भी क्रमशः न कर विभिन्न भिन्नताओं से संपृक्त है। नैघण्टुक काण्ड का द्वितीय पाद प्रारम्भ करते हुए निघण्टु के प्रथम अध्याय के प्रथमखण्ड में पठित पृथिवीवाची २१ पदों में से '**गौ**' पद का व्याख्यान किया गया है,[४] जो '**गौ**' पद पृथिवीवाची पदों में प्रथम स्थान पर पठित है। इसके उपरान्त इसी काण्ड के तृतीय पाद का प्रारम्भ '**हिरण्यम्**' पद की निरुक्ति से करते हैं,[५] जो निघण्टु के द्वितीय खण्ड के हिरण्यवाची पन्द्रह नामों में से पञ्चम स्थान पर पठित है, जब कि प्रथम पद '**हेम**' है। अन्तरिक्षवाची सोलह पदों में प्रथम पद '**अम्बरम्**' है, किन्तु व्याख्यान षष्ठ स्थान पर पठित '**अन्तरिक्षम्**'[६] पद का एवं पन्द्रहवें स्थान पर पठित '**समुद्रः**'[७] पद का किया गया है। एवं इस तृतीय खण्ड से आचार्य ने अन्तरिक्षवाची दो पदों का निर्वचन किया है। निघण्टु के चतुर्थ खण्ड में स्वः, पृश्निः, नाकः, गौः, विष्टप्, नभः-ये द्युलोक तथा आदित्य के छः सामान्य नाम पठित हैं। इन सभी नामों की व्याख्या निरुक्त में दर्शायी गयी है[८] तथा साथ ही पूर्व में, असंगृहीत '**आदित्य**' पद का निर्वचन कर दिया गया है।[९] रश्मिवाची पन्द्रह नाम हैं, जिनमें चतुर्थक्रम पर प्राप्त '**रश्मि**' का निर्वचन किया गया है।[१०] दिशावाची आठ नाम पठित हैं, उनमें '**दिशः**'[११] पद पठित न होने पर भी उसका निर्वचन दर्शाया गया है एवं दिशावाची नामों में जो '**काष्ठाः**'[१२] पद पञ्चम स्थान पर पठित है, उसका निर्वचन किया है। रात्रिवाची तेईस पदों में '**रात्रि**'[१३] पद संगृहीत न होने पर भी उसी का निर्वचन है। उषावाची सोलह पद परिगणित हैं इनमें '**उषाः**'[१४] पद अगृहीत है, किन्तु निर्वचन इसी पद का है। '**अहः**'

---

४ गौरिति पृथिव्या नामधेयं, यद् दूरं गता भवति, यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति, गातेर्वौकारो नामकरणः। निरु० नैघ०, २पा०, १खं०

५ ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमितिवा, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा, हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः। निरु० नैघ०, ३ पा०, १खं०

६ अन्तरा क्षान्तं भवति, अन्तरा इमे इति वा, शरीरेष्वन्तः अक्षयमिति वा। निरु० नैघ०, २अ०, ३पा०, ३ख०

७ समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि, समुदको भवति, समुनत्तीति वा। निरु० नैघ०,.२अ०, ३पा०, ३ख०

८ 'स्वः' आदित्यो भवति। सु अरणः सु ईरणः, स्वृतो रसान, स्वृतो भासं ज्योतिषां, स्वृतो भासेति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता। 'पृश्निः' आदित्यो भवति। प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्प्रष्टो भासेति वा। अथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिभिः पुण्यकृद्भिश्च। 'नाकः' आदित्यो भवति। नेता रसानां, नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः। अथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। 'नवा अमुं लोकं जग्मुषे किंचनाकम्' नवा अमुं लोकं गतवते किंचनासुखं, पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति। 'गौ०' आदित्यो भवति गमयति रसान्. गच्छत्यन्तरिक्षे। अथ द्यौर्यत् पृथिव्या अधिदूरं गता भवति, यच्चास्यां ज्योतींषि गच्छन्ति। 'विष्टप्' आदित्यो भवति। आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषां, आविष्टो भासेति वा। अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः, पुण्यकृद्भिश्च। 'नभः' आदित्यो भवति, नेता रसानां, नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः अपि वा भन एव स्याद्विपरीतः, न न भातीति वा। एतेन द्यौर्व्याख्याता। निरु० नैघ०, २अ०, ४पा०,१४खं०

९ आदत्ते रसान्, आदत्ते भासं ज्योतिषां, आदीप्तो भासेति वा, अदितेः पुत्र इति वा। निरु० नैघ०, २अ०, ४पा०, १३खं०

१० रश्मिः यमनात्। तेषामादितः साधारणानि पञ्चाश्वरश्मिभिः। निरु० नैघ०, २ऊ०, ५पा०, १५खं०

११ दिशतेः आसदनात् अपि वाऽभ्यशनात्। निरु० नैघ०, २ अ० ५पा०, १५खं०

१२ तत्र 'काष्ठाः' इत्येतदनेकस्यापि सत्त्वस्य नाम भवति। काष्ठा दिशो भवन्ति, क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। काष्ठा उपदिशो भवन्ति, इतरेतरं क्रान्त्वा स्थिता भवन्ति। निरु० नैघ०, २अ०, ५पा०, १५खं०

१३ प्ररमयति भूतानि नक्तचारीणि। उपरमयतीतराणि, ध्रुवीकरोति। रातेर्वा स्याद्दानकर्मणः, प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः। निरु० नैघ०, ६पा०, १खं०

१४ उच्छतीति सत्याः। रात्रेरपरः कालः। निरु० नैघ०, २अ०, ६पा०, ३खं०

(दिन) के वाचक बारह नाम एकत्रित हैं, उनमें '**अहः**'[१५] पद नहीं है, जिसका निरुक्तकार ने निर्वचन प्रस्तुत किया है। मेघवाची तीस नाम हैं, उनमें मेघः पद चौबिसवें स्थान पर है, उपर, उपलः-ये दोनों पद उन्नीसवें तथा बीसवें स्थान पर हैं, यद्यपि उपरः, उपलः वस्तुतः एक ही शब्द हैं, '**र**' '**ल**' के अभेद से '**उपरः**' शब्द ही '**उपलः**' हो गया है, यास्क ने भी दोनों का एक निर्वचन दिखलाया है, और '**मेघ**' का भी[१६]। इस प्रकार मेघवाची पदों में से तीन पदों का निर्वचन किया है। वाणी के वाचक सत्तावन नामपद हैं, जिनमें '**वाक्**' पद पचासवें क्रम पर है, निरुक्त में इसी एक पद का निर्वचन दिखाया है।[१७] एक सौ एक उदक के नाम हैं, '**उदकम्**' पद छत्तीसवे स्थान पर पठित है, जिसका अर्थ बताया गया है।[१८] नदीवाची सैतीस पद संगृहीत किये गये है ये सब पद बहुवचनान्त हैं, जिनमें '**नद्यः**' पद अन्तिम है, यास्क ने इसी का अर्थ समझाया है।[१९] छब्बीस अश्ववाची नामपद संगृहीत हैं, इनमें '**अश्वाः**' पद अन्तिम है, निरुक्त में इस पद का निर्वचन दर्शाया गया है तथा सप्तम स्थान पर पठित '**दधिक्राः**' पद का भी[२०]। इनसे अग्रिम पन्द्रहवें खण्ड में अश्ववाची दस नाम विशेष-विशेष देवताओं के साथ आदिष्ट प्रयोग वाले हैं-ऐसा वेदज्ञों का साहचर्यज्ञान हेतु विज्ञापन है, सौलहवें खण्ड में ग्यारह धातुएँ दीप्त्यर्थक हैं और अग्रिम खण्ड में प्रदीप्त होने वाले द्रव्य के ग्यारह नाम हैं। निरुक्तकार ने निघण्टु के अन्तिम इन तीन खण्डों में पठित किसी भी पद का निर्वचन न कर इन्हें स्मरण-मात्र किया है[२१]।

निरुक्त के नैघण्टुक काण्ड के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद से क्रमशः निघण्टु के द्वितीय अध्याय के बाईस खण्डों में पठित पदों का व्याख्यान प्रारम्भ होता है। जिसके प्रथम खण्ड में कर्मवाची छब्बीस नाम हैं, किन्तु उनमें '**कर्म**' पद अपठित होते हुए आचार्य ने उसी का निर्वचन किया है।[२२] अग्रिम खण्ड में अपत्यवाची पन्द्रह नाम पद हैं, '**अपत्यम्**' पद का स्थान क्रम दसवाँ है, इसी का अर्थ निरुक्त में दर्शाया गया है[२३]। तृतीय खण्ड में मनुष्य के वाचक पच्चीस नाम हैं, इनमें प्रथम स्थान पर पठित '**मनुष्याः**' का निर्वचन और तेईसवें स्थान पर पठित '**पञ्चजनाः**' पद का अर्थविचार किया है।[२४] '**बाहू**' पद बाहूवाची बारह नामों में अष्टम स्थान पर है, जिसका निर्वचन किया गया है।[२५] पञ्चम खण्ड में बाईस नाम अङ्गुलिवाची हैं, जिनमे

---

१५ उपाहरन्त्यस्मिन् कर्माणि। निरु० नैघ०, २अ०, ६पा०, २१खं०

१६ मेहतीति सतः। आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः। उपर उपलो मेघो भवति, उपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राणि, उपरता आप इति वा। निघ० नैघ०, २अ०, ६पा०, २२खं०

१७ वचतेः। निरु० नैघ०, २अ०, ७पा०, १खं०

१८ उनत्तीति सतः। निरु० नैघ०, २अ०, ७पा०, २खं०

१९ नदना इमा भवन्ति शब्दवत्यः। बहुलमासां नैघण्टुकं वृत्तम, आश्चर्यमिव प्राधान्येन। निरु० नैघ०, २अ०, ७पा०, ३खं०

२० अश्नुतेऽध्वानं, महाशनो भवतीति वा। तत्र दधिक्रा इत्येतद् दधत्क्रामतीति वा, दधत्क्रन्दतीति वा, दधदाकारी भवतीति वा। नैघ०, २अ०, ७पा०, ६खं०

२१ क-दशोत्तराण्यादिष्टोपयोजनानीत्याचक्षते साहचर्य ज्ञानाय। ख-ज्वलितकर्माण उत्तरे धातव एकादश। ग-तावन्त्येवोत्तराणि ज्वलतो नामधेयानि। निरु० नैघ०, २अ०, ७पा०, ६खं०

२२ क्रियत इति सतः। नैघ०, ३अ०, १पा०, १खं०

२३ अपततं भवति, नानेन पततीति वा। नैघ०, ३अ०, १पा०, १खं०

२४ मत्वा कर्माणि सिव्यन्ति, मनस्य मानेन सृष्टाः-मनस्यतिः पुनर्मनस्वीभावे, मनोरपत्यं, मनुषो वा। निरु० नैघ०, ३अ०, २पा०, १खं०

२५ प्रबाधते आभ्यां कर्माणि। निरु० नैघ०, ३अ०, २पा०, २खं०

अपठित **'अङ्गुलि'** का और ग्यारहवाँ **'अवनय:'**, दशवाँ **'कक्ष्या:'**, सोलहवां सत्रहवाँ **'योक्त्राणि'** 'योजनानि', बीसहवाँ **'अभीशव:'** तथा अट्ठारहवाँ **'धुर:'** पद हमारे द्वारा ज्ञापित क्रम से निर्वचन पूर्वक दर्शाये हैं।[२६] इसी प्रकार इस खण्ड से एक अपठित पद अङ्गुलि का और छ: पठित पदों का आचार्य ने अर्थ बताया है। निघण्टु के षष्ठ खण्ड में क्रुध्यर्थक दस, चतुर्दश खण्ड में गत्यर्थक एक सौ बाईस, अष्टादश खण्ड में व्याप्त्यर्थक दस, उन्नीसवें खण्ड में वधार्थक तैंतीस तथा इक्कीसवें खण्ड में ऐश्वर्यार्थक चार धातुएं पठित हैं। निरुक्तकार ने इनके विषय में कोई भी व्याख्यान अथवा मन्त्र या मन्त्रांश प्रस्तुत नहीं किया है। हाँ, इन धातुओं को संख्या के माध्यम से अवश्य स्मरण कर अव्याख्यात छोड़ दिया है।[२७] उन्नीसवें खण्ड में जो तैंतीस वधार्थक धातुएँ हैं, उनमें वियत: तळित् और आखण्डल ये तीन नाम पद हैं, इन तीनों का निर्वचन यास्क ने किया है।[२८] निघण्टु कोष के द्वितीय अध्याय के सप्तम खण्ड में अन्न के वाची अट्ठाईस पद हैं, जिनमें से **'अन्नम्'** अपठित का निरुक्तकार ने निर्वचन किया है।[२९] नवम खण्ड में बलवाची भी इतने ही पद हैं, किन्तु इनमें भी **'बलम्'** पद जो अपठित है का आचार्य ने निर्वचन दर्शाया है।[३०] इसी प्रकार दशम खण्ड में धनवाची अट्ठाईस, पञ्चदश खण्ड में क्षिप्रवाची छब्बीस, षोडश खण्ड में अन्तिक (समीप) वाची ग्यारह तथा सप्तदश खण्ड में संग्रामवाची छियालिस नामपद परिगणित हैं। इनमें पठित पदों का आचार्य ने निर्वचन न कर क्रमश: **'धनम्' 'क्षिप्रम्' 'अन्तिकम्' 'संग्राम:'** इन पदों का अर्थ दर्शाया है।[३१] एकदश खण्ड में गो के वाचक नौ तथा त्रयोदश खण्ड में क्रोध के ग्यारह नामपद संगृहीत हैं, निरुक्त में इनमें से किसी भी पद का निर्वचन नहीं है। विंशति खण्ड में वज्रवाची अट्ठारह नाम हैं, जिनमें नवम स्थानीय **'वज्र:'** और एकादश स्थानीय **'कुत्स:'** पद का आचार्य ने निर्वचन किया है।[३२] बाईसवें खण्ड में ईश्वरवाची चार नामपदों में अन्तिम **'इन:'** पद का निरुक्तकार ने निर्वचन दर्शाया है।[३३]

निघण्टु कोष के तृतीय अध्याय में तीस खण्डों के अन्तर्गत पाँचवें खण्ड में दस परिचरणार्थक, ग्यारहवें खण्ड में आठ दर्शनार्थक, चौदहवें खण्ड में चवालिस अर्चनार्थक, उन्नीसवें खण्ड में सत्रह याञ्चार्थक, बीसवें खण्ड में दस दानार्थक, इक्कीसवें खण्ड में चार अध्येषणार्थक तथा बाइसवें खण्ड में दो

---

२६ अग्रगामिन्यो भवन्तीति वा, अग्रगालिन्यो भवन्तीति वा, अग्रकारिण्यो भवन्तीतिवा, अग्रसारिण्यो भवन्तीति वा अङ्कना: भवन्तीति वा, अञ्चना: भवन्तीतिवा, अपि वा अभ्यञ्चनादेव स्यु:।..अवनयोऽङ्गुलयो भवन्ति अवन्ति कर्माणि। कक्ष्या: प्रकाशयन्ति कर्माणि। योक्त्राणि योजनानीति व्याख्यातम्। अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि।..धू: धूर्वतेर्वधकर्मण:। इयमपीतरा धू: एतस्मादेव विहन्ति वहं, धारयतेर्वा। निरु० नैघ०, ३अ०, २पा०, २-८खं०

२७ क-कान्तिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश। ख-अत्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। ग-क्रुध्यतिकर्माण उत्तरे धातवोऽष्टादश। घ-गतिकर्माण उत्तरे धातवो द्वाविंशशतम्। ङ-व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश। च-वधकर्माण उत्तरे धातवस्त्रयस्त्रिंशत्। छ-ऐश्वर्यकर्माण उत्तरे धातवश्चत्वार:। नैघ० ३अ०, २पा०, ४खं०

२८ वियातयित: इति, वियातयेति वा। आखण्डयित:, खण्डं खण्डयते:। तळिदित्यन्तिकवधयो: संसृष्टकर्म, ताडयतीति सत:। नैघ०, ३अ०, २पा०, ११खं०

२९ आनतं भूतेभ्य: अत्तेर्वा। नैघ०, ३अ०, २पा०, ४खं०

३० बलं भरं भवति, बिभर्ते:। नैघ० ३अ०, २पा०, ६खं०

३१ क-धिनोतीति सत:। ख-संक्षिप्तो विकर्ष:। ग-आनीतं भवति। घ-सङ्गमनाद्वा, सङ्गरणाद्वा संगतौ ग्रामौ इति वा। नैघ०, ३अ०, २पा०, ८.९खं०

३२ वर्जयतीति सत:। तत्र कुत्स इत्येतत् कृन्तते:। नैघ०, ३अ०, २पा०, ११खं०

३३ सनित ऐश्वर्येणेति वा, सनितमनेनैश्वर्यमितिवा। नैघ० ३अ० २पा०, १२खं०

स्वप्नार्थक धातुएँ परिगणित हैं। निरुक्तकार ने इनमें से किसी पद का निर्वचन नहीं किया है और न इनकी सम्पुष्टि में कोई मन्त्र अथवा मन्त्रांश ही दिया है। धातुओं के सम्बन्ध में उसकी शैली अव्याख्यात ही है। प्रथम खण्ड में बहुवाची बारह, चतुर्थ खण्ड में गृहवाची बाईस, षष्ठ खण्ड में सुखवाची बीस, सप्तम खण्ड में रुपवाची सोलह, दशम खण्ड में सत्यवाची छः, पन्द्रहवें खण्ड में मेधावीवाची चौबिस, सोलहवें खण्ड में स्तोता के वाचक तेरह, अट्ठारहवें खण्ड में ऋत्विक्वाची आठ, चौबिसवें खण्ड में स्तेनवाची चौदह, पच्चीसवें खण्ड में निर्णितान्तर्हित छः, छब्बीसवें खण्ड में दूरवाची पाँच और सत्ताइसवें खण्ड में पुराणवाची छः नामपद परिगणित हैं। इनमे क्रमशः बहु, गृहम्, सुखम्, रूपम्, सत्यम्, मेधावी, स्तोता, ऋत्विक्, स्तेनः, निर्णितम्, दूरम्, पुराणम्-ये पद अपठित होने पर भी आचार्य ने इन्हीं का निर्वचन उपरोक्त खण्डों में से किया है।[३४] द्वितीय खण्ड में ह्रस्ववाची ग्यारह, तृतीय खण्ड में महत्वाची पच्चीस, सत्रहवें खण्ड में यज्ञवाची पन्द्रह, तेइसवें खण्ड में कूपवाची चौदह, और अट्ठाइसवें खण्ड में नववाची छः नामपद पठित हैं, इनमें से ह्रस्व, महत्, यज्ञ, कूप, नव-इन पदों का क्रमशः निर्वचन आचार्य ने किया है[३५], ये पद खण्डान्तर्गत पठित हुए हैं। अष्टम खण्ड में प्रशस्यवाची दस, नवम खण्ड में प्रज्ञावाची ग्यारह पद हैं, जो सर्वथा अव्याख्यात हैं। ग्यारहवें खण्ड में आठ पद-दर्शनार्थक धातुयें और चिक्यत् आदि नाम मिश्रित हैं। इनमें से चिक्यत् चाकनत् अवचाकशत्-ये तीनों पद नाम तथा आख्यात दोनों हो सकते हैं। विचर्षणिः, विश्वचर्षणि-ये दो नाम हैं और शेष तीन आख्यात हैं। बारहवें खण्ड में सम्पूर्ण पदों के पाठ के लिये नौ पद हैं। तेरहवें खण्ड में बारह उपमावाचक हैं, जिनकी निरुक्तकार ने मन्त्र देकर व्याख्या की है। उनतीसवें खण्ड में छब्बीस पद हैं, जिन सबका निरुक्त में व्याख्यान हुआ है। अन्तिम खण्ड में द्यावापृथिवी के चौबिस नाम हैं, आचार्य ने द्यावापृथिवी का वर्णन **'कतरा पूर्वा'** मन्त्र में किया है।

निघण्टु कोष का चतुर्थ अध्याय नैगम काण्ड कहलाता है, इसमें तीन खण्ड है, जो अनेक अर्थों वाले एक शब्द हैं उनकी तथा जिनका प्रकृति प्रत्यय आदि अज्ञात है उन शब्दों की यहां व्याख्या है, इस काण्ड का कई आचार्य ऐकपदिक नाम से व्यवहार करते हैं, क्योंकि नैघण्टुक काण्ड में तो पदों के गण हैं, परन्तु इस काण्ड में प्रत्येक पद भिन्न-भिन्न है, एक पद का दूसरे पद के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इस काण्ड के प्रत्येक पद की आचार्य ने व्याख्या की है, अत यह नैगम काण्ड है। इसके प्रथम काण्ड में तरेसठ, द्वितीय में चौरासी तथा तृतीय में एक सौ बत्तीस पद पठित हुए हैं।

निघण्टु कोष का पञ्चम अध्याय छः काण्डों से ग्रथित है, इसके प्रथम काण्ड में तीन, द्वितीय में तेरह, तृतीय में छत्तीस, चतुर्थ में बत्तीस, पञ्चम में छत्तीस, तथा षष्ठ में इकतीस पद पठित हैं। यास्क ने निरुक्त के सप्तम अध्याय से इस काण्ड की व्याख्या भूमिका के माध्यम से प्रारम्भ की है, तथा इस काण्ड का दैवत नाम रखा है, यह निरुक्त का उत्तरार्ध है। निरुक्त के चतुर्थ पाद से अग्नि आदि की निर्वचन सहित

---

३४ क्रमशः प्रभवतीति सतः। गृङ्क्न्तीति सताम्। सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः। रूपं रोचतेः। सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवतीति वा। मेधया तद्वान् भवति, मेधा मतौ धीयते। स्तोता स्तवनात्। ईरण, ऋघ्यष्टा भवतीति शाकपूणिः, ऋतुयाजी भवतीति वा। संस्त्यानमस्मिन्पापकमिति नैरुक्ताः। निर्णिक्तं भवति। द्रुतं भवति, दुरयं वा। पुरा नवं भवति। निरु० नैघ०, ३अ०, ४पा०, १, ४, ६, ७, १०, १५, १६, १८, २४, २५, २६खं०

३५ ह्रस्वो ह्रसतेः। मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः, मंहनीयो भवतीति वा। प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याच्ञो भवतीति वा। यजुरुन्नो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः, यजूंष्येनं नयन्तीति वा। कुपानं भवति, कुप्यतेर्वा। आनीतं भवति। निरु० नैघ० ३अ०, ४पा०, २, ३, १७, २३, २८खं०

वअयाख्या प्रारम्भ करके द्वादश अध्याय चतुर्थ पाद तक सभी दैवत काण्डान्तर्गत पदों को दर्शाया गया है। निरुक्त का त्रयोदश और चतुर्दश अध्याय परिशिष्ट नाम से प्रसिद्ध है। जिसमें अग्नि-वरुण, इन्द्र, आदित्य, आदि तथा ऊर्ध्वमार्गगति आदि की चर्चा की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महान् भाषावैज्ञानिक आचार्य यास्क ने निघण्टु के प्रथम अध्याय की व्याख्या निरुक्त के द्वितीय अध्याय के शेष भाग में कर दी तथा दूसरे अध्याय की व्याख्या निरुक्त के तृतीय अध्याय के पहले बारह खण्डों में और निघण्टु के तृतीय अध्याय की व्याख्या निरुक्त के तृतीय अध्याय शेष खण्डों (तेरह से बाइस तक) में की है। निघण्टु के अन्तिम दो अध्यायों के प्रत्येक खण्ड की व्याख्या निरुक्त में एक-एक अलग अध्याय में की गई है।

वस्तुतः उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यास्क ने निघ्रण्टु के प्रत्येक शब्द की व्याख्या न् कर के कतिपय पदों की ही व्याख्या की है यथा नैघण्टुक काण्ड में संकलित १३४१ पदों में से मात्र २३० पदों की व्याख्या की गयी है। हाँ, निघण्टु के चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में पठित ४३० पदों में से उन्होंने प्रत्येक की सोदाहरण व्याख्या की है। इस प्रकार निघण्टु के १७७१ पदों में से कुल ६६० शब्दों की निरुक्त में सम्प्रमाण व्याख्या की गयी है। कितना अच्छा होता यदि इन समस्त पदों पर आचार्य द्वारा प्रकाश पड़ जाता, यह सब अव्याख्यात होने से अर्थ-विज्ञान का एक विशाल क्षेत्र अप्रकाशित ही रह गया। आचार्य ने क्या सोचकर कतिपय पदों की व्याख्या कर दी और कतिपय अव्याख्यात ही छोड़ दिये, यह भी एक चिन्तन का विषय है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१३२-१३८) ISSN 0974 – 8830

करणकारक का साधकतमत्व

डॉ० ब्रह्मदेव[1]

वाक्य की निर्मिति पदों से होती है और पद संज्ञा[2] से व्याकरणशास्त्र में तिडन्त और सुबन्त दोनों प्रकार के शब्दों को जाना जाता है। तिडन्त अर्थात् क्रिया के निष्पादन में उपयुक्त होने वाले शब्दों को कारक नाम से भी अभिहित किया जाता है[3], वे सुबन्त ही हैं तथा संख्या में छः[4] हैं। जिनमें करण कारक भी अन्यतम है। **क्रियतेऽनेनेति करणम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार **करण** शब्द तनादिगणीय **डुकृञ्**[5] करणे धातु से करणार्थक **ल्युट्**[6] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। इस अनभिहित करण कारक में तृतीया विभक्ति का विधान पाणिनि ने किया है।[7] अत एव **बाणेन वाली हतः** आदि प्रयोगों में तृतीया विभक्ति होती है, परन्तु करण अभिहित अर्थात् किसी प्रत्यय द्वारा उक्त होगा तो वहाँ तृतीया न होकर प्रथमा ही आयेगी। यथा-स्नाति अनेन **इति स्नानीयं चूर्णम्, क्रीडन्ति अनेनेति क्रीडनीयम्** इन दोनों प्रयोगों में **अनीयर्** कृत्य प्रत्यय करण में होने के कारण उक्त हो गया है[8], अतः यहाँ **तृतीया विभक्ति** नहीं हुई, अपितु **प्रातिपदिकार्थ** में प्रथमा ही हुई। इसी प्रकार **शसति हिनस्ति अनेनेति शस्त्रम्** आदि प्रयोगों में **करण** में प्रत्यय विधान किया है,[9] अतः शस्त्रम् में प्रथमा विभक्ति होती है। हाँ, जब ये पद अनुक्त होंगे तो उनमें द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तियाँ यथानियम आयेंगी।

करण स्वरूप

करण कारक के स्वरूप के विषय में जहाँ आचार्य पाणिनि सूत्रात्मक शैली को अपनाते हैं, वहीं भर्तृहरि उन्हीं बातों को कारिका के रूप में कहते हैं, तो कौण्डभट्ट और नागेशभट्ट जैसे नव्य वैयाकरणों ने नव्यन्याय की भाषा को अपनाकर उसी को परिष्कृत और सशक्त भाषा में कहा है। अब करण कारक को ये सूरिगण जिस रूप में स्वीकार करते हैं, वह उपस्थापित है-

पाणिनि मत-आचार्य पाणिनि ने **करण** का लक्षण **साधकतमं करणम्**[10] किया है। इसका सीधा अर्थ

---

१. एसोसिएट प्रोफिसर, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. पाणिनीया अष्टाध्यायी १.४.१४, सुप्तिङन्तं पदम्।

३. वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा, सम्पा० डॉ० कपिलदेव शास्त्री, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन-१९७५, पृ० ३१५, क्रियानिष्पादकत्वं कारकत्वम्।

४. वही, कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च। अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट्॥

५. धातुपाठ, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, सोनीपत, सन् १९८९, पृ० ४३

६. पा० ३.३.११७, करणाधिकरणयोश्च।

७. पा० २.३.१८, कर्तृकरणयोस्तृतीया।

८. पा० ३.३.११३, कृत्यल्युटो बहुलम्। बहुल अर्थ को वैयाकरण चार प्रकार का मानते हैं-क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

९. पा० ३.२.१८२, दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसि-सिच-मिह-पतदशनहः करणे।

१० अष्टा०१.४.४२)

यह हुआ कि **साधकतम** करण होता है। करण की परिभाषा में साधक शब्द के संयोजन से **साध्य** की आवश्यकता है, अत एव **कारके** (पा० १.४.२४) सूत्र के अनुवर्तन से यहाँ साध्य **क्रिया** ही मानी जायेगी।[११] वैसे तो सभी कारक क्रिया के साधक हैं[१२], किन्तु करण **साधकतम** कहा गया है, क्योंकि यही साध्यभूत क्रिया की सिद्धि में अतिशय रूपेण संयुक्त होता है। इसीलिए काशिकाकार जयादित्य ने उक्त सूत्र की वृत्ति इसप्रकार की है-**क्रियासिद्धौ यत्प्रकृष्टोपकारकं विवक्षितं तत्साधकतमं कारकं करणसंज्ञं भवति।**[१३] इसप्रकार क्रिया के फल की निष्पत्ति में जो कारक प्रकर्षरूप से उपकारक अथवा सहायक होकर विवक्षित होता है, वह करण संज्ञा से अभिहित किया गया है। यथा-दात्रेण लुनाति, कुठारेण छिनत्ति इन दोनों वाक्यों में दराती और कुठार के व्यापारों के प्रकर्ष से ही कटने रूप फल की निष्पत्ति अव्यवहित हो गयी है। अतः दात्रेण एवं कुठारेण में करण संज्ञा होकर तृतीया विभक्ति निष्पन्न हुई है।

सूत्रस्थ तमप् का प्रयोजन-उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रकृष्ट अर्थात् अतिशयता के निरूपणार्थ **साधक** शब्द से **तमप्** प्रत्यय किया गया है। जिसका तात्पर्य है-जिस व्यापार के अनन्तर क्रिया फल का निष्पादकत्व परिलक्षित होता है, वह प्रकृष्ट कहा जाता है।[१४] यहाँ प्रश्न होता है कि **साधकतमं करणम्** सूत्र कारक प्रकरणगत होने के कारण **कारक** के अनुवर्तन मात्र से ही प्रकृष्टता द्योतित होती है, क्योंकि **साधक** और **कारक** एक दूसरे के पर्यायवाची हैं, अतः एकत्र दोनों के संयोजन से आर्थिक प्रकर्षता स्वयमेव गृहीत होगी। इसलिए **साधकं करणम्** इस सूत्र से ही कार्य सिद्ध हो जायेगा। अथवा करणार्थक **ल्युडन्त** प्रत्ययनिष्पन्न **करण** इस **महासंज्ञा** के बल से तमबर्थक प्रकर्षता ली जा सकती है।[१५] अतः सूत्रस्थ **तमप्** ग्रहण का कोई औचित्य नहीं। इसके उत्तर में विज्ञों का कहना है **तमप्** ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि कारक प्रकरण में शब्द सामर्थ्यगम्य प्रकर्ष का ग्रहण नहीं किया जाता।[१६] इसीलिए अपादान संज्ञा में मुख्य अपाय **ग्रामादागच्छति**

---

११. तुलनीय-प्रकाश व्याख्या (प्रक्रियाकौमुदी, भाग-२), पृ० २८, साधयतीति साधकं कारकाधिकारात् क्रियां प्रति साधकं विवक्ष्यते।

१२. महाभाष्य १.४.४२ (भाग-२), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सं० १९८८, पृ० २५९, सर्वाणि च कारकाणि साधकानि।

१३. काशिका १.४.४२ तुलनीय-(क) प्रक्रियाकौमुदी (भाग-२), पृ० २८, क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणं स्यात्।(ख) शब्दकौस्तुभ (भाग-२), पृ० १२६, क्रियायां प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।(ग) अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति (भाग-१), पृ० १२४, क्रियायाः सिद्धौ यत्साधकतमं तत्कारकं करणसंज्ञकं भवति। (घ) Panini his work and its traditions- 1, page 161, That karaka which most serves to bring about an act (Sadhakatamam), the means of accomplishing this act.

१४. (क) प्रौढमनोरमा (भाग-३) पृ० ५०७, यद् व्यापारादनन्तरं क्रियानिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टम्।(ख) लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ४७८, यद् व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टम्।

१५. वही, कारकाधिकारात्करणल्युडन्तकरणेति महासंज्ञया च साधकत्वे लब्धे साधकग्रहणमेव साधकतमार्थं भविष्यतीति।

१६. महाभाष्य १.४.४२, भाग-२, पृ० २५९, एवं तर्हि सिद्धे सति यत् तमग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः-कारकसंज्ञायां तरतमयोगो न भवतीति। तुलनीय-(क) तत्त्वबोधिनी (सिद्धान्तकौमुदी, सू० सं० ५६०), पृ० १४१, इतरस्तु कारकप्रकरणे गौणमुख्यन्याय एतत्सूत्रादन्यत्र न प्रवर्तत इति ज्ञापनाय तमब्ग्रहणम्। (ख) दीपक (लघुशब्देन्दुशेखर), पृ० ४७९, प्रकृतसूत्रस्थतमब्ग्रहणेन तु कारकप्रकरणे प्रकर्षार्थप्रत्ययं विना शब्दसामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते इति ज्ञापने तु न किंचिद् दूषणम्। (ग) प्रदीप (महाभाष्य १.४.४२), पृ० २५९, तत्र तमश्रुतिरेतज्ज्ञापयति प्रकर्षप्रत्ययग्रहणान्तरेणेह प्रकरणे सामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते।

के साथ बुद्धिकल्पित गौण अपाय की भी अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति होती है, यथा-**सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः**, अन्यथा यहाँ अपादान इस महासंज्ञा के होने मात्र से ही अपाय और ध्रुव शब्द का ग्रहण प्रकर्षार्थ स्वीकार किया जाता और अपादानसंज्ञा इसप्रकार के गौण अपायों में नहीं होती, इस सूत्र में तमप् सामर्थ्य से अन्यत्र कारकप्रकरण में प्रकर्ष का अभाव ही रहेगा यह यहाँ ज्ञापित है।[१७] तथैव मुख्य और गौण दोनों आधारों में अधिकरण संज्ञा सिद्ध होती है। यदि शब्द सामर्थ्यगम्य प्रकर्ष लिया जाता तो मात्र मुख्य आधार **तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिः** आदि सर्वावयव व्याप्त आधार की ही अधिकरण संज्ञा होती, अन्यत्र **गंगायां गावः** आदि लाक्षणिक अर्थों वाले वाक्यों में नहीं।[१८] अतः तमप् ग्रहण से यह सिद्ध हुआ कि कारकप्रकरण में प्रकर्षार्थक प्रत्यय के विना अन्यत्र कारकों में शब्द से उपलभ्यमान प्रकर्ष का आश्रयण नहीं किया जाता।

उक्त करण कारक की प्रकृष्टता अन्य कारकों की दृष्टि से है। वैसे तो क्रियासिद्धि में व्यापाराश्रय कर्ता ही मुख्य उपकारक होता है, क्योंकि वही सब कारकों का प्रवर्तयिता होता है।[१९] अत एव क्रिया निष्पत्ति में कर्ता के ही स्वतन्त्र अर्थात् प्रधान होने के कारण कर्ता का साधकतमत्व स्पष्टतः परिलक्षित होता है, फिर करण का साधकतमत्व कैसे आचार्य पाणिनि ने दर्शाया है-यह आगे स्वतन्त्र बिन्दु में विचारित होगा।

अन्य आचार्यों का मत-पाणिनि के उक्त करण लक्षण **साधकतमं करणम्** (पा० १.४.४२) को इसी रूप में श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन[२०], जैनेन्द्रव्याकरण[२१], सुपद्मव्याकरण,[२२] सरस्वतीकण्ठाभरण[२३] तथा शृंगारप्रकाश के चतुर्थप्रकाश[२४] में भोजदेव ने स्वीकार किया है। शृंगारप्रकाश में वहीं करण को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है-**क्रियां प्रत्युपात्तव्यापारेषु कर्मादिषु यद्व्यापारानन्तरं क्रियासिद्धिविवक्षा तत्कारकं साधकतमं करणमिति।**

सारस्वतव्याकरण अथवा सारस्वतप्रक्रिया में करण को **क्रियासिद्धुपकारकम्** के रूप में परिभाषित किया है।[२५] वहीं पर प्रसाद व्याख्या में इसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि क्रिया की सिद्धि जिस कारक से सन्निकट अथवा जिसके व्यापार के पश्चात् अविलम्ब होती है, वह करण कहलाता है।[२६] बालमनोरमाकार

---

१७. उद्योत (महाभाष्य १.४.४२), पृ० २५९, अपादानमिति महासंज्ञयैवापाये ध्रुवे लब्धे पुनस्तद्ग्रहणसामर्थ्यात् प्रकर्षविवक्षायामत्र न स्यात्।

१८. (क) लघुशब्देन्दुशेखर, पृ० ४७९, तमब्ग्रहणेन 'शब्दसामर्थ्यगम्यः प्रकर्षे नाश्रीयते' इति ज्ञाप्यते इति गौणाधारस्याप्यधिकरणसंज्ञा सिद्ध्यति। एवंच गंगायां गावः इत्यप्युदाहरणम्। (ख) बालमनोरमा (सिद्धान्तकौमुदी, सू० सं० ५६०), पृ० १४१, कारकप्रकरणे गौणमुख्यन्यायः एतत्सूत्रादन्यत्र न प्रवर्तते इति ज्ञापनार्थं तमब्ग्रहणम्। अन्यथा आधारोऽधिकरणम् इत्यत्र अन्वर्थमहासंज्ञाबलादेवाधारलाभे पुनस्तद् ग्रहणसामर्थ्यात् सर्वावयवव्याप्त्या य आधारः सोऽधिकरणमित्यर्थः स्यात्। एवं च तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिरित्यादावेव स्यात्, गंगायां घोषः, कूपे गर्गकुलमित्यादौ न स्यात्।

१९. महाभाष्य १.४.२३, भाग-२, पृ० २४५, किं पुनः प्रधानम्? कर्ता। कथं पुनर्ज्ञायते-कर्ता प्रधानमिति? यत्सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कर्ता प्रवर्तयिता भवति।

२०. हैमव्याकरण २.२.२४

२१. जैनेन्द्रव्याकरण १.२.११३

२२. सुपद्मव्याकरण २.१.९

२३. सरस्वतीकण्ठाभरण१.१.५५

२४. शृंगारप्रकाश-१, पृ० १५०

२५. सारस्वतव्याकरण १७.६, क्रियासिद्ध्युपकारके करणे।

२६. प्रसाद (सारस्वतव्याकरण १७.६), पृ० २१५, तत् (करण) लक्षणम्। क्रियासिद्ध्युपकारक इति। क्रियायाः सिद्धिम्

के अनुसार **उपकारक** शब्द **साधकतम** का ही व्याख्यानभूत है।[२७] अतः सारस्वतव्याकरण भी पाणिनि का ही अनुसरण करता है। श्रीहरिनामामृतव्याकरण (संक्षेप) में कर्ता के अधीन कार्य सम्पादन में प्रकृष्ट सहायक को करण कहा है।[२८] मुग्धबोध में करण संज्ञा के लिए **ध** संज्ञा का प्रयोग किया है और उसके स्वरूप को साधन, हेतु, विशेषण और भेदक के रूप में शास्त्रीय शैली को अपनाकर विश्लेषित किया है।[२९] कातन्त्रव्याकरण में करण का सामान्यतः व्युत्पत्ति अर्थात् विग्रहवाक्य के रूप में लक्षण किया है-येन क्रियते तत्करणम्।[३०] इसीप्रकार करण को शाकटायन व्याकरण की वृत्ति में व्याख्या प्रदान की गई है।[३१]

नव्यन्याय के प्रसिद्ध विद्वान् भवानन्द सिद्धान्त वागीश ने अपने ग्रन्थ कारकचक्र में करण कारक से सम्बद्ध नैय्यायिक सम्प्रदाय में प्रसिद्ध तीन परिभाषाओं पर विचार किया है। वे हैं-**कारकान्तरे चरितार्थत्वे सति हेतुत्वं करणत्वम्**,[३२] **कर्तृव्यापारविषयत्वं करणत्वम्**[३३] और **व्यापारवत्कारणं करणम्**[३४]। प्रस्तुत करणलक्षणों में भवानन्द को व्यापारवत्कारणम् ही करण का लक्षण अभिप्रेत है, जो ग्रन्थ में इस लक्षण से पूर्व प्रयुक्त वस्तुतः पद से जान पड़ता है। इन तीनों लक्षणों का ऊहापोहात्मक विशद विवेचन डॉ० अरविन्दकुमार, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ने अपने शोधप्रबन्ध में प्रस्तुत किया है।[३५] नव्यन्याय के ही आचार्य जगदीश तर्कालंकार ने भी व्यापार से सम्बद्ध कारण को ही करण स्वीकार किया है।[३६]

नव्यन्याय की शैली को अपनाकर अपने ग्रन्थों की संरचना करने वाले वैयाकरणों में कौण्डभट्ट और नागेशभट्ट का प्रमुख स्थान है। कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषणसार में करण कारक की परिभाषा **अव्यवधानेन फलजनकव्यापारवत्कारणं करणम्**[३७] स्वीकार की है। इसके अनुसार ऐसे कारण की करण संज्ञा होती है, जो किसी भी प्रकार की बाधा के बगैर क्रियारूप फल को निष्पन्न करने वाले व्यापार का आश्रय हो। इसप्रकार इस लक्षण के अनुसार भी करण कारक में विधीयमान व्यापार और फल प्राप्ति के मध्य किसी प्रकार का व्यवधान अभीष्ट नहीं है। इसीप्रकार वैयाकरणभूषण में भी प्रकृष्ट कारण को करण मानते हुए पाणिनि का अनुगमन **करण** को परिभाषित करने में किया है। **तमप्** का अर्थ **प्रकर्ष** लिया है और **प्रकर्ष** उसे कहा है,

---

उत्पत्तिं सन्निहितत्वेन करोतीति तथा यद् व्यापारान्तरमविलम्बेन क्रियोत्पत्तिः। तुलनीय-तत्त्वदीपिका (सिद्धान्तचन्द्रिका १६.५), पृ० ३०९, क्रिया साध्यतेऽनेनेति साधनं क्रियासिद्ध्युपकारकम्। तदेव करणम्। व्यापारवत्कारककरणमविलम्बेन क्रियोत्पादनं वा।

२७. बालमनोरमा (सिद्धान्तकौमुदी ५६०), पृ० ७३०, कर्त्रा क्रियायां जनयितव्यायां यत्सहायभूतं तदुपकारकमित्युच्यते। साधकतममित्यस्य व्याख्यानमेतत्।

२८. श्रीहरिनामामृतव्याकरण ४.२३, कर्तुरधीनं प्रकृष्टं सहायं करणम्।

२९. मुग्धबोधव्याकरण २८९, साधन-हेतु-विशेषण-भेदकं धम्।

३०. कातन्त्रव्याकरण २.४.१२, कातन्त्रव्याकरणविमर्श के पृ० १७३ पर उद्धृत।

३१. लघुवृत्ति (शाकटायनव्याकरण १.३.१२८), येन क्रियते तत्करणम्।

३२. कारकचक्र (भवानन्द), पृ० ४०

३३. वही, पृ० ४४

३४. वही, पृ० ४२

३५. भवानन्दकृत कारकचक्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन, क्रमशः पृ० १४३-१५४, १६९-१७६, १५४-१६९

३६. शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ० ३१२, करणशब्दस्तु व्यापारप्रत्यासत्त्या जनकस्य वाचकः।

३७. वैयाकरणभूषणसार, पृ० ९८-९९

जिसके व्यापार के तुरन्त बाद फलोत्पत्ति होती है।[३८] आचार्य नागेशभट्ट ने **परमलघुमञ्जूषा** में अपने में स्थित व्यापार अर्थात् जिस कारण का व्यापार तत्काल, विना व्यवधान के, क्रिया के फल का निष्पादक हो, वह करण कारक कहलाता है और यही पाणिनि के सूत्र **साधकतमं करणम्** (पा० १.४.४२) सूत्रस्थ **साधकतमत्व** का भी आशय है।[३९] इस प्रकार पाणिनि का **साधकतम** पद जिस अभिप्राय को कहता है, उसी को नागेश ने स्वकीय परिभाषा में नव्यन्याय की शैली द्वारा कहा है। **लघुमञ्जूषा** में उक्त परिभाषा को प्रकारान्तर से करण को **करणशक्तिमत्व** के रूप में स्वीकार करते हुए कही है।[४०] वहीं **वृहद्मञ्जूषा** में **कर्तृव्यापाराधीन** इस विशेषण के संयोजन के साथ करण के स्वरूप को नागेश ने दर्शाया है।[४१] इस प्रकार तीनों मञ्जूषाओं में प्रस्तुत करण कारक के स्वरूप में विद्धान्ततः कोई अन्तर परिलक्षित नहीं होता, अर्थात् लक्षण की शब्दावली में किंचित् भेद होने पर भी प्रत्येक मञ्जूषा में आर्थिक दृष्टि से अभिन्नता है।

०.३ **भर्तृहरि मत**-क्रिया की सम्यक् सिद्धि में कर्ता, कर्म, करणादि सभी साधक के रूप में मान्य हैं, फिर करण को अतिशय साधक के रूप में क्यों परिभाषित किया जाता है, जैसा कि उक्त विवेचन से स्पष्ट है, उसी को आचार्य भर्तृहरि ने साधनसमुद्देश की निम्न कारिका से स्वकीय सशक्त शब्दों में परिपुष्ट किया है-

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणत्वं तदा स्मृतम्।।[४२]

अर्थात् प्रयोक्ता को जब, क्रिया की संसिद्धि में उपकारक सभी कारकों में, जिस कारक के व्यापार के अनन्तर अर्थात् अव्यवहित उत्तरकाल में फलरूप क्रिया की सिद्धि पूर्णतया विवक्षित होती है, तब वह **करण** कारक कहलाता है। उदाहरणार्थ-**रामेण बाणेन हतो बाली** इस प्रयोगस्थल में बाण **करण** कारक के रूप में विवक्षित है, क्योंकि बाण के व्यापार **शीघ्र गमन** और **बाली को मारना** आदि के अव्यवहित उत्तर क्षण में **प्राणवियोग** रूप फल की निष्पत्ति हो जाती है। इस वाक्य के कर्ता राम में भी धनुष की प्रत्यञ्चा आदि खींचने का व्यापार स्पष्टतः दिखाई देता है फिर भी वह करण कारक नहीं माना जाता, क्योंकि राम के व्यापार और फल की सिद्धि में बाण के व्यापार का व्यवधान है, जबकि बाण के व्यापार और क्रिया की परिनिष्पत्ति के मध्य अन्तर नहीं है, इसलिए वह प्रकृष्ट उपकारक होने के कारण **करण** कारक है। इसी प्रकार **कुठारेण छिनत्ति, दात्रेण लुनाति** आदि प्रयोग जानने चाहिए।

प्रकृत करण को परिभाषित करने वाली कारिका में आगत **क्रियायाः** पद वैयाकरणभूषणसार की प्रभा व्याख्या अनुसार **फल** अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[४३] वस्तुतः **फल** अर्थ स्वयमेव गतार्थ ज्ञात पड़ता है, क्योंकि **क्रिया** की निष्पत्ति अर्थात् सिद्धि फलावाप्ति के बाद ही होती है। अतः **क्रिया** का **फल** अर्थ करना आवश्यक नहीं। डॉ० राममनोहर मिश्र के अनुसार यदि **क्रिया** पद से **फल** का ग्रहण नहीं किया जायेगा तो

---

३८. वैयाकरणभूषण, पृ० १०४, तथाहि साधकतमं करणम्। तमबर्थः प्रकर्षः। प्रकृष्टं कारणमित्यर्थः। प्रकर्षश्च यद्व्यापारानन्तरमव्यवधानेन फलोत्पत्तिस्तत्त्वम्।

३९. परमलघुमञ्जूषा, पृ० ३४५, स्वनिष्ठ-व्यापाराव्यवधानेन फलनिष्पादकत्वं करणत्वम्। इदमेव साधकतमत्वम्।

४०. लघुमञ्जूषा, पृ० १२५१, करणत्वं च करणताशक्तिमत्त्वं सा च शक्तिः यद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिर्विवक्ष्यते तन्निष्ठा।

४१. मञ्जूषा, पृ० १३७, कर्तृव्यापाराधीनयद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिर्विवक्ष्यते तत्तत् क्रियाकरणम्।

४२. वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश ९०

४३. प्रभा, (वैयाकरणभूषणसार), पृ० १९८, क्रियाया इति-फलस्येत्यर्थः। धात्वर्थफलस्य साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् क्रियते या सा क्रियेति व्युत्पत्त्या क्रियात्वेन व्यवहारः।

रामेण बाणेन हतो बाली वाक्य मे **राम** को भी करणत्व की आपत्ति होगी[४४]-यह चिन्त्य है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि करण के स्वरूप के प्रतिपादन में सभी वैयाकरणों का मतैक्य प्रतिभासित होता है।

कर्ता के साधकतमत्व का निराकरण-

यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कर्ता की विद्यमानावस्था में ही सभी कारक उपयोग में आते हैं, यदि वह न हो तो अन्य कारकों का कारकत्व नहीं बन पायेगा। वे सभी निष्प्रयोजन हो जायेंगे। अत: यहाँ आशंका होती है कि इस स्थिति में कर्ता को ही प्रकृष्ट साधक माना जाना चाहिए, अन्य साधनों की अपेक्षा ? इस आशंका का निराकरण करते हुए आचार्य भर्तृहरि ने कहा है कि यह सही है-कर्ता अपने व्यापार के प्रति स्वतन्त्र होता है। वक्ता जिस वाक्य का प्रयोग करता है, उसमें कर्ता अन्य कारकों का प्रवर्तयिता होता है। अत: वह वाक्य में मुख्य अर्थात् प्रधान होता है, परन्तु साधकतम नहीं। क्योंकि क्रिया कि सिद्धि में उसका व्यापार स्वतन्त्र होते हुए भी दूर पड़ जाता है, जबकि करण के व्यापार के तुरन्त पश्चात् क्रियासिद्धि हो जाती है अर्थात् करण द्वारा सभी कारकों का व्यापार व्यवहित हो जाता है।[४५] अत: करण ही साधकतम कारक है, कर्ता नहीं। कर्ता का व्यापार तो अन्य साधनों को क्रिया की निष्पत्ति के लिए प्रेरित करना है।[४६]

अथवा यह प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए कि कर्ता सर्वाधिक साधक है या करण, क्योंकि कर्ता के द्वारा क्रिया सिद्धि में प्रयुक्त किए जाने पर ही **करण** आदि साधक बनते हैं, अन्यथा नहीं। तब करण आदि कारक कर्ता के विजातीय हो गए और प्रकृष्टता सजातीयों में ही होती है, विजातीयों में नहीं।[४७] अत: करण की प्रकर्षता अधिकरण आदि समान कोटिक कारकों के मध्य हो सकती है, भिन्न कोटिक कर्ता के बीच नहीं। कारक प्रकरण में करण की प्रकर्षता क्रिया की सिद्धि के विषय में ही विवक्षित है, कर्ता के प्रति तो वह न्यग्भूत अर्थात् अप्रधान ही होता है, क्योंकि सभी कारक क्रिया की निष्पत्ति के लिए कर्ता की अपेक्षा रखते हैं।[४८] कर्ता कारकेतर को क्रियासिद्धि में प्रयुक्त करता हुआ सबसे पहले प्रवर्तित होता है, अत: स्वतन्त्र और स्वामिस्थानीय कहा जाता है। जबकि अन्य कारक कर्ता के विनियोगोत्तर काल में व्यापार संयुक्त होते हुए क्रियासिद्धि में प्रवृत्त होते हैं, अत: वे कर्ता के अधीन अर्थात् परतन्त्र होते हैं और भृत्यस्थानीय कहे जा सकते हैं। इसलिए स्वतन्त्र कर्ता और परतन्त्र करण के बीच स्वामी और भृत्य के समान परस्पर स्पर्धा कोई औचित्य नहीं रखती। अत एव इनका आपस में प्रकर्षापकर्ष अर्थात् साधकतमत्व असाधकतमत्व रूप में विचार करना ठीक नहीं। सजातीय अन्य अधिकरण आदि कारकों से ही करण का प्रकर्ष अपेक्षित होता है, कर्ता से नहीं।

---

४४. भूषणसारपरमलघुमञ्जूषयोः सिद्धान्तानां समीक्षा, पृ० १३२, यदि क्रियापदेन फलं न गृह्यते चेत्तदा रामेण बाणेन हतो बालीत्यत्र रामवृत्तिधनुराकर्षणादिव्यापारानन्तरं बाणव्यापारस्य जायमानत्वात्, रामस्यापि करणत्वापत्तिः।

४५. वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश ९४, स्वातन्त्र्येऽपि प्रयोक्तार आरादेवोपकुर्वते। करणेन हि सर्वेषां व्यापारो व्यवधीयते॥

४६. (क) हेलाराज, वही, पृ० १५८, साधनविनियोगो हि कर्तृव्यापारः। (ख) The Vakyapadiya of Bhartrihari (Chaptor iii, pt. i), page 205, Whose (Agent) work consists in setting the other accessories in motion.

४७. हेलाराज (साधनसमुद्देश ९५), पृ० २६०, सजातीयापेक्षो हि प्रकर्षः, कर्ता तु विजातीय एव।

४८. वाक्यपदीय, साधनसमुद्देश ९५, क्रियासिद्धौ प्रकर्षो वा न्यग्भावश्चैव कर्तरि। सिद्धौ सत्यां हि सामान्यं साधकत्वं प्रकृष्यते॥

करण का स्वकक्ष्यागत प्रकर्षाभाव अथवा अन्यकारकगत प्रकर्ष-

जिसके व्यापार में अतिशयता की विवक्षा होती है, उसे **करण** कहा गया है। यह अतिशयता अथवा प्रकर्ष क्रिया के अन्य उपकारकों की तुलना में होती है या स्वकक्ष्यागत-इसका उत्तर भर्तृहरि ने निम्न कारिका से दिया है-

स्वकक्ष्यासु प्रकर्षश्च करणानां न विद्यते।
आश्रितातिशयत्वं तु परतस्तत्र लक्षणम्॥[४९]

अर्थात् करण कारक का प्रकर्ष एक ही वाक्य में आगत दूसरे साधकतम पदार्थों की तुलना में नहीं लिया जाता, अपितु साधकान्तरों की अपेक्षा में ही करण का अतिशय माना जाता है। इसलिए **देवदत्तः अश्वेन पथा दीपिकया ग्रामं याति** वाक्य में एक प्रापण क्रिया की सिद्धि में एकाधिक कारकों के व्यापार की अतिशयविवक्षा के फलस्वरूप **अश्वेन, पथा** और **दीपिकया** तीनों में करण कारण माना जा सकता है।[५०] अश्व देशान्तर ग्राम के प्राप्तिरूप फल के प्रति कर्म आदि कारकों की अपेक्षा प्रकृष्ट उपकारक है और स्वव्यापार द्वारा अव्यवहित फलोत्पत्ति में सहायक है, अतः करण माना गया है। **रास्ता** भी निष्कण्टक अर्थात् चौरादि उपद्रवों से रहित होने के कारण इतर कारकों की बजाय साधकतम मान्य है, अतः वह भी करण संज्ञक है। इसी प्रकार **दीपिका** भी फल प्राप्ति के प्रति तमस् निवारण करती हुई साधनान्तरों से अतिशयरूपेण साधक ईप्सित है, अतः करण कारक है। इसलिए कहा जा सकता है कि करण-प्रकर्ष स्वकक्ष्यागत न होकर अन्य कारकगत माना जाता है।

---

४९. वही ९३

५०. तुलनीय-प्रदीप (महाभाष्य १.४.४२), पृ० २५९, कारकान्तरापेक्षश्च करणस्यातिशयो न तु स्वकक्ष्यायामित्यश्वेन दीपिकया पथा व्रजतीति सर्वेषां क्रियानिष्पत्तौ सन्निपत्योपकारकत्वात्करणत्वं सिद्धम्।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१३९-१४६) ISSN 0974 – 8830

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित न्यायप्रक्रिया एवं वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में उसकी महत्ता

डॉ० दीपा गुप्ता[१]

कौटिल्य अर्थशास्त्र 'संस्कृत साहित्य का महान् ग्रन्थ हैं, जो राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में विश्वकोष जितना महत्त्व रखता है। इसमें राज्य और समाज के मार्गदर्शन हेतु धर्म, कर्म, अर्थ, न्याय, दण्ड, शासन, सुरक्षा, कृषि, व्यापार तथा सामाजिक संस्कार आदि विषयों पर गहन चिन्तन-मनन किया गया है।

आचार्य कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। 'सेलेटोर' के अनुसार-'प्राचीन भारत की राजनीति विचार धाराओं में सर्वाधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।[२]' आज अर्थशास्त्र से आशय केवल इकोनोमिक्स अर्थात् धनविषयक ज्ञान से लिया जाता हैं, जिसे प्राचीन काल में वार्त्ताशास्त्र के नाम से पुकारा जाता था।[३] कौटिल्य काल में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र और युद्धशास्त्र आदि को सम्मिलित किया जाता था।[४] अर्थशास्त्र के प्रथम आचार्य देवगुरु बृहस्पति थे। वात्सायन ने अपने 'कामसूत्र' में बृहस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है।[५] आचार्य कौटिल्य को चाणक्य और विष्णुगुप्त के नाम से भी संबोधित किया जाता है। चणक पुत्र होने के कारण उन्हें चाणक्य और कुटिल राजनीतिज्ञ होने के कारण इन्हें कौटिल्य कहा जाता है। कौटिल्य का वास्तविक पितृ प्रदत्त नाम विष्णुगुप्त है।[६]' अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य हैं और इनकी रचना ईसा से लगभग तीन शताब्दी पूर्व हुई।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्याय व्यवस्था-

आचार्य कौटिल्य ने तत्कालीन राज्य व समाज की व्यवस्था को दृष्टिगत करते हुए न्याय का प्रभावी स्वरूप निर्धारित किया। आचार्य कौटिल्य समुचित न्याय को राज्य का प्राण मानते हैं। उनका दृढ़ मत है कि जो राजा अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं करता, वह शीघ्र नष्ट हो जाता है। कौटिल्य के अनुसार न्याय का उद्देश्य प्रजा के जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना तथा असामाजिक तत्वों को दण्डित करना है।

अर्थशास्त्र के अनुसार विवादों का निर्णय धर्म, व्यवहार चरित्र और शासन वाले चतुष्पाद कानून द्वारा होता था। इसमें विरोध होने पर पश्चिम को पूर्व का बाधक माना जाता था।

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
विवादार्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः।।[७]

---

१. असिस्टैन्ट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्वविभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय (गु०कां०वि०वि०, हरिद्वार, उत्तराखण्ड)
२. एन्श्येंट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीययूशन्स बी.ए. सेलेटोर पृष्ठ संख्या-५०
३. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्-१, २
४. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्-१, १
५. कामसूत्र, वात्सायन-१, ४
६. कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीति की राज्य व्यवस्थायें डॉ० कमलेश अग्रवाल, पृष्ठ संख्या-१९
७. कौटिल्य अर्थशास्त्र-३, १, ५१

कौटिल्य के अनुसार धर्म सत्य पर आश्रित होता है। व्यवहार साक्षियों पर निर्भर हैं, चरित्र मनुष्यों के समूहों में चली आ रही प्रथाओं पर निर्भर करता हैं। और राजा की आज्ञाओं की शासन कहते हैं।

तत्र सत्यस्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्र संग्रहे पुंसां राजामाज्ञा तु शासनम्।।[८]

राजा की आज्ञा को चरित्र और व्यवहार के ऊपर मान्यता दी जाती थी। धर्म के आधार पर निर्णय करने की आवश्यकता तभी होती थी, जब विवाद के सम्बन्ध में न तो कोई राजकीय आदेश हो, और न ही कोई व्यवहार और चरित्र हो। कौटिल्य के अनुसार यदि चरित्र और लोकाचार का धर्मशास्त्र से विरोध हो तो धर्मशास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिए।

संस्थया धर्मशास्त्रेण वा व्यावहारिकम्।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत्।[९]

आचार्य कौटिल्य से पूर्व कानून के बहुत से स्रोत थे जैसे, श्रुति, स्मृति, विवेक और सदाचार। किन्तु कौटिल्य ने राज्य को ही कानून का मुख्य स्रोत माना और राज्य में वैधानिक कानून को मान्यता प्रदान की।

कौटिल्य की न्याय व्यवस्था के अनुसार राज्य के सभी व्यक्ति समान हैं। कौटिल्य ने व्यवसायी, नौकर, माता-पिता पति पत्नी, पुत्र, शासक, प्रजा इत्यादि सभी के लिए कर्त्तव्य निर्धारित किये हैं। कौटिल्य ने चरित्र की कठोरता पर अधिक बल दिया है। इनके पालन में कमी को अपराध मानते हुए कौटिल्य ने न्यायव्यवस्था प्रतिपादित की हैं।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्यायाधीश-

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्यायाधीश पद हेतु कतिपय आवश्यक गुण और योग्यताओं का प्रतिपादन किया गया है। अर्थशास्त्र में उल्लखित है कि 'पूर्ण विद्वान्' पवित्र कुलोत्पन्न, वयस्क, तर्क में निपुण, और अपने कर्त्तव्य में सावधान व्यक्तियों को ही न्यायाधीश बनना चाहिए।[१०] समस्त न्यायिक कार्यवाहियाँ राजा के नाम से ही होती थीं। अतः न्याय की सर्वोच्च सत्ता राजा ही था। जो प्रत्येक मामले में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार रखता था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख मिलता है।

१. धर्मस्थानीय न्यायालय

२. कण्टक शोधन न्यायालय

धर्मस्थानीय न्यायालयों के न्यायाधीश 'धर्मस्थ'[११] कहलाते थे और कण्टकशोधन न्यायालयों के न्यायाधीश 'प्रदेष्टा' कहलाते थे-**'प्रदेष्टारस्त्रयस्त्रयो वामात्याः कण्टकशोधनं कुर्युः'।**[१२]

कौटिल्य के अनुसार धर्मस्थानीय और कण्टकशोधन न्यायालयों में न्यायाधीशों के पद पर राजा को

---

८. कौटिल्य अर्थशास्त्र-३, १,५२
९. कौटिल्य अर्थशास्त्र-३, १, ५६
१०. कौटिल्य अर्थशास्त्र वाचास्पति गैरोला-१, ९
११. अर्थशास्त्र-३, १ ,१
१२. अर्थशास्त्र-४, १ , १

उन अमात्यों की नियुक्ति करनी चाहिए जो कुशल ज्ञानवान् वाक्पटु और शुद्ध चरित्र लिये हुए हो।[१३] अर्थशास्त्र में न्यायिक अधिकारियों के कुशल, ज्ञानवान् तथा स्थिर होने पर बल दिया गया है। ये लोभी तथा निर्धन नहीं होने वाहिए। लोभ तथा निर्धनता की दशा में न्यायिक अधिकारी न्याय के मार्ग से विचलित हो सकते हैं।

धर्मस्थानीय न्यायालय में न्यायाधीशों को निम्न लिखित कतिपय प्रकार के विवादों पर निर्णय देने का अधिकार था।[१४]

१.व्यवहार स्थापना:-व्यक्तियों या व्यक्ति समूहों के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी विवाद

२.स्त्रीधन कल्प:-स्त्रीधन सम्बन्धी विवाद

३.विवाहधर्म:-पति-पत्नी सम्बन्धी विवाद

४.दाय विभागं:-संपत्ति के बंटवारे और उत्तराधिकार विषयक विवाद

५.गृहवास्तुकम्-अचलसंम्पत्ति सम्बन्धी विवाद

६.ऋणदानम्-ऋण सम्बन्धी विवाद

७.औपनिधिकम्-धन को अमानत पर रखने से उत्पन्न विवाद

८.दास कल्प:-दास विषयक विवाद

९.भृतकाधिकार:-भृत्यों के अधिकार व कर्त्तव्य सम्बन्धी विवाद

१०.सम्भूय समुत्थानम्-सामूहिक कारोबार से संबन्धित विवाद

११.विकीत क्रीतानुशय:-क्रय विक्रय सम्बन्धी विवाद

१२.साहसम्-चोरी, डाके और लूट सम्बन्धी विवाद।

१३.वाक्पारुष्यम्-गाली, कुवचन या मानहानि सम्बन्धी विवाद।

१४.दण्डपारुष्यम्-हमला करने सम्बन्धी विवाद।

१५.धूतसमाहवयम्-जुए सम्बन्धी विंवाद

१६.स्वाम्यधिकार:-स्वामी के अधिकार व कर्त्तव्य सम्बन्धी विवाद

१७.बाधाबाधिकम्-विविध रुकावट डालने वाले विवाद

१८.विवादपदनिबन्ध:-न्यायालय कार्यविधि और निर्णयविधि सम्बन्धी विवाद

१९.प्रकीर्णानि-विविध

इस प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मस्थानीय न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में कतिपय ऐसे विषय भी थे, जिनके निर्णय आधुनिक समय में फौजदारी न्यायालयों द्वारा किये जाते थे। कौटिल्य का धर्मस्थानीय एवं कण्टकशोधन न्यायालयों के लिए यह आदर्श था कि इनकी सबके प्रति समदृष्टि होनी चाहिए। सबका विश्वास उन्हें प्राप्त होना चाहिए। प्रजा में वे लोकप्रिय होने चाहिए।

'एवं कार्याणि धर्मस्था: कुर्युरच्छलदर्शिन:।'

---

१३. वही-१, ९

१४. वही-३, १, १

समा: सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसंप्रिया:॥[१५]

कण्टक शोधन न्यायालयों के न्यायाधीशों को निम्नप्रकार के विवादों पर निर्णय देने का अधिकार था।[१६]

१.कारुकरक्षणम्-शिल्पियों और कारीगरों की रक्षा और उनसे दूसरों की रक्षा

२.वैदेहकरक्षणम्-व्यापारियों की रक्षा और दूसरों की रक्षा

३.उपनिपातप्रतीकार:-प्राकृतिक विपत्तियों का निवारण

४.गूढाजीवनरक्षा-गैरकानूनी उपायों से जीविका चलाने वालों से रक्षा

५.आशुमृतकपरीक्षा-मृतदेह की परीक्षा द्वारा मृत्यु के कारण का पता करना।

६.वास्यकर्मानुयोग:-अपराध का पता करने के लिए विविध प्रकार के प्रश्नों को पूछना और शारीरिक कष्ट देना ?

७.सर्वाधिकरणरक्षण्म्-शासन के सब विभागों की रक्षा और उनसे प्रजा की रक्षा।

८.कन्यापकर्म:-कन्या पर बालात्कार का विवाद

९.अतिचारदण्ड-मर्यादा का अतिक्रमण करने पर दण्ड की व्यवस्था।

१०.एकांगवधनिष्क्रय-अंग काटने की सजा देना या उसके बदले जुर्माना वसूल करने की व्यवस्था करना।

कौटिल्य ने सामाजिक एवं राष्ट्रहित की अवहेलना कर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने वाले को कण्टक कहा हैं। उनसे समाज और राष्ट्र की रक्षा करना कण्टकशोधन का कार्य था। न्यायाधीशों पर इतना नियन्त्रण था कि वे न्यायालय में आये हुए वादी एवं प्रतिवादी को धमकाने, उनकी भर्त्सना करने या उनसे अपमानजनक व्यवहार नहीं कर सकते थे। कौटिल्य ने किसी भी न्यायाधीश को भ्रष्टाचार का दोषी पाये जाने पर पदच्युत करने का निर्देश किया है।[१७]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्याय प्रक्रिया-

कौटिल्य अर्थशास्त्र में न्याय प्रक्रिया के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके अनुसार जब न्यायालय में कोई वाद प्रस्तुत किया जाता था, तो निम्नलिखित बातें दर्ज की जाती थीं।[१८]

१.तिथि-जिससे वर्ष, ऋतु, मास, पक्ष और दिन का सही-सही पता लग सके।

२.करण-विवाद के विषय का स्वरूप

३.अधिकरण-घटनास्थल या वह स्थान जिसके साथ विवाद का सम्बन्ध हो।

४.ऋण-यदि ऋण का मुकदमा हो तो ऋण की मात्रा।

५.वादी-और प्रतिवादी का देश, ग्राम, गोत्र, नाम और पेशा

---

१५. वही-३, २०, ३१

१६. वही-४, १, १

१७. अर्थशास्त्र-४, ९, ३५/४, ९, ३९

१८. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक विचार एवं संस्थायें डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा, पृष्ठ संख्या-३४०

६.दोनों पक्षों की युक्तियों और प्रत्युक्तियों का पूरा विवरण इत्यादि।

कौटिल्य ने अर्थी-प्रत्यर्थी के अतिरिक्त साक्षियों को अपना पक्ष न्यायालय के समक्ष विधिवत् रखने की स्वतन्त्रता दी है। जो न्यायाधीश या कर्मचारी अभियोग सुनने, अर्थी-प्रत्यर्थी एवं साक्षी आदि के वक्तव्य पर विचार कर निर्णय देने अथवा उनके वक्तव्य लिखने आदि में प्रमाद करता अथवा उनके प्रति अशिष्ट व्यवहार करता हैं तथा उन्हें पीड़ित या मानसिक तनाव से ग्रस्त करता हैं तो उसको कौटिल्य ने दण्ड का पात्र माना है।

'वाक्यपारुष्ये द्विगुणम् ....साहसदण्डं कुर्यात्'।।[१९]

आचार्य कौटिल्य ने न्यायालय में वादी-प्रतिवादियों के आचरण की भी चर्चा की है। और कहा है किं यदि उनके द्वारा परोक्त दोष प्रस्तुत किया जाता है तो वे दण्ड के भागी होंगे। क्योंकि ऐसा करने से उनका पक्ष कमजोर हो जाता है। कौटिल्य के अनुसार विवाद की राशि से पाँच गुना तक दण्ड परोक्तदोष के लिए किया जा सकता हैं। परोक्त दोष निम्नलिखित आठ दशाओं में उपस्थित होता है।[२०] जैसे-

१.वक्तव्य देते समय प्रसङ्ग की बात छोड़कर अन्य बात करना।

२.पूर्व में कही गई बात का बाद में स्वयं ही खंड़न करना।

३.बार-बार अन्य व्यक्ति से संपत्ति लेने का आग्रह करना।

४.न्यायाधीश या न्यायालय के पूछने पर भी तथ्य को न बताना।

५.जो प्रश्न पूछा जा रहा हो, उसका उत्तर न देकर अन्य बातें करना।

६.पहले कोई बात कह देना, फिर उसके विपरीत 'ऐसा नहीं है' कहना।

७.अपने साक्षियों की बातों को स्वीकार न करना।

८.साक्षियों से एकान्त में बातें करना।

इस प्रकार से यदि वादी या प्रतिवादी ऐसी प्रतिक्रिया करता है तो वह दण्ड का भागी होगा और इसका रखा हुआ पक्ष भी बेकार माना जायेगा। कौटिल्य के अनुसार 'वादी को किसी प्रश्न का उत्तर पूछे जाने पर उसका उत्तर तुरन्त देना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह हारा हुआ माना जायेगा।'[२१]

प्रतिवादी को अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक, तीन या सात दिन का समय दिया जाता था। यदि प्रतिवादी इससे अधिक समय लेता था तो उसे तीन पण से बारह पण तक प्रतिदिन के हिसाब से दण्ड देना पड़ता था-**'तस्याप्रति बुवतस्त्रिरात्रं सप्तरात्रमिति'**।[२२]

इस प्रकार ४५ दिन से अधिक समय नहीं दिया जा सकता था। इससे अधिक समय बीत जाने पर प्रतिवादी को परोक्त दोष से दूषित मान लिया जाता था। तथा वादी को प्रतिवादी की सम्पत्ति में से वह राशि प्राप्त करने के अनुमति प्रदान की जाती थी। जिसके लिये उसने वाद प्रस्तुत किया।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में साक्षी की महत्ता को भी उपस्थित किया है और कहा है कि बिना साक्षी के

---

१९. अर्थशास्त्र-४,९,३६-३८
२०. अर्थशास्त्र--३, १, २१-३०
२१. अर्थशास्त्र-३, १, ३९
२२. अर्थशास्त्र-३,१, ४१

वादी या प्रतिवादी अपनी बात की सत्यता का आग्रह करे तो दण्ड देय राशि का १०वाँ भाग होना चाहिए।

'परोक्तदण्ड पञ्चबंध:। स्वयंवादिदण्डो दशबंध:।।[२३]

जो व्यक्ति साक्षी के लिए बुलाये जाते थे, उन्हें यात्रा-व्यय इत्यादि दिये जाते थे। जो पक्षवाद हार जाता था, ये व्यय उसी पर पड़ते थे।

कौटिल्य ने साक्ष्य को लिखित प्रमाण, साक्षी प्रमाण और भोग (कब्जा) प्रमाण तीन श्रेणियों में विभक्त किया हैं। इन प्रमाणों की सत्यता के लिए उन्होंने अनेक साधन और उपायों का विधान बताया है। उनके अनुसार साक्षी विश्वसनीय, ईमानदार और प्रतिष्ठित होना चाहिए।[२४] तीन साक्षियों का होना आवश्यक था, उनमें से दो साक्षी दोनों को स्वीकार होने चाहिये थे-**पक्षानुमतौ च द्वौ।**[२५]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित है कि निम्न व्यक्तियों की साक्षी नहीं ली जा सकती थीं[२६]

१.स्याल-पत्नी का भाई

२.सहाय-जिसके पक्ष में साक्षी देनी हो उसक नौकर

३.आबद्ध-कैदी या जो किसी के वश में हो

४.बैरी-शत्रु

५. किसी पर आश्रित

६.धृतदण्ड-सजा प्राप्त

७.धारणिक-वादी या प्रतिवादी का ऋणी इयादि।

साक्षी देने से पूर्व को साक्षी देने वाले को शपथ लेनी होती थी। महत्त्वपूर्ण अभियोग में साक्षियों के अतिरिक्त गुप्तचरों द्वारा भी वाद की सत्यता का पता लगाने का निर्देश कौटिल्य ने दिया है।[२७]

कौटिल्य ने अन्य आचार्यों का मत व्यक्त करते हुए लिखा है कि विवाद उत्पन होने पर न्यायालय की शरण में जो आता हैं उसे सच्चा समझना चाहिए, क्यों कि वह दु:ख सहन करने में विवश होकर ही न्यायालय की शरण में आता हैं। किन्तु स्वयं आचार्य कौटिल्य का मानना है कि न्यायालय मे पहले या पीछे आने का कोई महत्त्व नहीं है, जो व्यक्ति साक्ष्य और तथ्यों द्वारा सच्चा प्रमाणित हो उसे ही सच्चा समझना चाहिए।[२८]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में अन्त में न्यायप्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि पुरातन आचार्यो का मत है कि विवाद को हुए अधिक समय बीत जाने पर न्यायालय में वाद प्रस्तुत नहीं करना चाहिए। लेकिन कौटिल्य का मत है कि अपकारी को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए, विवादित घटना चाहें कितनी ही पुरानी क्यों न हो, प्रमाणित होने पर दोषी को सामने लाना चाहिए। और उसको दण्ड मिलना

---

२३. अर्थशास्त्र-३, १, ३१-३२

२४. अर्थशास्त्र-३, १, ३२

२५. अर्थशास्त्र-३, ११, ३३

२६. अर्थशास्त्र-३, ११, ३५

२७. अर्थशास्त्र-३, १, ५९

२८. अर्थशास्त्र-३, १९, ३०-३२

ही चाहिए।[२९]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित न्याय-प्रक्रिया की वर्त्तमान परिप्रेक्ष्म में महत्ता-

कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में जिस न्याय-प्रक्रिया का वर्णन किया गया हैं। उसकी आज के समय में भी प्रासंगिकता है। वह प्रक्रिया आज के समय में भी उतनी ही सार्थक एवं आवश्यक है जितनी उस समय थी। यही कारण है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णित न्यायप्रक्रिया की वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में एक महत्त्वपूर्ण महत्ता सिद्ध हुई है। जिसको हम कतिपय अग्रलिखित नियम एवं विधानों के साथ सिद्ध कर सकते हैं। जिनका वर्णन निम्न लिखित है-

१.सर्वप्रथम कौटिल्य ने अपनी न्याय प्रक्रिया में कर्त्तव्य पालन और चरित्र की कठोरता पर अत्यधिक बल दिया है। वर्त्तमान समय में भी ये दोनों ही गुण अत्यधिक आवश्यक हैं। यदि आज सभी व्यक्ति अपने अपने कर्त्तव्यों का सम्यक् निर्वाह करें, उसमें प्रमाद न करें, और यदि चारित्रिक रूप से वे दृढ़ रहें तो अपराधों की संख्या आधी से भी कम रह जायेगी।

२.कौटिल्य ने न्याय के लिए विभिन्न स्तरों पर अनेक प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है। सबसे छोटे न्यायालय ग्रामों के थे। इन न्यायालयों को कुछ मामलों में न्याय के अधिकार प्राप्त थे। इनमें राजा की ओर से न्यायाधीश नियुक्त नहीं किये जाते थे, अपितु इनमें ग्रामिक ग्रामवृद्धों के साथ मिलकर न्याय सबन्धी कार्य करते थे। विवादित विषय पर ग्राम के धार्मिक पुरुषों की अनुमति लेकर निर्णय किया जाता था। इनके विकल्प में पञ्च निर्णय की व्यवस्था की जाती थी। इनमें निर्णय नहीं होने पर राज्य हत्तक्षेप कर सम्पत्ति अपने हाथ में ले लेता था। ग्राम सीमा सम्बन्धी विवाद पर दोनों ग्रामों के ग्रामिक अथवा पञ्चग्रामी या दशग्रामी मिलकर निर्णय देते थे।

सीमा विवादं ग्रामयोरुभयो: सामन्ता: पञ्चग्रामी।
दशग्रामी वा सेतुभि: स्थावरै: कृत्रिमैर्वा स्यात्॥[३०]

ग्राम न्यायालय के ऊपर संग्रहंण न्यायालय (दस गाँवों का प्रधानभूत केन्द्रस्थान,) द्रोणमुख न्यायालय (चार सौ गांवों का प्रधानभूत स्थान) और स्थानीय न्यायालय (आठ सौ गाँवों का प्रधानभूत स्थान) इत्यादि अपेक्षाकृत बड़े न्यायालय होते थे। इन न्यायालयों में तीन-तीन धर्मस्थ साथ-साथ रहते हुए व्यवहार सम्बन्धी कार्यो का प्रबन्ध करत्ते थे।[३१]

इस प्रकार कौटिल्य ने ग्राम न्यायालय, संग्रहण न्यायालय द्रोणमुख न्यायालय तथा स्थानीय न्यायालय का बखूबी उल्लेख किया है। कौटिल्य ने इन सभी न्यायालयों के अतिरिक्त न्याय की सर्वोच्च सत्ता के रूप में राजा का उल्लेख किया हैं। यह व्यवस्था शीघ्र व सरल न्यायप्रक्रिया की और संकेत करती है। वर्त्तमान में न्याय प्रक्रिया की सबसे बड़ी कमी है-मुकदमों का लम्बित होना। हमारे देश के न्यायालयों में हजारों की संख्या में मुकद्दमे पंजीकृत हैं लेकिन उन मुकदमों में सिवाय तारीख पड़ने के कुछ ओर नहीं होता और इसी कारण सामान्यत: लोग न्यायालय में जाना नहीं चाहते। यदि कौटिल्य कालीन व्यवस्थानुसार प्रत्येक

---

२९. अर्थशास्त्र-३, १९, २८-२९
३०. कौटिल्य अर्थशास्त्र-३, ९ ,११
३१. कौटिल्य अर्थशास्त्र-३, १

पाँच या दस ग्राम का अपना-अपना न्यायालय हो तो हम एक सार्थक न्याय व्यवस्था की कल्पना कर सकते हैं।

३.कौटिल्य ने न्यायाधीशों के शुद्ध आचरण पर बल दिया है, इनके अनुसार न्यायाधीशों के पद पर राजा को उन अमात्यों की नियुक्ति करनी चाहिये जो धर्मप्रलोभन के द्वारा शुद्ध चरित्र सिद्ध किये हुए हो और भ्रष्टाचार या नियम विरुद्ध कार्य करने पर पदचयुत करने की व्यवस्था भी की हैं। वर्त्तमान समय में भी यदि इस तरह की व्यवस्था के आधार पर न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाये तो आज की न्यायप्रक्रिया में लोगों का विश्वास और भी हढ़ तथा बलवती होगा।

४.कौटिल्य ने न्यायप्रक्रिया में सभी को समान माना है व नीचे के न्यायालयों की अपील ऊपर के न्यायालय में करने का प्रावधान किया है। हमारे संविधान में भी सभी को समान माना गया है व जिला न्यायलयों के निर्णय की अपील उच्च न्यायालय में करने का प्रावधान किया गया है।

५.कौटिल्य ने न्यायप्रक्रिया में परोक्त दोष व दण्ड की चर्चा की हैं। इस दोष के द्वारा कौटिल्य ने वादी-प्रतिवादी के आचरण को नियन्त्रित किया हैं। वर्त्तमान समय में भी ऐसी कोई व्यवस्था अपना कर वादी प्रतिवादी के आचरण को नियन्त्रित कर न्यायालय के समय को बर्बाद होने से बचाया जा सकता है।

६.कौटिल्य ने कुछ व्यक्तियों की साक्षी को निषिद्ध किया है, इस व्यवस्था द्वारा उन्होंने साक्षी को अधिक विश्वसनीय बनाया है।

इस प्रकार कौटिल्य ने एक पूर्ण, समुचित एवं व्यावहारिक न्याय प्रक्रिया या व्यवस्था का वर्णन किया है। जिसकी आज के वर्त्तमानिक संदर्भ में भी उपादेयता है। परिस्थितियों एवं देशकाल के परिवर्त्तन के कारण उसमें से कुछ व्यवस्थायें हलांकि आज लागू नहीं हो सकती, लेकिन अधिकांश व्यवस्थायें ऐसी हैं जो आज भी उतनी ही सार्थक, सफल एवं आवश्यक हैं जितनी उस में समय थी। इसीलिए यह कहना कोई गलत नहीं होगा कि कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र में वर्णित न्याय प्रक्रिया वर्त्तमानिक परिप्रेक्ष्य में अपना एक अहम् महत्ता, एवं उपादेयता रखती है। जिसको यदि आज अपनाया जाये तो आज की न्याय व्यवस्था में जो कतिपय दोष आ गये है उनसे छुटकारा पाया जा सकता है और हम समाज को एक स्वस्थ सुदृढ़ उत्तम एवं निष्पक्ष न्यायप्रक्रिया से मुहैया करा सकते हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१४७-१५२) ISSN 0974 – 8830

वाल्मीकि रामायण में यमों का स्वरूप

प्रो. ईश्वर भारद्वाज[1]

व्याकरण की दृष्टि से यम शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से मानी जाती है-'यम उपरमे' और 'यमु बन्धनें'। ब्रह्म में उपरमण की स्थिति प्राप्त कराने वाले साधन या ऐसे बन्धन जिनका सामाजिक दृष्टिकोण से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, वे यम कहलाते हैं। **यम्यते नियम्यते चित्तमनेन इति यमः** अर्थात् चित्त को वश में करने वाले साधनों का नाम यम है। सामाजिक व्यवस्था में सहायक होने से यमों को सार्वकालिक, सार्वभौमिक तथा सार्वजनीन महाव्रत कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि योगसूत्र में लिखते हैं-**जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।**[2] अर्थात् गौ आदि जाति, देश अर्थात् स्थान (हरिद्वार, तीर्थ स्थान, देवालय आदि), काल (प्राणहरण के समय, पूर्णिमा आदि समय, सुबह का समय, शाम का समय आदि) की सीमा से रहित सब कालों में, सब परिस्थितियों में और सब स्थानों पर तथा सभी समय यमों का पालन नितान्त अनिवार्य है। जिस समाज में या राष्ट्र में यम रूपी महाव्रतों का पालन होता है, वह समाज, वह राष्ट्र उंन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है। इसमें लेश मात्र भी संदेह नहीं है।

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार यमों की संख्या पाँच मानी गयी है-**अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः।**[3] अर्थात्-(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य तथा (५) अपरिग्रह-ये पाँच यम कहलाते हैं। अन्य कुछ ग्रन्थों में यमों की संख्या दस तथा बारह भी बतायी गई है, किन्तु इस सब का समावेश इन पाँचों में ही हो जाता है।

१. अहिंसा

क्रोध, मोह, काम आदि मनोवृत्तियों के वशीभूत होकर किसी जीव को शारीरिक, वाचिक, मानसिक अथवा किसी भी प्रकार से कष्ट देना हिंसा कहलाती है तथा इसके ठीक विपरीत स्थिति का नाम अहिंसा है अर्थात् सर्वदा सभी प्राणियों के साथ वैरभाव छोडकर प्रीति से व्यवहार करना अहिंसा है। यदि किसी व्यक्ति को चोरी आदि अशुभ कर्म करने पर उसके सुधार के लिए और अन्यों के उपकार के लिए उचित दण्ड दिया जाये तो वह अहिंसा है, हिंसा नहीं। माता-पिता, आचार्य आदि बालक-बालिकाओं को उनके दोष दूर करने तथा उनको गुणवान बनाने के लिए उचित दण्ड देते हैं तो वह भी अहिंसा ही है, हिंसा नहीं। अहिंसा यमों की मूल है। इसीलिए अहिंसा को परम धर्म कहा गया है।

हिंसादि के विचार को उत्पन्न होने पर उनके प्रतिपक्ष की भावना करनी चाहिए, जैसे हिंसा की भावना आते ही दया की वृत्ति को उत्पन्न करना ही अहिंसा का द्योतक है। इसी प्रकार क्रोध की वृत्ति का उदय होने पर शान्ति का चिन्तन करना चाहिए।

जिस साधक के जीवन में अहिंसा प्रतिष्ठापित हो जाती है, उसके समीप में आकर हिंसक प्राणी भी

---

१. प्रोफेसर एवं अध्यक्ष योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२. योगसूत्र-२/३१
३. योगसूत्र-२/३०

अपना वैरभाव छोडकर अहिंसक स्वभाव वाले हो जाते हैं। प्राचीन समय में ऋषि-मुनियों के आश्रमों के इसी प्रकार के वर्णन मिलते हैं। प्रत्येक व्यक्ति कष्टों से घबराता है और उनसे बचना भी चाहता है। इसलिए सभी प्राणियों को आत्मवत् ही समझना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति प्राणिमात्र में अपने स्वरूप का दर्शन करता है तो वह कभी किसी से वैर, द्वेष नहीं कर संकता। यही भावना अहिंसा का मूल है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं- **'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:'** अर्थात् अहिंसा की सिद्धि प्राप्त होने पर साधक के सम्पर्क में आने वाले सभी प्राणियों का वैरभाव शान्त हो जाता है।

रामायण महाकाव्य मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के जीवन वृत्त पर आधारित कालमयी कृति है। इसमें मानव को देवत्व तक पहुँचाने वाले गुणों को धारण करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। मुख्य रूप से यदि यमों के वर्णन को ही लें तो ये गुण ही पर्याप्त हैं तथा समस्त गुणों का आधार हैं।

रामायण में अहिंसा का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। अरण्यकाण्ड में सीता श्रीराम को कहती है कि हे आर्यपुत्र! इस संसार में कामजन्य तीन व्यसन हैं-मिथ्या भाषण, परस्त्रीगमन तथा दूसरों को कष्ट पहुँचाना।[४] यह दूसरों को पीड़ा देने वाला भाव ऋषियों की रक्षा के लिए धारण किया है, उसे छोड़ दीजिए। धनुष तो दुखियों की रक्षा के लिए धारण किया जाता है।[५] श्रीराम स्वयं जाबालि को कहते हैं कि धर्मरत, सज्जनों की संगति करने वाले, तेजस्वी, दानशील, अहिंसक व निर्मल मन वाले मुनि ही पूज्य हैं।[६]

(२) सत्य

जो पदार्थ जैसा हो, उसके सम्बन्ध में वाणी तथा मन में वैसा ही होना सत्य है। जिस प्रकार देखा, अनुमान किया और सुना हो, वैसा ही वाणी से कहना तथा मन में धारण करना सत्य कहलाता है। किन्तु यह वाणी संसार के समस्त प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी होनी चाहिए। कहा गया है कि **सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्** अर्थात् सत्य बोलो, लेकिन मधुरता से युक्त होकर बोलो, जिसमें सभी का कल्याण निहित हो, यही हितदृष्टि विद्वानों को प्रयत्न रही है।

वेद में कहा गया है कि **वाचं वदत भद्रया** अर्थात् वाणी से सदैव भद्र (कल्याणकारी) ही बोलो। यदि सत्य बोलने से सुनने वाला लाभान्वित नहीं होता तो ऐसी स्थिति में मौन रहना ही सही है। इसलिए जो वस्तु जैसी है, उसको वैसी ही जानना, मानना तथा हित के लिए बोलना साथ ही आचरण में लाना सत्य है।

महर्षि पतञ्जलि ने सत्य की महत्ता को दर्शाते हुए लिखा है-**सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।** जीवन में सत्य के प्रतिष्ठित हो जाने पर, व्यक्ति द्वारा किए गए कर्म का फल भी व्यक्ति के ही आश्रित हो जाता है। ऐसे व्यक्ति द्वारा सोचा गया, कहा गया तथा किया गया प्रत्येक कार्य पूर्णता को प्राप्त होता है।

रामायण भी सत्यपालन पर बल देती है। श्रीराम जाबालि को कहते हैं-सत्य का पालन ही राजाओं का प्रधान धर्म है। सत्य में ही सब लोक प्रतिष्ठित हैं।[७] ऋषियों और देवताओं ने सदा सत्य का ही आदर किया

---

४. त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत। मिथ्या वांक्यं तु परमं तस्माद् गुरुतरावुभौ॥ परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता॥ वा०रा०अर० ९/३,४

५. क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्। धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्॥ वा०रा०अर० ९/२६

६. धर्मे रता: सत्पुरुषै समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधाना:। अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनय: प्रधाना:॥ वा०रा०अयो० १०९/३६

७. सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्। तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोक: प्रतिष्ठितम्॥ वा०रा०अयो० १०९/१०

है। सत्यवादी ही इस लोक में अक्षय परम धाम को जाता है।[८] असत्यभाषी व्यक्ति से सर्प की तरह लोग भयभीत होते हैं। सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है।[९] सत्य ही ईश्वर है। सत्य से बढ़कर कोई पद नहीं है।[१०] दान, यज्ञ, होम, तपस्या तथा वेद सभी का आधार सत्य ही है। अत: सत्यपरायण होना चाहिए।[११] श्रीराम कहते हैं कि मैं सत्य की प्रतिज्ञा पर दृढ़ हूँ तथा पिता के आदेश का पालन अवश्य ही करूँगा।[१२] पृथ्वी, कीर्ति, लक्ष्मी, सत्य का पालन करने वाले पुरुष की प्राप्ति की इच्छा रखती हैं। अत: सत्य का पालन ही करणीय कर्म है।[१३]

(३) अस्तेय

मन, वाणी और क्रिया से चोरी का परित्याग करना अस्तेय कहलाता है। अन्यायपूर्वक किसी के द्रव्यादि का ग्रहण करना स्तेय (चोरी) है तथा इसके विपरीत अवस्था का नाम अस्तेय (चोरी न करना) है। यहाँ पर द्रव्य से तात्पर्य केवल धन से नहीं है अपितु अपने से कमजोर को दबाना, अधिकार छीनना, कर्त्तव्य अपूर्णता, रिश्वत लेना, मिलावट करना आदि सभी स्तेय अर्थात् चोरी के अन्तर्गत आते हैं। इसलिए मिट्टी हो या सोना किसी भी पदार्थ को अनधिकार रूप से ग्रहण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। वेद का स्पष्ट आदेश है-**'मा गृध: कस्य स्विद्धनम्'**[१४] अर्थात् धन का लालच मत करो। यह धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं। अस्तेय सिद्ध व्यक्ति की यह पहचान होती है कि वह अन्य के धन पर ललचाई दृष्टि नहीं रखता। ऐसा व्यक्ति ईमानदार होता है और अपने परिश्रम पर ही भरोसा करता है। इसलिए समाज में लोग इस पर विश्वास करते हैं तथा ईश्वर द्वारा भी इसे विद्या, बल और उत्साह की प्राप्ति होती है। परिश्रम की कमाई होने से वह व्यक्ति तथा उसके पारिवारिक जन भी व्यसनों आदि में धन का दुरुपयोग नहीं करते हैं। परिणामस्वरूप उसको सभी आवश्यक उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती रहती है। जैसा कि योगसूत्र में कहा गया है-**'अस्तेय-प्रतिष्ठायां सर्वैश्वर्योपस्थानम्'**।[१५] अर्थात् जिसके जीवन में अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाती है, उसके पास में सभी ऐश्वर्य आकर उपस्थित हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन में कोई भी पदार्थ अप्राप्त नहीं रहता है। इसलिए अस्तेय का योग साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रामायण में श्रीराम को राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास गमन का समाचार जानकर लक्ष्मण क्रोधित होकर बोले-हे राजन्! जब तक कोई अन्य आपके वनवास के समाचार को नहीं जानता, तब तक मेरे सहयोग से आप इस राज्य पर अधिकार कर लें।[१६] यदि पिता भी विरोध करें तो उन्हें कैद कर लेना या मार देना चाहिए।[१७] किन्तु श्रीराम कहते हैं कि हे लक्ष्मण! केवल क्षात्रधर्म की तुच्छबुद्धि का त्यागकर धर्म का

---

८. ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेवहिमेनिरे। सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्॥ वा०रा०अयो० १०९/११
९. उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिन:। धर्म सत्यपरोलोके मूढं सर्वस्य चोच्यते॥ वा०रा०अयो० १०९/१२
१०. सत्यमेवेश्वरो सत्ये धर्मे सदाश्रित:। सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥ वा०रा०अयो० १०९/१३
११. दत्तमिष्टं हुतं तप्तानि च तपांसि च। वेदा: सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत्॥ वा०रा०अयो० १०९/१४
१२. सोऽहं पितुर्निर्देशं तु किमर्थं नानुपालये। सत्यप्रतिश्रव: सत्यं सत्येन समयीकृतम्॥ वा०रा०अयो० १०९/१६
१३. भूमि: कीर्तिर्यशो लक्ष्मी: पुरुषं प्रार्थयन्ति हि। सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् तत:॥ वा०रा०अयो० १०९/२२
१४. यजु०४०.१
१५. योगसूत्र-२/४१
१६. यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नर:। तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम्॥ वा०रा०आ० २१/८
१७. प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि न: पिता। अमित्रभूतो नि:सङ्गं वध्यतां वध्यतामपि॥ वा०रा०आ० २१/१२

आश्रय लेकर कठोरता छोड़ो और मेरे अनुकूल काम करो।[१८] केवल धर्महीन राज्य के लिए मैं महान् फलदायक धर्म पालन रूप सुयश को पीछे नहीं ढकेलूँगा। यह जीवन ज्यादा रहने वाला नहीं है, अतः इसके लिए अधर्मपूर्वक पृथ्वी का राज्य भी नहीं लेना चाहता।[१९] उक्त वक्तव्य से श्रीराम की अस्तेयवृत्ति का बोध होता है।

(४) ब्रह्मचर्य

ब्रह्म के शाब्दिक अर्थ हैं-वेद, ईश्वर और वीर्य अर्थात् वेदों को पढ़ना, ईश्वर की उपासना करना तथा वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ऋषि ने लिखा है-**'ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः'** अर्थात् जितेन्द्रिय रहकर उपस्थेन्द्रिय का संयम करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। मनुष्य की उन्नति के लिए यह उत्कृष्ट तप है। योगाभ्यास तप के बिना नहीं हो सकता और तप वीर्यहीन नहीं कर सकता। शरीर की सप्त धातुओं-रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा वीर्य में अन्तिम वीर्य सर्वाधिक सूक्ष्म, शक्तिशाली और तेजस्वी होता है। यह फूल के अर्क तथा धातु की भस्म के समान कम मात्रा में भी अत्यधिक प्रभावशाली होता है। इसके द्वारा शरीर में शक्ति, स्फूर्ति और ओज आते हैं। इससे शीत-उष्ण, दु:ख-दर्द, भूख-प्यास आदि सहन करने में सहायता मिलती है। वीर्य जहाँ शारीरिक शक्ति का कारण होता है, वहीं इससे बुद्धि का भी विकास होता है। योग साधक के लिए ब्रह्मचर्य के बिना योगाभ्यास करना सम्भव नहीं है।

पुरुष के लिए नारी का स्मरण, उनकी चर्चा करना, उनके साथ खेलना-कूदना, कामुक दृष्टि से उन्हें देखना, एकान्त में गुप्त बातें करना, नारी प्राप्ति का संकल्प करना, इस कामना को पूर्ण करने का प्रयास करना तथा सहवास करना-ये आठों प्रकार के कर्म अष्टधा मैथुन कहलाते हैं, जिनका सर्वथा परित्याग करके शुक्र अर्थात् वीर्य की रक्षा करनी चाहिए। वीर्य रक्षा की सिद्धि होने के पश्चात् सब कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार नारी के लिए पुरुष के संदर्भ में समझना चाहिए।

वीर्य समस्त शरीर में इस प्रकार व्याप्त है जैसे दूध में मक्खन व ईख में गुड़। इसी कारण ब्रह्मचारी का सम्पूर्ण शरीर पुष्ट तथा उसकी बुद्धि विलक्षण हो जाती है। वीर्यहीन व्यक्ति के शरीर व बुद्धि दोनों का नाश हो जाता है।

वास्तव में ब्रह्मचारी वह होता है जिसका वीर्य स्वप्न में भी स्खलित न हो। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को तीन प्रकार के ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है। पहला-बौद्धिक तथा मानसिक ब्रह्मचर्य, अर्थात् किसी भी प्रकार से रति-भावना, मन बुद्धि में उत्पन्न न होने देना। दूसरा वाचिक ब्रह्मचर्य अर्थात् कामोत्तेजना उत्पन्न करने वाले गीत, वार्तालाप आदि से बचना। तीसरा शारीरिक ब्रह्मचर्य अर्थात् रतिक्रिया का सर्वथा त्याग करना। संक्षेप में यह कहना उपयुक्त होगा कि ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वीर्य रक्षा तक ही सीमित नहीं है अपितु निम्नकोटि के व्यवहारों का त्याग करके महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना ही ब्रह्मचर्य है। पतञ्जलि कहते हैं-**'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'** अर्थात् ब्रह्मचर्य की सिद्धि हो जाने पर विशेष बल की प्राप्ति होती है।

---

१८. तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्। धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्।। वा०रा०आ० २१/४४

१९. यशो ह्यहं केवल राज्यकारणान्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम्। अदीर्घकालेन तु देवि जीविते वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः।। वा०रा०आ० २१/६३

ब्रह्मचर्य की पुष्टि के लिए अनेक स्थल हैं। सीता जी कहती हैं कि मिथ्याभाष्य, परस्त्रीगमन व क्रूरता तीन मुख्य व्यसन हैं।[२०] मिथ्या भाषण तो न कभी किया है, न होगा। परस्त्रीविषयक अभिलाषा तो हो ही कैसे सकती है? धर्म को नष्ट करने वाली यह अभिलाषा आपके मन में न कभी हुई है, न होगी। आप अपनी धर्मपत्नी में अनुरक्त रहने वाले धर्मनिष्ठ, सत्य प्रतिज्ञ हैं।[२१] शूर्पणखा जब श्रीराम या लक्ष्मण के प्रति प्रणय निवेदन करती है, तो दोनों ही ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित होने की स्थिति का बोध कराते हैं तथा अस्वीकार करके उसे भेज देते हैं। बालकाण्ड नवम सर्ग में ऋष्य शृंग के प्रसङ्ग में दोनों प्रकार के ब्रह्मचर्य का वर्णन किया गया है-प्रथम दण्ड, मेखला आदि धारण रूप मुख्य ब्रह्मचर्य तथा दूसरा ऋतुकाल में पत्नी समागम रूप गौण ब्रह्मचर्य।[२२] इस प्रकार रामायण में ब्रह्मचर्य का वर्णन भी प्राप्त होता है।

(५) अपरिग्रह

ग्रह उपादाने धातु से 'परि' उपसर्गपूर्वक परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति होती है जिसका अर्थ होता है-ग्रहण करना। इसके विपरीत अपरिग्रह का अर्थ है किसी भी प्रकार ग्रहण न करना। सरल भाषा में कहें तो आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह न करना ही अपरिग्रह है।

दूसरे शब्दों में भोग सामग्री को अपनी आवश्यकता से अधिक केवल निजी स्वार्थ हेतु संचित न करना अपरिग्रह कहलाता है। आवश्यकता से अधिक संचय करने वाला दण्ड का भागी होता है। व्यास जी कहते हैं कि विषयों के अर्जन, उनके रक्षण तथा क्षय व संग करने में हिंसादि दोषों के होने के कारण उन समस्त पदार्थों को ग्रहण न करने की भावना अपरिग्रह है।

योगसूत्र में कहा गया है-**'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता संबोधः'** अर्थात् अपरिग्रह की सिद्धि हो जाने पर साधक को अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है। यदि अपरिग्रह की भावना का विस्तार सर्वत्र हो जाये तो संसार से भुखमरी, अभाव आदि की समस्या हमेशा के लिए समाप्त हो सकती है।

रामायण में अपरिग्रह विषय का वर्णन भी प्राप्त होता है। वन गमन के समय श्रीराम सीता को आदेश देते हैं कि ब्राह्मणों को उत्तम वस्तुएँ दान करो। भिक्षुकों को भोजन दो। बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र, रमणीय पदार्थ, मनोरंजन की सामग्री, उत्तम शय्या, सवारियाँ तथा अन्य वस्तुओं को ब्राह्मणों को देने के बाद सेवकों में बांट दो।[२३]

महर्षि पतञ्जलि ने उपयुक्त यमों को प्रत्येक देश, काल समय में सभी जाति (योनि) के प्राणियों के प्रति किया जाने वाला सार्वभौम महाव्रत माना है। इससे यमों की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध हो जाती है। योग साधना में यमों का महत्त्वपूर्ण योगदान है क्योंकि साधक जैसे-जैसे यमों का पालन करता है, वैसे-वैसे ही उसकी आसुरी वृत्तियों का शमन तथा दैवीय वृत्तियों का विकास होता है, जिससे उसे मानसिक शान्ति प्राप्त

२०. त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत। मिथ्यावाक्यं तु परमं तस्माद् गुरुतरावुभौ॥ परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता। मिथ्यावाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव॥ वा०रा०अर० ९/३,४
२१. कुतोऽभिलषणं त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्। तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत ते कदाचन॥ मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचिद्। स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज॥ वा०रा०अर० ९/५,६
२२. द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः॥ वा०रा०बाल० ९/५
२३. भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च। रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः॥ शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च। देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम्। [illegible]

होती है। कोई भी व्यक्ति यमों का पालन करके जीवन में सुखी, धार्मिक तथा समाज में प्रतिष्ठित होने के साथ-साथ योग साधना में प्रवृत्त हो सकता है। अतः वाल्मीकि ने भी अपने इस कालजयी ग्रन्थ में यमों को अपने मुख्य पात्रों में धारण कराकर इनकी सामाजिक उन्नति हेतु आवश्यकता को प्रतिपादित किया है। इन गुणों के कारण कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को संसार में सार्थक कर सकता है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण जन-जन के लिए महत्त्वपूर्ण बन गयी है।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ० १५३-१५६) ISSN 0974 – 8830

श्रीमद्भगवद्गीता में लोकसंग्रह एवं महाभारत युद्ध

प्रो० मनुदेव बन्धु[1]

गीता एक विश्वविश्रुत सर्वमान्य एवं सामान्यजन सुलभ स्वल्पकाय ग्रन्थ है। विश्व के सभी देशों के सभी मनीषियों ने इसको सम्मान की दृष्टि से देखा तथा इसके अगाध ज्ञानसलिल में निमज्जन कर अपने आपको लाभान्वित एवं कृतार्थ किया।[2] निराश और हताश व्यक्ति के लिये यह ग्रन्थ गुरु की तरह मार्ग दर्शक का कार्य करता है। इसके महत्त्व का परिज्ञान इसी से हो जाता है कि इस ग्रन्थ पर सबसे अधिक भाष्य तथा व्याख्या ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। आज भी इस पर शोधकार्य चल रहा है।

गीता का यह वचन कितना सार्थक और प्रेरणादायक है कि मनुष्य किसी भी परिस्थिति में हो उसे अपने धर्म (कर्म) का पालन अवश्य करना चाहिये। जो मनुष्य शुद्धचित्त होकर प्रेमपूर्वक इस पवित्र गीताशास्त्र का पाठ करता है वह भय और शोक आदि से रहित होकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य सदा गीता का पाठ करने वाला है, उसके इस जन्म और पूर्वजन्म में किये हुए समस्त पाप निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। जल में प्रतिदिन किया हुआ स्नान मनुष्यों के केवल शारीरिक मल को नष्ट करता है, परन्तु गीता-ज्ञानरूप जल में एक बार भी किया हुआ स्नान संसार-मल को नष्ट करने वाला है। इसका उपदेश युद्ध के प्राङ्गण में श्रीकृष्ण जी ने किया है। गीता का अर्थसहित स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिये। जो महाभारत का अमृतोपम सार है तथा जो भगवान् श्रीकृष्ण के मुख से प्रकट हुआ है, उस गीतारूपी गंगाजल को पी लेने पर पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेना पड़ता। सम्पूर्ण उपनिषदें गौ के समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुहने वाला है, अर्जुन बछड़ा है तथा महान् गीतामृत ही उस गौ का दुग्ध है और शुद्ध बुद्धिवाला श्रेष्ठ मनुष्य ही इसका भोक्ता है। देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीताशास्त्र ही एकमात्र उत्तम शास्त्र है, भगवान् देवकीनन्दन ही एकमात्र देवता हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलना तथा उनके उपदेश का पालन करना हमारा परम कर्त्तव्य है।[3]

लोकसंग्रह

लोकसंग्रह का अर्थ लोकमंगल और लोककल्याण होता है। इसमें चतुर्थी तत्पुरुष समास है। लोकाय संग्रहः—लोकसंग्रहः। संसार के कल्याण के लिये कार्य करना। युद्ध के मैदान में अपने सगे-सम्बन्धियों को देखकर अर्जुन युद्ध न करने की इच्छा करता है। अपने अन्दर वैराग्यभाव लाता है। भीख मांग कर गुजारा

---

१ आचार्य-वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२ श्रीमद्भगवद्गीता-समर्पणभाष्य की शुभाशंसा, स्वामी विवेकानन्द सरस्वती, अध्यक्ष, वर्णाश्रम संघ, टीकरी, मेरठ (उ०प्र०)

३ गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान। विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥ गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च। नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥ मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने-दिने। सकृद्गीताम्मभसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥ गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृताः॥ भारतामृतसर्वस्य विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम। गीतागंगोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत॥ एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव। एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माण्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

करना चाहता है। स्वजनों की हत्या को पाप मानता है। परन्तु अपने क्षात्रधर्म को भूल जाता है। युद्ध में कोई भी योद्धा युद्ध अपने लिये नहीं क़रता अपितु अपने देश की रक्षा के लिये करता है। यदि अर्जुन, दुर्योधन की ओर से लड़ने वालों को नहीं मारेगा तो वे ही अर्जुन को तथा उसकी सेना को मार देंगे। युद्ध में व्यष्टिवाद नहीं चलता। यहाँ पर केवल समष्टि के लिये युद्ध किया जाता है। दुष्टों को यदि क्षत्रिय नहीं मारेगा तब वही दुष्ट सज्जनों को मारेंगे। अत: लोकमंगल की कामना से युद्ध अवश्य करना चाहिये। कर्त्तव्य को छोड़ देना आत्महत्या के समान है। यजुर्वेद का कथन है-

असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृता:।
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जना:।। [४]

अपने धर्म (कर्त्तव्य) का परित्याग करने वाले तथा दु:खों से भागकर आत्महत्या करने वाले मर कर भी घोर अन्धकार में जाते हैं तथा तमोगुणी योनि में उत्पन्न होते हैं।

गीता में लोकसंग्रह-

यज्ञार्थत्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्ग: समाचर।। [५]

हे कौन्तेय (अर्जुन)! यज्ञनिमित्तक कर्म से अन्यत्र और कोई कर्म करे तो मनुष्य कर्म बन्धन में पड़ जाता है। अत: **उस कर्म के बदले में क्या परितोषिक मिलेगा** इस आसक्ति से रहित होकर उसके निमित्त कर्म कर।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता:।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्तेस्तेन एव स:।। [६]

लोकमंगल की भावना से संगठित होकर पूजा किये हुए देव तुम्हें अभीष्ट भोग प्रदान करेंगे। उनके दिये के बदले में उन्हें कुछ दिये बिना जो भोग करता है उसे डाकू समझो। इसी प्रसङ्ग में ऋग्वेद में लिखा है-

मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेता: सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।। [७]

जो अकेला भोजन करता है वह निरा पाप खाता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय:।
लोक संग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्त्तुमर्हसि।। [८]

हे अर्जुन! देखो प्राचीनकाल में जनकादि इतने सिद्धपुरुष हुए हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी उनके पास ज्ञान लेने आते थे। यह सिंद्धि उन्होंने कर्मयोग के बल पर ही प्राप्त की है। फिंर हर मनुष्य को यह भी

४-यजुर्वेद ४०/३, ईशावास्योपनिषद्-३
५-गीता ३/९ सामर्पणभाष्य
६-गीता ३/१२ सामर्पणभाष्य
७-ऋग्वेद १०.११७.६
८-गीता ३/२० सामर्पणभाष्य

विचार कर लेना चाहिये कि मेरे इस आचरण का लोक पर क्या प्रभाव होगा। इस भावना को लोकसंग्रह भावना कहते हैं।

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।। [९]

हे अर्जुन! श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, संसार का साधारण मनुष्य भी वैसा-वैसा ही करता है। जिस वस्तु को प्रमाण मानकर, आदर्श मानकर चलता है, संसार उसी आदर्श का अनुकरण करता है। तुम क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा क्षात्रधर्म है-प्रजा की रक्षा करना। प्रजा की दृष्टि में तुम श्रेष्ठ हो। यदि तुम युद्ध छोड़कर भागोगे तो तुम्हारी प्रजा तुम्हारा अनुकरण करेगी। तुम्हें कायर और अकर्मण्य कहेगी।

न मे पार्थोऽस्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि।। [१०]

हे अर्जुन! मुझे अब तीनों लोकों में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, कोई पद जो मुझे प्राप्त करना था और प्राप्त नहीं कर चुका और उसे पाने के लिये मैं कार्य-कर्म करता हूँ, यह बात भी नहीं है। फिर भी मैं अपने कर्त्तव्यकर्म यथावत् करता ही हूँ।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद् विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। [११]

हे अर्जुन! जिन शुभकर्मों को अविद्वान् लोग फल में आसक्त होकर करते हैं। लोक-संग्रह की इच्छा वाला विद्वान् उन्हें अनासक्त होकर करे। उदाहरण के लिये सन्ध्योपासना आत्मशुद्धि के लिये किया जाता है। परन्तु साधारण पुरुष तो मर्यादापालन, लोक-दिखावा, ख्याति-प्राप्ति आदि भावनायें भी इसमें मिला देते हैं। उधर श्रीकृष्णचन्द्र सरीखे महात्मा लोग तो जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से इस दर्जे तक पहुँच सकते हैं कि उन्हें आत्मशुद्धि के लिये भी सन्ध्योपासना की आवश्यकता न रहे। परन्तु तो भी प्रजा के सामने मर्यादा-पालन का आदर्श स्थापित करने के लिये उन्हें सन्ध्योपासना नहीं छोड़नी चाहिये। यही बात वे अर्जुन से कहते हैं कि इसलिये मैं अपने सब कर्म ठीक-ठीक पालना करता हूँ। अर्जुन का धर्म है-युद्ध करना और दुष्टों का संहार करके प्रजा की रक्षा करना। प्रजा को एक अच्छा सन्देश मिले। प्रजा अर्जुन के आचरण का अनुकरण करे, यही लोकसंग्रह है।

सामर्पणभाष्य का महत्त्व-

अशेष-शेमुषीसम्पन्न वैदिकवाङ्मय के पारदृश्वा विद्वान् स्वनामधन्य स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज (पूर्व में पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार) अद्भुत प्रतिभा एवं प्रगल्भ पाण्डित्य के पर्याय के रूप में विद्वत्समाज में जाने जाते थे। जिस प्रकार भुवन भास्कर के आलोक से द्यौ, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी तीनों लोक आलोकित होते हैं, उसी प्रकार स्वामी जी के अशेष संस्कृत वाङ्मय वैदिक या लौकिक, प्राचीन या अर्वाचीन सभी प्रभासित हुए। जो शब्द या वाक्य, मन्त्र या श्लोक अन्य व्याख्याकारों तथा भाष्यकारों की दृष्टि में अवैदिक,

---

९-गीता ३/२१ सामर्पणभाष्य
१०-गीता ३/२२ सामर्पणभाष्य
११-गीता ३/२५ सामर्पणभाष्य

अमानवीय, अभद्र, अश्लील या ग्राम्य प्रतीत होते थे वे ही स्थल प्रकरण उनकी विलक्षण प्रतिभा से प्रतिभासित होकर ज्ञान-विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा अध्यात्मशास्त्र के रहस्यों के आगार सिद्ध हुए।

स्वामी समर्पणानन्द जी लोकसंग्रह की वास्तविकता के सम्बन्ध में कहते हैं-हे अर्जुन! तुम आज यदि युद्ध नहीं करोगे तो क्षात्रधर्म नष्ट हो जायेगा और संसार का हर भीरु सिपाही युद्धक्षेत्र में वैराग्य का बहाना करके भागना चाहेगा। इसलिये प्रथम तो क्षात्र-धर्म का त्याग स्वयम् उचित नहीं, फिर तुम इतने बड़े पद पर प्रतिष्ठित हो तथा ऐसे उच्च राजवंश में जन्मे हो कि तुम्हारी देखा-देखी सब ही सन्मार्ग को छोड़कर मैदान से भागने लगेंगे। इसलिये लोक-संग्रह की भावना से भी तुम्हें युद्ध करना आवश्यक है।[१२]

लोभवश अथवा मोहवश क्षणिक रूप से स्वीकार किया हुआ परधर्म चाहे उसका क्षणिक नाटक कितना भी सुन्दर क्यों न हो तो भी अच्छा नहीं है और अग्नि साक्षिक यज्ञोपवीत काल में व्रतधारणपूर्वक लिया हुआ तथा गुरुकुल में निरन्तर अभ्यास द्वारा सुदृढ़ स्वधर्म देखने में बेडौल भी हो तो भी स्थायी होने के कारण उस क्षणिक क्षणभंगुर नाटक से अच्छा है। आज यदि रणक्षेत्र में युद्ध करते हुए तेरी मृत्यु भी हो जाये तो अच्छी, क्योंकि वह स्वधर्मपालनार्थ हुई है। और यह जो वैराग्य के कथावाचक का रूप तूने क्षण भर के लिये धारण किया है; यह तुझ से निभेगा नहीं और सिवाय विडम्बना और जग हंसाई के तुझे कुछ मिलेगा नहीं। इसलिये स्वधर्म में मरना श्रेयान् है और पर धर्म क्षणभंगुर होने के कारण तथा काय-क्लेश-भय से अंगीकार किये जाने के कारण भयावह अर्थात् खतरनाक है।[१३]

आसक्ति का मूलकारण काम और क्रोध को बताया है, इनमें भी कामपूर्ति में व्याघात होने पर क्रोध होता है।[१४] जीवन में काम-क्रोध का परित्याग होना चाहिये। काम-क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। काम-क्रोध से विवेक नष्ट हो जाता है। यह बड़ा सर्वभक्षी है, यह बड़ा पापी है, इसे अपना वैरी जान। काम-क्रोध रूपी शत्रु को तुम बलपूर्वक नष्ट कर दो। लोकसंग्रह के लिये तुम अपने कर्त्तव्य-कर्म निरन्तर करते रहो।[१५] तुम केवल कर्म करो, फल की इच्छा मत करो। निष्कामभाव से किया हुआ कर्म तुम्हारा कल्याण करेगा। तुम कर्म का परित्याग मत करो और कर्म-फल का हेतु मत बनो।[१६]

१२-गीता ३/२० सामर्पणभाष्य

१३-श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परमधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयवाहः। गीता ३/३५ सामर्पणभाष्य

१४-ध्यायतो विषायन् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ गीता २/६२ सामर्पणभाष्य

१५-काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ गीता ३/३७ सामर्पणभाष्य

१६ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ गीता २.४७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ० १५७-१६०) ISSN 0974 – 8830

अर्जुनविषाद का सामाजिक निहितार्थ-वर्तमान आतंकवाद के विशेष परिप्रेक्ष्य में

डॉ. विभा अग्रवाल[1]

अर्जुन का विषाद एक ऐसे अन्तर्द्वन्द्व से उत्पन्न उदासीनता है जिसका उपाय साधारण मनुष्य की बुद्धि की सीमा से परे है। ये एक ऐसा धर्मसंकट है, जिसमें फँसा अर्जुन न क्षत्रिय धर्म निभा सकता है न मानव धर्म, दोनों में श्रेय की हानि है। एक ओर क्षत्रिय धर्म है जो कहता है:-अज्ञानी, अधर्मियों को पराजित करके राज्य को जीत, पृथ्वी एवं प्रजा का कल्याण कर; तो दूसरी ओर मानव धर्म कहता है कि शत्रुपक्ष में खड़े तेरे सम्बन्धी भले ही अज्ञानी हैं, लोभी हैं परन्तु तेरे अपने हैं अत: इन्हें कुलक्षय से होने वाले अध:पतन से बचा और मानवता का कल्याण कर। एक ओर युद्ध तथा हिंसा है तो दूसरी ओर शान्ति और अहिंसा। ऐसी स्थिति में एक बुद्धिजीवी का अहिंसा एवं शान्ति की ओर उन्मुख होना स्वाभाविक है,[2] और विशेष रूप से तब जब विपक्षियों को मारकर किसी अभीष्ट की प्राप्ति दिखाई न दे रही हो।[3]

वस्तुत: अर्जुन की यह चिन्ता एक बुद्धिमान् पुरुष की व्यावहारिक चिन्ता है जो भावुक भी होता है, धार्मिक भी है। अर्जुन एक आसुरी प्रवृत्ति वाला हिंसक पुरुष नहीं है अपितु समाज धर्म, मानव धर्म एवं क्षत्रिय धर्म का अप्रमादेन पालन करने वाला सात्त्विक पुरुष है।[4] यह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का विवेकी है परन्तु युद्धभूमि में स्वजनों को विपक्ष में देखकर उसे ऐसा लगता है जैसे जो धर्म वह अब तक निभाता आया है वह आज उसे छोड़ना पड़ेगा। उसे अपने पूज्य गुरुजनों को मारकर पाप करना पड़ेगा, अपने भाई-बन्धुओं को मारकर कुल का विनाश करना पड़ेगा। वह अनायास कह उठता हैं-

कथं न ज्ञेयमस्माभि: पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।[5]

अर्थात् हे जनार्दन! ये कौरव तो भ्रष्टचित्त हैं अत: कुल के नाश से उत्पन्न दोषों को नहीं देख पाते परन्तु हम तो इनकी तरह राज्य के लोभी न बनें, हमें तो युद्ध के परिणाम समझकर पीछे हटना चाहिए। प्रथम अध्याय के ४० से ४४ श्लोकों में कुलक्षय से होने वाले भयावह परिणामों की चर्चा की गई है। तदनुसार युद्ध केवल सर्वनाश की ओर ले जाता है, कल्याण की ओर नहीं। इस प्रकार विषादग्रस्त अर्जुन के वचन मानवता के हितैषी, समाज के संरक्षक, अहिंसावादी एवं धर्मपरायण प्रतीत होते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उसकी सामाजिक चिन्ता एवं विषाद किसी भी देश, काल, परिस्थिति में समाज को अधर्म एवं अन्याय से बचा सकते हैं? क्या महाभारत में युद्ध की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए युद्ध के परिणामों की चिन्ता से युद्ध से विमुखता उचित लगती है? कदापि नहीं। क्योंकि अर्जुन के वचन एक **'धर्मसम्मूढचेता:'**[6] एवं

---

१. असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. द्र०-गीता, ४.१६
३. निहत्य धार्तराष्ट्रान्न: का प्रीति: स्याज्जनार्दन !पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिन:।। गीता, १.३६
४. Cf. Sri Aurobindo, Essays on the Gita, p. 22.
५ गीता, १.३९
६. द्र० गीता, २.७

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव:'[७] पुरुष के वचन हैं तो वे विवेकपूर्ण कैसे हो सकते हैं? अर्जुन तो इस समय 'स्वार्थ' के वशीभूत है और **'स्वार्थे सर्वे विमुह्यन्ति येऽपि धर्मविदो जना:।**[८]

प्रथम अध्याय के तीसरे श्लोक में अर्जुन स्वयं कहता है कि **'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव मे मन:'**। और विचलित मन से कहे गए वचन भावुकता से परिपूर्ण कुतर्कमात्र ही हो सकते हैं। अत: उसकी सामाजिक पतन की दृष्टि यथार्थ ज्ञान की कोटि में नहीं रखी जा सकती। अत एव अर्जुन के विषाद को शांकर भाष्य, मधुसूदनी व्याख्या, गीतारहस्य आदि ग्रन्थों में तथा अरविन्द घोष, विनोबा भावे इत्यादि विद्वानों ने 'व्यामोह'[९] माना है। डॉ. राधाकृष्णन ने अर्जुन के विषाद को `enlightened selfishness' कहा है।[१०]

प्रथम अध्याय के छत्तीसवें श्लोक में अर्जुन ने कौरवों के लिए 'आततायी' शब्द का प्रयोग किया है। वसिष्ठ स्मृति में आततायी के लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं :

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापह:।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिन:।।

अर्थात् आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने को उद्यत, धन हरण करने वाला, भूमिहरण एवं स्त्रीहरण करने वाला-ये छ: आततायी कहलाते हैं। दुर्योधनादि कौरवों पर ये लक्षण लागू होते हैं तो क्या इन आततायियों को मारकर पाप की प्राप्ति हो सकती हैं? हमारे धर्मग्रन्थ तो इसका समर्थन नहीं करते। मनुस्मृति में कहा गया है-

गुरुं वा बालवृद्धं वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।[११]
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवतिकश्चन।[१२]

अर्थात् आततायी का वध करने में हन्ता का कोई दोष नहीं होता। यद्यपि हमारा शास्त्र अहिंसा के सिद्धान्त का पोषक है तथापि अहिंसा में भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के बोध का होना आवश्यक माना गया है।[१३]

'गीता-रहस्य' नामक ग्रन्थ में भी यही प्रश्न उठाया गया है कि जब दुष्टों का आतंक अत्यधिक बढ़ जाए तो क्या सज्जनों को सदाचार निभाते रहना चाहिए?[१४] समाज की व अपनी रक्षा के लिए उनका नियन्त्रण यदि आवश्यक हो, तो हिंसा से नहीं करना चाहिए? भीष्म पितामह के अनुसार भी :-

समयत्यागिने लुब्धान् गुरूनपि च केशव।
निहन्ति समरे पापान् क्षत्रिय: स हि धर्मवित्।।[१५]

---

७. तदेव
८. महाभारत, वि०, ५१.४
९. (क) लोकमान्य तिलक, गीता रहस्य, पृ० २९ (ख) S. Radhakrishnan, The Bhagvadgita, p. 95.
१०. S. Radhakrishnan, the Bhagvadgita, p. 91.
११. मनु० ८.३५०
१२. मनु० ८.३५१
१३. न श्रेय: सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा । तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता।। महाभारत, वनपर्व, २८.६-८
१४. लोकमान्य तिलक, गीतारहस्य, पृ०३१
१५. शान्तिपर्व, ५५.१६

अर्थात् हे केशव! वादा तोड़ने वाले, लोभ व पापी गुरुजनों को भी जो युद्ध में मारता है, वह भी क्षत्रिय-धर्मवेत्ता कहलाता है। तो क्या अर्जुन को दिखाई देता हुआ 'अधर्म' वास्तव में 'अधर्म' है?

यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर बहुत विषम है तथापि यह तो स्पष्ट है कि अर्जुन की सामाजिक चिन्ता ममत्व और मोह से उत्पन्न विवेकहीनता मात्र है। बुद्धिमान् भी मोहग्रस्त होकर दूरदृष्टि से वंचित हो जाता है। अतः मर्यादाओं का लुप्त होना, वर्णसंकर, नरकपतन से समाज को बचाना सामाजिक धर्म है, परन्तु वह अधर्मी, आततायियों के रहते कदापि सुरक्षित नहीं हो सकता।

वर्तमान युग में भी अर्जुन जैसे बुद्धिजीवियों में यही अन्तर्द्वन्द्व, यही विषाद, यही धर्मपरायणता देखी जाती है। वे किसी व्यक्तिगत लोभ या लाभ से परे केवल समाज का कल्याण करना चाहते हैं। आततायियों की आक्रान्तता से निरन्तर विषादयुक्त रहते हुए वे युद्ध के भयावह परिणामों से भयभीत हुए किसी न किसी प्रकार से युद्ध को टालते रहते हैं। 'आतंकवाद' जैसी भीषण समस्या को खड़ा कर देने वाले ये आततायी तत्कालीन कौरवों के समकक्ष हैं तथा राष्ट्र और समाज के उत्थान की चिन्ता करने वाले समस्त धार्मिक, बुद्धिजीवी 'अर्जुन' के समान हैं।

यहाँ 'आतंकवाद' से मेरा तात्पर्य केवल मासूमों को गोलियों से भून देने वाले आतंकियों का सिद्धान्त नहीं है, अपितु प्रत्येक स्तर पर अपनी शक्ति का लोहा मनवाने वाले, दुर्बल का दमन करने या डराने वाले व्यक्तियों, जन-समूह या राष्ट्र की 'नीति' है। राष्ट्रीय स्तर पर विश्व को वश में करने की इच्छा से आतंक फैलाने वाली राष्ट्रशक्ति 'आतंकवादी' है, सामाजिक स्तर पर जाति, धर्म,कुल आदि की आड़ लेकर ऊँच-नीच का भेदभाव पैदा करने वाले आतंकवादी हैं, व्यक्तिगत स्तर पर शारीरिक या बौद्धिक क्षमता के बल पर दुर्बल को त्रस्त रखने वाले आतंकवादी हैं। इन सभी का परस्पर सम्बन्ध भी हो सकता है, जैसे पड़ौसी राष्ट्र से पड़ौसी का सम्बन्ध, एक समाज से दूसरे समाज का व्यापारादिकृत सम्बन्ध तथा व्यक्ति-व्यक्ति में भाई, मित्र आदि सम्बन्ध! ऐसे आततायियों के विरुद्ध यदि युद्ध का अवसर आ जाए तो सामान्य बुद्धिजीवी की मनःस्थिति कैसी होती है? निःसन्देह अर्जुन की तरह आज भी वह युद्ध के परिणामों की कल्पना करके विषादयुक्त हो जाता है।

वह भी सामाजिक हानि की चिन्ता से ग्रस्त होकर अहिंसा का मार्ग अपनाता है और स्वयं को विवेकी जानकरी अपनी दृष्टि में समाज व मानव का कल्याण करता है। महात्मा गांधी जैसे अहिंसा के संरक्षकों ने भी भारत की आजादी के समय यही मार्ग अपनाया तथा समाज व राष्ट्र का कल्याण किया। परन्तु आज इन निर्णयों के दूरगामी परिणामों को देखते हुए क्या अहिंसा के सिद्धान्त पर प्रश्नचिह्न नहीं लग गया है? क्या कुल समाज, राष्ट्र को बचाए रखना ही चरम लक्ष्य है और क्या आतंकवाद जैसी समस्या का समाधान **'अहिंसा परमोधर्मः'** के सिद्धान्त में निहित है? जीवन तो एक संघर्ष है, सतत युद्ध है। शरीर नहीं मरते तो केवल युद्ध दिखाई नहीं देता, पर यह निरन्तर है और जैसे हम योगरूपी शस्त्र से काम, क्रोध जैसे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार यथायोग्य शस्त्र द्वारा अधर्मी, आतंकवादी, अधार्मिक आततायी पर विजय पाना वैश्विक शान्ति लाने के लिए आवश्यक हो जाता है। वैसे भी जिन व्यक्तियों से समाज का निर्माण होता है यदि वह आततायी हैं तो उनका कैसा क्षय और कैसा लाभ? अतः अर्जुन की दृष्टि मनुष्यों में श्रेष्ठतम बुद्धिमत्ता की प्रतीक हो सकती है, परन्तु कृष्ण जैसे गुरु की दूरदृष्टि एवं यथार्थभाव से रहित है। निष्कर्ष यह है कि सामाजिक चिन्ता व्यक्ति, राष्ट्र, विश्व और अध्यात्म के ज्ञान के बिना अधूरी है। अतः कृष्ण का उपदेश जो दर्शन एवं अध्यात्म से परिपूर्ण है वही आज भी मनुष्य के पक्षपाती दृष्टिकोण या subjective

perception को निष्पक्ष ज्ञान अथवा objective viewpoint में बदल सकता है, उसी के द्वारा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र एवं विश्व का कल्याण सम्भव है। जैसा कि डॉ. राधाकृष्णन ने कहा है-

Only for the Gita, improvement in the individual nature is the way to social betterment.[१६] तिलक ने भी आत्मकल्याण का महत्त्व बताते हुए कहा है कि 'समाजधारण' चाहे सर्वभूतहित हो, परन्तु यह यदि आत्मकल्याण के मार्ग में बाधा डाले तो इसकी जरूरत नहीं।'[१७] वस्तुतः समाज का उत्कर्ष ही स्थितप्रज्ञ के व्यवहार की बाह्य नीति होती है।

१६. *The Bhagvadgita*, p. 96.
१७. गीता रहस्य, पृ०६७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१६१-१६६) ISSN 0974 – 8830

व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का महाविज्ञान : पातञ्जल योगसूत्र

डॉ. सुरेश लाल बर्णवाल[1]

डॉ. असीम कुलश्रेष्ठ[2]

मानव जीवन इस संसार का सर्वोत्कृष्ट वरदान है। भगवान् के पास जो कुछ विभूतियाँ है, वे सभी उसने मनुष्य शरीर में बीज रूप में भर दी है। ऐसे बहुमूल्य सुयन्त्र का सुसंचालन एवं सदुपयोग यदि ज्ञात न हो तो उसे एक दुर्भाग्य ही कहा जायेगा। मनुष्य का व्यक्तित्व भी आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति पर निर्भर करता है। आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का स्तर ही व्यक्तित्व के स्तर को निर्धारित करता है। महर्षि पतञ्जलि भी व्यक्तित्व का निर्धारण करने वाले चित्त के परिमार्जन और परिष्कार के लिए अपने योगसूत्रों में विभिन्न उपायों और तकनीकों को प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत शोध पत्र में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास हेतु महर्षि पतञ्जलि प्रथम पाद में जिन सूत्रों का वर्णन करते हैं, उनको आधार मानकर अध्ययन पूर्ण किया गया है। शोध पत्र में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि चित्त की वृत्तियों पर ही हमारा व्यक्तित्व निर्भर है, यदि चित्त की वृत्तियां निर्मल ओर चित्त निरुद्ध हो जायें तो व्यक्तित्व का पूर्ण विकास संभव है।

भारतीय योग दर्शन के इतिहास में पातञ्जल योग दर्शन अपनी एक अलग विशेषता रखता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों को तर्क, तथ्य और प्रमाण के आधार पर सूत्रबद्ध किया है। उनका उद्देश्य मानव विकास के सभी आयामों को स्पर्श कर उसे प्रभावित करने का है। **महर्षि पतञ्जलि अपने योगसूत्रों में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक जानकारी प्रदान करते हैं।**[3] महर्षि ने उनकी रचना केवल बुद्धि विलास (Intlectual Amusement) के लिए नहीं की थी। ये सूत्र चेतना के उन्नयन की व्यावहारिक प्रक्रिया समझाने, अधिक गहरे ज्ञान की प्राप्ति, मन की संभावनाओं के अन्वेषण और अन्ततः उसके पार जाने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। योगसूत्र मुख्यत: अभ्यासाभिमुख (Practice Oriented) हैं। वे समाधि की मात्रा बौद्धिक मीमांसा (Intlectual Descriptions) नहीं करते हैं।[4] इन सूत्रों में पथ (Path) और पथ प्रदर्शक (Path -Guide) दोनों का तर्क संगत वर्णन हैं। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा इन सूत्रों के माध्यम से पूर्ण होती है।[5] व्यक्तित्व के विकास के इस विज्ञान को हम इस प्रकार समझ सकते हैं-

पातञ्जल योगसूत्र में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का सम्प्रत्यय-

पातञ्जलयोग मानवीय व्यक्तित्व के चरम एवं परम विकास की एक विज्ञान सम्मत आध्यात्मिक

---

१ Associate Professor and Head of Dept., Human Consciousness and Yogic Science, Dev Sanskriti Vishwavidyalaya, Gayatrikunj, Hardwar, Uttarakhand -249411

२ Assistant Professor, Dept. of Human Consciousness and Yogic Science, Dev Sanskriti Vishwavidyalaya, Gayatrikunj, Hardwar, Uttarakhand .249411

३ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती १९९४, मुक्ति के चार सोपान, पृष्ठ-४

४ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती १९९४, मुक्ति के चार सोपान, पृष्ठ-२

५ स्वामी सत्यानन्द सरस्वती १९९४, मुक्ति के चार सोपान, पृष्ठ-२

प्रणाली है। यह प्रणाली मनुष्य के मूलस्वरूप को आत्मा के रूप में समस्त दिव्य संभावनाओं से युक्त मानती है; क्योंकि अज्ञानतावश अविद्या[६] के प्रभाव के कारण मनुष्य अपने इस मूलस्वरूप एवं दैवी उत्तराधिकार को विस्मृत कर बैठा है। जीवन के दुःख-संताप, पीड़ा-पतन, असफलता-दुर्भाग्य से नारकीय अनुभव होने का मुख्य कारण यह आत्मविस्मृति ही है। पातञ्जलयोग दर्शन इससे उबरने का व्यावहारिक एवं प्रयोग सम्मत उपचार प्रस्तुत करता है। वस्तुतः योग दर्शन जहाँ आध्यात्मिक लक्ष्य या जीवन के आत्यंतिक लक्ष्य की प्राप्ति का अचूक साधन है, वहीं मानव जीवन को सार्थक और सफल बनाने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग भी।

पातञ्जलयोग व्यक्ति के चरम विकास या जीव की सहज-स्वस्थ अवस्था को कैवल्य[७] के रूप में वर्णित करता है। यह अवस्था आत्मा और परमात्मा के अद्वैत या तादात्म्य की स्थिति है।[८] जीवात्मा इस दशा में अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इस अवस्था में विवेक जाग्रत रहता है और चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध।[९] इस योगावस्था से विपरीत सामान्य स्थिति में जीवात्मा अपने आत्मस्वरूप से विमुख चित्त की वृत्तियों के अनुरूप अपनी अलग पहचान बनाए रखता है।[१०] इन वृत्तियों का सर्वथा रुक जाना अथवा नियंत्रित हो जाना ही योग है।[११] इस तरह पतञ्जलि मन के अवसान में, चित्त के आत्यन्तिक परिष्कार में संस्कार-बीजों के समूल विनाश में ही योग की वैज्ञानिक परिभाषा खोजते हैं, जो अन्य सभी आचार्य एवं शास्त्रकारों से कहीं अधिक वैज्ञानिक है। वे पत्ते और टहनियाँ नहीं, सीधे जड़ पकड़ते हैं।[१२] पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग की परिणति वृत्तियों की निर्मलता एवं चित्त की स्थिरता के रूप में स्पष्ट होती है और साधक का चित्त पर पूर्ण अधिकार होता है, जिससे वह चरमावस्था को सहज प्राप्त होता है।[१३] चित्तवृत्तियों के संपूर्ण निरोध के साथ पुरुष शुद्ध परमात्मास्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[१४] चित्त में संस्कार-बीज के समूल नाश[१५] के साथ निर्बीज समाधि की सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् कैवल्य की अवस्था प्राप्त होती है।[१६] यही व्यक्तित्व की अन्तर्निहित दिव्य संभावनाओं एवं क्षमताओं के समग्र रूप से प्रकाशित होने की अवस्था है। यही व्यक्तित्व की पूर्णता एवं जीवन लक्ष्य की प्राप्ति है।

पातञ्जल योगसूत्र में व्यक्तित्व के पूर्ण विकास का प्रारुप-

पातञ्जल योगसूत्र का शुभारंभ 'अथ योगनुशासनम्'[१७] के रूप में साधक की पात्रता के प्रश्न को

---

६ पातञ्जल योगसूत्र २/२४
७ पातञ्जल योगसूत्र १/५१ व ३/५०, २/२५
८ पातञ्जल योगसूत्र १/३
९ पातञ्जल योगसूत्र ४/२९
१० पातञ्जल योगसूत्र १/४
११ पातञ्जल योगसूत्र १/२
१२ पण्डया डॉ. प्रणव, व्यक्तित्व को पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला योग, अखण्ड ज्योति, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, मई, २००५, पृष्ठ-९
१३ पातञ्जल योगसूत्र ४/३४
१४ पातञ्जल योगसूत्र १/३
१५ पातञ्जल योगसूत्र १/५०
१६ पातञ्जल योगसूत्र १/५१
१७ पातञ्जल योगसूत्र १/१

लेकर शुरू होता है। इसमें आचार्य या गुरु द्वारा प्रदत्त सूत्रसंकेतों एवं निर्देशों के प्रति शिष्य की समग्र स्वीकारोक्ति का भाव निहित है। अब व्यक्ति के अन्दर शिष्यत्व का यथार्थ जिज्ञासु भाव जाग्रत हो गया है, वह जीवन के आत्यन्तिक रहस्य को, अपने अस्तित्व में निहित गूढ़ सत्य को जानने-समझने, वरण करने एवं जीने के लिए संकल्पित-कटिबद्ध हो गया है। इस रूप में अनुशासन का मतलब है-होने की क्षमता जानने की क्षमता, सीखने की क्षमता। गुरु द्वारा प्रदत्त अनुशासन के प्रति शिष्य की विनम्र, ग्रहणशील एवं सचेत स्वीकारोक्ति का भाव ही योग हेतु अभीष्ट पात्रता है। इसी के साथ अपने अन्तस् में केन्द्रित योगसाधक के लिए तन-मन सहित संमूर्ण जीवन एक प्रयोगशाला बन जाता है। वह एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति अस्तित्व के सत्यान्वेषण में जुट जाता है। और परत-दर-परत चेतना के रहस्यों को उद्घाटित करता जाता है। इस संदर्भ में योग-साधना की प्रक्रियाओं का विविधतापूर्ण सुंदर वर्णन पातञ्जल योगसूत्र में उपलब्ध हुआ है।[१८]

पातञ्जल योगसूत्र में चित्तवृत्ति निरोध हेतु प्रमुख साधना-प्रक्रिया प्रथम पाद (समाधि पाद) में अभ्यास-वैराग्य[१९] के रूप में वर्णित है। मन निग्रह की दुस्साध्यता का समाधान श्रीकृष्ण ने भी धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में अर्जुन को अभ्यास-वैराग्य[२०] के रूप में किया था। अभ्यास की सफलता के लिए महर्षि पतञ्जलि समय, निरंतरता, भावभरी श्रद्धा और दृढ़निष्ठा पर बल देते हैं।[२१] उनके अनुसार वैराग्य का अर्थ देखे और सुने गए विषयों के प्रति वितृष्णा, अर्थात् इसके प्रति भोगासक्ति का न होना है।[२२] सकारात्मक रूप में यह दिव्य लक्ष्य, यौगिक आदर्श या अपने इष्ट-आराध्य के प्रति अनुराग का भाव है। इष्ट के प्रति अनुराग स्वतः ही विषय-भोगों के प्रति विराग पैदा करता है। वस्तुतः प्रारंभ में ऐन्द्रिक सुखों की तृष्णा में सचेतन प्रयास द्वारा भोगासक्ति की समाप्ति वैराग्य की अवस्था है। यह क्रमशः परम वैराग्य का रूप लेती है, जिसमें परमात्मा के अन्तरतम स्वभाव को जानने के साथ समस्त इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं। गीता के अनुसार भी यही वह स्थिति है।[२३]

वैराग्य भाव के उत्कर्ष के साथ श्रद्धा तत्त्व भी विकसित होता जाता है। श्रद्धा के साथ वीर्य, ऊर्जा या धारणाशक्ति आती है और इससे स्मृति जाग्रत होती है। इसी से समाधि (असंप्रज्ञात अवस्था) का मार्ग खुलता है[२४] और अन्ततः ऋतम्भरा प्रज्ञा, जीवात्मा की आत्यन्तिकमुक्ति का पथ प्रशस्त करती है।[२५] वस्तुतः श्रद्धा योग-साधना का सबसे पहला तत्त्व है। इसके अभाव में साधना निष्फल एवं निष्प्रभावी ही मानी जाएगी। श्रीकृष्ण ने गीता में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है-'अश्रद्धा से किया हुआ हवन, दिया गया दान, तपा गया तप और भी जो आध्यात्मिक क्रिया की गई है, वह सब कुछ असद् हैं, उसका न कोई

---

१८ पण्डया डॉ. प्रणव, व्यक्तित्व को पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला योग, अखण्ड ज्योति, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, मई, २००५, पृष्ठ-९
१९ पातञ्जल योगसूत्र १/१२
२० श्रीभगवदगीता ६/३५
२१ पातञ्जल योगसूत्र १/१४
२२ पातञ्जल योगसूत्र १/१५
२३ श्रीभगवदगीता २/५५
२४ पातञ्जल योगसूत्र १/२०
२५ पातञ्जल योगसूत्र १/५०

परिणाम आध्यात्मिक जीवन में है और न ही इस लौकिक जीवन में।'[२६] वस्तुतः श्रद्धा योगी की मातृवत् रक्षा करती है।[२७] श्रद्धापूर्वक किए गए पुरुषार्थ से पूर्वजन्मों के अक्लिष्ट कर्म और ज्ञान के संस्कार जाग जाते हैं। तत्पश्चात् चित्त एकाग्रता संपन्न और स्थिर होने लगता है। समाहित मन समाधि की स्थिति को प्राप्त होता है।[२८] इसके बाद प्रज्ञा जाग्रत होती है, जिसमें विवेक-ज्ञान द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। इस अभ्यास से परमवैराग्य और तत्पश्चात् असंप्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है।[२९] वस्तुतः यह वैराग्य से धुले निर्मलचित्त की सहज परिणति है। गीता में भी श्रद्धा से ज्ञान एवं तदुपरांत परम शान्ति की उपलब्ध होने की बात कही गई है। योग की अतिशीघ्र सिद्धि के लिए महार्षि पतञ्जलि अभ्यास और वैराग्य की तीव्रता पर बल देतें हैं।[३०]

योग-साधना के क्रम में एक शीघ्र फलदाई प्रक्रिया के रूप में महर्षि पतञ्जलि,ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख करते हैं।[३१] यहाँ ईश्वर प्रणिधान से तात्पर्य ईश्वर की पूर्ण भक्तिपूर्वक आत्मसमर्पण सहित साधना से है, जिसके द्वारा आराधित ईश्वर उपासक के अभीष्ट की सिद्धि करता है। वस्तुतः जब साधक सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर अपनी समस्त भावनाएँ ईश्वर में समर्पित कर देता है, तब वृत्तियों के उठने की संभावना क्षीण हो जाती है, यही प्रभु का प्रसाद है। संपूर्ण समर्पण के कारण ईश्वर भक्त पर कृपा करके उसकी चित्तवृत्तियों को शमित कर देता है, जिसके कारण वे निरुद्ध हो जाती है और (निर्बीज) समाधि सिद्ध होती है।[३२]

इसी के साथ महर्षि पतञ्जलि परमात्मा के प्रतीक 'प्रणव' के भाव और अर्थ सहित जप का निर्देश देते हैं।[३३] मन्त्र-जप की वैज्ञानिकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-'पहला चरण है, मन-ही-मन अथवा अति धीमे स्वर में उच्चारण। दूसरा-इसका अर्थ सहित अनुसंधान।[३४] यह अर्थ-अनुसंधान, अर्थ-चिंतन से कहीं अधिक सूक्ष्मतत्त्व है। इसमें साधक क्रमिक रूप से अर्थ की गूढ़ता व रहस्यमयता में प्रवेश करता है, और उसकी अन्तश्चेतना में मन्त्र के नए रहस्यार्थ प्रकट होते हैं। इसका तीसरा आयाम है-प्रगाढ़ भावना, यानी मन्त्र के आदि देवता के प्रति साधक के मन-अन्तःकरण में भक्ति कि हिलोरें उठनी चाहिए। इन तीनों तत्त्वों के साथ किए गए ओंकार के जप और चिंतन से अविद्या आदि क्लेश काम्यकर्म कर्मफल वासनाओं के संस्कार चित्त से धुलकर साफ हो जाते हैं और सात्त्विक ज्ञान के संस्कार उदित होते हैं।[३५] अभ्यास की निरंतरता के साथ यह भावना इतनी सुदृढ़ हो जाती है कि मात्र ओंकार उच्चारण से ईश्वर का स्मरण हो जाता है। यह सब

---

२६ श्रीभगवदगीता १७/२८

२७ व्यास भाष्य १/२०

२८ पण्डया डॉ. प्रणव, व्यक्तित्व को पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला योग, अखण्ड ज्योति, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, मई, २००५, पृष्ठ-१०

२९ पण्डया डॉ. प्रणव, व्यक्तित्व को पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला योग, अखण्ड ज्योति, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, मई, २००५, पृष्ठ-१०

३० पातञ्जल योगसूत्र १/२१

३१ पातञ्जल योगसूत्र १/२३

३२ पण्डया डॉ. प्रणव, व्यक्तित्व को पूर्णता के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला योग, अखण्ड ज्योति, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा, मई, २००५, पृष्ठ-१०

३३ पातञ्जल योगसूत्र १/२७

३४ पातञ्जल योगसूत्र १/२८

३५ पातञ्जल योगसूत्र १/२९

संप्रज्ञात समाधि की स्थिति में होता हैं। इस प्रकार अभ्यास से क्रमशः निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है।[३६]

साधना मार्ग में योगसाधक के सामने अनेक विघ्न-बाधाएँ आती है। इनमें प्रमुख विघ्न है-व्याधि (रोग), स्त्यान (अकर्मण्यता), संशय (संदेह), प्रमाद, आलस्य, अवरति (विषयासक्ति), भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व (दुर्बलता) और अनवस्थितत्व (अस्थिरता)।[३७] इनमें प्रत्येक चित्तविक्षेप बड़ा कठिन है और हर एक विक्षेप इतना ताकतवर है कि वह अकेले ही साधक की साधना को नष्ट कर सकता है। परंतु ओंकार जप तथा ईश्वर प्रणिधान, ध्यान-उपासना से इन विघ्नों का शमन होता रहता है, साथ ही ईश-साक्षात्कार का पथ भी सुगम हो जाता है। इसी तरह पाँच उपविक्षेपों[३८] का शमन भी मन्त्र-जप द्वारा होता है।

महर्षि द्वारा बताए गए व्यावहारिक सूत्र, भावस्तर पर साधक के संतुलन को बनाए रखते हैं, वहीं चित्तशुद्धि की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सुखी के प्रति मित्रता का भाव, दुःखी के प्रति करुणा (दया) का भाव, पुण्यात्मा के मुदिता(प्रसन्नता) का भाव और पापात्मा या दुष्टात्मा के प्रति उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल हो जाता है।[३९] शास्त्रों में वर्णित चित्त के छह मलों ईर्ष्यो-द्वेष आदि को भी इन भावनाओं द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

चित्तशुद्धि के साधन के रूप में महर्षि पतञ्जलि प्राणायाम का भी सुझाव देते हैं।[४०] पतञ्जलि वीतराग पुरुष के ध्यान को भी चित्त स्थिर करने वाला मानते हैं[४१], ऐसे वीतराग संतों को लक्ष्य (आदर्श) मानकर अपनी मनःस्थिति भी उन्हीं की तरह बना लेने से उन्हीं की तरह अनुभूतियाँ होने लगती हैं और चित्त निर्मल और स्थिर हो जाता है।[४२]

महर्षि स्वप्न एवं निद्रा के अलौकिक एवं आनंदपूर्ण अनुभवों पर ध्यान को भी चित्त को स्थिर करने वाला मानते हैं।[४३] वस्तुतः यह साधना आचार्य श्रीराम शर्मा के अनुसार, उन्हीं साधकों के लिए शक्य है, जिन्होने जाग्रत स्थिति की अपेक्षा कभी स्वप्न में असाधारण आनंद का दर्शन किया हो। स्वप्न का आश्रय लेने का एक अर्थ यह भी है कि संसार को स्वप्नवत् क्षणभंगुर देखने और उसकी नश्वरता के भाव को दृढ़ करने से लौकिक वासनाओं एवं तृष्णाओं की व्यर्थता समझ में आती है, जिससे मन स्थिर हो जाता है।[४४]

चित्त को स्थिर करने वाले उपर्युक्त विविध उपायो को बताने के बाद महर्षि पतञ्जलि अपनी रुचि के अनुरूप ध्यान-प्रक्रिया के चुनाव का सुझाव देते हैं।[४५] अध्यवसाय पूर्वक किए गए उपायों से योगसाधक की मन की स्थिरता और एकाग्रता क्रमशः बढ़ती जाती है। और मन पर नियन्त्रण बढ़ता जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है जब वह लघु-से लघु परमाणु से लेकर अन्तरिक्ष पर्यंत किसी भी तत्त्व में मन को लगाने की

---

३६ पातञ्जल योगसूत्र १/५१
३७ पातञ्जल योगसूत्र १/३०
३८ पातञ्जल योगसूत्र १/३१
३९ पातञ्जल योगसूत्र १/३३
४० पातञ्जल योगसूत्र १/३४
४१ पातञ्जल योगसूत्र १/३७
४२ पण्डया डॉ. प्रणव, अर्न्तजगत् की यात्रा का ज्ञान विज्ञान, वेदमाता गायत्री ट्रस्ट, शान्तिकुंज, हरिद्वार, २००६, पृष्ठ-१४८
४३ पातञ्जल योगसूत्र १/३८
४४ श्रीमाली, मन्दाकिनी, प्रज्ञा पुरुश का समग्र दर्शन, अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा २००१पृष्ठ ४.१७
४५ पातञ्जल योगसूत्र १/३९

इच्छा करे तो वह चंचलता छोड़कर सहज ही लग जाता है। इस प्रकार क्रमशः उसका चित्त पर अधिकार हो जाता है। और चित्त निर्मल होकर समाधि की क्षमता प्राप्त हो जाती है। तपुरान्त प्रथम संप्रज्ञात समाधि[४६] की प्राप्ति होती है। और फिर निर्विचार समाधि[४७] की प्राप्ति होती है और सत्य को प्रकाशित करने वाली ऋतंभरा प्रज्ञा[४८] की प्राप्ति होती है। इसके बल पर चित्त में पड़े जन्म-जन्मांतरों के संस्कार बीजों के विनष्ट[४९] होने पर चित्त निर्बीज समाधि की कैवल्य अवस्था[५०] को उपलब्ध होता है। इस प्रकार शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थित होकर व्यक्तित्व पूर्णता के जीवन-लक्ष्य को प्राप्त होता है।

---

४६ पातञ्जल योगसूत्र १/४१
४७ पातञ्जल योगसूत्र १/४७
४८ पातञ्जल योगसूत्र १/४८
४९ पातञ्जल योगसूत्र १/५०
५० पातञ्जल योगसूत्र १/५१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१६७-१७४) ISSN 0974 – 8830

योगदर्शन में दुःखनिवृत्ति के उपाय

डॉ० सुधीर कुमार[1]

जन कल्याण के लिये ऋषि-मुनियों ने संसार में क्या कुछ नहीं किया है। उनकी अगाध मति तथा प्रखर बुद्धि से दुनिया का कोई भी कण अछूता नहीं है। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि ईश्वरीय वाणी ज्ञान के अथाह सागर वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की सरिताओं ने हर ज्ञान-पिपासु की प्यास बुझायी है। इसी तरह शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष ने आर्ष मर्यादा को अत्यन्त सुदृढ़ बनाकर अनार्ष कल्पित मिथ्या अवधारणाओं का उन्मूलन किया है। इसी अनुपम उत्तराधिकार को अपनाकर दर्शनकारों ने और आगे कदम बढ़ाये हैं। जैसे महर्षि पतञ्जलि ने योग, कपिल ने सांख्य, कणाद ने वैशेषिक, गौतम ने न्याय, जैमिनि ने मीमांसा और व्यास ने वेदान्त दर्शन की रचना की है। इन छः ऋषियों के षड्दर्शन ने सृष्टि पुरुषार्थ आदि छः कर्मों का सम्प्रसारण एवं ध्याता ध्येय और ध्यान का विशेष विवेचन किया है। ये छः दर्शन मानव की दुःखों से निवृत्ति करवाकर उसके अन्तःकरण को निर्मल कर उसे मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। सभी दर्शन भिन्न-भिन्न प्रकार से मुक्ति के साधनों पर विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

योगशास्त्रकार महर्षि पतञ्जलि समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य की नौका से जीव को दुःखसागर से पार करवाते हैं। महर्षि अपने योगशास्त्र के प्रथम सूत्र **'अथ योगानुशासनम्'**[2] में ही सांसारिक दुःखों और मनुष्यों की वृत्तियों (सात्त्विक, राजसिक, तामसिक) की चर्चा करते हुये उन्हें योग के पक्ष में अवगाहित करते हैं। व्यक्ति के मानसिक विकारों (दुःखों) के लिये पतञ्जलि लिखते हैं कि ये क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध भेद से पांच प्रकार की भूमियाँ होती है। इनमें प्रथम तीन में रजोगुण और तमोगुण होने से कदापि योग नहीं होता अपितु दुःख योग रहता है। मानसिक रोगों में मुख्य कारण में प्रथम तीन भूमियां ही हैं।

क्षिप्त भूमि का स्वरूप-

'क्षिप्तं सदैव रजसा तेषु-तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरम्'[3]

रजोगुण के द्वारा शब्द, स्पर्श, रुप, रस और गन्ध आदि विषयों में विद्यमान होता हुआ अत्यन्त अस्थिर चित्त 'क्षिप्त' कहाता है। क्षिप्त चित्त में मानसिक दुःख फलीभूत होते हैं तथा व्यक्ति दुःखी रहता है।

मूढ-

'तमः समुद्रे निद्रावृत्तिमन्मूढम्'[4] तमस् के समुद्र में निद्रावृत्ति जैसा चित्त मूढ कहलाता है अर्थात् जब चित्त निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, मोह में डूबा रहता है तब वह मूढ भूमि चित्त कहलाता है। **'आलस्य हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः'** आलस्यादि मनुष्य के शरीर में विद्यमान महान् शत्रु है। ये मानव को विनाश की ओर शीघ्र अग्रसर करते हैं उसे अल्पायु बनाते हैं।

---

१ वेद-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।
२ यो द. १.१
३ यो द. व्या.भा. १.१
४ यो द. व्या.भा. १.१

विक्षिप्त-

'क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम्'[५] क्षिप्त चित्त से विशिष्ट (भिन्न) चित्त को विक्षिप्त कहते हैं। इसकी विशेषता यह है कि क्षिप्त अवस्था में चित्त अस्थिर होता है किन्तु विक्षिप्त अवस्था में यह कभी-कभी स्थिर हो जाता है। सामान्य पुरुष साधारणतया इसी अवस्था में रहते हैं। कभी दुःखी तो कभी सुखी। परन्तु मनुष्य सुखों की गणना न करके दुःखों की ही गणना करता है।

एकाग्र और निरुद्ध-

चित्त की ये भूमियां योग पक्ष में होती है। **योग– 'युज् समाधौ' अर्थात्** योगी अपने चित्त (मन-बुद्धि-अहंकार) को एकाग्र करके सब वृत्तियों का निरोध कर देता है। इस अवस्था में योगी के सब दुःख-बन्धन छूट जाते हैं। चित्त को ईश्वरादि विषयों में एकाग्र करने से दुःखादि का निवारण होता है।[६]

दुःख निवृत्ति का उपाय-'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[७] पतञ्जलि मुनि लिखते हैं कि चित्त की भूमियां (क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त) व्यक्ति को दुःख देती हैं। दुःखों से निवृत्ति का उत्तम साधन योग है और चित्त (प्रकाश, क्रिया, स्थिति, सत्त्व, रजस्, तमो गुणात्मक है) की वृत्तियों को निरोध (बन्द) करने का नाम योग है। प्रकाशरूप सत्त्वगुण प्रधान वाला चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (राग) संसार के अनैश्वर्य की ओर दीप्तिमान होकर, धर्म, ज्ञान वैराग्य और सांसारिक ऐश्वर्य की ओर झुका हुआ होता है। रजोगुण के मल से पृथक् हुआ स्वरूप में प्रतिष्ठित चित्त, बुद्धि और पुरुष को भिन्न-भिन्न जानने वाला धर्ममेघ समाधि की ओर झुक जाता है। आत्मा के साथ जब चित्त का प्रवाह जब सत्त्वगुण की ओर झुकता है तब अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पांच क्लेश दुःखसागर में ले जाते हैं। परन्तु बुद्धिमान् व्यक्ति अपने ज्ञान से विवेक से, योग से इन क्लेशों को सत्त्ववृत्ति अपनाकर हटा देता है और वह फिर चित्तवृत्तियों के बन्द हो जाने पर, दुःखों के परिसमाप्त हो जाने पर योग अवस्था में चेतन पुरुष कैवल्य (मुक्ति) के समान अपने ही रूप में प्रतिष्ठित रहता है **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**[८]। योगशास्त्र में **'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः'**[९] ये पांच (प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा और स्मृति) वृत्तियां बतलायी गई है। जो क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो प्रकार की हैं। ये वृत्तियां सामान्य पुरुष के लिये क्लिष्ट (दुःखकारक) और योगी के लिये अक्लिष्ट (सुखकारक) हैं। क्योंकि योगी इन पांचों वृत्तियों का विवेकपूर्वक त्याग कर देता है। जबकि सांसारिक व्यक्ति इनका त्याग न कर सकने के कारण दुःख सागर में झूलता रहता है।

संसार में व्यक्ति के दुःख का सबसे बड़ा कारण मिथ्या ज्ञान है इसी को योगदर्शन में विपर्यय के नाम से जाना जाता है। **'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्'**[१०] यह मिथ्याज्ञान ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश भेद से पञ्चधा होता है। इन पांचों में फंसकर जीव संसार के आवागमन के चक्कर में पड़ जाता है। ये पांचों मानव को बुरी तरह से घेर लेते हैं। इनसे छूटना सहज नहीं है।

---

५ यो द. व्या.भा. १.१
६ यो द. व्या.भा. १.१
७ यो.द. १.२
८ यो.द. १.३
९ यो.द. १.६
१० यो.द.

'**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः**'[११]। इन पांचो को समझने के पश्चात् व्यक्ति का दुःखों में फंसना और दुःखनिवृत्ति हेतु उपाय ढूंढना समझ में आता है।

अविद्या-

'**अनित्याशुचिदुःखानामात्सु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**'[१२] अनित्य को नित्य, अशुचि (अशुद्ध) को शुचि (शुद्ध) दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा जानना अविद्या है। स्वयं को सदा रहने वाला मानना, मानव शरीर (मल-मूत्रादि युक्त) को शुद्ध मानना और सांसारिक भोगों को सुख समझना तथा इस शरीर को आत्मा जानना अविद्या (अज्ञान) है। इस प्रकार का मान रखने वाले प्राणी संसार में भयंकर कष्ट पाते हैं, तथा संसार मोह में फंस रहते हैं।

अस्मिता-

'**दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मेवास्मिता**'[१३] इस संसार में दृक् शक्ति (ईश्वर) और दर्शन शक्ति (जीव) दो भिन्न सत्तायें है। इन दोनों को एक मानना अस्मिता नामक क्लेश कहलाता है। सांसारिक मनुष्यों के दुःख का एक कारण यह भी है कि वे ईश्वर और जीव के भिन्न-भिन्न स्वरूप को सही प्रकार से नहीं जानते हैं, तथा ईश्वर के अणु रूप होने से तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक सामाजिक अन्धविश्वास और भ्रान्तियां होने से सम्यक् ज्ञान नहीं होता है तथा लोक प्रवचनकार अपने स्वरूप को ही ईश्वर का स्वरूप बताकर मतिभ्रान्त करते हैं। इससे साधारण मनुष्य '**जीवब्रह्मैक्यम्**' (वे०सा०) जीव और ब्रह्म एक ही हैं, आत्मा से परमात्मा '**अयमात्मा ब्रह्म**' की भ्रान्ति ही 'अस्मिता' कहाती है। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर के बारे में व्यक्ति को सही जानकारी न होने से अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा, गुरुपूजा, ठगी आदि में फंसकर वह अपना सवकुछ गंवा देता है और दुःख सागर में निमज्ञित होता है।

राग

'**सुखानुशयी रागः**'[१४] जिस पुरुष (आत्मा) ने संसार के सुखों का भोग कर लिया हैं, उसकी भोगे हुये सुख में अथवा उसके साधनों में सुख की अनुस्मृति पूर्वक जो लालसा, तृष्णा, इच्छा वा लोभ है, उसे राग नाम का क्लेश कहते हैं। यह राग बन्धन का बहुत बड़ा कारण है। पुत्र, भूमि, धन, स्वर्ण, मान, जय, स्त्री, घर, गाड़ी इत्यादि के सुख भोग मानव को अपने बन्धनों में जकड़कर उसे दुःखसागर में निमग्न करते हैं। जब ये भोग पूर्ण नहीं होते या इन भोगों के भोग के उपरान्त इन्द्रियों की जीर्णता से इनको भोगने की शक्ति के न रहने से अत्यन्त कष्ट होता है। अतः इन भोगों को भोगने का सही तरीका यह है।-'**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**'[१५] इन पदार्थों का त्याग की भावना से उपभोग किया जाये तो ये पदार्थ मानव को पीड़ित नहीं करते हैं। जैसे हम किसी सरकारी वाहन बस, रेलगाड़ी आदि का उपभोग अपनी यात्रा या गन्तव्य प्राप्त करने के लिये करते हैं तथा यात्रा पूर्ण होने पर उसके बारे में चिन्तन करके दुःखी नहीं होते अपितु सफल यात्रा कर

---

११ यो.द. २.३
१२ यो.द. २.५
१३ यो.द. २.६
१४ यो.द. २.७
१५ ई.उ. १.१

सुखी ही होते हैं। पदार्थों से चिपकना बन्धन है तथा उनका बुद्धिपूर्वक प्रयोग मुक्ति है।

द्वेष-

'दुःखानुशयी द्वेषः'[१६] जिस पुरुष (आत्मा) ने संसार के दुःखों को भोग लिया है, उसके भोगे हुये दुःख में अथवा उसके साधनों में दुःख की अनुस्मृतिपूर्वक जो प्रतिकार करने की भावना, मन्यु प्रतिहिंसा का आवेश, मारने की इच्छा और क्रोध है उस क्लेश का नाम द्वेष है। संसार में अज्ञानता दुःखों का कारण है और मानव द्वेष नामक क्लेश से और अधिक दुःख के सागर में निगग्न होता है। वर्तमान में परस्पर ईर्ष्या, ही अपराधों को जन्म दे रही है। सुख चाहने वाले व्यक्ति को राग-द्वेष को हटाकर स्नेह की भावना का प्रसार करना चाहिये।

अभिनिवेश-

'स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः'[१७] जो भय (मृत्यु) मूर्ख के शिर पर चढ़ा हुआ है वैसे ही विद्वान् के शिर पर भी चढ़ा है उस पूर्व जन्म के अनुभूत मृत्यु-दुःख रूप स्वरसवाही संस्कार का नाम **'अभिनिवेश'** नामक क्लेश कहलाता है। संसार में चींटी से हस्ती पर्यन्त सब प्राणी मृत्यु से भयभीत रहते हैं, क्योंकि यह मृत्युरूप संस्कार प्रत्येक जीव ने अपने पूर्व जन्म में अनुभूत किये हैं। मैं जीना चाहता हूँ, मैं मरना नहीं चाहता, मुझे मरने से डर लगता है, यह भावना प्रत्येक जीव में देखी जाती है। जीवन और मृत्यु दोनों ही कटु सत्य हैं। अतः मृत्यु होने के बार-बार के भय से भयभीत होना इस जीवन को सुखदायक नहीं बना सकता अपितु दुःखदायी बना देता है। मृत्युभय कष्टों और बाधाओं को जन्म देता है। **'नायं हन्ति न हन्यते'**[१८]

पञ्चक्लेशों का दार्शनिक समाधान-

'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः'[१९] जब व्यक्ति इन दुःखों से छूटना चाहे तब इन अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को योग विद्या से दग्धबीजवत् (भुने हुये चने के समान) कर देवे ताकि ये पुनः अंकुरित न हो सकें। योगी व्यक्ति का चित्त अपना कार्य समाप्त करके अपने कारण अंहकार में लीन हो जाता है, तब ये दुःख उस चित्त के साथ ही अस्त हो जाते हैं। **'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः'**[२०] ये अविद्या आदि वृत्तियों (क्लेशों, दुःखों) को ध्यान से दूर किया जा सकता। यह ध्यान कहां और कैसे किया जा जाये? **'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः'**[२१] अर्थात्-तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (भक्तिविशेष) को क्रियायोग कहते हैं। इस क्रिया योग का प्रयोजन ध्यान, समाधि की सिद्धि करना है और अविद्या आदि क्लेशों को निर्बल करना है। **'समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च'**[२२]।

---

१६ यो.द. २.८
१७ यो.द. २.९
१८ कठ.उ. २.१९
१९ यो.द. २.१०
२० यो.द. २.११
२१ यो.द. २.१
२२ यो.द. २.२

तप-

'तपो द्वन्द्वसहनम्' जो तपस्वी नहीं है उसके दुःख कदापि समाप्त नहीं हो सकते, क्लेश और कर्म की वासनाओं से विचित्र, विषय जाल को उपस्थित करने वाली चित्त की अशुद्धि बिना तप के नष्ट नहीं हो सकती। अतः मुक्ति के साधक को तप का तत्परतापूर्वक सेवन करना चाहिये। **तप**-गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास, जय-पराजय, मान-अपमान, सुख-दुःख, लाभ-हानि, उत्थान-पतन आदि परिस्थितयों में समान भाव से रहना।

स्वाध्याय-

दुःखनिवृत्ति का दूसरा उत्तम साधन है **'ओ३म्'** आदि पवित्र पदों एवं वेदमन्त्रों का निष्ठापूर्वक, धैर्यपूर्वक जप करना और योगदर्शन आदि मोक्षशास्त्रें का अध्ययन करना स्वाध्याय कहलाता है। इनके साथ-साथ स्व का भी अध्ययन करना चाहिये।

ईश्वरप्रणिधान-

साधक के द्वारा अपनी सब क्रियाओं को परमगुरु ईश्वर में समर्पित करना और उन क्रियाओं के फल की कामना न करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि ने योगशास्त्र में ईश्वर का यह लक्षण किया है-**'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः'**[२३] जो अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल कर्म, उनका सुख-दुःख रूप विपाक (फल) और उनकी जो वासना (आशय) है इनसे सर्वथा पृथक् रहने वाला है, वह ईश्वर है। उस ईश्वर का वाचक नाम 'ओम्' है **'तस्य वाचकः प्रणवः'**[२४] सुख चाहने वाला व्यक्ति इसी ओम् का जप और भावनायें देवे **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**[२५]।

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि दुःखनिवृत्ति के निराकरण में लिखते हैं कि-**'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'**[२६] अर्थात् यम, नियमादि योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से विवेकख्याति पर्यन्त योगी को ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। इनके पालन से अविद्यादि पांच प्रकार के मिथ्याज्ञान विनष्ट हो जाते हैं तथा सम्यक् ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। योग के इन अंगों से चित्त की अशुद्धि निर्बल हो जाती है तथा ज्ञान-दीप्ति बढ़ जाती है। तब दुःख समाप्त होकर सुख और आनन्द की वर्षा होती है।

अष्टांग योग-

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यावष्टावंगानि'[२७] यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं। यम-'अंहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'[२८] अर्थात्-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम है।

---

२३ यो.द. १.२४
२४ यो.द. १.२७
२५ यो.द. १.२९
२६ यो.द. २.२६
२७ यो.द. २.२८
२८ यो.द.

अहिंसा-

मन-वचन-कर्म से सब काल में सब प्राणियों को पीड़ा न देना अहिंसा है।[२९] जिसके सान्निध्य में आकर सब प्राणी अपना वैरभाव भूल जाते हैं उसका नाम अहिंसा है। सत्य-वाणी और मन का यथार्थ होना सत्य कहलाता है। वह सब प्राणियों के उपकार के लिये प्रयोग की गई हो उनके अपकार के लिये नहीं।[३०]

अस्तेय-

शास्त्रोक्त विधि के विरुद्ध दूसरे के पदार्थों को ग्रहण करने की इच्छा भी न करना अस्तेय कहलाता है। चौरी का सर्वथा त्याग करना अस्तेय है।[३१]

ब्रह्मचर्य-

गुप्त इन्द्रिय (उपस्थ) का सर्वथा संयम करना ब्रह्मचर्य है।[३२]

अपरिग्रह-

संसार के भोग्य पदार्थों के अर्जन (संग्रह) करने में, संग्रहीत पदार्थों की रक्षा में, उनके विनाश में, उनकी आसक्ति में, उनके लिये प्राणियों की हिंसा में दोष दिखाई देने से उनका संग्रह न करना अपरिग्रह कहलाता है।[३३]

नियम-

'शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'[३४] अर्थात्-शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पांच नियम कहलाते हैं। शौच-यह ब्राह्य और आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। बाह्य शौच (शुद्धि) मिट्टी और जलादि से तदा पवित्र पदार्थों के खान-पानादि से होता है, और आभ्यन्तर शौच (शुद्धि) चित्त के मलों के धोने से होता है।[३५]

सन्तोष-

संसार में विद्यमान साधनों को प्राप्त करने की इच्छा न रखना सन्तोष है। तप-स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान की व्याख्या पीछे की जा चुकी है।[३६]

---

२९ अंहिसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (यो.द. २.३५)
३० सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् यो.द. २.३६
३१ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् (यो.द. ५.२.३७)
३२ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः (यो.द. २.३८)
३३ अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तसम्बोधः (यो.द. २.३९)
३४ यो.द. २.३२
३५ शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः (यो.द. २.४०)
३६ सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः (यो.द. २.४२)

आसन-

'स्थिरसुखमासनम्'[३७] जिसमें शरीर और आत्मा सुखपूर्वक स्थिर हों उसे आसन कहते हैं। यथा- पद्मासन, भद्रासन आदि। चित्त को स्थिर करने से आसन सिद्ध होता है तथा इससे शारीरिक दुःख दूर होते हैं। आसन पर विजय होने से साधक तप की ओर अग्रसर होता हैं 'ततो द्वन्द्वानभिघातः'[३८]।

प्राणायाम-

'तस्मिन् सतिश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'[३९] आसन के सिद्ध होने पर श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम कहलाता है। बाहर की वायु को शरीर के भीतर भरना श्वास है तथा उसे बाहर की ओर फेंकना प्रश्वास है। श्वास को बाहर रोकना बाह्य प्राणायाम है, अन्दर लेकर अन्दर ही रोकना आभ्यन्तर प्राणायाम है तथा श्वास और प्रश्वास को रोकना स्तम्भन वृत्ति है। जैसे तपे हुये पत्थर पर डाला हुआ जल सब ओर से संकुचित होता है वैसे इस स्तम्भवृत्ति में श्वास और प्रश्वास की गति का एक साथ अभाव हो जाता है।[४०] इस प्राणायाम की प्रक्रिया करने वाले व्यक्ति के कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा चित्त-मलों की विशुद्धि होती है और ज्ञानदीप्ति बढती है।[४१]

प्रत्याहार-

'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां व्यवहारः प्रत्याहारः'[४२] इन्द्रियों के अपने-अपने रूपादि विषयों का प्रयोग न होने पर, चित्तवृत्ति के स्वरूप के समान ही सब चक्षु आदि इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। वे अब अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रखती हैं। इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहार से इन्द्रियों का परमवशीकरण हो जाता है तथा इन्द्रियां सर्वथा अपने वश में हो जाती हैं। जिसकी इन्द्रियां वश में हैं वह सुखी होता है।

धारणा-

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'[४३] मन को चंचलता से हटाकर नाभिचक्र, हृदय-कमल, मूर्धा ज्योति (चक्षु) नासिका का अग्रभाग, जिह्वा का अग्रभाग इत्यादि देशों (स्थान) में अथवा किसी बाह्य देश में चित्त को वृत्तिमात्र से बान्धना (स्थिर करना) धारणा कहलाती है।

ध्यान-

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'[४४] धारणा के पश्चात् उसी देश में ध्यान करने और आश्रय लेने योग्य जो

---

३७ यो.द. २.४६
३८ यो.द. २.४८
३९ यो.द. २.४९
४० बाह्याभ्यान्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः (यो.द. २.५१)
४१ ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् (यो.द. २.५२)
४२ यो.द. २.५४
४३ यो.द. ३.१
४४ यो.द. ३.२

ईश्वर है, उसके आनन्द और प्रकाश में ज्ञान की एकतानता-सदृश प्रवाह चलते रहने, अन्य किसी पदार्थ का स्मरण न होना ध्यान है।

समाधि-

'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'[४५] जब वह ध्यान, ध्येय (ईश्वरादि) आकार रूप में प्रतीत होता है तब उस ध्येय (ईश्वर) के स्वभाव से परिपूर्ण होने से अपने स्वरूप की प्रतिति से शून्य-सा हो जाता है, तब उसे समाधि कहते हैं। यथा-अग्नि के संयोग से लोहा भी अग्नि रूप हो जाता है वैसे ईश्वर के ज्ञान में प्रकाशमय होकर स्वयं को भी भूल-सा जाना और आत्मा को ईश्वर के आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। **'त्रयमेकत्र संयमः'**[४६] धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का किसी एक विषय में इकट्ठा होना **'संयम'** कहलाता है। **'तज्जयात् प्रज्ञालोकः'**[४७] उक्त संयम पर विजय प्राप्त करने पर समाधि से उत्पन्न प्रज्ञा (बुद्धि) का प्रकाश प्रदीप्त हो जाता है। तब प्रज्ञा निर्मल होकर सूक्ष्म विषयों को शीघ्र ग्रहण करने लगती है, तथा दुःख समाप्त होकर सुख की धारा निरन्तर बहने लगती है।

इस प्रकार योगदर्शन न केवल योग की शिक्षा प्रदान करता है, अपितु संसार के लोगों को दुःखसागर से निकाल कर उन्हें संसार बन्धन से निकालकर मुक्ति के मार्ग पर ले जाता है। संसार में विभिन्न दुःखों से पीडित जनों को दुःखों से कैसे पार पाया जा सकता है, यह शिक्षा भी प्रदान करता है। संसार के प्रिय लगने वाले विषय कैसे मानव को अपने बन्धनों में जकडते हैं और उनसे कैसे छूटा जा सकता है ये सब योगदर्शन में विस्तार से वर्णित है। योगशास्त्र में वर्णित उपायों को अपनाकर सांसारिक दुःखों से निवृत्ति सम्भव है।

---

४५ यो.द. ३.३
४६ यो.द. ३.४
४७ यो.द. ३.५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ० १७५-१७९) ISSN 0974 – 8830

बौद्धसम्मत कार्य-कारणवाद (प्रतीत्यसमुत्पाद) : एक विशिष्ट सिद्धान्त

डॉ. देवी सिंह[१]

भारतीय दर्शन के प्राय: सभी सम्प्रदायों ने कार्य-कारणवाद को अपनी ज्ञान मीमांसा का अभिन्न अंग माना है। न्याय-दर्शन असत्कार्यवाद को स्वीकार करता है तो सांख्य-दर्शन सत्कार्यवाद को मानता है। इसीप्रकार अन्य दार्शनिक-सम्प्रदायों ने भी कार्य-कारणवाद को अपने-अपने सिद्धान्तों में अपनाया है। अभिप्राय यह है कि सभी दर्शनों के अनुसार समस्त चराचर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और नाश की प्रक्रिया इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

बौद्धदर्शन में कार्य-कारणवाद को एक विशेष सिद्धान्त से अभिहित किया गया है, जिसका नाम है- 'प्रतीत्यसमुत्पाद'। यह सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन का सार कहा जाता है, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा है-

यो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति सो धम्मं पस्सति।
यो धम्मं पस्सति सो पटिच्चसमुप्पादं पस्सति।। [२]

अर्थात् जो प्रतीत्य-समुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है। बौद्धदर्शन के सभी सिद्धान्त इसी में ही समा जाते हैं। इस जगत् के मूल में यही नियम कार्य कर रहा है। जड़ और चेतन का नियामक तथा उत्पत्ति और विनाश का प्रदर्शक यह प्रतीत्यसमुत्पाद ही है।

'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द का अर्थ है- 'साक्षेप कारणतावाद'। 'प्रतीत्य' शब्द 'प्रति' उपसर्गपूर्वक ;इण् (गतौ) धातु से 'ल्यप्' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर। 'समुत्पाद' शब्द का अर्थ है- अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति।[३] भगवान् बुद्ध ने भी केवल इतना ही कहा है- **अस्मिन् सति इदं भवति**[४] अर्थात् इस चीज के होने पर यह चीज होती है। अत: जगत् की वस्तुओं या घटनाओं में सर्वत्र यह कार्य-कारण का नियम उपलब्ध होता है। बौद्धों के अनुसार कारणता का यह चक्र अनन्त तथा अनादि है। इसलिये वे इस जगत् का कोई भी मूल कारण मानकर इसका आरम्भ मानने के लिए तैयार नहीं है। यह नियम सब विषयों पर चलता है। इसके अपवाद केवल 'असंस्कृत धर्म' हैं, जो नित्य तथा अनुत्पन्न माने जाते हैं। समस्त संस्कृत-धर्म चाहे वे रूप, चित्त, चैतसिक या चित्तविप्रयुक्त हों, हेतु-प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं।[५]

वाचस्पति मिश्र कहते हैं- संक्षेप में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का लक्षण बुद्ध ने इस प्रकार किया है- 'यह (कार्य) कारण समुदाय (प्रत्यय) का फल है।' 'बुद्ध के मत में कार्य और कारण का सम्बध उत्पत्ति और अनुत्पत्ति से नियत किया गया है'। 'कार्य (धर्म) की कारण के नियम से उत्पत्ति होती है और कारण में कार्य

---

१ संस्कृत-पालि-प्राकृतविभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
२. मज्झिम निकाय, १.३.८
३. बलदेव उपाध्याय, बौद्ध धर्म मीमांसा, पृ०६०
४. (क) माध्यमिक वृत्ति, पृ०९ (ख) २४ पर उद्धृत
५. बौ०द०मी०, पृ०६१

के प्रति नियामकता होती है'। कारण को प्राप्त करके (प्रतीत्य) जो (कार्य द्वारा) उत्पत्ति का अनुसरण किया जाता है वही कारण-कार्य-सम्बन्ध है।[६]

श्चेरबात्स्की लिखते हैं- 'कुछ धर्मों की अन्य धर्मों की अपेक्षा से सामूहिक उत्पत्ति ही प्रतीत्य-समुत्पाद है।'[७] किन्तु बौद्ध दर्शन में 'प्रत्यय' शब्द का वही अर्थ नहीं है, जो न्यायादि दर्शनों में 'कारण' शब्द का होता है। बौद्धदर्शन में प्रत्यय शब्द कारण-समुदाय को प्रकट करता है। इस विषय में वाचस्पति मिश्र कहते हैं- 'हेतुओं का समुदाय ही प्रत्यय है। जो एक-एक हेतु की ओर अन्य हेतु गमन करते हैं, उन गमन करने वाले हेतुओं का भाव ही प्रत्यय या 'समुदाय' कहलाता है।[८]

'प्रतीत्यसमुत्पाद' के द्वादश माने गए हैं, जो एक-दूसरे के कारण से उत्पन्न होते हैं। इसे 'भवचक्र' के नाम से भी पुकारा जाता है। इसी चक्र के कारण इस संसार की सत्ता प्रामाणिक होती है। इनको 'निदान' भी कहा जाता है। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं[९] - (१) अविद्या, (२) संस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) षडायतन इन्द्रियाँ, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा, (९) उपादान (राग), (१०) भव, (११) जाति, (१२) जरा-मरण।

अनेक कारण मिलकर एक कार्य को उत्पन्न करते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहाँ जगत् में प्रयोगतः सिद्ध वस्तुस्थिति की व्याख्या करते हैं, वहां किसी ईश्वर के कर्त्तापन का भी खण्डन करते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि स्थिरवाद चाहे वह परमाणुओं का हो या ईश्वर का- कारणों की सामग्री को अस्तित्व में नहीं ला सकता, यह क्षणिकवाद ही है जो कि भावों की क्षणिकता- देश और काल में गति- की वजह से कारणों की सामग्री करा सकता है।[१०]

बौद्धनैयायिक आचार्य धर्मकीर्ति कहते हैं कि कार्यों के स्वभावों में जो भेद है, वह आकस्मिक नहीं बल्कि कारणों से उत्पन्न होता है। यदि कारणों के बिना किसी दूसरे से उत्पन्न होना माने तो कार्य के रूप को उससे उत्पन्न कैसे कहा जायेगा।[११] चूँकि सामग्री (त्रकारण-समुदाय) की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न रहती हैं, अतः इन्हीं के कारण वस्तुओं (कार्यों) में भिन्न रूपता दिखाई देती है। यह वह अनेक कारणों की सामग्री भेद करने वाली न होती तो यह जगत् एक रूप होता है।[१२] मिट्टी, चक्का, कुम्हार अलग-अलग किसी घट जैसे भिन्न रूप वाले कार्य को करने में असमर्थ हैं, कि उनके एकत्रित होने पर कार्य होता है। इससे ज्ञात होता है कि एकत्रित हुई उन क्षणि वस्तुओं में हेतुपन (कारणपन) है, ईश्वरादि में नहीं।[१३]

---

६. (क) 'संक्षेपतो हि प्रतीत्यसमुत्पादलक्षणमुक्तंबुद्धेन.......................... प्रतीत्यसमुत्पादानुलोमता'। भामंती, पृ०५२६
(ख) बौ०दो बि, पृ०१९६

७. The Combined origination (Sam-Utpāda) of some elements with regard (Pratitya to other elements. – Central Conception Buddhism, p. 23-24

८. बौ०द० वि०, पृ०१९७

९. बौ०द० मी०, पृ०६२

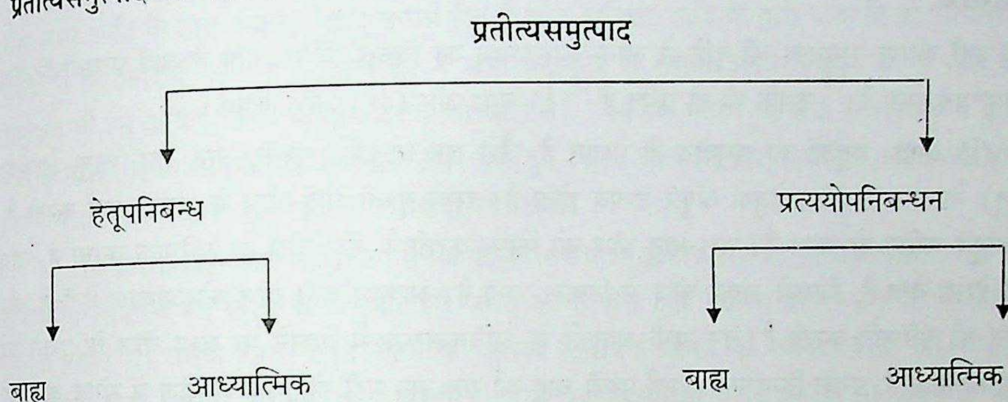
१०. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन, पृ०७६४-६५

११. प्र० वा०, ४.२४८

१२. वही, ४.२४९

१३. वही, २.२८

प्रतीत्यसमुत्पाद के भेद :



हेतूपनिबन्धन :

जहाँ एक-एक कारण की दृष्टि से कार्य-कारणवाद का विचार किया जाता है वहाँ हेतूपनिबन्धन प्रतीत्यसमुत्पाद होता है।[१४] इसके दो भेद हैं- (i) बाह्य (भूत, भौतिक), (ii) आध्यात्मिक (चित्त, चैत्त)।

(i) **बाह्य हेतूपनिबन्धन :** 'जो यह बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, अंकुर से पत्ता, पत्ते से तना (काण्ड), तने से नाल, नाल से गर्भ, गर्भ से शूक, शूक से पुष्प और पुष्प से फल होता है। यहाँ बीज के न होने पर अंकुर नहीं होता। इसी प्रकार पुष्प पर्यन्त के न होने पर फल भी नहीं होता। बीज के होने पर ही अंकुर होता है, पुष्प पर्यन्त के होने पर ही फल होता है। वहां बीज को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं बीज के द्वारा उत्पन्न किया गया हूँ। इसी प्रकार पुष्पपर्यन्त को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं फल को उत्पन्न करता हूँ तथा फल को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं पुष्प के द्वारा उत्पन्न किया गया हूँ। इसलिये बीज आदि में चेतनता न होते हुए भी और उनका कोई और अधिष्ठाता न होते हुए भी कार्यकारणभाव का नियम देखा जाता है।[१५]

(ii) **आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध :** जो ये अविद्या के कारण संस्कार उत्पन्न होते हैं तथा जाति पर्यन्त कारण जरा-मरण आदि होते हैं, इनमें यदि अविद्या न होती तो संसकार न उत्पन्न होते और इसी प्रकार जाति पर्यन्त न होते। यदि जन्य न होता तो जरा-मरण आदि न होते। यहाँ अविद्या को यह ज्ञान नहीं है कि मैं संस्कारों को उत्पन्न करती हूँ। संस्कारों को भी यह नहीं पता है कि हम अविद्या से उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार जन्मपर्यन्त को यह पता नहीं होता कि मैं जरा-मरण आदि को उत्पन्न करता हूँ। जरा-मरण को भी यह नहीं मालुम कि हम जन्य आदि के द्वारा उत्पन्न किये गए हैं। अतः अविद्या आदि के स्वयं चेतन न होते हुए भी तथा किसी अन्य चेतन के अधिष्ठातृत्व के बिना ही संस्कार आदि की इसी प्रकार उत्पत्ति हो जाती है। जैसे अचेतन बीज आदि के होने पर अन्य चेतन के नियन्त्रण के बिना ही अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है। अतः अपने कारण को प्राप्त करके यह कार्य उत्पन्न होता है, इतना ही देखा जाता है, क्योंकि चेतन के नियन्तृत्व की

१४. बौ०द० वि०, पृ०१९८
१५. बौ०द० वि०, पृ०१९८-९९

उपलब्धि नहीं होती। यही आध्यात्मिक हेतूपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है।[१६]

प्रत्ययोपनिबध :

जहाँ कारण-समुदाय की दृष्टि से कार्य-कारणभाव का विचार किया जाता है वहाँ प्रत्ययोपनिबन्ध प्रतीत्यसमुत्पाद होता है।[१७] इसके भी दो प्रभेद हैं- (i) बाह्य और (ii) आध्यात्मिक।

(i) बाह्य- हेतुओं का समुदाय ही प्रत्यय है, जैसे छह धातुओं (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और ऋतु) के योग से बीज हेतुक अंकुर उत्पन्न होता है। इसमें पृथ्वी धातु बीज में संग्रह कार्य करती है, जिससे अंकुर कठिन हो जाता है। जल धातु बीज को स्निग्ध करती है, तेज बीज का परिपाक करता है, वायु बीज को प्रेरणा देता है, जिससे अंकुर बीज से निकल जाता है। आकाश धातु बीज को आकाश देती है और ऋतु बीज की परिणति करती है। इन सभी धातुओं के अविकलरूप से मिलने पर तथा बीज के उगने पर अंकुर उत्पन्न होता है, इनके बिना नहीं। यहाँ पृथ्वी धातु को यह ज्ञान नहीं होता कि मैं बीज में संग्रह कर रही हूँ। ऋतुपर्यन्त को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं बीज की परिणति करती हूँ और अंकुर को भी यह ज्ञान नहीं होता कि मैं कारणों द्वारा उत्पन्न किया गया हूँ।[१८] इस प्रक्रिया को ही बाह्य प्रत्ययोपनिबन्धन प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।

(ii) आध्यात्मिक- पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और विज्ञान धातुओं के समवाय से काया (शरीर) की उत्पत्ति होती है। वहाँ पृथ्वी धातु काया के काठिन्य को उत्पन्न करती है, जल काया को स्निग्ध करता है, तेज युक्त-पीत वस्तु का परिपाक करता है, वायु शरीर में श्वास आदि की प्रक्रिया करता है और आकाश धातु शरीर के अन्दर अवकाश उत्पन्न करती है। विज्ञान धातु वह कही जाती है जो नाम-रूप के अंकुर रूप शरीर को उत्पन्न करती है तथा इन्द्रियों के पाँचों विज्ञानों से युक्त एवं कर्मसहित मनोविज्ञान को उत्पन्न करती है। जब आध्यात्मिक पृथ्वी आदि धातुएं अविकल रूप से उपस्थित हो जाती हैं तब सभी धातुओं के समवाय से काया की उत्पत्ति हो जाती है। यहाँ पृथ्वी आदि धातु को यह ज्ञान नहीं होता कि हम शरीर के काठिन्य आदि का सम्पादन कर रहे हैं। काया को भी यह पता नहीं होता कि मैं इन कारणों द्वारा उत्पन्न हुई हूँ। अत: पृथ्वी आदि अचेतन धातुओं से किसी अन्य चेतन अधिष्ठान के बिना ही उसी प्रकार शरीर की उत्पत्ति हो जाती है जिस प्रकार बीज से अंकुर की।[१९] भाव यह है कि बौद्धों के अनुसार शरीरोत्पत्ति में किसी ईश्वर आदि का हाथ नहीं है। जैसे कारणसामग्री से अंकुर आदि की उत्पत्ति होती है वैसे ही कारण-समवाय से शरीर की उत्पत्ति हो जाती है।

यहाँ पूर्वपक्ष शंका करता हुआ कहता है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति में चेतन योग नहीं होता परन्तु उन कारणों को एकत्रित करने में तो चेतन की आवश्यकता होती है, जैसे तन्तु से पट की उत्पत्ति में जुलाहे द्वारा ही सभी तन्तु वेम, तुरी इत्यादि कारणों से संग्रह किया जाता है। जुलाहे के न होने पर तन्तु, वेम आदि स्वयं ही पट नहीं बना सकते। अत: कार्य की उत्पत्ति के लिये जो कारणों को एकत्रित करने का

---

१६. वही, पृ०२००

१७. बौ०द० वि०, पृ०१९८

१८. वही, पृ०१९९-२००

१९. (क) अर्थप्रत्ययोपनिबन्धन....................दृष्टत्वान्नान्यथयितव्य: । भामती, पृ०५२७ (ख) बौ०द० वि०, पृ०२०१

समवधान है वह चेतन की बुद्धि के अधीन ही है।[२०]

इसका उत्तर देते हुए बौद्ध कहते हैं कि ये अविद्या आदि कारण एक दूसरे से उत्पन्न होने वाले हैं, जैसे जन्य आदि के द्वारा अविद्या आदि उत्पन्न होते हैं तथा अविद्या आदि के द्वारा जन्मादि की उत्पत्ति होती है। इनका न तो आदि है और न ही अन्त है। ये सभी घटीयन्त्र के समान अनवरत कार्य करते रहते हैं। इनका समुदाय भी इन अविद्या आदि के द्वारा उत्पन्न हो जाता है।[२१] क्षणिक पदार्थ भी सदा समुदाय रूप में ही प्रकट होते हैं तथा विलीन हो जाते हैं, वे इधर-उधर पड़े हुए किसी चेतन के द्वारा एकत्रित नहीं किये जाते, अतः किसी संघात करने वाले चेतन की आवश्यकता नहीं होती।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कार्यकारणवाद (प्रतीत्यसमुत्पाद) का सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का सर्वप्रमुख सिद्धान्त है। बौद्धों के अनुसार इस जगत् की उत्पत्ति और विनाश प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत ही चलती रहती है। उसके लिये किसी चेतन को उसका नियामक मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जिस प्रकार एक घड़ी निरन्तर रूप से कार्य करती है, उसी प्रकार अविद्या आदि कारण भी अपने से अग्रिम को उत्पन्न करते हुए एक चक्र के समान कार्य करते हैं, जिसे 'भवचक्र' भी कहा जाता है। बौद्धनैयायिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को हेतूपनिबन्धन और प्रत्ययोपनिबन्धन में विभक्त करके पुनः इसे बाह्य के द्वारा बीज अंकुर आदि की उत्पत्ति क्रम से समझाया है और आभ्यन्तर के द्वारा कार्योत्पत्ति के क्रम को बताया है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार भूत-भौतिक एवं चित्त-चैत्तिक से सभी प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं और प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश से ही यह जगत्-चक्र सतत रूप से चलता रहता है।

---

२०. चेतनो हि कुलालादिः...................... भवितुमुत्सहत इति । भामती, पृ०५२४-२४
२१. वही, पृ०५२८

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्वर २०११ अङ्क १६ (पृ०१८०-१८८) ISSN 0974 – 8830

मत्स्यपुराणगत वास्तुविवेचन

डॉ. डॉली जैन[1]

वैदिक साहित्य के पश्चात् हिन्दू धर्म को जिन ग्रन्थों ने सर्वाधिक प्रभावित किया, उनमें पुराणों का नाम अग्रगण्य हैं। पुराणों की संख्या अठारह है। अठारह पुराणों में मत्स्यपुराण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। भगवान् विष्णु के मत्स्यावतार से सम्बद्ध होने के कारण यह मत्स्यपुराण कहलाता है। भगवान् मत्स्य के द्वारा राजा वैवस्वत मनु तथा सप्तर्षियों को जो अत्यन्त दिव्य एवं कल्याणकारी उपदेश दिए गए थे, वे ही मत्स्यपुराण में संगृहीत हैं।

इस पुराण की श्लोक संख्या १४००० है जो २९१ अध्यायों में उपनिबद्ध है। इसमें भगवान् के मत्स्यपुराण की कथा,-मत्स्य संवाद, सृष्टिवर्णन, तत्त्वमीमांसा, मन्वन्तर तथा पितृवंश का विस्तृत वर्णन है। श्राद्धों के सांगोपांग निरूपण के साथ चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन भी इस पुराण का पठनीय विषय है। पुराणों का विषयानुक्रमणिका, भृगु, अंगिरा, अत्रि, विश्वामित्र, वसिष्ठ, गोत्रप्रवर्तक ऋषियों के वंशवर्णन, राजनीति, यात्राकाल, स्वप्नशास्त्र, शकुनशास्त्र, अंग स्फुरण, ज्योतिषशास्त्र, रविज्ञान, विभिन्न देवताओं की प्रतिमाओं के स्वरूप लक्षण, प्रतिमान-मान तथा निर्माण विधि, देव प्रतिष्ठा आदि इस पुराण के अन्य उपयोगी विषय हैं। इन विविध विषयों के मध्य इसमें वास्तुविद्या, वास्तुप्रादुर्भाव, गृहनिर्माण विधि का भी विस्तृत विवेचन मिलता है। मत्स्यपुराण में उपलब्ध यही वास्तुविद्या इस शोधपत्र का आधार है।

वास्तु की सामान्य उत्पत्ति 'वस्तु' शब्द से मानी जाती है। 'वस्तु' का अर्थ है 'जो है' या जिसकी सत्ता है। व्यावहारिक दृष्टि से जिस शास्त्र द्वारा भूमि, भवन-निर्माण इत्यादि के शुभ-अशुभ का ज्ञान होता है, वही वास्तु शास्त्र है। इस विधि द्वारा भवननिर्माण के अन्तर्गत नवग्रहों एवं पञ्च तत्त्वों (अग्नि, जल वायु, पृथ्वी और आकाश) के उचित स्थान एवं दिशाओं का विशेष रखा जाता है। मत्स्यपुराश में उपलब्ध वास्तुविद्या को निम्न बिन्दुओं में वर्गीकृत किया जा सकता है:-

वास्तु विद्या के उपदेष्टा :-

मत्स्यपुराण में वास्तुविद्या के प्रथम उपदेष्टा मत्स्यरूपधारी भगवान् को माना गया है जिन्होंने इस विद्या का प्रथम ज्ञान मनु को दिया था।[2] इसके अतिरिक्त भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, भगवान् शंकर, इन्द्र[3], ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश्वर, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति ये अठारह वास्तुशास्त्र के उपदेष्टा माने गए हैं।[4]

वास्तुप्रादुर्भाव

मत्स्यपुराण में वास्तु के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में एक कथा प्राप्त होती है। प्राचीन काल में अन्धक

---

१. वरिष्ठ प्रवक्ता, ६१२, गौतम बुद्ध निवास, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक (राज.)

२. संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरूपिणा। तदिदानीं प्रवक्ष्यामि वास्तुशास्त्रमनुत्तमम्॥ मत्स्यपुराण-२५२/४-५

३. भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा। नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥ मत्स्यपुराण-२५२/२

४. ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एवच। वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥ मत्स्यपुराण-२५२/३

वध के समय भगवान् शंकर के ललाट से पृथ्वी पर स्वेद बिन्दु गिरे थे। उससे एक भीषण एवं विकराल मुख वाला उत्कट प्राणी उत्पन्न हुआ।[5] वह उस युद्ध में पृथ्वी पर गिरे हुए सारे रक्त को पान कर गया, किन्तु इतने पर भी वह तृप्त नहीं हुआ।[6] तब वह भगवान् सदाशिव के सम्मुख अत्यन्त घोर तपस्या में संलग्न हो गया, भूख से व्याकुल होने पर वह पुनः त्रिलोकी को भक्षण करने के लिए उद्यत हुआ।[7]

तब शिवजी ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर वर माँगने के लिए कहा[8], तब उस प्राणी ने शिवजी से कहा, मैं तीनों लोकों को ग्रस लेने के लिए समर्थ होना चाहता हूँ।[9] शिवजी से ऐसा वर प्राप्त करने पर वह प्राणी अपने विशाल शरीर से स्वर्ग, सम्पूर्ण भूमण्डल और आकाश को अवरुद्ध करता हुआ पृथ्वी पर आ गिरा।[10]

तब भयभीत हुए देवताओं तथा ब्रह्मा, शिव, दानव, दैत्य और राक्षसों द्वारा वह स्तम्भित कर दिया गया।[11] उस समय जिसने उसे जहाँ पर आक्रान्त कर रखा था, वह वहीं निवास करने लगा।[12] तब उस प्राणी के सभी देवताओं से प्रसन्न होने का निवेदन किया और कहा कि इस प्रकार अवरुद्ध मैं किस तरह कब तक स्थित रह सकूँगा।[13]

उसके ऐसा निवेदन करने पर ब्रह्मा आदि देवताओं ने कहा कि वास्तु के प्रसङ्ग में तथा वैश्वदेव के अन्त में जो बलि दी जाएगी, वह निश्चय ही तुम्हारा आहार होगी, वास्तुशान्ति के लिए जो यज्ञ होगा, वह भी तुम्हें आहार के रूप में प्राप्त होगा।[14] ऐसा कहे जाने पर वह वास्तु नामक प्राणी प्रसन्न हो गया। इसी कारण तब से शान्ति के लिए वास्तुयज्ञ का प्रवर्तन हुआ।[15]

गृह निर्माण हेतु उचित समय :-

मत्स्यपुराण में गृह निर्माण हेतु उचित व अनुचित मुहूर्त्त पर भी विचार किया गया है। गृहारम्भ में अश्विनी, रोहिणी, मूल, तीनों उत्तरा, मृगशिरा, स्वाति, हस्त और अनुराधा-ये नक्षत्र प्रशस्त कहे गए हैं।[16] रविवार और मंगलवार को छोड़ कर शेष सभी दिन शुभदायक हैं। व्याघात, शूल, व्यतीपात, अतिगण्ड,

---

५. पुरान्धकवधे धीरे घोररूपस्य शूलिनः। ललाटस्वेदसलिलमपतद् भुवि भीषणम्॥ करालवदनं तस्माद् भूतमद्भुतमुल्बणम्। मत्स्यपुराण-२५२/५,६

६. तेन तत् समरे सर्वं पतितं यन्महीतले। तथापि तृप्तमगमत्र तद् भूतं यदा तदा॥ मत्स्यपुराण-२५२/८

७. सदाशिवस्य पुरतस्तपश्चक्रे सुदारुणम्। क्षुधाविष्टं तु तत् भूतमाहर्तुं जगतीत्रयम्॥ मत्स्यपुराण-२५२/९

८. ततः कालेन संतुष्टो भैरवस्तस्य चाह वै। वरं वृणीष्व भद्रं ते यदभीष्टं तवानघ॥ मत्स्यपुराण-२५२/१०

९. तमुवाच ततो भूतं त्रैलोक्यग्रसनक्षमम्। भवामि देवदेवेश तथेत्युक्तं च शूलिना॥ मत्स्यपुराण-२५२/११

१०. ततस्तत् त्रिदिवं सर्वं भूमण्डलमशेषतः। स्वदेहेनान्तरिक्षं च रुन्धानं प्रपतद् भुवि॥ मत्स्यपुराण-२५२/१२

११. भीतभीतैस्ततो देवैर्ब्रह्मणा चाथ शूलिना। दानवासुररक्षोभिरवष्टब्धं समन्ततः॥ मत्स्यपुराण-२५२/१३

१२. येन यत्रैव चक्रान्तं स तत्रैवावसत् पुनः। निवासात् सर्वदेवानां वास्तुरित्यभिधीयत्॥ मत्स्यपुराण-२५२/१४

१३. अवष्टब्धेन तेनापि विज्ञप्ताः सर्वदेवताः। प्रसीदध्वं सुराः सर्वे युष्माभिर्निश्चलीकृतः॥ स्थास्याम्यहं किमाकारो ह्यवष्टब्धो ह्यधोमुखः। मत्स्यपुराण-२५२/१५, १६

१४. ततो ब्रह्मादिभिः प्रोक्तं वास्तुमध्ये तुयो बलिः। आहारो वैश्वदेवान्ते नूनमस्य भविष्यति। वास्तूपशमनो यज्ञस्तवाहारो भविष्यति। मत्स्यपुराण-२५२/१६, १७

१५. एवमुक्तस्ततो हृष्टः स वास्तुरभवत् तदा। वास्तुयज्ञः स्मृतस्तस्मात् ततः प्रभृति शान्तये। मत्स्यपुराण-२५२/१९

१६. अश्विनी रोहिणी मूलमुत्तरात्रयमैन्दवम्। स्वाती हस्तोऽनुराधा च गृहारम्भे प्रशस्यते। मत्स्यपुराण-२५३/६

विष्कम्भ, गण्ड, परिघ और वज्र इन योगों में गृहारम्भ नहीं करना चाहिए।[१७] श्वेत, मैत्र, माहेन्द्र, गान्धर्व, अभिजित, रौहिण, वैराज और सावित्र इन मुहूर्त्तों में गृहारम्भ करना चाहिए। चन्द्रमा और सूर्य के बल के साथ ही साथ शुभ लग्न का भी निरीक्षण करना चाहिए।[१८]

गृह निर्माण हेतु भूमि परीक्षण :-

मत्स्यपुराण के अनुसार पहले भूमि की परीक्षा कर फिर बाद में वहाँ गृह निर्माण करना चाहिए। श्वेत, लाल, पीली और काली इन चार वर्णों वाली पृथ्वी ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लिए प्रशंसित मानी गई है।[१९] भूमि की परीक्षा के लिए एक साथ गहरा गड्ढा खोदकर उसे उसी मिट्टी से पूर्ण करना चाहिए यदि मिट्टी शेष रह जाए तो श्री की प्राप्ति होती है, न्यून हो जाय तो हानि होती है तथा सम रहने से समभाव होता है। अथवा भूमि को हल द्वारा जुतवा कर उसमें सभी प्रकार के बीज बो देने चाहिए।[२०] यदि वे बीज तीन, पांच तथा सात रातों में अंकुरित हो जाते हैं तो भूमि क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ माननी चाहिए। कनिष्ठ भूमि को सर्वथा त्याग देना चाहिए।[२१]

इस प्रकार भूमि परीक्षा कर पञ्चगव्य और औषधियों के जल से भूमि को सींचना चाहिए और सुवर्ण की सलाई द्वारा रेखा खींच कर इक्यासी कोष्ठ बनाने चाहिएँ।[२२] सूत से दस रेखाएँ पूर्व से पश्चिम तथा दस रेखाएँ उत्तर से दक्षिण की ओर खींचनी चाहिए।[२३] सभी प्रकार के वास्तु विभागों में इस ८१ कोष्ठ का वास्तु जानना चाहिए। वास्तुवित् को सभी प्रकार के वास्तु सम्बन्धी कार्यों में इसका उपयोग करना चाहिए।[२४]

वास्तु पूजा :-

तत्पश्चात् इन कोष्ठों में स्थित पैंतालीस देवताओं की पूजा करनी चाहिए।[२५] शिखी, पर्जन्य, जयन्त, इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश, अन्तरिक्ष, वायु, पूषा, वितथ, बृहक्षत, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, जलाधिप, असुर, शोष, पाप, रोग, अहि, मुख्य, भल्लाट, सोम, सर्प, अदिति, दिति ये ३२ बाह्य देवता हैं।[२६] आप, सावित्र, जय, रुद्र[२७] ब्रह्मा, अर्यमा, सविता, विवस्वान्, विबुधाधित्य, मित्र, राजयक्ष्मा,

---

१७. आदित्य भौमवर्ज्यास्तु सर्वे वाराः शुभावहाः। वर्ज्यं व्याघातशूले च व्यतीपातातिगण्डयोः॥ विष्कम्भगण्डपरिघवज्रयोगे न कारयेत्। मत्स्यपुराण-२५३/७, ८

१८. श्वेते मैत्रेऽथ माहेन्द्रे गान्धर्वाभिजिति रौहिणे। तथा वैराजसावित्रे मुहुर्ते गृहमारभेत्। चन्द्रादित्यबलं लब्ध्वा शुभलग्नं निरीक्षयेत्॥ मत्स्यपुराण-२५३/८, ९

१९. पूर्वं भूमिं परीक्षेत पश्चातद्वास्तुं प्रकल्पयेत्। श्वेता रक्ता तथा पीता कृष्णा चैवानुपूर्वशः॥ मत्स्यपुराण-२५३/११

२०. रत्निमात्रमधोगर्त्ते परीक्ष्यं खातपूरणे। अधिके श्रियमाप्नोति न्यूने हानिं समे समम्। फालकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत्॥ मत्स्यपुराण-२५३/१६, १७

२१. त्रिपञ्चसप्तरात्रे च यत्रारोहन्ति तान्यपि। ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठा भूर्वर्जनीयतरा सदा॥ मत्स्यपुराण-२५३/१८

२२. पञ्चगव्यौषधिजलैः परीक्षित्वा च सेचयेत्। एकाशीतिपदं कृत्वा रेखाभिः कनकेन च॥ मत्स्यपुराण-२५३/१९

२३. पश्चात् पिष्टेन चालिप्य सूत्रेणालोड्यि सर्वतः। दश मूर्वायतां लेखा दश चैवोत्तरायताः॥ मत्स्यपुराण-२५३/२०

२४. सर्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव। एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुवित् सर्ववास्तुषु॥ मत्स्यपुराण-२५३/

२५. पदस्थान पूजयेद् देवांस्त्रिंशत् पञ्चदशैव तु। मत्स्यपुराण-२५३/२२

२६. शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः। सूर्यसत्यौ भृशश्चैव आकाशो वायुरेव च॥ मत्स्यपुराण-२५३/२४. पूषा च वितथश्चैव बृहक्षतयमावु भौ [illegible] मत्स्यपुराण-२५३/२५. दौवारिकोऽथ सुग्रीवः पुष्पदन्तो

पृथ्वी धर, आपवत्स ये १३ भीतरी देवता हैं।[२८]

भवनों के विविध प्रकार :-

वास्तु पूजा के पश्चात् विविध भवनों के स्वरूप का विस्तार से विवेचन किया गया है। ये भवन चतुःशाल, त्रिशाल, द्विशाल भेद से कई प्रकार के होते हैं। ऐसे भवनों का उल्लेख वाल्मीकि रामायण, राजतरंगिणी, मृच्छकटिक आदि में प्राप्त होता है।

जो चतुःशाल चारों ओर भवन, द्वार तथा बरामदों से युक्त हो, उसे सर्वतोभद्र कहा जाता है। वह देव मंदिर तथा राजभवन के लिए मङ्गलकारक होता है।[२९] वही चतुःशाल पश्चिम, दक्षिण, पूर्व व उत्तर द्वार से विहीन होने पर क्रमशः नन्द्यावर्त, वर्धमान, स्वस्तिक व रुचक कहा जाता है।[३०]

उत्तर दिशा की शाला से रहित जो त्रिशाल भवन होता है उसे 'धान्यक' कहते हैं। वह मनुष्यों के लिए कल्याण करने वाला, अनेक पुत्र रूप फल देने वाला होता है।[३१] पूर्व की शाला से विहीन त्रिशाल भवन को 'सुक्षेत्र' कहते हैं। वह धन, यश और आयु प्रदान करने वाला तथा शोक-मोह का विनाशक होता है।[३२] जो दक्षिण की शाला से विहीन होता है, उसे 'विशाल' कहते हैं, वह मनुष्यों के कुल का क्षय करने वाला तथा सब प्रकार की व्याधि और भय देने वाला होता है।[३३] जो पश्चिम शाला से हीन होता है, उसे पक्षघ्न कहते हैं, वह मित्र, बन्धु और पुत्रों का विनाशक तथा भयदायक होता है।[३४]

दक्षिण एवं पश्चिम दो शालाओं से युक्त भवन को धनधान्यप्रद कहते हैं। वह कल्याणवर्धक तथा पुत्रप्रद कहा गया है।[३५] पश्चिम और उत्तर शाला वाले भवन को 'यमसूर्य'[३६] पूर्व व उत्तर की दो शालाओं वाले भवन को 'दण्ड'[३७] पूर्व व दक्षिण की शालाओं वाले भवन को 'धन'[३८] पूर्व व पश्चिम की शालाओं वाले भवन को 'चुल्ली'[३९] कहा जाता है।

जलाधिपः। असुरः शोषपापौ च रोगोऽहिमुख्य एव च॥ मत्स्यपुराण-२५३/२६. भल्लाटः सोमसर्पौ च अदितिश्च दितिस्तथा। बहिर्द्वात्रिंशदेते तु तदन्तस्तु ततः श्रृणु॥ मत्स्यपुराण-२५३/२७

२७. ईशानादिचतुष्कोण संस्थितान् पूजयेद् बुधः। आपश्चैवाथ सावित्रो जयो रुद्रस्तथैव च॥ मत्स्यपुराण-२५३/२८

२८. मध्ये नवपदे ब्रह्मा तस्याष्टौ च समीपगान्। अर्यमा सविता चैव विवस्वान् विबुधाधिपः॥ मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधरः समृतः॥ मत्स्यपुराण-२५३/२९, ३०

२९. चतुःशालं चतुर्द्वारैरलिन्दैः सर्वतोमुखम्। नाम्ना तत् सर्वतोभद्रं शुभं देवनृपालये॥ मत्स्यपुराण-२५४/२

३०. पश्चिमद्वारहीनं च नन्द्यावर्तं प्रचक्षते। मत्स्यपुराण-२५४/२. दक्षिणद्वारहीनं तु वर्धमानमुदाहृतम्॥ पूर्वद्वारविहीनं तत् स्वस्तिकं नाम विश्रुतम्। मत्स्यपुराण-२५४/३. रुचकं चोत्तरद्वारविहीनं तत् प्रचक्षते॥ मत्स्यपुराण-२५४/४

३१. सौम्यशालाविहीनं यत् त्रिशालं धान्यकं च तत्। क्षेमवृद्धिकरं नृणां बहुपुत्रफलप्रदम्॥ मत्स्यपुराण-२५४/५

३२. शालया पूर्वया हीनं सुक्षेत्रमिति विश्रुतम्। धन्यं यशस्यमायुष्यं शोकमोहविनाशनम्॥ मत्स्यपुराण-२५४/६

३३. शालया याम्यया हीनं यद् विशालं तु शालया। कुलक्षयकरं नृणां सर्वव्याधिभयावहम्॥ मत्स्यपुराण-२५४/६, ७

३४. हीनं पश्चिमया यत् तु पक्षघ्नं नाम तत् पुनः। मित्रबन्धुसुतान् हन्ति तथा सर्व भयावहम्॥ मत्स्यपुराण-२५४/७, ८

३५. याम्यापराभ्यां शालाभ्यां धनधान्यफलप्रदम्। क्षेमवृद्धिकरं नृणां तथा पुत्रफलप्रदम्॥ मत्स्यपुराण-२५४/८, ९

३६. यमसूर्यं च विज्ञेयं पश्चिमोत्तरशालकम्। मत्स्यपुराण-२५४/९

३७. राजाग्निभयदं नृणां कुलक्षयकरं च यत्। उदकपूर्वे तु शाले दण्डाख्ये यत्र तद् भवेत्॥ मत्स्यपुराण-२५४/१०

३८. अकालमृत्युभयदं परचक्र भयावहम्। धनाख्यं पूर्वयाम्याभ्यां शालाभ्यां यद् शालकम्। मत्स्यपुराण-२५४/११

३९. तच्छस्त्रभयदं नृणां पराभव भयावहम्। चुल्ली पूर्वापराभ्यां तु सा भवेन्मृत्युसूचनी॥ मत्स्यपुराण-२५४/१२

समाज के विभिन्न वर्गों के अनुसार विविध भवन :-

मत्स्यपुराण में समाज के विभिन्न वर्गों के लिए भवनों के विविध भेद बताए गए हैं। राजभवन, सेनापति, मन्त्री, सामन्त, शिल्पकार व वैश्या, दूतीकर्म करने वाले मनुष्यों के भवन उत्तमादि भेद से पांच-पांच प्रकार के होते हैं। ये पञ्च प्रकार भवनों के आकार के आधार पर निर्धारित किए गए हैं। जिन्हें निम्न सारणियों द्वारा समझा जा सकता है:-

राजभवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	१०८ हाथ	२७ हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	१०० हाथ	२५ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	९२ हाथ	२३ हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	८४ हाथ	२१ हाथ से अधिक
पञ्चम प्रकार	७६ हाथ	१९ हाथ से अधिक

प्रत्येक भवन में विस्तार आठ-आठ हाथ कम होता जाता है व लम्बाई विस्तार के चतुर्थांश से अधिक होती है।[४०]

युवराज के भवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	८० हाथ	२६.६ हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	७४ हाथ	२४.६ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	६८ हाथ	२२.६ हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	६२ हाथ	२०.६ हाथ से अधिक
पञ्चम प्रकार	५६ हाथ	१८.६ हाथ से अधिक

युवराज के उत्तम भवन की चौड़ाई अस्सी हाथ की होती है। अन्य में छह-छह हाथ चौड़ाई कम होती जाती है। लम्बाई चौड़ाई से एक तिहाई अधिक कही गई है।[४१]

सेनापतियों के भवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	६४ हाथ	१०.६ हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	५८ हाथ	९.६ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	५२ हाथ	८.६ हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	४६ हाथ	७.६ हाथ से अधिक

४०. पञ्चपकारं तत् प्रोक्तमुत्तमादिविभेदतः। अष्टोत्तरं हस्तशतं विस्तरश्चोत्तमो मतः॥ मत्स्यपुराण-२५४/१५. चतुर्ष्वन्येषु विस्तारो हीयते चाष्टभिः करैः। चतुर्थांशाधिकं दैर्घ्यं पञ्चस्वपि निगद्यते॥ मत्स्यपुराण-२५४/१६

४१. युवराजस्य वक्ष्यामि तथा [illegible] विस्तरात्। त्र्यंशेन चाधिकं दैर्घ्यं पञ्चस्वपि निगद्यते॥ मत्स्यपुराण-२५४/१७, १८

पञ्चम प्रकार	४० हाथ	६.६ हाथ से अधिक

सेनापति का उत्तम भवन ६४ हाथ का होता है। अन्य चार भवनों की चौड़ाई छह-छह हाथ कम होती जाती है। लम्बाई चौड़ाई के षष्ठांश से अधिक होनी चाहिए।[४२]

मंत्रियों के भवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	६० हाथ	७.५ हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	५६ हाथ	७ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	५२ हाथ	६.५ हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	४८ हाथ	६ हाथ से अधिक
पञ्चम प्रकार	४४ हाथ	५.५ हाथ से अधिक

मंत्री के उत्तम भवन का विस्तार ६० हाथ होता है। अन्य चार क्रमशः चार-चार हाथ कम हो जाते हैं। लम्बाई चौड़ाई के अष्टांश से अधिक होती है।[४३]

सामन्तों व अमात्यों के भवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	४८ हाथ	६० हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	४४ हाथ	५५ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	४० हाथ	५० हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	३६ हाथ	४५ हाथ से अधिक
पञ्चम प्रकार	३२ हाथ	४० हाथ से अधिक

सामन्त इत्यादि के उत्तम भवन की चौड़ाई ४८ हाथ होती है। अन्यों की क्रमशः चार-चार हाथ कम होती जाती है। लम्बाई चौड़ाई की अपेक्षा सवाया अधिक होती है।[४४]

शिल्पकारों व वैश्याओं के भवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	२८ हाथ	५६ हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	२६ हाथ	५२ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	२४ हाथ	४८ हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	२२ हाथ	४४ हाथ से अधिक
पञ्चम प्रकार	२० हाथ	४० हाथ से अधिक

४२. सेनापतेः प्रवक्ष्यामि तथा भवनपञ्चकम्। चतुःषष्टिस्तु विस्तारात् षड्भिः षड्भिस्तु हीयते। पञ्चस्वेतेषु दैर्घ्यं च षड्भागेनाधिकं भवेत्॥ मत्स्यपुराण-२५४/१८, १९

४३. मन्त्रिणामथ वक्ष्यामि तथा भवनपञ्चकम्। चतुश्चतुर्भिहीना स्यात् करषष्टिः प्रविस्तरे॥ अष्टांशेनाधिकं दैर्घ्यं पञ्चस्वपि निगद्यते॥ मत्स्यपुराण-२५४/२०, २१

४४. सामन्तामात्यलोकानां वक्ष्ये भवनपञ्चकम्। चत्वारिंशत् तथाष्टौ च चतुर्भिर्हीयते क्रमात्॥ चतुर्थांशाधिकं दैर्घ्यं पञ्चस्वेतेषु शस्यते। मत्स्यपुराण-२५४/२१, २२

उत्तम भवन २८ हाथ चौड़ा होता है। अन्य भवनों की चौड़ाई दो-दो हाथ कम होती है। लम्बाई चौड़ाई से दुगुनी होती है।[४५]

दूती कर्म करने वाले मनुष्यों के भवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	१२ हाथ	१५ हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	११.५ हाथ	१४.३ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	११ हाथ	१३.७ हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	१०.५ हाथ	१३.१ हाथ से अधिक
पञ्चम प्रकार	१० हाथ	१२.५ हाथ से अधिक

दूती कर्म करने वालों के उत्तम भवन की चौड़ाई १२ हाथ होती है। अन्य गृहों की चौड़ाई आधा-आधा हाथ कम होती जाती है। लम्बाई चौड़ाई से सवाया अधिक होती है।[४६]

ज्योतिषियों के भवन		
प्रकार	चौड़ाई	लम्बाई
प्रथम प्रकार	४० हाथ	६.६ हाथ से अधिक
द्वितीय प्रकार	३६ हाथ	६ हाथ से अधिक
तृतीय प्रकार	३२ हाथ	५.३ हाथ से अधिक
चतुर्थ प्रकार	२८ हाथ	४.६ हाथ से अधिक
पञ्चम प्रकार	२४ हाथ	४ हाथ से अधिक

ज्योतिषी, गुरु, वैद्य, सभापति इत्यादि के उत्तम भवन की चौड़ाई चालीस हाथ होती है। शेष की चौड़ाई क्रम से चार-चार हाथ कम होती जाती है। लम्बाई चौड़ाई के षष्ठांश से अधिक होती है।[४७]

स्तम्भ विधि :-

मत्स्यपुराण में भवनों के स्तम्भों के परिणाम व प्रकार का उचित विवेचन किया गया है। खम्भे के परिमाण के बारे में कहा गया है कि गृह की ऊँचाई के मान को सात से गुणा कर उसके अस्सीवें भाग के बराबर खम्भे की मोटाई होनी चाहिए। उसकी मोटाई में नौ से गुणा कर ८०वें भाग के बराबर खम्भे का मूल भाग होना चाहिए।[४८]

चार कोण वाला स्तम्भ 'रुचक', आठ कोण वाला 'वज्र', सोलह कोण वाला 'द्विवज्र', बत्तीस कोण

---

४५. शिल्पिनां कञ्चुकीनां च वैश्यानां गृहपञ्चकम्। अष्टाविंशत् कराणां तु विहीनं विस्तरे क्रमात्।। द्विगुणं दैर्घ्यमेवोक्तं मध्यमेष्वेवमेव तत्। मत्स्यपुराण-२५४/२३, २४

४६. दूतीकर्मान्तिकादीनां वक्ष्ये भवनपञ्चकम्। चतुर्थांशाधिकं दैर्घ्यं विस्तारो द्वादशैव तु।। अर्धार्धकरहानिः स्याद् विस्तारात् पञ्चशः क्रमात्।। मत्स्यपुराण-२५४/२४, २५

४७. चत्वारिंशत् तु विस्ताराच्चतुर्भिर्हीयते क्रमात्। पञ्चस्वेतेषु दैर्घ्यं च षड्भागेनाधिकं भवेत्।। मत्स्यपुराण-२५४/२७

४८. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि स्तम्भमानविनिर्णयम्। कृत्वा स्वभवनोच्छ्रायं सदा सप्तगुणं बुधैः। अशीत्यंशः पृथुत्वे स्यादग्रे नवगुणे सति। मत्स्यपुराण-२५५/१, २

वाला 'प्रलीनक' कहा जाता है। मध्य प्रदेश में जो खम्भा वृत्ताकार रहता है, उसे 'वृत्त' कहा जाता है।[४९] ये पांच प्रकार के स्तम्भ वास्तुकार्य में प्रशंसनीय कहे गए हैं।

द्वार स्थापना :-

सभी प्रकार के गृहों में दाहिनी ओर प्रवेश द्वार रखना चाहिए।[५०] पूर्व दिशा में इन्द्र और जयन्तद्वार सभी गृहों में श्रेष्ठ माने गए हैं। दक्षिण द्वारों में याम्य और वितथ श्रेष्ठ माने गए हैं।[५१] पश्चिम द्वारों में पुष्पदन्त और वरुण प्रशंसित हैं। उत्तर द्वारों में भल्लाट और सौम्य शुभदायक होते हैं।[५२]

गृह निर्माण विधि :-

देवालय, धूर्त, सचिव या चौराहे के समीप भवन निर्माण निषिद्ध किया गया है क्योंकि इससे दुःख, शोक और भय बना रहता है।[५३] घर के चारों ओर तथा द्वार के सम्मुख और पीछे कुछ भूमि को छोड़ देना शुभकारक है।[५४] पिछला भाग दक्षिणावर्त रहना चाहिए क्योंकि वामावर्त विनाशकारक होता है। दक्षिण भाग में ऊँचा रहने वाला घर 'सम्पूर्ण' वास्तु के नाम से अभिहित किया जाता है और कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है।[५५]

सर्वप्रथम वेदज्ञ पुरोहित को श्वेत वस्त्र धारण कर कारीगर के साथ ज्योतिषी के कथनानुसार शुभ मुहूर्त में सभी बीजों से युक्त आधारशिला को रख के ऊपर स्थापित करना चाहिए।[५६] पुनः चार ब्राह्मणों द्वारा उस स्तम्भ की भली भाँति पूजा करवाकर अक्षत, वस्त्र, अलंकार और सर्वौषधि से पूजित कर मन्त्रोचारण और मांगलिक गीत आदि शब्द के साथ स्थापित करें।[५७] ब्राह्मणों को खीर का भोजन कराकर **'वास्तोष्पते प्रति जानीहि'**[५८] इस मन्त्र के द्वारा मधु और घी से हवन करवाना चाहिए।[५९] वास्तु यज्ञ पांच प्रकार के हैं:- सूत्रपात, स्तम्भारोहण, द्वारवंशोच्छ्रय (चौखट स्थापन) गृह प्रवेश और वास्तुशान्ति।[६०] इस ढंग से बना हुआ

---

४९. रुचकश्चतुरः स्यात् तु अष्टास्त्रो वज्र उच्यते। द्विवज्रः षोडशास्त्रस्तु द्वात्रिंशास्त्रः प्रलीनकः॥ मध्यप्रदेशे यः स्तम्भो वृत्तो वृत्त इति स्मृतः॥ मत्स्यपुराण-२५५/२, ३

५०. वासगेहानि सर्वेषां प्रविशेद् दक्षिणेन तु। द्वाराणि तु प्रवक्ष्यामि प्रशस्तानीह यानि तु॥ मत्स्यपुराण-२५५/७

५१. पूर्वेणेन्द्रं जयन्तं च द्वारं सर्वत्र शस्यते। याम्यं च वितथं चैव दक्षिणेन विदुर्बुधाः॥ मत्स्यपुराण-२५५/८

५२. पश्चिमे पुष्पदन्तं च वारुणं च प्रशस्यते। उत्तरेण तु भल्लाटं सौम्यं तु शुभदं भवेत्॥ मत्स्यपुराण-२५५/९

५३. न देवधूर्तसचिवचत्वराणां समीपतः। कारयेद् भवनं प्राज्ञो दुःखशोकमयं ततः॥ मत्स्यपुराण-२५६/२

५४. तस्य प्रदेशाश्चत्वारस्तथोत्सर्गोऽग्रतः शुभः। पृष्ठतः पृष्ठभागस्तु सव्यावर्तः प्रशस्यते॥ मत्स्यपुराण-२५६/३

५५. अपसव्यो विनाशाय दक्षिणे शीर्षकस्तथा। सर्वकामफलो नृणां सम्पूर्णो नाम वामतः॥ मत्स्यपुराण-२५६/४

५६. रत्नोपरि शिलां कृत्वा सर्वबीजसमन्विताम्। चतुर्भिर्ब्राह्मणैः स्तम्भं कारयित्वा सुपूजितम्॥ मत्स्यपुराण-२५६/६

५७. शुक्लाम्बरधरः शिल्पिसहितो वेदपारगः स्नापितं विन्यसेत् तद्वत् सर्वौषधिसमन्वितम्॥ मत्स्यपुराण-२५६/७

५८. वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवान्। यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋ०७.५४.१

५९. पायसं भोजयेद् विप्रान् होमं तु मधुसर्पिषा। वास्तोष्पते प्रतिजानीहि मन्त्रेणानेन सर्वदा॥ मत्स्यपुराण-२५६/९

६०. सूत्रपाते तथा कार्यमेवं स्तम्भोदये पुनः। द्वारवंशोच्छ्रये तद्वत् प्रवेशसमये तथा॥ वास्तूपशमने तद्वद वास्तुयज्ञस्तु पञ्चधा। मत्स्यपुराण-२५६/१०, ११

भवन गृहस्पति के लिए मंगलकारी होता है।[६१]

इस प्रकार वास्तु के उपदेष्टा, प्रादुर्भाव, गृह निर्माण हेतु उचित समय व उचित भूमि, वास्तु पूजा, विविध भवन प्रकार इत्यादि के विषय में उचित नियमों को प्रस्तुत करने वाले इस पुराण में वास्तुशास्त्र का सांगोपांग विवेचन किया गया है। इससे प्रस्तुत पुराण की सार्थकता व प्रासंगिकता बढ़ी है।

---

६१. एवं वास्तुविशेषः स्याद् गृहभर्तुः शुभावहः। मत्स्यपुराण-२५६/३५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०१८९-१९९) ISSN 0974 – 8830

भरत का त्याग और भातृ प्रेम: वाल्मीकि और तुलसी की दृष्टि में

डॉ. मृदुल जोशी[1]

राम-कथा-प्रणयन में वाल्मीकि व तुलसी दोनों ने ही भरत के अनूठे, अलौकिक व्यक्तित्व का शब्दांकन किया है। दोनों के ही ग्रन्थ में भरत का त्याग, प्रेम व विश्वास श्लाघनीय है। अपौरुषेय वेद पारिवारिक व्यवस्था की धुरी प्रेम को मानते हैं। सुखी व सन्तुष्ट परिवार वही है जहाँ सभी पारिवारिक-जनों के मध्य स्नेह, आदर, समर्पण और त्याग के भाव दिखायी पड़ते हैं। **'अथर्ववेद'** में कहा गया हैं, **'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वसा'**,[2] अर्थात् वही उत्कृष्ट परिवार है जहाँ भाई-भाई के प्रति द्वेष न हो, भाई, बहिन के प्रति द्वेष न हो। राम-भरत का पारस्परिक प्रेम इसका उत्तम उदाहरण है। यहाँ तो द्वेष व घृणा के कारणों के रहते हुए भी उनकी अनुपस्थिति है। वाल्मीकि व तुलसी दोनों ने पुष्य नक्षत्र में जन्मे भरत को प्रसन्नमना[3] लोक वेद के ज्ञाता, निर्मल, अनूठे[4] व धर्म-रक्षक[5] के रूप में चित्रित किया है।

'रामचरिमानस' में प्रथमत: भरत की उपस्थिति राम के अनन्य अनुरागी और अश्रुतपूर्व नियम नैष्ठिक व्रती के रूप में दर्ज है। तुलसी ने तीनों भाइयों में सबसे पहले उन्हीं की वन्दना की है-

प्रनवउ प्रथम भरत के चरना, जासु नाम व्रत जाइ न बरना।।
राम-चरन पंकज मन जासू। लुवुध मधुप इव तजइ न पासू।।[6]

तुलसी ने तो उन्हें विश्व-भर्ता के रूप में भी चित्रित किया है।[7] वाल्मीकि-रामायण में भरत-जन्म व बचपन के बाद सीधे उन्हें जनक-दरबार में दिखाया है, जहाँ अन्य भाइयों के साथ-साथ कुशध्वज की पुत्री मांडवी के साथ उनके पाणिग्रहण का वर्णन मात्र है।[8] वाल्मीकि व तुलसी दोनों ने ही विवाह के दृश्य के बाद उन्हें ननसाल में एक दु:स्वप्न से उद्वेलित जन के रूप में दिखाया है, जो अयोध्या में अघटित घटने से आशंकित हैं। निश्छल प्रकृति के कारण भरत सहज रूप में पिता और भाई की कुशल जानना चाहते हैं-

कच्चित् स कुशली राजा पिता दशरथो मम।
कच्चिदारोग्यता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि।।[9]

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
२ अथर्ववेद, ३,३०,३
३ पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधी:। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, अठ्ठारह सर्ग, श्लोक सं० १५
४ तात भरत तुम्ह धरम धुरीना, लोक वेद विद प्रेम प्रवीना। करम वचन मानस, विमल तुम समान तुम तात।। गुर समाज लघु बंधु गुन कुसमय किमि कहिजात। तुलसी, रा०मा०, अयो०का०, दोहा सं. ३०४
५ जौं न हो जग जनम भरत को सकल धरम धुर धरनि धरत को। तुलसी रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड, २३१/१
६ तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, १६/३-४
७ बिस्व भरन पोषन कर जोई, ताकर नाम भरत अस जोई। तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड,१९६/७
८ तमेव मुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत। गृहाण पाणिं माडव्या: पाणिना रघुनन्दन:। वाल्मीकि रा०, ब्रालकाण्ड, ७३ सर्ग:, श्लोक ३१
९ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७० सर्ग:, श्लोक ७

यहाँ एक सरलमना व्यक्ति की आतुरता झलक रही है, जहाँ किसी भी प्रकार के छल-कपट व द्वेष का यत्किंचित् चिह्न भी नहीं है। तुलसी के भरत अपेक्षाकृत **भावुक** हैं, वे मनोभावों को छिपा नहीं पाते और अनेक दुश्चिंताओं को अभिव्यक्ति करते दृष्टिगत होते हैं।[१०] दोनों ही कवियों ने भरत को अयोध्या नगरी में प्रवेश के साथ ही सशंकित दिखाया है कि चतुर्दिक् वातावरण उन्हें सहज नहीं लग रहा।[११] भरत स्वभाव से **धैर्यवान्** हैं, लेकिन अनिष्ट की आशंका से वे हिल-से गये हैं-

सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु।
तथा ह्यसति सम्मोहे हृदयं सीदतीव मे।।[१२]

लौटते ही कैकेयी से वे अपने पिता-माता व भाइयों सहित सीता की कुशल पूछते हैं-

कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता।।[१३]

उदार भरत समूचे कुटुम्ब के प्रति समर्पित हैं। एक **संस्कारवान्** व्यक्ति के समान उनका पिता व भाइयों से सहज प्रेम है। पिता की आकस्मिक मृत्यु का समाचार उन पर वज्र बनकर गिरता है। वाल्मीकि ने तात्कालिक प्रक्रिया का सुष्ठु निदर्शन किया है।[१४] भरत की **दीनता, विलाप, मूर्च्छा-** अत्यन्त स्वाभाविक है, जो उनके पितृप्रेम को प्रदर्शित करती है। अप्रत्याशित पिता का चिर वियोग और उनके स्नेहिल स्पर्श का सहसा छिन जाना उनके कोमल मन को स्वीकार्य नहीं।[१५] पिता के बाद उन्हें ज्येष्ठ भ्राता राम की तुरन्त स्मृति हो आती है और पीड़ा कसकने लगती है कि पिता ने स्वयं मुझे बड़े भाई को क्यों नहीं सौंपा।[१६] **धर्मज्ञ** भरत का विवेक कहता है कि पिता के बाद ज्येष्ठ भ्राता का ही स्थान है। अत: सघन पीड़ा के इन क्षणों में वे राम का आश्रय लेना चाहते हैं-

पिता ही भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानत:।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम।।[१७]

पिता की मृत्यु के बाद राम-वन-गमन का समाचार सुनकर तो वे **स्तंभित** हो उठते हैं। राम-वन-गमन का समाचार तो उनके लिये इतना कष्टकारी है कि वे इसके आगे पिता की मृत्यु का दंश तक भूल जाते हैं।[१८] वाल्मीकि ने राम वन-गमन पर भरत की प्रतिक्रिया को भिन्न रूप में प्रदर्शित किया है। वाल्मीकि के भरत सहसा सशंकित हो उठते हैं कि कहीं राम ने जघन्य अपराध तो नहीं किया है। वस्तुत: एक राजा के

---

१० देखहिं राति भयानक सपना, जागि करहिं कटु कोटि कलपना। तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १५८/८

११ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७१ सर्ग,१९/४५

१२ वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, ७१ सर्ग:, श्लोक ३१

१३ तुलसी रामचरितमानस, बालकाण्ड, १५८/८

१४ हा हतोऽस्मि कृपणां दीनां वाचमुदीरयन्। निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान्।। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७२ सर्ग: ,श्लोक ७

१५ क्व स पाणि: सुखस्पर्शतातस्याक्लिष्टकर्मण:। यो हि मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति।। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७२ सर्ग: श्लोक ४१

१६ तात न रामहि सौंपेहु मोही। तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, १५९/५

१७ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७२ सर्ग: श्लोक ३३

१८ भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु। हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु।। तुलसी, रामचरितमानस, बालकाण्ड, १६०

लिये वन-निर्वासन एक बहुत बड़ा दण्ड है, जो धर्म-च्युत होने पर ही दिया जाता है। वाल्मीकि के भरत और तुलसी के भरत में यह अन्तर है कि तुलसी के भरत राम पर **अगाध विश्वास** रखते हैं, जहाँ शंका का कोई स्थान ही नहीं है, वहीं वाल्मीकि के भरत क्षण भर के लिये भयभीत और सशंकित हो उठते हैं। उनके मन में एक साथ अनेक प्रश्न उपस्थित हो चले हैं-

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हतं रामेण कस्यचित्।
कच्चिनाढ्यि दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः॥
कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः॥[१९]

अर्थात् माँ! श्री राम ने किसी कारणवश ब्राह्मण का धन तो नहीं हर लिया था? किसी निष्पाप धनी या दरिद्र की हत्या तो नहीं की थी? राजकुमार श्री राम का मन किसी परायी स्त्री की ओर तो नहीं चला गया?) ऐसे भाव तुलसी के भरत में आते ही नहीं। उन्हें राम के उदात्त व मर्यादित चरित्र पर अडिग निष्ठा है। भरत की शंका एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया क्योंकि तब बिना किसी वर्जनीय अपराध के राजपुत्र को कठोर दण्ड देने का विधान प्रचलन में नहीं था। इस दृष्टि से देखा जाये तो वाल्मीकि के भरत तुलसी के भरत से कहीं अधिक स्वाभाविक प्रतिक्रिया करते दिखायी देते हैं वैसे राम के प्रति उनकी निष्ठा, आदर और सम्मान में कोई व्यतिरेक नहीं है। सच्चाई जानने पर वे माता से **कुलकंलकिनी,**[२०] **पापिनी**[२१] **लोभिन**[२२], **दुराचारिणी, कुलघातिनी, पतिघातिनी, नरकगामिनी, राक्षसी**[२३] जैसें अपशब्द कहने से भी नहीं हिचकिचाते। यहाँ तक कि उनका कहना है कि यदि राम ने कैकेयी को माता न कहा होता तो वे उसे त्यागने में तनिक भी विलम्ब न करते।[२४] तुलसी ने भी भरत को कैकेयी के प्रति कठोर प्रतिक्रिया करते हुए ही दिखाया है-

जब तैं कुमति कुमत जिय ठयऊ। खंड खंड होइ हृदय न गयऊ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा, गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा॥
भूपँ प्रतीति तोई किमि कीन्ही। मरन काल मति विधि हरि लीन्ही॥
जे हसि सो हसि मुँह मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठंहि जाई॥[२५]

भरत के हृदय में सर्वाधिक श्रद्धेयास्पद पिता दशरथ के बाद यदि कोई हैं तो केवल ज्येष्ठ राम ही। इसलिये बारम्बार वे स्वयं को ही धिक्कारते हैं कि वे इस समग्र अनर्थ का हेतु बने हैं।[२६] भरत को राज-परम्परा के नीति-नियमों का सम्यक् ज्ञान है और उस पर पूर्ण विश्वास भी है।[२७] वे **निस्पृह, निर्लोभी व सरल**

---

१९ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७३ सर्ग: श्लोक ४४-४५
२० वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७३ सर्ग: श्लोक ५
२१ वही, श्लोक ११
२२ वही, श्लोक १३
२३ वही, ७४ सर्ग, श्लोक १-९
२४ वही, श्लोक १८
२५ तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १६१/१-६
२६ क. मैं केवल सब अनरथ हेतू। तुलसी ,रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १६३/७ ख. धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुःख दूषन भागी॥ तुलसी ,रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १६३/८
२७ क. अस्मिन कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते। अपरे भ्रातरस्तस्मिन प्रवर्तन्ते समाहिताः॥ वाल्मीकि रामायण,

तो हैं हि कुल-परम्परा के प्रति आदर व सम्मान भी रखते हैं। अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य के प्रति निष्ठावान् हैं। अब भरत को भय सताता है तो केवल लोकापवाद का। उन्हें कैकेयी द्वारा रचित दुश्चक्र से कलंकित होने का डर है और वे यथाशीघ्र स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने को आतुर दिखायी देते हैं। सर्वप्रथम यह चेष्टा कौशल्या के समक्ष प्रदर्शित होती है-

जे अघ मातु-पिता सुत मारे। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें।।
जे अघ तिय बालक वध कीन्हे। मीत महीपति माहुर दीन्हें।
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं।।
ते पातक मोहि होहुँ विधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता।।
जे परिहरि हरि हर चरन भजति भूत गन घोर।।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर।। [२८]

अर्थात् जो पाप माता-पिता और पुत्र को मारने से होते हैं और जो गोशाला और ब्राह्मणों के नगर जलाने से होते हैं, जो पाप स्त्री और बालक की हत्या करने से होते हैं, जो मित्र और राजा को जहर देने से होते हैं, कर्म-वचन और मन से होने वाले जितने छोटे-बड़े पाप हैं, वे सब पाप मुझे लगें यदि मेरा इस कार्य में मत हो। यही नहीं, जो लोग श्रीहरि व हरि के चरणों को छोड़कर भयानक भूत-प्रतों को भजते हैं, उन्हें जो गति प्राप्त होती है, हे माता! वही गति मुझे प्राप्त हो यदि मेरी भी सम्मति माता के कार्य में हो। उनका कहना है कि यदि माता के षड्यंत्र में वे भी सम्मिलित हुए हों तो वेद को बेचने वाले, धर्म को दुहने वाले, चुगलखोर, कपटी, कलहप्रिय, क्रोधी, निदंक, लोभी, लम्पट, पराया धन व परायी स्त्री को ताकने वाले, ठगी सदृश दुष्कर्म करने से प्राप्त पाप-फल को वे सहर्ष भोगने हेतु प्रस्तुत हैं।[२९] वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड के पचहत्तरवें सर्ग में अधिकांश स्थलों पर भरत की यही चेष्टा दृष्टिगत होती है। वाल्मीकि रामायण में पात्रों की प्रतिक्रिया सहज व स्वाभाविक है, इसीलिये प्रथमत: कौशल्या भी भरत को दोषी मानती हुई उसे उपालम्भ देतीं है। तुलसी के भरत को यह प्रयास अधिक नहीं करना पड़ा है, क्योंकि यहाँ तो कौशल्या का पूरा विश्वास है कि **न्यायप्रिय, धार्मिक, सरल, कोमल** भरत ऐसा कर ही नहीं सकते। उनकी तो सरल सी निश्चिन्त प्रतिक्रिया है-

राम प्रिय तात तुम्ह सदा वचन मन कायँ।। [३०]

यही नहीं उनकी तो उद्घोषणा है कि चन्द्रमा चाहे विष बरसाने लगे, पाला आग बरसाये, जलचर जीव जल से वियुक्त हो जायें, ज्ञान हो जाने पर भी मोह न मिटे अर्थात् हर असंभव चीज भले ही सम्भव हो जाये पर भरत राम के प्रतिकूल नहीं जा सकते। राम-भरत में तो परस्पर **दृढ़ अनुराग है।**[३१] जहाँ **'हित हमार**

अयोध्याकाण्ड, ७३ सर्ग: श्लोक २० ख. सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते। राज्ञामेतत् समं तत् स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषत:।। वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७३ सर्ग: श्लोक २२

२८ तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड,१६६/१-४,१६७

२९ तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १६७/१-८

३० तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १६८

३१ राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिति प्रानहु तें प्यारे।। विधु विष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर वारि विरागी।। भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू।। तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १६८/१-३

सियपति सेवकाई'[३२] मानने वाले तुलसी के भरत में **कृत्याकृत्य का पर्याप्त विवेक** है। उनका स्पष्ट मत है कि धर्मशील व्यक्ति ही राजपद के अनुकूल है, उसे ही राज्य मिलना चाहिये-

कहउँ साँचु सब सुनि पति आहू।चाहिअ धरमसील नरनाहू।[३३]

वहीं वाल्मीकि के भरत भी **दृढ़ निश्चयी** हैं-

अहं त्वपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम्।
वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः।।[३४]

(अर्थात् मैं तो यह राज्य लौटाकर भाई की पूजा करूँगा, अन्त्येष्टि संस्कार आदि कर पिता का भी पूर्ण रूप से पूजन करुँगा, निश्चय ही वह कर्म करूँगा जो मेरे यश को बढ़ाने वाला हो।)

न्याय-अन्याय पर विचार करते समय तो भरत राजा दशरथ को भी कटघरे में ला खड़ा करते हैं। शोक व क्रोधातिरेक उनसे यह तक कहला देता है कि राजा के त्रुटिपूर्ण निर्णय लेते समय तो लक्ष्मण ने उन्हें कैद कर लेना चाहिए था।[३५] इसी न्याय के निकष पर कैकेयी के कृत्य को न्यायच्युत् मानते हुए वे माता के प्रति भी कठोर हो जाते हैं। वे तो राम की घृणा से भयभीत हैं, अन्यथा माता की हत्या से भी पीछे नहीं हटते।[३६] निश्चय ही यह कथन क्रोध व शोकाभिभूत क्षणों में कहा गया है लेकिन उन क्षणों में भी राम के रुख का उन्हें पूर्ण अवधान है। कुब्जा को न मारने के पीछे भी राम की नाराजगी का भय उन्हें कुकृत्य से रोकता है।[३७]

अधिकांशतः भरत के कृत्य एक **विवेकी** व्यक्ति के कृत्य हैं। शत्रुघ्न को कुब्जा की हत्या से विरत करते समय भी उनकी विवेकपूर्ण सीख सामने आयी है[३८] विवेक की दृढ़ता उनके निर्णयों में भी दिखायी देती है[३९] भरत द्वारा लायी हुई सामग्री की प्रदाक्षिण उनके **विनयी** व **मर्यादित** स्वभाव की परिचायिका है।[४०] गुरु वशिष्ठ द्वारा राज्य-ग्रहण करने के आग्रह प्रति भरत की संकल्पयुक्त वर्जना है-

राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि'[४१] राज्य ही नहीं, वे भी राम के हैं उनकी चेतावनी-सी है कि सभा के मध्य बातें धर्मयुक्त होनी चाहिए। उन्हें तो ज्येष्ठ भ्राता राम के स्थान पर अन्य किसी का भी राज्य ग्रहण करना अपहरण-कर्म के समान निन्दनीय लगता है। भरत के लिये राम अवस्था में ही नहीं, गुणों में भी श्रेष्ठ हैं। उनके अनुसार राम अयोध्या तो क्या तीनों लोकों के राजा बनने के योग्य हैं।[४२] **भरत का विवेक आज के सत्ताधिपतियों के लिये एक उत्तम शिक्षा है, जहाँ योग्यता के लिये पद समर्पित है। योग्य द्वारा**

---

३२ तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १७७/१
३३ तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, १७८/१
३४ वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, ७४ सर्गः श्लोक ३०
३५ वा०रा/ अयो०का०/७८सर्ग/श्लोक ४
३६ हन्यामहमिमां पापां कैकेयी दुष्टचारिणीम् यदि मां धार्मिको रामो नासूयोन्मातृघातकम्।। वा०रा/ अयो०का०/७८/२२,
३७ इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाहि राघवः। त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यतेध्रुवम्।। वा०रा/अयो०का०/७८/२३
३८ अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति-वा०रा/अयो०का०/७८सर्ग/श्लोक २१
३९ रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः। वा०रा/अयो०का०/उन्नीसवॉ सर्ग/श्लोक ८
४० वा०रा/ अयो०का०/७९ सर्ग/श्लोक ६
४१ वा०रा/ अयो०का०/७८सर्ग/श्लोक १२
४२ त्रयाणमपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति-वा०रा०, अयो०का०, ८२ सर्ग, श्लोक-१६

संचालित सत्ता प्रजा में सन्तोष, शान्ति व सौहार्द स्थापित कर सकती है।

वाल्मीकि रामायण में भरत का प्रस्थान जहाँ राजसी हैं, वहीं तुलसी के भरत **भक्त** हैं। वे तो वन के कंटकाकीर्ण मार्ग की परवाह किये बिना अपने स्वामी राम से मिलने जा रहे हैं। यहाँ भक्त का आवेष्टित मन प्रेरक बना है, जहाँ न शारीरिक कष्ट सूझते हैं, न पथ के व्यवधान। यहाँ तो **'सानुज भरत पयादेहिं जाहीं।'**[४३] **भावावेशित** भक्त भरत तो सिर के बल चलकर भी अपने इष्ट, स्वामी, ज्येष्ठ भ्राता के दर्शन को समुत्सुक हैं।[४४]

वाल्मीकि रामायण में भरत का प्रयाण राजसी है। भरत के वन-गमन से पूर्व मार्ग बनाने वाले और छावनियाँ बनाने वाले जत्थे पहले ही प्रस्थान कर सघन व दुर्लभ वन-मार्ग को सुगम व सरल बनाने में जुट चुके हैं। वन-गमन के समय भी पूरा राजसी वैभव भरत के साथ चल रहा है।[४५] तुलसी के भक्त भरत तो आराध्य राम के सखा निषादराज गुह के आगमन पर भी राजसिक भाव को त्यागने हेतु समुद्यत हैं-

राम सखा सुनि संदनु त्यागा।[४६] भावावेष्टित भरत ने तो जिस-जिस मार्ग से राम गये हैं, उस-उस मार्ग, उन-उन स्थलों को भक्तिपूर्वक प्रणाम कर मिलन-सुख का अनुभव किया है-

सृंगबेर पुर भरत दीख जब, भे सनेह सब अंग सिथिल तब।।
राम घाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू।[४७]

तुलसी कृत भरत की भायप भगति, अनूठी है। वन-प्रदेश में जहाँ-जहाँ राम ने विश्राम किया है, वे सभी भरत के लिये पूजनीय हो चले हैं[४८] यही नहीं राम के उपयोग किये कुशासन, पाद-पद्मों से पुनीत रज-बिन्दु तक उनके लिये प्रणम्य हैं[४९] तुलसी के भरत में भातृ-प्रेम तो कूट-कूट कर भरा ही है लकिन इससे भी अधिक बढ़कर प्रगाढ़ दास्य-भाव की भक्ति के भी दर्शन होते हैं।

तुलसी ने उक्त भाव भरित दृश्य का सुष्ठु शब्दांकन किया है-

चलत पयादें खात फल, पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुवरहि, भरत सरिस को आजु।।[५०]

उन्होंने गंगा के तट, त्रिवेणी के तट पर आराध्य सीता-राम के चरणों में अनन्य अनुराग पाने का ही वरदान माँगा है।[५१] भरत के भक्ति से लबालब भरे हृदय को देखकर ही सिद्धों के माध्यम से तुलसी के

---

४३ तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/१८७/२

४४ रामु पयादेहिं रायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए। सिर भर जाउँ उचित असमोरा। सबतें सेवक धरमु कठोरा।। तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२००/६-७

४५ वा०रा/ अयो०का०/८३ सर्ग/श्लोक १-२६

४६ तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/१९२/७

४७ तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/१९६/१,३

४८ तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/दोहा सं० १९८

४९ कुसि साँथरी निहारि सुहाई, कीन्ह प्रनामु पदच्छिनजाई। चरन देख रज आखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई। तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/१९८/१-२

५० तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२२२

५१ क. जोरि पानि कर माँगऊँ ऐहू, सीयराम पद सहज सनेहू।। तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/१९६/८ ख. जनम-जनम रति राम पद यह वरदानु न आन। तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२०४ ग. सीता राम चरन रति मोरे, अनुदित बढ़उ अनुग्रह तोरें।

बरबस ये उद्गार हैं-

होत न भूतल भाव भरत को,

अचर सचर चर अचर करत को।

वाल्मीकि रामायण में भरत बार-बार शंका की दृष्टि से देखे गये हैं और बार-बार उन्हें अपनी निष्कलंकता की सफाई देनी पड़ी है। झुण्ड से बिछुड़े वृषभ के समान वे असहाय व निराश्रित हैं। राम से बिछुड़ने का दु:ख तो है ही[५२] सबकी शंकालु चुभती दृष्टि अधिक कष्टदायी है। निषाद राज गुह द्वारा शंका किये जाने पर उनकी तीव्र प्रतिक्रिया सामने आती है।[५३] ज्येष्ठ भाई के प्रति तो उनका पिता के समान श्रद्धा व अनुराग है, इसीलिए तो शंकाकुल दृष्टि उनके लिये असहनीय हो चली है। आगे चलकर भारद्वाज ऋषि भी यही शंका करते दिखाई देते हैं।[५४] **निरपराध, सरल, संवेदनशील** भरत की प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। डबडबाये नेत्रों से वे यही कह पाते हैं-

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते।

मत्तो न दोष माशंके मैवं मामनुशाधिति।

न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे।

नाहमेतेन तुष्टश्च न तद् वचनमाददे।।[५५]

अर्थात् यदि पूज्यपाद महर्षि भी मुझे दोषी मानते हैं, तब तो मैं हर तरफ से मारा गया हूँ। राम के वन-गमन के सम्बन्ध में मेरी ओर से कोई अपराध नहीं हुआ है। अत: आप मुझे ऐसी कठोर बातें न कहें। मेरी आड़ लेकर मेरी माता ने जो कुछ कहा या किया है, वह मुझे अभीष्ट नहीं है, न मैं उससे संतुष्ट हूँ न ही स्वीकार कर सकता हूँ।

तुलसी द्वारा भरत पर लक्ष्मण को छोड़कर ऐसी तीखी प्रतिक्रियाएँ नहीं करवाई गयीं हैं। वहाँ तो स्वयं भारद्वाज ऋषि भरत को सान्त्वना देते दिखायी देते हैं-

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू धरें देह जनु राम सनेहू'[५६] इससे बढ़कर प्रशंसा-वाक्य भरत के लिये और क्या हो सकते हैं? यही नहीं, वे राम के प्रति भी भरत को आश्वस्त करते दिखायी पड़ते हैं।[५७] भारद्वाज ऋषि के उद्गार तुलसी द्वारा भरत के चरित्र की महनीयता को स्पष्टत: उजागर करते हैं। उनका मानना है कि समस्त व्रत, नियम, तप का पुण्य फल सीता लक्ष्मण सहित राम के दर्शन हैं और उनके दर्शन के पुण्य फल स्वरूप भरत का दर्शन है। वाल्मीकि रामायण में भारद्वाज ऋषि आश्रम में भरत की विनयशीलता व नैतिकता

तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२०४/२

५२ शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो नरर्षभो यूथहंतो यथर्षभ: वा०रा०/श्लोक/२१

५३ मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शंकितुमर्हसि। राघव: स हि मे भ्राता ज्येष्ठ: पितृसमा गत:।। वा०रा०/८५ सर्ग:/श्लोक ९

५४ सुपुवे यममित्रधनं कौसल्याऽऽनन्द वर्धनम्। भ्राता सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्रजितो वनम्।। नियुक्त: स्त्रीनिमित्तेन पित्ता योऽसौ महायशा:। वनवासी भवेतीह समा: किल चतुर्दश।। कचित्र तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि। अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च।। वा०रामा०, ९० सर्ग:, अयो०का०, श्लोक, ११-१३

५५ वा०रा०, वही, श्लोक १५, वही श्लोकसं० १५-१६

५६ तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२०७/८

५७ सुनहु भरत रघुबर मन माहीं, पेम पात्र तुम सम कोउ नाहीं। तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२०७/३

सामने आती है। अस्त्र-शस्त्रादि को उतारकर व सेना को बहुत पीछे रोककर भरत प्रवेश करते हैं। नीतिज्ञ भरत के स्पष्ट विचार हैं कि राजा और राजपुत्र दोनों को ही तपस्थलियों से दूर से गुजरना चाहिए क्योंकि सैनिक व अन्य सवारियों से उन्हें कष्ट पहुँचने की संभावना बनी रहती है।[५८]

इधर राम के मन में भी भरत के प्रति उत्कृष्ट भाव हैं। उन्हें अगाध विश्वास है कि भरत सज्जन व **सयाने** हैं और उनकी आज्ञानुसार कार्य करने वाले हैं। अयोध्या का राज्य हस्तगत होने पर तो क्या ब्रह्मा, विष्णु, शंकर का पद पाकर भी भरत को 'राज-मद' नहीं हो सकता। क्या कभी काँजी की बूँदों से क्षीर-समुद्र नष्ट हो सकता है? भरत का स्वभाव इतना गम्भीर और मर्यादित है कि 'राज-सत्ता' उनके प्रकृत स्वभाव में यत्किंचित् परिवर्तन भी नहीं ला सकती।[५९] राम को तो इतना विश्वास है कि भले ही अंधकार सूर्य को निगल ले, आकाश बादलों में समा जाये, गो-पद-जल में अगस्त्य डूब जायें, पृथ्वी स्वाभविक क्षमा-शीतलता को छोड़ दे, मच्छर की फूँक से सुमेरु उड़ जाये अर्थात् हर असम्भव कार्य सम्भव भले ही हो, लेकिन भरत को राज्य का अहंकार नहीं हो सकता। यह भातृ-प्रेम और पारस्परिक प्रेम की पराकष्ठा है। वाल्मीकि ने भी राम का अतुलनीय भातृ-प्रेम दिखाया है। वे तो धर्म, अर्थ, काम, समस्त पृथ्वी के राज्य को भी भाइयों के लिये ही चाहते हैं। तुलसी की ही भाँति वाल्मीकि ने भी भरत के प्रति राम के प्रेम और पराकाष्ठा की ही स्वरित किया है-

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः। मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥
श्रुत्वा प्रवाजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्। जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम।
स्नेहानाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः। द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥[६०]

राम का भरत के हृदय से इतना तादात्म्यीकरण है कि उनके हृदयगत शोक के स्पन्दनों को भी अनुभव कर रहे हैं। इधर भरत के प्राणों की भी अकुलाहट यही है कि वे शीघ्रताशीघ्र श्रीराम के चरणों में प्रणाम कर सकें। इससे पूर्व उन्हें शान्ति नहीं मिल पायेगी-

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥[६१]

यही नहीं उनका मन तो तभी शान्त हो सकेगा जब तक राम अभिषेक जल से आर्द्र नहीं हो जायेंगे।[६२] वाल्मीकि व तुलसी दोनों ने ही राम-भरत के मिलन के भाव-पूर्ण चित्र शब्दांकित किये हैं उतावली में दौड़े चले आते भरत राम के चरणों को देखते हुए इतने हर्षोत्फुल्ल हो उठते हैं मानो दरिद्र को पारस मणि मिल गयी हो।[६३] उनके चरणों की रज का स्पर्श ही उन्हें रघुबर से मिलन सदृश सुख की अनुभूति करा रहा

---

५८ राजा हि भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा तथा। यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनः॥ वा०रा०/अयो०का०/९१ सर्गः/श्लोक-७

५९ भरतहि होई न राजमदु बिधि हरहिर पादपाई। कबहुँ कि काँजी सीकरनि, छीरासिंधु बिनसाइ॥ तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२३

६० वा०रा०/अयो०/९७ सर्ग

६१ वा०रा०/अयो०का०/८८ सर्गः/श्लोक ९

६२ यावन्न राज्ये राज्यार्हं पितृपैतामहे स्थितः। अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति॥ वा०रा०/अयो०का०/सर्गः ९८/श्लोक १०

६३ हरषहिं निरखि राम पद अंका, मानहुँ पारसु पायउ रंका॥ तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२३७/३

है। **यह प्रणत भाव भारतीय संस्कृति की पहचान व श्रद्धा की पराकाष्ठा भी है।** इधर राम भी प्रमोद्वेलित भाव से उठकर भरत का आलिंगन करते हैं। भावावेश व त्वरा में उनके धनुष बाण, वस्त्र, उत्तरीय अस्त-व्यस्त हो उठते हैं।[६४]

वाल्मीकि रामायण में भरत्-राम-मिलन के पश्चात् राम की मर्यादित, कर्त्तव्य-निष्ठ, गुरु गम्भीर, भूमिका सामने आती है। भरत से मिलते ही राम राज्य, राजनीति व राजा के कर्त्तव्यसूचक प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं। यहाँ भी राम का भरत के प्रति अखण्ड, निश्छल प्रेम ही निःसृत हो रहा है। इन सबके पीछे वे भरत को सर्वदा निरापद व सकुशल देखना चाहते हैं। अयोध्याकाण्ड का १००वाँ सर्ग राजा व धर्मज्ञ राजनतिज्ञ का शिक्षणालय है। वाल्मीकि का भातृमिलन अधिक मार्मिक है[६५]

वाष्पावरुद्ध कष्ट से दोनों भाइयों का क्रन्दन करते हुए चरणों में प्रणाम व राम का अश्रुपात करते हुए उनको दृढ़ालिंगनबद्ध कर लेना भाईयों के परस्पर प्रेम, स्नेह व विश्वास का चरमोत्कर्ष है। दीर्घकाल से वियोग झेल रहे भरत राम को पाकर अतीत की सुखद स्मृतियों से घिर जाते हैं, उन सभी सुखद प्रसङ्गों को याद दिलाते हुए उन्हें मनाने की भूमिका भी स्वत: प्रस्तुत होने लगती है-

सिसुपन तें परिहरेउँ न संशू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू।
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेउँ खेल जितावहिं मोही।
मँहू सनेह सकोच बस सनमुख कही न वैन।
दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन।।[६६]

भरत राम के राज्यतिलक की सामग्री भी लेकर आये हैं। उनका प्रस्ताव है कि या तो राम भरत और शत्रुघ्न को वन भेजें या लक्ष्मण व शत्रुघ्न अयोध्या प्रत्यावर्तित हो जायें, पर वे राम का साथ छोड़ने को तैयार नहीं हैं।[६७] यह कितने आश्चर्य की है बात कि राम पिता की आज्ञा को स्वीकारते हुये कुलपरम्परागत राज्य का परित्याग यह मानकर करते हैं कि-

तदेव मन्ये परमात्मनो हितं न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम्।।[६८]

पिता की आज्ञा के सम्मुख तो सर्वलोकेश्वर ब्रह्मा का अविनाशी पद भी काम्य नहीं है, अयोध्या के राज्य की तो बात ही क्या? उधर दशरथ द्वारा सद्यः प्रदत्त राज्य को भरत यह कहते हुए अस्वीकार देते हैं कि धर्मानुसार तो राज्य राम को ही मिलना चाहिये, इसलिये उनकी याचना है कि-

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचते मया।
भ्रातुः शिष्यश्च दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि।।[६९]

---

६४ क. उठे राम सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।। तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/३३९/८ ख. बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान। भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहि अपान।। तुलसी/रा०मा०/अयो०का०/२४०

६५ वाष्पैः पिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम्। आर्येत्येवाभिसंक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत् ततः।। शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन्। तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत्।। वा०रा०/अयो०का०/९९ सर्गः /३९-४०

६६ तुलसी/अयो०का०,२५९/७-८, दोहा सं० २६०

६७ तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २०८

६८ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, १०,सर्ग, श्लोक २७

६९ वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, १०१,सर्ग, श्लोक १२

दोनों ओर से निस्पृहता, त्याग और धर्माचरण की पराकाष्ठा है। नैतिकता का यह पाठ आज के स्वार्थी राजनेताओं के आत्मानुशासन हेतु अनुकरणीय है जो सत्ता हस्तगत करने के लिये सभी मर्यादाएँ लाँघ जाते हैं। भरत अन्तिम प्रयास के रूप में यह कहते हुए भी नहीं हिचकचाते कि अयोध्या सदृश विशाल राज्य की रक्षा वे अकेले नहीं कर सकते। राम के किसी भी प्रकार न मानने पर भरत कह उठते हैं-

सिसु सेवकु आयसु अनुगामी।
जानि मोहि, सिख देइउ स्वामी।।[७०]

उनके लिये तो राम माता-पिता, सुदृद, गुरु, स्वामी, पूज्य, परम हितैषी, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ, समर्थ, गुणग्राही-सब कुछ हैं[७१] इसलिये राम की यह आज्ञा

पितु आपसु पालिहिं दुहु भाइऔ। लोक बेद भल भूप भलाइऔ।।[७२]

और **'पालहु अवध अवधि भारि जाई' को मानते हुए अयोध्या लौट जाते हैं।**[७३] भरत की याचना पर राम उन्हें चरण पादुका देते हैं।[७४] इसके बाद भरत एक अभुतपूर्व प्रतिज्ञा करते हैं। वाल्मीकि के शब्दों में-

स पादुके सप्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।
चतुदर्श हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्।।
फलमूलाशनो वीरा भवेयं, रघुनन्दन।
तवागमनमाकांक्षन् वसन वै नगराद बहिः।
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप।[७५]

कितनी अद्भुत है यह प्रतिज्ञा! चौदह वर्षों तक वनवासियों के सदृश वल्कल वसन व जटा धारण करते हुए व्रतादिक नियमों का पालन कर केवल कन्द मूल फल खाकर राम की प्रतीक्षा करना त्याग की पराकाष्ठा है। यही नहीं स्वयं को राजा न मानते हुए समस्त राज्य को राम की चरण पादुकाओं में सर्मपित करते हुए सेवक सदृश जीवन-यापन-एक अनूठा उदाहरण है। यदि चौदह वर्ष की अवधि व्यतीत हो गयी तो अग्नि में प्रवेश कर जीवन को समाप्त करने की प्रतीज्ञा भी,है।[७६] और यही भरत ने किया भी है। उन चरण पादुकांओं को राजा के समान छत्र धारण करवाकर धरोहर के समान राज्यपालन का संकल्प लिया है।[७७] महाकवि तुलसी ने भी भरत के इस अद्भुत त्याग को इस प्रकार लिपिबद्ध किया है।[७८] तुलसी के मानस में

---

७० तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २९२/४
७१ तुलसी, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, २९७/१-३
७२ तुलसी, रामचरितमानस, अयोकाण्ड, ३१४/४.
७३ तु०, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड ३१४/६
७४ प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।। तु०, रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, ३१५/४
७५ वा०रा०, अयो०का०,११२ सर्ग। श्लोक सं० २३,२४
७६ वा०रा०, अयोध्याकाण्ड ११२ सर्ग, श्लोक २५
७७ क. छत्रं धारयत् क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ। आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम।। वा०रा०, अयोध्याकाण्ड ११५ सर्ग श्लोक १६ ख. भात्रा तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम्। तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति। वही, ११५ सर्ग, श्लोक १७
७८ नंदिगाँव करि परन कुटीरा कीन्ह निवासु धरम धुरधीरा। जटाजूट सिर मुनि पर धारी। मह खनि कुस साँथरी सँवारी। असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सनेमा। भूषन वसन भोग सुख भूरी, मन तन बचन तजे तिन तूरी।। तुलसी,

भरत की उपस्थिति कुछ समय के लिये लंकाकाण्ड में हुई है, जब संजीवनी बूटी लाते हनुमान् को भ्रमवश भरत बाण मारकर पश्चाताप करते दृष्टिगत होते हैं। फिर भरत उत्तरकाण्ड' के दु:खित मन से **'रहेउ एक दिन अवधि अधारा'** सोचत हुए[७९] प्रत्यागन की प्रतीक्षारत हैं। तभी पवन-पुत्र हनुमान् राम के आगमन की सूचना देता हैं। वाल्मीकि रामायण में राम ने हनुमान् को भरत के मनोभावों को जानने के लिये प्रेषित किया है जबकि तुलसी के राम भरत की भाव-दशा को जानते हुए केवल लौटने की सूचना देने के लिये हनुमान् को उनके पास भेजते हैं। वाल्मीकि रामायण में राम यह जानना चाहते हैं कि चौदह वर्षों की दीर्घ अवधि में भोगैश्वर्य व कुसंगति का प्रभाव तो भरत के मनोभावों पर नहीं पड़ा। यहाँ राम के उदात्त भाव अपने चरमोत्कर्ष पर हैं। उनका मानना है कि यदि भरत राज्य लौटाना भी न चाहें तो उन्हें अयोध्या के राज्य से कुछ भी लेना-देना नहीं होगा।[८०] लेकिन भरत तो राम के प्रत्यागमन के समाचार मात्र से हर्षोन्मत्त हो पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।[८१] हनुमान् से शुभ समाचार पाकर **'निश्चयपूर्ण: खलु मे मनोरथ:'** का ही आश्वस्ति सूचक वाक्य उनके मुख से नि:सृत होता है।

राम-भरत मिलन का अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्र तुलसी की लेखिनी से प्रसूत है। भरत राम को देखते ही उनके चरणों में गिर जाते हैं[८२] और अत्यंत प्रेमपूर्वक भी राम से उठाये नहीं उठते-

राजीव लोचन, स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाए अनुजहिं मिले प्रभु त्रिभुअन धनी।।
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कहीं।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही।।[८३]

मिलते ही भरत राम को अपना राज्य सौंपते हुए एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करते-

तद् ददामि पुनस्तुभ्यं यथा त्वमददा मम।[८४] भरत-राम दोनों का ही प्रेम और त्याग महान् है। उन दोनों में ही पारस्परिक भाव-बोधन की सामर्थ्य है। नीतिज्ञ भरत, राम को राजसूय यज्ञ करने से रोकते हैं कि इसमें अनेक निरपराध लोग मारे जायेंगे और राम सहर्ष अनुमोदन भी करते हैं-

लोकपीडाकरं कर्म न कर्तव्यं विचक्षणै:।
बालानां तु शुभं वाक्यं ग्राह्यं लक्ष्मणपूर्वज।।[८५]

अन्तत: भ्रातृ-प्रेम, समर्पण, त्याग और उदारता का जैसा उत्कृष्ट उदाहरण भरत ने अपने जीवन में प्रस्तुत किया है, विश्व के इतिहास में अन्यत्र दुर्लभ है।

रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड ३२३/२-५
७९ रा०मा० उतरकाण्ड चां.सं० १
८० संगत्या भरत: श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत्। प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दन:। वा०रा०, यु०काण्ड, १२५वां सर्ग श्लोक १७
८१ वा०रा०, युद्धकाण्ड,१२६वां सर्ग श्लोक ५५
८२ क. तुलसी रा०मा०, उत्तरकाण्ड, ४१० /६ ख. तुलसी रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, ४१०/७
८३ तु०रा०मा०, उत्तराकाण्ड, छन्द-१
८४ वा०रा०, युद्धकाण्ड, १२८ सर्ग/श्लोकर
८५ वा०रा०उत्तराकाण्ड/८३वाँ सर्ग श्लोक२०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२००-२०७) ISSN 0974 – 8830

पाश्चात्त्य-समीक्षा में भवभूति के रूपक

डॉ० निरुपमा त्रिपाठी[1]

संस्कृत-साहित्य को अपने रूपकत्रय महावीरचरितम्, मालतीमाधवम् एवं उत्तररामचरितम् से समृद्धि प्रदान करने वाले आचार्य भवभूति केवल भारतीय विद्वानों के ही नहीं अपितु पाश्चात्त्य विद्वानों की विवेचना के भी मुख्य आकर्षण-केन्द्र रहे हैं।

बाणभट्ट के पश्चात् भवभूति ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपनी नाट्य-कृतियों में अपने जीवन-वृत्त पर प्रकाश डाला है। अपने पूर्वजों के विषय में भवभूति ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उनसे स्पष्ट है कि इनका परिवार वैदिक आचार-विचार, यज्ञ-जप के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र था। अपने कुल के योग्य ही भवभूति भी पदवाक्यप्रमाणज्ञ थे। भवभूति कान्यकुब्ज के राजा यशोवर्मा के आश्रित रहे हैं ऐसा 'राजतरङ्गिणी' में उल्लिखित है।[2] मुख्यरूप से इसी आधार पर इनका समय आठवीं शताब्दी का मध्य माना गया है।[3]

भवभूति की तीनों नाट्य-कृतियों में महावीरचरितम् तथा उत्तररामचरितम् नाटक हैं एवं मालतीमाधवम् प्रकरण। इन तीनों रूपकों में महावीरचरितम् एवं मालतीमाधवम् के पौर्वापर्य के विषय में तो विद्वानों में मत-वैभिन्य है किन्तु इनकी अन्तिम कृति उत्तररामचरितम् है इस पर सभी पौरस्त्य एवं पाश्चात्त्य विद्वान् सहमत हैं। वस्तुतः महावीरचरितम्, मालतीमाधवम् एवं उत्तररामचरितम् ही तीनों का क्रम माना जाता है। इस सम्बन्ध में कीथ का मत उल्लेखनीय है-

"Perhaps the earliest of the works is the Māhavīrcarita, but the evidence for this is uncertain and there is no reason to assign it definitely to an earlier date than the Mālatīmādhava, both antedate, perhaps considerably the Uttararāmacharita."[4]

इन रूपकों की प्रस्तावना से विदित है कि ये तीनों ही 'कालप्रियानाथ' अथवा 'कालप्रियनाथ' के यात्रा-महोत्सव में अभिनीत हुए थे। 'कालप्रियानाथ' कौन थे इस पर विद्वानों में प्रचुर विमर्श हुआ है। कीथ ने इन्हें उज्ञयिनी के महाकाल से अभिन्न बताया है।[5]

यहाँ कीथ का मत विचारणीय है। 'काल' शब्द शिववाची है अतः कालप्रिया का अर्थ हुआ पार्वती। इस से कालप्रियानाथ का अर्थ शिव होगा। इस शब्द का 'कालप्रियनाथ' यह ह्रस्वान्त पाठ भी मिलता है। उसका भी यही अर्थ होगा। इसके लिए महावीरचरितम् पर वीरराघवकृत टीका के अंश उल्लेखनीय हैं-

---

१ असिस्टेन्ट प्रोफेसर (संस्कृत), कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी०जी०) महाविद्यालय, स्वरूपनगर, कानपुर।

२ कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः। जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥ राजतरङ्गिणी, ४/१४४

३ (क) संस्कृत-साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ०५४३ (ख) History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 258 (ग) The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 186

४ The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 187

५ *The whole three of his plays were performed for the feast of the Lord Kālapriya, who is normally identified with MāhaKāla of Ujjayinī. The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 186*

'कालप्रियानाथस्य कालप्रियानामिकाम्बिकापतेः। 'कालप्रियनाथस्य' इति ह्रस्वान्तप्रियशब्दयुक्तः पाठः प्रचुरो तत्राप्यर्थः पूर्वत्। क्षेत्रविशेषस्येश्वरमूर्तिविशेषसंज्ञाभूते कालप्रियानाथशब्दे 'ड्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' इति वैकल्पिक ह्रस्वप्रवृत्तेः। यात्रायाम् उत्सवे।'[६]

इस प्रकार वीरराघव के अनुसार किसी क्षेत्र विशेष में शिव की मूर्ति का यह नाम था। अतः यह संज्ञा वाचक शब्द है। यह तो स्पष्ट है कि कालप्रियानाथ का मन्दिर शिव मन्दिर रहा होगा। किन्तु इसे उज्ञयिनी के महाकाल से अभिन्न मानना उचित नहीं है। क्योंकि यदि भवभूति को उज्ञयिनी का महाकाल-मन्दिर अभिप्रेत होता तो वे अपने नाटकों में उज्ञयिनी की चर्चा अवश्य करते। उज्ञयिनी-मन्दिर के शिव की 'महाकाल' इस नाम से ही प्रसिद्धि थी। उन्हें भवभूति कालप्रियानाथ क्यों कहते?

मालतीमाधवम् के नवम अङ्क में पद्मावती नगरी का वर्णन करते हुए भवभूति भगवान् शिव के मन्दिर का उल्लेख करते हैं जिन्हें वे 'चन्द्रशेखर', 'मदनान्तक' आदि संज्ञा प्रदान कर रहे हैं।[७] यह एक प्रबल तर्क हो सकता है कि कालप्रियानाथ का मन्दिर भवभूति के जन्म-स्थान पद्मपुर अथवा पद्मावती में ही रहा होगा जिनकी यात्रा-महोत्सव में इनके रूपक अभिनीत हुए थे। विन्टरनित्ज ने 'कालप्रियनाथ' के विषय में लिखा है कि इनका प्रसिद्ध मन्दिर उज्ञयिनी में है जिसकी चर्चा बाणभट्ट एवं कालिदास ने की है-

"... All his plays were staged in the feast of the god Kālapriyanātha, whose famous shrine at Ujjayanī is mentioned by Bāṇa and Kālidāsa...."[८]

इस आधार पर यही स्पष्ट होता है कि पाश्चात्त्यों के मस्तिष्क में शिव-मन्दिर के रूप में उज्ञयिनी का महाकाल-मन्दिर ही था जिससे वे 'कालप्रियानाथ' अथवा 'कालप्रियनाथ' को अभिन्न मानने लगे। इन विद्वानों की इस व्याख्या से यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि भवभूति के नाटक उज्ञयिनी के महाकाल-मन्दिर में अभिनीत हुए थे। डॉ. मिराशी ने 'कालप्रिय' का अर्थ 'शिव' न लेकर 'सूर्य' लिया है।[९] अपने मत की पुष्टि में उन्होंने एक ताम्रपत्र, भविष्य पुराण एवं स्कन्द पुराण की सहायता ली है। 'कालप्रिय' जो सम्प्रति कालपी नाम से प्रसिद्ध है, में सूर्यदेव का मन्दिर प्रतिष्ठित था। यही भवभूति को अभिप्रेत है। कालप्रियानाथ शिववाची शब्द है यह सिद्ध हो जाने पर, डॉ. मिराशी का यह मत स्वीकार्य नहीं है।

महावीरचरितम् और उत्तररामचरितम् का उपजीव्य वाल्मीकीय रामायण है। महावीरचरितम् की प्रस्तावना में ही कवि ने उसके उपजीव्य की सूचना दे दी है-

प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनां यत्पावनः रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपि वाचस्तत्सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्।।[१०]

वीररस प्रधान महावीरचरितम् नाटक में राम के पूर्वार्ध चरित का वर्णन है तथा उत्तररामचरितम् में रामायण के उत्तरार्ध को नाटकीय रूप दिया गया है। इसमें करुण रस की पराकाष्ठा है। मालतीमाधवम् की

---

६ महावीरचरितम्, प्रस्तावना, पृ०६
७ सौदामिनी-अयं च मधुमतीसिन्धुसम्भेदपावनो भगवान् भवानिपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णबिन्दुरित्यख्यायते। (प्रणम्य) जय देव भुवनभावन जय भगवन्नखिलवरद निगमनिधे। जय रुचिरचन्द्रशेखर जय मदनान्तक जयादिगुरो।। (मालतीमाधवम् ९/४)
८ History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 258
९ Studies in Indology, Part I, page 35-42
१० महावीरचरितम्, १/७

कथावस्तु यद्यपि कवि-कल्पित है तथापि इसके कई सूत्र बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर में मिलते हैं।[११]

कथावस्तु की दृष्टि से भवभूति के रूपकों की पाश्चात्य विद्वानों ने भिन्न-भिन्न समालोचनाएँ की हैं। मालतीमाधवम् की कथावस्तु के सम्बन्ध में कीथ का विचार है कि यह रोचक तो है किन्तु इसका निबन्धन निकृष्ट है और इस प्रकरण के पात्र भी वास्तविक जीवन से दूर प्रतीत होते हैं। इसके नायक या नायिका का अपना व्यक्तित्व नहीं है। माधव के मित्र कलहंस को 'विट' कहना भी अनुचित है क्योंकि उसमें 'विट' की कोई विशेषता नहीं है।[१२] कीथ का यह विचार कुछ सीमा तक सत्य है कि इस प्रकरण में कहीं-कहीं वास्तविकता से दूरी प्रतीत होती है किन्तु इसके निबन्धन को निकृष्ट नहीं कहा जा सकता। इतिवृत्त-निबन्धन के विषय में भवभूति का जो संकल्प है उसे उन्होंने अपने प्रकरण की प्रस्तावना में ही स्पष्ट कर दिया है-

भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च।।[१३]

अपने इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कवि ने ऐसी कथावस्तु की योजना की है। उसके लिए उन्हें एक ही स्थान पर उन समग्र तत्त्वों का निबन्धन करना है जिसका उल्लेख उक्त श्लोक में किया गया है। इसके अतिरिक्त वे प्रौढित्व, उदारता एवं अर्थ-गौरव को भी व्यक्त करने के लिए प्रतीज्ञाबद्ध थे-

यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः।।[१४]

एक ही स्थान पर इन सभी तत्त्वों का समावेश कर लेना कवि के नाट्य-कौशल का ही परिचायक है। स्वयं कीथ का भी यह मानना है कि मदयन्तिका को राजा के कृपा-पात्र की बहन के रूप में उपस्थापित करने में कवि के उपाय-कौशल का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकरण के नवम अङ्क पर कीथ ने कालिदास का प्रभाव इङ्गित किया है। उनके अनुसार यह अङ्क विक्रमोर्वशीयम् के चतुर्थ अङ्क से तुलनीय है। यहाँ भवभूति लालित्य एवं चित्ताकर्षकता में कालिदास से न्यून होते हुए भी मार्मिक करुणा में उनसे बढ़कर हैं। इसी अङ्क में माधव द्वारा मेघ से सन्देश-प्रेषण भी मेघदूत के अनुसरण पर ही है।[१५] वस्तुतः

---

११ (i) The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 192-193 (ii) History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 263

१२ The plot, however interesting, is extremely badly knit together; the action is dependent to an absurd degree on accident; Mālatī twice on the verge of death is twice saved by mere chance. Moreover, the characters live apart from all contact with real life; The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 193

१३ मालतीमाधवम्, १/४

१४ मालतीमाधवम्, १/७

१५ (i) - - - and the intrigue is more effectually welded together by making Madayantikā the sister of Nandana, the king's favourite. The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 193 (ii) The influence of Kālidāsa explains Act IX, which is a manifest effort to rival Act IV of the Vikramorvaci, which it excels in tragic pathos, if it is inferior to it in grace and charm. The same Act has a flagrant imitation of the Meghadūta in Mādhava's idea of sending a cloud message to his lost love, and is full of verbal reminiscences of that text. The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 193

मालतीमाधवम् के नवम अङ्क में कालिदास के जैसा लालित्यपूर्ण वर्णन भले ही न हुआ हो किन्तु माधव का वियोगवर्णन राजा के वियोग से कहीं अधिक मार्मिक है। विक्रमोर्वशीयम् में तो राजा की कारुणिक उक्तियों में भी कहीं कहीं उसका दम्भ झलक उठता है। जैसे-

कथं क: इत्याह माम्। मा तावत्। न खलु विदितोऽहमत्र।
सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ।
स्वयं वृत्तः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः। (विक्रमोर्वशीयम्, ४/३८)

किन्तु माधव विक्षिप्त होकर वन्य प्राणियों से अपनी प्रिया के समाचार बताने की प्रार्थना करता है। यहाँ उसका पूर्ण समर्पण है। कीथ द्वारा कथावस्तु को निकृष्ट कहा जाना सर्वथा अनुचित है। मालतीमाधवम् की कथावस्तु नाटकीय भावों से संवलित है और उन भावों को धारण करने वाली कथा भी आकर्षक है। इसमें इनके अन्य रूपकों से कहीं अधिक विलक्षणता, वैविध्यपूर्णता एवं अधिक सशक्तता है।

मालतीमाधवम् के आधार पर ही विन्टरनित्ज ने कहा है कि भवभूति प्रेम के विज्ञान को जानते हैं।[१६] विन्टरनित्ज का यह कथन भवभूति का सर्वथा उचित मूल्याङ्कन है। इस प्रकरण के दोनों समानान्तर वृत्तों (मालती-माधव, मदयन्तिका-मकरन्द) के मूल में प्रेम का उदात्त स्वरूप प्रकट हुआ है। उनका शृङ्गार मर्यादा एवं आदर्शों से ओतप्रोत है। इस प्रकरण पर मृच्छकटिकम् की वस्तु-योजना का प्रभाव होते हुए भी मालती एवं माधव का चरित्र वसन्तसेना एवं चारुदत्त से कहीं अधिक ऊँचा है।

भवभूति विषम भावों को भी सफलता पूर्वक प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। प्रकरण के पञ्चम अङ्क में चामुण्डा के लिए बलि के अवसर पर चामुण्डा के नृत्य-वर्णन में विन्टरनित्ज ने शेक्सपियर के 'मैकबेथ' से भी अधिक भयानकता की स्थिति का अनुभव किया है।[१७] मैक्डानल ने तो कहा है कि यह नाट्यी कृति सुखान्त 'रोमियो' एवं 'जूलियट' का भारतीय प्रकार है। सन्यासिनी कामन्दकी का अभिनय शेक्सपियर के फ्रायर लायरेन्स के स्वरूप है। कोमल प्रेम एवं दुर्गा की योजिका के क्रियाकलाप का तुलनात्मक विरोध निश्चित रूप से प्रभावशाली है।[१८] यहाँ उल्लेखनीय है कि मालतीमाधवम् के पञ्चम अङ्क का जो भयानक दृश्य है उसकी 'मैकबेथ' नाटक के भयोत्पादक दृश्य से तुलना करना आपाततः उचित है किन्तु वास्तविकता तो यही है कि दोनों नाटकों की भयानकता में मौलिक अन्तर है। संस्कृत-नाटकों के भयदृश्य का अन्त नैतिकता पर आधारित होता है जबकि 'मैकबेथ' में ऐसा नहीं है।

भवभूति के दोनों नाटकों में महावीरचरितम् कथावस्तु की दृष्टि से पाश्चात्त्यों को अधिक आकर्षक नहीं प्रतीत हो सका है। कीथ ने तो इस नाटक के अन्तर्गत माल्यवंत-शूर्पणखा, जटायु-सम्पाति, इन्द्र-चित्ररथ

---

१६ The poet reveals his accurate knowledge of "the science of love". History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 265

१७ Bhavabhūti has special fascination for strong contrasts. In Act V he describes with high perfection....... . It has been rightly said that this Act V far surpasses the witch-scene in the "Macbeth"....... . History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 266.

१८ The piece is a sort of Indian Romeo and Juliet with a happy ending, the part play by nun Kāmandakī being analogous to that of Friar Laurence Shakespeare's drama. The contrast produced by scenes of tender love, and the horrible doings of the priestess of the dread goddess Durgā, is certainly effective, but perhaps too violent. A history of Sanskrit Literature, A.A. Macdonell, 367

और अलका-लङ्का के संवाद को नितान्त अनाटकीय बताया है। इसी प्रकार अन्य स्थल हैं जो नाटककार की काव्यशास्त्रीय प्रतिभा की गौरव-वृद्धि तो नहीं करते अपितु नाटक-व्यापार में बाधक मात्र हैं।[१९] इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि जहाँ रामायण में राम का जीवनवृत्त एवं उससे सम्बद्ध घटनाएँ विशृङ्खलित रूप से जुड़ी हैं वहीं भवभूति ने उन्हें शृङ्खलाबद्ध रीति से प्रस्तुत करते हुए उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध भी स्थापित किया है। यह उनकी श्रेष्ठ नाट्यकला का ही परिचायक है।

उत्तररामचरितम् में विन्टरनित्ज ने कुछ सीमा तक अधिक नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों के दर्शन किये हैं।[२०] हेनरी डब्ल्यू वेल्स के अनुसार इस नाटक का वातावरण असन्दिग्ध रूप से भारतीय लगता है जिसमें भावनाओं को उसके उत्कर्ष तक पहुँचाया गया है।[२१] कीथ ने भी इसके तृतीय अङ्क की सराहना की है। यद्यपि उनके अनुसार यह नाटक के रूप में उच्चतर स्तर तक नहीं पहुँच सका है।[२२] भवभूति के प्रेम की संकल्पना अत्यन्त श्लाघनीय है। कीथ के इस कथन का आधार सम्भवतः उत्तररामचरितम् के ये श्लोक रहे होंगे-

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणाव्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते।।[२३]
अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमत्यमिति पठ्यते।।[२४]

उत्तररामचरितम् में राम एवं सीता का मिलन दुष्यन्त एवं शकुन्तला से अधिक मार्मिक है। मैक्डॉनल ने उचित ही कहा है कि इस नाटक में राम और सीता का कोमल प्रेम शोक के द्वारा पवित्र कर दिया गया है।[२५] यद्यपि उत्तररामचरितम् को वे नाटक की अपेक्षा नाटकीय प्रगीत अधिक मानते हैं क्योंकि इसमें अभिनय

१९ The fatal error, of course, is the narration of events in long speeches in lieu of action. The conversation of Mālyavant and Çurpaṇakhā, of Jaṭāyu and Sampāti, of Indra and Citraratha, and of Alakā and Lañkā are wholly undramatic; the word-painting of the places of their adventures, as seen from the aerial car on the return home, has not the slightest conceivable right to a place in drama. The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 194

२० Just a little more dramatic is the Uttararāmacarita, ... History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 259

२१ भारत का प्राचीन नाटक, हेनरी डब्ल्यू वेल्स, पृ०१७९

२२ The Uttararāmacarita reaches no higher level as a drama; .... The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 194

२३ उत्तररामचरितम्, १/३९

२४ उत्तररामचरितम्, ३/१७

२५ The description of the tender love of Rāma and Sītā, purified by sorrow, exhibits more genuine pathos than appears perhaps in any other Indian Drama. A history of Sanskrit Literature, A.A. Macdonell, 368

की न्यूनता हो गयी है।[२६] जबकि यह नाटक भावों की अभिव्यञ्जना में अद्वितीय है इसलिए इसमें अभिनय की न्यूनता तो हो ही नहीं सकती। सात्त्विक अभिनय प्रधान इस नाटक का नाट्यशास्त्रोपवर्णित सिद्धान्तों के अनुसार प्रयोग निस्सन्देह सहृदय प्रेक्षकों के लिए स्पृहणीय होगा।

भवभूति ने अपने रूपकों में प्रौढ भाषा के मानक स्थापित किए हैं। उन्होंने वाणी का विदग्ध, प्रौढ, उदार, गुणभूयसी, विपुलार्थ तथा अर्थगौरव से पूर्ण होना स्वीकार किया है, जिसके सङ्केत उनके तीनों रूपकों में पर्याप्त मिल जाते हैं।[२७] उनके भाषागत वैशिष्ट्य के कारण ही विन्टरनित्ज को निष्कर्षत: कहना पड़ा-

Bhavabhūti has earned the fame not so much on account of his skill in dramatic technique, but on account of his mastery in the use of the Sanskrit Language.[२८]

भाषा की प्रौढता के कारण ही कीथ कालिदास की तुलना में भवभूति की रचनाओं में रमणीयता का अभाव मानते हैं। उनके अनुसार भवभूति के द्वारा अप्रचलित शब्दों का व्यवहार उनकी पाण्डित्य-प्रतिष्ठा की वृद्धि में तो सहायक रहा किन्तु अभिरुचि में नहीं। इसी कारण उनमें प्रसाद की कमी होती गई।[२९]

भवभूति की नाट्यशैली का सर्वाधिक दुर्बल पक्ष यही है कि वे कहीं-कहीं विस्मृत प्रतीत होते हैं कि वे दृश्य काव्य की रचना कर रहे हैं। उनके संवाद कहीं-कहीं इतने दुरूह और लम्बे समासयुक्त हैं कि मञ्च पर अभिनय काल में भली-भाँति बोले भी नहीं जा सकते। उदाहरण स्वरूप-

माधव:-अथ ता: सलीलमुत्तालकरकमलतालिकातरलवलयावलीकमुत्रस्तकलहंसविभ्रमाभिरामचरणसञ्चरणरणरणायमानमञ्जुमञ्जीररणितानुविद्धमेखलाकलापकलकिङ्किणीरणत्कारमुखरं प्रतिनिवृत्य 'भर्तृदारिके, दिष्ट्या वर्धामहे। यदत्रैव कोऽपि कस्या अपि वल्लभस्तिष्ठति' इति मामङ्गुलीदलविलासेनाख्यातवत्य:। [३०]

इसी कारण कीथ एवं विन्टरनित्ज को कहना पड़ गया कि इनकी नाट्य-कला रङ्गमञ्च के अनुपयुक्त है।[३१] उत्तररामचरितम् में भवभूति ने अपनी भाषा को परिमार्जित करने का सार्थक प्रयास किया है-

---

२६ The Uttararāmacarita, or 'The Later Fortunes of Rāma,' is a romantic piece containing many fine passages. Owing to lack of action, however, it is rather a dramatic poem than a play. A history of Sanskrit Literature, A.A. Macdonell

२७ (क) मालतीमाधवम् , १/६, १० (ख) महावीरचरितम् , १/२, ३, ४, ६ (ग) उत्तररामचरितम् , १/२, ७/२०

२८ History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 258

२९ Sanskrit, however, was clearly in large measure an artificial language to Bhavabhūti; he employs far too freely rare terms culled from the lexicons, honourable to his scholarship but not to his taste, and the same lack of taste is displayed in the excess of his exaggerations. Of the sweetness and charm of Kālidās he has as little as of the power of the suggestions displayed by his predecessors; but he excels in drawing with a few strokes the typical features of a situation or emotion. The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 202

३० मालतीमाधवम् , पृ०२८

३१ (i) ... that his art was unfit for the stage, for Bhavabhūti's style has many demerits in addition to

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो:
असावस्या: स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरस:।
अयं बाहु: कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर:
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह:।।[३२]
त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभि: प्रियशतैरनुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमत: परेण।।[३३]

इत्यादि स्थलों में मार्मिक भावों की अभिव्यञ्जना में भावानुरूप भाषा का प्रयोग द्रष्टव्य है।

सामान्यतया गम्भीर वाणी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण ही भवभूति की तीनों ही कृतियों में 'विदूषक' का अभाव है। कीथ इसका कारण भवभूति का निजी स्वभाव मानते हैं। उनके अनुसार वे इस दिशा में प्रतिभा सम्पन्न नहीं थे।[३४] विदूषक का अभाव भवभूति के निजी स्वभाव के कारण हो सकता है। किन्तु इसे उनकी प्रतिभा-राहित्य का परिचायक कथमपि नहीं माना जाना चाहिए। किसी भी कवि की कृति में उसके स्वभाव का परिलक्षित होना स्वाभाविक ही है। संस्कृत-रूपकों में विदूषक सामान्यतया हास्य की सृष्टि करने वाला तथा यथावसर नायक का सहायक पात्र होता है। वह मूर्ख पात्र समझा जाता है, किन्तु उसके मूर्खतापूर्ण संवादों के माध्यम से कवि अनेक बुद्धिमत्तापूर्ण सन्देश पाठकों/दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। भवभूति के रूपकों की कथावस्तु में वस्तुत: कहीं विदूषक की उपयोगिता ही नहीं प्रतीत होती। विदूषक की अवतारणा नायक के सखा के रूप में ही अधिकांशत: हुई है। भवभूति के नाटकों में पुरुषोत्तम राम के सखा-रूप में विदूषक की उपस्थिति हास्य तो नहीं उत्पन्न करती, उनके रूपकों के लिए हास्यास्पद अवश्य हो जाती। वाक्संयमी कवि को अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए कहीं भी विदूषक-जनित हास्य की आवश्यकता ही नहीं थी इसीलिए उन्होंने अपने को इस पात्र से सर्वथा दूर रखा। परम्परा के अनुकरण पर यदि वे इस पात्र की सर्जना करते भी तो वह उनके रूपकों के लिए उचित नहीं होता। भवभूति ने स्वयं को हास्य से सर्वथा असम्पृक्त भी नहीं रखा है। उत्तररामचरितम् में चित्र-दर्शन के समय सीता का लक्ष्मण के साथ परिहास, चतुर्थ अङ्क में अश्व के वर्णन आदि में छिटपुट हास्य द्रष्टव्य हैं।[३५] स्वभाव की गम्भीरता ने ही सम्भवत: भवभूति को प्रकृति के कोमल स्वरूप की तुलना में अधिकांश उसके भयानक एवं रौद्र प्रसङ्गों के वर्णन की ओर प्रेरित किया है। हास्य-सृष्टि की न्यूनता का एक कारण यह भी है। उनके पाठक प्रकृति के भयानक चित्रों में ही खोये रहते हैं, उनकी हास्य के प्रति कोई अभिरुचि ही उत्पन्न नहीं होती। सम्भवत:

---

the defects of his technique. The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 196 (ii) The long compounds used in prose passages go to prove that his poems are rather more suitable for reading than for staging purposes. History of Indian Literature, Vol. III, Maurice Winternitz, page 259

३२ उत्तररामचरितम्, १/३८

३३ उत्तररामचरितम्, ३/२६

३४ It is true that no such humour as lightens that drama is found in the Mālatimādhava, but that was doubtless due to Bhavabhūti's own temperament; conscious that he had no gift in that direction, he omitted boldly the part of the Vidūṣaka which he could clearly not have handled effectively. The Sanskrit Drama, A.B. Keith, page 192

३५ (क) उत्तररामचरितम्, प्रथम अङ्क, पृ० २० (ख) उत्तररामचरितम्, ४/२६

मालतीमाधवम् में उन्होंने इसी कारण श्मशान दृश्य की सृष्टि की है। मैक्डानल ने भवभूति के इस सामान्येतर प्रकृति-वर्णन में उसके भव्य रूप के दर्शन किये हैं-

"While other Indian poets dwell on the delicate and mild beauties of Nature, Bhavabhūti loves to depict her grand and sublime aspects, ..."[३६]

भवभूति की भाषागत क्लिष्टता एवं प्रकृति के औद्धत्य वर्णन से ही इनके रूपकों की अभिनेयता दुष्कर मानी जाती है। यह सत्य है कि इनके रूपक सर्वथा दोष रहित नहीं हैं तथापि पाश्चात्त्य समीक्षकों की दृष्टि में जो भी असङ्गतियाँ इनके रूपकों में हैं उनमें अधिकांश का निराकरण स्वतः हो जायेगा यदि उनका समीक्षण भवभूति के व्यक्तित्व, प्रवृत्ति एवं रुचि के परिप्रेक्ष्य में किया जाए। यहाँ हेनरी डब्ल्यू वेल्स का यह विचार भी उल्लेखनीय है कि भवभूति की रचनाओं अथवा उनकी नाट्यकला का मूल्याङ्कन केवल उनकी ही रचनाओं तक सीमित रहकर नहीं किया जाना चाहिए। अपितु इसका मूल्याङ्कन भारतीय नाट्य-परम्परा के विस्तृत पटल पर रखकर किया जाना उचित है।[३७]

संदर्भ-ग्रन्थ:

१. Keith, A.B., (1959), The Sanskrit Drama, Oxford University Press, London.
2. Macdonell, A.A., (1972), A history of Sanskrit Literature, 3rd Edition, Munshiram Manoharlal, New Delhi.
3. Winternitz, Maurice, (1967), History of Indian Literature, Vol. III, (Translation by Subhra Jha) Motilal Banarasidas, New Delhi.
४. वेल्स, हेनरी डब्ल्यू, (१९७७), भारत का प्राचीन नाटक (Classical Drama of India), अनुवादक वीरेन्द्रनारायण, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।

३६ A history of Sanskrit Literature, A.A. Macdonell, page 366
३७ भारत का प्राचीन नाटक, हेनरी डब्ल्यू वेल्स, पृ०१८०

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२०८-२१२) ISSN 0974.– 8830

भारत की प्राचीन वर्णव्यवस्था के विकास में महर्षि दयानन्द की भूमिका

डॉ० प्रभात कुमार[1]

प्राचीन भारत में ऋषियों और आचार्यों ने समाज को सुव्यवस्थित रूप से चलाने के लिये वेद में विद्यमान वर्णव्यवस्था को प्रचलित किया है, जिससे ऊँच-नीच और छोटे-बड़े का भेदभाव समाप्त होकर सब मानव एक-दूसरे के सहयोग से उन्नति करते हुए जीवन को आनन्दपूर्वक व्यतीत कर सकें। इसलिये उन्होंने समाज का विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन चार वर्णों द्वारा किया। सभी मानवों को इन चारों वर्णों का पालन अनिवार्य था। राजा इन परम्पराओं का पालन बड़ी दृढ़ता से कराते थे, वे इसके रक्षक और पालक भी थे।[2] प्राचीन कवियों ने वर्ण परम्परा को महर्षि मनुप्रणीत कहकर इसके पालन की अनिवार्यता पर बल दिया था।[3] इस वर्ण-व्यवस्था के महत्त्व को दर्शाते हुए आचार्य चाणक्य ने इसकी परम्परा की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य निर्धारित किया था। उन्होंने निर्देश देते हुए कहा कि जिस समाज में आर्यों की मर्यादायें व्यवस्थित रहती हैं, वर्णों की व्यवस्था का पालन किया जाता है, ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद जिसकी रक्षा करता है, वह समाज कभी दु:ख को प्राप्त नहीं होता।[4]

वर्णव्यवस्था का प्रारम्भिक संकेत ऋग्वेद के दशम मण्डल तथा यजुर्वेद के इकतीसवें अध्याय में उपलब्ध होता है।[5] जिस समय सृष्टि का रचना-काल प्रारम्भ होता है, उस समय परिस्थिति का वर्णन मन्त्र के क्रम भेद से चारों ही वेदों में विद्यमान है। उस काल में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि इस पुरुषरूपी समाज का विभाजन परमेश्वर ने किस प्रकार किया? उसका मुख क्या था? भुजायें क्या थीं? उसके उरू क्या थे और उसके पैर क्या थे?

इस प्रश्न का उत्तर ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में समान प्रकार से प्राप्त होता है। ऋषि कहता है कि उस समाजरूपी पुरुष का मुख ब्राह्मण था। उसकी भुजायें क्षत्रिय थीं, उसके उरू वैश्य थे और पैर शूद्र थे।[6]

यजुर्वेद में भी समाज का विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-इन वर्णों के माध्यम से किया गया है।[7] जो समाज में अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते हुए सेवा करता है, वह ब्राह्मण है, जो युद्ध की अध्ययनात्मक और क्रियात्मक शिक्षा हेतु समर्पित होकर देश और प्रजा का शासन तथा रक्षा के उत्तरदायित्व का वहन करता है वह क्षत्रिय है। धनोपार्जन के माध्यम से देश और जनता का भरण-पोषण और समृद्धि का कार्यवहन करता है, वह वैश्य है एवं जो अन्य सब गुणों से हीन है उसको समाज की सेवा का कार्य समर्पित

---

१ एसोशिएट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ०प्र०)

२ स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामानुपूर्वशः। वर्णानामाश्रमाणाञ्च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ मनु०७.५५

३ न तस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः॥ रघुवंश महाकाव्यम्-१४.६७

४ व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥ अर्थशास्त्र शिक्षासमुद्देशः

५ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते॥ ऋग्वेद१०.९०.११

६ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्०१०.९०.१२

७ ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्॥ यजुर्वेद३०.५

किया जाता है, वह शूद्र है।

वेदों में रूपात्मक परिभाषा के अन्तर्गत जिस वर्ण-व्यवस्था का वर्णन किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मुख सभी अंगों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वर्णों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है, मुख की तरह उस ब्राह्मण का कार्य मार्ग-निर्देशन करना और मस्तिष्क की तरह चिन्तन करना है।[८] जैसे हाथ हमारी रक्षा करने में सर्वोत्तम सहायक हैं, उसी प्रकार से क्षत्रिय भी समाज की सहायता के लिये अग्रगण्य है।[९] जिस प्रकार शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंगों में रसादि का विभाजन पेट में विद्यमान और संगृहीत अन्नव्यवस्था से होता है उसी प्रकार वैश्य भी धन का उचित समुपार्जन करता हुआ अपने समाज को सुदृढ़ बनाता है[१०] और जिस प्रकार हमारे पैर सम्पूर्ण शरीर की सेवा में संलग्न रहते हैं उसी प्रकार शूद्र भी सेवारत रहते हैं।[११] जैसे शरीर में शिर, भुजा, उरू तथा पादादि के मध्य में कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है, उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में समानता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस प्राचीन वैदिक वर्णव्यवस्था के महत्त्व और उपयोगिता को समझते हुए अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर इसका निर्देश समाजहित में किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वर्णाश्रमविषय को संक्षेप से बताते हुए उन्होंने वर्ण पद का अर्थ कर्म के माध्यम से वरण करना[१२] ऐसा लेते हुए प्राचीन आचार्य वेदांग के व्याख्याकार महर्षि यास्क के वचन [१३] को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) का नाम वर्ण इसलिये है कि जैसे जिसके गुण, कर्म हों, वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है।

इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का विभाजन जन्मना न होकर कर्मणा माना जाता है। महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास ने शान्तिपर्व में कर्म के माध्यम से वर्ण की प्राप्ति मानी है।[१४] श्रीकृष्ण भी अर्जुन को अपने-अपने कर्म के अनुसार वर्ण को धारण करता हुआ मनुष्य आगे बढ़ता है, जिसका विभाजन पूर्वतः ही किया गया है-ऐसा बताते हैं।[१५] रामायण, महाभारत, स्मृतिग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण तथा सूत्रग्रन्थों में स्थान-स्थान पर गुण-कर्म को वर्ण का आधार माना गया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी इस गुण-कर्माधारित व्यवस्था मानते हुए लिखा है-

---

८ (क) शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥ श्रीमद्भगवद्गीता-१८.४२ (ख) अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥ मनु०१.८८ (ग) लोकः पच्यमानश्चतुर्भिधर्मैः ब्राह्मणं भुनक्ति-अर्चया दानेन याजनेन चाऽवध्यतया च॥ शत०ब्रा०११.५.६१

९ (क) शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाऽप्यप्रलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥ श्रीमद्भगवद्गीता १८.४३ (ख) वायुपुराण ८.१६९ (ग) संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव रक्षणम्। शुश्रूषा ब्राह्मणानाञ्च राज्ञां क्षेयस्करं परम्॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च। विषयेष्वनिवर्तित्वं क्षत्रियस्य स्वभावतः॥ मनु०२.८९-९०

१० कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्॥ श्रीमद्भगवद्गीता-१८.४४

११ परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्। श्रीमद्भगवद्गीता-१८.४५

१२ वर्णो वृणोतेः-निरु०२.३

१३ वृणो वृणोतेरिति, निरुक्तप्रामाण्याद् वरणीया वरीतुमर्हा, गुणकर्मणि च दृष्ट्वा यथायोग्यं व्रियन्ते ते वर्णाः। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वर्णाश्रमविषय संक्षेपतः।

१४ एकवर्णमिदं सर्वं विश्वमासीद् युधिष्ठिर। कर्मक्रियाविशेषेण चातुवर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥ महा०शान्तिपर्व १०.४५

१५ चातुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः॥ श्रीमद्भगवद्गीता ४.१३

वर्ण-जो गुण और कर्मों के योग्य से ग्रहण किया जाता है, वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है।[१६] आचार्य आपस्तम्ब का कथन है कि निम्न-निम्न वर्ण भी धर्म का आचरण करके पूर्व-पूर्व वर्ण को प्राप्त करता है। अधर्म का आचरण करके पूर्व-पूर्व वर्ण, भी निम्न-निम्न वर्ण को प्राप्त करता है।[१७] इसी विषय को महर्षि मनु ने कुछ इस प्रकार दिखाया है-धर्म का आचरण करने और विद्या का अध्ययन करने से शूद्र भी ब्राह्मण हो जाता है और अधर्म का आचरण करने से ब्राह्मण भी शूद्र हो जाता है।[१८]

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है कर्म के आधार से-यह घोषणा विभिन्न प्राचीन प्रमाणों को दिखाते हुए की है।[१९] उन्होंने स्वयं भी स्पष्ट शब्दों में लिखा है-

शूद्रः पूर्णविद्यासुशीलतादिब्राह्मणगुणयुक्तश्चेद् ब्राह्मणतामेति, ब्राह्मणभावं प्राप्नोति, योऽस्तिब्राह्मणस्याधिकारस्तं सर्वं प्राप्नोत्येव। एवमेव कुचर्य्याऽधर्माचरणनिर्बुद्धिमूर्खत्वपराधीनतापर-सेवादिशूद्रगुणैर्युक्तो ब्राह्मणश्चेत् स शूद्रतामेति, शूद्राधिकारं प्राप्नोत्येव। एवमेव क्षत्रियाज्जातं क्षत्रियादुत्पन्नं वैश्यादुत्पन्नं प्रति च योजनीयम्। अर्थाद्यस्य वर्णस्य गुणैर्युक्तो यो वर्णः स तत्तदधिकारं प्राप्नोत्येव।

एवमेवापस्तम्बसूत्रेऽप्यस्ति-

धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।।

अधर्मचर्य्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।।[२०]

सत्यधर्माचरणेनैव शूद्रो, वैश्यं क्षत्रियं ब्राह्मणं च वर्णमापद्यते, समन्तात्प्राप्नोति सर्वाधिकारमित्यर्थः। जातिपरिवत्तावित्युक्ते जातेर्वर्णस्य परितः सर्वतो या वृत्तिराचरणं तत्सर्वं प्राप्नोति।।

एवमेव स लक्षणेनाधर्माचरणेन पूर्वो वर्णो ब्राह्मणो जघन्यं स्वस्मादधः स्थितं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च वर्णमापद्यते, जातिपरिवृत्तौ चेति पूर्ववत्। अर्थाद् धर्माचरणमेवोत्तमवर्णाधिकारे कारणमस्ति। एवमेवाधर्माचरणं कनिष्ठवर्णाधिकारप्राप्तश्चेति।[२१]

इसका अभिप्राय यह है किं पूर्ण विद्या, सुशीलता आदि जो ब्राह्मण के गुण हैं, वे यदि पूर्व में कर्मवशाद् किसी शूद्र में प्राप्त होते हैं तो वह शूद्र ब्राह्मण बन सकता है, ब्राह्मण के भाव को प्राप्त हो सकता है। जो ब्राह्मण के जो भी अधिकार हैं वे सब उस शूद्र को प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त व्यक्ति है और अनाचरणीय कर्मों को करनेहारे, धर्माचरण में संलग्न, निर्बुद्धि, मूर्खता, पराधीनता और परसेवा आदि शूद्र के कर्मों में युक्त हो गया है तो वह भी शूद्रवर्ण के अधिकार को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार व्यवहार से क्षत्रिय और वैश्य के लिये भी लगा लेना चाहिये अर्थात् जिस वर्ण के गुणों से युक्त जो वर्ण है वह उस वर्ण कें अधिकार प्राप्त कर लेता है-ऐसा मानना चाहिये।.

---

१६ आर्य्योद्देश्यरत्नमाला-४३

१७ धर्मचर्यया जघन्यो वर्णो पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ। अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णनामपद्यते जातिपरिवृत्तौ।। आपस्तम्ब धर्मसूत्र-२.५.११,१०-११

१८ शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।। मनु०१०.६५

१९ वर्णाश्रम अपि गुणकर्माचरतो हि भवन्ति। अत्राह मनुः-शूद्र०ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चेति शूद्रताम्। क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।। मनु०१०.६५ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-अधिकारानाधिकारविषयः

२०. आपस्तम्ब०२.५.११.१०-११

२१ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-अधिकारानाधिकारविषयः

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसकी परिपुष्टि हेतु प्राचीन आचार्य आपस्तम्ब के सूत्रग्रन्थ का प्रमाण उद्धृत करते हुए उसका व्याख्यान कुछ इस प्रकार किया है-

सत्यधर्म के आचरण से ही शूद्र भी वैश्य अथवा क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त कर लेता है अर्थात् सभी अधिकारों को पा लेता है। आचार्य आपस्तम्ब ने जो जातिपरिवृत्तौ पद का प्रयोग किया है महर्षि ने उसका व्याख्यान करते हुए बताया है कि जातिवृत्तौ यह कहने का आचार्य का अभिप्राय वर्ण पद से है। क्योंकि वर्ण के चारों ओर जो आचरण या क्रिया अथवा कर्म होता है वह उसी से वर्ण को प्राप्त करता है।

इसी प्रकार ब्राह्मण आदि पूर्व वर्णवाले भी अधर्म के आचरण से जघन्य अर्थात् अपने से नीचे नीचे वर्ण को प्राप्त कर लेता है, जैसे क्षत्रियत्व को, वैश्यत्व को और शूद्रत्व को भी पा जाता है। इसका अर्थ यह है कि धर्म का आचरण ही वर्ण के अधिकार में कारण होता है। इसी प्रकार अधर्माचरण भी कनिष्ठ वर्ण की प्राप्ति का हेतु होता है।

महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट इस कर्माधारित वर्णव्यवस्था का प्रचार और प्रसार अथवा उल्लेख प्राचीन शास्त्रकारों ने बहुशः किया है। उनका कथन है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र नहीं होता। अपितु गुणों से ही होता है। चारों वर्णों में ब्राह्मण अपने गुणों से ही श्रेष्ठ है।[२२] विश्वामित्र, मातंग और नारद ने तपस्या और विद्या के प्रभाव से विशिष्ट उन्नत स्थान को प्राप्त किया, जन्म से नहीं।[२३] शतपथ ब्राह्मणकार ने भी ब्राह्मण के लिये उसकी प्रथम योग्यता विद्यावान् होना माना है जो कर्म के द्वारा ही सम्भव है। उसका कहना है कि विश्वामित्र, देवापि और जनक ने अपने ज्ञान के कारण ही ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त किया था।[२४] छान्दोग्य उपनिषद् में शूद्रा जाबाला का पुत्र सत्यकाम जाबाल अपने सत्याचरण के कारण से विद्वान् गुरु का शिष्यत्व प्राप्त करके अपनी माता के नाम पर अपना गोत्र जाबाल प्रसिद्ध करवाया था।[२५] विद्वानों के अनुसार उसी सत्यकाम जाबाल ने यजुर्वेद की एक शाखा का प्रणयन किया था।[२६] इसी प्रकार ऐतरेय उपनिषद् में भी शूद्र माता इलूषा के पुत्र कवष ने अपने गुण-कर्म-स्वभाव की योग्यता से ऋषित्व को प्राप्त किया और वह कवष ऐलूष नाम से विख्यात हुआ।[२७] उसने ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का अर्थदर्शन भी किया था।[२८]

महर्षि ने इस कर्माधारित प्राचीन वर्ण-व्यवस्था का प्रचार अपने ग्रन्थों में भरपूर किया है। सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने लिखा-'जिस-जिस पुरुष में जिस-जिस वर्ण के गुण-कर्म हों, उस-उस वर्ण का अधिकार उसे देना चाहिये। ऐसी व्यवस्था रखने से सब मनुष्य उन्नतिशील होते हैं। क्योंकि उत्तम वर्णों को भय होगा कि जो हमारे सन्तान मूर्खत्वादि दोषयुक्त होंगे तो शूद्र हो जायेंगे और सन्तान भी डरते रहेंगे कि जो हम उक्त चाल-चलन और विद्यायुक्त न होंगे तो शूद्र होना पड़ेगा और नीच वर्णों को उत्तम वर्णस्थ होने के लिये

---

२२ सर्वाधिकस्तु ब्राह्मणो हि जायते स्वकर्मणा॥ शुक्रनीतिसार-१.२६९
२३ विश्वामित्रो वशिष्ठश्च मातङ्गो नारदस्तथा। तपो विशेषैः सम्प्राता उत्तमत्वं न जातितः॥ शुक्रनीतिसारः ४.४३८
२४ शतपथब्राह्मण १३.४.१.३
२५ छन्दोग्य उपनिषद् ४.४
२६ छान्दोग्य उपनिषद् ५.४
२७ ऐतरेय ब्राह्मण २.३.१९२
२८ ऋग्वेद १०.३०.१; ३, २८

उत्साह बढ़ेगा।'[२९]

समाज में गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था के होने पर प्रत्येक मानव अपने कर्म के प्रति जागरूक ही नहीं रहेगा अपितु वह अपने गुण-कर्म और स्वभाव को उत्तमोत्तम बनाने का अहर्निश प्रयास करेगा। इसीलिये महर्षि दयानन्द सरस्वती ने समाज के उपकारार्थ गुण-कर्माधारित इस प्राचीन वर्णव्यवस्था को यथावत् स्वीकार करते हुए लिखा-

यदि ठीक-ठीक विद्या सम्पादन न हुई तो चाहे ब्राह्मण के ही कुल में उत्पन्न हुआ हो तो भी उसका यज्ञोपवीत छीना जाता और उसकी अप्रतिष्ठा होती थी। उसी प्रकार शूद्रादि भी उत्तम विद्या सम्पादन कर ब्राह्मणत्व के अधिकारी होकर यज्ञोपवीत धारण करते थे।[३०]

अभी हमने शुक्रनीति, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय उपनिषद् आदि ग्रन्थों का उद्धरण देकर यह दिखाया है कि गुणकर्मानुसार वर्णपरिवर्तन की परम्परा बहुत प्राचीन है। महर्षि दयानन्द ने भी उन्हीं के प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति को साक्षी मानते हुए छान्दोग्य उपनिषद् के अज्ञात कुलोत्पन्न जाबाल ऋषि, महाभारत में वर्णित क्षत्रिय-वर्णस्थ विश्वामित्र ऋषि तथा चाण्डाल कुल में उत्पन्न मातंग ऋषि का ब्राह्मण होना और सूत्रपुत्र कर्ण का क्षत्रिय होना दिखाया है।[३१] अन्त में उन्होंने लिखा-

अब भी जो उत्तम विद्या, स्वभाव वाला है, वही ब्राह्मण के योग्य और जो मूर्ख वह शूद्र के योग्य होता है और वैसा ही आगे भी होगा।[३२]

रज और वीर्य के योग से उत्पन्न इस शरीर को स्वगुणकर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन में प्रमाण देते हुए महर्षि ने लिखा-'जो कोई रज-वीर्य के योग से वर्णाश्रम व्यवस्था माने और गुण-कर्मों के योग से न माने तो उससे पूछना चाहिये कि जो कोई अपने वर्ण को छोड़ नीच, अन्त्यज अथवा कृश्चीन, मुसलमान हो गया हो तो उसको भी ब्राह्मण क्यों नहीं मानते? यहाँ यही कहोगे कि उसने ब्राह्मण के कर्म छोड़ दिये इसलिये वह ब्राह्मण नहीं है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ब्राह्मणादि उत्तम कर्म करते हैं वे ही ब्राह्मणादि और जो नीच भी उत्तम वर्ण के गुण कर्म स्वभाव वाला होवे तो उसको भी उत्तम वर्ण में और जो उत्तम वर्णस्थ होके नीच काम करे तो उसको नीच वर्ण में गिनना अवश्य चाहिये।'[३३]

इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भारत में विद्यमान प्राचीन वर्णव्यवस्था का प्रकाश अपने ग्रन्थों में कर एक नये सूत्र की स्थापना भारतवर्ष में की है। आज समाज में ऊँच-नीच और छोटे-बड़े के भेदभाव समाप्त करने के लिये इस प्राचीन वर्णव्यवस्था का प्रचलन होना बहुत आवश्यक है।

---

२९ सत्यार्थप्रकाश चतुर्थसमुल्लास पृ०६१

३० उपदेश मञ्जरी ७.५१

३१ (क) सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास, (ख) उपदेशमञ्जरी १२वाँ उपदेश, पृ०८१॥

३२ सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृ०५७

३३ सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृ०५७

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ० २१३-२१७) ISSN 0974 – 8830

आनन्द रामायण का जिला शिमला के लोकजीवन पर प्रभाव

डॉ. राजिन्द्रा शर्मा[1]

हिंमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला एक प्रसिद्ध पर्यटक स्थल है। यहां पर देश-विदेश से लोग ग्रीष्म ऋतु में ठंडी हवा का आनन्द लेने और शीत ऋतु में हिमपात देखने के लिए आते हैं।

रामायण की भाँति आनन्द रामायण का भी शिमला के लोकजीवन पर प्रभाव दिखाई देता है। रामकथा भारतीय धर्म तथा संस्कृति का मुख्य अंग है। वाल्मीकि रामायण के पश्चात् अध्यात्म रामायण, योगवाशिष्ठ रामायण, तत्त्व संग्रह रामायण, अद्भुत रामायण, भुशन्डी रामायण तथा आनन्द रामायण की रचना की गई। अनेक विशेष ग्रन्थों की भाँति आनन्द रामायण का भी अपना विशिष्ट स्थान है। रचयिता ने भक्तिभाव से प्रेरित होकर आनन्द रामायण की रचना की। प्रस्तुत ग्रन्थ में विष्णु-लक्ष्मी के स्थान पर राम-सीता को महत्ता प्रदान की गई है।

आनन्द रामायण में परिवार का दो पीढ़ियों के रूप में वर्णन किया गया है। पहला परिवार महाराज दशरथ का है[2] तथा दूसरा परिवार राम का है।[3] आनन्द रामायण में वर्णित दशरथ परिवार और राम परिवार की भाँति जिला शिमला में भी अधिकतर लोग संयुक्त परिवार में रहते हैं। परिवारों में आपसी प्रेम, आदर्शवादिता व स्नेहसिक्तता की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। परिवार में मुखिया को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है और उसके कहे कार्यों को दायित्व के रूप में निभाया जाता है।

परिवार में देवर-भाभी के सम्बन्ध स्नेहपूर्ण बताए गए हैं। भाभी को माता का स्थान दिया गया है। जब राम ने लक्ष्मण को सीता के आभूषण पहचानने के लिए कहा[4] तो लक्ष्मण उत्तर देते हुए कहते हैं कि मैं माता सीता के पैरों के नूपुर अवश्य पहचानता हूँ क्योंकि प्रणाम करते समय मैं उनके पैरों को देखा करता था।[5] इसी प्रकार शिमला के प्रायः सभी भागों में बड़ी भाभी को माता का स्थान देकर पूजनीय माना गया है। भाभी भी देवरों को सन्तान की भाँति समझ कर उनके प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण रूप से निभाती है।

आनन्द रामायण में पुत्रों को महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योंकि पुत्र पिण्डदान व श्राद्ध कर व्यक्ति को नरक के द्वार से छुड़ाता है।[6] जिला शिमला के भी प्रायः सभी भागों में पुत्र द्वारा पिण्डदान व श्राद्ध करने से पितर प्रसन्न होते हैं और सन्तान प्रसन्न रहती है।

पुत्र-पुत्री द्वारा आपने माता-पिता के आदर करने तथा कर्त्तव्यों का पालन करने का वर्णन भी प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलता है। रामादि चारों भाईयों के पुत्रों द्वारा अपने से बड़े का आदर करने का उल्लेख भी प्रस्तुत

---

१ प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समर हिल शिमला
२ आनन्द रामायण, सारकाण्ड ६.६५-६६
३ वही, जन्मकाण्ड ७.६१
४ आनन्द रामायण, सारकाण्ड ८.३२
५ वही, सारकाण्ड ८.३३
६ वही, मनोहरकाण्ड ६.२२९

ग्रन्थ में मिलता है।[७] शिमला में भी पुत्र-पुत्री अपने माता-पिता का पूर्ण रूप से सम्मान करते हैं और घर में सब बड़ों का आदर करते हैं यदि किसी पुत्र द्वारा आने से बड़ो का सम्मान नहीं किया जाता जो पुत्र को माता-पिता दण्डित भी करते हैं। जिला शिमला में भी आज के युग में पुत्र-पुत्री को स्वयं वर व वधु चुनने का अधिकार है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में जामाता और ससुर के सम्बन्धों में अपनापन तथा प्यार दिखाया गया है। जामाता को पुत्र की भाँति सम्मान दिया जाता है और ससुर को पिता के समान माना जाता है।[८] जिला शिमला के भी अधिकतर भागों में जामाता को पुत्रवत और ससुर को पितृतुल्य माना जाता है।

आनन्द रामायण में वर्णित धर्म भक्ति, पूजा या उपासना, व्रत, दान व यज्ञ की भाँति ही जिला शिमला के लोग पूजा पाठ में आस्था रखते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्म मुख्यत: तीन रूपों में प्रतिपादित है- भक्ति, पूजा व उपासना। भक्ति का अर्थ है इन्द्रियों को निष्काम भाव से परमात्मा में लगाना।

आनन्द रामायण में निष्कामता पूर्वक सभी स्थानों पर प्रभु की विद्यामानता को ही मुक्ति का मार्ग बताया गया है।[९]

आनन्द रामायण में पूजन सामग्री के रूप में अनेक आभूषण, द्रव्य व दिव्यान्न इत्यादि का प्रतिपादन हुआ है।[१०] सर्वप्रथम अर्घ्य देकर भगवान् का आवाह्न करने का उल्लेख है।[११] तत्पश्चात् आचमन देने का वर्णन है।[१२] आनन्द रामायण में अनेकों राममन्त्र का भी वर्णन मिलता है।[१३]

आनन्द रामायण में सात्त्विकी उपासना, राजसी उपासना और तामसी उपासना का वर्णन मिलता है।[१४] जिला शिमला में भी भगवान् की पूजा व उपासना अनेक प्रकार से दिव्यान्न पदार्थों से की जाती है। कुछ पूजा व उपासना में पशुबलि भी दी जाती है। इस तरह की पूजा को भुंडा व शांद के नाम से पुकारा ज़ाता है।

आनन्द रामायण में अनेक प्रकार के व्रतों, दान, तीर्थ स्थलों व यज्ञों का भी वर्णन मिलता है। आनन्द रामायण में व्रत का अभिप्राय भोजन के नियन्त्रण द्वारा किसी विशेष अवसर पर विशिष्ट देवता की उपासना से है। धर्म व व्रत का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हुए व्रत करने वाले को धार्मिक व भगवत्भक्ति में लीन माना गया है।[१५] आनन्द रामायण में अष्टमी व्रत[१६], एकादशी व्रत[१७], नवरात्र व्रत[१८] आदि का वर्णन हुआ है।

जिला शिमला में भी लोग हर साल अष्टमी व्रत करते हैं। घर में देवी-देवताओं की स्थापना की जाती

---

७ वही, जन्मकाण्ड ९.१२८

८ आनन्द रामायण, विलासकाण्ड ८.६५

९ वही, सारकाण्ड ५.११३

१० वही, मनोहरकाण्ड ३.९२

११ वही, मनोहरकाण्ड ३.७९

१२ वही, मनोहरकाण्ड ३.८१

१३ वही, मनोहरकाण्ड ३.८३-९०

१४ वही, मनोहरकाण्ड ३.१८-२०

१५ आनन्द रामायण, सार काण्ड ८.३२

१६ वही, सार काण्ड ८.३३

१७ आनन्द रामायण, ४.१२०

१८ आनन्द रामायण, राज्यकाण्ड २४.१९०-११०

है और उनको प्रसन्न करने के लिए अष्टमी वाले दिन यज्ञ किया जाता है। यह यज्ञ सात्त्विक, राजसी तथा तामसी प्रकारों से सम्बन्ध रखता है।

दान का अर्थ है किसी वस्तु से आपना स्वत्व हटाकर दूसरे का स्वत्व उत्पन्न कर देना।[१९] आनन्द रामायण के अनुसार दान देना व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है।[२०] आनन्द रामायण के अनुसार अन्नदान न देने से व्यक्ति पिशाच योनि में जन्म लेता है।[२१] दाने के महत्त्व को बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि दान किए बिना भोजन भी नहीं मिलता।[२२] आनन्द रामायण के रचयिता लाखों महत्त्वपूर्ण कार्यों को छोड़कर दान देने को कहते हैं।[२३]

आनन्द रामायण में भूमिदान को महादान माना गया है। विद्यादान को इससे भी उत्तम दान माना गया है।[२४] आनन्द रामायण में चन्दन, छत्र, पंखा, लोटा, घड़ा, झारी, दही, भट्ठा, नींबू व दीप को दान में देने के लिए कहा गया है।[२५] आनन्द रामायण में पुस्तक का दान देने का वर्णन भी है।[२६]

जिला शिमला में भी दान देने की प्रथा पूर्वजों से चली आ रही है। अमीर और गरीब सभी जन दान देने में विश्वास रखते हैं और सामर्थ्यानुसार दान देते हैं। विवाह, जन्मदिन, यज्ञ इत्यादि अवसरों पर लोग दान देते हैं।

आनन्द रामायण में पूर्व दिशा के तीर्थों काशी, गया, प्रयाग, हरिद्वार आदि का वर्णन मिलता है।[२७] आनन्द रामायण में पवित्र स्थल काशी में विश्वनाथ, कालराज, गणपति व अन्नापूर्णा देवी का निवास बताया गया है।[२८] आनन्द रामायण में प्रयाग को पूर्वी भारत का प्रसिद्ध तीर्थ बताया गया है।[२९]

हरिद्वार का अर्थ है अर्थात् विष्णु का द्वार। यह वह स्थान है जहाँ गंगा हिमालय से मैदान में उतरती है। आनन्द रामायण में भागीरथी के किनारे स्थित हरिद्वार को पवित्र स्थान माना गया है।[३०]

जिला शिमला के प्राय: सभी भागों के लोग तीर्थों की यात्रा पर जाते हैं। जीवित रहते तथा मृत्यु के पश्चात् भी मृत व्यक्ति की अस्थियों को लेकर अधिकतर लोग हरिद्वार जाते हैं और वहां पवित्र गंगा में अस्थियां प्रवाहित करते हैं। पुण्य प्राप्ति के विश्वास से लोग क़ाशी और गया आदि तीर्थ स्थलों में भी जाते हैं।

यज्ञ उस कर्म विशेष को कहते हैं जिसमें देवता को उद्देश्य कर द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप किया जाता

---

१९ वही, सारकाण्ड ५.३३
२० वही, मनोहरकाण्ड १०.१०५-१०९
२१ हिन्दू धर्मकोष, डॉ० राजबलि पाण्डे, पृ० ३१८
२२ आनन्द रामायण, राज्यकाण्ड १८.४६-४७
२३ वही, मनोहरकाण्ड ११.२००-२०१
२४ वही, राज्यकाण्ड १७.७३-७४
२५ वही, राज्यकाण्ड १८.४५
२६ वही, राज्यकाण्ड २४.१०६
२७ वही, राज्यकाण्ड २४.११२-११४
२८ वही, राज्यकाण्ड २४.१२६
२९ वही, यात्राकाण्ड ६.३३
३० वही, यात्राकाण्ड ६.५९

है।[३१] भजन, पूजन, सम्मिलित विचार, वस्तुओं का वितरण यज्ञ है। बदले के कार्य, आहुति, बलि, चढ़ावा, अर्घ आदि के अर्थ में भी यह शब्द व्याहृत होता है।[३२]

आनन्द रामायण में रचयिता ने पञ्च महायज्ञ, अग्निहोत्र यज्ञ, अश्वमेघ यज्ञ, लघुरुद्र यज्ञ, अतिरुद्र, सोमयाग एवं गोमेध यज्ञ का वर्णन किया है। आनन्द रामायण में पञ्च महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ व पितृयज्ञ का उल्लेख हुआ है। ग्रन्थकार ने ब्रह्मयज्ञ में प्रात:कालीन संध्या व ब्राह्मणों को विविध दान देने का प्रावधान किया है।[३३]

लोगों को सामूहिक रूप में भोजन देना, पितरों को तृप्त करना, शिवजी को नैवेद्य अर्पण करना व बलि वैश्व देव, काकबलि आदि दैनिक कृत्यों से ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ व मनुष्य यज्ञ का आभास मात्र होता है।[३४] प्रस्तुत ग्रन्थ में भूतयज्ञ में जीवों की बलि दिए जाने का वर्णन है।[३५] पितृयज्ञ में पिण्डदान तथा तर्पण करने का उल्लेख हुआ है।[३६]

आनन्द रामायण में पत्नी सहित अग्निहोत्र शाला में अग्नि में हवन सामग्री डालने का वर्णन मिलता है।[३७] आनन्द रामायण में अश्वमेघ यज्ञ का भी वर्णन मिलता है। क्षत्रिय द्वारा विजय प्राप्ति के लिए यह यज्ञ किया जाता था। ग्रन्थ में अच्छे मुहर्त्त व लग्न में काले रंग के कान, पैर व पूंछ वाले घोड़े को सुन्दर वस्त्रों और गहनों से सुसज्जित कर पृथ्वी की परिक्रमा के लिए भेजा जाता था।[३८]

जिला शिमला में भी प्राय: सभी क्षेत्रों में लोगों द्वारा छोटे और बड़े यज्ञ किए जाते हैं। लोगों में विश्वास है कि यज्ञ करने से घर में सुख-समृद्धि आती है और परिवार के लोग शान्ति से जीवन व्यतीत करते हैं। गायत्री जाप और महामृत्युंजय जाप विशेष रूप से लोगों द्वारा किए जाते हैं। देवयज्ञ में देवताओं को बलि दी जाती है। काफी समय पूर्व भुण्डा नामक यज्ञ में व्यक्ति की बलि भी दी जाती थी परन्तु अभी भी यह यज्ञ तो पुराने रूप में ही मनाया जाता है। अब मनुष्य बलि नहीं दी जाती। लोगों को विश्वास है कि ऐसे यज्ञ करने से उस क्षेत्र में अत्याधिक अन्न की उत्पत्ति होती है और लोग खुशी से जीवन बिताते हैं।

आनन्द रामायण में अनेक संस्कारों का वर्णन मिलता है। पुसंवन संस्कार गर्भाधान के दूसरे महीने में किया जाता है।[३९] सीमान्तोन्नयन संस्कार में गर्भवती स्त्री द्वारा छठे महीने में प्रवेश करने पर उसका पूजन किया जाता है।[४०] आनन्द रामायण में बच्चे के पिता द्वारा गुरुओं की उपस्थिति में जातकर्म संस्कार करवाया जाता है।[४१] पिता द्वारा बच्चे का मुंह देख कर ब्राह्मण को वस्त्र, आभूषण आदि अनेक सामग्री दान में देने का

---

३१ वही, यात्राकाण्ड ६.६

३२ आनन्द रामायण यात्राकाण्ड ९.२८

३३ यज्ञमीमांसा वेणीराम शर्मा पृ० ५

३४ हिन्दू धर्मकोष, डॉ० राजबलि पाण्डे पृ० ५३१

३५ आनन्द रामायण राज्यकाण्ड १९.११

३६ आनन्द रामायण राज्यकाण्ड १९.७५-७६

३७ वही राज्यकाण्ड १९.७७

३८ वही राज्यकाण्ड १९.७६

३९ वही सारकाण्ड ५.७६

४० वही यागकाण्ड १.३-४

४१ आनन्द रामायण जन्मकाण्ड ८.५

उल्लेख है।[४२] आनन्द रामायण में जन्म के ग्याहरवें दिन जातक का नामकरण करने का वर्णन मिलता।[४३] नामकरण संस्कार में सर्वप्रथम कुशा से अभिषेक कर शान्ति करने के पश्चात् नामकरण किया जाता है।[४४] शान्तिपाठ के पश्चात् रामरक्षा मन्त्र से अभिषेक करने के पश्चात् नामकरण किया जाता है।[४५] उपनयन संस्कार का यज्ञोपवीत व ब्रतबन्ध संस्कार नाम से भी कहीं-कहीं वर्णन मिलता है।[४६] आनन्द रामायण में अन्त्येष्टि संस्कार का अधिक वर्णन नहीं मिलता है।

जिला शिमला में भी उपर्युक्त वर्णित सभी संस्कारों को विधि-विधान के साथ कराया जाता है। बच्चे के जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों को घर में बड़ों की आज्ञानुसार कराया जाता है।

आनन्द रामायण में मुख्यत: सोना, चांदी तथा अनेक प्रकार की मणियों से बने आभूषणों का उल्लेख मिलता है।[४७] आभूषणों के साथ-साथ सौन्दर्य प्रसाधन का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग दिखाई देता है। माथे पर सुन्दर तिलक धारण करने का भी उल्लेख मिलता है।[४८]

जिला शिमला में भी लोग अधिकतर सोने-चांदी के आभूषण पहनते हैं। माथे पर पुरुष और स्त्री दोनों तिलक लगाते हैं।

आनन्द रामायण में घी में पकाए गए तथा स्वादिष्ट खानपान का वर्णन मिलता है।[४९] दालों में मसूर[५०], उड़द[५१] और मुदग्[५२] आदि का वर्णन मिलता है।[५३] मुद्ग का प्रयोग मूंग के लिए हुआ है। मीठे खाद्यान्न में शहद गुड़ शर्करा एवं चीनी का भी वर्णन मिलता है। आनन्द रामायण में सुरापान एवं धूम्रपान का भी वर्णन मिलता है।[५४]

शिमला के भी प्राय: सभी भागों में उपर्युक्त वर्णित खाद्यान्न पाए जाते हैं। आनन्द रामायण में वर्णित सुरापान व धूम्रपान की भाँति शिमला में भी सुरापान व धूम्रपान किया जाता है।

---

४२ वही जन्मकाण्ड २.२४
४३ वही जन्मकाण्ड ४.२५
४४ वही जन्मकाण्ड ४.२०
४५ वही जन्मकाण्ड ४.५८
४६ वही जन्मकाण्ड ४.३०
४७ वही जन्मकाण्ड ४.५७-५८
४८ वही जन्मकाण्ड ९.६९
४९ आनन्द रामायण विलासकाण्ड ४.४६
५० वही विलासकाण्ड ४.७७
५१ वही विलासकाण्ड ५.५
५२ वही सारकाण्ड ५.३४
५३ वही जनकाण्ड २.२२
५४ वही मनोहरकाण्ड ६.१५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२१८-२२६) ISSN 0974 – 8830

भाग्यवादी कालिदास

डॉ. राकेश शास्त्री[१]

नाटककार कालिदास की गणना उन प्राचीन नाटककारों में की जाती रही है, जिनकी कीर्ति देश, काल की सीमाएँ लाँघकर लगभग २००० वर्षों से भी अधिक समय से दिग्दिगन्त को आज भी आलोकित कर रही हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि कवियों के पश्चात् नाटककार कालिदास की भाव-सम्पत्ति एवं कल्पना अनेक परवर्ती कवियों के लिए अनुगामी एवं उपजीव्य बन गयी है।

यहाँ उनकी नाट्यकिला शकुन्तला की तरह किसी के द्वारा न सूँघे गए फूल की ताजगी, किन्हीं कठोर कररुहों से अकलुषित किसलय की दीप्ति कोमलता, वज्र से बिना बिंधे रत्न का पानिय, किसी भी लोलुप रसना द्वारा अनास्वादित अभिनव मधु का माधुर्य और अखण्ड पुण्यों के फल का विचित्र समवाय लेकर उपस्थित हुई है। सहृदय रसिक के लिए कालिदास में इससे बढ़कर और चाहिए भी क्या?[२]

नाटककार कालिदास की तीनों ही नाट्य कृतियों का अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि उनकी भाग्यों में अत्यधिक आस्था रही है। उनके नायक हों अथवा नायिका जब किसी भी घटना के लिए बेबस हो जाते हैं अथवा कोई उपलब्धि प्राप्त करते हैं, तो वे उसका सम्पूर्ण श्रेय अपने भाग्य को ही प्रदान करते हैं। प्रस्तुत आलेख में हमने नाटककार एवं काव्यकार दोनों की तीनों कृतियों के आधार पर इस दृष्टि से उनके भाग्यवादी दृष्टिकोण को निबद्ध करने का विनम्र प्रयास किया है।

भज् धातु से ण्यत् प्रत्यय करके 'भाग्य' शब्द की निर्मिति होती है, आप्टे कोश में इसके किस्मत, प्रारब्ध, तकदीर, समृद्धि, सम्पन्नता, आनन्द, कल्याण आदि अर्थों का उल्लेख किया गया है।[३] इसके अतिरिक्त इसे नियति, विधि, दैव आदि शब्दों से भी कहा जाता है। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि जीवन के मार्ग में आने वाली विपत्तियों को धैर्य के साथ सहन करने के लिए दोनों ही कालिदासों ने अपनी कृतियों में पद-पद पर नियति अर्थात् भाग्य की प्रबलता को सम्बल रूप में स्वीकार किया है। इतना ही नहीं कालिदास के पश्चाद्वर्ती आचार्य दण्डी,[४] महाकवि माघ[५] तथा महाकवि भारवि[६] आदि प्रायः सभी महाकवियों ने भी भाग्यों में आस्था व्यक्त की है।

भारतीय मान्यता है कि व्यक्ति के वर्तमान समय के स्वयं के कर्म ही उसके आगामी जन्म के निर्धारक एवं भाग्य विधाता होते हैं, अतः प्रस्तुत आलेख में हम काव्यकार एवं नाटककार दोनों ही महाकवियों को दृष्टिगत रखकर विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं। दोनों ही कालिदासों ने भाग्य के लिए 'विधि' शब्द का भी प्रयोग किया है। **'विदधाति विश्वमिति'** इस अर्थ में 'विधि' शब्द का प्रयोग ब्रह्मा के विधान के लिए

---

१ अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाडा(राज.)३२७००१

२. संस्कृत कवि दर्शन, डॉ. भोला शंकर व्यास। पृ.-७।

३. आप्टे कोश-पृ., ७३५।

४. नियतिबलवान्नु। दशकुमार चरित।

५. नियतेर्नियोगात्। शिशु-४/३४।

६. किराता.-२/१२, ४/२१।

किया गया है, जिसे भारतीय दार्शनिक मान्यता कर्म-फल के सिद्धान्त पर आधारित मानती है।

अमरकोशकार ने ब्रह्मा के तीस नामों का उल्लेख किया है।[७] नाटककार ने सौभाग्य सूचक कृती,[८] विधि,[९] दैव,[१०] दिष्ट्या[११],सौभाग्य,[१२] भाग्य,[१३] सुचरित,[१४] सुकृत[१५] आदि शब्दों का प्रयोग करके भाग्यों में अपनी गहन आस्था व्यक्त की है। काव्यकार भी इसका प्रयोग 'भाग्य' अर्थ में ही करते हैं।[१६] काव्यकार कालिदास के साहित्य में 'विधि' शब्द का अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। जैसे-विधि अर्थात् शास्त्रोक्त विधान की चर्चा, पूजा, आतिथ्य, संस्कार आदि।[१७] इसके अतिरिक्त राजनीतिक व्यवहार के सम्बन्धों में भी इसका प्रयोग हुआ है।

साथ ही नियति, स्रष्टा, कार्य-प्रकार, व्यवहार, पद्धति, सामग्री, रचना, सम्पादन[१८] और उपाय अर्थों में भी इस शब्द का प्रयोग कालिदास द्वारा किया गया है, किन्तु प्रस्तुत आलेख में हम इसके कर्म फल द्वारा निर्मित 'भाग्य' अर्थ का ही नाटककार एवं काव्यकार कालिदास की दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रथम दृष्ट्या यदि हम देखें तो नाटककार के तीनों नाटकों की कथावस्तु पूर्णरूप से भाग्य पर ही आधारित रही है। यद्यपि अपने प्रथम नाटक में उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से भाग्य का कहीं उल्लेख नहीं किया है तथापि इस नाटक की नायिका मालविका का भाग्य-वश अग्निमित्र के महल में आना और अग्निमित्र से उसका विवाह होना, देवयात्रा में भाग्यों को जानने वाले साधु के कथन के अनुसार ही सम्पन्न हुआ है-

इयं पितरि जीवति केनापि देवयात्रा गतेन सिद्धादेशकेन साधुना मत्समक्षं समादिष्टा आसंवत्सरमात्रमियं प्रेष्यभावमनुभूय ततः सदृशभर्तृगामिनी भविष्यति।[१९]

द्वितीय कृति विक्रमोर्वशीयम् में लक्ष्मी स्वयंवर नाटक का मंचन करते हुए देवांगना उर्वशी द्वारा अपराध भी भवितव्यता अर्थात् भाग्य से ही जुड़ा हुआ है। जिसे नाटककार ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से होनहार इस रूप में स्वीकार किया है।[२०] इसके अलावा इस नाटक में महाकवि ने अनेक स्थलों पर प्रत्यक्ष रूप से भाग्य का उल्लेख विधि, दैव के रूप में भी किया है।[२१]

---

७. अमरकोश-१/१/१६-१७ ।
८. विक्रमो.-३/११, २२ ।
९. विक्रमो.-४/३ से पूर्व, ९, ६९ ।
१०. विक्रमो.-५/१६ से पूर्व । अभि.-१/१३ के बाद, ४/१ से पूर्व, ७/७२ से पूर्व।
११. विक्रमो.-४/७१ ।
१२. शाकु.-४/१ से पूर्व।
१३. शाकु.-४/१७, १८, ५/३०, ६/७ के बाद, ७/२१ से पूर्व, २३ के बाद।
१४. शाकु.-.६/११, ७/२४ के बाद ।
१५. शाकु.-४/१३ ।
१६. विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः मेघ-२/३६ ।
१७. रघु-१/३४, ३/४५ ।
१८. कु.-३/२८ ।
१९. माल.-५/१३ से पूर्व ।
२०. भवितव्यतानुविधायिनि इन्द्रियाणि। विक्रमो.-तृतीय अंक में प्रयुक्त विष्कम्भक ।
२१. (क) सर्वथा नास्ति विधिरलंघनीयं नाम । विक्रमो.-४/२ से पूर्व । (ख) न खलु तादृशा आकृतिविशेषाश्चिरं दुःखभागिनो

अन्तिम एवं सर्व श्रेष्ठ कृति अभिज्ञान शाकुन्तलम् की प्रत्येक घटना ही शकुन्तला एवं दुष्यन्त के भाग्यों से जुड़ी हुई प्रतीत होती है, जिसे नाटककार पद-पद पर अपनी स्वीकृति भी प्रदान करते हैं।[२२] शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में ही वैखानस दुष्यन्त को सूचना देते हैं कि महर्षि कण्व शकुन्तला के दुर्भाग्य का शमन करने के लिए सोम तीर्थ गए हैं-

इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः॥[२३]

इस प्रसङ्ग से यह भी प्रतीत होता है कि नाटककार उपायों द्वारा प्रतिकूल भाग्य का शमन करने में भी प्रगाढ़ विश्वास रखते हैं। तत्पश्चात् कण्वाश्रम में प्रवेश के अवसर पर दुष्यन्त की दाहिनी भुजा के फड़कने पर 'भवितव्यता के द्वार सर्वत्र होने' का कथन भी नाटककार कालिदास स्पष्ट रूप से करते हैं, जो उनकी प्रबल भाग्यवादी प्रवृत्ति एवं आस्था को ही प्रदर्शित करता है, क्योंकि भवितव्यता अर्थात् होनहार भी तो एक प्रकार से भाग्य ही है-

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य।
अथवा भवितव्याणां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र॥[२४]

इसी प्रकार शकुन्तला की ओर आकर्षित मन वाला दुष्यन्त उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में न जाने भाग्य ने इसके उपभोग के सम्बन्ध में किसका निर्धारण किया है,[२५] ऐसा कहकर भाग्य की प्रबलता को ही स्वीकार किया है। तत्पश्चात् वनवासी ऋषियों द्वारा दिए जाने वाले तप के छठे भाग को 'अक्षय' कहना भी एक प्रकार से इस जन्म में प्राप्त होने वाले पुण्यों से ही ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि विधाता द्वारा दूसरे जन्म में इन्हीं पुण्यों को 'भाग्य' के रूप में प्रदान किया जाता है-

यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यकाः हि नः।[२६]

कहने का अभिप्राय यही है कि भवितव्यता भी वस्तुतः अप्रत्यक्ष रूप से भाग्य से ही जुड़ी हुई है। विद्वानों की मान्यता है कि व्यक्ति के भाग्य में कुछ भी होता है, वह अच्छा हो या बुरा, उसे वह विपरीत स्थान एवं परिस्थितियों में भी निश्चित रूप से प्राप्त करता है।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि नाटककार ने अपनी प्रथम कृति मालविकाग्निमित्रम् में कहीं भी भाग्यों के विषय में इस प्रकार के स्पष्ट उल्लेख नहीं किए हैं। हाँ इस कृति में मुहावरेदार भाषा का प्रयोग करने के कारण केवल एक स्थल पर 'दुर्भाग्य से आँखों का फूटना'[२७] मुहावरे में यहाँ भाग्य का कथन

भवन्ति। विक्रमो.-४/४ के बाद। (ग) सा चात्यन्तमदर्शननयनयोर्यातिति कोऽयं विधिः। विक्रमो.-४/९ । (घ) परावृत्तभागधेयानां दुःखं दुःखानुबन्धि । विक्रमो.-४/१० से पूर्व।

२२. 'न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः' अभि.-२/१० ।

२३. शाकु.-१/१३ के बाद।

२४. शाकु.-१/१६ ।

२५. न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः । अभि.-२/१० ।

२६. शाकु.-२/१३।

२७. भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोः । माल.-२/११ ।

अवश्य किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ भाग्य की स्वीकृति के उपरान्त भी नाटककार का अभिप्राय 'विधि' अथवा 'भाग्य' से उस रूप में नहीं है, जैसा दूसरी कृतियों में उन्होंने पात्रों के माध्यम से किया है।

इस आधार पर कहा जा सकता है कि युवावस्था में नाटककार का विश्वास भाग्यों में वैसा नहीं था, किन्तु द्वितीय कृति के प्रणयन तक सम्भवत: विशिष्ट परिस्थितियों के कारण उनमें यह विश्वास उत्पन्न हो गया, क्योंकि यहाँ उन्होंने सौभाग्य सूचक कृती,[२८] विधि,[२९] दैव,[३०] दिष्ट्या[३१] आदि शब्दों का प्रयोग करके भाग्यों में अपनी गहन आस्था व्यक्त की है।

उल्लेखनीय बिन्दु यह भी है कि अन्तिम कृति शाकुन्तलम् में तो नाटककार पूरी तरह भाग्यवादी ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि यहाँ शकुन्तला की दोनों सखियाँ उसके सौभाग्य की सराहना करते हुए उसके भाग्य की अनुकूलता का ही कथन करती हैं[३२] तथा तृतीय अंक के अन्त में प्रयुक्त 'अहो विघ्नवत्य: प्रार्थितार्थसिद्धय:'[३३] इत्यादि सूक्ति में भी अप्रत्यक्ष रूप से भाग्यों की प्रतिकूलता की ही प्रतीति हो रही है।

तत्पश्चात् दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन को भी नाटककार की दृष्टि में 'दैव' अर्थात् भाग्य ने बिना किसी प्रयास के ही सम्पन्न कराया है। यही कारण है कि महर्षि कण्व भी यहाँ दैव की अनुकूलता से प्रसन्न ही प्रतीत होते हैं-

गुणवते कन्यका प्रतिपादनीयेत्ययं तावत् प्रथम: संकल्प:। तं यदि दैवमेव सम्पादयति नन्वप्रयासेन कृतार्थो गुरुजन:।[३४]

नाटककार कालिदास की भाग्यवादी विचारधारा के कारण ही चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में अनसूया अपनी प्रिय सखी शकुन्तला के सौभाग्य देवता की अर्चना करना नहीं भूलती है।[३५] उसके बाद एक ओर औषधिपति चन्द्रमा के अस्त होने और दूसरी ओर सारथि अरुण को आगे करके सूर्य के उदित होने रूप घटना को इंगित करके नाटककार ने भाग्यों के अनुरूप सम्पूर्ण जगत् के सुख-दु:ख से ग्रस्त होने की ओर ही संकेत किया है, जो उनकी भाग्यवादी प्रवृत्ति का ही परिचायक है-

तेजो द्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्याम्।
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।[३६]

इसी क्रम में कण्व के आने पर शकुन्तला को गले लगाकर प्रसन्नता पूर्वक कहना कि धुएँ से व्याकुल होते हुए भी सौभाग्य से यजमान की आहुति अग्नि में ही गिरी है,[३७] स्पष्ट रूप से नाटककार के भाग्यवादी होने का द्योतक कहा जा सकता है, क्योंकि धूमाकुलित होने पर यजमान से गलती की सम्भावना

२८. विक्रमो.-३/११, २२ ।
२९. विक्रमो.-४/३ से पूर्व, ९, ६९ ।
३०. विक्रमो.-५/१६ से पूर्व ।
३१. विक्रमो.-४/७१ ।
३२. 'सखि! दिष्ट्याऽनुरूपस्तेऽभिनिवेश:' । शाकु.-३/११ से पूर्व।
३३. शाकु.-३/२३ से पूर्व।
३४. शाकु.-४/१ से पूर्व ।
३५. ननु सख्या: शकुन्तलाया: सौभाग्यदेवताऽर्चनीया । शाकु.-४/१ से पूर्व अनसूया का कथन।
३६. शाकु.-४/२ ।
३७. दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एव आहुति: पतिता। शाकु.-चतुर्थ अंक ।

की जा सकती थी, किन्तु आहुति का अग्नि में ही गिरना, वस्तुतः शकुन्तला के श्रेष्ठ भाग्य के कारण ही सम्भव हो सका है। इस प्रकार कामासक्त शकुन्तला का मिलन सौभाग्य वश ही दुष्यन्त जैसे पुरुवंशी राजा के साथ हुआ है।

शकुन्तला की विदाई के अवसर पर महर्षि कण्व का यह कथन कि-मैंने तेरे लिए पहले जैसे पति का संकल्प किया था, अपने पुण्यों द्वारा तूने अपने समान ही वैसे पति को प्राप्त कर लिया है।[३८] नाटककार कालिदास के भाग्यवादी दृष्टिकोण का ही पोषक है, क्योंकि यहाँ प्रयुक्त 'सुकृतैः' पद की व्यंजना भी 'भाग्य' में ही निहित है। जैसा कि हम पूर्व में भी उल्लेख कर चुके हैं कि भाग्यों का निर्माण पूर्व जन्म के पुण्य कर्मों द्वारा ही होता है। ये सुकृत ही तो हैं जो शकुन्तला द्वारा अपने पूर्व जन्म अथवा इस जन्म में किए गए हैं।

तत्पश्चात् चतुर्थ अंक में प्रयुक्त संदेश के अन्त में नाटककार स्पष्ट रूप से भाग्यों की प्रबलता को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं-

भाग्यायत्तमतः परं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः।[३९]

यही कारण है कि शकुन्तला के दुर्भाग्य से परिचित होने के कारण ही महर्षि कण्व ने उसका परित्याग करने पर तप के प्रभाव से समर्थ होते हुए भी दुष्यन्त को दण्डित नहीं किया है, जिसकी ओर नाटककार सप्तम अंक में संकेत भी करते हैं।

मारीचः-तपः प्रभावात्प्रत्यक्षं सर्वमेव तत्रभवतः। राजा-अतः खलु मम नातिक्रुद्धो मुनिः।[४०]

इसके अलावा शाकुन्तलम् के चतुर्थ अंक में उत्कृष्ट भाग्य पर अहंकार न करने की शिक्षा[४१] प्रदान करके भी महर्षि कण्व पुत्री शकुन्तला की विदाई के अवसर पर देते हैं, क्योंकि अहंकार व्यक्ति के पतन का कारण है, रावण, दुर्योधनादि इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इसी प्रकार पञ्चम अंक में दुष्यन्त द्वारा परित्यक्त हुई, अनादृत, दुष्यन्त की चाल के समक्ष निरुत्तर हुई शकुन्तला दीन हीन सी अपने भाग्यों को ही कोसती है-

सा निन्दन्ती स्वानि भाग्यानि बाला बाहूक्षेपं क्रन्दितुं च प्रवृत्ता।[४२]

पुनः पञ्चम अंक में ही शकुन्तला की याद आने के बाद दुष्यन्त ने अपने हृदय को ही अभागा बताया है,[४३] क्योंकि जब उसे जागना चाहिए था तब तो वह जागा नहीं और शकुन्तला के चले जाने पर अब उद्बुद्ध हुआ है, यह उसका दुर्भाग्य ही तो है। साथ ही दुष्यन्त की शारीरिक, मानसिक स्थिति को देखकर शकुन्तला की माता मेनका की सखी, सानुमती नामक अप्सरा भी शकुन्तला के भाग्यों को ही कोसती दिखायी देती है।[४४] अतः नाटककार द्वारा यहाँ देव योनियों द्वारा भी नियति की प्रबलता को स्वीकार करना विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

---

३८. 'संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गतास्त्वम्।' शाकु.-४/१३ ।

३९. शाकु.-४/१७ ।

४०. शाकु.-७/३४ से पूर्व

४१. भाग्येष्वनुत्सेकिनी । शाकु.-४/१८

४२. शाकु.-५/३० ।

४३. हत हृदयं संप्रति विबुद्धम्। शाकु.-६/७ ।

४४. नन्वीदृशानि तपस्विन्या भागधेयानि । शाकु.-६/७ के बाद ।

इसी प्रकार पश्चात्ताप करते हुए दुष्यन्त द्वारा निर्जीव अँगूठी को सम्बोधित करके कहा गया यह कथन भी नाटककार के भाग्यों में प्रबल विश्वास को अभिव्यंजित करता है-

तव सुचरितमंगुलीय नूनं प्रतनु ममेव विभाव्यते फलेन।[४५]

अर्थात् हे अँगूठी! मेरे समान ही तेरे पुण्यों का भोग भी पूरा हो गया था, नहीं तो तू शकुन्तला की सुन्दर अंगुलियों से ही भला क्यों गिरती?

वस्तुतः नाटककार की मान्यता है कि व्यक्ति के जीवन में अच्छा कार्य उसके पुण्यों के उदय से ही होता है, उसके भोग के पूरा होने पर उसे पुनः अपनी पूर्व स्थिति का ही सामना करना पड़ता है। इतना ही नहीं, दैनिक जीवन की सामान्य घटनाओं में भी उन्होंने भाग्य की प्रभावशालिता को स्वीकार किया है। महारानी वसुमती द्वारा चित्र सामग्री का डिब्बा चतुरिका से लेने के बाद भाग्य से तुम छूट गयी,[४६] इत्यादि विदूषक का कथन भी इसी अभिप्राय को व्यंजित करता प्रतीत होता है।

इसी प्रकार सप्तम अंक में नाटककार उन्हें भी सौभाग्य शाली मानते हैं, जिसके अंग बालक के अंगों की धूल से मलिन होते हैं,[४७] क्योंकि निःसन्तान व्यक्ति को तो काव्यकार ने भी अभागा ही कहा है।[४८] इसके अलावा शाकुन्तलम् के अन्तिम अंक में दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन के अवसर पर भी नाटककार की भाग्यों के प्रति प्रगाढ़ आस्था ही देखने को मिलती है, क्योंकि सानुमती के कथन पर विश्वास न कर पाने वाली शकुन्तला को यह सुनकर एक बार तो अपने भाग्यों पर ही भरोसा नहीं होता है कि सर्वदमन के हाथ से गिरी हुई रक्षा की जड़ी उनके छूने से साँप नहीं बनीं।[४९]

इतना ही नहीं पहचान लेने पर भी वह अपने सौभाग्य की अनुकम्पा को ही दुष्यन्त के साथ मिलन में कारण कहती है।[५०] इसी प्रकार दुष्यन्त भी शकुन्तला के साथ हुए मिलन को अपना सौभाग्य ही मानता है-

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थिताऽसि मे सुमुखि !।[५१]

तत्पश्चात् बालक सर्वदमन द्वारा दुष्यन्त के बारे में पूछे जाने पर कि-माता यह कौन है, जो मुझे बार-बार बेटा कहकर पुकार रहा है? शकुन्तला का यह कथन कि-बेटा! अपने भाग्यों से ही पूछ ले।[५२] भाग्यों के प्रति नाटककार की प्रगाढ़ आस्था एवं भक्ति को ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

इसके बाद शकुन्तला के पैरों में गिर कर दुष्यन्त द्वारा माफी माँगने के अवसर पर भी स्वयं के न पहचानने में शकुन्तला द्वारा पूर्व जन्म के किसी पाप को ही कारण बताना, नाटककार की भाग्यों के प्रति गहन आस्था एवं विश्वास को प्रदर्शित करता है-

---

४५. शाकु.-६/११
४६. विदूषकः-दिष्ट्या त्वं मुक्ता। शाकु.-६/२२ के बाद ।
४७. धन्यास्तदंगरजसा मलिनी भवन्ति।। शाकु.-७/१७ ।
४८. रघु.-१/६९ ।
४९. शाकु.-श्रुत्वा न म आशाऽऽसीदात्मनो भागधेयेषु । ७/२१ से पूर्व।
५०. परित्यक्तमत्सरेणानुकम्पिताऽस्मि दैवेन। शाकु.-७/२२ से पूर्व।
५१. शाकु.-७/२२
५२. वत्स! ते भाग्यधेयानि पृच्छ। शाकु.-७/२३ के बाद ।

नूनं मे सुचरितप्रतिबन्धकं पुराकृतं तेषु दिवसेषु परिणाममुखमासीत्।[५३]

अन्त में भरत वाक्य में अच्छे-अच्छे काम करते हुए इह लोक ओर परलोक दोनों को सुधारने की बात करके भी अप्रत्यक्ष रूप से नाटककार सुन्दर भाग्यों के निर्माण की ही बात करते प्रतीत होते हैं।[५४]

इतना ही नहीं नाटककार यहाँ भगवान् मारीचि को भाग्य निर्माता की संज्ञा प्रदान करते हुए कहते हैं कि-**एवं विधातारः प्रसीदन्ति।**[५५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटककार कालिदास ने अपनी प्रथम नाट्य कृति मालविकाग्निमित्रम् में कहीं भी स्पष्ट रूप से भाग्य की प्रभविष्णुता को स्वीकार नहीं किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि इस कृति की संरचना करने तक जैसा कि प्रायः देखा जाता है, अपनी युवावस्था में उन्हें भाग्यों पर विशेष आस्था नहीं थी, किन्तु उसके बाद द्वितीय नाट्य कृति के समय तक उनके जीवन में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आयीं कि उन्हें भाग्यों पर विश्वास करने के लिए मजबूर होना पड़ा, जिसकी अभिव्यक्ति उन्होंने अपनी द्वितीय नाट्य कृति विक्रमोर्वशीयम् में अनेकानेक स्थलों पर स्पष्ट रूप से की भी है।

उसके पश्चात् अपनी अन्तिम एवं सर्व श्रेष्ठ कृति शाकुन्तलम् के प्रणयन के अवसर पर तो प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म में गहन श्रद्धा रखने वाले नाटककार की आस्था एवं विश्वास भाग्यों में अपेक्षा कृत और अधिक प्रगाढ़ हो गया। यही कारण है कि इस नाटक में अपने पात्रों के माध्यम से पद-पद पर उन्होंने इसकी प्रभविष्णुता को अपने अन्तस्तल से स्वीकार किया है। दूसरे शब्दों में नाटककार के जीवन में आए विशिष्ट परिस्थितियों के थपेड़ों एवं उतार चढ़ाव ने उनमें भाग्य के प्रति गहन आस्था को जाग्रत किया है, जो उनकी अन्तिम कृति में पद-पद पर अभिव्यक्त भी हुआ है।

उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि नाटककार ने भाग्यों के निर्माण में व्यक्ति के पूर्व जन्म के पुण्य शाली कर्मे को ही कारण माना है और पुण्यों से निर्मित होने वाले इस भाग्य अथवा सौभाग्य के लिए उन्होंने दैव, विधाता, विधि, कृती, भवितव्यता, सौभाग्य देवता, दिष्टिः आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया है।

किन्तु इसी बिन्दु को लेकर जब हम काव्यकार के काव्यों का अवलोकन करते हैं तो देखते हैं कि उन्होंने अपनी प्रथम कृति कुमार सम्भव में रति विलाप के अवसर पर ही भाग्य की प्रभुता को स्वीकार किया है, क्योंकि यहाँ कामदेव का वध करके विधाता ने केवल आधा ही वध नहीं किया, अपितु मुझे भी मार डाला।[५६]

कहने का अभिप्राय यही है कि यहाँ काव्यकार की विधाता के प्रति आस्था की किंचित् अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु इसे भाग्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। इसके अलावा इसी कृति में अन्यत्र अनेक स्थलों पर सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा का उल्लेख उन्होंने विविध नामों से अवश्य किया है। पार्वती की निर्मिति में विधाता ब्रह्मा[५७] विश्वसृजा ब्रह्मा[५८], स्वायंभुव[५९], वेधाः[६०], आत्मभूः[६१], प्रजापति[६२], विधि[६३], प्रजानां पत्युः[६४], दिष्ट्या[६५]

---

५३. शाकु.-७/२४ के बाद ।

५४. शाकु.-७/३४ ।

५५ शाकु.-सप्तम अंक ।

५६. विधिना कृतमर्द्धवैशसं ननु मां कामवधे विमंचता। कु.-४/३१ ।

५७. कु.-१/३५ ।

५८. कु.-१/४९ ।

भाग्यवान्[६६], पितामह[६७], विधाता[६८] का मात्र उल्लेख काव्यकार को नाटककार के समान भाग्यवादी नहीं बनाता है।

इसके अतिरिक्त एक स्थल पर यहाँ अपनी पुत्री के लिए शिव जैसा वर प्राप्त होने से हिमालय हेतु 'भाग्यवान्' पद का प्रयोग किया गया है।[६९] इस आधार पर हम कह सकते हैं कि काव्यकार ने इस कृति में पूर्व जन्म के कर्म फल के परिणाम स्वरूप बनने वाले भाग्य का कथन स्पष्ट रूप से नहीं किया है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इस महाकाव्य के कथा नायक जब सम्पूर्ण संसार के भाग्य विधाता 'शिव' स्वयं ही हैं, तो फिर उसमें सामान्य रूप से भाग्यों की चर्चा भला कैसे की जा सकती है?

द्वितीय कारण इस सम्बन्ध में भी नाटककार के समान ही देखा जा सकता है, क्योंकि काव्यकार की युवावस्था की कृति होने के कारण सम्भव है, उनकी भी इस आयु में भाग्यों के प्रति आस्था कम ही रही हो। तत्पश्चात् द्वितीय कृति मेघदूत में ब्रह्मा का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख करके[७०] सौभाग्य सूचक सुभग पद का प्रयोग भी काव्यकार द्वारा यहाँ सम्भवत: पुण्यों के फल रूप में किया गया है।[७१] तत्पश्चात् दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से विधि और कृतान्त पदों के प्रयोग करते हुए भाग्य की प्रबलता को प्रदर्शित किया है,[७२] जो हमें काव्यकार की विशेष परिस्थितियों के कारण भाग्यों में आस्था को प्रदर्शित करता प्रतीत होता है, क्योंकि विद्वानों का एक पक्ष काव्यकार के यक्ष को स्वयं कवि का अपना व्यक्तित्व मानने का भी पक्षधर रहा है।

साथ ही इसी प्रसङ्ग में संसार के सुख-दुःख के विषय को चक्र की नेमियों के माध्यम से परिवर्तन शील बताया है, भारतीय मान्यता के अनुसार-किसी प्राणी के जीवन में ये सुख-दुःख वस्तुतः पाप और पुण्यों के आधार पर ही घटित होते हैं और उनका आना जाना चलता रहता है। उसके बाद अन्तिम एवं सर्वश्रेष्ठ कृति रघुवंश महाकाव्य में पुरुषार्थ में विश्वास रखने वाले सभी कथा नायक नाटककार के पात्रों के समान एक स्थल पर भी भाग्यें की दुहाई देते प्रतीत नहीं होते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि वस्तुतः काव्यकार के एक भी काव्य में हमें नाटककार के समान भाग्यवादी प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती है।

पुनरपि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म के अच्छे बुरे कर्मों के परिपाक के परिणाम

---

५९. कु.-२/१ ।
६०. कु.-२/१६ ।
६१. कु.-२/५३ ।
६२. कु.-४/४१ ।
६३. विधिना जन एष वंचितः। कु.-४ /१० ।
६४. कु.-७/६६ ।
६५. कु.-
६६. कु.-७/६८ ।
६७. कु.-७/८६ ।
६८. कु.-७/८७ ।
६९. कु.-७ /६८ ।
७०. मेघ.-२/२२ ।
७१. मेघ.-१/३१, ३२, २/३६ ।
७२. मेघ.-२/४४, ४७ ।

स्वरूप बनने वाले भाग्यों में उनकी आस्था है अवश्य।[७३] सौभाग्य की सूचना में शुभ ग्रहों की महत्ता को वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं।[७४] यह चिन्तन अथवा प्रवृत्ति हमें नाटककार कालिदास में परिलक्षित नहीं होती है। यह भी सत्य है कि वे भाग्यवान् बालक की तेजस्विता को थोड़ा भिन्न रूप में स्वीकार करते हैं।[७५] इतना सब कुछ होते हुए भी पुरुषार्थ की अपेक्षा भाग्य की प्रबलता को भी मान्यता प्रदान करते हैं। तभी तो वे कहते हैं कि पुरुषार्थ से लाई हुई सम्पत्ति भाग्य के फेर से छोड़कर चली जाती है।[७६]

उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि काव्यकार की मान्यता है कि व्यक्ति द्वारा इस संसार में किए गए कर्म ही प्रभावी रहते हैं, क्योंकि मरने के पश्चात् भी प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग या नरक रूप अलग-अलग मार्गों को प्रस्थान करते हैं।[७७] इसे कर्मफल में प्रगाढ़ विश्वास की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। काव्यकार के सम्पूर्ण रघुवंश में सीतात्याग के प्रसङ्ग में केवल दो ही प्रसङ्गों में पूर्व जन्म के पापों के फल को मान्यता प्रदान की गई है[७८] और अपने भाग्यों को सीता द्वारा कोसा गया है[७९] तथा अपने पातिव्रत्य धर्म के कारण अपने अग्रिम जन्मों में भी राम को ही पति रूप में स्वीकार करने के लिए कठोर तप करने की प्रतिज्ञा की गयी है।[८०]

इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने कथा नायकों में एक मात्र अतिथि के लिए पूर्व जन्म के सत्कर्मों के भोगने की बात का कथन किया है।[८१] कहने का अभिप्राय यही है कि जहाँ एक ओर नाटककार अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति शाकुन्तलम् में अपने पात्रों के जीवन में अच्छी या बुरी प्रत्येक घटना के घटने पर दैव, भाग्य, विधाता आदि शब्दों के माध्यम से उसका सम्पूर्ण श्रेय प्रत्यक्ष रूप से 'भाग्य' को ही प्रदान करते हुए अपनी भाग्यवादी प्रवृत्ति को प्रदर्शित करते हैं।

वहीं दूसरी ओर पुनर्जन्म और पुण्य कर्मों में विश्वास करते हुए भी काव्यकार केवल दो चार स्थलों पर ही भाग्यों को महत्ता प्रदान करते हैं। दोनों महाकवियों के काव्यों में अत्यन्त सूक्ष्म यह अन्तर इन दोनों व्यक्तित्वों की भिन्नता का भी द्योतक प्रतीत होता है और वस्तुस्थिति को जानने के लिए हमें प्रेरित करता है।

हाँ इतना अवश्य है कि पुण्य कर्मों से ही व्यक्ति को श्रेष्ठ जन्म एवं प्रभविष्णुता की प्राप्ति होती है, सिद्धान्त रूप से इस बात को वे स्पष्ट रूप से मानते अवश्य हैं। पुनरपि काव्यकार की कृतियों में सभी पात्र पुरुषार्थी होने के साथ-साथ अपने भाग्य के निर्माता स्वयं ही रहे हैं। इस प्रसङ्ग में उदाहरण रूप में यक्ष, पार्वती, दिलीप, रघु, अज, राम, अतिथि आदि राजाओं का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है।

---

७३. रघु.-१/२० ।
७४. रघु.-३/१३।
७५. रघु.-३/१५ ।
७६. रघु.-६/५८, ८/८७ ।
७७. रघु.-८/८५ ।
७८. रघु.-१४/६२ ।
७९. रघु-१४/५७ ।
८०. रघु.-१४/६६।
८१. रघुं.-१७/१८ ।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२२७-२३२) ISSN 0974 – 8830

वैदिकीय विश्ववन्धुत्व के सन्दर्भ में हिन्दी कविता का मूल्याङ्कन

डॉ० सुमन सिंह[1]

भारतीय साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसने प्रत्येक युग में उन उदात्त भावनाओं को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है, जो त्रिश्व-कल्याण की कामना से परिपोषित हैं। भारतीय साहित्य में वेदों को अपौरुषेय, ईश्वर की वाणी तथा सृष्टि के प्रारम्भ में आदि ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित ज्ञान माना गया है। यही नहीं वैदिक वाङ्मय को संसार एवं मानव जाति का आदि ग्रन्थ माना गया है। वेद सभी ज्ञान एवं विज्ञान का मूलाधार एवं विश्व संस्कृति का उन्मेषक भण्डार है, धर्म एवं सभ्यता का विशाल साम्राज्य वेद की आधारभूति पर ही विकसित हुआ है। लेकिन आज की बौद्धिक जागरूकता ने व्यक्ति को अमंगलकारी स्पर्धाओं में इतना अंधा कर दिया कि वह मानवीय मूल्यों को भूलता जा रहा है और अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु दूसरों को हानि पहुँचाने में भी संकोच नहीं करता। जीवन के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा नैतिक सभी सन्दर्भों में विघटनकारी प्रवृत्तियों का विकास हो गया है।

तब ऐसी विषम स्थिति में आज संसार के महान् चिन्तक, मनीषी और साहित्यकार किसी ऐसे आदर्श दर्शन की खोज में लगे हैं जो इस युग की पथ-भ्रष्ट मानव-जाति को जीवन का वह सुदृढ़ आधार प्रदान कर सके जिससे सम्पूर्ण विश्व में परस्पर ऐक्य का भाव प्रस्थापित हो सके। वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक साहित्य में ऐसे उदात्त आदर्श भाव हैं जो आज के संघर्ष बहुल जीवन में व्यक्ति को व्यक्ति के प्रति सहानुभूति और संवेदनशील बनाने में समर्थ हैं। इन आदर्शों को अपनाकर मनुष्य में शोक-सन्तप्त तथा भयग्रस्त प्राणीमात्र के प्रति असीम करुणा और दया के भाव प्रतिष्ठित हो सकते हैं। इस शोध लेख के पीछे हमारी यही भावना है कि आज की विघटनपूर्ण वातावरण में हिन्दी साहित्य के उस योगदान का मूल्याङ्कन किया जा सके, जिसने वैदिक वाङ्मय में वर्णित समता, सहृदयता और स्नेह जैसे आदर्श को अपनाकर व्यक्ति की सुप्त उदात्तता और उदारता को जाग्रत कर, जीवन के उच्चतर मूल्यों की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दी है। जहाँ जाति-पाँति और ऊँच-नीच के भेद-भाव मिटाकर 'विश्वबन्धुत्व' जैसे प्रबल उदार भावना को स्थापित करने में सहयोग प्रदान करती हैं।

वेद मानव समाज के कल्याण का संवाहक है। मानव की प्रत्येक क्रिया के पीछे उसका उद्देश्य सुख और शान्ति की प्राप्ति है। समाज में सभी लोग बराबर हैं न कोई छोटा है न बड़ा। समभाव की कामना से ही समाज एवं राष्ट्र का विकास सम्भव है। ऐसे कल्याणमय सन्देश की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर मिलते हैं:-

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।[2]

अर्थात् मिल-बैठना, संवाद करना, मन एक बनाना, मन एक बनाकर भाग या अधिकार का सेवन करना ये चार सामाजिक जीवन के सेतु हैं। वे में सामाजिक एकता की कामना की गयी है। वेदों के अनुसार

---

१. वरिष्ठ प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, दयानन्द गर्ल्स पी०जी० कालेज, कानपुर।
२ ऋग्वेद, १०-१९१-२

सब मनुष्य भाई-भाई हैं जन्म से न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। इस समानता के भाव को धारण करते हुए हम सब सामाजिक उन्नति के साथ विश्व बन्धुत्व के लिए प्रयत्न कर सकते हैं-

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥[३]

इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी समानता और परस्पर प्रेम-भाव को प्रतिष्ठित करने के लिए कवियों ने स्पष्ट निर्देश दिये हैं। कबीर ने ऊँच-नीच, जाति-पाँति के भेदभाव को दूर करने के लिए सभी को एक ही परमसत्ता का अंश माना है-

एक जोति से सब जग उपजा, क्या ब्राह्मण क्या सूद्रा।[४]

ईश्वर के दरबार में न कोई छोटा है न कोई बड़ा-

जाति-पाति पूछे नहीं कोई हरि के भजे से हरि का होई।

जाति-पाँति के उद्भूत भेदभाव साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए उन्हें एक ऐसे धर्म की तलाश थी जिसके द्वारा मानवमात्र की कल्याण और साधना का मार्ग प्रशस्त हो। कोई किसी से घृणा न करे, कोई किसी की हत्या न करे। कबीर ने सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति के लिए जो पहला मन्त्र दिया वह है-ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पण्डित होय। इस प्रेम मन्त्र से ही धर्म, समाज में विद्यमान सभी वैमनस्य समाप्त होकर विश्वबन्धुत्व की स्थापना सम्भव हो सकती है।

आधुनिक कवि भी प्रेम एवं सौहार्द को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। इसीलिए धर्म के नाम पर पनपने वाले वैरभाव, ऊँच-नीच आदि का विरोध करते हुए प्रेमधन लिखते हैं-

धर्म आग्रह सब है केवल करने ही को झगड़ा।
है उपासना भेद न उसके अर्थ वैर विस्तारो॥[५]

इस सन्दर्भ में डॉ. केशरी नारायण शुक्ल जी लिखते हैं कि-इन कवियों का दृढ़ विश्वास है कि समस्त धर्मों के मूल सिद्धान्त एक हैं और सभी धर्म एक ही ईश्वर की ओर संकेत करते हैं, प्रेम ही इन कवियों का धर्म है।[६]

वैदिक वाङ्मय की चिन्तन धारा लोक-कल्याण एवं जीवन-दर्शन की अवधारणा से ओत-प्रोत है। लोक-कल्याण के अन्तर्गत मानव-जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक आदि सभी पक्षों को परिगणित किया जाता है। विश्वशान्ति एवं विश्वबन्धुत्व से ओतप्रोत वैदिक ऋचाओं में लोक-कल्याण के लिए सौहार्द, मित्रता, समानता, संगठन सभी भावनाओं का व्यापक रूप परिलक्षित होता है। प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भाव से ही लोक-कल्याण सम्भव है। यजुर्वेद की ऋचाओं में यह कामना है कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें। मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ। हम सब प्राणी परस्पर एक-दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें-

---

३ वही, ५-६०-५
४ कबीर साहब, डॉ० गुरुदेव सिंह, पृ० ३४३
५ प्रेम धन- सर्वस्व, प्रथम भाग, पृ० ३६५
६ आधुनिक काव्यधारा, डॉ० केशरी नारायण शुक्ल, पृ० ५६

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।[७]

अत एव मानसिक संकीर्णता का परित्याग एवं सबको समान मानना मैत्रीभाव का मूल कारक है। एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति, सहयोग, प्रेम और उपकार के व्यवहार आचरणीय हैं। एक-दूसरे के प्रति रक्षा का भाव और सहायता करना मनुष्य का परम कर्तव्य है-

पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वत:।[८]

यही मित्रवत् भावना ही सम्पूर्ण राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोकर रखती है। हिन्दी साहित्यकारों ने वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, प्रान्त का भेदभाव मिटाकर हमेशा एकता का संदेश दिया है। रूपनारायण पाण्डेय समस्त भारतीयों को आपस में भ्रातृ-भाव रखने के लिए कहते हैं-

जैन बौद्ध पारसी यहूदी मुसलमान सिख ईसाई।
कोटि कंठ से मिलकर कह दो हम सब हैं भाई-भाई।।
पुण्य-भूमि है, स्वर्गभूमि है, जन्मभूमि है देश वही।
इससे बढ़कर या ऐसी ही दुनिया में है जगह नहीं।।[९]

मित्रता एवं एकता की मनोरम कल्पना रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण' अपनी शब्दावही में व्यंजित करते हैं-

भारत-तनु में है विविध प्रांत-निवासी अंग
पंजाबी, सिंधी, सुजन महाराष्ट्र तैलंग।
महाराष्ट्र तैलंग, बंग देशीय बिहारी
हिन्दुस्तानी मध्य हिन्दी जन वृन्द बरारी।
गुजराती उत्कली आदि देशी सेवारत,
सभी लोग हैं अंग बना है जिनसे भारत।।[१०]

आज हम जाति भेद, वर्ग भेद और प्रान्त भेद के कारण एक दूसरे के दुश्मन बन बैठे हैं। कविवर मैथिलीशरण गुप्त इन सभी भेदभाव से ऊपर मानव एकता को महत्त्व देते हैं-

इसका नहीं हमें कुछ खेद, मिट जावे आपस का भेद।
रक्खो हिन्दुपन का गर्व, यहीं ऐक्य के साधन सर्व।।[११]

कवि अपनी इस भावना के द्वारा समाज-सुधार एवं मानव ऐक्य प्रस्थापित करना चाहते हैं। उन्हें विश्वास है कि मैत्रीभाव और मानव ऐक्य से हम बड़े-बड़े झंझावत को भी पार कर सकते हैं। राष्ट्रीयता की संकुचित भावना से बाहर निकलकर विश्व के मानव के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते हुए सियारामशरण गुप्त

---

७ यजुर्वेद, ३६.१८
८ ऋग्वेद, ६.७५.१४
९ मातृमूर्ति, सरस्वती खण्ड-रूपनारायण पाण्डेय, पृ० १४
१० स्वदेशी कुण्डल, पूर्ण संग्रह - राय देवी प्रसाद पूर्ण, पृ० २१२
११ स्वाभिमान - हिन्दू - मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १६

लिखते हैं-

प्रार्थना है आज जन-जन की जन की न हो के यह जनता की जय हो।
निखिल भुवन की पीड़ित मनुष्यता जहाँ भी हो अभय हो।[१२]

वेदों में ऐसे समाज की परिकल्पना की गयी है जहाँ सभी समान हों सबके हृदय एक हों, सभी की विचारधारा एक हो-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः,
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[१३]

वैदिक कालीन समाज हो या हिन्दी कवियों की सुन्दर समाज की कल्पना का आधार दोनों में एक ही आकांक्षा है। नागार्जुन भी वैदिक कालीन आदर्श समाज की कामना रखते हैं-

पुलकित तन हो मुकुलित मन हो, सरस और सक्षम जीवन हो।
अन्न वस्त्रदा/सुखदा, सुभदा प्राणों से भी बढ़कर प्यारी
हिमकिरीटिनी/जलाधि-पैंजनी। बने स्वर्ग ये भूमि प्यारी।
अधर-अधर पर अमिताभ ताज हो। सतत अभ्युक्ति जन-जन प्रमुदित,
सर्व सुखद सुन्दर समाज हो।[१४]

वेदों में दया, धर्म अहिंसापरक जैसे भावों के विचार हैं, जिसे सभी दिशाओं में फैलाकर विश्वबन्धुत्व की स्थापना ही वेदों का उद्देश्य है। ये गुण ही मनुष्य में मानवीय गुणों को प्रस्फुटित करते हैं जो व्यक्ति व समष्टि को एक सूत्र में पिरोकर रखता है-

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवघ्न्या।।[१५]

हिन्दी कवि भी अपनी कविता के माध्यम से दया, प्रेम, स्नेह और करुणा जैसे उदात्त भावना की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं-

अर्पित हो मेरा मनुज-काय, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।[१६]

मानवतावादी विचारों से प्रभावित कवि माखन लाल चतुर्वेदी जी प्रार्थना करते हैं-

विनती कर, इन सब जीवों का मानवता पर प्रेम बढ़े,
चक्रपाणि, तेरे चरणों का इन पर प्यारा रंग चढ़े।[१७]

समानता व समरसता का सन्देश वैयक्तिक भूमि पर न दिया जाकर सम्पूर्ण सृष्टि के लिए दिया गया सन्देश है। मानवीय प्रेम का यह उदात्त आदर्श हिन्दी कविता के प्रसङ्गों में प्रतिष्ठित है। इसी संदर्भ में श्रद्धा का

---

१२ ऋग्वेद, पृ० १०-१९१-४
१३ सतरंगे पंखो वाली- नागार्जुन, पृ० ४६-४७
१४ अथर्ववेद, पृ० ३-३०-१
१५ कुणाल गीत, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० १३६
१६ युगचरण, माखनलाल चतुर्वेदी, पृ० १३
१७ कामायनी, जयशंकर प्रसाद, पृ० १९८

सन्देश दर्शनीय है-

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।। [१८]

व्यापक एवं समतामूलक संगठन की दृष्टि से वेदों का उपदेश सर्वथा ग्राह्य है। संगठन के प्रथम सोपान परिवार से लेकर समाज, राष्ट्र और विश्व स्तर के संगठन के निर्माण में मानव ही प्रथमतः उत्तरदायी कारक है। स्वस्थ रूप से विकसित मानव में परस्पर बन्धुत्व की भावना जितनी बलवती होगी, संगठन की स्थिति उतनी की सुदृढ़ होगी। वैदिक साहित्य की यह अनोखी विशेषता है कि वह मानव के कल्याण की भावना को अग्रसर करता है। वैदिक ऋषि समग्र सृष्टि के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। वह व्यक्ति तथा समाज से ऊपर उठकर समस्त विश्व के सुख समृद्धि तथा मंगल की कामना करता है-

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परसुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव।। [१९]

हिन्दी कविता में भी एकता एवं समता की मंगल कामना की गयी है। कवि का विश्वास है कि एकता की भावना से सारी रूढ़ियाँ त्रिषमताएं, शोषण, अनाचार, भस्मीभूत हो जाएंगे और उसमें से सुख, शन्ति और समानता के साम्राज्य में मानव-मूल्यों की सच्ची पहचान होगी-

सुख-सुविधा सबके हेतु सहज, सब सक्षम होंगे प्रबुद्ध
आबाल-वृद्ध वनिता सारे कर्त्तव्यनिरत, निर्माणशील
सब एक सूत्र में गुम्फित कुसुमावलि समान
अमरत्व न चाहेगा, सम होंगे जीवन और मरण। [२०]

सामाजिक विषमता मिटाकर सम्पूर्ण विश्व को एक घर की कल्पना करते हुए कवि पंत संदेश देते हैं-

नहीं छोड़ सकते रे यदि जन
देश, राष्ट्र, राज्यों के हित नित युद्ध करना
हरित जनाकुल धरती पर विनाश बरसाना
तो अच्छा हो छोड़ दे अगर हम
अमरीकन, रूसी और इंगलिश कहलाना
देशों में आये धरा निखर, पृथ्वी हो सब मनुष्यों का घर। [२१]

मुक्तिबोध की कविता में सर्वजन कल्याण की भावना प्रमुख है। उनके साहित्य दृष्टि का मूल प्रेष्य

---

१८ यजुर्वेद, ३०-३
१९ युगधारा - नागार्जुन, पृ० ११२
२० युगवाणी, सुमित्रानन्दन पंत, पृ० ३०
२१ मुक्तिबोध रचनावली, द्वितीय खण्ड, सं० नेमिचन्द जैन, पृ० २००

ही विश्वबन्धुत्व की कामना है-

सभी सम्बन्ध हटकर दूर।
केवल एक पृथ्वी पुत्र का नाता,
व उस एकान्त नाते में,
गहन विश्वास दूरदंर।[२२]

वैदिक परम्परा एवं संस्कृति से निकला यह विश्व प्रसिद्ध नारा **वसुधैव कुटुम्बकम्** हिन्दी साहित्य में भी परिलक्षित होती है। विश्वबन्धुत्व एवं विश्वकल्याण की भावना प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठान की समाप्ति पर साधक पुरुष अपना आदर्श इस प्रसिद्ध श्लोक के द्वारा प्रकट करता है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

आधुनिक युग के स्वार्थरत मानव को विश्वप्रेम का सन्देश देने के लिए कवि अपने कविता को माध्यम बनाये। यही विश्व प्रेम एवं विश्व-मानवता तथा विश्व बन्धुत्व की भावना आधुनिक काल के कवि को विश्व-मानवता के हितैषी तथा विश्व-बन्धुत्व के आकांक्षी के रूप में प्रकट कर देती है-

रुचि मूलक मानस के मन्थ, भिन्न-भिन्न अपने मत-पन्थ।
रहे अनेक अपार्थिक ग्रन्थ, मिले एक के लाख प्रभाव।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।[२३]

'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की कामना में कवि अपने जीवन की आहुति देने के लिए तत्पर है-

जग की पीड़ा में पाया है, मैने अपना अस्तित्व नया।
मैं जलूँ, किन्तु जग को प्रकाश दे मेरे उर के अंगारे॥

उपदेशकों, सन्तों, चिन्तकों और साहित्यकारों के स्वरों में विश्व एकता और विश्वबन्धुत्व जैसे उदात्त भावों की अभिव्यक्ति का पुनरावर्तन हम पाते हैं। जो प्राचीन वाङ्मय से लेकर आज तक के साहित्य में व्यक्ति का आदर्श माना गया है और इसी के द्वारा सामंजस्यपूर्ण स्थिति की कल्पना की गयी है। हिन्दी साहित्यकार फिर भला ऐसे उच्चतर मूल्यों की प्रतिष्ठा में क्यों पीछे रहते। हिन्दी कविता जहाँ जाति, प्रदेश और राष्ट्र की सीमाओं से उन्मुक्त सम्पूर्ण दुःखी सृष्टि के प्रति अपनी संवेदनायें प्रकट की हैं और उन्हें स्नेह तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार देकर विश्व एकता और विश्वबन्धुत्व के उदार आदर्श को प्रतिष्ठित किया है। इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध की कविता 'मेरे अन्तर' में विश्व बन्धुत्व की भावना प्रस्फुटित होती है-

सन्नद्ध हुआ वह ज्वाल बिद्ध करने को सारा तम प्रसार
वह जन है जिसके उच्च भाल पर विश्व भार और अन्तर में निस्सीम प्यार

इस प्रकार विश्वबन्धुत्व की यह भावना विभिन्न भूमिकाओं के साथ वैदिक वाङ्मय से प्रवाहित होती हुयी हिन्दी कविता के प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक में अजस्र धारा के साथ प्रवाहित देखी जा सकती है।

---

२२ कुणाल, गीत, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० ११३
२३ याद, विस्मृति के फूल, भगवतीचरण वर्मा, पृ० ३०-३१

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२३३-२४२) ISSN 0974 – 8830

युगदर्शनम्-आतंकवाद के उन्मूलनार्थ सम्यक् चिन्तन का काव्य

डॉ. सुरचना त्रिवेदी[१]

आतंकवाद शब्द 'आतंक' तथा 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। संस्कृत में यह शब्द आङ् उपसर्ग पूर्वक 'तक' अथवा 'तकि' धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है,[२] जिसका अर्थ है-कष्ट, पीड़ा, वेदना, व्यथा, भय एवं त्रास आदि।

वर्तमान संदर्भों में आतंकवाद की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'टेरेर' और 'टीडेर' शब्दों से मानी जाती है, जिसका तात्पर्य है वह कार्य जो क्रमशः कंपाता है, डराता है अर्थात् अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए एक राष्ट्र या सरकार की कानूनी अधिकारिता को योजना बद्ध हिंसात्मक तरीके से दुर्बल करता है। आतंकवाद के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से विश्लेषण किया है है, जो निम्नवत् है-

एस० के० घोष के अनुसार-आतंकवाद ऐसी विचारधारा है, जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शक्ति या अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग में विश्वास रखती है।[३]

आतंकवाद वह पद है, जिसका प्रयोग विधि अथवा विधि के पीछे सिद्धान्त की व्याख्या के लिए किया जाता है, जिससे एक संगठित समूह या पार्टी अपने स्पष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति मुख्य रूप से व्यवस्थित हिंसा के प्रयोग द्वारा करता है।[४] आंतकवाद भय का एक संगठित तरीका है।[५]

'आंतकवाद या हिंसा की धमकी के उपयोग द्वारा लक्ष्य प्राप्ति के लिए संघर्ष या लड़ाई की एक विधि रणनीति है एवं अपने शिकार में भय पैदा करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यह क्रूर व्यवहार है जो-मानवीय प्रतिमानों का पालन नहीं करता।'[६] 'राजनीतिक उद्दश्यों की पूर्ति के लिए हिंसा एवं भय का उपयोग करना आंतकवाद है।[७] 'शासन करने या राजनीतिक विरोध प्रकट करने केलिए भय से एक विधि के रूप में उपयोग करने की नीति को प्रेरित करना ही आतंकवाद है।[८] बृहद् हिन्दी कोश 'राज्य या विरोधी वर्ग को दबाने के लिए भयोत्पादक उपायों का अवलम्बन आतंकवाद है।[९]

आतंकवाद की अवधारणा का समाज शास्त्रीय रूप से विश्लेषण किया जाए तो-आतंकवाद एक

---

१ असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, भगवानदीन आर्य कन्या स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०) पत्र व्यवहार हेतु पता-२१५, मिश्राना, टुन्नू सिंह चौराहा, लखीमपुर-खीरी, मो.: ९४५१२३९१६०

२ संस्कृत हिन्दी कोष-तारिणीश झा

३ टैररिज्म वर्ल्ड अण्डर सीज, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली १९९५

४ इनसाइक्लोपीडिया ऑफ दि सोशल साइंसेज

५ चैम्बर्स शब्द कोश

६ श्री राम आहूजा

७ एडवान्स लर्नस डिक्शनरी ऑफ करन्ट डिक्शनरी

८ लॉगमैन मार्डन इंग्लिश डिक्शनरी

९ बृहद् हिन्दी कोश

ऐसा अनुभव है, जिसमें सभी नाना प्रकार के भय की अनुभूति करते हैं।[१०]

वास्तव में, आतंकवाद ऐसी विध्वंसक प्रवृत्ति व क्रिया है जिसकी सर्वमान्य परिभाषा अभी तक प्राप्त नहीं है। सामान्य रूप से आतंकवाद का अर्थ ऐसी भय उत्पन्न करने वाली गुप्त कार्यवाहियों से है जिसे अपनाकर कोई भी आतंकवादी समूह अपने घृणित व कुत्सित, तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति हेतु निर्दोष, निरपराध, शान्त लोगों अथवा क्षेत्रों में अशान्ति, अव्यवस्था, विध्वंस, हिंसा तथा भय उत्पन्न करता है।

सत्य तो यह हे कि इक्कीसवीं सदी का सभ्य प्रगतिशील समाज आज एक नासूर बन चुके व्रण से पीड़ित है; जिसे आतंकवाद की संज्ञा दी जाती है। जब कुछ कट्टर पन्थी धार्मिकों के अन्ध प्रयासों के चलते समूह विशेष की मानवीय भावनाएं शून्य हो जाएं, करुणापूर्ण चीत्कार में कोई असीम सुख का अनुभव करने लगे और उसकी समस्त ऊर्जा व क्षमता विनाशोन्मुखी हो जाए-यही आतंकवाद है।[११]

वर्तमान समय में मानवता के महासंकट के रूप में आतंकवाद अपने चरमोत्कर्ष पर है। आज विश्व का ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ इस आतंकवाद का विष व्याप्त न हो रहा हा। यह माना जा सकता है कि किसी देश में इसकी तीव्रता अधिक है तो किसी देश में कम। 'चूंकि साहित्य समाज तथा युग की परिस्थितियों पर व्यापक चिन्तन किया जाना स्वाभाविक है इस दृष्टि से संस्कृत वाङ्मय निर्विवाद रूप से प्रत्येक युग, युगीन घटनाओं व परिस्थितियों आदि के समाधान का विस्तृतागार है। प्रमाण स्वरूप समग्र ज्ञान के भण्डार वेदों में आर्य के साथ 'दस्यु' शब्द का प्रयोग इसी आतंकवादी स्वरूप का द्योतन है। यद्यपि वहाँ ये शब्द संज्ञावाची शब्दों के रूप में नहीं प्रयुक्त किए गये, परन्तु विशेषण के रूप में यातुधानः[१२] हिंस्र[१३] किमीदनः[१४] अम्नः[१५] जम्भयन्तः[१६] रक्षसः,[१७] शफारुज,[१८] हन्तारः[१९] तिग्महेती[२०], दुष्कृतः[२१] 'आदि शब्दों' का प्रयोग क्रमशः दुःखदेने वाले, हिसंक, व्यर्थ में मारने वाले, पीड़ादायक, नाशक, जीवन को छिन्न-भिन्न कर देने वाले, आतंक मचाने वाले, मारने वाले, तीक्ष्ण हाथियार वाले तथा दुष्कर्मों को करने वाले अर्थों में किया गया प्राप्त होता है। इन आततायी प्रवृत्ति वालों के विनाश के प्रसङ्ग वरुण/अग्नि तथा इन्द्र के वर्णनों में प्राप्त होते हैं-

-विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः।[२२]

---

१० एम० पी० राय

११ अखण्ड ज्योति

१२ अथर्ववेद ८/३/२

१३ वही-८/३/४

१४ वही-८/४/२३

१५ वही-८/५/१९

१६ वही-८/५/१७

१७ वही-८/३/२२

१८ वही-८/३/२१

१९ वही-८/३/२२

२० वही-८/३/२५

२१ वही-८/२/३

२२ ऋग्वेद-१/५१/८

-अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तु।[२३]

-उद् वृह रक्षः सहमूलमिन्द्रः।[२४]

-अपाधमदभिशस्तीरशस्तिहा।[२५]

-जहि रक्षो महि चिद् वावृधानम्।[२६]

धर्मशास्त्रें में भी आततायियों के स्वरूप तथा विनाश करने की बात आयी है। उदाहरणार्थ आचार्य मनु ने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि चाहे गुरु हो, बालक या वृद्ध हो, ब्राह्मण शास्त्रज्ञ हो; जो आततायी बनकर आ रहा है, अधर्मपूर्वक मारने वाला हो उन्हे बिना विचारे मार देना चाहिए।[२७] ऐसे आततातियों को अवश्य दण्ड देना चाहिए क्योंकि इनको खुले आम मारने में भी पाप नहीं होता। चाहे इन्हें छिपकर मारे या सामने,[२८] क्योंकि दण्ड की महिमा अपार है।[२९]

संस्कृत वाङ्मय में युगीन परिस्थितियों/घटनाओं/समस्याओं के वर्णन-विवेचन व समाधानोपाय की परम्परा में समकालीन संस्कृत कवियों ने अत्यन्त गम्भीरता से विचार किया है जिनमें भट्ट मथुरा नाथ शास्त्री, डॉ० राधा वल्लभ त्रिपाठी, डॉ० 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र, वासुदेव शास्त्री, डॉ० इच्छाराम द्विवेदी, डॉ० प्रशस्य मित्र शास्त्री आदि कवियों की एक अखण्ड श्रृंखला है। इस श्रृंखला के एक सशक्त वाहक उत्तर प्रदेश के लघु नगर लखीमपुर-खीरी की धरती को अपने व्यक्तित्व व कृतित्वे से यशस्विता प्रदान करने वाले, संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थों के माध्यम से युग-बोध की सशक्त व प्रासंगिक रचनाएँ प्रदान करने वाले आचार्य बचूलाल अवस्थी 'ज्ञान' के परमशिष्य **कविवर आचार्य बाबूराम अवस्थी जी द्वारा लिखा गया 'युगदर्शनम्' काव्य ओजस्वी मुक्तक रचनाओं का ऐसा उत्तम काव्य ग्रन्थ है, जिसमें वर्तमान युग की लगभग प्रत्येक समस्या तथा उसके समाधान की चर्चा की गयी है।** क्योंकि युगबोध कवि की जागृति का प्रतीक होता है। 'युगदर्शनम्' में आतंकवाद के स्वरूप व समाधान के उपायों को आचार्य अवस्थी ने अति सरल किन्तु सशक्त भाषा में निबद्ध किया है। आचार्य अवस्थी का मानव हृदय आज के आतंकवाद की विभीषिका से. विदीर्ण हो उठा है और वे मानव के शाश्वत मानवीय स्वरूप का वर्णन करते-करते आतंकवाद की कठोरता को व्यक्त करने में स्वयं को रोक नहीं पाते। वे 'मानवता' नामक रचना में लिखते हैं-

चमत्कृतं येन जगत्स्वधामभिर्वशीकृतं सच्चरितैश्च भूतलम्।
यशो हि यस्य प्रथितं समन्ततः, समानवः केन कृतोऽद्य दानवः॥
XXXX
करोति हिंसा भुवि नग्न नृत्यमसत्यमद्यातनुतेऽट्टहासम्।
चतुर्दिशं रोदिति हा शिशुत्वं नारीत्वमत्र क्रियते निराशम्॥

---

२३ वही-१०/२२/८

२४ वही-३/३०/७

२५ वही-८/८९/२

२६ वही-४/३/१४

२७ गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥ मनुस्मृति ८/२१८

२८ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥ मनुस्मृति ८/२२०

२९ दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ वही ७/९

XXXX

सदैव या प्रेमरसं वहत्यलं सुखं च शान्तिं च ददाति सन्ततम्।
त्रिलोकवन्द्या विदिताद्य सैव हा, मनुष्यता देवनदीव दूष्यते।।[३०]

XXXX

कवि की दृष्टि में मनुष्यता के प्रदूषणरूपी इस आतंकवाद को समाप्त करने के अनेक सनातन उपाय है किन्तु इन उपायों पर चर्चा करने से पूर्व आतंकवाद के कारणों पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है।

आतंकवादी गतिविधियों के कारणों का विश्लेषण करने पर सामान्य रूप से जो कारण समवेत रूप में उभर कर आते हैं उनमें कतिपय कारण ये हैं, जिनसे ये समस्या दिनानुदिन विकराल रूप लेती जा रही है-

१. धर्म की संकुचित व्याख्या।
२. आर्थिक विषमता।
३. साम्प्रदायिक कट्टरता।
४. सामाजिक अशान्ति।
५. वैज्ञानिकी उन्नति की अतिवादिता।
६. मूल्यों का अभाव

इन उक्त कारणों के केन्द्र में 'युगदर्शनम्' में वर्णित आतंकवाद के समाधानोपाय निम्नवत् हैं-

धर्म शब्द वस्तुतः धृ (धारण करना, अपनाना पालन करना और बनाये रखना अर्थवाली) धातु से निष्पन्न है। धारणाद्धर्ममित्याहुः[३१] महाभारत में धर्म की व्याख्या करते हुए भीष्म अर्जुन को उपदेश देते हैं कि 'प्राणियों के अभ्युदय व कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस सिद्ध होते हो वहीं धर्म है।[३२] वैशेषिक सूत्र में भी धर्म की इसी प्रकार की व्याख्या की गई है।[३३] किन्तु आज मनुष्य ने धर्म की इस परिभाषा को अपने ढंग से परिभाषित कर लिया है। अब उसके लिए धर्म 'धारण करने की योग्यता का विषय नहीं अपितु वादों की अनेकता व कुण्ठित प्रतिष्ठा का नाम हो गया है, अपने-अपने निजी स्वार्थों की सिद्धि हेतु उसने मानव धर्म जैसे व्यापक अर्थों को अपनी कुंण्ठित मनोवृत्तियों की चहार दीवारी में कैद कर उसकी एक नयी बीभत्स व्याख्या गढ़ दी है। धर्म के नाम पर 'धार्मिक जेहाद' शब्द का प्रयोग आतंकवाद के लिए किया जा रहा है। ऐसी संकुचित, कुण्ठित आत्मा वाले मनुष्य को कवि यह समझाने का प्रयास करता है कि सम्पूर्ण विश्व का एक ही धर्म है और वह है मानव धर्म। उसी के विविध रूप बाह्य दृष्टि से तो दिखाई पड़ते हैं, किन्तु आन्तरिक रूप से उनमें कोई भेद नहीं।

संधारणाद्धर्म इति प्रतिष्ठः, स एक एवास्ति जगज्जनानाम्।
विभिन्नरूपाणि भवन्ति तस्य बाह्यानि नैवान्तरिकोऽस्ति भेदः।।[३४]

इसी के साथ ही सम्पूर्ण विश्व में सदाचार युक्त धर्म की प्रतिष्ठा की कामना अभिलिषित है-

---

३० महाभारत शान्तिपर्व १०९/११
३१ प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्। यः स्यात् प्रभव संयुक्तः सधर्म इति निश्चयः।।
३२ यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्म। वैशे सूत्र १/१/२
३३ मानवता-युगदर्शनम् पृ० ६३'
३४ धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०

सदा सदाचार-विचारचारु, धर्मोऽयमाभाति भुवस्तलेऽस्मिन्।
XXXX
धात्री ह्यस्य स्वयमार्य-सन्ततिर्धर्मः स भूयाद्भवुनैकसद्गतिः।।[३५]

इस प्रकार 'युगदर्शनम्' में धर्म की उचित व्याख्या द्वारा यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया कि धर्म 'रिलीजन' अथवा 'मजहब' का पर्याय नहीं वरन् सार्वभौमिक शाश्वत मानवधर्म है। जिसमें मात्र मानवीय गुणों का ही विकास होता है तथा इनसे कभी सामाजिक हानि की सम्भावना उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि यह समस्त देश काल, जाति वर्ण के भेद से परे प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। अतः जगत् के लिए हितकारी धर्म के प्रति ही आत्मनिष्ठ होना चाहिए।[३६]

आतंकवाद उत्पन्न होने का दूसरा बड़ा कारण आर्थिक विषमता है। अर्थशास्त्रीय दृष्टि से-आतंकवाद का जन्म सापेक्षिक वंचितवाद की अनुभूति से होता है। वर्तमान समय में बढ़ती हुई उपभोक्तावादी प्रवृत्ति ने जहाँ एक ओर विकास व अर्थार्जन के नये-नये आयाम खोले हैं वही दूसरी ओर धनलिप्सा के कारण अर्थिक शोषण जैसे कुविचारों को भी बल मिला है, फलतः समाज दो वर्गों में विभाजित हो चुका है-एक सर्वसाधन सुविधा सम्पन्न प्रचुर धन सम्पन्न वर्ग तथा दूसरा क्षुधा से पीडित, धन-वस्त्रादि से वञ्चित-शोषित विपन्न वर्ग। इस वैषम्य को कविवर अवस्थी जी ने अत्यन्त स्पष्टता से व्यक्त किया है-

पुञ्जीकृतं चिदहो भृशमर्थं जातमाकर्ण्यते कश्चन निर्धनताट्टहासः।
आच्छादयन्ति बहुमूल्य-नवाम्बराणि, केचिच्च चीवरधरा भुवि सम्भ्रमन्ति।।[३७]

इन दोनों वर्गों के मध्य जो वर्ग अथक परिश्रमादि के द्वारा आगे बढ़ने को इच्छुक है, उसमें अनेक बाधाओं के रहते कतिपय जन ही साधनों को प्राप्त कर मुख्यधारा में सम्मिलित हो पाते हैं। शेष वर्ग कुण्ठा, पीड़ा, निराशा, बेरोजगारी का शिकार होकर ऐसे मार्ग को स्वीकार कर लेने को विवश हो जाता है जहाँ **'येन केन प्रकारेण'** समस्त सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के सभी मार्ग खुले रहते हैं और उस 'दायरे' में प्रवेश करने के बाद उसमें से निकलने पर मृत्यु अपमान दण्डादि ही हाथ आता है। आर्थिक पक्ष की इस दुःखद परिणति का 'युगदर्शनम्' के रचयिता को पूर्वाभास है तभी तो वह 'अन्नापूर्णास्तवः' में देवी अन्नपूर्णा से प्रश्न पूर्ण प्रार्थना करता है।

दरिद्रता हा विकरालरूपा ह्यभाव पुष्टा विदुनोति विश्वम्।
सुवत्सले जीवनदायिनी ते कदान्नपूर्णा भवितानुकम्पया।।[३८]

आर्थिक वैषम्य ही साम्प्रतिक सामाजिक दुःरवस्था (आतंकवाद) का हेतु है, इस बात को **'वैषम्यमसाम्प्रतम्'** रचना के द्वारा व्यक्त करते हुए उन्होने लोगों की दैन्यग्लपितदशा का ही वर्णन नहीं किया वरन् इसके कारणों को भी उद्धृत किया। राष्ट्र की सकल आय का समान वितरण न होने से ही समाज में असमानता का भाव उत्पन्न होता है। परिणामतः कुछ लोग वायुयान से विचरण करते हैं, आलीशान भवनों में निवास करते हैं, जब दूसरे शीतकालीन अन्धकार-रात्रियों में राजमार्गों (फुटपाथों) पर सोते हैं। कहीं बच्चे

---

३५ धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०
३६ धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०
३७ धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०
३८ धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०

क्षुधा से पीड़ित होकर क्रन्दन करते हैं, जबकि दूसरी और विलासी जन छविगृहों में मनोरंजन करते हैं। परिणामत: उनके मध्यम ऐसी खाई बन जाती है जो आतंकवाद जैसी विभीषिकाओं की उत्पादिका होती है। कवि ने इस वैषम्य के समाधान का उल्लेख किया है जिसमें सभी प्राणियों में 'आत्मवत्' भाव मानने का सन्देश दिया गया है-

चेत्त्वं बुभूषसि सखे सबल: सुवृत्तश्चेद दष्टुमिच्छसि सदा सुखिनं च लोकम्।
विद्वत्प्रियं हितकरं शिवमद्वितीयं, सद्य: समाश्रयमहोत्तममात्मभावम्।। [३९]

पुन: साम्प्रदायिकता भी आतंकवाद की वृद्धि का एक प्रबल कारण है। इसके अन्तर्गत धार्मिक पूर्वाग्रह, जातिवाद उग्रपंथी हिंसात्मक गतिविधियाँ, क्षेत्रवाद तथा भाषावाद को परिभाषित किया जा सकता है। ध्यातव्य है कि धार्मिक पूर्वाग्रहों के कारण विविध धर्मावलम्बी साम्प्रदायिक कट्टरता के चंगुल के फँसकर तनाव व मतभेद के शिकार हो जाते हैं। कभी वे क्षेत्रवाद की संकुचित भावना के कारण देश के विभिन्न भागों के पृथक्करण की आवाज़ को उठाते हैं। भाषावाद या भाषायी सम्प्रदायवाद से ग्रस्त लोग प्रादेशिक भाषाओं के वर्चस्व की अहम्मन्यता के कारण पारस्परिक वैमनस्यता पैदा करते हैं। कई दल व संगठन ऐसे हैं, जो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में हिंसा का सहारा लेते हैं। जिससे आतंकवाद को बढ़ावा मिलता है-

हिंसा हसति सोत्प्रासमहिंसा रोदिति क्षितौ।
सत्यं शिथिल-सर्वाङ्गमसत्यं पुष्ट-विग्रहम्।। [४०]

ज़ातीय हिंसा तथा सम्प्रदायवाद की आँधी में त्याग, धर्म, उपकार आदि सद्गुण कहीं लुप्त हो गए है-

त्यागस्तु ताड्ति तीव्रं धर्मश्च ध्वंसतेऽधुना।
उपकार: कृत: पङ्गुः सद्भावो गमितो गुहाम्।। [४१]

आतंकवाद के ताण्डव से धरती व आकाश दोनों व्यथित हैं, इससे सताये गये जन चीत्कार करते हैं तथा जीवन की याचना करते हैं-

भिद्यते हृदयं भूमेरन्तरिक्षं च दह्यते।
जना: कुर्वन्ति चीत्कारं जीवनं देहि जीवनम्।। [४२]

युगदर्शनम् का रचनाकार इस तथ्य से सुपरिचित है कि साम्प्रदायिकता के बिखरे मोती एकता के सूत्र में ही पिरोये जा सकते हैं।

विभिन्न-भाषा-वहुजाति-धर्माद्यनेकतायामपि सैकतेव।
मुक्ता-प्रवालादि-मणि-प्रकाशे हारे ह्यनुस्यूतमिवैकसूत्रम्।। [४३]

एक अन्य स्थन पर एकता का सन्देश देता हुआ कवि कहता है कि बाह्य भिन्नताएं होते हुए भी सभी का रक्त एक ही वर्ण का होता है।-

---

३९ धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०
४० धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०
४१ धर्म-युगदर्शनम् पृ० १०
४२ वही-पृ० ४१
४३ वही-पृ० ४१

धर्मा विभिन्ना विविधाश्च भाषा, जात्यादयश्चापि पृथङ्नराणाम्।
एकत्वबोधाय परं प्रमाणं समानवर्णं रुधिरं समेषाम्।।[४४] **(क)**

XXXX

ऐक्यं विनाऽस्त्विमपि दृष्टं, चास्मिता स्याद्भुवि भारतस्य।
एकत्वमेवाश्रयणीममदद्य तदेव राष्ट्रं सुदृढी करोति।।[४५] **(ख)**

इस प्रकार साम्प्रदायिकता के नाश का एकमात्र उपाय एकता को मानते हुए आचार्य अवस्थी ने आतंकवाद के विरुद्ध 'राष्ट्रैकता वज्रशिलेव भाति'[४६] कहते हुए उसे 'व्रज' की शिला के समान स्वीकार किया है।

सामाजिक अशान्ति भी आतंकवाद की वृद्धि में सहायक है। क्योंकि समाजशास्त्रियों के अनुसार 'आतंकवाद का जन्म समाज में अनियन्त्रित स्थिति के चलते हुए होता है। यह सामाजिक अनियन्त्रितत्व जब छोटे रूप में रहता है तो घरेलू या पारिवारिक स्तर तक सीमित होता है, किन्तु इसका विस्तार सम्पूर्ण देश को अपने जाल में फँसाकर अशान्तियुक्त कर देता है। इसी अशान्ति का परिणत रूप आतंकवाद कहलाता ह। इसका स्वाभाविक चित्रण 'युगदर्शनम्' में किया गया है।

गेहे-गेहे स्वार्थसिद्ध्यै विवादो, वादे वादे जायते भेद भावः।

XXXX

देशे देशे दृश्यते घोरयुद्धं, युद्धे-युद्धे प्राण-सम्पत्ति-हानिः।[४७]

सामाजिक अशान्ति से चिन्तित कवि पुकार उठता है-

दर्शं दर्शं देवदेशस्य दैन्यं, स्मारं स्मारं मातृभूमेर्भविष्यम्।
श्रावं श्रावं क्रन्दनं पीडितानां चित्तं नित्यं हा भृशं दूयते नः।।[४८]

इस विकृति को सुधारने के लिए कवि के पास पर्याप्त विचार है। वह देश व समाज के लोगों के सचेत करते हुए कहता है-

को निजः कः परो वेति नाद्यत्वे ज्ञायते चित्।
अज्ञातहृदयाः चित्सावधानः सदा भव।।[४९]

सामाजिक अशान्ति फैलाने वाले भ्रष्टाचारियों के प्रति व्यंग्य करते हुए कवि की प्रेरणा है-

पुच्छहीनाश्चरन्तीह कुक्कुराः परपालिताः।
बुक्कन्ति प्रेरितास्तेभ्यः सावधानः सदा भव।।[५०]

सामाजिक अशान्ति के ये कारण राजनैतिक भ्रष्टाचार को जन्म देते हैं और राजनैतिक क्रूरता या

---

४४ एकता युगदर्शनम् ५७
४५ (क) राष्ट्रैकता-युगदर्शनम्-५९
४६ (ख) राष्ट्रैकता-युगदर्शनम्-६२
४७ राष्ट्रैकता-युगदर्शनम्-५९
४८ युगवृत्तम् युगदर्शनम्-पृ० ४४
४९ सावधानोभव, युगदर्शनम्-पृ० ९३
५० वही-युगदर्शनम्-पृ० ९४

राजनैतिक भ्रष्टाचार की आड़ में आतंकवाद को प्रश्रय मिलता है।

युगदर्शनम् के रचनाकार ने स्मरण कराया कि प्रत्येक देशवासी के लिए आवश्यक है कि उसमें राष्ट्रभिमान का भाव निहित हो तथा वह सदैव जनतन्त्र की रक्षा का भाव धारण करे तथा लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था को सुव्यवस्था में परिणत करने में सहयोग दें। इस रूप में, लोकतन्त्र का स्वरूप वर्णित करते हुए उन्होंने लिखा-

अन्यासं निकृतिं च नैव सहते, कस्यापि यत्कुत्रचित्।
तच्छ्रीमज्जनतन्त्रकं विजयते, भावात्मकैक्यान्वितम्।। [५१]

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक उन्नति की अतिवादी प्रवत्ति भी आतंकवाद की जन्मदात्री है। आज़ बढ़ते हुए वैज्ञानिक विकास ने आतंकवाद के हाथ मजबूत किए तथा मस्तिष्क को कम्प्यूटर की गति दे दी है; अब उसे विनाश लीला मचाने के लिए केवल एक रिमोट का स्विच दबाने की आवश्यकता है। यदि इसके मूल पर विचार करें तो आतंक की इस कथा का आरम्भ द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् परमाणु हथियारों की होड़ से हुआ जो बढ़ते-बढ़ते आज पूरे विश्व के लिए नासूर बन चुका है। 'युगदर्शनम्' में एक सीमा तक वैज्ञानिक उन्नति की सराहना तो कवि ने की है, किन्तु साथ ही उसने शस्त्रों की होड़ में सम्मिलित होने पर उसकी भर्त्सना भी की है-

साहङ्कृतिः प्रकृतिरावृत-विग्रहा यद् वैज्ञानिक-प्रवर ते वशवर्तिनीव।
उद्घाट्य मर्म सकलं समुपाहरत्तत्, साफल्यमद्य तव नूनमभूतपूर्वम्।। [५२]

XXXX

त्यक्तं न चेन्मानव वैमनस्यं, मुक्तं न शस्त्रीकरणं नृशंसम्।
ऊरीकृतं नैव हितं नराणां, तत्तेऽन्तरिक्षं भ्रमणं किमर्थम्?।। [५३]

आतंकवाद के उक्त कारणों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक पहलू पर भी विचार करना आवश्यक है। क्योंकि किसी भी प्रकार की मानवीय गतिविधियाँ, चाहे वे साधारण हों अथवा हिंसात्मक, उनकी पृष्ठभूमि में मानव मस्तिष्क ही कार्य करता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक फ्राज फेनन का तर्क है कि हिंसा व्यक्तियों पर रचनात्मक प्रभाव डालती है अर्थात् साधारण कार्यशैली की अपेक्षा हिंसक कार्यशैली अधिक प्रभावी होती है। साधारण व्यक्ति को आतंकी गतिविधियों से बचाने के लिए सर्वप्रथम जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण एवं राष्ट्रधर्म की शिक्षा देना आवश्यक है।[५४] युगदर्शनकार इस पक्ष की ओर पूर्णरूपेण सचेष्ट है। वह युवकों को इस ओर प्रेरित करते हुए कहती है-

अये युवानो निजजन्मभूमि स्वतन्त्रता-रक्षण-दत्तचिताः।
स्वदेश-संरक्षण-पूर्वकं हि, संस्थापनीया भुवि विश्वशान्तिः।।

वे भारत के वीरों को आतंकवाद का प्रतीकार करने के लिए प्रेरित करते हुए उद्घोष करते हैं-

भवन्तु वीरास्त्वरितं समुद्यताः पुनः परीक्षा-समयः समागतः।

---

५१ जनतन्त्रं विजयते, युगदर्शनम्-पृ० ६७

५२ वैज्ञानिकं प्रति, युगदर्शनम्-पृ० ५०

५३ अन्तरिक्ष यात्रिणं प्रति युगदर्शनम्-पृ० ५२

५४ नई सहस्राब्दी का आतंकवाद, पृ० २२७

प्रसुप्त-सिंहः सहसा प्रबोधितो न भारतं शत्रुजनैस्तिरस्कृतम्।।[५५]

कश्मीरी आतंकवाद के सन्दर्भ में युगदर्शनम् में 'कश्मीर-चीत्कारः' कविता के द्वारा स्पष्ट घोषणा करते हुए कवि आतंकवादी शक्तियों को बतलाता है कि कश्मीर भारत का शिरोमणि है ओर उसका ही अभिन्न अंग है-

यो वेद मन्त्र-मधुर-ध्वनिभिर्द्विजानां चेतोहरः प्रियतरः सुरलोकतोऽभूत्।
सोऽयं शिरोमणिरलङ्कृतवीरवेषो-देशः समस्तभुवि भारतमस्मदीयः।।[५६]

ऐसे चित्ताकर्षक स्वर्गिक सौन्दर्य से युक्त कश्मीर को आतंकी गतिविधियों से अशान्त करने वालों के लिए शस्त्र-प्रहार हेतु प्रेरित करते हुए कवि का उद्घोष है कि जिस प्रकार इन्द्र ने असुर का वध किया था, उसी प्रकार आतंकवादियों का उन्मूलन किया जाना चाहिए-

हर्तुं निसर्ग-सुषमां हठतः प्रविश्य, कश्मीर-नन्दन-वने विचरन्ति चौराः।
हे पाकशासन जनश्रुत तान् स्वशक्त्या, शस्त्र-प्रहार-विकलान् कुरु कान्दिशीकान्।।[५७]

कहा जाता है कि विधाता की सृष्टि से कवि सृष्टि श्रेष्ठ होती है।[५८] इस कथन को युगदर्शनम् में कवि के पूर्णतः प्रमाणित किया है उन्हें त्यौहारों के उल्लासमय वातावरण में भी आतंक की छाया दिखाई पड़ती है, उससे रक्षा करने हेतु वे नृसिंह का आह्वान करते हैं-

हिंसातिदुष्कर-भयंकरहोलिकाङ्के, प्रह्लादविश्वमिह सम्पतितं वराकम्।
आतंक-हेमकशिपोरपि जालवद्धं हे हे नृसिंह परिरक्ष यतस्व शीघ्रम्।।[५९]

कवि कभी युगीन परिस्थितियों से असम्पृक्त नहीं हो सकता क्योंकि उसे ज्ञात होता है कि काव्य के षड् प्रयोजनों[६०] में वर्तमान आतंकवादी परिस्थितियों के सन्दर्भ में 'अमंगल का विनाश' ही काव्य का केन्द्रीय प्रयोजन होना चाहिए, अतः युगदर्शनम् के रचयिता को वर्षा सदृश सौन्दर्याधायक प्राकृतिक तत्त्वों में वीराङ्गना का रूप दृष्टिगत होता है और वर्षा की रिमझिम शीतल जल की बूंदे उसे आतंकरूपी कीचड़ को तथा दुर्भिक्षरूपी दुर्जन को विदीर्ण करने वाली वीराङ्गना के समान प्रतीत होती हैं।

आतङ्क-पङ्किल-कलङ्कमपाहरन्ती, दुर्भिक्ष-दुर्जन-दलं च विदारयन्ती।
पार्थक्य-तापमखिलं खलु मदर्यन्ती, वर्षावदान्य-वनिता विदधाति युद्धम्।।[६१]

वर्तमान समय में निरन्तर नैतिक मूल्यों के ह्रास ने भी आतंकवाद को बढ़ाने में अहम् भूमिका निभाई है। जो मानव पहले सत्य-अहिंसा, दया-करुणा प्रेम आदि सद्गुणों को जीवन का सम्बल मानता था, आज वे सद्वृत्तियाँ उसे जीवन के लिए 'रुकावट' सी लगने लगी हैं और वह असत्य-हिंसा-क्रूरता, घृणा आदि को अपने जीवन की सफलता का हथियार मानने लगा है। चूंकि साहित्य समाज का पथ प्रदर्शक होता है तथा

---

५५ चीन चापलम्, युगदर्शनम्-पृ० १३
५६ कश्मीर चीत्कारः, युगदर्शनम्-पृ० १५
५७ कश्मीर चीत्कारः युगदर्शनम्-पृ० १६
५८ काव्य प्रकाश १/१
५९ होलिकोत्सवः, युगदर्शनम्-पृ० ४०
६० काव्यंयशसेऽर्थ कृते, व्यवहारविदेशिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेशयुजे।। काव्य प्रकाश १/२
६१ वर्षा वीराङ्गना, युगदर्शनम्-पृ० ३१

साहित्यकार उसका माध्यम। अत: मानव की इस विकृत विचारधारा का संशोधन करने के उद्देश्य से युगदर्शनम् का रचनाकार कवि को मनुष्यता की रक्षा करने वाले काव्य का सर्जन करने की प्रेरणा देते हुए लिखता है-

समाजस्त्वत् सृष्ट: कविवर यदायं विघटितस्तदा त्वं सद्वाग्भि: पुनरपि तथा संघटयसि।

XXXX .

वह मानव-कल्याण को लक्षित करते हुए कवि को कर्त्तव्यपथ का स्मरण कराते हुए लिखता है-

परोधर्मोऽस्माकं मनुज-हितमित्येवमुचितो
मनुष्यत्वं रक्ष प्रगति परिपुष्टे मतिमता-
मभीष्टे सन्मार्गे गमय सुकवे लोकमखिलम्।।[६२]

आतंकवाद के उन्मूलनार्थ आचार्य बाबूराम अवस्थी जी के काव्य 'युगदर्शनम्' के व्यापक विश्लेषणोपरान्त यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि आतंकवाद के उन्मूलन के दो मार्ग हैं-अहिंसात्मक तथा हिंसात्मक। आचार्य जी ने पहले भारतीय संस्कृति तथा वैदिक विचार धारा के अनुरूप अहिंसात्मक मार्ग के द्वारा आतंकवाद के उन्मूलन उपाय खोजे। तत्पश्चात् अपनी भारतीय विचारधारा (कि यदि सीधी उँगली से बात न बने तो उसे टेढ़ा करना अधर्म नहीं) के अनुसार शस्त्र प्रहार की प्रेरणा भी देश के युवकों को दी।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'युगदर्शनम्' युगीन समस्याओं के साथ ही आतंकवाद के उन्मूलनार्थ सम्यक् चिन्तन की व्यापक दृष्टि से सम्पन्न है। अन्त में आचार्य अवस्थी के ही शब्दों में ऐसी प्रत्यूष बेला की कल्पना का अभिनन्दन, जहाँ अतांकवाद की कालिमा नहीं होगी, अपितु नवीन चेतना की आभा विद्यमान होगी।

सञ्चारयन्ती नव चेतनां या, क्रान्तिं समग्रामपि दर्शयन्ती,
आभासयत्यात्म-रुचा जगत्तां प्रत्यूष-वेलामभिनन्दयामः।।

---

६२ कविं प्रति, युगदर्शनम्-पृ० ८४, ८५

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२४३-२४५) ISSN 0974 – 8830

महर्षि विश्वामित्र एवं कृषिविज्ञान

डॉ. वेदप्रकाश डिंडोरिया[१]

महर्षि विश्वामित्र का ऋषित्व चारों वेदों में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के मन्त्रदृष्टा के रूप में इनकी प्रतिष्ठा है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद (९.६७.१३-१५,१०.१६७), यजुर्वेद (३.३५,७.३१,११.६२), सामवेद (५३,६२,७६,७९,९८ आदि) की कतिपय ऋचाओं के दृष्टा भी महर्षि विश्वामित्र हैं। अथर्ववेद ३.१७ का ऋषित्व भी महर्षि विश्वामित्र को प्राप्त है। ऋग्वेद तथा सामवेद में इनके 'गाथिन' उपनाम का भी उल्लेख है। ये गाथि के पुत्र तथा कुशिक के पौत्र हैं। अतः इनको गाथिन तथा' कौशिक कहा जाता है। आचार्य सायण के अनुसार- **'अग्ने सहस्व गायत्रमाद्यानुष्टुबिति। ऋषिर्गाथिनो विश्वामित्रः।'**[२] तथा **'कुशिकस्य राजर्षेः सूनुर्विश्वामित्रोऽहम्।'**[३] इनके दोनों उपनाम प्रमाणित होते हैं।

महर्षि विश्वामित्र गायत्री महामन्त्र के दृष्टा के रूप में विख्यात हैं एवं सप्तर्षियों में ख्यातिप्राप्त हैं। आचार्य महीधर के अनुसार- **'विश्वामित्र दृष्टा सावित्री गायत्रीजपे विनियुक्ता।'**[४] सम्पूर्ण विश्व के मित्र होने के कारण इन्हें विश्वामित्र कहा गया- **विश्वस्य ह वै मित्रं विश्वामित्र आस विश्वं हास्मै मित्रं भवति य एवं वेद।**[५]

महर्षि विश्वामित्र द्वारा दृष्ट अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का १७वाँ सूक्त कृषि सूक्त के रूप में प्रसिद्ध है। यही सूक्त इस शोध-पत्र का विवेच्य विषय है। इस सूक्त की ९ ऋचाओं में कृषि का उद्देश्य, प्रक्रिया, कृषि-उपकरण, हल की विशेषताएँ, कृषि की रक्ष्यार्थ देवों की स्तुतियाँ, कृषि-कार्यों में प्रयुक्त पशुधन आदि का वर्णन अत्यन्त मनोरम रूप से हुआ है।

(अ) कृषि का उद्देश्य

महर्षि विश्वामित्र ने कृषक के लिए 'कवि' तथा 'धीरपुरुष' जैसे श्रेष्ठ विशेषणों का प्रयोग किया है। कृषक स्वयं के लिए नहीं अपितु देवों की प्रसन्नता के लिए कृषि-कार्य करते हैं-

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नयौ।।[६]

अर्थात् कवि अथवा दूरदर्शी, कृषि के लिए धीरपुरुष देवों की प्रसन्नता के लिए हलों को नियोजित करते हैं तथा युगों अर्थात् जुओं को विशेष रूप से फैलाते हैं। अतः यहाँ कृषि का उद्देश्य देवाराधन है, जो कि लौकिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के मध्य सामञ्जस्य उपस्थित करता है।

---

१ सहायक आचार्य, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत भारती अनुशीलन संस्थान, पञ्जाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर।
२ ऋग्वेद-३.२४ सायण भाष्य।
३. वही-३.५३.१२ सायण भाष्य।
४ यजुर्वेद-३.३५ महीधर-भाष्य।
५ ऐतरेय ब्राह्मण-२९.४।
६ अथर्ववेद-३.१७.१।

(आ) कृषि की प्रक्रिया

कृषि की प्रक्रिया के विषय में ऋषि कहते हैं कि हे कृषको! हलों को प्रयुक्त करो, युगों को फैलाओ तथा सब प्रकार से उत्पादक क्षेत्रों में ही बीजों का वपन करो। इस प्रकार से भरपूर मात्रा में उपज होगी। अतः बीज बोने से पूर्व कृषि योग्य भूमि को जुताई आदि प्रक्रिया से उत्पादक क्षेत्र के रूप में परिवर्तित किया जाता था। यहाँ ऋषि कहते हैं कि फसल परिपक्व होकर काटने वाले उपकरणों के माध्यम से हमारे निकट आएँ।[७] इसके अतिरिक्त खेतों की जुताई के लिए बैलों तथा रस्सियों के प्रयोग का वर्णन भी प्राप्त होता है।[८] कृषि के लिए वर्षा के जल का प्रयोग होता था।[९] जुती हुई भूमि को घृत तथा शहद से अभिषिंचित किया जाता था।[१०]

(इ) कृषि-उपकरण

कृषि-उपकरण के रूप में हल का प्रयोग होता था। ऋषि कहते हैं कि किसानों द्वारा प्रयुक्त हल लोहे से विनिर्मित श्रेष्ठ फाल से युक्त, सुगमता से चलने वाला एवं अन्न की प्रक्रिया को गुप्त रीति से संचालित करने वाला होना चाहिए। हल कृषि-आधरित अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधर था। ऋषि कामना करते हैं कि हल हमें पुष्ट गौ, अवि अर्थात् भेड़ या रक्षण-सामर्थ्य, शीघ्र चलने वाले रथवाहन तथा नारी प्रदान करें।[११] इसके अतिरिक्त परिपक्व फसल को काटंने के लिए उपकरणों का प्रयोग भी होता था।[१२]

(ई) कृषि में प्रयुक्त पशुधन

कृषि में बैलों का प्रयोग होता था। ऋषि कहते हैं कि बैलों से सुखपूर्वक कार्य लिया जाना चाहिए। उन्हें रस्सियाँ सुखपूर्वक बांधी जाएँ तथा चाबुक का प्रयोग भी सुखपूर्वक करें।[१३]

(उ) कृषि की रक्ष्यार्थ देव-स्तुतियाँ

कृषि की रक्ष्यार्थ लौकिक एवं पारलौकिक दोनों ही प्रकार के देवों की स्तुतियाँ प्राप्त होती हैं। लौकिक रूप में सीता (जुती हुई भूमि) की वन्दना की गई है। ऋषि कहते हैं-

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव।
यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः।।[१४]

अर्थात् हे सीते! हम आपको प्रणाम करते हैं। हे ऐश्वर्यशालिनी! आप हमारे लिए श्रेष्ठ मन वाली तथा श्रेष्ठ फल प्रदान करने वाली होकर अनुकूल रहें।

---

७ युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्। विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन्।। वही-३.१७.२

८ वही-३.१७.६।

९ वही-३.१७.७।

१० वही-३.१७.९।

११ लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु। उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्यम्।। वही-३.१७.३।

१२ वही-३.१७.२।

१३ वही-३.१७.६।

१४ वही-३.१७.८।

पारलौकिक देवों में इन्द्र, पूषा, वायु, सूर्य तथा मरुत् की स्तुतियाँ की गई हैं। ऋषि प्रार्थना करते हैं कि इन्द्रदेव कृषियोग्य भूमि को सँभाले तथा पूषा देव उसकी देखभाल करें-

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु।[१५]

ऋषि, वायु और सूर्य देव से कामना करते हैं कि आप दोनों हविष्य से प्रसन्न होकर, पृथ्वी को जल से सींचकर ओषधियों को श्रेष्ठ फलों से युक्त करें[१६] तथा मरुद्गण हमें कृषि के लिए अनुमति प्रदान करें।[१७]

(ऊ) यज्ञीय भावना

यहाँ पर सम्पूर्ण कृषि प्रक्रिया यज्ञीय भावना से ओत-प्रोत दिखाई देती है। ऋषि प्रार्थना करते हैं-

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम्।।[१८]

अर्थात् हे वायु और सूर्यदेव! आप हमारी हवि का सेवन करें। आकाश में निवास करने वाले जल देवता वर्षा के द्वारा इस भूमि को सिञ्चित करें। अर्थात् यज्ञ की हवि अग्नि के माध्यम से वायु और सूर्यदेव तक पहुँचेगी। तत्पश्चात् आकाश में मेघों का निर्माण होगा तथा जल देवता वर्षा से भूमि को सिञ्चित करेगें। अतः ऋषि वर्षा के लिए यज्ञ करने का उपदेश देते हैं।

अतः स्पष्ट है कि महर्षि विश्वामित्र द्वारा दृष्ट यह सूक्त कृषि के महत्त्व को सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में प्रमुखता प्रदान करता है। इस सूक्त में वर्णित कृषिविषयक अवधारणाएँ वर्तमान युग में भी प्रासङ्गिक हैं तथा पूर्णतया वैज्ञानिक हैं।

---

१५ वही-३.१७.४।
१६ वही-३.१७.५।
१७ वही-३.१७.९।
१८ वही-३.१७.७।

गुरुकुल-शोध-भारती सितम्बर २०११ अङ्क १६ (पृ०२४६-२५२) ISSN 0974 – 3830

Raja Dharma

Hindu Democracy, Rational Government and Political Bhakti according to Swami Dayanand Saraswati

Edmund Weber[१]

"Great is the power and majesty of the Law."

"The Law is the real king. "

Swami Dayanand Saraswati (1824-1883), the founder of the *Arya Samaj* and one of the modem reformers of *Vedic Hinduism,* develops in his famous book *Light of Truth* (Benares 1875, Allahabad 1884) not only a Theology of the Divine Names, ethics of private life and a critical analysis of traditional religions in India and abroad. He also reconstructs the Hindu concept of ruling the society.

This is very surprising taking into consideration that he was a *sannyasin.* According to a widespread ideology, *Hindus* and particularly *sannyasin* are more interested in the life to come than in the world today. This assumption is definitely not true. The old but particularly the modem *Hinduism,* and *Dayanand Saraswati* is one of its prominent protagonists, is primarily committed to human *Seva* following the ethical maxim: *Narayanaseva is Naraseva.* Therefore, the ethics of good government are rightly one of the most important subjects of *Hindu* philosophy today.

Dayanand Saraswati treats this subject in the 6th chapter of *Light of Truth.!* Referring to the old *Vedic* traditions he defines as the realistic foundation of a government the *Raja Dharma,* the system of necessary conditions of good governance which have to be taken into account if someone wants to rule the society permanently, effective and peacefully in favor of the benefit of all the people.

Right in the beginning he defines - quoting the great *Manu* - the basic principles which have to be considered in view of the character of the ruling persons:

1. only persons who are qualified or fit in ruling should become rulers;
2. but every ruler has to be elected;
3. the qualified and elected rulers can get salvation.

1.

१. Ed. by / Hrsg. von Edmund Weber, in Association with / in Zusammenarbeit mit Matthias Benad Institute of Religious Peace Research / Institut für Wissenschaftliche Irenik Goethe-Universität Frankfurt am Main, ISSN 1434-5935 - © E.Weber – E-mail: irenik@em.uni-frankfurt.de - web.uni-frankfurt.de/irenik

Dayanand Saraswati does not follow the ideology that everybody can become a real ruler, a *Dharmic* ruler, who is determined and able to maintain a balanced society, the social *Dharma*. The prevailing so-called qualification of rulers very often consisted and still consists in looking out for particular and short-termed interests so that the use of ideological, social, military and economic weapons to oppress the self-made contradictions within society becomes unavoidable. This *Adharmic* misbehavior, however, undermines or even destroys the balance of human society and discovers the disqualification of a government. The history is full of examples.

However, who are qualified to rule the society? Are these the hereditary castes of *Brahmanas* and *Kshatriyas?*

Dayanand Saraswati has a clear position in view of the so-called traditional caste-system. He does not use the term caste but class. The reason is that he does not want to follow the wrong hereditary caste system. Therefore his definition of members of a normative social class is very different to the usual understanding of castes to-day.

Raising the question who may be a right and legitimate *Brahmana, Dayanand Saraswati* answers: "He alone among all the four classes is called a Brahman whose knowledge is perfect who is most virtuous, and who is bent on doing public good"(154). By this definition everybody can become a *Brahmana;* it depends only on his education, his behavior and his *Seva* for the people. The status of a *Brahmana* does not depend on his physical birth and ancestry but on his *Brahmanical* qualification only.

The same principle he analogically applies to the other classes. Special functional qualification, adequate moral behavior, and social responsibility decide which class somebody will enter and then belong to.

Therefore, only those people who have got the qualification will enter the class of *Kshatriyas* and with the consensus of the people may become the leaders of the country.

II.

Dayanand Saraswati denies the Platonic ideology that the rulers get their legitimation to rule by their qualification as wise men. He requests the voters: "Let not ignorant fools be ever made members of the aforesaid three Assemblies ... " However: "On the other hand let learned and devout persons only be elected to such high offices"(167).

Although he stands for that only the highest qualified ones should get the ruling positions, he stipulates that they can come into power only by the election, the consensus and control of the <u>people.</u>

the *Vedic Raja Dharma* denies all kinds of hereditary succession, of murderous usurpation, military dictatorship, civil manipulation and theocratic terrorism, kinds which were and still are in vogue as methods to get and preserve public power. According to the political system of *Raja Dharma* good governance is inextricably linked with personal qualification as well as with democratic consensus.

Democracy, the rule by the people, belongs as its first basic essential to the *Dharma* itself. The destruction of democracy is therefore the most disastrous outrage on the *Holy Law.*

Without democracy there is no *Dharma.*

The *Dharmic* system of ruling the society consists not only in a democratically elected and controlled single ruler whose election was done but once; a *Dharmic* government embraces the ruling chairman and the so-called assemblies.

According to *Dayanand Saraswati* every good working society needs - besides the single head of state - three basic assemblies: a religious body, a legislative and a military one.

The reason for the associating of the assemblies with the head of state is "the benefit of the rulers and the ruled ones"(161).

In order to make the *Raja Dharma* work *Dayanand Saraswati* conceptualizes the cooperative system of the democratic institutions and therefore contradicts by all means any rule of a single person. He says: " ... no single individual should be invested with absolute power". His argument is:" "Even an act easy in itself becomes difficult to be accomplished by a man when single-handed"(170). Even if an "easy act" per se can be accomplished only by team-work how the very heavy task of ruling a country is manageable by a single person"(170).

This analysis of administrative work leads to the logical conclusion: "It is, therefore, a most dangerous thing to make one man a despotic ruler, or entrust a single man with the sole management of the affairs of the State"(170). *Dayanand Saraswati's* argument against one-manrule is not ideologically or morally motivated, it is an absolute rational one.

The *Hindu* state doctrine has nothing to do with the rule of a single person he may be declared an incarnation of God, a heir of a powerful ruler, a dictator and so on: Hindu democracy is not rooted in ideological, metaphysical or mystical justifications, but is based on practical rationality alone. Therefore, the head of state has "constantly to consult with his clever and learned ministers"(170).

As chief of the executive government, the head of state should not even decide the executive affairs alone. Executive team-work excludes a regime of a single ruler who per se would be unable to be competent for all executive affairs. Therefore, says *Dayanand Saraswati,* about the head of state in this concern: "Having ascertained the individual opinion of each ministers and other members of the Assembly, let him abide by the decisions of the majority and do what is beneficial for him as well as for others"(171).

The ministers and the Assemblies are not only acting as consultants of the ruler; they make the decisions, the laws. The power of decision making belongs to the "majority" of the ruling bodies. The principle of maj ority is a basic element of *Hindu* democracy. The head of state has no right to make decisions by him alone; he is even forced to follow the decisions of the majority of the members of the political institutions.

Due to the rationally based co-operative constitution of *Hindu* democracy the elected head of state is not an autocratic tsar but only the president or chairman of the Political Assembly (163; 162).

The *Hindu* head of state is not a sovereign who is above the parliament and the *Law:* As all people he too has "to abide by the just laws passed by the Assembly, ... "(162).

The three Assemblies too are not isolated institutions of lawmakers. According to the *Hindu*

concept of political management they are under the rule of co-operative consensus will say of reciprocal control and support. The assemblies have not only to co-operate with the head of state; they have to work together with one another and the single assemblies are not allowed to create a monopoly of power: "Let the three Assemblies harmoniously work together, and (by that) make good laws"(163). Even more bodies are on duty to co-operate: "Let the three Assemblies, Military Councils, and the Army harmoniously work together to carryon the government of the country"(162).

However, all these officially ruling institutions, the head of state, the assemblies, the Military Councils and the Army, are not at all autocratic, neither as single ones nor altogether. There is no self-appointed elitocracy, no oligarchy of the assemblies possible when *Dayanand Saraswati* says: "Let a nation, therefore elect the *most learned* men, as members of the *Educational Assembly,* the *most devout* men, as members of the Religious *Assembly* and *men of the most praiseworthy character,* as members of the *Legislative Assembly"(163).*

The assemblies are under democratic control. Only if controlled by the people the government is allowed and has the duty to rule them.

If the ruling institutions - under the chairmanship of the head of state - execute autonomously but co-operatively their particular tasks then only the highest aim of the government can be realized: "Let each (of the assemblies) discuss and decide subjects that concern it, ... "(161). However, what is the aim of this democratically based ruling teamwork system? *Dayanand Saraswati* continues: "and adorn all men with knowledge, culture, righteousness, independence, and wealth, and thereby make them happy"(161). He is very clear in this concern: "Let them all (the assemblies) be of one mind in affairs that promote the happiness of all (men)"(163).

The highest aim of the ruling corporations is not to subdue, to exploit and to manipulate the people but to create their happiness. This happiness is not in favor of an ethnic group, a caste, a particular religious community or the upper or middle class; on the contrary *Dayanand Saraswati* demands from the rulers to do everything for the happiness of *all men.*

III.

The *Hindu* democracy does not only mean the establishment of reasonable formal structures and functions of the ruling system; it includes predominantly a very material aim: the satisfaction of all the needs ands aspirations of all the people on earth.

However, that happiness should not be realized through the use of products of the industry of illusion but through the development of scientific education, cultural erudition, moral reinforcement and personal independence.

The government has the duty to develop the education of all people; everybody shall get the chance to understand life and world in a scientific manner and should not be condemned to be mentally manipulated by egoistic people whose interest is directed towards exploitation of cheap workers.

The cultural erudition targets the forming of a personality by "the ten-fold right conduct of life"(153). Who has realized this ten regulations is able to forgive (152), to control his

thoughts, to be honest, to be mentally and bodily clean, to direct his senses in the path of rectitude and freedom from sin (153), to develop one's intellect and to avoid intoxicants; to acquire correct knowledge of all things - from earth to God and its proper application, to practice truthfulness, freedom of wrath by cultivation of calmness of mind.

These ten regulations are made for all people, not for a minority of high castes. The rulers of society have to educate everybody - he may be a *Brahmana* or a *Dalit* by birth - in the same way and targeting his cultural elevation without any prejudice.

All men should get by this democratic system of government the chances to take over enlightened and competent responsibility for their existence and to realize a satisfying life. This - as *Dayanand Saraswati* says - adornment of all men includes material wealth!

He, a sannyasin, does not preach secular ignorance, secular amorality, uncultured behaviour and personal dependence to an irrational authority; in the same way he does not propagate material poverty as means of enlightenment, of morality, and of independence. He indeed declares that material wealth of all men is one of the fundamental aims of government and an integral element of human happiness. Only this *Vedic* reciprocal system of democratic rule guarantees and bewares the happiness of the people.

IV.

Otherwise, if this democratic "system be not followed and the king be independent of the people, and have absolute power" (162), and becomes by that an autocratic ruler, "He would impoverish the people - being despotic and hence arrogant - and oppress them, aye, eat them up, just as a tiger ... "(162).

It's indeed very surprising that *Dayanand Saraswati,* a sannyasin, considers as the first consequence of an essentially *Adharmic* rule of an undemocratic and uncontrolled despot the impoverishment of the masses. Poverty is the first, necessary and horrible product of autocratic dictatorship.

In the eyes of *Dayanand Saraswati* democracy and welfare of the people are fundamental aims of Hindu *Raja Dharma*; and both are closely and essentially connected: Undemocratic rule produces poverty, and happiness is possible through democracy only.

The positive functioning of the *Raja Dharma,* the heart of the society, which is the fundament of human happiness including freedom from poverty, depends on the people's power to control the ruling persons and institutions.

The *Dharma,* the fundament of human existence and happiness, can only be realized by the *Raja Dharma,* the really democratic political system. *Dayanand Saraswati* knows that an effective democratic control of the ruling persons and institutions is not enough to reach and save the aim of a government will say happiness of all men. Without rulers qualified in *Raja Dharma* happiness of the people can't be realized.

V.

However, before *Dayanand Saraswati* describes the qualification of the head of state, he makes the sharp statement on the true ruler of the world by quoting the great *Manu:* "The Law alone is the real king, the dispenser of justice, the disciplinarian .... The *Law alone* is

the true Govenor that maintains order among the people. The *Law alone* is their Protector"(164-165). *Dayanand Saraswati* does not think that the happiness of the people depends on the arbitrary benevolence or ability of human rulers alone. The ultimate condition and base of happiness for all men is the *Law* as an internal power, "striking fear into the hearts of the people and preventing them from committing crimes ... "(165).

If that *Law* rules supreme, and the rulers administer it rightly, only then "the people never go astray, and consequently live in happiness" The "rightly administered Law makes all men happy" On the other hand, if the rulers administer the *Law* wrongly, if they are malevolent, low-minded, unjust etc. then the *Law* itself will destroy them and the whole order of society. No wonder it is the rightly administered or with other practically worshipped *Law* which "greatly promotes the practice of virtue, acquisition of wealth and secures the attainment of the heart-felt desires of his people"(165).

The *Law* is not a sleeping power. It is an always moving power which works in any case: either positive or negative. There is only a positive or negative use or administration possible; a neutral relationship is impossible. This power is a friend or an enemy due to its treatment by the rulers and the people.

In the eyes of *Dayanand Saraswati* the human rulers are not the *Law,* they are obedient servants or even slaves of the *Law* only. The term lawmaker shows how arrogant modem political thinking has become. With wonderful words *Dayanand Saraswati* praises the mighty *Law:*

"Great is the power and rna} esty of the Law."

However, if the *Law* is powerful and majestic then the human rulers as its executors need special qualifications which mobilize the positive power of the *Great and Majestic Law* and do not erase its horrible wrath.

The rulers cannot be ignorant of the *Law* because as servants of the *Law* they have to know the intension and regulations of his master. They have to be just because as a servant he has to fulfill the commands of his lord.

Therefore, the *Law* needs always rulers who are men or women of learning and culture and they have around them only wise and good men all the time.

VI.

Dayanand Saraswati raises the question: Is salvation for rulers possible? His answer about the only adequate religion of politicians is very clear: Their professional worship consists in doing their political duties, in executing the "business of the state"(173). *Dayanand Saraswati* emphatically declares that exhausting and strict ruling is as such the only religious *Seva* of a ruler: "To devote himself day and night to the affairs of the State without allowing anything to go out of order is the highest duty of a king, aye, this is his worship, this is his communion" (173).

The worldly political activity and his total indulgence to it, if in accordance with the *Raja Dharma,* is the true religion of a ruler. His ritual activity is reduced to a private morning

meditation (181; 189), and a private *Homa* which, however, he may deliver to his chaplain (181): "Let him retain a chaplain and a spiritual teacher to perform *Homas* and *Yajnas* suitable to different seasons and other religious duties for him in the palace"(173). His religious service is his secular service: " ... and let him always devote to the business of State"(173). The business of state is his communion, his *Prasad,* his highest personal joy and most powerful support, too.

He will get his salvation, his ultimate justification, his self-realization only by ruling the State in accordance with the *Great and Majestic Law.* Therefore, politicians who think that their political activities have nothing to do with their eternal salvation are completely wrong. Even if they pilgrimage to the holiest temples, give millions of dollars for the rescue of poor people, kiss the feet of *Babas* and so on - all these activities are useless if they are done to please the God for their own favor or to compensate their own political incapacity, mistakes or even cnmes.

There is no way out for the rulers. They can get their eternal salvation, their absolute fulfillment of their existence only by doing "good business for the State". If the rulers don't do "good business for the State" all their other religious actions like pilgrimages, pujas, temple building, and so on wouldn't help. *Dayanand Saraswati* bars every ideology of corrupt, incompetent and cruel politicians who use non-political rituals and *Gurus* to save themselves in the eyes of God.

There is no way out: The religion of acting politicians is only secular governance and nothing else. As long as they are rulers their religious worship, their way to please the God and get his favor, consists only in political *Bhakti.* They have to become political *Bhaktas* who completely surrender to the *Great and Powerful Law* by executing and defending it by all means including their own life.

Therefore, the only God the politicians have to worship, they have to enjoy with their daily *puja,* is the *Great and Powerful Law,* the *Dharma.* And the politicians are priests only of this Great and Powerful God. This is their religious, even sacred status under the human beings.

VII.

In summary we can say: The *Raja Dharma* is far from being a theocratic system, is far from being a defender of castes system, far from being ignorant of the world.

Just the opposite is true: the *Hindu* concept of governance is very critical against the rule of hierarchs, despots and clans, of social apartheid and economic exploitation, and of political corruption. It favors political democracy, qualification and co-operation, and has as its fundamental aim the welfare of the respected masses.

Indeed, by insisting on democracy, rational governance and political *Bhakti* and in this way guaranteeing the productive and progressive self-criticism of the society, the *Hindu* model of *Raja Dharma* suits best with the modem society, its problems and possible solutions.

1 *Light afTruth* or an English Translation of the *Satyarth Prakash* by Dr. Chiranjiva Bharadwaj, (1 st ed.1915), New Delhi 1984

विद्वत्परिचयः

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री	प्रोफेसर, श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
प्रो० स्वतन्त्र कुमार	कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराञ्चल)
प्रो० महावीर अग्रवाल	उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
आचार्यः वेदप्रकाशः शास्त्री	पूर्व उपकुलपतिः, गुरुकुल काँगड़ीविश्वविद्यालयः, हरिद्वारम्
डॉ० दिनेशचन्द्र शास्त्री डी०लिट्.	अध्यक्ष, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ. (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी	एसोसियेट प्रोफेसर (रिटायर्ड), क १६१७, सैक्टर ४४-बी, चण्डीगढ़-१६००४७
डॉ. जितेन्द्र कुमार	अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, दयानन्द महाविद्यालय, अजमेर
डॉ. पुष्पा मलिक	रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, भ.आर्य कन्या स्ना. महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी
डॉ० नरेश कुमार	वेदविभाग, गु०कां०विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ. नीरज शास्त्री	प्रोजेक्ट फेलो, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० बी० नाज	विभागाध्यक्ष संस्कृत, राजकीय महाविद्यालय, बिलासपुर (रामपुर)
डॉ० अमित कुमान चौहन	प्रवक्ता, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० पुष्पा यादव, विद्यालंकार	एसोसियेएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्षा, संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय (परास्नातक), क़िदवईनगर, कानपुर।
डॉ. रेखा सिंह	डॉ. रेखा सिंह, प्रवक्ता (तदर्थ) प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० सोहनपाल सिंह आर्य	एसो० प्रोफेसर-दर्शन विभाग गु० काँ० वि० वि०, हरिद्वार मो० ०९८९७२७३६६३ ईमेल-Sohanpalarya@yahoo.com
डॉ० सोमदेवः शतांशुः	प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
डॉ० सत्यदेव निगमालंकार	अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,हरिद्वार. Email: -satyadevnigmalankar@gmail.com

डॉ० ब्रह्मदेव	एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० दीपा गुप्ता	असिस्टेन्ट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्वविभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय (गु०कां०वि०वि०, हरिद्वार, उत्तराखण्ड)
प्रो. ईश्वर भारद्वाज	प्रोफेसर एवं अध्यक्ष योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
प्रो० मनुदेव बन्धु	आचार्य-वेदविभाग, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ. विभा अग्रवाल	असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
डॉ. सुरेश लाल बर्णवाल	Associate Professor and Head of Dept., Human Consciousness and Yogic Science, Dev Sanskriti Vishwavidyalaya, Gayatrikunj, Hardwar, Uttarakhand -249411
डॉ. असीम कुलश्रेष्ठ	Assistant Professor, Dept. of Human Consciousness and Yogic Science, Dev Sanskriti Vishwavidyalaya, Gayatrikunj, Hardwar, Uttarakhand249411
डॉ० सुधीर कुमार	वेद-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।
डॉ. देवी सिंह	संस्कृत-पालि-प्राकृतविभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
डॉ. डॉली जैन	वरिष्ठ प्रवक्ता, ६१२, गौतम बुद्ध निवास, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक (राज.)
डॉ. मृदुल जोशी	असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
डॉ० निरुपमा त्रिपाठी	असिस्टेन्ट प्रोफेसर (संस्कृत), कानपुर विद्यामन्दिर महिला (पी०जी०) महाविद्यालय, स्वरूपनगर, कानपुर।
डॉ० प्रभात कुमार	एसोशिएट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ०प्र०)
डॉ. राजिन्द्रा शर्मा	प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समर हिल शिमला
डॉ. राकेश शास्त्री	अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बांसवाड़ा (राज.) ३२७००१
डॉ० सुमन सिंह	वरिष्ठ प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, दयानन्द गर्ल्स पी०जी० कालेज, कानपुर।

डॉ. सुरचना त्रिवेदी	असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, भगवानदीन आर्य कन्या स्नातकोत्तर, महाविद्यालय, लखीमपुर-खीरी (उ०प्र०) पत्र व्यवहार हेतु पता-२१५, मिश्राना, टुन्नू सिंह चौराहा, लखीमपुर-खीरी, मो.: ९४५१२३९१६०
डॉ. वेदप्रकाश डिंडोरिया	सहायक आचार्य, विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारत भारती अनुशीलन संस्थान, पञ्जाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर।
श्री एडमण्ड वेबर	Institut für Wissenschaftliche Irenik Goethe-Universität Frankfurt

शोधलेख विषयक दिशानिर्देश

ाेध-भारती गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की षाण्मासिक शोध-पत्रिका है। यह प्रमुख रूप से वेद, लौकिक साहित्य, धर्म, दर्शन, संस्कृति, योग, आयुर्वेद तथा अन्य प्राच्यविद्या से सम्बन्धित शोधपरक ो प्रकाशित करने के लिये कृतसङ्कल्प है।

ोध-भारती में शोधनिबन्ध मूल्याङ्कन कराने के पश्चात् प्रकाशित किये जाते हैं। अत: विद्वान् लेखकों से के वे वही निबन्ध इस पत्रिका के लिये प्रस्तुत करें, जो सब प्रकार से शोध की कसौटी पर खरे हों। किसी न् की पुस्तक अथवा निबन्ध की नकल करके निबन्ध भेजना बौद्धिक अपराध तथा अपनी प्रतिभा का हनन

शोध-भारती में केवल शोध-निबन्ध ही प्रकाश किये जाते हैं, अत: जिनमें शोध-प्रविधि का प्रयोग नहीं ा है, ऐसे लेखों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं होगा।

स पत्रिका में पूर्व प्रकाशित निबन्ध को पुन: प्रकाशित करने के लिये कृपया न भेजें।

बन्ध में लेखक का निष्कर्ष सुसङ्गत, प्रामाणिक एवं तथ्यों पर आधारित तथा परम्परा से पोषित होना चाहिये। **समें अपने कथन या निष्कर्ष को पुष्ट करने के लिये १५ से अधिक प्रमाण अपेक्षित हैं।**

स को बढ़ावा देने वाले निबन्धों को प्रकाशित करना सम्भव नहीं हो सकेगा, अत: अन्धविश्वास का समर्थन निबन्ध कृपया न भेजें।

शोध-भारती में प्रकाशन हेतु शोधनिबन्ध की मूलप्रति प्रेषित करें, **फोटो स्टेट प्रति** स्वीकार्य नहीं होगी। साथ **नखित लेख** भी स्वीकार नहीं होंगे। अत: विद्वानों से अनुरोध है कि टंकण के उपरान्त शोधन करके लेख ं, जिससे लेख शुद्धतम रूप में प्रकाशित किया जा सके।

चित होगा कि आप अपना निबन्ध **माइक्रोसोफ्ट वर्ड** डाक्यूमेंट में टाइप करायें और फुटनोट **TRL+F** के माध्यम से डालें। इस प्रकार फुटनोट डालने में त्रुटि की सम्भावना नहीं रहती है। यदि उक्त नाना संभव न हो तो **फुटनोट निबन्ध के अन्त में दें,** जिससे उनको यथास्थान प्रस्तुत किया जा सके।

ाते समय यह ध्यान रखना अपेक्षित है कि निबन्ध **'कृतिदेव ०१०'** के साइज १४ में टाइप कराया जाए। उपरान्त, शोधन करके सी.डी. अथवा ईमेल से प्रेषित करें।

ेल से भी अपने निबन्ध प्रेषित कर सकते हैं। ईमेल का पता है- **gyanprakashshastri@gmail.com**
prakashshastri@live.com

थवा ईमेल के साथ-साथ लेखक को अपने शोधलेख की हार्ड कॉपी प्रेषित करना भी आवश्यक है, जिससे के लिये शोधलेख प्रेषित किया जा सके।

ा विश्वविद्यालय की **www.gkvharidwar** की साइट पर देखी जा सकती है। लेखक और पाठक उक्त त्रिका डाउनलोड कर सकते हैं।

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	कीमत रु.
1.	स्वामी श्रद्धानन्द	500 रु.
2.	वेद का राष्ट्रिय गीत	200 रु.
3.	श्रुतिपर्णा	95 रु.
4.	वैदिक साहित्य संस्कृति एवं समाज दर्शन	500 रु.
5.	वेद और उसकी वैज्ञानिकता	300 रु.
6.	शोध सारावली	220 रु.
7.	भारतवर्ष का इतिहास (दो खंडों में)	350 रु. प्रति खंड
8.	क्लासिकल राइटिंग ऑन वैदिक एण्ड संस्कृत लिट्रेचर	80 रु.
9.	दीक्षालोक	500 रु.
10.	स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	500 रु.
11.	स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियां	450 रु.
12.	कुलपुत्र सुनें	300 रु.
13.	ग्लिम्पस आर्फ इनवायरमेन्टल परसेप्ट्स ऑफ वैदिक लिट्रेचर	50 रु.
14.	स्वामी श्रद्धानन्द समग्र मूल्यांकन	300 रु.
15.	पं0 इन्द्रविद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	300 रु.
16.	बातें मुलाकातें	125 रु.
17.	वेदों की वर्णन शैलियां	50 रु.
18.	हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन	400 रु.
19.	श्रुति विचार सप्तक	500 रु.
20.	स्तूप निर्माण कला	55 रु.
21.	ईशोपनिषद्भाष्य	40 रु.
22.	इन्द्रविद्यावाचस्पति	40 रु.
23.	भारतवर्ष का इतिहास (तृतीय खंड)	55 रु.
24.	अग्निहोत्र	25 रु.
25.	वेद विमर्श	25 रु.
26.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	25 रु.
27.	आहार	35 रु.
28.	वैदिक वन्दना गीत	25 रु.
29.	ऋषिदेव विवेचन	25 रु.
30.	विष्णु देवता	25 रु.
31.	सोम	20 रु.
32.	ऋषि दयानन्द का पत्र व्यवहार	25 रु.
33.	अध्यात्म रोगों की चिकित्सा	40 रु.
34.	गुरुकुल की आहुति	12 रु.
35.	ब्राह्मण की गौ	25 रु.
36.	ऋषि-रहस्य	25 रु.
37.	धर्मोपदेश (भाग प्रथम और द्वितीय)	25 रु. प्रति खंड
38.	वैदिक कर्त्तव्य शास्त्र	40 रु.
39.	मेरा धर्म	500 रु.
40.	गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय कलेण्डर भाग-1	250 रु.

विश्वविद्यालय से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं का विवरण

1.	गुरुकुल पत्रिका	वार्षिक मूल्य 100 रु.
2.	वैदिक पॉथ	वार्षिक मूल्य 100 रु.
3.	प्राकृतिक एवं भौतिकीय शोध विज्ञान पत्रिका	वार्षिक मूल्य 500 रु.
4.	आर्य भट्ट	वार्षिक मूल्य 100 रु.
5.	गुरुकुल बिजनेस रिव्यू (GBR)	वार्षिक मूल्य 100 रु.

नोट :-ये सभी पुस्तकें कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के नाम ड्राफ्ट भेजकर निम्न पते से प्राप्त की जा सक है। क्रमांक १ से १२ एवं क्रमांक १८ तथा १९ पर ५० प्रतिशत तथा अन्य सभी पुस्तकों पर २० प्रतिशत की छूट देय है।

पुस्तकें मंगाने का पता :- पुस्तकालयाध्यक्ष/व्यवसाय प्रबन्धक, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४ (उत्तराखण

मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार फोन : 01334-245975, 9837007222